सचित्र
मासिक पत्रिका।

भाग २२, खण्ड १] जनवरी १९२१—पौष १९७७ [संख्या १, पूर्ण संख्या २५३

सम्पादक की बिदाई।

पुस्तक-रचना के सम्बन्ध से तो इंडियन प्रेस से मेरा सम्पर्क बहुत पहले ही हो चुका था; पर उसकी प्रेरणा से सरस्वती-सम्पादन का काम करते अभी केवल अठारहही वर्ष हुए। इस इतने समय में इंडियन प्रेस के मालिक, बाबू चिन्तामणि घोष, और उनके उत्तराधिकारियों, ने मेरे साथ बड़ी ही उदारता का व्यवहार किया; मेरे लिए अनेक सुखकर सुभीते कर दिये; किसी और काम के योग्य न रह जाने पर, घर बैठे, मेरे लिए सरस्वती का सम्पादन-कार्य्य करने की अनुकूल योजना कर दी; और सदैवही हर तरह मेरी सहायता करने में प्रेमपूर्वक दत्तचित्त रहे। उनके अनुग्रह का यह हाल है कि सरस्वती का काम छोड़ देने पर भी वे मेरे सुख-साधन की चिन्ता से अपने चित्त को रिक्त नहीं रखना चाहते। उनकी इन सब कृपाओं की—मेरे साथ उनके सज्जनोचित और बन्धुभावदर्शक व्यवहार की—कृतज्ञता कोरे शब्दों से व्यक्त नहीं की जा सकती। अतएव उनके विषय में मेरे हृदय के कृतज्ञतासूचक भाव—"हृद्येव जीर्णतां यान्तु।"

सरस्वती को निकलते पूरे २१ वर्ष हो चुके। जिस समय उसका आविर्भाव हुआ था उस समय हिन्दी-भाषा और हिन्दी-साहित्य की क्या दशा थी, यह बात उन लोगों से छिपी नहीं जिन्होंने उस समय को भी देखा है और जो इस समय को भी देख रहे हैं। जिनके हृदय में उस समय साहित्य-प्रेम का अङ्कुर नहीं उगा था, या जो अल्पवयस्क होने के कारण हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने और उनसे लाभ उठाने का सामर्थ्य न रखते थे वे भी उस समय के साहित्य का मिलान वर्तमान काल से

साहित्य से कर के दोनों का अन्तर सहजही जान सकते हैं। मासिक पुस्तक में क्या गुण होने चाहिए—उसमें मनोरञ्जन और ज्ञान-वृद्धि की कितनी सामग्री होनी चाहिए—इसका बहुत ही थोड़ा ज्ञान उस समय हम लोगों को था। कारण यह था कि उस समय हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति का आरम्भ-काल था। पर अब वह बात नहीं। सरस्वती के जन्म-समय में जिनका जन्म भी न हुआ था उनमें से भी अनेक युवक अब, इस समय, सुकवि और सुलेखक समझे जाते हैं। अब हिन्दी-साहित्य पहले से बहुत अधिक उन्नत हो गया है और दिन पर दिन और भी उन्नत होता जाता है। इसका प्रमाण भिन्न भिन्न विषयों की अनेक नई नई पुस्तकों का प्रकाशन तथा नये नये पत्रों और पत्रिकाओं का प्रादुर्भाव है।

सरस्वती के आकार-प्रकार, उसके ढङ्ग और उसकी लेख-शैली आदि को लोगों ने बहुत पसन्द किया। इसी से तो अन्यान्य आकारों और सौन्दर्य-समावेशन की अन्यान्य प्रणालियों का स्वीकार न करके हिन्दी के प्रेमी, अनेक विषयों में, सरस्वतीही का अनुकरण कर रहे हैं। सरस्वती के लिए यह बात बड़े गौरव की है। अपने समव्यव-सायियों की यह अनुकरणशीलता उसके लिए विशेष सन्तोषजनक है। हिन्दी में सामयिक पुस्तकों की प्रचुरता देख कर उसे बहुत समाधान होता है। वह यह जान कर अपने को कृतार्थ समझती है कि हिन्दी-साहित्य की इस शाखा को उन्नत करने का श्रेय बहुत नहीं तो थोड़ा सा उसे भी अवश्य है।

इससे यह मतलब नहीं कि सरस्वती का सम्पादन जैसा होना चाहिए था वैसा ही हुआ है। नहीं, अच्छी मासिक पुस्तक के सम्पादक में जो गुण होने चाहिए उनका शतांश भी सरस्वती-सम्पादक में—कम से कम मुझ में—नहीं। तथापि मैं यह शुद्ध हृदय से कहता हूँ कि मैंने सरस्वती को पढ़ने योग्य बनाने में यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रक्खी। अपनी अल्पज्ञता और असामर्थ्य का यथेष्ट ज्ञान होने पर भी मैंने सरस्वती के सम्पादन का भार केवल यह समझ कर अपने ऊपर लिया कि—

"नभः पतन्त्यात्मसमं पतत्रिणः"

कुछ लोगों का ख़याल है कि हिन्दी लिखना, हिन्दी में पुस्तक-रचना करना और हिन्दी की सामयिक पत्रों का सम्पादन करना हिन्दी की सेवा करना है। उनका यह कथन औरों के विषय में चरितार्थ हो सकता है, पर मेरे विषय में नहीं। मैं "सेवा" शब्द का अर्थ अच्छी तरह जानता हूँ। अतएव मैं कह सकता हूँ कि मैंने सेवा-भाव से प्रेरित होकर सरस्वती का सम्पादन नहीं किया। और कोई काम कर सकने की योग्यता न होने के कारण मैंने तो यह काम, इंडियन प्रेस की कृपा से, अपनी जीविका के उपार्जन का साधन-मात्र समझ कर, किया है। मैंने न किसी की सेवा की है, न किसी पर एहसान किया है—

"सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे"

इसे अत्युक्ति न समझिए; इस कथन में किसी और अलङ्कार की भी उद्भावना न कीजिए।

हिन्दी की सेवा मैंने तो नहीं, पर इंडियन प्रेस के अध्यक्ष ने अवश्य की है। जन्म-भूमि उनकी वङ्गदेश है और मातृभाषा उनकी बँगला। तिस पर भी वे हिन्दी-भाषा की पत्रिका, सरस्वती, को जारी करके उसे २१ वर्ष से सतत चला रहे हैं और अब तक हज़ारों रुपये घर से घाटे के दे चुके हैं। विश्वास कीजिए, सरस्वती से उन्हें प्रत्यक्ष कुछ भी लाभ नहीं हुआ, परोक्ष लाभ चाहे जो कुछ हुआ हो। पर उसी को उन्होंने बहुत समझा और सरस्वती को उन्नत रखने की कामना को

कभी शिथिल नहीं होने दिया। जहाँ तक छपाई, काग़ज़, चित्र और पुरस्कार आदि से सम्बन्ध था, उन्होंने उपाय भर कभी कार्पण्य नहीं किया। यदि उनमें उदारता की मात्रा इतनी अधिक न होती तो सरस्वती का विसर्जन कभी का हो गया होता।

मुझे अपने निज के कर्तव्य के विषय में भी कुछ कहना है। अपनी अल्प योग्यता के अनुसार, अब तक, मैंने यथाशक्ति इस पत्रिका का कार्य्य-निर्वाह किया। समय पर कापी देता रहा; कभी, एक बार भी, कोई हीला हवाला नहीं किया। न बीमारी बाधक हुई, न सफ़र बाधक हुआ, न समयाभाव बाधक हुआ। जानबूझ कर कभी इसके द्वारा मैंने अपनी लेखनी का दुरुपयोग नहीं किया। न किसी के कोप से विचलित हुआ, न किसी के प्रसाद से कर्तव्यच्युत। इसे बहुजनप्रिय बनाने में मैंने कभी कसर नहीं की। अपने लाभालाभ का कुछ भी विचार न करके सदा इसके पाठकोंही के लाभालाभ का विचार ध्यान में रक्खा। जो कुछ लिखा, केवल कर्तव्य बुद्धि की प्रेरणा से लिखा। तिस पर भी, समय-समय पर, मुझ पर व्यक्ति-गत आक्रमण हुए और अनेक दोषों का आरोप भी हुआ। व्यक्ति-गत आक्षेपों के उत्तर की न तब ज़रूरत थी और न अब है। हाँ, सम्पादक की हैसियत से मेरे कार्य्य की जो प्रतिकूल समालोचनायें हुई हैं और यदा कदा मुझ पर जो शब्दगत निष्ठुर आक्रमण तक हुए हैं उनके कर्त्ताओं से मुझे इतना ही निवेदन करना है कि—

"धियात्मनस्तावदचारु नाचरं
परस्तु यद् वेद स तद्वदिष्यति।
जनावनायोद्यमिनं जनार्द्दनं
क्षये जगज्जीवपिबं वदन् शिवम्॥"

अर्थात्—सच कहता हूँ, जानबूझ कर मैंने कोई भी अनौचित्य नहीं किया—अन्याय, असत्य-वाद, अकारण निन्दा आदि का कभी अवलम्ब नहीं किया। औरों ने मेरे काम को जैसा समझा वैसे ही उल्लेख उन्होंने किया। इसमें उनका भी क्या दोष? उनका दोष हो या न हो, उन्हें वैसा करने से रोक ही कौन सकता था? दुनिया का हाल तो कुछ अजीब सा है। मैं तो अल्पज्ञ हूँ; लोगों ने तो सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ हरिहर तक को नहीं छोड़ा। उन्होंने उनके भी कार्य्य की उलटी समालोचना कर डाली है। देखिए, विष्णु भगवान् सारे सांसारिक जीवों का पालन करते हैं। पर लोगों ने उनका नाम रक्खा है जनार्द्दन, अर्थात् मनुष्यों का पीड़न करनेवाले! उधर प्रलय-काल में समस्त संसार का संहार करनेवाले हर को उन्होंने शिव अर्थात् कल्याणकर्त्ता का ख़िताब दे डाला है!

हाँ, अनुभव-हीन, ज्ञान-हीन, विद्या-बुद्धि-विहीन होने के कारण, बिना जाने या भ्रमवश, मुझसे जो त्रुटियाँ हो गई हों उनके लिए मैं नम्रतापूर्वक हृदय से क्षमा माँगता हूँ। इस क्षमा-प्रार्थना की भी कोई आवश्यकता न थी; क्योंकि—

गुणदोषौ बुधो गृह्णन्निन्दुक्ष्वेडाविवेश्वरः।
शिरसा श्लाघते पूर्वं परं कण्ठे नियच्छति॥

तथापि क्षमा-प्रार्थना से लोकाचार की रक्षा करना भी आवश्यक है। अतएव मैं पुनर्वार कहता हूँ—क्षम्यताम्।

यदि मेरे मित्र, परम कारुणिक, पण्डित दे[illegible] प्रसादजी शुक्ल, बी० ए०, वर्तमान सुपरिंटेंडेंट, हिन्द[illegible] बोर्डिंग् हौस, इलाहाबाद, अपनी पर-दुःख-कातर[illegible] की प्रेरणा से दो दफ़े मेरा काम न सँभाल लेते तो शायद यह निवेदन लिखने की नौबत अब से बहुत प[illegible] ही आ जाती। उनकी इस अकारण-बन्धुता और हमदर्दी के ऋण से मैं कभी उद्धार होने का न[illegible] अकाल ही में शरीर के जराजीर्ण और व्याधि[illegible] हो जाने के कारण, विशेष सहायता मिलने पर अब मुझ में इतनी शक्ति नहीं कि सरस्व-

सम्पादन अच्छी तरह कर सकूँ। अपने शरीर और मन की वर्तमान अवस्था में भी, केवल अपने निज के लाभ के लिए, इस काम को करते रहना मैं सरस्वती और सरस्वती के प्रेमी पाठकों पर अत्याचार करना समझता हूँ। यह मुझे अभीष्ट नहीं। अतएव सरस्वती से मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध इस महीने से छिन्न होता है; परोक्ष सम्बन्ध फिर भी बना रहेगा; और परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वह जन्मान्तर में भी बना रहे। अब इसका सम्पादन-भार ऐसे व्यक्तियों ने अपने ऊपर लिया है जो वय में नवीन और विद्या-बुद्धि में प्रवीण हैं; जिन्होंने उच्च शिक्षा पाई है; जिनकी गति कई भाषाओं में है; जो सुलेखक भी हैं और सुकवि भी हैं; और जिनके जीवन का प्रधान लक्ष्य साहित्याराधना ही लक्षित होता है। अतः, आशा है, उनके सम्पादकत्व में सरस्वती की सर्वाङ्गीण उन्नति होगी और उसके प्रेमी उस पर पूर्ववत् कृपा-दृष्टि बनाये रहेंगे। आज से लेख, समालोचनार्थ पुस्तकें, बदले के पत्र और सरस्वती के सम्पादन से सम्बन्ध रखनेवाली चिट्ठियाँ आदि

सरस्वती-सम्पादक,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
कटरा,
इलाहाबाद

के पते से ही भेजी जानी चाहिए।

मेरे भाग्याकाश में बहुत काल से—कोई १० वर्ष से—विपत्ति के बादलों की घोर घटायें छाई हुई हैं। घटायें एक नहीं, कई दफ़े, बड़ी ही भयानक वृष्टि कर चुकी हैं; ओले गिरा चुकी हैं; वज्रपात तक कर चुकी हैं। फिर भी इनकी गभीर गर्जना बन्द नहीं हुई। इस समय भी वह सुनाई दे रही है। अतएव सरस्वती के प्रेमियों, पाठकों, ग्राहकों और मुझ पर कृपा करनेवाले अन्य सज्जनों से—फिर, चाहे वे किसी धर्म्म या सम्प्रदाय के हों, यहाँ तक कि जिन्हें लोगों ने अन्त्यज मान रक्खा है वही चाहे क्यों न हों, उन सबसे—मुझे, सरस्वती के द्वारा, कुछ निवेदन करना है और मेरा यह निवेदन अन्तिम निवेदन होगा। पूर्वोक्त जनों में अनेक महाशय दानी ही नहीं, महादानी—वदान्य-शिरोमणि-भी होंगे। मैं याचक बन कर उनसे कुछ माँगना चाहता हूँ। मेरी याचना बहुत बड़ी नहीं; वह बहुत छोटी है। उसे पूर्ण करने की शक्ति साधारण जनों में भी है; दानियों और वदान्यवरों ही में नहीं।

मेरे सम्पादन-समय में यदि पूर्वोक्त जनों को सरस्वती से कुछ भी मनोरञ्जन हुआ हो; यदि उनकी समझ में मुझसे हिन्दी-साहित्य और हिन्दी भाषा को कुछ भी लाभ पहुँचा हो; यदि सम्पादक की हैसियत से मैंने अपने कर्तव्य का निर्वाह अल्पांश में भी किया हो; और, यदि वे मुझे कल्याण-कामना के दान का पात्र समझते हों तो हृदय के अन्तस्तल से वे यह आशीर्वाद दें कि पूर्व-निर्दिष्ट घटायें मेरे भाग्याकाश से तितर-बितर हो जायँ; मेरा अवशिष्ट जीवन शान्तिपूर्वक बीते; शारीरिक, मानसिक और आर्थिक कष्टों की विभीषिका को सामने उपस्थित देख मेरी धैर्यच्युति न हो; "चना-चबेनी" को मैं मधुर मोदक समझूँ; और सबसे बड़ी बात यह हो कि दुर्धर से भी दुर्धर प्रसङ्ग आने पर सतपथ से मेरा भ्रंश न हो। मेरा विश्वास है कि जन-समुदाय की हित-चिन्तना से मेरा भला हो सकता है और परमात्मा भी मुझे अपनी दया का पात्र बना सकता है; क्योंकि आत्मरूप में वही घट घट में—प्रत्येक प्राणी के हृदय में—विराज रहा है। बस मेरी यही अन्तिम प्रार्थना है। अच्छा तो अब मैं विदा होता हूँ—

अतः परं व्याधिशतक्षतस्य मे
मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे

दौलतपुर, रायबरेली
३१ दिसम्बर—१९२०

महावीरप्रसाद द्विवेदी

पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।
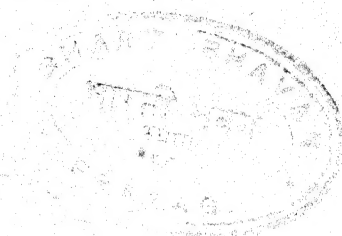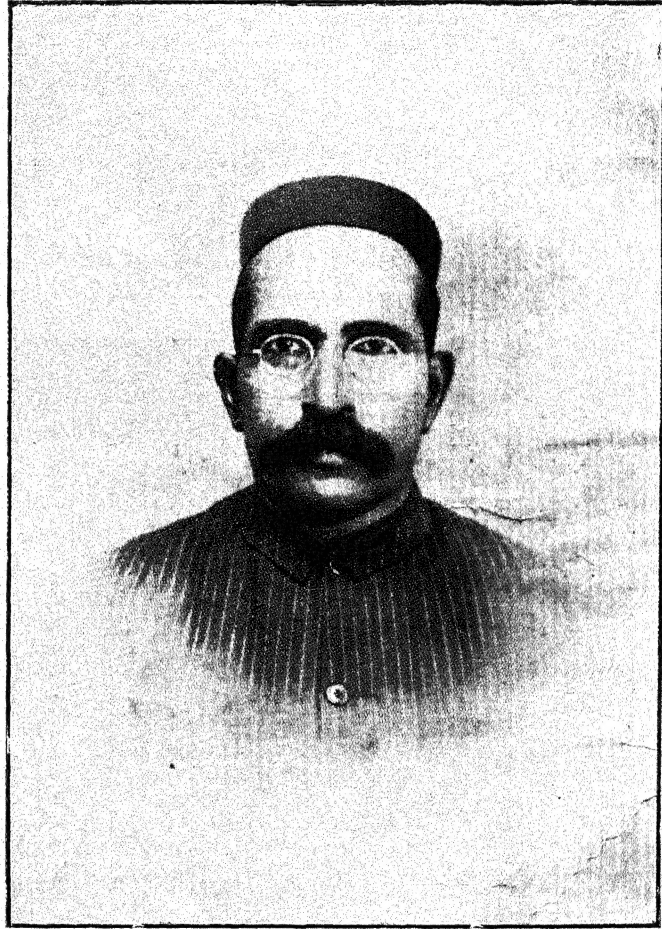
श्रीमान् पण्डित महावीर-प्रसाद द्विवेदी।

अठारह वर्ष तक सरस्वती का सम्पादन करके अब श्रीमान् पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी को शरीर की अस्वस्थता के कारण इस कार्य से अलग होना पड़ा। जब से द्विवेदीजी ने सरस्वती का सम्पादन-भार ग्रहण किया तब से आज तक उसकी उन्नति के लिए उन्होंने अजस्र श्रम किया। हिन्दी की वर्तमान अनुन्नत दशा में भी उन्होंने सरस्वती को उच्च कोटि की पत्रिका बनाने में अपनी ओर से कुछ भी नहीं उठा रक्खा।

सामयिक पत्र स्थायी साहित्य उत्पन्न नहीं करते; परन्तु साहित्य में उनका प्रभाव चिरस्थायी रहता है। वही भाषा को विशद करते हैं, समाज की रुचि को परिमार्जित करते हैं और साहित्य के कार्य-क्षेत्र को इतना विस्तृत कर देते हैं कि भविष्य में स्थायी साहित्य की सृष्टि हो। इसमें सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी ने सरस्वती के द्वारा हिन्दी-भाषा को एक स्थिर रूप दे दिया, उसकी शैली निश्चित कर दी और हिन्दी-भाषा-भाषियों की रुचि को परिमार्जित कर दिया। खड़ी बोली की कविता को आज जो पद प्राप्त है उसमें उनका भी हाथ है। उन्होंने सरस्वती में उन विषयों का समावेश करके, जिनकी पहले चर्चा तक नहीं होती थी, हिन्दी के साहित्य-क्षेत्र को ख़ूब बढ़ा दिया है। उनका यह प्रभाव अलक्षित भाव से सदैव काम करता रहेगा।

सम्पादक की सफलता उसके पत्र की लोक-प्रियता पर है। इस विषय में पहले हम एक विद्वान् अँगरेज़ की सम्मति उद्धृत करते हैं। आपका कथन है कि "That particular kind of journalism which is ever ready to do the unscrupulous and which is little better than the gutter press, has never lacked supporters in this country or for the matter of that in any other country. It is the respectable and high class journalism that suffers for want of hearty support." अर्थात् उच्च कोटि के सामयिक पत्रों को इस देश में उतना प्रोत्साहन नहीं मिलता जितना कि हीन श्रेणी के पत्रों को मिलता है, ऐसे पत्र जो मनमानी बातें लिखा करते हैं। कदाचित् यही कारण हो कि हिन्दी-भाषा भाषियों की संख्या सबसे अधिक होने पर भी सरस्वती के ग्राहकों की संख्या दस पन्द्रह हज़ार तक कभी नहीं पहुँची। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि सरस्वती के ग्राहकों की अपेक्षा उसके पाठकों की संख्या कहीं अधिक है। अतएव लोकप्रियता की भी दृष्टि से यह निश्चित है कि द्विवेदीजी को पत्र-सम्पादन में पूर्ण सफलता हुई।

द्विवेदीजी ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है वह हिन्दी के प्रेमी पाठकों से छिपी नहीं है। उन्होंने अन्य भाषाओं के कुछ ग्रन्थ-रत्नों के अनुवाद हिन्दी में किये। बेकन-विचार-रत्नावली, मिल की स्वाधीनता और स्पेन्सर की शिक्षा अँगरेज़ी-भाषा के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों से हिन्दी-साहित्य की अवश्य वृद्धि हुई है। उनका महाभारत एक बँगला ग्रन्थ का हिन्दी-रूपान्तर है। इस ग्रन्थ का प्रचार भी ख़ूब हुआ। हिन्दी में अर्थ-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों का अभाव देख कर उन्होंने सम्पत्ति-शास्त्र की रचना की। इसका भी अच्छा आदर हुआ। कालिदास के सभी मुख्य काव्यों का अनुवाद उन्होंने हिन्दी में किया। उनके समालोचना-ग्रन्थों से मौलिकता और खोज प्रकट होती है। नैषध-चरित-चर्चा, विक्रमाङ्क-

देवचरितचर्चा, कालिदास की समालोचना आदि ग्रन्थ इसी कोटि के हैं।

हम यहाँ द्विवेदीजी की गुणावली का कीर्त्तन करना नहीं चाहते। यह तो सर्वविदित ही है कि वे संस्कृत के विद्वान्, अँगरेज़ी के ज्ञाता और हिन्दी के आचार्य हैं। सरस्वती को इसका गर्व सदा बना रहेगा कि उसकी सेवा में एक ऐसे विद्वान् ने अपना समस्त जीवन उत्सर्ग कर दिया। इस बात को जान कर किसे न दुःख होगा कि उन्हें अस्वास्थ्य के कारण हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र से अलग होना पड़ा।

भारतवर्ष में साहित्य-सेवी का जीवन सुख और शान्ति से नहीं व्यतीत होता। फिर यदि उसे दैवी विपत्ति का सामना करना पड़े तो उसका जीवन और भी दुःखमय हो जाता है। द्विवेदीजी को शारीरिक और मानसिक दुःख बहुत सहने पड़े हैं। भगवान् से हमारी यही विनय है कि उनकी अन्तिम इच्छा सफल हो और उनका जीवन शान्ति से बीते।

आँख-मिचौनी।

अच्छी आँख-मिचौनी खेली
बार बार तुम छिपो और मैं खोजूँ तुम्हें अकेली
किसी शान्त एकान्त कुञ्ज में तुम जाकर सो जाओ
भटकूँ इधर-उधर मैं, इसमें क्या रस है, बतलाओ
यदि मैं छिपूँ और तुम खोजो अनायास ही पाओ
कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूँ मैं? जाने भी दो, आओ,
करें बैठ रँग-रेली
अच्छी आँख-मिचौनी खेली!
पर जब तुम हो सभी कहीं तब मैं ही क्यों यों भटकूँ?
चाहूँ जिधर उधर ही अपनी दाई* तुम पर पटकूँ
इसकी भी क्या आवश्यकता जो बाहर पर अटकूँ
अन्तर के ही अन्धकार में क्यों न पीत पट झटकूँ
बन अपनी ही चेली
अच्छी आँख-मिचौनी खेली।

मैथिलीशरण गुप्त

* ओसरी

रवीन्द्र-दर्शन।

रीर-शास्त्र-वेत्ता शरीर का रहस्य जानने के लिए उसके सभी अङ्गों का पृथक् पृथक् विश्लेषण कर डालते हैं। इससे वे शरीर के सब भागों से अच्छी तरह अवगत हो जाते हैं परन्तु शरीर के भीतर जो जीवन-शक्ति काम कर रही है उसका ज्ञान उन्हें नहीं होता। सच तो यह है कि शरीर को विभक्त करते समय उनको इस बात का ख़याल भी नहीं रहता कि शरीर जीवन का बाह्य रूप है। यदि हम शरीर का रहस्य जानना चाहते हैं तो हमें उसे जीवन से पृथक् नहीं करना चाहिए। इससे रहस्योद्घाटन तो दूर रहा वह और भी गूढ़ हो जाता है। जीवन तो लुप्त हो जाता है और हम जड़-शरीर के ढाँचे से ही सन्तोष कर लेते हैं।

यही हाल कवि और उसके काव्य का है। काव्य कवि की अन्तरात्मा का बाह्य रूप है। उसके भीतर कवि की जीवन-शक्ति काम कर रही है। यदि हम काव्य का रहस्य जानना चाहते हैं तो हमें कवि के जीवन के साथ उसकी पर्यालोचना करनी चाहिए। कवि के जीवन से काव्य को पृथक् कर देने से वह निर्जीव हो जाता है और उसका अन्तर्गत रहस्य छिपा ही रहता है।

कवि के जीवन से हमारा अभिप्राय उसके बाह्य जीवन से नहीं, अन्तर्जीवन से है। यह सच है कि अन्तर्जीवन बाह्य जीवन के ही रूप में विकसित होता है। परन्तु यह विकास एक ही रूप में न होकर भिन्न भिन्न रूपों में होता है। कवि सिर्फ़ कवि ही तो नहीं है; वह मनुष्य भी है। मनुष्य होने से वह अपने देश, काल और समाज से बँधा रहता है। इसलिए जब उसके अन्तर्जीवन का विकास बाह्य-जीवन में होता है तब वह देश, काल और समाज

से मर्यादित हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि अन्तर्जीवन का एक स्रोत भिन्न भिन्न स्रोतों में विभक्त हो जाता है। यदि हम उन स्रोतों को पुनः एक धारा में प्रवाहित कर दें अर्थात् उनकी भिन्नता हटा कर उन्हें एक रूप में देख लें तो हम कदाचित् कवि के जीवन और उसके काव्य का रहस्य जान सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ कवि हैं, ब्रह्म-समाज के नेता हैं, समाज-सुधारक हैं, देशभक्त हैं और शिक्षक हैं। उन्होंने काव्य और नाटकों की रचना की है, उपन्यास और प्रहसन लिखे हैं, धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना की है, शिक्षा और समाज की भी विवेचना की है। भिन्न भिन्न अध्यायों में उनकी इन रचनाओं की पृथक् पृथक् आलोचना कर देने से हमें रवीन्द्र का दर्शन नहीं हो सकता। हम यह अवश्य जान लेंगे कि इन विषयों पर रवीन्द्र बाबू की यह सम्मति है। उनके जीवन की दो-चार घटनाओं से भी परिचित हो जावेंगे। पर रवीन्द्रनाथ हैं कौन, यह तो नहीं जान सकेंगे।

रवीन्द्रनाथ का दर्शन करने के लिए हमें उनके कवित्व के साथ उनका मनुष्यत्व भी मिला देना चाहिए। उन्हें केवल कवि के रूप में देखने से वे मनुष्य-समाज से अलग हो जाते हैं और इससे उनके जीवन का एक बड़ा भाग अलक्ष्य हो जाता है। अतएव सबसे पहले हमें इस पर विचार करना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का विकास कैसे हुआ और उसी के साथ हमें उनके कवि-जीवन पर दृष्टि डालनी चाहिए।

कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। उसके काव्य में हम तत्कालीन मनुष्य-समाज का चित्र देख सकते हैं। कवि का यह कर्तव्य है कि वह अपने युग की भावनाओं को स्पष्ट रूप दे दे। यदि वह यथार्थ में कवि है तो वह मनुष्यों के भविष्य जीवन-पथ का निश्चय कर देता है। कवि की गणना उन महापुरुषों में की जाती है जो मनुष्यों के जीवन स्रोत की गति को ही बदल देते हैं। लोगों का कुछ ऐसा ख़याल हो गया है कि कवि केवल कल्पना-क्षेत्र में विहार करता है। उसके कल्पना-प्रसूत भावों को हम अपने दैनिक जीवन के काम में नहीं ला सकते। परन्तु यह उनका भ्रम है। इस भ्रम का कारण यह है कि हम बाह्य-जगत् ही में लिप्त रहते हैं। हम उसी का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। परन्तु बाह्य-जगत् से पृथक्, इन्द्रिय-ग्राह्य संसार के अतिरिक्त जो एक दूसरा जगत् है, कवि का आधिपत्य उसी पर स्थापित होता है। उसके लिए काव्य उतना ही आवश्यक है जितना हमारे दैनिक जीवन के लिए भोजन और आच्छादन। अस्तु।

भारतवर्ष चिरकाल से दासत्व की शृङ्खला में बद्ध पड़ा हुआ है। इससे भारतीयों के चित्त की स्वाधीनता बिलकुल नष्ट होगई है। मनुष्यों में उनका मनुष्यत्व चिरकाल तक छिपा नहीं रहता। सङ्घर्षण होते ही आग की तरह वह जल उठता है। यह उसका स्वाभाविक धर्म है। भारतवर्ष सोया हुआ था। संसार से अपने को पृथक् कर वह पृथ्वी के एक कोने में निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। जीवन का विशाल-समुद्र उसके पद-तल पर हिलोरें ले रहा था, पर उसने अपने घर को चारों ओर से अच्छी तरह बन्द कर रक्खा था। इसलिए जीवन-समुद्र का गर्जन भी उसके कानों तक नहीं पहुँचता था। कब तक ऐसी दशा रहती। अन्त में एक ऐसी बड़ी लहर उठी कि उसने भारत की जीर्ण चौहद्दी को तोड़ डाला। भारत के घर के भीतर भी जीवन की लहरें उठने लगीं। जब भारतवर्ष में जीवन का यह प्रवाह बड़े वेग से बह रहा था तब रवीन्द्रनाथ का जन्म हुआ।

रवीन्द्रनाथ के जीवन और उनके काव्यों पर दृष्टि डालने के पहले हमें वर्तमान युग की विशेषता

कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

मनुष्य के समान किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। रवीन्द्रनाथ ने उसका अतीत-धन खोज कर उसे समर्पण कर दिया है और उसे इस योग्य बना दिया है कि वह वर्तमान संसार में विचरण कर सके।

रवीन्द्रनाथ का जन्म सन् १८६० ईसवी में हुआ। उनके दो ही साल बाद सन् १८६२ में मारिस मेटरलिङ्क का जन्म हुआ। दोनों ने ही संसार को अध्यात्मवाद का सन्देश सुनाया। दोनों को ही नोवल पुरस्कार देकर योरप ने सम्मानित किया। रवीन्द्र बाबू ने उस कुल में जन्म-ग्रहण किया जो बङ्गाल में बड़ा प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित है। उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर थे। उनके संरक्षण में रह कर रवीन्द्र बाबू ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। बाल्यकाल में ही उनकी प्रतिभा जागृत होगई थी। जब उनके घर से भारती नामक पत्र का प्रकाशन होने लगा तब उनकी रचनायें उसमें निकलने लगीं। सन्ध्या-सङ्गीत उनका पहला ग्रन्थ है जिसमें उनका विशेषत्व अच्छी तरह प्रकट हुआ है। 'प्रभात-सङ्गीत' में उनका विश्व-बोध अथवा सर्वानुभूति पहले-पहल प्रकट हुई है। इसके बाद तो उनके कवित्व-शक्ति के स्रोत ने वङ्ग-देश को प्लावित कर दिया। अन्त में वह देश की सीमा का उल्लंघन कर समस्त विश्व के लिए बहने लगा। रवीन्द्र बाबू की कृति अब किसी देश-विशेष की सम्पत्ति न होकर विश्व की सम्पत्ति होगई।

यदि हम रवीन्द्रनाथ की सर्वानुभूति पर दृष्टि रक्खें तो हम उनके जीवन और काव्य के रहस्य का उद्घाटन कर सकेंगे। विश्व को, मानव-जीवन को सभी ओर से उपलब्ध करने की व्याकुलता ने ही रवीन्द्र के कवित्व को उत्साहित किया है। हम अपने जीवन द्वारा जिस जीवन को सम्पूर्णरूप से नहीं पाते, दूर होने से जिसका परिचय मात्र पाते हैं वह अन्तःकरण के तीव्र औत्सुक्य के प्रकाश में देदीप्यमान हो उठता है। कवि की व्याकुल कल्पना की रश्मिच्छटा से प्रदीप्त जगत् के दृश्य को ही हम उनकी रचना में देखते हैं। विश्व-योग के अभाव से कवि में विश्व-बोध का भाव इतना तीव्र हो गया है कि वही उनके कवित्व-स्रोत में फूट पड़ा है। अभी तक हम सुप्त थे। पर एक दिन हमारी चिरकाल की निद्रा भङ्ग हुई। हम जाग पड़े। तब हमने अपने शयन-गृह की खिड़की से देखा कि जीवन की विस्तीर्ण लीला-भूमि में मनुष्य सभी दिशाओं में अपनी विचित्र शक्ति को आनन्द में परिकीर्ण कर रहा है। तब विश्व-क्षेत्र में सम्मिलित होने के लिए हमारे प्राण व्याकुल हो गये। इस प्रकार अन्तःकरण में विश्व के लिए विरह-वेदना जागृत हो उठने पर हम अभिसारिक होकर बाहर जाना चाहते हैं। पर पथ पहचानते नहीं, इसीलिए भिन्न भिन्न पथों में भटकते फिरते हैं। इसी प्रकार भटकते भटकते अन्त में हम जान लेते हैं कि हमारा ही पथ राज-पथ है। हम व्यर्थ दूसरे पथों के गोरखधन्धा में पड़े घूम रहे हैं। बस यही बात, यही विश्व की अभिसार-यात्रा, हम रवीन्द्रनाथ के काव्य में देखते हैं। और यही अनुभूति का आवेग हम उनके जीवन में पाते हैं। जीवन की भिन्न भिन्न प्रवृत्तियों में से होकर उन्होंने विश्व को पा लिया और तब वही एक तान उनकी हृत्तन्त्री पर बजने लगी। उन्होंने सीमा में असीम का दर्शन कर लिया और अन्धकार में अनन्त-ज्योति की छवि देख ली-

आमारे तुमि अशेष करेछ
एमनि लीला तव

रवीन्द्रनाथ के जीवन के सम्बन्ध में हमें यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि उन्होंने अपने स्वभाव के अन्तर्निहित पथ ही का अनुसरण

किया है। उनके इसी स्वभाव में उनकी कवि-प्रकृति, तपस्वी-प्रकृति, भोगी-प्रकृति और त्यागी-प्रकृति ने विकास पाया है। किसी प्रवृत्ति के प्रबल होने पर जब प्रकृति एक ही ओर खिँचती तब उसके विरुद्ध भीतर से एक धक्का लगता जो स्वभाव को दूसरी ओर कर देता है। इस तरह नदी के समान उनके जीवन-स्रोत की गति टेढ़ी ही रही और एक स्थान से दूसरे स्थान और एक रस से दूसरे रस में बहता हुआ अन्त में वह धर्म में जाकर एकरूपता प्राप्त कर लेता है। वहाँ सभी प्रवृत्तियों का विरोधभाव हट जाता है और उनमें सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने भीतर ही भारतवर्ष के चिरन्तन समन्वयादर्श का अनुभव कर लिया।

> ए आमार शरीरेर शिराय शिराय
> जे प्राण-तरङ्गमाला रात्रिदिन धाय
> सेइ प्राण छुटियाछे विश्व-दिग्विजये,
> सेइ प्राण अपरूप छन्दे ताले लये
> नाचिछे भुवने, सेइ प्राण चुपे चुपे
> वसुधार मृत्तिकार प्रति रोम कूपे
> लच लच तृणे तृणे सञ्चार हरषे,
> विकाशे पल्लवे पुष्पे,—वरषे वरषे
> विश्वव्यापी जन्ममृत्यु-समुद्र-दोलाय
> दुलिते छे अन्तहीन जोयार भाटाय !
> करितेछि अनुभव, से अनन्तप्राण
> अङ्गे अङ्गे आमारे करेछे महीयान् !
> सेइ युग युगान्तरे विराट स्पन्दन
> आमार नाड़ीते आज करिछे नर्त्तन !

रवीन्द्रनाथ ने अपने बाल्यकाल में योरप-भ्रमण किया था और जब उनमें कवित्व का पूर्ण-विकास हो गया तब उन्होंने फिर योरप का भ्रमण किया। पहली बार उन्होंने योरप से ग्रहण कर भारतवर्ष को दिया और अब वे योरप को भारतवर्ष का चिरन्तन सन्देश दे रहे हैं। योरप ने उन्हें नोवल-पुरस्कार देकर सम्मानित किया और भारत के सन्देश की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया। पाश्चात्य जगत में जिस वस्तु का अभाव था, जिसके न रहने से समृद्धिशाली होने पर भी योरप का अन्तःकरण जर्जर हो रहा था उसी अभाव को दूर करने का उपाय रवीन्द्रनाथ ने बतला दिया। पाश्चात्य जगत् ने रवींद्रनाथ के काव्यों में भारतीय आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया। एक ईसाई विद्वान् ने कहा था—आपकी कविता का पाठ कर हम इस संसार को दूसरे ही भाव से देखने लगे हैं; पहले हमने कभी संसार का ऐसा दर्शन नहीं किया था जैसा आज कर रहे हैं। एक दूसरे विद्वान् हालेएड साहब ने कहा था-पाश्चात्य देश अभी तक भारतवर्ष की अवज्ञा कर रहा था; यह पुरस्कार उसी पाप का प्रायश्चित्त है। कुछ लोगों का कथन है कि पूर्व और पश्चिम का कभी मिलन नहीं होगा। आपके द्वारा वह मिलन हो गया। यह मिलन किसी विशेष सम्प्रदाय के देव-मन्दिर में नहीं हुआ है, यह वहाँ हुआ है जहाँ ज्योतिर्मय परमात्मा का नित्य प्रकाश है। उसी आध्यात्मिक राज्य में पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ है।

रवीन्द्रनाथ की कविताओं पर एक जर्मन विद्वान् की भी सम्मति सुन लीजिये। आपका नाम है कानरेड हौस मैन (Canrad Hauss mann) आपने एशिया के प्राचीन कवियों की कुछ कविताओं के अनुवाद पुस्तकाकार प्रकाशित किये हैं। उसमें सिर्फ़ रवीन्द्रनाथ ही की आधुनिक रचनाओं को स्थान मिला है। उनके विषय में आप लिखते हैं, "रवीन्द्रनाथ को जन्म देकर आधुनिक भारतवर्ष ने एक अद्वितीय कवि उत्पन्न किया है। इसी लिए मैं अपने लेखों के द्वारा जर्मनी को उनसे परिचित कराता हूँ। प्राचीन कवियों की रचनाओं के बाद मैंने इस भारतीय कवि की कुछ कविताओं को स्थान दिया है क्योंकि उन्होंने अपने कवित्व-सूत्र

से अतीत से वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ रक्खा है। ये कवितायें उनके गार्डनर नामक एक काव्य-ग्रन्थ से उद्धृत की गई है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अवस्था इस समय ५१ वर्ष की है। उनके जीवन का विकाश गङ्गा और हिमालय की भूमि में हुआ है। उनका कुल बड़ा प्राचीन है। दसवी शताब्दी से वह चला आ रहा है। रवीन्द्रनाथ की सरस कविता, उनकी प्रतिभा और विश्वानुभूति इतनी उच्च-कोटि की है–कि उन्हें नोबल पुरस्कार का योग्य अधिकारी समझ कर ही हमें सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। उन्हीं के द्वारा हमें जर्मन और भारतीय साहित्यों में अपना सम्बन्ध खोज निकालना चाहिए। जर्मनी में उनकी कविताओं का एक अच्छा सङ्ग्रह प्रकाशित होना चाहिए।"

नवीनचन्द्र

चीन-प्रवासी भारतीय विद्वानों के कार्य्य ।
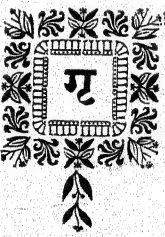
गृहस्थ-नामक बँगला-मासिक-पत्र के चतुर्थ खण्ड की नवम संख्या में इस विषय पर एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसके लेखक श्रीयुत विनोदविहारी चक्रवर्ती से अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए हम उसका आशय नीचे देते हैं।

भारतवर्ष, अनेक विषयों में समस्त एशिया का शिक्षा और दीक्षा गुरु है। व्यवसाय, शिल्प, धर्म, राष्ट्र, समाज, साहित्य और विद्या-विचार आदि में भारतवासियों ने एशिया की अनेक जातियों को अपनी ऋण-रज्जु से बाँध रक्खा है। ये सब बातें देशान्तरों से हमें ज्ञात होती जाती हैं। आज-कल जो लोग प्राचीन और मध्यकाल के एशियाई शिल्प, वाणिज्य, राष्ट्रीय परिवर्तन, शिक्षाविस्तार और धर्म-प्रचार आदि विषयों के अनुसन्धान में लगे हुए हैं वही भारतवर्ष के महत्त्व का वृत्तान्त प्रकाशित कर रहे हैं। इन विषयों की आलोचना कई बार हो चुकी है। कुछ वर्ष हुए, जापानी विद्वान् अध्यापक बुनियो नानजियो ने, अँगरेज़ी भाषा में, एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है। भारतवर्ष के उपदेशकों और विद्या-प्रेमियों ने चीन-देश के सम्राटों और सामन्तों द्वारा निमन्त्रित होकर चीन में किस प्रकार स्वदेशीय विद्या, धर्म और साहित्य का प्रचार किया है—उसी का विवरण उक्त ग्रन्थ में सङ्ग्रहीत है। यह लेख उसी के आधार पर लिखा गया है।

१—काश्यप मातङ्ग

ये मध्यभारत के एक बौद्ध संन्यासी थे। बौद्ध यतियों को 'श्रमण' कहते हैं। इनकी जाति ब्राह्मण थी।* ६५ वें वर्ष में एक चीनी दूत इस देश में रहता था। वह ६७वें वर्ष में इनके साथ चीन-देश को गया। उस समय द्वितीय मिन्ति (Min-ti) चीन-देश का राजा था। काश्यप मातङ्ग ने हीनयान सूत्र के ४२ भागों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

२—धर्मरत्न

ये मध्यभारत के श्रमण अर्थात् संन्यासी थे। विनय पिटक के उत्तम विद्वान् थे। चीन-यात्रा का प्रस्ताव करने पर, राजा ने इन्हें आज्ञा न दी। परन्तु छिप कर ये चीन को चले गये। काश्यप मातङ्ग के थोड़े ही दिन बाद ये भी वहाँ पहुँचे। मातङ्ग के साथ ४२ भागों का अनुवाद इन्होंने किया था और मातङ्ग की मृत्यु के बाद—

(१) बुद्धचरित सूत्र, ६८ वर्ष में,

(२) दशभूमि क्लेशाच्छेदिका सूत्र, ७० वर्ष में,

(३) धर्मसमुद्र कोषसूत्र,

(४) जातक अनुवाद और,

(५) २६० शिलालेखों का संग्रह करके उनका अनुवाद किया।

---

* मालूम नहीं, इन वर्षों से मूल लेखक का किस सन्-संवत् से अभिप्राय है।

२१—धर्ममित्र

ये काबुल के श्रमण थे। ४२४ वर्ष में चीन देश पहुँचे और ४४१ वर्ष तक चीनी भाषा में ग्रन्थानुवाद करते रहे। इनके अनुवादः—

महायान सूत्र का—

(१) आकाश गर्भ-बोधिसत्व-धारणी सूत्र

(२) आकाशगर्भ-बोधिसत्व ध्यानसूत्र प्रभृति ६ अनुवाद इनके लिखे मिलते हैं।

२२—गुणवर्मा

ये भी काबुली श्रमण थे और काबुल के राजा के छोटे पुत्र थे। ४३१ वर्ष में चीनदेश पहुँचे थे। १० ग्रन्थों का इन्होंने अनुवाद किया था। उनमें से ५ उपलब्ध हैं:—

हीनयान विनय का—

(१) उपालि-परिपृच्छा सूत्र

(२) उपासक पञ्चशिल रूप सूत्र

(३) धर्मगुप्त भिक्षुणी कर्मण

(४) श्रामण का कर्मवाच

(५) नागार्जुन-बोधिसत्व सुहल्लेख

२३—संघवर्मण

ये भारतवर्षीय बौद्धयति थे। ४०३ अब्द में चीनदेश पहुँचे थे। पाँच ग्रन्थों का अनुवाद इन्होंने किया; उनमें चार मिलते हैं:—

हीनयान विनय का—

(१) सर्वास्तिवाद-निकाय-विनयमातृका

हीनयान अभिधर्मका—

(२) सम्युक्ताभिधर्म-हृदयाशास्त्र।

(३) महाशूर-बोधिसत्व-निर्देश-कर्मफल

संक्षिप्त सूत्र ("भारतीय विविध ग्रन्थावली" के अन्तर्गत)

(४) नागार्ज्जुन-बोधिसत्व-सुहल्लेख

२४—गुणभद्र

ये मध्यभारत के बौद्धयति थे। ब्राह्मण थे। महायान उपदेशावली से विशेष परिचित थे। इसलिए इनका नाम भी महायान था। ४३५ वर्ष में चीनदेश पहुँचे और ४४६ वर्ष तक ग्रन्थानुवाद कार्य में नियुक्त रहे। इनके ग्रन्थः—

महायान सूत्र का—

(१) श्रीमाला देवी-सिंहनाद

(२) सन्धिनिर्म्मोचन-सूत्र

(३) लङ्कावतार सूत्र

(४) ज्योतिष्क सूत्र

(५) विमनसू-सूत्र

(६) सुकसूत्र...प्रभृति २८ ग्रंथों का अनुवाद इन्होंने किया। उनमें २७ ग्रंथ उपलब्ध हैं।

२५—कू-फा-टिन् (Ku-Fa-Kein)

ये भारतवर्ष के श्रमण थे। ४६५-४७१ वर्ष तक, छः प्रकार के ग्रंथों का अनुवाद इन्होंने किया। किन्तु उनमें से एक भी उपलब्ध नहीं।

२६—संघवर्मन

ये सिंहलदेशीय श्रमण थे। इन्होंने महीशासविनय के सारांश का अनुवाद किया। किन्तु वह ग्रंथ अब नहीं मिलता।

२७—धर्मजातयशस्

ये मध्यभारत के श्रमण थे। ४८१ वर्ष में एक ग्रंथ का अनुवाद इन्होंने किया। उसका नाम—

महायान सूत्र का-अमितार्थ सूत्र।

२८—गुण वृद्धि

मध्यभारत के बौद्ध यति थे। ४९२-९५ वर्ष तक तीन ग्रंथों का अनुवाद इन्होंने किया। उनमें से दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं:—

हीनयान सूत्र का—

(१) सुदत्त सूत्र

(२) शतोपमा सूत्र (भारतीय विविध ग्रन्थावली के अन्तर्गत)

२९—उपशून्य

ये मध्यभारत के एक राजपुत्र थे। ५३८-४१ वर्ष तक इन्होंने तीन ग्रन्थों का अनुवाद किया। ५४५ वर्ष में एक और ग्रंथ का अनुवाद किया। उसके बाद ५६५ वर्ष में और भी एक ग्रंथ का अनुवाद इन्होंने किया। उसकी मूल संस्कृत-पुस्तक कुश्टन (खोटन) स्थान में एक बौद्ध यति

के पास मिली थी। इस समय इनके चार ग्रन्थ प्राप्त हैं—

महायान का—

(१) विमलकीर्ति निर्देश
(२) महाकाश्यप संगीति
(३) संगीतिसूत्र-धर्मपर्याय
(४) सुचिक्रान्त विक्रमि-परिपृच्छ

३०—परमार्थ

ये पश्चिमी भारत की उज्जैन नगरी के निवासी थे। श्रमण थे। इनका दूसरा नाम गुणरत था। ५४६ वर्ष में ये चीन देश पहुँचे और ५५१ वर्ष तक दस ग्रन्थों का अनुवाद किया था। ५५७-५६९ वर्ष तक, कोई चालीस ग्रन्थों के अनुवाद इन्होंने कर डाले। उनमें से—

महायान के—

(१) श्रद्धोत्पाद शास्त्र।
(२) सन्धिनिर्मोचन सूत्र।
(३) विद्यादर्शन-शास्त्र।
(४) विद्याप्रवर्तन शास्त्र।
(५) बुद्धगोत्र-शास्त्र।
(६) अभिधर्मकोष-शास्त्र।
(७) लक्षणानुसार शास्त्र प्रभृति २६ ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

३१—धर्म रुचि

दक्षिण भारतवासी श्रमण थे। ५०१, ५०४ और ५०७ वर्षों में इन्होंने तीन ग्रन्थों का अनुवाद किया। उनमें से दो ग्रन्थ प्राप्त हैं:—

महायान सूत्र का—

(१) श्रद्धावलधानावतार मुद्रा-सूत्र।
(२) सर्वबुद्धविषयावतार।

३२—रत्नमति

मध्यभारत निवासी श्रमण थे। ५०८ वर्ष में तीन से अधिक ग्रंथों का अनुवाद इन्होंने किया। किन्तु दो ही ग्रंथ इनके प्राप्त हैं:—

महायान-अभिधर्म का—

(१) सद्धर्म-पुण्डरीक-सूत्र शास्त्र।
(२) महायानोत्तर-तन्त्र-शास्त्र।

३३—बोधिरुचि

उत्तर भारत-निवासी श्रमण थे। ५०८ वर्ष में चीन देश पहुँचे। ५३५ वर्ष तक तीस से भी अधिक ग्रंथों का अनुवाद करते रहे। उनमें से २६ ग्रंथ मिलते हैं:—

(१) मैत्रेय परिपृच्छा धर्माष्टक
(२) लङ्कावतार सूत्र
(३) मञ्जुश्री परिचरण सूत्र
(४) धर्मपर्याय सूत्र
(५) विद्यामात्र-सिद्धि शास्त्र
(६) विशेष चिन्ता ब्रह्म-परिपृच्छ इत्यादि

३४—बुद्ध शान्त

मध्यभारत निवासी श्रवण थे। ५२४-५३९ वर्ष तक दस ग्रंथों का अनुवाद इन्होंने चीनी भाषा में किया:—

महायान सूत्र का—

(१) दशधर्मक
(२) सिंहनादिका सूत्र
(३) अनन्तमुख साधक धारणी
(४) वज्रमन्त्रधारणी आदि इनके नौ ग्रंथ प्राप्य हैं।

३५—गौतम प्रज्ञारुचि

ये काशी के एक ब्राह्मण थे। ५३८-४३ वर्ष तक अठारह ग्रंथों का इन्होंने अनुवाद किया। इस समय इनके—

(१) व्यास परिपृच्छा
(२) परमार्थ धर्मविजय सूत्र
(३) ईश्वरराजपरिपृच्छा
(४) महायान सूत्रीय—विमलदत्ता परिपृच्छा
(५) अष्टबुद्धक सूत्र
(६) मध्यान्तानुगम-शास्त्र इत्यादि पन्द्रह ग्रंथ पाये जाते हैं।

३६—विमोक्ष प्रज्ञाऋषि (विमोक्ष सेन)

ये उत्तर-भारत के श्रमण थे। कपिलवस्तु के शाक्य वंशीय थे। ५४१ वर्ष में इन्होंने पाँच ग्रंथों का अनुवाद किया:—

महायान-अभिधर्म के—

(१) त्रिपूर्ण सूत्रोपदेश
(२) धर्मचक्र प्रवर्तन—सूत्रोपदेश

(३) कर्मसिद्ध प्रकरण शास्त्र

(४) रत्नचूड सूत्र चतुर धर्मोपदेश

(५) विवादशमन शास्त्र

३७—धर्मबोधि

इनके द्वारा महायान-अभिधर्मका--महानिर्वाण सूत्र-शास्त्र चीनी भाषा में अनुवादित हुआ।

३८—नरेन्द्रयशस्

ये भी उत्तरी भारत के श्रमण थे। ५५७-६८ वर्ष तक इन्होंने सात ग्रंथों का अनुवाद किया। उनके नाम हैं:—

महायान सूत्र के—

(१) पिता-पुत्र समागम

(२) चन्द्रगर्भ वैपुल्य

(३) सुमेरु गर्भ

(४) चन्द्रदीप-समाधि सूत्र

(५) महाकरुणा पुण्डरीक सूत्र

(६) प्रदीपदानीय सूत्र

हीनयान अभिधर्म का

(७) अभिधर्म हृदय-शास्त्र

३९—ज्ञानयशस्

ये मगध-देश के बौद्ध भिक्षु थे। ५६४-७२ वर्ष तक अपने शिष्य यशोगुप्त और ज्ञानगुप्त के साथ इन्होंने छः ग्रंथों का अनुवाद किया। उनमें से दो ग्रंथ मिलते हैं:—

महायान के—

(१) महामेघ सूत्र

(२) महायानाभिसमय सूत्र

४०—ज्ञानगुप्त

ये उत्तर भारतीय गान्धार देश के श्रमण थे। ५६१-७८ वर्ष पर्यन्त इन्होंने चार ग्रंथों का अनुवाद किया। उनमें से दोही वर्तमान हैं:—

(१) नाना सम्युक्त मंत्र सूत्र

महायान का—

(२) सद्धर्मपुण्डरीक कृत अवलोकितेश्वर-समन्तमुख-परिवर्तकी गाथा।

४१—गौतम धर्मज्ञान

ये काशी-निवासी उपासक थे। इनके पिता का नाम प्रज्ञारुचि था। पूर्वाश्रम में ये किसी प्रदेश के शासक थे। ५८९ वर्ष में इन्होंने हीनयान के विभिन्न कर्म्म-फलाफल सम्बन्धी सूत्र का अनुवाद किया—

४२—विनीतरुचि

ये उत्तर भारत के श्रमण थे। ५८२ वर्ष में दो ग्रंथों का इन्होंने अनुवाद किया:—

महायान सूत्र का—गया शीर्ष सूत्र

महायान— वैपुल्यधारणी सूत्र

४३—धर्मगुप्त

ये दक्षिण भारतीय श्रमण थे। इन्होंने ५९०-६१६ वर्ष तक कई ग्रंथों का अनुवाद किया था। उनमें से वर्तमान समय में—

(१) निदान शास्त्र

(२) निदान सूत्र

(३) भैषज्य गुरु—पूर्व प्रणिधान

(४) बोधि प्राप्ति सम्बन्ध सूत्र इत्यादि दस ग्रंथ उपलब्ध हैं।

४४—प्रभाकर मित्र

ये मध्यभारत के श्रमण थे। क्षत्रिय जाति के थे। ६२७ वर्ष में ये चीन देश पहुँचे और तीन ग्रंथों का अनुवाद किया:—

महायान सूत्र का—

(१) रत्नतारा धारण सूत्र

(२) महायान अभिधर्मीय—प्रज्ञाप्रदीप शास्त्र-टीका

(३) सूत्रालंकार टीका।

४५—भगवद्धर्म

ये पश्चिम भारत के श्रमण थे। इन्होंने एक ही ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में किया। उसका नाम—

महायान सूत्र का—सहस्रबाहु-सहस्राक्ष-अवलोकितेश्वर-बोधिसत्व-महापूर्ण प्रतिहता—महाकारुणिक-हृदयधारिणी।

४६—पुण्योपाय

ये मध्यभारत के श्रमण थे। हीनयान और महायान विद्यालय के भिन्न भिन्न प्रकार के प्रायः १५०० से भी अधिक त्रिपिटकसाहित्य सम्बन्धी ग्रन्थों को लेकर, ६५५

वर्ष में ये चीनदेश पहुँचे। भारत और सिंहल देश में पर्य्यटन करके इन्होंने ये सब ग्रन्थ प्राप्त किये थे। ६५६ वर्ष में चीन सम्राट् ने चीन सागर के कोनड़ा द्वीप को इन्हें भेजा। वहाँ विविध ओषधियों के आविष्कारार्थ ये भेजे गये थे। ६६३ वर्ष में चीन लौट कर तीन ग्रन्थों का इन्होंने अनुवाद किया। उनमें से दोही इस समय मिलते हैं:—

महायान सूत्र का—

(१) सिंहव्यूहराज-बोधिसत्व परिपृच्छा

(२) विमलज्ञान बोधिसत्व परिपृच्छा

४७—दिवाकर

ये मध्यभारत के श्रमण थे। ६७६—८८ वर्ष तक अठारह ग्रन्थों का अनुवाद इन्होंने किया। उनमें से सात के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

महायान के—

(१) भद्रपाल श्रेष्ठी परिपृच्छा

(२) सिंहनादिक सूत्र

(३) चण्डी देवी धारणी

(४) विजय धारणी

(५) घनव्यूह सूत्र

(६) मञ्जु श्री परिपृच्छा

(७) निमन्त्रण सूत्र इत्यादि

४८—बुद्धत्रात

ये काबुल के श्रमण थे। इन्होंने महायान सूत्र के महावैपुल्य-पूर्ण बुद्धसूत्र-प्रसन्नार्थ सूत्र का अनुवाद किया।

४९—बुद्धपाल

ये काबुल के श्रमण थे। ६७६ वर्ष में ये चीनदेश पहुँचे। इन्होंने महायान सूत्र के—सर्वदुर्गति-परिशोधन-उष्णीष-विजय धारणी नामक ग्रन्थ का अनुवाद चीनी-भाषा में किया।

५०—देवप्रज्ञ

ये कुष्टन (खोटन) के एक श्रमण थे। इन्होंने ६८९-९१ वर्ष तक छः ग्रन्थों का अनुवाद किया:—

(१) ज्ञानालोकधारणी-सर्वदुर्गति-परिशोधनी

(२) सर्वबुद्धाङ्गवती-धारणी

(३) तथागत-प्रतिबिम्ब-प्रतिष्ठानुसंशा इत्यादि

५१—सिह-हुई-च (Shih Hwui-k)

ये एक भारतीय श्रमण के पुत्र थे। जाति के ब्राह्मण थे। चीन-देश में ही इनका जन्म हुआ था। इनके पिता राजदूत होकर चीन गये थे। ६९२ वर्ष में इन्होंने महायान सूत्र के अवलोकितेश्वर-बोधिसत्व-स्तोत्र का अनुवाद किया।

५२—शिक्षानन्द

ये कुष्टन (खोटन) के श्रमण थे। ६९५—७०० वर्ष तक १९ ग्रन्थों का अनुवाद इन्होंने किया। उनमें से—

महायान सूत्र का—

(१) मञ्जु श्री बुद्धक्षेत्र गुणव्यूह

(२) लङ्कावतार सूत्र

(३) पद्मचिन्तामणि धारणी सूत्र

(४) सुबाहु मुद्राध्वज धारणी

(५) बुद्धावतंशक-महावैपुल्य सूत्र इत्यादि सोलह ग्रन्थ मिलते हैं

५३—लिवु-थाउ (Li-wu-Thao)

ये उत्तर भारत के एक ब्राह्मण थे। इन्होंने, ७०० वर्ष में, महायान सूत्र के अमोघपाशधारणी नामक ग्रन्थ का अनुवाद किया।

५४—रत्नचिन्त

ये काश्मीर के श्रमण थे। ६७३—७०६ के मध्य में इन्होंने—

(१) अमोघपाश हृदय मन्त्रराज सूत्र

(२) एकाक्षर धारणी

(३) पद्मचिन्तामणिधारणी सूत्र

(४) एकाक्षर हृदय मन्त्र आदि ७ ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

५५—बोधरुचि

ये दक्षिणीभारत के श्रमण थे। ब्राह्मण थे। इन्होंने ६९३-७१३ वर्ष तक ५३ ग्रन्थों का अनुवाद किया। परन्तु, इस समय, उनमें से—

(१) रत्नमेघ सूत्र

(२) व्यास परिपृच्छा

(३) गर्भसूत्र

(४) वर्गव्यूह निर्देश

(५) अपितायुस-व्यूह इत्यादि ४१ ग्रंथ मिलते हैं।

५६—प्रमिति

ये मध्यभारत के श्रमण थे। इन्होंनेः—

महायान सूत्र के—महाबुद्धोष्णीशतथागत गुह्यहेतु-साक्षात्कृतप्रसन्नार्थ-सर्वबोधिसत्वाचार्य-सुरङ्गमसूत्र का अनुवाद किया।

५७—सि-के-यन (Shih-k'-yen)

ये कुस्तन (खोटन) के राजपुत्र थे। राजदूत नियत होकर ये ७०७ वर्ष में चीन देश को भेजे गये। वहीं ये बौद्ध संन्यासी हो गये। इन्होंने चार ग्रंथों का अनुवाद किया। पर उनके नाम ज्ञात नहीं।

५८—वज्रबोधि

ये दक्षिणभारत के मलय-प्रदेश के श्रमण थे। जाति के ब्राह्मण थे। ८१६ वर्ष में ये चीन पहुँचे। ७२३ से ७३० वर्षों तक, प्रतिवर्ष दो ग्रंथों के हिसाब से इन्होंने ग्रंथानुवाद कार्य किया—

महायान सूत्र का—

(१) चण्डीदेवी धारणी

(२) पञ्चाक्षर-हृदयधारणी

(३) अचलदूत धारणी गुह्यकल्प इत्यादि ११ ग्रंथ इनके अनुवादित पाये जाते हैं।

५९—शुभङ्कर सिंह

ये मध्यभारतीय श्रमण थे। शाक्यमुनि के पितृव्य अमृतोदन के वंशज थे। ये नालन्दा मठ में निवास करते थे। ७१६ वर्ष में बहुत से संस्कृत ग्रंथ लेकर ये चीन पहुँचे। ७२४ से ७३० वर्ष तक इन्होंने चार ग्रंथों का अनुवाद किया:—

(१) महावैरोचनाभिसम-बोधि

(२) सुबाहुकुमार सूत्र

(३) सुसिद्धिकार-महातन्त्र

(४) सुसिद्धिकार-अर्चना-नियम (भारतीय विविध ग्रन्थावली के अन्तर्गत)

६०—अमोघवज्र

ये उत्तरभारत के श्रमण थे। जाति के ब्राह्मण थे। ७१९ वर्ष में चीन देश पहुँचे। ७४१ में पुस्तकें संग्रह करने के लिए भारतवर्ष और सिंहल आये। ७४६ में पाँच सौ से अधिक पुस्तकें लेकर फिर चीन लौट गये। वहाँ राजा ने इनका बड़ा सम्मान किया। बहुत से ग्रंथों का इन्होंने अनुवाद किया:—

(१) चण्डीदेवी धारणी

(२) बोधिमण्डव्यूहधारणी

(३) प्रज्ञापारमिता-अर्धशतिका

(४) वज्रकुमारतन्त्र

(५) अष्टमण्डलक-सूत्र

(६) महाश्री सूत्र

(७) मरीचि-धारणी

(८) वज्रशेखर योग वज्रसत्वकल्प आदि इनके १०८ ग्रंथ आज भी वर्तमान हैं।

६१—ऊनाँई साँई

उत्तरभारत के श्रमण थे। इनका अनुवादित एक ही ग्रंथ मिलता है।

६२—धर्मदेव

मगध-देश के अन्तर्गत नालन्दा मठ के ये श्रमण थे। ९७३-१००१ वर्ष तक इन्होंने बहुत से ग्रंथों का अनुवाद किया। ९८२ वर्ष में चीन सम्राट् ने इनको उपाधि से सम्मानित किया। इनके ग्रंथः—

(१) वसुधरा-धारणी

(२) उद्यान वत्सराज परिपृच्छा

(३) महादण्ड धारणी

(४) दान सूत्र

(५) महायान-अभिधर्म की वज्रसूचि

(६) शोक विनाश-सूत्र

(७) अभय-धारणी

(८) राष्ट्र पाल सूत्र

(९) धर्मशरीर सूत्र

(१०) सुवर्णधारणी

(११) महाप्रिया-धारणी इत्यादि ११८ ग्रंथ इनके उपलब्ध हैं।

६३—खेन्-छि-साई

ये जालन्धर या काश्मीर के श्रमण थे । ९८० वर्ष में चीन पहुँचे और बीस वर्ष तक ग्रंथानुवाद कार्य में लिप्त रहे । इनके:—

(१) धम्मपद
(२) आर्य-सङ्गीति-गाथ्यशतक
(३) दशनाम-सूत्र
(४) अल्पचर-प्रज्ञापारमिता
(५) उपमितायुस्-सूत्र

महायान सूत्र का—

(६) घनव्यूह सूत्र इत्यादि १८ ग्रंथ इनके वर्तमान हैं ।

६४—दानपाल

ये उत्तर भारत के बौद्ध यति थे । ९८० वर्ष में चीन गये और कई वर्ष तक अनुवाद कार्य में लगे रहे । इन्होंने—

(१) काश्यप परिमर्त
(२) चिन्तामणि-धारणी सूत्र
(३) मेखला-धारणी
(४) बुद्ध श्रीगुण-स्तोत्र
(५) महायान-भवभेद-शास्त्र
(६) आर्यतारा-बोधिसत्व-स्तोत्र इत्यादि १११ ग्रंथ बनाये ।

६५—धर्मरक्ष

ये मगध श्रमण थे । १००४ वर्ष में चीन गये और १०५८ वर्ष तक अनुवाद कार्य में निरत रहे । इस समय—

महायान सूत्र के—

(१) रत्नमेव सूत्र
(२) बोधिसत्व-पिटक

हीनयान-अभिधर्म के—

(३) प्रज्ञाप्तिपाद-शास्त्र
(४) महायान-रत्न महारव-शास्त्र
(५) तथागत-चिन्त्य गुह-निर्देश आदि इनके किये हुए बारह ग्रंथों के अनुवाद पाये जाते हैं ।

६६—मैत्रेयभद्र

मगध देश के श्रमण थे । ये चीन के राजगुरु थे । इनके बनाये पाँच ग्रन्थ पाये जाते हैं ।

६७—सूर्ययशस्

इनके अनुवादित दो ग्रन्थ प्राप्त हैं ।

इस सूची से सिद्ध है कि पुराने ज़माने में सैकड़ों बौद्धभिक्षु और अन्य विद्वान् भारत से चीन गये और वहाँ उन्होंने बौद्धधर्म्म सम्बन्धी हज़ारों संस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया । चीन के सम्राटों ने उनका बड़ा सम्मान किया; यहाँ तक कि उनमें से किसी को अपना गुरू तक बना लिया । इन्हीं विद्वानों के प्रभाव से चीन, जापान और कोरिया में बौद्ध धर्म्म का प्रचार हुआ ।

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

साइबेरिया की बूरीजाति ।
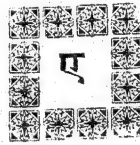
एशिया का साइबेरिया देश संसार की वर्तमान सभ्यता के प्रभाव से सर्वथा वञ्चित है । यद्यपि यह देश रूस साम्राज्य में शामिल है और वहाँ नवीन सभ्यता का सञ्चार धीरे धीरे होने लगा है तोभी जागृति के वे लक्षण वहाँ की मूल जातियों में नहीं दीख पड़ते जो हम इस समय संसार के अन्यान्य देशों में योरूपीय सभ्यता के कारण देख रहे हैं । एक तो साइबेरिया का जलवायु सभ्य देशों के निवासियों के अनुकूल नहीं, दूसरे अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण वह उनकी पहुँच के बाहर है । इसी कारण से वहाँ के निवासियों की दशा बहुत गिरी हुई है और वे अभी बाबा आदम की सभ्यता का ही सुख उपभोग कर रहे हैं । ऐसे ही साइबेरिया की एक जाति का थोड़ा सा हाल पाठकों के मनोविनोद के लिए यहाँ पर दिया जाता है । इस जाति का नाम बूरीजाति है और बैकाल

झील के पूर्व और बैकाल-प्रान्त में इसका निवास है।

बूरी लोग एक प्रकार के खानेबदोश हैं। मंगोल लोगों की भाँति ये लोग भी अपने घोड़ों पर चढ़े देश के एक भाग से दूसरे भागों में घूमा करते हैं। घोड़े की सवारी का इन्हें इतना अधिक शौक है कि ये लोग घोड़ों पर सवार बिना मतलब ही दौड़ लगाते रहते हैं। ये अपने घोड़ों को बहुत ही तेज़ दौड़ाते हैं और वह भी पहाड़ी देशों में। इनके देश का जल-वायु अत्यन्त शीत-प्रधान है। इसके सिवा इनके देश की भूमि उर्वरा भी नहीं है। इसी कारण से ये लोग खाने-बदोशों के सदृश अपना जीवन बिताते हैं। ये लोग ज़ियादातर पशु पालते हैं। अतएव उनका भरण-पोषण करने के लिए इन्हें देश के उन स्थानों में जाकर खेमें गाड़ कर रहना पड़ता है जहाँ इनके पशुओं को पर्याप्त रीति से चारा-पानी मिल सकता है।

बूरी लामा-साधुओं का मन्दिर।

बूरी लोगों का खाना-पानी बिलकुल सादा है। इन लोगों का प्रधान खाद्य Millet और दुम्बे की चरबी है। मक्खन और दूध के साथ चाय भी पीते हैं। इन लोगों की पोशाक भी साधारण होती है जो कि मंचुओं की पोशाक से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। विशेष कर के टोपी तो ये लोग उन्हीं की सी देते हैं। साधारणतया ये लोग ख़ानेबदोश तो होते ही हैं और अपने ख़ीमे लिए हुए इधर से उधर मारे मारे फिरते रहते हैं; पर इनमें कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो अधिक संख्या में पशु पालते हैं और सुख से अपना जीवन बिताते हैं। यही लोग बूरियों में रईस कहलाते हैं।

इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं है कि अठारहवीं सदी के शुरू होने के पहले बूरी लोग शमन धर्म के अनुयायी थे। अर्थात् जादू टोना या भूत सिद्धि पर इनका विश्वास था परन्तु उक्त सदी में इन्होंने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया और उसके अन्तर्गत लामा-धर्म के अनुयायी हो गये। इन लोगों की धर्म-पीठ डटसन में है जिसे ये जिलँग-नार (महन्तों की झील) कहते हैं। यह झील बैकाल के समीप आग्नेयकोण में स्थित है। इसी के किनारे बूरी लामाओं के कुटीर तथा उनके उपासना-गृह बने हुए हैं। लगभग १००,१५० लामा-साधु यहाँ सदा बने रहते हैं। यहाँ उनका एक बहुत सुन्दर मन्दिर भी है। लामा का पद प्राप्त करना धनी बूरियों का एक श्रेष्ठतम उद्देश है। वे लोग अपने छोटे छोटे बालकों को बचपन ही में लामाओं के सिपुर्द कर देते हैं। लामा साधु इन बालकों को अपनी कुटी में अपने साथ रखते हैं और इन्हें लामा-धर्म की शिक्षा देते हैं। लामा-धर्म के शिक्षा-क्रम में धार्मिक कर्मकाण्ड, तिबती ब्रह्मविद्या, साहित्य, वैद्यक, बौद्ध दर्शन, गणित तथा फलित ज्योतिष आदि विषयों का समा-

वेश रहता है। परन्तु साधारणतया लामा लोग उतने शिक्षित नहीं होते। उनमें अधिकांश तिबती लिपि लिख लेना और अपने धर्म सम्बन्धी ग्रन्थों के विशेष स्थलों का पाठ कर लेना ही पर्याप्त समझते हैं। अर्थ जानने की वे कुछ विशेष चिन्ता नहीं करते। पर यह बात सब पर नहीं घटती। उनमें भी धुरन्धर विद्वान् और तत्त्वज्ञ होते हैं।

साईबेरिया के खम्भा लामा।

जिन खम्भा लामा का चित्र यहाँ पर दिया गया है वे ऐसे ही थे। वे साइबेरिया के लामाओं के प्रधान महन्त थे। एक समय वे लंका आये थे। वहाँ के बौद्ध विद्वानों से धर्म-सम्बन्धी बातचीत करके उन्होंने अपने पाण्डित्य का खासा परिचय दिया था।

बूरी लोगों के एक विचित्र चलन की बात सुनिये। वे जीवित पुरुषों को देवता मान कर पूजते हैं। ऐसे देवताओं की संख्या इस समय सौ से कुछ ऊपर है। तिबत, मंगोलिया और चीन के बौद्ध-मठों में ये निरन्तर आया-जाया करते हैं। लामाओं की भाँति ये भी अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन

जीवन-देवता तारानाथ।

करते हैं। जीवन भर अविवाहित रह कर सदाचार-पूर्वक ये अपना जीवन बिताते हैं। तिबत के दलाई-लामा की भाँति इनका भी अवतार होता है। बूरी लोगों का विश्वास है कि जब इन देवताओं में कोई अपनी नश्वर देह का त्याग करता है तब उसकी आत्मा किसी नव जात शिशु में प्रविष्ट होकर आवि-

भूत होती है। जब ये देवता किसी मठ में पदार्पण करते हैं तब अनेक लोग इनके दर्शन करने को वहाँ जाते हैं और इनकी पूजा करते हैं, भेंट चढ़ाते हैं। इस तरह इनकी उपस्थिति से मठों को बहुधा खासी आय हो जाती है। इनकी स्तुति करना और इनका आशीर्वाद लेना कल्याणकारी माना जाता है। इसके सिवा भक्तजन इन देवताओं से अपना भविष्य भी पूँछते हैं। इस प्रकार के देवता का एक चित्र यहाँ दिया गया है। इसका शुभ नाम तारानाथ है। ये देवता जीजन कहलाते हैं। परन्तु लासा के दलाई-लामा और उर्गा के प्रधान जीजन से इन जीजन नामधारी देवताओं का दर्जा छोटा होता है।

बूरियों के लामा एक प्रकार का आनन्दोत्सव करते हैं। वे इसे टज़म या बुरखों का नाच कहते हैं। यह उत्सव विशेष अवसर ही पर होता है। जब इस उत्सव के करने का अवसर आता है तब एक रङ्गभूमि तैयार की जाती है। जब नाच शुरू होने लगता है तब बड़े बड़े ढोल, नगाड़े, तुरही और शंख सहसा बज उठते हैं और विचित्र वेश-भूषा से सज्जित कईएक मूर्तियाँ रङ्ग-भूमि में आ उपस्थित होती हैं। वे वहाँ एक अनोखे ढङ्ग से उछलती और कूदती हैं। इनमें कुछ मूर्तियाँ मृत्युदेवता के चेहरे लगाये रहती हैं और कुछ दैत्यों के। इनके चेहरे सुनहले वस्त्रों तथा मणिजटित मूल्यवान् आभूषणों से अलङ्कृत रहते हैं। हीरों, सुनहली लैसों और रङ्गीन वस्त्रों की छवि से इन मूर्तियों की शोभा निस्सन्देह दर्शकों को बहुत ही सुहावनी और अद्भुत मालूम पड़ती है। परन्तु इनकी सज-धज में जो भयङ्करता रहती है उससे विदेशी दर्शक को विशेष आनन्द नहीं होता, इसके

बूरीलोगों का नाच-घर।

विपरीत उसके मन में क्षोभ और ग्लानि होती है। इस उत्सव का प्रचलन यहाँ के लामाओं में कैसे हुआ यह बात निश्चय पूर्वक नहीं कही जा सकती। सम्भवतः एशिया के उत्तर का शमन-धर्म और उसके दक्षिण के हिन्दुओं के शैव-धर्म की गुह्य उपासनाओं का प्रभाव बौद्ध-धर्म पर पड़ा है और उसी का परिणाम स्वरूप बूरी लामाओं का यह नाच है। इस बात में तो ज़रा भी सन्देह नहीं है कि लामाओं ने अनेक स्थानिक देवताओं और भूतों की पूजा को इस कारण से अपने धर्म में शामिल कर लिया है जिसमें बूरी लोग यह समझें कि लामा-धर्म उन्हीं के धर्म का विकसित रूप है।

अपने लामा-धर्म के प्रति बूरी लोगों की कैसी श्रद्धा है इस सम्बन्ध की एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है। एक बार एक अँगरेज़ी विद्वान् उत्तरी मंगोलिया में पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्वेषण का काम कर रहा था। इसे इस काम पर चीन-सरकार ने नियुक्त किया था। इसे अपनी यात्रा में अनेक नदियाँ तैर कर पार करनी पड़ीं। क्योंकि उक्त स्थान बीहड़ और पार्वत्य था। वहाँ सुख-पूर्वक यात्रा करने के साधन भी प्राप्त न थे। संयोगवश साहब बहादुर एक बड़ी नदी के किनारे जा पहुँचे। उस समय उसमें पूर भी था। ये अपने घोड़े के सहित उस नदी में कूद पड़े। इनके साथ ही इनका मंगोल-पथ-दर्शक भी कूद पड़ा। जब वह मंगोल नदी को पार कर रहा था तब वह नदियों के देवताओं की स्तुतियाँ पढ़ता जाता था। जब वह नदी के मध्य में पहुँचा तब वह डर के मारे ज़ोर ज़ोर से प्रार्थना करने लगा। ज्यों त्यों कर वे दोनों डूबते-उतराते नदी के पार पहुँच गये। जब साहब बहादुर कुछ स्वस्थ हुए तब उन्होंने उस मंगोल से पूँछा, 'क्यों जी, तुम तो बौद्ध हो न'। उस ने कहा, 'हाँ, हुज़ूर, मैं बौद्ध हूँ, पर स्थानिक देवताओं से भी मेल-जोल बनाये रखना लाभदायक है।'

अन्त में बूरी लोगों के हकीमों का कुछ उल्लेख करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं। बूरी हकीम अधिक साज-सामान अपने साथ लिये रहते हैं। इनका काम बैल-गाड़ी से नहीं चल सकता। इनका पूरा दवाखाना ही इनके साथ चलता रहता है। ऊँट या एक मज़बूत टट्टू पर ही लाद कर ये अपने रोगियों की चिकित्सा करते रहते हैं, क्योंकि इस बात का भी निश्चय नहीं रहता कि इनका रोगी किसी नियत ही स्थान में रहेगा। यदि वे आज यहाँ हैं तो कल उन्हें चालीस मील दूर पार्वत्य देशों में ही समझना चाहिए। ऐसी दशा में ये अपना सारा दवाखाना अपने साथ न रक्खें और ऊंट या मज़बूत घोड़े की सवारी न करें तो बेचारे रोगियों का काम कैसे चले।

बूरी हकीमों का पाण्डित्य प्राचीन तिबती चिकित्सा-शास्त्र तथा शामन जादूगरों की रीति-रस्मों पर अवलम्बित है। जैसे कि जब ये गठिया के रोगी की चिकित्सा करते हैं तब छोटे छोटे डण्डों से ये उसे मारते हैं। इसके सिवा कुछ विचित्र वनस्पतियों का काढ़ा पिलाते हैं और विशेष पशुओं के अवयव, यहाँ तक कि रोएँदार चमड़े तक, का उपयोग करवाते हैं। परन्तु अब उन लोगों में आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा का भी कुछ कुछ प्रचार हो चला है।

देवीदत्त शुक्ल।

टोरकी [Torquay]*

टोरकी एक छोटा सा, पर सुन्दर, नगर है। वह समुद्र-तट पर तीन छोटी छोटी पहाड़ियों पर बसा हुआ है। लन्दन से पश्चिम-दक्षिण दिशा में वह लगभग उतनी दूर है जितनी दूर कि इलाहाबाद से देहली है। भारत में वह फ़ासिला कुछ अधिक प्रतीत

* परिवर्तित अनुवाद।

नहीं होता, किंतु इँगलिस्तान जैसे छोटे से द्वीप में बहुत समझा जाता है। साधारण जनों की दृष्टि में इस फ़ासिले का वही गौरव है जो भारत में कलकत्ते से द्वारका का। यदि किसी नाव पर बैठ कर समुद्र-तल से टोरकी की ओर अवलोकन करें तो उसका आकार अर्द्धचन्द्र के समान प्रतीत होता है; यदि विमान पर चढ़ कर ऊपर से उसका अवलोकन करें तो दूर तक फैले हुए नीले समुद्र के जल में घुसी हुई तीन पहाड़ियों की काली काली चोटियों के सिवा और कुछ नज़र नहीं आता। कहीं कहीं तो इन पहाड़ियों में समुद्र की लहरों के बार बार आक्रमण से छोटी छोटी ग़ारें बन गई हैं, जिन की लाल पत्थर की चट्टानें सूर्य भगवान् के उदय होने पर धूप में चमकती हुई दूर से बड़ी ही सुहावनी लगती हैं। कहीं कहीं ढालू चट्टानें इस प्रकार क्रमशः जल में प्रवेश कर गई हैं कि मनुष्य जल की सतह तक निर्भय पहुँच सकता है और इन चट्टानों पर बैठ कर समुद्र की उठती हुई लहरों के विचित्र दृश्य के आनन्द का अनुभव कर सकता है। जब आप आँख उठा कर दूर तक देखना चाहते हैं तब कुछ दूर पर सफ़ेद बादलों से आच्छादित आकाश का समागम समुद्र-जल के साथ होजाता है। दोनों एक ही रूप धारण कर लेते हैं और दृष्टि की सीमा से बाहर चले जाते हैं। जब कभी किसी बादल के टुकड़े में से सूर्य की किरणें, मानों किसी छलनी-वाले फ़ौवारे में से निकल कर, समुद्र-तल के किसी विशेष भाग पर पड़ती हैं तब केवल वही भाग चमक उठता है। यदि दूसरे विभागों पर गहरे बादलों की छाया पड़ी हुई हो तो वह चमकता हुआ भाग ऐसा प्रतीत होता है मानों अँधेरी रात के आकाश में एक तारा चमचमा रहा है। जब समुद्र के भिन्न भिन्न स्थलों पर भाँति भाँति के बादलों की छाया पड़ती है तब विस्मयोत्पादक रङ्गों की छाया निकलती है। कोई तो ज़रा सी नीलिमा और कोई कालिमा लिये होती है। कोई हरे, कोई मटियाले रङ्ग की होती है। मिनट मिनट में रङ्ग बदलता है। तरह तरह के रूप धारण करने का यह दृश्य ऐसा मनोहर है कि घण्टों देखने से भी जी नहीं भरता। कहीं कहीं किसी सुदृढ़ किले की ऊँची दीवारों के समान ये पहाड़ियाँ सीधी बेधड़क जल में घुस गई हैं। मानों उनके इस प्रकार बेधड़क प्रवेश कर जाने को जल-देवता ने अपमानसूचक काम समझा है और इसी लिए दिल को दहला देनेवाली गर्जना करती हुई बड़ी भयावनी लाखों लहरों की सेना को इन पर छोड़ दिया है। अभिमान से गरजती हुई लहरें तीव्र वेग और बल से इस प्रकार बढ़ती हैं मानो एक ही धक्के से इन पहाड़ियों की बुनियादों को उखाड़ कर दूर फेंक देंगी। यदि वायु भी वेग से चल रही हो तो प्रकृति के रुद्र रूप को देखने का अच्छा अवसर मिलता है।

समुद्र से हट कर, पहाड़ियों की पिछली ओर, कुछ कुछ उठी हुई भूमि है जो हरी हरी घास, भाँति भाँति के फूलों तथा नाना प्रकार के वृक्षों से सुशोभित है। यह उठी हुई भूमि क्रमशः नीची होती हुई मैदानों से जा मिलती है।

जब यात्री टोरकी में प्रवेश करता है तब सबसे पहले उसे अपने ठहरने का प्रबन्ध करना होता है। यह प्रबन्ध तीन प्रकार से किया जाता है। प्रथम तो बड़े बड़े होटल हैं जिन में २०० से ५०० तक मनुष्य ठहर सकते हैं। ये प्रायः उत्तम और रमणीक स्थानों पर बने हुए हैं। इनमें से किसी में भी यात्री ठहर सकता है। परन्तु इन होटलों में प्रायः उच्च श्रेणी के ही स्त्री-पुरुष जाते हैं। इसलिए एक तो खर्च अधिक होता है और दूसरे आदरातिथ्य के बहुत से नियमों के पालन का झंझट करना पड़ता है। यद्यपि स्त्री-पुरुष सभी सभ्य होते हैं, किन्तु उनसे मित्रता पैदा करना ज़रा कठिन होता है और कुछ समय की अपेक्षा करनी पड़ती है। विदेशी यदि किसी को नहीं जानता तो प्रायः उसे अकेले ही काल-यापन करना पड़ता है। दूसरे प्रकार के निवास-स्थानों को बोर्डिंग हाउस कहते हैं। ये भी होटलों ही के समान होते हैं। किन्तु होटलों से बहुत छोटे होते हैं। इनमें से अच्छों में प्रायः मध्य श्रेणी के स्त्री-पुरुष ठहरते हैं। इनमें खर्च भी कम होता है और यहाँ ठहरनेवाले स्त्री-पुरुष परस्पर मिलने-जुलने के इच्छुक भी होते हैं। होटलों की बहुत सी बनावटी बातों से यहाँ छुट्टी मिलती है।

तीसरे प्रकार के निवास-स्थानों को अतिथि-गृह (Lodging Houses) कहते हैं। ग़रीब गृहस्थ अपने घर के एक, दो या तीन कमरे किराये पर देने के लिए अलग कर देते हैं। उन कमरों को यथाशक्ति भली भाँति सजाते हैं और एक तख्ते पर कमरा या अतिथि-गृह लिख कर खिड़की में लगा देते हैं। इसका

मतलब यह होता है कि इस घर में एक या दो कमरे किराये पर मिल सकते हैं। भारत में, एक घर में कई कुटुम्ब रह सकते हैं। इँगलिस्तान में एक क़ानून है, जिससे एक मकान में केवल एक ही कुटुम्ब रह सकता है; दो कुटुम्ब एक मकान में नहीं रह सकते। इसलिए ग़रीब से ग़रीब गृहस्थ के पास भी एक समूचा मकान होता है। भारत में एक परिवार में बहुत से कुटुम्ब होते हैं। इँगलिस्तान में ऐसा नहीं होता। पुरुष और उसकी स्त्री तथा उसकी सन्तान ही एक कुटुम्ब समझा जाता है। किन्तु इँगलेंड के गृहस्थ अपने किरायेदारों को बड़े आराम से रखते और उनकी यथेष्ट सेवा शुश्रूषा करते हैं। क्योंकि उनसे उन्हें ख़ासी आमदनी होती है।

निवास-स्थान का प्रबन्ध करने के पश्चात् यात्री के मनोरञ्जन के लिए टोरकी में बहुत बातें हैं। रँगीले मिजाज़वालों के लिए यहाँ नाटक-घर, नाच-घर और सङ्गीत-शालायें इत्यादि हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य-दर्शन की कामना रखनेवाले को समुद्र, पर्वत, वन, नदी, बाग़, झील, इत्यादि के हृदयङ्गम दृश्य हैं।

टोरकी के चारों तरफ़ पुराने क़िलों के खँडहर अब भी मिलते हैं, जो प्राचीन तत्त्ववेत्ताओं के हृदय को आह्लादित करने के लिए यथेष्ट हैं। टोरकी से थोड़ी दूर पर एक छोटा सा ग्राम है, जिसका नाम डार्टमाउथ (Dartmouth) है। यह ग्राम डार्ट (Dart) नामी नदी और समुद्र के सङ्गम पर बसा है। जहाँ डार्ट नदी समुद्र में प्रवेश करती है वहाँ नदी के दोनों किनारों पर, पहाड़ियों पर दो प्राचीन क़िले बने हैं। समुद्र की ओर से जब किसी शत्रु के आक्रमण का भय होता था अथवा किसी बड़ी बादबान-वाली नौका या जहाज़ को समुद्र से नदी के ऊपर जाने से रोकने के लिए मार्ग बन्द करना होता था, तब लोहे की एक बड़ी भारी और मोटी जंज़ीर एक किनारे के क़िले की चट्टान से लगा कर दूसरे किनारे के क़िले की चट्टान से जोड़ दी जाती थी। इस प्रकार ऊँचे ऊँचे बादबानोंवाली नौकायें और जहाज़ रुक जाते थे और नदी के ऊपर की ओर न जा सकते थे। सन् १६४८ ईसवी के राजविप्लव में ये दोनों क़िले राज-सेना के अधिकार में थे। सन् १६४६ में प्रजा सेना (Parliamentary Forces) के सेनापति लार्ड हालिफ़ाक्स ने समुद्र की ओर से जहाज़ों द्वारा इन क़िलों पर आक्रमण किया। उसकी चलाई हुई तोपों के गोलों और बन्दूक़ों की गोलियाँ अब भी क़िले के किसी किसी स्थान में मिल जाती हैं। क़िले के अध्यक्ष ने उनको एकत्र कर के एक सुरक्षित स्थान में रख छोड़ा है। चार आना फ़ीस देने पर यात्री लोग उन्हें देख सकते हैं। इस क़िले के मध्य भाग में एक चौकोन बुर्ज है, जो प्राचीन काल में बहुत दृढ़ समझा जाता था। इस बुर्ज के ऊपरी भाग की दो मंज़िलें अब गिर चुकी हैं। इस बुर्ज के चारों ओर छोटी छोटी कोठरियाँ हैं, जिनमें रक्षा करनेवाले सिपाही रहा करते थे। ये कोठरियाँ बहुत छोटी हैं। देखने से अचम्भा मालूम होता है कि इनमें सिपाही लोग क्यों कर रहते होंगे। इनका फ़र्श लकड़ी का है। रात्रि के समय सिपाही इसी फ़र्श पर विश्राम करते थे। एक छोटी सी कोठरी में एक बड़ा गहरा गढ़ा है। यह चट्टानों को काट कर बनाया गया है और लगभग ८० फुट गहरा है। ज़िद करनेवाले क़ैदी तथा झगड़ा करनेवाले शत्रु इसी गढ़े में ढकेल दिये जाते थे। वे ८० फुट नीचे समुद्र में गिर कर डूब जाते थे। यह गढ़ा अभी तक बन्द नहीं किया गया, मगर इसके चारों तरफ़ लोहे का एक जँगला लगा दिया गया है। अब भी इस गढ़े को देखने से डर लगता है। यदि इस गढ़े से ही इसकी रामकहानी पूछी जाय तो मालूम नहीं कितने निरपराध स्त्री-पुरुषों के चित्र हमारे सम्मुख आ जायँ और भूतकाल के गर्भ से न जाने किन रोमाञ्चकारिणी दुर्घटनाओं का आविष्कार हो। इस क़िले के समीप ही नाविक शिक्षा-सम्बन्धी प्रधान कालेज है, जहाँ सम्राट् जार्ज पञ्चम ने बालपन में शिक्षा पाई थी।

डार्टमाउथ के समीप ही एक छोटा सा ग्राम है। उसको ब्रिक्सम कहते हैं। वहाँ प्रायः मछुवे निवास करते हैं। सन् १६८८ में विलियम तृतीय, अपने अनुयायियों के साथ, इसी ग्राम में जहाज़ से उतरा था। जिस पत्थर पर उसका पहला क़दम पड़ा था उस पर एक स्मारक-शिला है। उस पर निम्नलिखित लेख खुदा हुआ है—

यहाँ उतरा
ओरंज कुल का सुपुत्र विलियम तृतीय
१६ मार्च सन् १६८८

यद्यपि टोरकी एक नवीन नगर है, किन्तु इसकी भूमि प्राचीनतम काल से बहुत विख्यात है। बन्दरगाह के लिहाज़ से यह भूमि उन्नीसवीं सदी के पूर्व भाग तक एक बहुमूल्य स्थान रही है। कहा जाता है कि प्राचीन काल में अँगरेज़ों के राजा अरविरागस (Arviragus) से कर प्राप्त करने के लिए रोम देश के निवासियों का सेनापति वेस्पेसियम (Vespasiam) अपने जङ्गी बेड़े के साथ इसी स्थान पर उतरा था। रोमवालों के बनाये हुए बुर्ज तथा प्राकार इत्यादिकों के चिह्न यहाँ अब तक पाये जाते हैं।

टोरकी का वर्णन, विजेता विलियम प्रथम के राज्य-काल में लिखित, डूम्ज़डे (Doomsday) नामी पुस्तक में भी है। विजेता विलियम ने यह रमणीक स्थान अपने एक प्रिय अनुयायी को पुरस्कार में दिया था। इस अनुयायी का नाम था बैरन विलियम दे ब्रिवर (Baron William de Brewer)। इस बैरन के पुत्र-पौत्रों ने हेनरी द्वितीय (Henry II) और टामस बैकट (Thomas Becket) के अन्यान्य वाद-विवाद तथा महाराज जान (John) को मैगनाकारटा पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर करने में बहुत काम किया था।

टोरकी में पहले केवल कुछ झोपड़ियाँ ही थीं। वे टोर नाम से प्रसिद्ध थीं। कुछ काल के पश्चात् धर्मकार्य-कर्ताओं ने एक छोटा सा गिरजाघर बनाया। ईसाई संन्यासियों के एक गरोह ने इसे अपना निवास-स्थान बना लिया। बौद्ध भिक्षुओं के चैत्य के समान यह गिरजाघर शीघ्र ही तीर्थ-यात्रा का केन्द्रस्थान बन गया। दूर दूर से स्त्री-पुरुष शिक्षा प्राप्त करने के लिए यहाँ आने लगे। वे संन्यासी आस पास के रहनेवालों की अपेक्षा अधिक सुशिक्षित थे। इसलिए केवल धार्मिक उपदेशक ही न थे, किन्तु जीवन के हर एक विभाग में, उस समय के आदर्श के अनुसार, अपने उच्च जीवन के आदर्श से लोगों की हर तरह सेवा-शुश्रूषा भी करते थे। बीमारों को ओषधि देना, क्षुधा से पीड़ित अनाथों की रक्षा, भोजन-वस्त्रादि से, करना उनका धर्म था। इसके अलावा उन्होंने लोगों को खेती करने और साधारण कपड़े आदि बुनने का तरीक़ा भी सिखाया था। जहाँ पहले दलदलें और सड़े पानी के क़ुदरती तालाब थे वहाँ इन्होंने अपने पुरुषार्थ से उद्यान और वाटिकायें लगा कर इस स्थान को बहुत रमणीक बना दिया। इनका जीवन परिश्रमी था। रात्रि के समय जब इन कार्यों से उन्हें छुट्टी मिलती थी तब वे स्वाध्याय में लग जाते थे। इस प्रकार क्रमशः इनका गौरव, मान और धन सम्पत्ति बढ़ती गई। इस कारण लोग अन्य स्थानों को छोड़ छोड़ कर गिरजाघर के आस पास आ कर निवास करने लगे। इस प्रकार 'टोर' की आबादी बढ़ने लगी। निम्नलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है कि उस समय के लोग प्रायः नाना प्रकार के वहमों में फँसे थे। इस गिरजाघर का एक महन्त विलियम नोरटन नामक था। वह नियम-उपनियमों का पालन करने में बहुत सख्त था। अचानक ख़बर उड़ी कि उसने एक अन्य संन्यासी, साईमन (Simon), का सिर किसी विशेष नियम का उल्लंघन करने के कारण काट डाला है। इस पर राजकर्मचारियों ने इस बात की खोज की तो मालूम हुआ कि साईमन जीता-जागता मौजूद है। तो भी लोगों को यक़ीन न आया। ग्रामीण लोगों का तो अब भी विश्वास है कि साईमन का धड़, घोड़े पर चढ़ा हुआ, रात्रि के समय गिरजाघर के चारों तरफ़ परिक्रमा करता है। कुछ तो यहाँ तक कह देते हैं कि जब पश्चिमी वायु वेग से चल रही हो तब उसके घोड़े की टाप भले प्रकार सुनाई देती है।

कहीं कहीं, समुद्र-जल में पहाड़ियों के दूर तक घुस जाने के कारण, टोरकी में क़ुदरती बन्दरगाह बन गये हैं। भाफ़ के जहाज़ों के प्रचार के पूर्व टोरकी का बन्दरगाह बहुमूल्य था। प्रायः २०० से अधिक जहाज़ों का बेड़ा वहाँ देखने में आता था। जहाज़ों में स्वच्छ जल भरने के निमित्त टोरकी के समीप जल का एक महान् सरोवर बनाया गया था। अच्छा बन्दरगाह होने और मछलियों की तलाश में दूर दूर तक समुद्र में जाने से वहाँ के लोग निर्भय-हृदय हो गये थे। कोलम्बस की यात्रा ने उनके उत्साह को और भी उत्तेजित किया। उन्होंने भी दूर की यात्रा करने की ठानी। न्यूफ़ाउण्डलेंड (Newfoundland) इन्हीं लोगों का बसाया हुआ है। जान डेविस (John Davis) ने इसी स्थान से चीन देश का मार्ग खोजने के लिए तीन बार उत्तर-पश्चिमी दिशा में यात्रा की। गिल्बर्ट

(Gilbert), ड्रेक (Drake), फ़ोरबिशर (Forbisher) तथा एलिज़बथ के समय के अन्य प्रसिद्ध यात्रियों की जन्मभूमि यही है। तम्बाकू लेकर अमरीका से वापस आते हुए सर वाल्टर रेले (Sir Walter Raleigh) इसी स्थान पर उतरा था। वह चट्टान जिस पर बैठ कर उसने संसार भर में सबसे पहली चिलम तम्बाकू की पी थी वह अब तक दिखाई जाती है।

उस समय के लोगों की कल्पना थी कि स्पेन का जङ्गी बेड़ा (Armada) इसी स्थान पर आक्रमण करेगा। अतः इस स्थान की भली भाँति रक्षा की गई थी। जब स्पेन के एडमिरल डोन पैडरो (Don Pedro) ने अपने आपको ड्रेक (Drake) के समर्पण किया तब उसका मुख्य जहाज़ टोरकी में लाया गया। जहाज़ पर १५,००० मोहरें थीं, जिनको ड्रेक और उसके साथियों ने छीन लिया। किन्तु जब फ़ोरबिशर (Forbisher) और हाकिन्ज (Hawkins) ने सुना तब उन्होंने अपना हिस्सा माँगा। इस पर ड्रेक ने उत्तर दिया कि १५,००० में से केवल ३,००० मेरे हाथ लगीं। इसलिए उसने देने से साफ़ इनकार कर दिया।

सन् १६८८ में विलियम के उतरने के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। जिस दिन विलियम यहाँ पहुँचा, समुद्र का जल उतरा हुआ था। इससे बड़े जहाज़ों को किनारे से दूर लङ्गर डालना पड़ा। विलियम चन्द अफ़सरों के साथ एक छोटी सी नौका पर बैठ कर घाट की ओर आया। लोग तट पर खड़े चुपचाप सब कुछ देख रहे थे। उनको चुपचाप देख कर विलियम सहम गया। जहाँ सबसे अधिक भीड़ थी उस तरफ़ नौका ले जाकर उनसे उसने पूछा कि लोग मेरा स्वागत करने को उद्यत हैं या नहीं। लोगों ने पूछा तुम कौन हो और किस लिए आये हो। विलियम ने टूटी फूटी अँगरेज़ी में उत्तर दिया— "Mine goot people, mine goot people, I am only come for your goot, for all your goots." विलियम की नौका पर जो पताका फहरा रही थी उस पर अँगरेज़ों के जातीय चिह्न तथा रङ्ग थे। प्रोटस्टेन्ट धर्म और अँगरेज़ों की स्वतन्त्रता — इन शब्दों के नीचे नसाओ (Nassau) कुल का आदर्श-वाक्य लिखा हुआ था "Je maintiendrai" अर्थात् "मैं क़ायम रक्खूँगा"।

नेपोलियन के समय में अँगरेज़ी सरकार को सदा भय बना रहता था कि कहीं वह टोरकी पर आक्रमण न करदे। इसी लिए समुद्रीय तट की रक्षा खूब सावधानी से की जाती थी। स्थान स्थान पर प्राकार बनाये गये थे। ज़िले के हाकिमों को तमाम तैयारी करने के लिए हुक्म दिया गया था। वलुमटेर बुलवा भेजे गये थे। अँगरेज़ी जङ्गी बेड़ा, एडमिरल कार्नवालिस (Cornwallis) के मातहत, टोरकी में रक्खा गया था। किन्तु नेपोलियन के भाग्य में कुछ और ही लिखा था। निस्सन्देह वह टोरकी में आया, किन्तु वाटर्लू की लड़ाई के पश्चात् वह क़ैदी बना कर बैलरफ़ान नामी जहाज़ पर टोरकी लाया गया। फिर इसी स्थान से सेंट हेलना भेजा गया। जब नेपोलियन ने इस रमणीक स्थान की सुन्दरता को देखा तब कहा—"Here is this fine country after all. What a beautiful country; it very much resembles the Porto Ferrajo in Elbe". अर्थात् यह बड़ी ही मनोहारिणी भूमि है।

नेपोलियन के आने से टोरकी में बहुत हलचल मच गई। लन्दन तथा दूर दूर स्थानों से लोग केवल उसे देखने के लिए यहाँ आये। भीड़ इतनी बढ़ती गई कि सरकार को गड़बड़ होने का सन्देह हुआ। इसलिए नेपोलियन का जहाज़ किनारे से तीन मील दूर हटा कर खड़ा किया गया। किन्तु नेपोलियन को देखने का शौक़ लोगों में इस क़द्र था कि वे नौकाओं में बैठ बैठ कर जाने लगे। जहाज़ के चारों तरफ़ दिन भर सैकड़ों नौकायें खड़ी रहती थीं कि कहीं नेपोलियन ऊपर आवे तो दर्शन हो जायँ। एक दिन की घटना सुनिए। एक अति सुन्दर युवती नौका में बैठ कर जहाज़ के समीप आई। वह दुशाला ओढ़े थी। उसका जालीदार घूँघट मन्द मन्द पवन के साथ खिलवाड़ कर रहा था। उसके अद्भुत रूप-लावण्य ने चारों ओर से पुरुषों की दृष्टि अपनी ओर खींची। जहाज़ के समीप जा कर उसने एक नौकर से कुछ इशारा किया। वह फूलों का एक सुन्दर गुलदस्ता लेकर जहाज़ की सीढ़ियों पर चढ़ गया। जहाज़ के अफ़सर ने गुलदस्ता ले लिया और नेपोलियन के पास, सबसे ऊँचे डेक पर, भेज दिया। गुलदस्ता जैसे जैसे ऊपर चढ़ता गया तैसे तैसे नौका में

बैठी हुई युवती कम्पायमान हृदय के साथ देखती रही। जब वह नेपोलियनवाले डेक पर पहुँचा तो युवती से न रहा गया। उसने झट अपने घूँघट को पलट दिया और एकदम टकटकी लगा कर वह डेक की तरफ़ देखने लगी। नेपोलियन ने गुलदस्ता लेकर एक तरफ़ रख दिया; कुछ विशेष ध्यान न दिया। चन्द मिनटों के पश्चात् एक बार फिर जो उसकी दृष्टि गुलदस्ते पर पड़ी तो न मालूम वह क्या देखकर गुलदस्ता पकड़े अति शीघ्रता से जहाज़ के किनारे पर आया। सूरज की किरणों से, अपने नेत्रों को बचा कर, तेज़ निगाह से उसने नौकाओं के झुण्ड की तरफ़ नज़र दौड़ाई। इस तरह उसने उस युवती को देख लिया। क्षण भर के लिए हृदय को विद्ध करनेवाली गहरे प्रेम की एक दृष्टि आविर्भूत हुई। किन्तु हाथ के इशारे से उसने उसे लौटने को कहा और रोती हुई वह युवती घाट की ओर चल पड़ी।

इसके पश्चात् टोरकी की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती गई। पुख़्ता सड़कें बन गईं। नये नये विशाल मन्दिर इत्यादि बनने लगे और वह छोटा सा ग्राम एक अच्छा नगर बन गया। पहली रेलगाड़ी १ अगस्त सन् १८४९ को चली। यह बड़े उत्सव का दिन था। कम्पनी के प्रबन्ध-कर्ताओं का बहुत सत्कार किया गया। नगरनिवासियों ने एक महान् प्रीतिभोज की आयोजना की और रात्रि के समय सबने मिल कर नृत्य किया। यह प्रथम अवसर था जब धनाढ्य और निर्धन पुरुषों ने मिल कर नृत्य किया।

रेलगाड़ी चलने के उत्सव को भली भाँति मनाने के लिए, टोरकी से लगभग दो कोस पर, पैंगटन ग्राम के निवासियों ने बड़े जोश से तैयारियाँ कीं। यह निश्चय किया गया कि ग्राम के सभी निर्धन स्त्री-पुरुषों को भोज दिया जाय। एक विशाल मैदान में मेज़ें और कुर्सियाँ लगा दी गईं ताकि अतिथि लोग आराम से बैठ कर भोजन करें। इन मेज़ों-कुर्सियों के इर्द गिर्द एक मोटे रस्से से बाड़ लगाई गई जिससे बाहर के लोग न घुस आवें। नियत समय पर हलवे से भरे हुए छकड़े इस मैदान में आये। नगर के निमन्त्रित सज्जन लोग अपने अपने स्थान पर बैठे हुए उन स्वादिष्ठ पदार्थों की प्रतीक्षा कर रहे थे। बाड़ के बाहर, चारों तरफ़, तमाशा देखनेवालों के झुण्ड खड़े थे। हलवा बटने का समय आया तो बाहर खड़े हुए तमाशा-इयों ने चिल्ला कर कहा कि थोड़ा थोड़ा हलवा हमें भी दो। किन्तु हलवा केवल अतिथियों के ही लिए बस था, अधिक नहीं। इसलिए कर्मचारियों को इनकार करना पड़ा। कुछ लोगों को यह इनकार अपमानसूचक जान पड़ा। उन्होंने झट रस्सी को तोड़ कर हलवे के छकड़े पर धावा कर दिया। उनकी देखादेखी और ५-६ हज़ार नर-नारी, जो तमाशा देखने के लिए आये थे, हलवे के छकड़ों पर टूटे और अपना अपना भाग लेने के लिए परस्पर हाथा-पाई करने लगे। पहले तो अतिथि लोग शान्ति से अपने अपने स्थान पर बैठे रहे, किन्तु जब हलवा मिलने की आशा निराशा में परिणत होने लगी तब वे भी दूसरों से जा भिड़े। महान् कोलाहल मच गया था। छोटे छोटे बालक चीख़ते थे। नर-नारियाँ परस्पर लड़ रही थीं। कितनों ही के कपड़े फट गये, कितनों ही ने चोट खाई, किन्तु जैसी उस बेचारे हलवे की दुर्गति हुई वैसी शायद ही फिर कभी हुई हो। थोड़ा बहुत हलवा जिन लोगों के हाथ लग गया वे ख़ुशी ख़ुशी अपनी विजय की घोषणा करते हुए घरों को लौटे। सप्ताहों तक पैंगटन के डाकख़ाने में छोटे छोटे चिकने पारसल दृष्टिगोचर होते रहे। इन पारसलों में इस ऐतिहासिक हलवे का थोड़ा थोड़ा अंश दूरवर्ती मित्रों-सम्बन्धियों को, जीत की वस्तु के तौर पर, भेजा गया था।

रेल बनने के पश्चात् टोरकी में और भी अधिक लोगों ने आना आरम्भ कर दिया। रूस के भूतपूर्व राजकुटुम्ब के पुरुष बहुधा यहाँ आया करते थे। सन् १८७१ में परास्त होने के पश्चात् फ़्रांस के भूतपूर्व सम्राट् नेपोलियन तृतीय ने टोरकी में आकर निवास किया और नगर के मुख्य मुख्य पुरुषों को अपने घर भोजन के लिए बुलाया तो उनमें एक ऐसे महाशय भी आये थे जो भारतीय गवर्नमेंट के अधीन एक बहुत उच्च पद पर रह चुके थे। वार्तालाप में नेपोलियन ने इन महाशय से कहा कि "सन् १८५७ में नाना साहब ने मेरे पास दूत भेज कर अँगरेज़ों को भारत से बाहर निकालने के लिए मदद माँगी थी, किन्तु मैंने देने से इनकार कर दिया था।"

अँगरेज़ों के कितने ही प्रसिद्ध प्रसिद्ध लेखकों तथा

कवियों ने बहुत समय तक यहाँ निवास किया है। वाल्डन नामी पहाड़ी पर किंगस्ले (Kingsle) का निवास-स्थान था। थोड़ी दूर पर लार्ड टेनीसन की कुटिया और सड़क के दूसरी तरफ़ लार्ड लिटन का घर था। "पाम्पियाई के अन्तिम दिन" (Last Days of Pompity) तथा उनके अन्य उपन्यास इसी घर में लिखे गये थे। आज वही घर एक छोटा सा सुन्दर होटल बना हुआ है। मैं इसी होटल में ठहरा था। जिस कमरे में बैठ कर लार्ड लिटन अपने उपन्यास लिखा करता था वहीं बैठ कर मैं अपने भारतीय मित्रों को पत्र लिखा करता था।

टोरकी यद्यपि और कितनी ही बातों के लिए प्रसिद्ध है, किन्तु इसकी प्रशंसा ख़ास कर इस बात से है कि शीत-काल में भी सूर्यदेव यहाँ प्रायः दर्शन देते रहते हैं। गरम देशों के रहनेवालों के लिए तो हिमाच्छादित अँगरेज़-भूमि में केवल यही एक स्थान है जहाँ सरदी कुछ कम होती है।

लक्ष्मणस्वरूप

भारतवर्ष ।

हमारा है यह भारतवर्ष।
　　फैला कर निज बाहु हिमालय
　　खड़ा अनादि काल से निर्भय
　　करता है घोषित उसकी जय
द्वार-रक्षक है वह दुर्धर्ष।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ १ ॥

　　पदतल पर विस्तृत है सागर
　　क्षण क्षण में भीषण निनाद कर
　　फैलाता आतङ्क जगत पर
किसी का सह्य नहीं आमर्ष
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ २ ॥

　　नव फल-पुष्पों से हो सज्जित
　　दिव्यप्रभा से हो अतिरञ्जित
　　नन्दन-कानन को कर लज्जित
बढ़ाता है सब का यह हर्ष।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ ३ ॥

　　कर अनन्त-वैभव का सञ्चय
　　ज्ञानागार उसी का अक्षय
　　आत्म-विजय से ही महिमामय
जगत का एक मात्र आदर्श
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ ४ ॥

　　यद्यपि लुप्त हुई है महिमा
　　भूला है वह अपनी गरिमा
　　पर अङ्कित है उसकी प्रतिमा
पुनः होगा उसका उत्कर्ष।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ ५ ॥

'द्विजेन्द्र'

सामयिक पत्रों का सञ्चालन और सम्पादन ।

आजकल सभी सभ्य देशों में सामयिक पत्रों की ख़ूब वृद्धि हो रही है। लोग उनका महत्त्व अच्छी तरह समझ गये हैं। इसलिए सभी उनकी उन्नति में सचेष्ट हैं। यह हर्ष की बात है कि हिन्दी में भी अब अच्छे अच्छे पत्र निकालने का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ ही समय में यहाँ कई दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्रों ने जन्म लिया है। उनके सञ्चालक उन्हें सर्वाङ्गसुन्दर बनाने की भी चेष्टा कर रहे हैं। यह हिन्दी का सौभाग्य-सूचक है। इससे यह भी प्रकट होता है कि हिन्दी-भाषा-भाषी अब दाम ख़र्च कर अख़बार पढ़ने लगे हैं। यदि यह बात न होती तो इतने पत्रों का उदय कभी न होता। यहाँ हम विदेशी समाचारपत्रों की कार्य्य-प्रणाली पर कुछ कहना चाहते हैं।

हिन्दी में जब कभी कोई नया पत्र निकलता है तब देश-भक्ति और मातृ-भाषा-प्रेम की ख़ूब दुहाई दी जाती है। उनका विज्ञापन पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि पत्र निष्काम भाव से देश-सेवा करने

के लिए ही निकाला गया है। परन्तु पाश्चात्य देशों में अर्थ-लाभ की कामना से प्रेरित होकर ही लोग अख़बार निकालते हैं। वे अख़बारों के प्रकाशन को व्यवसाय की दृष्टि से देखते हैं। कोई भी रोज़गार हो उसमें जिस तरह लाभ की आशा रहती है उसी तरह हानि की भी आशङ्का रहती है। इसलिए जब तक किसी के पास अच्छी पूँजी न होगी तब तक वह अख़बार निकालने का साहस नहीं करेगा। हिन्दी में अभी अख़बार बहुत कम हैं। इसलिए यहाँ इतनी स्पर्धा भी नहीं है। परन्तु पाश्चात्य देशों में यह बात नहीं है। वहाँ तो सभी पत्र एक दूसरे से बढ़ना चाहते हैं। उनमें एक प्रकार का द्वन्द्व-युद्ध चलता है। इस युद्ध में जिसके पास अर्थ की प्रचुरता होती है वही विजयी होता है। अमरीका के पत्र-सञ्चालकों में विलियम हार्स्ट की बड़ी ख्याति है। उनके समय में न्यूयार्क में न्यूयार्क-वर्ल्ड नामक पत्र का सबसे अधिक प्रचार था। हार्स्ट साहब ने वहीं से न्यूयार्क जर्नल नाम का एक पत्र निकाला। वे चाहते थे कि उनका पत्र सब से बढ़ कर रहे। दोनों पत्रों में द्वन्द्व-युद्ध आरम्भ हुआ। हार्स्ट साहब के पास धन का अभाव नहीं था। उन्होंने न्यूयार्क-वर्ल्ड के सभी योग्य कर्मचारियों को अधिक वेतन देकर अपनी ओर कर लिया। थोड़े ही दिनों में उनका पत्र अमरीका के सब पत्रों में श्रेष्ठ होगया। जहाँ इस तरह का संघर्षण है वहाँ किसी पत्र का सञ्चालन करना सहज नहीं है। इसमें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जनता की रुचि, पत्र की नीति, क़ानूनों का प्रतिबन्धन, सभी बातों का ख़याल रखना पड़ता है। अमरीका में तो पत्र-सम्पादक मौक़ा पड़ने पर बड़ी धूर्तता से काम लेते हैं। इस का मतलब यह नहीं है कि सम्पादक को धूर्त ही होना चाहिये। पर इसमें सन्देह नहीं कि यदि वह व्यवहार-कुशल नहीं हुआ तो विद्वान् होने पर भी उसे अपने काम में सफलता मिलने की नहीं।

समाचार-पत्र निकालने की प्रथा नवीन नहीं है। कहा जाता है कि चीन में समाचार-पत्र का जन्म हुआ। पहले पहल वहीं सन् ६१८ में उसका प्रचार हुआ। पेकिन-गज़ट संसार के सब पत्रों में पुराना है। परन्तु आजकल समाचार-पत्रों का मान और प्रचार जितना पाश्चात्य देशों में है उतना और कहीं नहीं। १६ वीं शताब्दी के मध्य काल से वहाँ सामयिक पत्रों की उन्नति हुई। तब से आज तक उनकी उन्नति ही हो रही है। १८६० में लन्दन में ६४७ अख़बार निकलते थे। १९०० में उनकी संख्या १२२६ हो गई। अमरीका तो अख़बारों का घर है। आजकल सब से अधिक पत्र वहीं निकलते हैं। एक बार किसी ने हिसाब लगाकर बतलाया था कि वहाँ कोई तेरह हज़ार अख़बारों का प्रकाशन होता है। साहित्य, विज्ञान, दर्शन और कलाकौशल की भिन्न भिन्न शाखाओं के पत्र अलग ही निकलते हैं।

इन पत्रों की बिक्री भी बेहद होती है। अँगरेज़ी में एक पियर्सन्स मेगज़ीन है। उसमें क़िस्से-कहानी और चुटकुले ही निकला करते हैं। उसके ग्राहकों की संख्या पाँच लाख से ऊपर है। कई पत्र ऐसे हैं जिनके पढ़नेवाले दस दस बारह बारह लाख हैं। ग्राहकों से इनकी जो आमदनी है वह तो है ही, विज्ञापनों से भी इनको बड़ा लाभ होता है। वहाँ शायद ही कोई ऐसा व्यापारी निकले जो विज्ञापन न देता हो। कोई कोई तो प्रतिवर्ष विज्ञापनों में लाखों रुपये ख़र्च कर देते हैं।

जिन पत्रों की ऐसी आमदनी है उनका ख़र्च भी वैसा ही है। लेखकों को वे पुरस्कार भी ख़ूब देते हैं। उदाहरण के लिए 'स्ट्रैंड' और 'ब्लैकउड' नामक दो मासिक-पत्रों को ले लीजिए। इनमें प्रायः क़िस्से-कहानियाँ ही छपा करती हैं। इनके लेखक प्रति

हज़ार शब्दों के लिए ४५ रुपये से कम नहीं पाते। पियर्सन्स मेगज़ीन के प्रकाशक ने किपलिङ्ग साहब को एक कहानी के लिए प्रति शब्द बारह आने दिये थे। मिसेज़ हम्फ्री बार्ड प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका थीं। अभी हाल में ही उनका देहान्त हुआ है। उन्हें एक लाख शब्दों के लिए डेढ़ लाख रुपये मिले थे। एक ऐसे ही लोकप्रिय उपन्यास-लेखक गार्विस साहब थे। उनको भी मरे अभी कुछ ही दिन हुए। उन्होंने कहानियाँ लिखकर अच्छी रक़म पैदा की थी। उनकी कहानियों के पढ़ने वाले भी हज़ारों नहीं, लाखों थे। मेरी कुरेली, ए० कनन डायल आदि और भी कई लेखक हैं जिनको गल्प-रचना से अच्छी आमदनी होती है।

अख़बारों का दाम जहाँ तक होता है कम रक्खा जाता है जिससे ग़रीब-अमीर सभी पढ़ सकें। कम दाम रखने से ग्राहकों की वृद्धि होती है और ग्राहकों की वृद्धि से विज्ञापन भी ख़ूब आते हैं। इससे पत्र-सञ्चालकों को कम दाम रखने पर भी ख़ूब लाभ होता है। अमरीका में सन् १८३३ तक कोई भी सस्ता पत्र नहीं था। साधारणतः पत्रों का मूल्य छः सेन्ट होता था। किसी भी पत्र की पाँच हज़ार से अधिक कापियाँ नहीं निकलती थीं। सबसे पहले न्यूयार्क में मार्निङ्ग पोस्ट नामक पत्र का मूल्य दो सेन्ट रक्खा गया। कुछ दिनों के बाद उसका मूल्य घटा कर एक सेन्ट कर दिया गया। पर वह पत्र अधिक दिनों तक चला नहीं। इसके बाद Benjamin H. Day साहब ने न्यूयार्क-सन नामक पत्र निकाला। उसका दाम एक सेन्ट रक्खा गया। उसे देख कर मार्निङ्ग हेरेल्ड नामक एक दूसरा पत्र भी उसी मूल्य पर निकलने लगा। दोनों पत्रों में ख़ूब चढ़ा-बढ़ी हुई। थोड़े ही दिनों के बाद तीन पत्र और प्रकाशित हुए। सभी का मूल्य एक सेन्ट रक्खा गया। १६०२ में सैकड़ों पत्र एक एक सेन्ट पर बिकने लगे। इसी से वहाँ अख़बार पढ़नेवालों की संख्या बढ़ने लगी। अमरीका में एक साधारण गृहस्थ के भी यहाँ दो तीन दैनिक, पाँच छः साप्ताहिक और दस-पंद्रह मासिक पत्र आते होंगे। इतने पत्र हमारे देश में अच्छे अच्छे वाचनालयों में ही आते होंगे। अमरीका में लोग सम्पादकीय लेखों को अधिक महत्व नहीं देते। वहाँ जनता पर समाचारों का ही अधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए समाचारों का संग्रह करने में रिपोर्टरों को ख़ूब मेहनत करनी पड़ती है। आराम से बैठकर वहाँ लेख कम लिखे जाते हैं।

अख़बार पढ़नेवाले सभी शिक्षित नहीं होते। आजकल पाश्चात्य देशों में इनमें से अधिकांश अल्प शिक्षित होते हैं। इसलिए अब अख़बारों की सम्पादन-शैली में बड़ा परिवर्तन हो गया है। सामयिक पत्रों की सफलता उनकी लोकप्रियता पर निर्भर है। उनमें ऐसे भी विषय हों जो सर्व-साधारण को रुचिकर हों। इसलिए अब सम्पादक भाषा के सौष्ठव और विचारों की गम्भीरता पर ध्यान नहीं देते; सरल भाषा में मनोरञ्जक विषयों की ही चर्चा अधिक रहती है। खेल-कूद, हँसी-दिल्लगी और नाच-तमाशों पर सभी पत्रों में कुछ न कुछ अवश्य लिखा जाता है। इसका एक कारण और भी है। पाश्चात्य देशों में ज्ञानवृद्धि के लिए कुछ ही लोग अख़बार पढ़ते होंगे। वहाँ तो ब्रेकफ़ास्ट के समय मार्निङ्ग पेपर खोला जाता है। यदि उसमें उच्चश्रेणी के लेख हों, जिन्हें समझने के लिए मस्तिष्क का उपयोग करना पड़े तो उस समय उसे पढ़ने का कष्ट कोई भी स्वीकार न करेगा। यही कारण है कि वहाँ विषयों की रोचकता पर अधिक ख़याल किया जाता है। यह बात नहीं कि उनमें विज्ञान, पुरातत्व आदि विषयों पर लेख नहीं निकलते। नहीं, ऐसे भी लेख निकलते हैं। पर वे ऐसी सरस भाषा में लिखे जाते हैं कि उनसे भी मनोरञ्जन ही अधिक होता है। कुछ थोथी बातें भी निकलती हैं।

पर वे लोगों के कौतूहल की निवृत्ति के लिए लिखी जाती हैं। साधारण लोग बड़ों की छोटी बातें भी जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। महारानी मेरी किन उपन्यासों को पढ़ा करती हैं, प्रिन्स आव् वेल्स कौन सा साबुन लगाते हैं, कैसर किस तरह बात चीत करते हैं, इस तरह की बातें लोग बड़ी ख़ुशी से सुनते हैं। यदि कोई आदमी प्रसिद्ध हुआ—चाहे उसकी प्रसिद्धि विद्या में हो, राजनीति में हो, नाचने-गाने में हो, अथवा और कोई काम करने में ही हो—तो उनके विषय में छोटी छोटी बातें तक लिखी जाती हैं। उनकी बात चीत, रहन-सहन, रूप-रङ्ग, हाव-भाव, कोई भी बात नहीं छूटने पाती।

यह तो हम कह आये हैं कि सामयिक पत्रों की एक विशेष शैली होती है। सब लेख उसी साँचे में ढले रहते हैं। अँगरेज़ी में जर्नेलिज़्म और लिटेरेचर भिन्न भिन्न विषय समझे जाते हैं। जो लेख सामयिक पत्रों के लिए लिखे जाते हैं उनकी गणना साहित्य में नहीं की जाती। लार्ड मेकाले अँगरेज़ी के प्रतिभाशाली लेखक माने जाते हैं। उन्होंने 'एडिनबरो रिव्यू' में कुछ समालोचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। उन निबन्धों की बड़ी प्रशंसा है। उनका प्रचार भी ख़ूब हुआ, यहाँ तक कि १८४३ में अमरीका में छिप कर उनके संस्करण निकाले गये। तब मेकाले को विवश होकर उन निबन्धों को पुस्तकाकार प्रकाशित करना पड़ा। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा है—"मैं इन निबन्धों को इस रूप में प्रकाशित करना नहीं चाहता था, क्योंकि इससे यह सूचित होता है कि मैं इन्हें साहित्य में स्थान पाने योग्य समझता हूँ।" यद्यपि आज मेकाले के निबन्ध सचमुच इँगलैंड की स्थायी सम्पत्ति हैं तथापि समालोचकों की राय है कि उनमें सामयिक साहित्य के सभी दोष वर्तमान हैं। उनका कथन है कि 'एडिनबरो रिव्यू' सरस्वती की सेवा के लिए नहीं निकाला गया था। उसका उद्देश्य था ह्विग नामक दल की नीति के पुष्ट करना। वह न्यायाधीश के समान निष्पक्षभाव से निर्णय नहीं करता था। वह तो वकील की तरह अपने पक्ष को न्यायानुकूल प्रमाणित करने में ही यत्नशील रहता था। यही कारण है कि यदि मेकाले के लेखों में भाषा की विशदता, सरसता और व्यंग है तो उनमें अतिशयोक्ति और पक्षपात भी ख़ूब हैं।

अख़बारों का काम है समाचार-संग्रह करना। सभी पत्र-सम्पादक इस बात की कोशिश करते हैं कि सब से पहले उनके ही पत्र में समाचार निकले। तारों से तो ख़बरें वे मँगाते ही हैं पर इसके लिए उनके संवाददाता और रिपोर्टर भी नियुक्त रहते हैं। जहाँ कोई नई बात हुई कि उन्होंने तुरन्त ही उस पर टीका-टिप्पणी करके सम्पादक के पास भेज दी। विदेशों में भी उनके संवाददाता रहते हैं। वे अपने देशों की महत्वपूर्ण घटनाओं की आलोचना किया करते हैं। ऐसे संवाददाताओं में टाइम्स के पेरिस के संवाददाता M. de Blowitz साहब की बड़ी ख्याति है। इनके सिवा ख़ास ख़ास मौक़े पर समाचार संग्रह करने के लिए अख़बारवाले अपना प्रतिनिधि भी भेजते हैं। ये प्रतिनिधि बड़े बड़े नेताओं से मिल कर उनकी रायें लिया करते हैं और फिर उन्हें अपने पत्रों में प्रकाशित किया करते हैं।

संसार में समाचार-पत्रों का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। राजनीति के क्षेत्र में उनकी बड़ी शक्ति है। उस शक्ति की उपेक्षा करने का साहस कोई भी गवर्नमेंट नहीं करेगी। किसी किसी देश में समाचार-पत्रों को यह स्वाधीनता नहीं है कि वे जैसा चाहें वैसा लिखें। परन्तु इँगलैंड में यह बात नहीं है। वहाँ के पत्र गवर्नमेंट के सभी कामों की तीव्र आलोचना किया करते हैं। गवर्नमेंट को विवश होकर अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ता है। १८८४ में स्टेड साहब ने इंगलैंड की जहाज़ी शक्ति पर कुछ लेख लिखे। उस समय उसकी अच्छी दशा

नहीं थी। इन लेखों के कारण वहाँ जल-सेना-विभाग में सुप्रबन्ध होगया। आजकल सभी देशों में प्रजा-पक्ष का ज़ोर बढ़ रहा है। पार्लिमेण्ट में प्रजा के प्रतिनिधि होकर जो जाते हैं वे तो जाते ही हैं, पर उनसे भी अधिक प्रभाव अख़बारों का पड़ता है। ये ही जनता के सच्चे प्रतिनिधि समझे जाते हैं। इनसे पार्लिमेण्ट का घनिष्ठ सम्बन्ध होगया है। सिर्फ़ राजनीति में ही इनका प्रभुत्व नहीं है। समाज पर भी इनका बड़ा भारी प्रभाव है। व्यापार की उन्नति में भी इनका हाथ है। व्यापार की समृद्धि का सब से बड़ा कारण विज्ञापन है। विज्ञापनों से बड़ा लाभ होता है। कुछ लोग विज्ञापनों का महत्व नहीं समझते। इस विषय में इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् बालफ़र साहब का कथन है The foreign correspondence, the Parliamentary reports and all the other machinery of communicating news to the public really are not of more importance to the community than the power of communicating by advertisement, of bringing the buyer and seller together and giving them some machinery for communicating their wishes one to and another. अर्थात् विदेशी समाचार और पार्लिमेण्ट की रिपोर्टों का जितना महत्व है उतना ही विज्ञापनों का है। यही तो एक ज़रिया है जिससे बेचनेवाले और ख़रीदनेवाले मिलकर अपना मनोगत भाव एक दूसरे पर प्रकट कर सकते हैं। विज्ञापन देना भी एक कला है। किस तरह विज्ञापन दिया जाय जिससे लोगों का ध्यान तुरन्त ही उसकी ओर आकृष्ट हो, यह मामूली बात नहीं है। इसके लिए सिर खपाना पड़ता है। अमरीका की बात जाने दीजिए। हिन्दी में भी विज्ञापनबाज़ कभी कभी लोगों को धोखा देने में कमाल करते हैं। मोटे अक्षरों में गान्धीजी और नीचे पाचकवटी, यह प्रायः देखने में आता है।

अख़बारों में सिर्फ़ ख़बरें और रिपोर्टें ही नहीं छपतीं। उनका एक बड़ा महत्वपूर्ण अङ्ग समालोचना है। सिर्फ़ साहित्य ही की समालोचना नहीं होती; राजनीति, अर्थशास्त्र, संगीत, नाटक, कला-कौशल आदि सभी विषयों की समालोचना की जाती है। हिन्दी में तो पत्र-सम्पादक ही सभी विषयों की समालोचना करने के योग्य समझे जाते हैं। परन्तु वहाँ जो जिस विषय का पारङ्गत विद्वान् होता है वही उसकी समालोचना करने का अधिकारी माना जाता है। जो नाटकों की समालोचना करता है वह स्वयं नाटकशाला में जाकर उनका अभिनय देखता है और तब नाटक के कथा-भाग और पात्रों की नाट्य-कुशलता पर अपनी सम्मति देता है। ऐसे समालोचकों में डेली टेलीग्राफ़ के Clement Scott साहब की बड़ी ख्याति है।

अख़बारों को एक बड़ी संस्था कहनी चाहिए। वे जैसी ख़बरें देती हैं उसी तरह भिन्न भिन्न सिद्धान्तों का भी प्रचार करती हैं। भिन्न भिन्न पत्रों की नीति भिन्न भिन्न है। सभी पत्रों में एक प्रधान लेख होता है। उसे Leading article या अग्र लेख कहते हैं। उसमें एक विशेष सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है। जो मत उसके विरुद्ध होते हों उनका उसमें खण्डन भी रहता है। जो पत्र जितनी ही निर्भीकता से अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है उसका उतना ही प्रचार बढ़ता है। जनता निर्भीकता को अधिक चाहती है। एक बार इंगलैंड के किसी पत्र ने किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त उसके विज्ञापनदाताओं में अधिकांश को अभीष्ट न था। इससे उन्होंने उस पत्र में विज्ञापन देना बन्द कर दिया। उन्होंने समझा था कि इससे पत्र की बड़ी आर्थिक हानि होगी और वह अपनी नीति को बदल देगा। परन्तु फल इसका विपरीत ही हुआ, उसका प्रचार बढ़ गया और विज्ञापन भी बढ गये।

अख़बार-नवीसी में अब स्त्रियों का अच्छा प्रवेश हो गया है। हिन्दी में भी दो चार पत्रों का सम्पादन स्त्रियाँ ही करती सुनी जाती हैं। भारतवर्ष की सम्पादिकाओं में श्रीमती स्वर्णकुमारी देवी का अच्छा नाम है। उन्होंने कई वर्षों तक भारती नामक एक बँगला मासिक पत्रिका का सम्पादन किया है। उपन्यास और आख्यायिका लिखने में भी वे सिद्धहस्त हैं। अँगरेज़ी में अधिकांश स्त्रियाँ उपन्यास ही लिखा करती हैं। ऐसी लेखिकाओं में कुछ के नाम तो अँगरेज़ी साहित्य में अमर होगये हैं। जार्ज इलियट के नाम से उपन्यास लिख कर मेरी एन इवेन्स ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। चार्लोटी ब्रान्टे और मिसेस गास्केल का भी, अँगरेज़ी-साहित्य में, उच्चस्थान है।

कुछ समय से हास्यचित्रण-कला, कार्टूनों, की ख़ूब उन्नति हो रही है। राजनीति के क्षेत्र में ये कार्टून बड़ा काम करते हैं। अच्छे अच्छे पत्र इनकी उपयोगिता ख़ूब समझ गये हैं। इनसे लाभ भी ख़ूब है। राजनीति की गूढ़ बातें हँसी ही हँसी में बतला दी जाती हैं। हिन्दी के पत्र भी अब कार्टून निकालने लगे हैं। हिन्दी के एक पत्र में कभी कभी अच्छे व्यङ्ग चित्र निकल जाते हैं।

सभी देशों में सामयिक-पत्रों का कार्यक्षेत्र ख़ूब बढ़ गया है। सन्तोष की बात है कि अब हमारे देश में भी इनकी उन्नति हो रही है।

बाल शास्त्री झा

इतिहास में सत्य।

इतिहास-लेखक अपने लिखे इतिहासों में सभी बातें सोलहों आने सत्य नहीं लिखते। अपने देश और जाति के भले के लिए वे ऐसी बातें भी लिख देते हैं जिनको क़िस्से-कहानियों में ही स्थान मिलना चाहिए। इसके सिवा, कुछ ऐसे भी भले आदमी हैं जो सिर्फ़ दूसरी जातियों से डाह होने के कारण उनसे सम्बन्ध रखनेवाली ऐतिहासिक बातों पर असत्य का पर्दा डाल देते हैं। इससे उनको या उनके देश को तो कुछ लाभ होता नहीं; हाँ, जिस जाति पर उनकी ऐसी कृपादृष्टि होती है उसका ख़ासा अपकार हो जाता है। इस सम्बन्ध में बाबू श्रीकृष्णविहारी गुप्त एम० ए० ने एक लेख लिखा है। उसका सार सुनिए—

किंवदन्ती है कि जब सर वाल्टर रेले लन्दन के क़िले में अवरुद्ध थे तब क़िले के बाहर बहुत गुलगपाड़ा सुन पड़ा। असल बात जानने के लिए रेले महोदय ने एक रक्षक को वहाँ भेजा। उसने वहाँ से लौट कर जो उत्तर दिया उससे उनका समाधान न हुआ। उन्होंने एक और सन्तरी वहाँ भेजा। उस सन्तरी ने कुछ और ही बात सुनाई। तब उन्होंने घटनास्थल पर, अलग अलग, कई आदमियों को भेजा। आश्चर्य की बात यह है कि सबका उत्तर निराला था। आँखों के आगे जो बात हुई उसके सम्बन्ध में जब उसी समय जितने मुँह उतनी बातें सुनीं तब इतिहास की सत्यता से उनकी आस्था हट गई। वे यहाँ तक निराश हुए कि अपने लिखे पृथिवी के इतिहास की प्रति को आग में झोंकने के लिए उतारू होगये। उनकी दृढ़ धारणा होगई कि देश और काल के बीच जहाँ लाखों कोसों की दूरी

और सैकड़ों वर्षों का अन्तर होगा वहाँ ऐतिहासिक सत्य का निर्णय करना बिलकुल ही असम्भव है।

रेले महाशय जिस सिद्धान्त पर उपनीत हुए थे वह बिलकुल ठीक भले न हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इतिहास में बहुत सी झूठी बातों को आश्रय मिल जाता है। आज कल बहुतेरे आदमी सत्यनिर्द्धारण करने की वैज्ञानिक प्रणाली की दुहाई दिया करते हैं। फिर भी व्यक्तिगत संस्कार, विद्वेष भाव और पक्षपात कितने ही लेखकों को सत्यपथ से डिगा देता है। और कोई कोई तो कल्पनाओं से अपने ग्रन्थ में यहाँ तक काम लेते हैं कि उनका इतिहास उपन्यास हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक इतिहास-लेखक अपने पथदर्शक हिरोडोटस, टैसिटस आदि अति प्राचीन महाजनों का अनुसरण करके, जान बूझ कर तथ्य के साथ अतथ्य या मनगढ़न्त बातें नहीं मिला देते। किन्तु यह बात भी भुलाई नहीं जा सकती कि मेकाले और फ्रूड की श्रेणी के अनेक आधुनिक इतिहासवेत्ता अपने प्रिय मत को प्रतिष्ठित करने के लिएसत्य को खूब झकझोर डालते हैं।

योरप के इतिहास का एक उदाहरण लीजिए। तुर्क की अधीनता से मुक्त होने के लिए यूनान ने जब युद्ध छेड़ा तब यूनानियों ने मोरिया प्रान्त के मुसलमानों पर जो अमानुषिक अत्याचार किया था उसका बदला मुसलमानों ने लिया। उन्होंने कियस् नाम के द्वीप के यूनानी अधिवासियों की हत्या कर डाली। लाज, अस्कर और ब्रौनिङ्ग आदि अँगरेज़-ऐतिहासिकों ने यूनानियों के अत्याचार को तो बिलकुल ही पी डाला; किन्तु जिस प्रकार मुसलमानों ने यूनानियों को चौपट किया था उसका वर्णन करना कोई न भूला। हमने जितने इतिहास पढे हैं उनमें एक एलिसन फ़िलिप्स ने ही सच्ची बात लिखी है। उन्होंने लिखा है—यूनानी पादरियों ने, पैट्रोस के बिशप जर्मनोस को नेता बना कर, विधर्मियों का उच्छेद करने के लिए, धर्मयुद्ध की घोषणा की। मोरिया के मुसलमानों पर अचानक आक्रमण कर दिया गया। उन्हें इतना भी अवसर न मिला कि विपक्षियों को रोकने के लिए तैयार हो सकें। औरत, मर्द, बूढ़े, बालक सब मुसलमान २५ हज़ार थे। छः सप्ताह के भीतर इनमें से एक भी जीता न बचा। जिन्होंने भाग कर सुरक्षित स्थानों में पनाह ली थी वे भी बड़ी बे दर्दी से मार डाले गये। ट्रिपलिज़ा नामक क़िले पर अधिकार करके यूनानियों ने दो हज़ार मुसलमानों को क़ैद कर लिया। और किसी प्रकार की उत्तेजना का कारण न रहने पर वे सब के सब मार डाले गये। स्त्रियों और बच्चों पर तक दया नहीं की गई। (The deliberate slaughter in cold blood of 200 Mussalman prisoners of all ages and both sexes.—Modern Europe by Allison Phillips, p. 136)। इसके पश्चात् तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया के बिशप (बड़े पादड़ी) को खुले मैदान में फाँसी दे दी। कियस् द्वीप में क़त्ले-आम किया गया। उसका कारण था अत्याचार की उत्तेजना और बदले की प्रबल इच्छा।

हमारे देश के इतिहास में भी ऐसे दृष्टान्तों की कमी नहीं। अफ़ज़ल ख़ाँ और शिवाजी वाली घटना इतिहास-पुस्तकों में जिस ढँग से अङ्कित है वह सत्य नहीं है। सभी निरपेक्ष इतिहास-लेखकों ने अब इस बात को मान लिया है। ग्रांट डफ़ आदि इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि शिवाजी ने विश्वासघात करके अफ़ज़ल ख़ाँ को मारा था। इन लेखकों ने मराठों के इतिहास 'बखर' आदि पर विश्वास नहीं किया; विश्वास किया है ख़ाफ़ी ख़ाँ की बातों पर। अतएव उल्लिखित घटना ही जनता को विदित हो गई है। विश्वविद्यालय की पाठ्यपुस्तकों में यही राग अलापा गया है। किन्तु अब सिविलियन किनकेड साहब ने मराठों का इतिहास नामक

ग्रन्थ में अकाट्य युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा सिद्ध कर दिया है कि शिवाजी आत्मरक्षा के लिए ही सशस्त्र होकर गये थे और अफ़ज़ल के आक्रमण से बचने के लिए ही उन्होंने उस पर वार किया था। किन्केड साहब की युक्तियों का सार यह है कि ख़ाफ़ी ख़ाँ शिवाजी से इतना अधिक कुढ़ता था कि जहाँ कभी उसने उनका उल्लेख किया है वहीं उन्हें 'वही घृणित काफ़िर' अथवा 'वही दोज़ख़ी कुत्ता' कहा है। इन शब्दों के विना उससे शिवाजी का उल्लेख करते ही नहीं बना। इसके सिवा, अफ़ज़ल ख़ाँ के साथ जितने मुसलमान थे वे तो सभी मारे गये थे अतएव किसी ऐसे मुसलमान से ख़ाफ़ी ख़ाँ को सच्ची हालत मालूम नहीं हुई जिसने कि घटना को अपनी आँखों से देखा हो। इस कारण ख़ाफ़ी ख़ाँ की बातों पर विश्वास करना ठीक नहीं। ग्रांट डफ़ साहब ने कोई कारण नहीं बतलाया कि हिन्दू इतिहासकारों के विवरण से इन्होंने सहायता क्यों नहीं ली। हिन्दुओं ने शिवाजी के किसी भी मामले को नहीं छिपाया। जहाँ शिवाजी ने छल-बल या कौशल से शत्रु का पराभव किया है वहाँ का वैसा ही विवरण हिन्दू इतिहासकारों ने लिख रक्खा है। फलतः इस प्रसङ्ग पर भी यदि शिवाजी कौशल से अफ़ज़ल ख़ाँ पर हाथ साफ़ करते तो हिन्दू लेखक उसका उल्लेख करने में कुण्ठित न होते। क्योंकि, उनकी राय में, शिवाजी के ऐसे व्यवहार में भी उनके बुद्धि-वैभव का ही परिचय मिलता। किन्तु 'सभासद्-बखर', 'शिवाजी दिग्विजय काव्य' और 'चिटनीस बखर' आदि में एक ही बात है—पहले अफ़ज़ल ख़ाँ ने ही शिवाजी पर आक्रमण किया और उसके पञ्जे से बचने के लिए—निरुपाय होकर—शिवाजी ने बघनखे से उसका पेट फाड़ डाला। इसके सिवा, बखर के लेखकों की बात पर ही विश्वास करने के लिए और भी एक कारण है। रामदास स्वामी के हनुमन्त नामक किसी शिष्य ने अपने गुरु का जीवन-चरित लिखा है। उसमें, एक स्थान पर, गुरु रामदास के आगे शिवाजी ने अफ़ज़ल ख़ाँ का मामला यों सुनाया—"भेट होने पर जब अब्दुल्ला (अफ़ज़ल) ने मेरा गला दबा लिया तब मैं बेहोश होगया, स्वामीजी के आशीर्वाद विना मैं उसके पञ्जे से कभी न बच सकता"। अफ़ज़ल ख़ाँ पर यदि पहले हमला किया गया होता तो उसमें इतनी ताक़त कभी न रह जाती कि शिवाजी को बेहोश कर डालता। अतएव यह सिद्ध है कि मरने से पेश्तर उसीने शिवाजी पर आक्रमण किया था। अध्यापक यदुनाथ सरकार ने भी इसी बात को सत्य माना है।

बङ्गाल के इतिहास में कालकोठरी वाली घटना की सत्यता के सम्बन्ध में इतिहासज्ञों में बहुत मतभेद है। हालवेल साहब के जर्नल के सिवा इसका और कोई प्रमाण भी नहीं। फिर भी इस लोमहर्षण कहानी को इतिहास में ऐतिहासिक सत्य का स्थान दिया गया है। इस मामले की आलोचना, कोई ३० वर्ष पहले, विहारीलाल सरकार ने की थी; इसके बाद श्रीयुत अक्षयकुमार मैत्रेय ने अपनी सिराजुद्दौला नामक पुस्तक में बतलाया कि कालकोठरी की घटना और शेख़चिल्ली की कहानी एक ही बात है। कई वर्ष हुए, मुर्शिदाबाद के लिटल साहब ने भी, कई लेखों में, इसी मत का प्रतिपादन किया है।

और भी ऐसी कितनी ही बातों का उल्लेख किया जा सकता है जो इतिहास में तो भीषण रूप धारण किये बैठी हैं, पर वास्तव में उनके अस्तित्व में ही सन्देह है। ताजमहल को किसने बनाया? मशहूर है कि आगरे का रौज़ा किसी इटैलियन कारीगर के हाथ की कारीगरी है। और इस अफ़वाह के लिए आधार है फ़ादर मारिस नामक किसी योरप-निवासी संन्यासी की उक्ति। हावेल साहब ने कहा है कि ताजमहल का स्थापत्य इटैलियन तो हुई नहीं; मुसलमानों के ढँग का भी

नहीं है। इसकी गठन-प्रणाली में हिन्दू स्थापत्य-भाव पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। पाटलिपुत्र में जो अशोक की राजधानी के खँडहर ढूंढ़े गये हैं उस के सम्बन्ध में भी एक ऐसी ही समस्या उपस्थित की गई है। डाक्टर स्पूनर कहते हैं कि इन इमारतों में पारसियों के प्रभाव के चिह्न हैं। उनकी राय है कि प्राचीन भारत की सभ्यता पारसियों की सभ्यता के द्वारा प्रभावान्वित थी। यदि यह बात सत्य हो तो हमें अपने जातीय इतिहास की धारा ही नये रूप में देखनी होगी।

अन्त में हम यहाँ दो-एक आधुनिक घटनाओं का उल्लेख करते हैं। अभी सीमान्त प्रदेश में अफ़ग़ानों के साथ जो युद्ध हुआ था उस के असल कारण को क्या हम कभी अवगत कर सकेंगे? भारतीय सरकार ने जो कारण बतलाया है वह ठीक है या वह ठीक है जिसे अफ़ग़ान-प्रतिनिधियों ने सन्धि-सभा में प्रकट किया है? या दोनों ओर की बातों में कुछ कुछ सत्य है? और यदि ऐसा है तो वह है क्या? पञ्जाब में क्या सचमुच ग़दर मच गया था? इतिहास में इस घटना को कौन सा रूप दिया जायगा? विद्यालयों में पढ़ाने के लिए स्वीकृत इतिहास-ग्रन्थों में सिखयुद्ध का जैसा वर्णन है उसमें बहुत सी सच्ची बातों का पता नहीं। हाँ सत्यसन्ध कनिंगहम साहब के 'सिखजाति के इतिहास' से उस विषय की कुछ बातें हमें अवश्य विदित होती हैं। इस मामले का भी वही हाल होगा। रौलट-कमिटी ने भारत की अशान्ति के जिस अपूर्व इतिहास की रचना की थी उससे भी यही आशङ्का दृढ़ होती है।

इतिहास के विषय में जब मन में ऐसा सन्देह-जाल फैलता है तब यह कहने को जी चाहता है कि "हे इतिहास! अपना मुखर भाषण बन्द करो।" हमारे कहने का यह प्रयोजन नहीं कि समस्त इतिहास ग्रन्थ मिथ्या बातों से परिपूर्ण हैं। इतिहास-वेत्ताओं में ऐसे लोग भी अनेक हैं जिन्होंने सत्य बात को बड़ी छान बीन कर के खोज निकाला है। अनेक कारणों से जब सत्य घटना दब जाती और एक बनावटी बात रूढ़ हो जाती है तब जो लोग उस सच्ची घटना को खोजने के लिए बद्ध-परिकर हो जाते हैं वे हमारे लिए सदैव आदर-णीय हैं। इसमें सन्देह नहीं कि धर्मतत्त्व की भाँति ऐतिहासिक तथ्य भी अनेक अवसरों पर, 'गुहाया निहितं' रहता है।

बस, श्रीकृष्णविहारी बाबू के लेख का यही आशय है। पर हमारे यहाँ, जिन्होंने इतिहास की थोड़ी बहुत बातें लिखी हैं, उन्होंने सत्य का यथेष्ट आदर किया है। और ऐसा करने में उन्होंने उचित अनुचित या मानापमान की ज़रा भी परवा नहीं की। देखिए न, शिष्य वैशम्पायन ने अपने गुरु की उत्पत्ति का वर्णन करने में रत्ती भर भी सत्य का अपलाप नहीं किया। सच बात कहने में उन्हें ज़रा भी झिझक नहीं और इस बात की भी परवा नहीं कि हमारे गुरु की उत्पत्ति-कथा सुन कर उन पर से लोगों की श्रद्धा-भक्ति उठ जायगी। वे तो इतिहास लिखने बैठे हैं, अतः उन्हें इस बात की फ़िक्र है कि हमारी लेखनी से एक भी निर्मूल बात न निकल जाय।

ललन

लीला।

(१)

भारत-पतन का हेतु भारत-युद्ध है संशय नहीं
सच बोलने में सत्य कहता हूँ किसी का भय नहीं।
वह क्यों हुआ, कैसे हुआ, क्या सन्धि हो सकती न थी?
या भूप-कृत अघ-भार को सिर ले सकी जगती न थी?

(२)

यह सत्य है नृप के अनय को लोक सह सकता नहीं
जैसे कलंकी इन्दुकर को कोक सह सकता नहीं।
पर भूप यदि अपना रहे सपना उसे करिये नहीं
निज शीश ही को काट कर संसार में मरिये नहीं॥

(३)

हैं आप पुरुषोत्तम यदूत्तम! भय न इस में है कहीं
पर आप के भी कार्य भूलों से सभी ख़ाली नहीं!
ज्यों आप अनुपम हैं त्रिलोकी-नाथ हैं सुख-मूल हैं,
त्यों आपकी अनुपम अलौकिक कष्टकारक भूल है॥

(४)

यदुनाथ! अपने हाथ से कंसादि का जो वध किया,
अति यश लिया संसार में कंसारि! सबको सुख दिया।
उसकी बड़ाई कर सके इस भाँति किसकी शक्ति है?
बस आपके पद में हमारी आज तक दृढ़ भक्ति है॥

(५)

गोपाल! गोपालन-स्मरण है यदपि अति ही आर्थिकी
पर आपने उसको बनाया युक्ति से सद् धार्मिकी।
कृषिकर्म-रत इस देश में उसकी महत्ता है बड़ी
गोवंश के ही साथ में स्थिति भी हमारी है खड़ी॥

(६)

जननी अनेकों वाद्य की वंशी बनी है आपकी
इस हेतु गुण-मय चाँदनी जग में तनी है आपकी।
सद्गान-नृत्यों की कलाओं को दिखाया आपने
आचार्य बन कर के उन्हें जग को सिखाया आपने॥

(७)

हो पूर्ण योगेश्वर सभी हैं सिद्धियाँ वश आपके
चाहे करें जिस कार्य को है हाथ में यश आपके।
व्रज को बचाया आपने नख पर उठा गिरिराज को
प्राकृत मनुज क्या कर दिखावेगा कभी इस काज को॥

(८)

हा! चोर लम्पट आपको जिसने कहा वह मूढ़ है
लीला महत्ताओं भरी हरि! आपकी अति गूढ़ है।
जिस तत्व को समझे न हम वह निन्द्य कैसे हो गया?
रवि को न देखे अन्ध तो क्या तेज उसका खो गया॥

(९)

जैसी दया थी आप में वैसी न मिल सकती कहीं
तज मान-सरवर को कनक-नलिनी न खिल सकती कहीं।
श्रीदाम* विदुरादिक खड़े हो साक्ष्य देते हैं सभी
शरणागतों का त्याग प्रभु से हो नहीं सकता कभी॥

(१०)

व्याख्यान देते आप थे शर वृष्टि होती थी वहीं
किसने कहाँ पर कब कहा? जो आपने बातें कहीं।
मस्तिष्क से वह ज्ञान मानव के निकल सकता नहीं
है देख गीता को दबाती दाँत से उँगली मही॥

(११)

नर युद्ध-व्रत पाले विना क्यों शुद्ध हो संसार में?
नर युद्ध-प्रेमी पड़ न सकता दुःख-पारावार में।
है देह अस्थिर, कीर्ति स्थिर है, सत्य क्यों फिर छोड़िए?
खल शत्रुओं को साध कर दुख-बन्धनों को तोड़िए॥

(१२)

चिरकाल तक स्वाधीन रह कर दुष्ट वश में जो पड़ा
या उच्च होकर नीच की है दासता में जो खड़ा।
है श्रेय उसकी मृत्यु ही जीना न उसको चाहिए
जो हंस हो, गन्दा सलिल पीना न उसको चाहिए॥

(१३)

निज शत्रुओं को मार कर मरवा जिसे आया नहीं
उसने मनो हरि! आपके उपदेश को पाया नहीं।
रण से डरे जो क्षत्रियाधम या नराधम है वही
जीवन मरण सम है जिसे बस देवतोपम है वही॥

(१४)

नर को अमरता क्या समर से भाग कर मिल जायगी?
हाँ वीर को पाकर सही अमरावती खिल जायगी।
सच मानना मिलती नहीं नर-देह भिक्षा के लिए
ये आपके उपदेश हैं निज देश-रक्षा के लिए॥

(१५)

व्रज की रजों को फाँक कर शिशुता दिखाते आप थे
या जन्म-धरती प्रेम को सब को सिखाते आप थे?
था कलपतरु से भी सुखद तरु नीप का ही आप को
जिसमें न भारत-भक्ति हो धिक्कार है उस पाप को॥

---

* सुदामा।

(१६)

मारा जरासन्धादि को राक्षस विदेशी जान कर
निज देश को सब से अधिक दैवत महेश्वर मान कर।
हरि! आप के इस कार्य्य की कितनी बड़ाई हम करें
वह धन्य है जो शत्रुओं को मारकर पीछे मरे॥

(१७)

ज्यों ताड़का का वध किया था सूर्यवंशी राम ने
त्यों पूतना का वध किया था ठीक ही घन-श्याम ने।
हैं बध्य असुरों की स्त्रियाँ भी मन्त्र है यह आप का
जो देश-हितकर कार्य है होता नहीं वह पाप का॥

(१८)

गुण-राशि है जो आप में उसका न पारावार है।
संसार में जो हैं बड़े उनका बड़ा व्यापार है।
पर आप भी निर्मुक्त दोषों से न हो सकते कभी
स्थलकञ्ज* अपने कण्टकों को ज्यों न खो सकते कभी॥

(१९)

जो आपने उपदेश रण का पार्थ को रण में दिया,
वैसे बड़े सत्कार्य को किसने यहाँ अब तक किया?
पर बान्धवों से बान्धवों को जो लड़ाया आपने
अब भी स्मरण कर के उसे हा! उर लगा है काँपने॥

(२०)

विश्वास अर्जुन में विजय का आपने जब भर दिया
तब बान्धवों से हो विमुख संग्राम को उसने किया।
क्या था उचित यह आपको, कैसे कहोगे 'हाँ' प्रभो?
कुरु-पाण्डवों को क्यों किया रण-यज्ञ में स्वाहा प्रभो॥

(२१)

यदि म्लेच्छ-कुल से आप कुरु-कुल को लड़ाते युक्ति से
तो आप के गुण-संघ का हम गान करते सूक्ति से।
पर पाण्डवों से हा! लड़ा कर नाश उनका कर दिया
कुछ सोचिए तो काम क्या यह आपने अच्छा किया!!

(२२)

कौरव-सभा में सन्धि का प्रस्ताव जब करने लगे
तब पाण्डवों के विविध गुण की तान क्यों भरने लगे?
अरि को चिढ़ाया आपने जब सन्धि थी करनी नहीं
हे कृष्ण! अनुचित कार्य भी छिपता छिपाने से कहीं?

(२३)

जिसने बिगाड़ा अन्य को, वह क्यों बना रह जायगा?
करके अयश के कार्य कैसे वह सुयश को पायगा?
कुरु-वंश की सी गति हुई यदुवंश की भी शीघ्र ही
यदुनाथ! निज दुष्कर्म को फल प्राप्त होता है यहीं॥

(२४)

क्यों कौरवों को मार कर पाण्डव बचे रहते यहाँ
हा, अन्त में दोनों वहीं पहुँचे जगत जाता जहाँ।
अपयश-सुयश दोनों सदा रह जायँगे संसार में
इस ज्ञान से मन को सुजन देते नहीं अपकार में॥

रामचरित उपाध्याय

आधुनिक नाटक और नाट्यशाला।

नाटक शब्द नट् धातु से बना है। नट् नाचने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अँगरेज़ी में नाटक को ड्रामा कहते हैं। ड्रामा के लिए संस्कृत में नाटक की अपेक्षा रूपक शब्द अधिक उपयुक्त है। ड्रामा का मूल शब्द इसी अर्थ का द्योतक है। ड्रामा उन रचनाओं को कहते हैं जिनमें अन्य लोगों के क्रिया-कलापों का अनुकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानो वही काम कर रहे हों। जूलियस सीज़र के नाटक में कोई व्यक्ति उसका इस प्रकार अनुकरण करता है कि मानो वही जूलियस सीज़र है। दूसरों का अनुकरण करना मनुष्य मात्र का स्वभाव है। बालक अपने माता-पिता का अनुकरण करता है। छोटे लोग बड़ों का अनुकरण करते हैं। नाटकों की उत्पत्ति मनुष्यों के स्वभाव से ही हुई है। एक बात और है। नाटक में सिर्फ़ क्रिया-कलापों का ही अनुकरण नहीं होता। मनुष्यों की हृद्गत भावनाओं का भी अनुकरण किया जाता है। यह तभी सम्भव है जब हम दूसरों के सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझ लें। यही सहानुभूति है। यह भाव भी स्वाभाविक है। सच पूछा जाय तो इसी के आधार पर मानव-समाज स्थित है। यदि यह न रहे तो मानव-समाज छिन्न-भिन्न हो जाय। अस्तु, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि

* स्थलकञ्ज = स्थलारविन्द = गुलाब।

नाटकों का मूल-रूप मनुष्यों के अन्तर्जगत् में विद्यमान है। बाह्यजगत् में उसका विकास क्रमशः हुआ है।

नाटक में नट दूसरे के कार्यों का अनुकरण करता है। इसी को अभिनय कहते हैं। यह कला है। भावों के आविष्करण को कला कहते हैं। किसी भी कला में नैपुण्य प्राप्त करने के लिए विशेष योग्यता की ज़रूरत है। इसी लिए यद्यपि अनुकरण करने की प्रवृत्ति सभी में होती है तथापि नाट्यकला में दक्ष होना सब के लिए सम्भव नहीं है।

नाटक और नाट्यकला में परस्पर सम्बन्ध है। नाटक के लिए नाट्यकला आवश्यक है। परन्तु नाटक स्वयं एक कला है और उसकी उत्पत्ति मनुष्यों के अन्तःकरण में होती है। बाह्यजगत् में उसको प्रत्यक्ष कर दिखाना नाट्यकला का काम है। नाटकों की गणना काव्यों में की जाती है। उन्हें दृश्यकाव्य कहते हैं अर्थात् ये वे काव्य हैं जिनमें हम कवि की कुशलता का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। यद्यपि रङ्गभूमि में कवि नहीं आता तथापि नटों के द्वारा हम उसी की वाणी सुनते हैं। नाट्यशाला शरीर है और कवि उसकी आत्मा है।

इंगलेंड में नाटकों का प्राचीनतम रूप हमें वहाँ के मिस्ट्री (Mystery) और मिराकिल (Miracle) नाटकों में मिलता है। इन नाटकों का विषय धार्मिक था। बाइबिल अथवा किसी महात्मा की दन्तकथाओं के आधार पर इनकी रचना होती थी। भारतवर्ष में इन्हीं के जोड़ के नाटक ताड़-पत्र पर लिखे हुए पाये गये हैं। इन नाटकों के रचयिता महाकवि अश्वघोष माने गये हैं। इनमें बुद्धि, धृति, कीर्ति आदि सद्गुणों को और बुद्ध, मौद्गलायन, कौण्डिन्य आदि महात्माओं को रङ्गभूमि में अवतीर्ण होना पड़ा है। इंगलेन्ड में ऐसे नाटकों में हास्यरस का भी समावेश किया गया है। इन्हीं के आधार पर आधुनिक नाटकों की रचना हुई है अथवा यह कहना चाहिए कि इन से ही आधुनिक नाटकों का विकास हुआ। सन् १२६० से सन् १५८० तक नाटकों का शैशवकाल था। इस समय जो नाटक बने वे प्रायः एक ही साँचे में ढले रहते थे। सन् १५७६ से नाटक नाट्यशाला में खेले जाने लगे। सन् १५७४ में अर्ल आव् लीस्टर के नौकरों को इंगलेन्ड के सभी नगरों में नाटक खेलने का अधिकार मिल गया और १५७६ में उन्होंने ब्लैक-फ्रायर्स थियेटर (Blackfriars Theatre) की स्थापना की। सन् १५८० से सन् १५९६ तक नाटक और नाट्यशालाओं की उन्नति बराबर होती रही। इस काल के नाटककारों में लिली, पील, ग्रीन, लाज, मारलो आदि थे। इंगलेन्ड के जगद्विख्यात नाटककार शेक्सपियर का भी आविर्भाव होगया था। शेक्सपियर ने नाटकों को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। शेक्सपियर सिर्फ़ नाटककार ही नहीं था, वह नट भी था। इस लिए नाट्य-कला में भी अच्छी उन्नति हुई। सन् १५९९ में ग्लोब थियेटर स्थापित हुआ। उस समय के थियेटरों और आज कल के थियेटरों में आकाश पाताल का भेद पड़ गया है। आज कल तो रङ्गभूमि में सभी तरह के दृश्य दिखलाये जा सकते हैं। पर तब कहाँ ऐसे दृश्य और ऐसे पर्दे थे। दर्शकों को नाटक के अधिकांश दृश्य अपनी कल्पना से ही देखने पड़ते थे। शेक्सपियर के बाद नाटकों की अवनति होने लगी। चार्ल्स प्रथम के समय में जब इंगलेन्ड में राज्यविप्लव हुआ तब नाटक और नाट्यकला पर बड़ा आघात पहुँचा। थियेटर तो सभी बन्द हो गये। उस समय लोग ऐसे आमोद-प्रमोदों को चरित्र-दूषक समझते थे। इसके बाद चार्ल्स द्वितीय का ज़माना आया। नाटकों में तत्कालीन समाज के अनाचार ने प्रवेश किया। इसी समय पहले पहल रङ्गमञ्च पर नटियाँ आईं। इस समय इंगलेन्ड के नाट्य-साहित्य पर फ़्रांस के नाटककारों का ख़ूब प्रभाव पड़ा। कार्नील, रेशीन और मालियर के नाटकों के अनुवाद, छायानुवाद, भावानुवाद आदि ख़ूब निकले। ड्राइडन नामक कवि ने अवश्य अँगरेज़ी नाटकों में मौलिकता पैदा की। इस के बाद जितने नाटककार हुए उन में गोल्डस्मिथ और शेरीडन ने ख्याती प्राप्त की। इनके बाद अँगरेज़ी के आधुनिक नाट्य-साहित्य का आरम्भ होता है।

उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में नेपोलियन के पतन होने पर इंगलेन्ड की प्रभुता अच्छी तरह स्थापित हो गई। इसके बाद उसने अपने व्यवसाय और वाणिज्य में बड़ी तरक्की की। व्यापार का केन्द्रस्थल है नगर। इस लिए नगरों की जन-संख्या ख़ूब बढ़ने लगी।

नगरों में जन-संख्या की वृद्धि के साथ ही साथ नाट्य-

इंगलैंड का प्रसिद्ध नट इरविंग।

शायलाक के रूप में इरविंग।

शालाओं की वृद्धि होने लगी। अभी तक नाटक-घर सिर्फ़ मनोरञ्जन के स्थान थे। वहाँ प्रायः ऐसे धनिक ही जाया करते थे जो निठल्ले बैठे समय काटा करते थे, परन्तु अब नगर में रहने वाले साधारण स्थिति के लोग और मज़दूर भी नाटकघर जाने लगे। दिन भर काम करने के बाद घड़ी आध घड़ी यदि मनुष्य अपना मन न बहलावे तो उसका शरीर कैसे टिक सकता है। मन बहलाने का सब से अच्छा स्थान नगरों में नाटकघर ही हैं। इसी लिए उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नाटक और नाट्य-कला की ख़ूब उन्नति हुई।

आधुनिक नाट्यसाहित्य के पहले मौलिक नाटककार टी० डब्लू० राबर्टसन (१८२९-१८७१) थे। उनके नाटक प्रिन्स आव् वेल्स थियेटर में खेले जाते थे। अँगरेज़ी में नाटकों के दो भेद हैं, कामेडी और ट्रेजेडी। राबर्टसन ने कामेडी नाटकों के पुनरुत्थान की चेष्टा की। प्रिन्स आव् - वेल्स थियेटर के अध्यक्ष थे बैनक्राफ़्ट साहब। उन्होंने नाट्यशाला में स्वाभाविकता लाने का प्रयत्न किया। बैनक्राफ़्ट साहब का जन्म सन् १८४१ में हुआ था। सन् १८६५ में उसने प्रिन्स आव्वेल्स थियेटर की स्थापना की। उसने नाट्यकला में काया पलट कर दी। १८९७ में उसे सर की उपाधि मिली।

इसी समय लीसियम (Lyceum) थियेटर में इंगलेंड का प्रसिद्ध नट हेनरी इरविंग रङ्गमञ्च पर आया। वह सन् १८७८ से १८९९ तक लीसियम का प्रबन्ध करता रहा। उसकी बड़ी कीर्ति हुई। सन् १८७४ में हेमलेट का पार्ट उसने बड़ी ख़ूबी से खेला। शेक्सपियर के प्रसिद्ध मर्चेन्ट आव् वेनिस में वह शाइलाक का पार्ट लेता था। इसमें भी वह कमाल करता था। उसने नटों की अच्छी स्थिति कर दी। उसके पहले लोग नटों का सम्मान नहीं करते थे। उनका पेशा भी नीच समझा जाता था। पर इरविंग की सब लोगों ने इज़्ज़त की। सन् १८९५ में वह नाइट बनाया गया। नटों में सब से पहले उसीको यह उपाधि मिली।

इस समय इंगलेंड में अच्छे अच्छे कवि हुए। उन्होंने नाटक भी लिखे। परन्तु उनके नाटकों को रङ्गभूमि पर अच्छी सफलता नहीं हुई। मैकरेडी ने प्रसिद्ध कवि ब्राउनिंग के स्टेफ़ोर्ड नामक नाटक के लिए बड़ी तैयारी की। पर वह पाँच रात से अधिक नहीं चला। टेनीसन के दो कप और बेकट नामक नाटकों को इरविंग ने खेला। पर उसे भी कुछ सफलता नहीं हुई। इसलिए फ़्रेंच नाटकों के ही आधार पर अँगरेज़ी में नाटक खेले जाते थे। सन् १८८१ में ए० डब्लू० पिनरो साहब का नाटक खेला गया। उसका कुछ आदर हुआ। फिर तो उसके कई नाटक खेले गये। और सभी में उसे सफलता प्राप्त हुई। नाट्य-साहित्य में उसका अच्छा स्थान हो गया।

अब हम एक बार तत्कालीन नाट्यशालाओं पर भी दृष्टि डालें। यह तो हम कह आये हैं कि बैनक्राफ़ ने नाट्यशाला की अच्छी उन्नति की थी। उसने दर्शकों के लिए नाटकघर को सभी तरह से मनोमोहक कर दिया था। हाफ़-गिनी-स्टाल खोल देने से बड़े बड़े लोग भी थियेटर में आने लगे। नाट्यशालाओं का आदर होते देख अच्छे कुल के पढ़े-लिखे लोग भी अभिनय करने लगे। गत पचीस वर्षों से नाट्यशाला सभ्यता का एक प्रधान अङ्ग होगई है। जो लोग नाट्यशाला को अपनी जीविका का द्वार समझते हैं वे तो अभिनय करते ही हैं; जो श्रीमान् हैं, प्रतिष्ठित हैं, कुलीन हैं, वे भी अपने मनोविनोद के लिए अभिनय किया करते हैं। कई अर्ल, काउन्टेस, मारक्विस आदि सम्भ्रान्त स्त्री-पुरुषों ने अभिनय-कला में अच्छी पारदर्शिता दिखलाई है।

इंगलेंड के राज-परिवार में भी दो एक ऐसे हैं जो अभिनय-कला में निपुण हैं। प्रिन्सेस लुई, डचेज़ आव् आरगाइल में उच्चकोटि की अभिनय-योग्यता है। अर्ल आव् यारमाउथ ने तो अमरीका में जाकर अभिनय किया था। काउन्टेस आव वेस्ट मूरलैन्ड भी अच्छी अभिनेत्री हैं।

नाटकों में ऐसे ऐसे लोगों के योग देने से वहाँ अब कुछ दूसरी ही छटा आगई है। भव्य भवन, विशाल रङ्गभूमि, आह्लादकारक सङ्गीत, आश्चर्यजनक दृश्य और चित्ताकर्षक अभिनय। सच तो यह है कि योरप की विलासिता उसके नाटक-घरों में ही अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है, दर्शकों के आराम के लिए सभी तरह की सुविधायें रहती हैं।

इधर नाट्यकला का रूप पलटा उधर नाटकों के
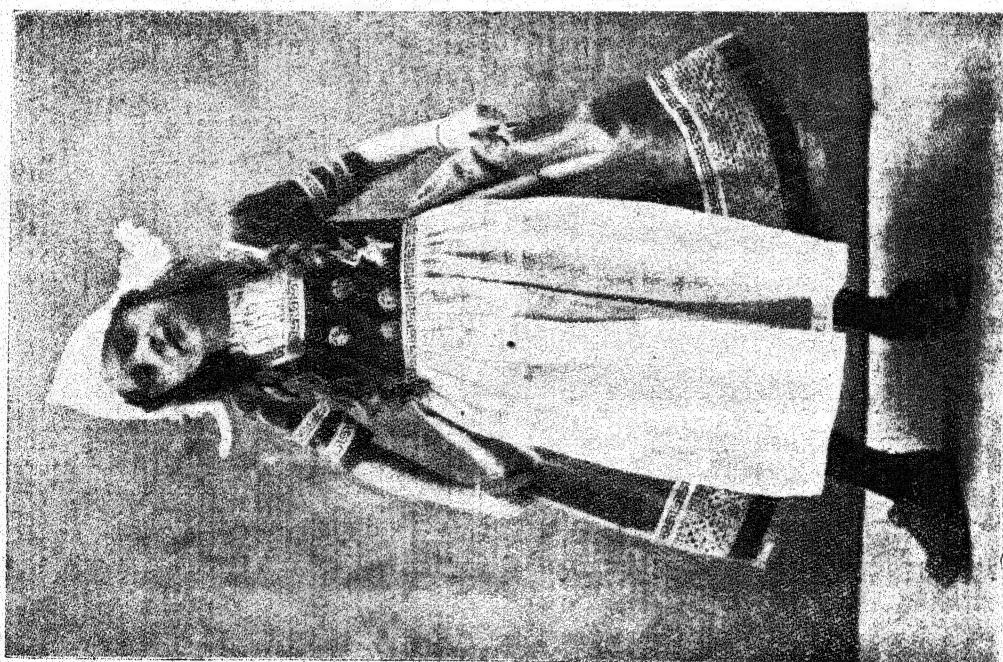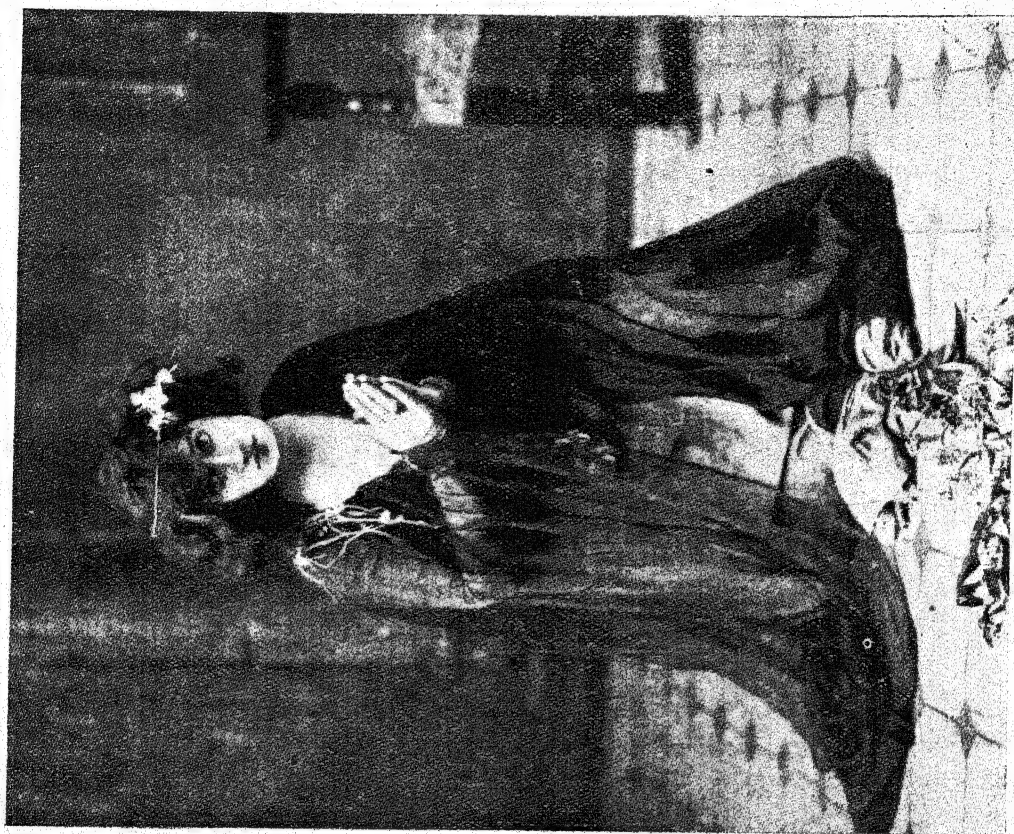
मेलीसांडा का पात्र खेलनेवाली एक उच्चकुल-सम्भूता महिला।

बालिका नदी (लिसियम)।

आदर्श भी बदले। नाट्यसाहित्य में हलचल पैदा कर देने वाले हेनरिक इब्सन का जन्म सन् १८२८ में हुआ था। उसने रङ्गभूमि पर मनुष्यों के अन्धकारमय जीवन का दृश्य दिखलाया। जर्मनी और फ्रान्स में उसके नाटक पहले ही खेले जा चुके थे। पर इंगलैंड में सन् १८८६ में उसका नाटक पहले पहल खेला गया। तब उसके नाटकों की बड़ी तीव्र आलोचनायें हुईं। परन्तु उसका सिक्का जम ही गया। इंगलेंड के वर्तमान नाटककार बर्नार्ड शा इब्सन के ही अनुयायी हैं।

शा की माता ने एक आइरिश नाट्यशाला में कुछ समय तक काम किया था। इसलिए शा को बाल्यकाल में ही सङ्गीत और नाट्यकला से प्रेम हो गया। २० वर्ष की अवस्था में वह लन्दन आया। उस समय इंगलेंड के सामाजिक जीवन पर रस्किन और विलियम मारिस का ख़ूब प्रभाव था। सभी कला-कोविद समाज-सुधारक होगये थे। सर्वत्र 'सौन्दर्य' और 'सरल जीवन' की चर्चा होरही थी। शा ने भी समाज-सुधार को अपने जीवन का प्रधान उद्देश समझा। सबसे पहले उसने व्याख्यान देने का अभ्यास किया। इससे उसको यह लाभ हुआ कि उसके गद्य की शैली निश्चित होगई। सन् १८८६ में शा ने सामयिक पत्रों में लेख देना आरम्भ किया। 'वर्ल्ड', 'स्टार' और 'सैटरडे रिव्यू' में वह सङ्गीत कला और नाटकों की समालोचना किया करता था। उसका कथन है—"नाट्यशाला का वही महत्त्व है जो मध्ययुग में चर्च का था। वह विचारों को उत्पन्न करती है, विवेक को स्फूर्ति देती है, आचरण को विशद करती है, निराशा और उत्साह-हीनता को दूर करती है और मनुष्यों को उन्नति का पथ बतलाती है।" १८७८ में उसने नाटक लिखना आरम्भ किया। उसी साल उसका 'Plays Pleasant and Unpleasant' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उससे लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली। उसका एक नाटक 'Mrs. Warren's Profession' रङ्गस्थल के अयोग्य ठहराया गया। शा को सब दुर्गुणों से घृणा थी। परन्तु वह यह चाहता था कि समाज अपने दुर्गुण देख ले। तभी वह अपना सुधार कर सकता है। परन्तु समाज अपने दुर्गुणों का प्रदर्शन नहीं चाहता था। वह चाहता था सिर्फ़ मनोविनोद। इसलिए शा ने अपने नाटकों में मनोरञ्जन की काफ़ी सामग्री रक्खी। Man and Superman में उसने लिखा है,—"मुझे अपने नाटक को चित्ताकर्षक बनाना होगा, पर सिर्फ़ मनोरञ्जन के लिए मैं एक भी वाक्य लिखने का श्रम नहीं उठाऊँगा।" आजकल तो बर्नार्ड शा की बड़ी ख्याति है।

आस्कर वाइल्ड को भी पहले पहल अपने सभी नाटकों के लिए बड़ा दुःख भोगना पड़ा। उसके सभी नाटकों की निन्दा हुई। परन्तु रङ्गभूमि पर सभी नाटक सफलतापूर्वक खेले गये। उस समय लोगों को प्रशंसा करनी ही पड़ी। पर बाद को लोगों ने उस पर कठोर आक्षेप किये। सन् १८९२ में पेलेस थियेटर में उसके एक नाटक Salome का रिहर्सल हो रहा था। तब सेन्सर (Censor) ने उसे बन्द करा दिया। जब वह सन् १८९३ में प्रकाशित हुआ तब उसकी बड़ी कड़ी आलोचना हुई। सन् १८९६ में जब वाइल्ड क़ैद में था, उसका सलोम नामक नाटक पेरिस में बड़ी सफलता से खेला गया। सन् १९०१ में बर्लिन में उसका अभिनय हुआ, तब से योरप की रङ्गभूमि में उसके नाटक बराबर खेले जा रहे हैं। अब तो अमरीका और एशिया में भी उनका प्रचार होरहा है। इंगलेंड में सन् १९०५ में न्यू स्टेज क्लब ने उसके इसी नाटक को खेला। तब दर्शकों ने उसे बड़े ध्यान से देखा।

योरप के नाट्य-साहित्य पर बेलजियम के विख्यात कवि मारिस मैटरलिङ्क के नाटकों का भी ख़ूब प्रभाव पड़ रहा है। इनका कुछ निराला ही रङ्ग है। इन्होंने मनुष्यों की आध्यात्मिकता पर अधिक ज़ोर दिया है। इनका जन्म सन् १८६२ में हुआ था। सन् १८९० से इनकी कीर्ति फैलने लगी। सन् १८९१ में इनका एक एकाङ्क नाटक खेला गया। सन् १८९३ में इनका पेलीयास और मेलीसांडा नाम का नाटक अभिनीत हुआ।

आधुनिक नाटककारों में डब्लू० बी० यीट्स का भी अच्छा नाम है। सन् १८९२ में इनके The Countess of Kathleen का अभिनय हुआ और १८९४ में The Land of the Heart's Desire का। भारतवर्ष के कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भी नाटकों का अभिनय इंगलेंड में होने लगा है। गत ४ मई सन् १९२० को

प्रिन्स आव् वेल्स थियेटर में उनके चित्रा और (Sacrifice) सक्रीफ़ाइस नामक नाटकों का अभिनय हुआ था।

नाटक दृश्य काव्य है। अतएव उत्तम नाटक वही कहे जा सकते हैं जो रङ्गभूमि पर अच्छी तरह खेले जा सकें। परन्तु अब आधुनिक साहित्य में नाटकों के दो भेद कर दिये गये है। कुछ नाटक तो खेले जाने ही के लिए लिखे जाते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी नाटक होते हैं जो श्राव्य काव्य कहे जाते हैं। अँगरेज़ी में उन्हें Poetic Drama कहते हैं। ऐसे नाटकों में नाटकों के अन्य सभी गुण रहते हैं, परन्तु उनमें वह विशेषता नहीं रहती जिससे नाटक रङ्गमञ्च पर सफलतापूर्वक खेले जा सकें। टेनीसन के नाटक इसी कोटि के हैं। भवभूति के नाटकों में भी कवित्व की छटा अधिक है। इन्हें पढ़ने से जो आनन्द होता है वह देखने से नहीं होता। यहाँ हम काव्य की दृष्टि से भी नाटकों पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

नाटक का प्रधान अङ्ग है चरित्र-चित्रण और व्यक्तित्व-प्रदर्शन। नाटकों में कवि का मुख्य उद्देश यह रहता है कि वह मानव-जीवन के रहस्य का उद्घाटन कर उसे शब्दों द्वारा स्पष्ट कर दे। परन्तु यह विशेषता सिर्फ़ नाटकों में ही नहीं पाई जाती।

महाकाव्य, नाटक और उपन्यास तीनों में ही मानव-चरित्र का चित्रण रहता है। पर इनमें परस्पर बड़ा भेद है। महाकाव्य में एक अथवा एक से अधिक मनुष्यों के चरित्र वर्णित होते हैं, परन्तु उन में चरित्र-चित्रण गौण रहता है। वर्णन ही कवि का मुख्य लक्ष्य होता है। अज-विलाप में इन्दुमती की मृत्यु उपलक्ष मात्र है। यह विलाप जैसे अज के लिए है वैसे ही अन्य किसी भी प्रेमिक के लिए उपयुक्त होसकता है। प्रियजन के वियोग से जो व्यथा होती है उसी का वर्णन करना कवि का उद्देश था। इन्दुमती की मृत्यु के उपलक्ष में कवि ने उसी का वर्णन कर दिया। उपन्यास में मनोहर कथा की रचना पर कवि का ध्यान अधिक रहता है। गल्प की मनोहरता उसकी विचित्रता पर निर्भर रहती है। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास दोनों की विशेषतायें रहती हैं। उसमें कवित्व भी होना चाहिए और मनोहरता भी। इसके लिए कुछ नियम बनाये गये हैं। सबसे पहला नियम यह है कि उसमें आख्यानवस्तु की एकता हो। नाटक का वर्णनीय विषय एक होना चाहिए। उसी को परिस्फुट करने के लिए उसमें अन्य घटनाओं का समावेश किया जाना चाहिए। यदि नाटक का मुख्य विषय प्रेम है तो प्रेम के परिणाम में ही उसका अन्त होना चाहिए। दूसरा नियम यह है कि उसकी प्रत्येक घटना सार्थक रहे। वे घटनायें नाटक की मुख्य घटना के चाहे प्रतिकूल हों अथवा अनुकूल, परन्तु उससे उनका सम्बन्ध अवश्य रहना चाहिए।

नाटकों में अलौकिक घटनाओं का भी वर्णन रहता है। जो लोग नाटकों में स्वाभाविकता देखना चाहते हैं उन्हें कदाचित् अलौकिक घटनाओं का समावेश रुचिकर न होगा। आधुनिक नाटककार इब्सन ने अपने नाटकों में अलौकिक घटनाओं को स्थान नहीं दिया है। प्राचीन हिन्दू-नाटकों में अलौकिक घटनायें वर्णित हैं। उदाहरण के लिए कालिदास का अभिज्ञान शाकुन्तल ही लीजिए। उसमें दुर्वासा के शाप से दुष्यन्त का स्मृति-भ्रम, शकुन्तला का अन्तर्धान, दुष्यन्त का स्वर्गारोहण,—सभी अलौकिक घटनायें हैं। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेतात्मा का दर्शन कराया जाता है। हिन्दूमात्र का यह विश्वास है कि मानव-जीवन में एक अदृष्ट-शक्ति काम कर रही है। उसी शक्ति का महत्व बतलाने के लिए अलौकिक घटनाओं का समावेश किया जाता है। शेक्सपियर भी यह अदृष्ट-शक्ति मानता था। उसने भी कहा है—There is a tide in the affairs of men अर्थात् मनुष्यों के जीवन में कभी एक ऐसी लहर उठती है जो उन्हें सफलता के सिरे पर पहुँचा देती है और निष्फलता के ख़ंदक में गिरा देती है। दूसरी बात यह है कि नाटकों में तत्कालीन समाज का चित्र अङ्कित रहता है। लोगों का जो प्रचलित विश्वास है उसका समावेश नाटकों में करना अनुचित नहीं। शेक्सपियर के समय में लोग प्रेतों के अस्तित्व पर विश्वास करते थे। उसी प्रकार कालिदास के समय में मुनियों के शाप पर लोगों का विश्वास था। अतएव जो नाटकों में यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं उनके लिए भी ऐसी घटनाओं का समावेश अस्वाभाविक नहीं हो सकता।

नाटक की एक विशेषता और है। उस में घटनाओं का घात-प्रतिघात सदैव होता रहता है। नाटकीय मुख्य चरित्र की गति सदैव वक्र रहती है। जीवन का स्रोत एक ओर बहता है। धक्का खाते ही उसकी गति दूसरी ओर पलट जाती है। फिर धक्का लगने पर वह तीसरी ओर बहने लगता है। नाटक में मानव-जीवन का यही रूप दिखलाना पड़ता है।

उच्चश्रेणी के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व दिखलाया जाता है। मनुष्यों के अन्तःकरण में सदा दो परस्पर-विरोधिनी प्रवृत्तियों के बीच युद्ध छिड़ा रहता है। यह बात नहीं कि सदा धर्म और अधर्म अथवा पाप और पुण्य में ही युद्ध होता हो, कभी कभी सत्प्रवृत्तियाँ भी एक दूसरे का विरोध करने लगती हैं। भवभूति के उत्तर राम-चरित में रामचन्द्र के दृश्य में दो सत्प्रवृत्तियों का ही अन्तर्द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया है। एक ओर राजा का कर्तव्य है और दूसरी ओर पति का कर्तव्य। आधुनिक नाट्यसाहित्य में इब्सन के एक नाटक An Enemy of the people में एक मनुष्य संसार की कल्याण-कामना से संसार ही के विरुद्ध लड़ा है।

पाश्चात्य नाटकों के दो विभाग किये गये हैं, ट्रेजेडी और कामेडी। ट्रेजेडी दुःखान्त नाटक को कहते हैं और कामेडी सुखान्त को। प्राचीन हिन्दू-साहित्य में दुःखान्त नाटक एक भी नहीं है। हिन्दू नाट्यशास्त्र के आचार्यों की आज्ञा थी कि नाटकों का अन्त दुःख में नहीं होना चाहिए। यदि नायक पुण्यवान है तो पुण्य का परिणाम दुःख नहीं हो सकता। पुण्य की जय और पाप का पराजय ही दिखलाना चाहिए। अधर्म की जय दिखलाने से डर रहता है कि लोगों पर उसका बुरा प्रभाव न पड़े, कहीं वे अधार्मिक न हो जायँ। हम इस नियम को अच्छा नहीं समझते। क्योंकि जीवन में हम प्रायः अधर्म ही की जय देखा करते हैं। यदि यह बात न होती तो संसार में इतनी क्षुद्रता और स्वार्थ न रहता। यदि धर्म की अन्तिम जय देखने से लोग धार्मिक हो जायँ तो धार्मिक होना कोई प्रशंसा की बात नहीं। हम तो यह देखते हैं कि संसार में जो धर्म का अनुसरण करते हैं, सत्पथ से विचलित नहीं होते, वे मृत्यु का आलिङ्गन करते हैं और असत्पथ पर विचरण करनेवाले सुख से रहते हैं। बात यह है कि धर्म का पथ श्रेयस्कर होता है, सुखकर नहीं। जो पार्थिव सुख और समृद्धि के इच्छुक हैं उनके लिए धर्म का पथ अनुसरण करने योग्य नहीं; क्योंकी यह पथ सुख की ओर नहीं कल्याण की ओर जाता है। नाटकों में धर्म का पराजय बतलाने से उसकी हीनता नहीं सूचित हो सकती। धर्म धर्म ही रहता है। दुःख और दारिद्र की छाया में रह कर भी पुरुष गौरवान्वित होता है। पृथ्वी में पराजित होने पर भी वह अजेय रहता है। कुछ भी हो, अब भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य में दुःखान्त नाटकों की रचना होने लगी है। इसमें सन्देह नहीं कि, कामेडी की अपेक्षा ट्रेजेडी का प्रभाव अधिक स्थायी होता है; इसलिए नाट्यशालाओं में इनका अभिनय अधिक सफलतापूर्वक हो सकता है। परन्तु आजकल दुःखान्त नाटकों का प्रचार कम हो गया है। कुछ समय पहले इंगलेंड में म्यूज़िकल कामेडी—जिसमें हँसी-दिल्लगी और नाच-गान की प्रधानता रहती है—का ख़ूब दौर दौरा रहा। अभी उनका अच्छा स्थान है ही।

हिन्दू साहित्यशास्त्रकारों ने यह नियम बना दिया है कि नाटक के नायक को सब गुणों से युक्त और निर्दोष अङ्कित करना चाहिए। कुछ विद्वानों की राय है कि यह नियम बड़ा कठोर है। इस से नाटककार का कार्य-क्षेत्र बड़ा संकुचित हो जाता है। किन्तु हिन्दू-साहित्य-शास्त्र में नाटक के नायकों को दोष-शून्य अङ्कित करने का जो विधान है उसका एक मात्र उद्देश यही है कि नाटकों का विषय महत् हो। यही कारण है कि प्राचीन संस्कृत नाटकों में राजा अथवा राजपुत्र ही नाटक के नायक बनाये गये हैं। नायकों के चार भेद किये गये हैं, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। इन नायकों में भिन्न भिन्न गुणों का प्रदर्शन किया जाता हैं। आधुनिक नाट्य-साहित्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है। अब तो मज़दूर, क़ैदी और पागल तक नायक के पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि अब नाटकों में व्यक्तित्व-प्रदर्शन पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

नाटक सभी काल और सभी देशों में लोक-प्रिय

होते हैं। कालिदास का कथन है—नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। अब तो नाटक जीवन की आवश्यक सामग्री बन जाने के कारण और भी अधिक लोकप्रिय हो गये हैं। लन्दन आधुनिक सभ्यता का एक केन्द्र स्थान है। वहाँ सैकड़ों नाटकशालायें हैं। हज़ारों लोगों का जीवन-निर्वाह उन्हीं से होता है। सभी नाटकघर सभी समय भरे रहते हैं। कुछ ऐसी नाटकशालायें हैं जहाँ दिन और रात में भी दो बार एक ही नाटक खेला जाता है। कहीं कहीं तो एक ही नाटक दो दो वर्ष तक खेला जाता है।

नाटकशालाओं में सभी तरह के खेल तमाशे दिखलाये जाते हैं। लन्दन में एक ऐसी ही नाटकशाला है। उसका नाम है Hippodrome, यहाँ दिन में दो बार खेल दिखलाये जाते हैं। प्रति दिन छः हज़ार से अधिक लोग तमाशा देखने के लिए जाते हैं। यह सिर्फ़ रविवार को बन्द रहती है। इस के सञ्चालक एच० बी० मास साहब का बड़ा नाम है। इन्हीं के एक साथी आसवल्ट स्टाल साहब हैं। स्टाल साहब को लोग नाटकशाला का नेपोलियन कहते हैं। संसार में सब से बढ़ा चढ़ा कारोबार इन्हीं का है। ग्रेटब्रिटन में उनकी २७ नाटकशालायें हैं। उनमें तरह तरह के तमाशे होते हैं। एक सप्ताह में पाँच लाख से अधिक लोगों का मनोरञ्जन उन्हीं से होता है।

खेलों में नवीनता होने से लोगों का अधिक मनोविनोद होता है। एक ही तरह के तमाशे देखते देखते लोगों का जी ऊब जाता है। इसीलिए लोगों के मन बहलाने के नये नये उपाय सोचे जाते हैं। मास साहब इसी लिए यूरोप और अमरीका में चक्कर लगा जाते थे। एक बार वे इसी मतलब से भारतवर्ष भी आये। भारत-भ्रमण के बाद आप ने अपने एक मित्र से कहा—लोगों का मनोरञ्जन करने में भारतवासी बड़े निपुण हैं। इस देश के बाज़ीगरों, सँपेरों और पहलवानों के अद्‌भुत कौशल देख कर चकित रह जाना पड़ता है।" इसके सिवा, योरप और अमरीका के बड़े बड़े नगरों में उन्होंने कुछ लोगों को एजन्ट बना रक्खा है। इनका काम है कि जहाँ उन्होंने किसी में कुछ कला-कुशलता देखी तुरन्त उससे काम लिया। यही कारण है कि लोग 'हिप्पोड्रोम' के तमाशों को इतना पसन्द करते हैं।

नाटकशालाओं का सञ्चालन किस प्रकार होता है, यह जानने के लिए हम 'हिप्पोड्रोम' की ही कार्य-प्रणाली पर दृष्टिपात कर लें।

'हिप्पोड्रोम' में काम करनेवालों के दो दल किये जा सकते हैं। एक तो वे जो पर्दे के भीतर काम करते हैं और दूसरे वे जो बाहर काम करते हैं। बाहर काम करनेवालों में नोटिस बाँटने वालों से लेकर मैनेजर तक शामिल हैं। रङ्गमञ्च के लिए एक दूसरा ही मैनेजर होता है। उसे स्टेज-मैनेजर कहते हैं। हिप्पोड्रोम में पर्दे के बाहर १५० आदमी काम करते हैं और भीतर १७०।

जो मैनेजर बाहर रहता है उसकी सहायता के लिए दो और आदमी रहते हैं। रुपये-पैसे का हिसाब-किताब उन्हीं के जिम्मे रहता है। ये लोग रङ्गभूमि में इधर उधर टहलते रहते हैं। दर्शकों को यदि कोई असुविधा हुई तो तुरन्त ही जाकर वे उसे दूर कर देते हैं। आँख तो इनकी दर्शकों की सुविधा पर रहती है, पर हाथ दर्शकों की नब्ज़ पर रहता है। ये तुरन्त ताड़ जाते हैं कि कौनसा खेल उन्हें रुचिकर हुआ।

मैनेजर के लिए यह भी आवश्यक है कि वह बहुभाषाविज्ञ हो। लन्दन में योरप के सभी देशों के लोग आते जाते रहते हैं। कम से कम फ्रेञ्च, इटालियन, जर्मन और रशियन भाषा का तो अवश्य ज्ञान होना चाहिए।

नाटकशाला में स्टेज मैनेजर का पद सब से अधिक महत्त्व का है। क्योंकि नाटक का सारा दारमदार उसी पर रहता है। वही रङ्गभूमि का सब प्रबन्ध करता है। खेल को चित्ताकर्षक और प्रभावोत्पादक बनाना उसी का काम है। उसके अधीन काम करने वालों में मास्टर कार्पेन्टर का काम बड़े महत्त्व का होता है। स्टेज के सभी सामान, सीन, सीनरी से लेकर मेज़-कुर्सी तक, उसी की देख भाल में तैयार होते और दुरुस्त किये जाते हैं।

आज कल के रङ्गमञ्च पर तरह तरह के दृश्य दिखाये जाते हैं। इसके लिये ख़ूब ख़र्च किया जाता है। एक बार सिर्फ़ एक कोच के बनाने में ही एक हज़ार पौण्ड ख़र्च किया गया था। यह गाड़ी काँच की बनाई गई थी और उस
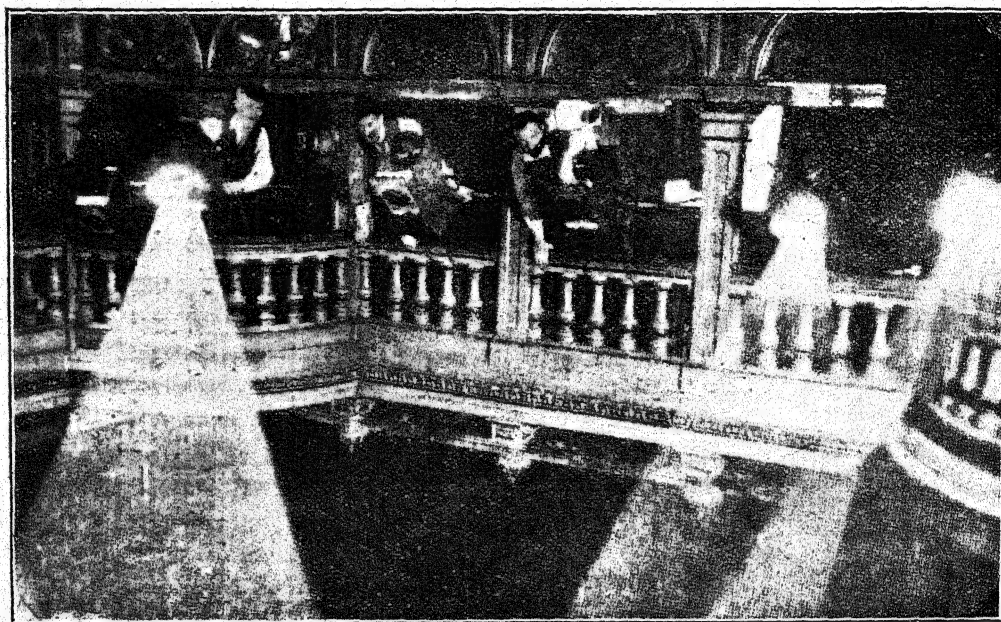
गेलेरी जहां से प्रकाश डाला जाता है।
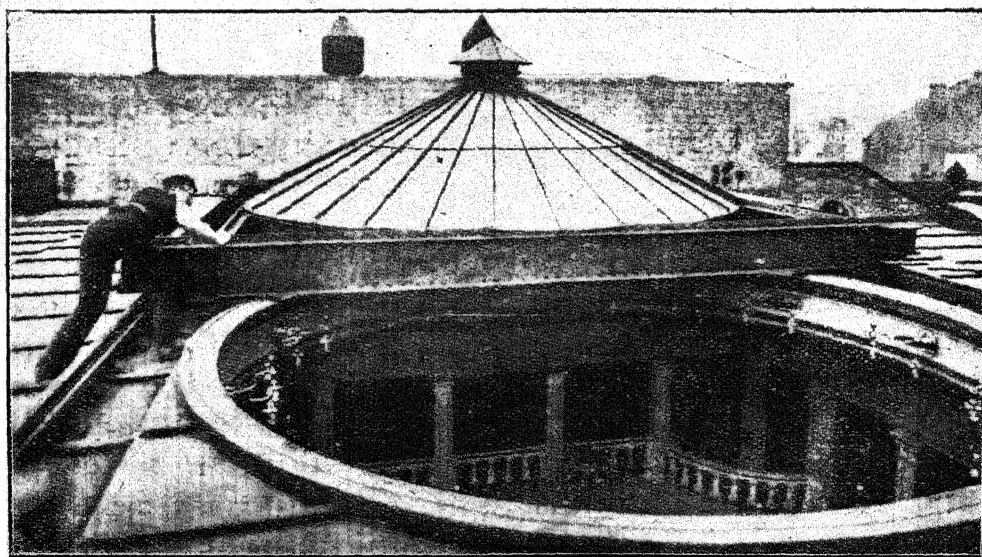
थियेटर की छत हटाई जा रही है।

में बिजली के लेम्प लगाये गये थे। गाड़ी ऐसी दीप्तिमय हो रही थी कि मानों सचमुच स्वर्गीय रथ हो। दृश्यों को प्रभावोत्पादक बनाने और उनमें स्वाभाविकता लाने के लिए उन पर भिन्न भिन्न वर्णों के प्रकाश डाले जाते हैं। इस के लिए एक गेलेरी बनी रहती है। वहीं से रङ्गभूमि पर प्रकाश डाला जाता है। कुछ समय से पाश्चात्य देशों के रङ्गमञ्चों पर प्राच्य देश के दृश्य ख़ूब दिखलाये जाने लगे हैं। सरस्वती के पाठक अभी भूले न होंगे कि इंगलेंड में कुछ समय पहले सती-दाह का दृश्य दिखलाने के लिए कितना आन्दोलन मचा था। अभी हाल में जिन नाटकों को ख़ूब सफलता हुई है उनमें 'बेलाडोना, 'किसमत', 'मिस्टर बू' आदि नाटक प्राच्य देशों से भी सम्बन्ध रखते हैं।

पर्दों का झमेला।

रङ्गमञ्च पर प्राच्य देशों का यथार्थ दृश्य दिखलाने के लिए लोग इन देशों में जाकर फ़ोटो लेते हैं, पोशाक संग्रह करते हैं और ऐसी चेष्टा करते हैं कि दृश्य बिलकुल स्वाभाविक हो। रङ्गभूमि में दृश्य-परिवर्तन बड़ी सावधानी से किया जाता है। पर्दों का ऐसा झमेला रहता है कि अगर थोड़ी सी भूल हुई तो रङ्गभूमि में कुछ का कुछ हो जाता है। स्टेज-मैनेजर का ध्यान इस पर सदा बना रहता है।
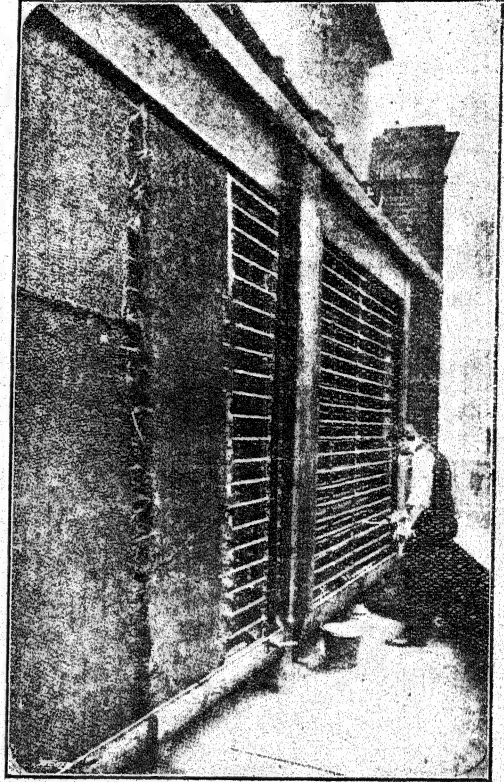
वेण्टिलेटिंग एपरेटस।

नाट्यकला में प्रवीणता प्राप्त कर लेना सब का काम नहीं है। किसी किसी में तो यह जन्मसिद्ध प्रतिभा होती है, परन्तु कुछ लोग शिक्षा और अनुभव से भी अच्छी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। जो थियेटर का मैनेजर होता है उसमें इतनी बुद्धि होनी चाहिए कि वह सच्ची योग्यता परख ले। हिप्पोड्रोम के मैनेजर के पास हज़ारों लोगों की अर्ज़ियाँ आती हैं। उनमें से वे उन्हीं लोगों को चुन लेते हैं जिनमें कुछ विशेषता पाते हैं। जो नाट्यकला में प्रवीण होते हैं उनकी आमदनी भी अच्छी होती है।

नाटकशाला में छोटे छोटे बच्चे भी नियुक्त किये जाते हैं। इन्हें प्रति सप्ताह एक पौण्ड तक मिल जाता है। बाल्यकाल से रङ्गभूमि में शिक्षा पाते रहने के कारण इनमें से अधिकांश नाटककला में बड़े प्रवीण हो जाते हैं। परन्तु कुछ लोग नाटक-शालाओं में बच्चे की नियुक्ति के बड़े विरोधी हैं। इंगलेंड में एक क़ानून भी बन गया है जिससे कम उम्र के लड़के नाटकघरों में नहीं लिये जाते।

यह तो हम कह आये हैं कि नाटकशालाओं में दर्शकों की सुविधा का ख़ूब ख़याल किया जाता है। जो पूरे अप-टू-डेट थियेटर होते हैं उनकी छत ऐसी बनी रहती है कि जब चाहे तब उसे हटा लें। जब आकाश स्वच्छ रहता है तब वह हटा दी जाती है जिससे दर्शकों को स्वच्छ वायु मिलती रहती है। नाटकशाला में ऐसा भी प्रबन्ध किया जाता है कि जैसी ऋतु हो उसी के अनुकूल हवा दर्शकों को मिले। हवा के प्रवेश द्वार पर ventilating apparatus रहता है। इसी में से हो कर हवा भीतर जाती है। गर्मी के दिनों में वह ठण्ढी कर ली जाती है और ठण्ड में गर्म।

कभी हमारे देश में नाटकों का बड़ा आदर था। नाटक खेलने वाले नट और नटियों की अच्छी प्रतिष्ठा की जाती थी। इतना ही नहीं, उच्चकुल के स्त्री-पुरुष भी नाट्यकला में प्रवीणता प्राप्त करने के लिए चेष्टा करते थे। उन्हें अभिनय-कला की शिक्षा देने के लिए योग्य शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक से ये सब बातें विदित होती हैं। अब नाटककला का पुनरुद्धार हो रहा है। महाराष्ट्र और बङ्गाल में अच्छी अच्छी नाटकमण्डलियाँ हैं और उनमें अच्छे अच्छे नाटक खेले जाते हैं। सम्भव है, कभी हिन्दीनाटकों के लिए भी एक अच्छी नाटक-मण्डली स्थापित हो जाय और हिन्दी में उच्च श्रेणी के नाटक निकलने लगें। अभी तो वह समय दूर जान पड़ता है।

कमलाकान्त मिश्र

अरबों में ज्ञान-चर्चा।

ज्ञान किसी जाति-विशेष की सम्पत्ति नहीं। समय समय पर सभी जातियों ने ज्ञान की अभिवृद्धि की है। आज जो जाति सुसभ्य कही जाती है और जो दूसरों को अर्ध-शिक्षित और असभ्य समझती है उसमें सभ्यता का विकाश इन्हीं असभ्य जातियों की बदौलत हुआ। काल का परिवर्तन तो है। जो कभी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया था वह आज अधः-पतित है और जिन की कभी दीन अवस्था थी वे उन्नति के शिखर पर चढ़े हुए हैं। अरबों ने भी कभी विज्ञान की अच्छी तरक्क़ी की थी। उन की ज्ञान-चर्चा के विषय में अध्यापक योगेशचन्द्र दत्त ने एक लेख लिखा है। नीचे हम उसीका सारांश देते हैं।

ख़लीफ़ा अली के वंशजों से छीन कर माविया-ने सीरिया पर कैसे अधिकार कर लिया और वहाँ उम्मिया वंश का आधिपत्य कैसे स्थापित किया, यह इतिहासज्ञ भली भाँति जानते हैं। इसी माविया ने दमिश्क़ में राजधानी स्थापित की। कुछ काल तक इसके वंशधरों ने राज्य किया। अब्बासी राजवंश ने इनका आधिपत्य हटा दिया और अपना प्रभुत्व बढ़ाया। इस वंश के द्वितीय ख़लीफ़ा अल-मंसूर ने दमिश्क से राजधानी हटा कर बग़दाद में कर दी। अरबों की विज्ञान-चर्चा के मुख्य स्थान दमिश्क और बग़दाद ही थे।

अमीर अली का कथन है—The accession of the ommeyads to the rulership of Islam was a blow to the progress of knowledge उम्मिया वंश के शासन-काल में मुसलमानों में ज्ञान का प्रसार नहीं हुआ। इस वंश के संस्थापक माविया ने असत्पथ से राज्य-लाभ किया था।

परन्तु इसी वंश के ख़लीफ़ा उमर का आधिपत्य होने पर विद्या को ख़ूब प्रोत्साहन मिला। उसने विलासिता में ही अपना जीवन व्यतीत किया। उस के समय में एलेक्ज़ेंड्रिया का स्थान एंटियाक और हारान ने लेलिया। यही शिक्षा के केन्द्र होगये। इब्न अरबज़ार अलेक्ज़ेंड्रिया में ग्रीक दर्शन का अध्यापक था। उसे ख़लीफ़ा उमर ने चिकित्सा-विभाग में सब से उच्च पद पर रक्खा।

हारान के निवासी ग्रीक और अरबी दोनों ही भाषाओं में निपुण होते थे। उन के ही कारण ग्रीक-सभ्यता और भाषा का प्रभाव अरबी भाषा पर पड़ा। फिर भी उम्मिया के शासनकाल में विद्या की उन्नति अवरुद्ध थी। ख़लीफ़ा युद्ध में लिप्त रहते थे। विद्वानों का मान होता था। अबूबक्र, उमर और अली के वंशजों ने अरब देश का नाम रख लिया।

अब्बास वंश के अलमंसूर ने सिंहासनारूढ़ होने पर बग़दाद को राजधानी बनाया। तब से बग़दाद ही विद्या का केन्द्र होगया। शिल्प, वाणिज्य और विज्ञान की उन्नति में बग़दाद का ही सब से ऊँचा स्थान है। अब्बास वंश के शासन-काल में मुसलमानों का राज्य खण्ड खण्ड होगया। पश्चिमी अफरीका तो बिलकुल ही स्वतन्त्र होगया। इस घराने के नरपति साम्राज्य-विस्तार की लालसा छोड़ कर विज्ञान की ही उन्नति में लगे। अलमंसूर को विद्या से बड़ी अभिरुचि थी। उसके समय में भिन्न भिन्न भाषाओं से अनेक ग्रन्थ अरबी में अनुवादित हुए। हितोपदेश और सिद्धान्त नामक एक ज्योतिष-ग्रन्थ के अनुवाद उसके ही समय में हुए। अरिस्टाटिल के कुछ ग्रन्थ, टालेमी का आलमेजस्ट (Almagest), यूक्लिड का ज्यामिति शास्त्र और प्राचीन ग्रीक तथा फ़ारसी भाषा के अन्य ग्रन्थ भी अनुवादित हुए।

अलमंसूर स्वयं विद्वान् था। अलङ्कारशास्त्र में वह बड़ा प्रवीण था। इन अनुवादों को वह स्वयं पढ़ा करता था। उसके बाद भी जितने ख़लीफ़ा हुए सभी विद्या के प्रेमी थे। अब्बासी राजघराने के छठे ख़लीफ़ा हारूनुर्रशीद की बड़ी प्रसिद्धि है। उसकी राजसभा में अनेक विद्वान् थे। उनका ख़ूब आदर होता था। शिल्प और विज्ञान की उन्नति में उसने ख़ूब ख़र्च किया। वह सङ्गीतज्ञों का भी मान करता था। उन्हें उपाधि तक देता था और उनकी जीविका का भी प्रबन्ध करता था। इससे उसके समय में सङ्गीत की भी अच्छी उन्नति हुई।

इसके बाद मामूँ ख़लीफ़ा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके समय में अरब की सभ्यता और विद्या उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई। एक अँगरेज लेखक ने कहा है—In the middle ages the Arab were sole representative of civilisation They opposed the barbarism which spread over Europe; far from resting with acquired treasure they opened up new ways to the study of nature. अर्थात् मध्ययुग में अरब वाले ही सभ्यता के मुख्य प्रतिनिधि थे। उन्होंने ही योरप की असभ्यता दूर की। वे अन्य जातियों से ज्ञान प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने स्वयं विज्ञान के नये नये पथ निकाले।

दूसरी जगह इसीने यह लिखा है—The greater part of Greek erudition which we have to-day from those sources (Sciences and letters of antiquity) we received first from the hands of Arabs. अर्थात् ग्रीक-विज्ञान का भी अधिकांश हमें अरब वालों से ही प्राप्त हुआ।

मामूँ का राजत्वकाल ज्ञानयुग कहा जाता है। उसके समय में टालेमी (Ptolemy) के आलमेजस्ट

का एक दूसरा अनुवाद हुआ। हिन्दू ज्योतिष शास्त्र पर टीका लिखी गई। चिकित्सातत्त्व, आलोकतत्त्व, वायुतत्त्व, दर्शन, ज्यामिति आदि विषयों पर अनेक ग्रन्थ रचे गये।

अबु मेज़र ने ज्योतिष-विज्ञान में अच्छी गवेषणा की। उसके ग्रन्थ से आधुनिक ज्योतिष-शास्त्र में कितने ही तत्त्व लिये गये हैं।

अबुल हुसेन ने दूरबीन का आविष्कार किया था।

ज्योतिर्विदों में अल बदानी का बड़ा ऊँचा स्थान है। लैटिन में उसके ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था और उसी के आधार पर योरप का ज्योतिष-शास्त्र स्थित है। त्रिकोणमिति और ज्योतिष-शास्त्र में सीन और को-सीन (Sine and Co-sine) का प्रचार सब से पहले उसीने किया।

ज्ञान का प्रवाह स्मरणातीत काल से बहता चला आ रहा है। न उसका आदि है और न उसका अन्त। यह कहना अत्यन्त अनुचित है कि बस यह इतना ही है, इसके आगे हम नहीं जा सकते। ज्ञान के मार्ग में हठ और दुराग्रह ही सब से प्रधान बाधक हैं। जो हठ करते हैं वे पीछे रह जाते हैं। अन्धविश्वास छोड़ कर सत्य का अन्वेषण ही हमारा प्रधान लक्ष्य होना चाहिए—"तस्मात्प्रवर्तय सखे सततं परीक्षाम्"।

गुलाम क़ादिर

क़ैदी।

(१)

मैं ने ज़रा ज़िद से कहा—"आज यह सुनाना होगा।"

उसने कहा—"मुझे ख़ूब याद है, असौज का महीना था। उस समय मेरी आयु कोई ८ वर्ष की होगी। महल्ले में रामलीला हुआ करती थी। एक दिन शाम को पिता जी के साथ एक लंबा सा मज़बूत पुरुष बेड़ियाँ पहने छम छम करते हमारे घर आया। हमें क़ैदियों से घिन न थी। पिता सेंट्रल जेल के बड़े बाबू या जेलर थे। हमारे घर का सब काम क़ैदी ही किया करते थे। छम छम करते वे हमारे घर में उसी तरह स्वच्छन्दता से इधर उधर घूमते थे जिस तरह चुनुआ मुनुआ कहार सब हमारे घर में घूमते हैं। उनमें से अनेक अपने पिछले जीवन की रहस्य-पूर्ण घटनाएँ हमें सुनाया करते थे। पिता जी आज जिस क़ैदी को साथ लाये थे उसे देख कर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। बात यह है, क़ैदियों के चेहरे पर एक तरह की भयङ्करता, उनकी आँखों में एक तरह की बुरी चपलता होती थी—उन दिनों इन बातों का ज्ञान न था, पर देखते देखते ऐसा अभ्यास होगया था कि जहाँ ये बातें न मिलती थीं तबीयत खटक जाती थी। किन्तु उस क़ैदी के मुख पर शान्तभाव था, उसके बड़े बड़े नेत्र उज्ज्वल थे, इन दो चीज़ों ने उसके लंबे और गठे हुए शरीर को प्रियदर्शन कर दिया था। इसी लिए उसे क़ैदी के रूप में देखकर मुझे आश्चर्य्य हुआ। पिताजी ने कहा—खड्गसिंह, तुम इसे अपना घर समझो। सिर्फ़ रात को तुम्हें जेल में सोना पड़ेगा, दिन में तुम अपने इस घर में आनन्द से रहो और जो चाहो काम करो, न करो। यह कह कर पिताजी बाहर चले गये। खड्गसिंह ने रसोई में झाँककर देखा, माताजी आलू छील रही थीं। उसने कहा 'माताजी, आप बाहर आइए अब तुम्हें काम देखना पड़ेगा, ठीक होता है या नहीं, करना न पड़ेगा। अब आपका यह नौकर काम करेगा।' माता ने भोजन बनाने के लिए आग्रह किया किन्तु उसने एक न मानी। माता बाहर आगईं, क़ैदीराम हाथ पाँव धोकर झन झन करते चौके में जा बैठे। मेरा जी न माना, मैं पास जा बैठी और उसका काम देखने

लगी। एक घंटे में उसने बड़ी सफ़ाई से भोजन बना दिया। भोजन बनाने का उसे खूब अभ्यास था। माता भी भोजन अच्छा बनाती थीं किन्तु उनसे उनका काम मुश्किल से दो घंटे में होता। बाद को उसने मुझसे कहा–बिटिया, आध सेर मोटा आटा ले आ। मैंने कहा–हमारे यहाँ मोटा आटा नहीं है, बारीक ही आता है। उसने हँसकर कहा–मोटे नाज का आटा—मकई का या बाजरे का। इसी समय माता ने एक थाली में गेहूँ का आध सेर आटा चौके में रख दिया। मैंने कहा—हमारे यहाँ यह कुछ नहीं है, गेहूँ का ही आटा आता है। अच्छा तो यही सही कह कर उसने उस आटे के चार मोटे मोटे पराँठे तैयार कर लिये।

शाम को पिता जी ने भोजन किया, कहने लगे–'खड्गसिंह, भाई तुम बड़ा अच्छा भोजन बनाते हो। तुम्हारे ठाकुर साहब परसों आये थे, तुम्हारा सब इतिहास सुनाते थे; कहते थे कि जिस दिन से तुम आये हो उनका पेट नहीं भरता। अब तुम्हें रोज़ यह काम करना पड़ेगा। जिसमें जो गुण होता है वही उसे दुख देता है और दिलाता है। मैना को सब पालते हैं, कौवे को कोई नहीं पकड़ता। पर एक बात है, कल से भोजन एक सा बनेगा, सब एक सा भोजन करेंगे। अपने पाप-जीवन के अशान्त समुद्र में मैंने यही तो एक प्रकाश-स्तम्भ खड़ा किया है। पाप की कमाई को बाँट कर खाता हूँ। यह नहीं होगा हम पूरी खायँ और तुम पराँठे और वह भी ऐसे मोटे और सूखे रूखे। यहाँ कमी किस बात की है। शैतान की कृपा से सब कुछ है। रसद ठेकेदार के ज़िम्मे है, खर्च से ज़्यादा वह भेज देता है। फल, शाक, लकड़ी जेल के बाग़ से आती हैं। तब जैसा हम खायँ वैसा तुम क्यों न खाओ।'

खड्गसिंह ने कहा–जैसा हुज़ूर का हुक्म होगा वैसा ही करूँगा।

पिता ने कहा—भाई खड्गसिंह, जेल के अहाते के भीतर हम हज़ूर हैं तुम कैदी हो, किन्तु भगवान् के दरबार में तुम दूसरे के लिए कष्ट उठाने वाले हज़ूर हो और हम रिश्वतखोर बेईमान कैदी हैं या उनसे भी गये गुज़रे हैं। वहाँ का क़ानून मालूम नहीं क्या है। ख़ैर, इन परमार्थ की बातों को जाने दो। हाँ तो जेल के अन्दर हम हज़ूर तुम कैदी और यहाँ घर में हम तुम भाई भाई। मुझे तुम्हारे स्वामी ठाकुर साहब से तुम्हारा पूरा परिचय मिल गया है। वह मुझे पचास रुपये देने लगे कि तुम्हें कोई कष्ट न हो। मैंने उनका धन सधन्यवाद लौटा दिया और कहा–आपने मुझे बिना जाने ईश्वर की प्रेरणा से एक ऐसा आदमी दे दिया है जिसकी मुझे बरसों से तलाश थी। आप बे फ़िक्र रहिए। आपके खड्गसिंह को कष्ट न होगा। हाँ, तो हम तुम भाई भाई हुए, कहो हुए? 'हुए?'

(२)

रात को सोते समय मेरी माता ने पूछा—क्यों जी, आज इस कैदी से तो तुमने सचमुच दोस्ती ही करली। जो हम खायँगे वही वह खायगा यह तो मेरी समझ में आगया। किन्तु घर में हम भाई भाई हैं यह क्या बात हुई। जान न पहचान, एक कैदी है, उससे भाई-चारा कैसा। यह मेरी समझ में न आया, इस पर इतनी कृपा क्यों है। बेचारा घसीटा कैदी दिन भर काम करता है, चौका लीपता है, बरतन माँजता है, पानी भरता है, उससे तो कभी सीधे मुँह बोलते भी नहीं, सदा अबे तबे करते रहते हो और इस पर इतने दयालु होगये कि घर सौंप दिया और भाई बना लिया!

पिताजी ने करवट बदल कर कहा–रानी साहब, आदमी आदमी में बड़ा भेद है। लाखों पत्थरों में कभी एक हीरा हाथ लग जाता है। इन बातों को तुम न समझो और न समझना चाहो। घसीटा जिसके यहाँ नौकर था उसी के यहाँ सेंध लगाकर कुल माल निकाल ले गया था और मज़ा

यह कि अपने घर में ही दाब कर दूसरे दिन यथा-नियम और यथा-समय नौकरी पर हाज़िर हो गया था। उसकी वह वृत्ति अभी गई थोड़े है। उस दिन मैंने बाग़ से ५० सन्तरे भेजे, घर आकर देखा तो ४५ ही थे। उसने समझा बाबू ने गिन कर थोड़े दिये हैं, ५ खा गया। मैंने समझा-चोरी में से चोरी की कौन बुरा हुआ: जाने दो। वह जहाँ का पुर्ज़ा है वहीं लगा हुआ है, विपरीत स्थान पर लगाने से न मशीन का कल्याण है न पुर्ज़े का। रहा खड्गसिंह, उसके लिए मैं यहाँ तक तैयार हूँ कि अपनी ज़िम्मेदारी पर उसे खुला घूमने दूँ और वह कहे तो बेड़ियाँ भी काट दूँ पर डर यह है कि यदि कोई मेरे ऊपर को लिख देगा तो ज़रा मुश्किल होगी। उस पर इतना विश्वास यों ही नहीं है। नींद न आती हो तो उसका कुछ वृत्तान्त सुना दूँ ?

माता ने कहा—मैं तो झूठी कहानियाँ पढ़ने में नींद गवाँ देती हूँ, यह तो सच्ची बात है, इसे अवश्य सुनूंगी।

(३)

पिताजी ने कहा—एक पुराना पापी, जो साधू के रूप में सैकड़ों को ठगा करता था, एक बार फँस गया और अन्त में वह तीर्थ-जेल में आया। आदमी खूब था। कुछ पढ़ा लिखा भी न था। उसकी बातों में ठग वृतान्त-माला का मज़ा मिलता था। मैंने उसे हल्का काम दे दिया था। एक दिन बातों बातों में उसने एक मार्के की बात सुनाई, कहने लगा—बाबू, बाबा गोरखनाथ के एक हज़ार शिष्य प्रकाश हैं तो दस हज़ार गुप्त हैं। जो गुप्त हैं उनकी कुछ न पूछो। एक एक गुप्त पर सौ सौ प्रकट निछावर हैं। जिस प्रसङ्ग में उसने यह बात कही थी तुम्हें न सुनाऊँगा, किन्तु मार्के की बात का जो अर्थ मैं ने किया है उसे सुनाता हूँ। क्यों नींद आने लगी ?

'नहीं तो।'

'यों समझो, दुनियाँ में सौ धूर्त प्रकट हैं तो दस हज़ार गुप्त हैं। ये गुप्त प्रकट धूर्तों से कहीं भयानक हैं जिनके अपराधों पर दण्ड की मुहर की गई है। और जो जेल में एकान्त सेवन कर रहे हैं उन्हें हम बुरी दृष्टि से देखते हैं, उन्हें पापी समझते हैं। किन्तु ये पापी हम से एक दम बोझल हैं। ये अपना पाप-भार बहुत कुछ यहीं हल्का कर जाते हैं। दूसरी ओर हम जैसे सफ़ेदपोश हैं, जो लोगों की आँखों में धूल झोंक कर अपने पाप-भार को रोज़ बढ़ा रहे हैं। घसीटा ने मालिक के यहाँ चोरी की। सौभाग्य से वह फँस गया और कुछ दिनों के लिए यहाँ भेज दिया गया। सब जान गये घसीटा चोर है और भयानक चोर है। किन्तु अब उसके स्वरूप को जान कर सब सावधान हो गये। उसके पाप के मार्ग में एक बड़ा विघ्न खड़ा हो गया। किन्तु दया के पात्र तो हम हैं जिनका पाप-मार्ग खूब प्रशस्त है, जिनके पाप-मार्ग पर बुद्धि के न बुझने वाले दीपक जल रहे हैं, जिन के प्रकाश में हम लोग रात दिन अपना काम बड़ी आसानी से करते रहते हैं। मुझे ही देखो और अपने भारी भारी गहनों को देखो। मैं कितना सरकारी माल हज़म कर चुका हूं। बड़ी बड़ी रिश्वतें तुम्हारे खूबसूरत गहनों में छिपी हुई हैं, किन्तु बाबा गोरखनाथ की ऐसी कृपा है कि उनके गुप्त चेले मुझ से कोई आँख नहीं मिला सकता। बेचारा रामचन्द्र दो आने की भूल पर बर्खास्त हो गया! मालगोदाम के बड़े बाबू के यहाँ से परसों वसुमती के जो बारीक चावल आये थे वे कैसे मज़ेदार थे। तुमने तो भगवान् को भोग लगा कर उन्हें शुद्ध कर लिया था किन्तु मुझे तो मालूम था, बड़े बाबू ने किस धूर्तता से उन्हें चुरवाया था। परसों हमारी मण्डली के सब-रजिस्टार साहब फ़र्मा रहे थे कि बन्दा तो सरकारी फ़ीस से सवाई घूस वसूल करता है और इस तरकीब से चलता है कि

राजा भी खुश और प्रजा भी खुश, हर साल डिपार्टमेंट से तरक्की पाता है और तबादले पर दोस्तों से दावतें। समझीं, ये सब दस हज़ारी हैं। इन के बोझ का क्या ठिकाना है। ग़रीब घसीटा तो उस शतक में है जिसके मेम्बर अपना भार बहुत कुछ यहीं हल्का कर जाते हैं। घसीटा जैसे सौ प्रकट पापी इकट्ठे किये जायँ तो कहीं एक गुप्त पापी के बराबर हों। मैं तो कहता हूं, फिर भी गुप्त गुप्त ही हैं। पुराने पापी ने क्या अच्छा कहा था, सौ प्रकट शिष्य एक गुप्त पर निछावर हैं। कहो, प्रकट शिष्य के सूत्र पर गुप्त शिष्य का भाष्य कैसा रहा ?'

'खूब रहा, मगर वह बात तो सुनाई नहीं, ये बातें ले बैठे।'

'सुनना है तो बिना कान पूँछ हिलाये सुने जाओ, नहीं तो बन्दा भी सोता है।'

(४)

पिता जी ने कहा—उस दिन ठेकेदार का लड़का मर गया था, उस के तीजे में गया था। ख़राब माल देकर बेचारे ने सरकार से मेरी मार्फ़त सदा खरे दाम वसूल किये हैं। इसी लिए तो ६०, ७०, महीने की मुझ से कसर खाता है। अपना भाई ठहरा, उस के दुख-दर्द में जाना ज़रूरी था। लौटती बार देखा कि चौक में एक सन्यासी महाराज व्याख्यान दे रहे थे। मैंने कहा, बिना टिकट का तमाशा ज़रूर देखना चाहिए, खड़ा हो गया, बहुत देर तक उनका व्याख्यान सुनता रहा। मुझे तो उन के सारे व्याख्यान में एक ही बात काम की मालूम हुई। बात—पाप-पुण्य की पहचान यानी कर्म की पहचान बहुत सूक्ष्म है। तुम जानती हो, मैं बात तो सब की सुन लेता हूं किन्तु उस पर भाष्य अपना ही करता हूं। दूसरों की बात मुझे पसन्द होती है, भाष्य प्रायः पसन्द नहीं होता। इस बात पर स्वामी जी का भाष्य भी मुझे पसन्द न हुआ। अब मेरा अपना भाष्य सुनो।

मैं ने तुम्हें प्रसन्न करने के लिए, और ख़ास कर इस लिए कि तुम मेरी सेवा और अच्छी तरह करो, प्यार किया और घूस के धन से ख़रीद कर कुछ उपहार दिया—यह पाप है। चोर ने मेरे घर में चोरी की और पाप के धन को ठिकाने लगाया—यह पुण्य हो गया। मैं ने मित्र को दावत की और बाद को दावत का ख़र्च मुझे खटका, यह पाप है। मेरे मित्र ने अपना रुपया मुझ से पहले तो यौंहीं माँगा और बाद को नालिश करके वसूल कर लिया, यह पुण्य है—गहना कर्मणो गतिः।

माता ने टोका, 'ये सब बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। खड्सिंह की बात सुनाओ। टोकती हूं तो बुरा मानते हो।'

'खड्गसिंह के जीवन चरित की इसे भूमिका समझो। अब चरित आरम्भ होता है।'

(५)

पिता जी ने कहा—चन्दनपुर के ठाकुर रामबख्श सिंह जैसे बड़े ज़मींदार हैं वैसे ही कट्टर हैं। किसी आसामी को भला बुरा कह रहे थे। सब आसामियों की वैसी बुद्धि भी नहीं रही है। कहीं कहीं तो मिशनरियों की हवा से कुछ की कुछ हो गई है। उस ने भी जवाब में कोई साफ बात कह दी। ठाकुर साहब को गुस्सा आ गया। आना ही चाहिए। कमज़ोर पर गुस्सा न करना एक बड़ा नैतिक पाप है। सब भलेमानस इस पाप से बचने का प्रयत्न करते हैं। ठाकुर साहब ने न आव देखा न ताव, अपनी लाठी का और उसके सिरका संयोग कर दिया। यह सब उसका सम्मान बढ़ाने के लिए किया गया था। किन्तु दुष्ट सिर की देखिए कि ज़रा सी बात पर फट गया। ग़रीब का सिर था उस में इतनी अक्ल कहाँ कि ठाकुर साहब के हाथ की ख़ास लाठी का मूल्य जानता और उस के स्पर्श को अपने सौभाग्य

की सूचना समझता। आसामी लम्बा लम्बा लेट गया। मूर्ख था, ठाकुर साहब के चरणों पर जा गिरा और वहीं ढेर हो गया। यह दृश्य देख कर सब के तोते उड़ने लगे। ठाकुर साहब के वे मित्र, जो कुछ खाने पीने की फ़िक्र में मक्खियों की तरह उन्हें घेरे रहते थे, उठने लगे। किसी के पेट में दर्द उठ आया, किसी से वह दृश्य देखा नहीं गया, कोई पट्टी लेने के लिये गया और छू हो गया। घर में समाचार पहुंचा तो कुहराम मच गया। आसामी के मर जाने की और ठाकुर साहब के फाँसी पाने की कल्पना ने घर की स्त्रियों को परेशान कर दिया। खड्गसिंह ठाकुर साहब का निज का नौकर था। वह ख़ुद कहा करते थे, जितना मुझे खड्गसिंह पर विश्वास है, अपने पुत्र पर भी नहीं है। उस ने ठाकुर साहब को घबराया हुआ देख कर कहा—ठाकुर साहब, इस दास पर आप बड़ा विश्वास करते हैं। दो कौड़ी के इस नौकर को आप बीस बीस हज़ार की रक़म सौंप देते हैं। अब सेवा का समय आ गया है। आप इस पाप की हल्की रकम को मेरी सपुर्दगी में देकर बे फ़िक्र हो जाइए। पुलीस से साफ़ साफ़ कह दीजिए, खड्गसिंह ने इसे मारा और उसी की लाठी से इसका सिर फटा। पहले तो ठाकुर साहब ने यह बात न मानी, कहने लगे, अपने सिर का पाप दूसरे के सिर पर कैसे रक्खूँ। किन्तु धनवालों के यहाँ धर्म्म का सूक्ष्म तत्त्व समझाने वाले और देश-काल का रहस्य बतलाने वाले महा पुरुषों का अभाव नहीं होता। उन्होंने बेचारे भोले ठाकुर साहब को ऐसा करने के लिए मजबूर कर दिया, ख़ुद तो वह कभी न करते।

मुक़दमा चला। आसामी के बार बार कहने पर भी कि मुझे खड्गसिंह ने नहीं मारा, खास ठाकुर साहब ने अपने ख़ास हाथ और लाठी से मेरा बद क़िस्मत सिर फोड़ा है, न्याय-मूर्ति डिप्टी साहब ने खड्गसिंह के अपने बयान पर उसे दो साल की सज़ा कर दी। दुष्ट लोग कहते हैं, डिप्टी साहब ठाकुरसाहब की दी हुई अनेक चीज़ें आज भी बड़े आदर से बर्त रहे हैं। उनका दिया हिसार की भैंसों का जोड़ा आज भी उनके यहाँ दूध की नदियाँ बहा रहा है। क्या अच्छा होता यदि दूध की सफ़ेदी का प्रवेश उनकी कीर्ति में हो सकता!

(६)

उसने कहा—दो साल बात की बात में कट गये। खड्गसिंह ने हमारे घर को आदर्श घर बना दिया। जो काम पहले चार पैसा में होता था अब दो पैसे में होता था और उससे अच्छा होता था। घर के बच्चे उसे ही अपना हितू समझते थे, वही उन्हें खिलाता पिलाता था। रुपया पैसा गहना कपड़ा सब उसके हाथ में था। मातापिता ऐसे बे फ़िक्र थे, कुछ ख़बर ही न थी क्या है और क्या नहीं है। हम सब उसे काका कहते थे। आख़िर उसे छुटकारे का, यानी बाज़ाप्ता छुटकारे का, दिन आ गया। उस दिन हम सब ने उसे अच्छी अच्छी चीज़ें अपने हाथ से बना कर खिलाईं। काका को काम न करने दिया। पिता जी ने बहुत चाहा, यह यहीं रहें, कहीं न जावें। किन्तु काका को गङ्गा-स्नान करना था, ठाकुर साहब के यहाँ जाना था, घर बार देखना था; इस लिए उन्हों ने कहा—मैं आऊँगा तुम्हारे पास ही, किन्तु एक महीने के लिए मुझे छुट्टी दो। मैं यहाँ से पैदल जा कर गङ्गा-स्नान करूँगा। पिता जी चुप हो गये। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए उन्हें काका के धार्मिक विश्वास पर आघात पहुंचाने की हिम्मत न हुई।

आख़िर काका एक धोती और एक लुटिया लेकर चलने को तैयार हुए। मैं ने कहा—काका जल्द आना, मुझे भूल न जाना। उन्होंने कहा—

काका, जब तक न आओगे मेरा पेट न भरेगा। देखो देर न हो।

पिता ने आँखों में आँसू भर कर कहा—भाई, तुम्हें घर सौंप कर बे फ़िक्र हो गया था। मैं तुम्हें रोकता नहीं किन्तु ईश्वर के लिए मेरी बे फ़िक्री मत तोड़ देना।

माता ने उन के चरन छुए। हम सब ने उनकी पदधूलि ग्रहण की। काका ने पिता जी के चरन छूने को हाथ बढ़ाया तो उन्हों ने कहा—बड़े छोटों के चरण नहीं छूते, मैं तुम्हारे चरन छूऊँगा। हज़ारों भूठे बिलों को पास कर के और घूस का धन ग्रहण कर के जो हाथ कलङ्कित हो चुके हैं वे आज स्वामिभक्त और बिना आडम्बर सत्य की उपासना करनेवाले महापुरुष के चरण-स्पर्श से पवित्र होंगे। यह कह कर काका के बहुत मना करने पर भी वह उनके चरणों में लोट गये। कैसा पवित्र दृश्य था। कहने को एक क़ैदी की विदा हो रही थी, किन्तु वास्तव में हम सब उसे अपने हृदय का पवित्र भाव आँसुओं के रूप में भेंट कर रहे थे। काका हम सबको आशीर्वाद देकर एक तपस्वी की तरह चुपचाप चले गये।

(७)

तीन मास हो गये, काका न लौटे। पिता जी ने कई पत्र भेजे, कोई उत्तर न आया। उधर मेरा विवाह आ गया। मैं अपने पिता की एक मात्र सन्तान थी। नन्हे मेरा फुफेरा भाई था, इस से क्या, मैं उसे अपना सहोदर समझती थी। पिता छुट्टी लेकर मकान पर चले आये थे। पिता दिन में कम से कम दश बार काका का स्मरण कर लेते थे। विवाह के दश दिन रह गये थे। मेहमान आने लगे थे। मिठाइयाँ बनने लगी थीं। घर में चहल-पहल थी, किन्तु पिता जी उदास थे। मैं भी एकान्त में काका को याद कर क़रीब क़रीब रोज़ रो लेती थी। मुझे रोती देख कर और उसका कारण जान कर एक दिन माता ने कहा—बावली, रोती है, असगुन करती है। ख़बरदार जो रोई। काका ज़रूर आयेंगे—भीतर से कोई मुझ से कह रहा है।

इसी समय दहलीज में से आवाज़ आई—बेटी चन्दा!

पिता ने ऊपर से आवाज़ दी—भाई!

मैं ने चिल्ला कर कहा—काका! जा कर देखा तो दुष्ट नन्हें चुपके से पहले ही वहाँ पहुंच गया था और उनसे लिपटा रहा था।

पिता ने आ कर उन्हें हृदय से लगा लिया और कहा—भाई, बड़ा इन्तिज़ार दिखाया, चन्दा का व्याह आ गया। मेरा पत्र तो मिला ही होगा। लड़केवाले अड़ गये, इसी मास में विवाह करेंगे। अब सिर्फ़ दस दिन बाकी हैं। देरसे आये पर ख़ूब आये। मैं बे फ़िक्र हुआ।

काका ने बैठक में बैठ कर कहा—भाई, बिलकुल निबट कर आया हूँ। जिसे देखना था देख आया, जिससे मिलना था मिल आया। जो कुछ था बेच आया। लड़ाई के बुख़ार में ठाकुर साहब का देहान्त हो गया था। उनकी विधवा ने मुझे बहुत रोका, बहुत लोभ दिखाया। ठाकुर साहब होते तो ६ मास तुम्हारे यहाँ रहता, ६ मास उनके पास रहता। जब वही न रहे तब वहां मैं क्या रहूँ। तुम्हारे मोह ने मुझे खीच बुलाया। लो, ये दो चीज़ें हैं, हार तो चन्दा बेटी के लिए है। व्याह के दिन पहना देना। कंगन नन्हें की बहू के लिये है। यह मेरी निशानी इन के पास रहेगी। छोटा सा मकान और मामूली सामान बेच कर जो मिला उस से ये चीज़े मैं ने बनवाई हैं। इन के बनवाने में १५ दिन लग गये।

यह कह कर उन्होंने अपनी छोटी सी गाढ़े की गठरी खोली और उसमें से सोने की चीज़ें निकाल कर पिता जी के हाथ पर रख दीं। पिता

ने कुछ न कह कर उन्हें माथे से लगा लिया। पर कहा—अच्छा, घर में चलो।"

मेरी स्त्री चन्दा या चन्द्रवती ने रुँधे कण्ठ से कहा—"नाथ, उस दिन गिर्वी डालने के लिए मैं ने आपको अपनी सब चीजें दे दी थीं, किन्तु आप के मांगने पर भी यह हार न दिया था। उस समय आप मन में नाराज़ हुए थे। आप के लिए मेरा जीवन मौजूद है, किन्तु काका की यह निशानी हार मुझे—हाय—जीवन से भी ज़्यादा प्यारा है।। इसे मैं मरते दम तक अपने पास रखना चाहती हूँ। माता-पिता का दिया यह शरीर है, उन की दीं और चीज़ें नष्ट हो जायँ, कुछ चिन्ता नहीं, उनका स्मारक यह शरीर तो है। किन्तु काका का और कुछ नहीं है, बस यही तो है।"

मैं ने रूमाल से उसकी आंखों को पोछते हुए कहा— "वह तुम्हारी परीक्षा थी। मुझे चीज़ की ज़रूरत न थी। बैठे बिठाये वह खेल खेलने की सूझ गई थी। लड़कपन था। और कुछ तुम्हारी चीज़ें कहीं बाहर नहीं है। इसी सन्दूकचे में बन्द है। इस बार नाज के व्यापार में तुम्हारे पुण्य के प्रभाव से १५ हज़ार रुपये मुझे मिले हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति पर मुझे उतना हर्ष नहीं है जितना तुम्हारे इस हार के इतिहास को सुन कर हुआ है। एक शिकायत है। तुम ने यह पवित्र इतिहास अब तक न सुनाया। अच्छा, इस सम्बन्ध में तुम्हें जो कष्ट पहुँचा है उसे भूल जाओ। तुम्हारा अधम पति तुम्हारे पैरों पड़ता है।"

ज्वालादत्त शर्मा

नैकटाई।

१—काल-चाल से हैं खुले, तेरे भाग्य विचित्र।
भारत में तू हो गई, कंठी-तुल्य पवित्र॥
२—धज्जी, चिन्दी, चीथड़ा, लत्ता है तू आप।
पर अनिष्ट सर्वत्र तव, राज्य रहा है व्याप॥
३—रक्खा है जिस कंठ पर, निर्धनता का भार।
लज्जा तज उसने तुझे, किया गले का हार॥
४—बोल रहे हैं, इस लिए नहीं जानते लोग।
लिपटी है तू कंठ में, बनी कंठ का रोग॥
५—परवशता की है पड़ी, साँकल जहाँ कठोर।
लगी हुई है तू वहीं, फाँसी सी चहुँ ओर॥
६—तुझे कंठ में देखकर, बंधता है यह ध्यान।
बन्दी अपने हाथ से, हुई भरत-सन्तान॥
७—होता है तुझसे प्रकट, यही भाव गंभीर।
पराधीनता-रूप तू, है पंचाली-चीर॥
८—पड़ी तुझे लख हृदय पर, जाता है हिय काँप।
मानों छाती पर पड़ा, लोट रहा है साँप॥
९—गले लिपट तू कह रही, मानो बचन भविष्य।
ढाँकेंगे तन अन्त में, तुझसे तेरे शिष्य॥
१०—इससे बढ़ कर और क्या, होगा जी को सोग।
असहयोग की वस्तु से, है अब तक सहयोग॥
११—कंठ-पाश तज बाहु में बाँधो अब वह यंत्र
जिसमें है विधिवत् भरा स्वावलंब का मंत्र॥

कामताप्रसाद गुरु, एम० आर० ए० एस०।

शकर।

१

शकर की आवश्यकता।
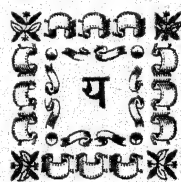
यह तो सभी जानते हैं कि आस पास के पदार्थों—हवा, पानी आदि—से हमारा शरीर अधिक गरम रहता है; यह उष्णता भोजन ही से क़ायम रहती है। हमारे शरीर में फ़ार्नहाइट थर्मामीटर के ९८.४ अंश गर्मी रहती है और इस समय, २९ नवम्बर १९२० ई० २ बजे दिन को, हवा की गर्मी ७२ अंश है। जिन भोज्य पदार्थों से शरीर में गर्मी पहुँचती है, शकर भी उन्हींमें से एक है। केवल स्वादिष्ट होने के ही कारण इसका उपयोग नहीं होता। शकर भोजन का इतना आवश्यक अंश मानी जाती है कि सभी सभ्य देश अपने

सिपाहियों को युद्ध के समय भी प्रति मनुष्य लगभग आध पाव शकर देते हैं।

नीचे की सूची से यह विदित होगा कि संसार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध देशों में, शकर का ख़र्च, प्रतिवर्ष, प्रति मनुष्य कितना है।

डेनमार्क	४७ सेर	आस्ट्रिया ...	१६ सेर
ग्रेट ब्रिटेन ...	४५ सेर	रूस (यूरोपीय)	१४ सेर
जर्मनी ...	३७॥ सेर	भारतवर्ष ...	१३ सेर
स्विटज़रलैण्ड	३७॥ सेर	टर्की ...	१० सेर
फ़्रांस ..	१६॥ सेर	इटली ...	५॥ सेर

हमारे देश में प्राचीन काल से शकर का काम गुड़ से लिया जाता है। अब भी देश में जितनी शकर ख़र्च होती है उससे कई गुना अधिक गुड़ ख़र्च होता है। वास्तव में गुड़ भी वही काम देता है जो शकर देती है।

शकर की उत्पत्ति।

यद्यपि प्रत्येक मीठे पदार्थ से शकर निकल सकती है तथापि प्राचीन काल से वह अधिकतर गन्ने या ऊख से ही निकाली जाती है। लगभग १०० वर्ष से योरप में चुकन्दर नामी, गाजर की तरह की, एक कन्द से भी वह निकलने लगी है और पिछले ५० वर्षों में तो इस कारबार में बहुत उन्नति हुई है।

बंगाल में खजूर की भी शकर बनती है और अमरीका के संयुक्त राज्यों में कुछ मीठे ज्वार के पौधों से भी निकाली जाती है परन्तु वहाँ उससे केवल शीरा ही बनाते हैं जो फलों के मुरब्बे, अचार आदि रखने के काम आता है। गन्ने और चुकन्दर से जितनी शकर बनती है, उसके परिमाण के सामने खजूर और ज्वार की शकर कुछ भी नहीं है।

उत्पादक देश और वार्षिक परिमाण—गन्ना और चुकन्दर।

इस समय संसार के सब देशों में जितनी शकर प्रति वर्ष बनती है, उसका परिमाण लगभग ४५ करोड़ मन है, जिसमें ३० १/२ करोड़ मन गन्ने से और १४ १/२ करोड़ मन चुकन्दर से अथवा मोटे हिसाब से यों समझिये कि दो तिहाई गन्ने से और एक तिहाई चुकन्दर से तैयार होती है। यह है सन् १९१९ का हिसाब। यह परिमाण प्रति वर्ष घटाबढ़ा भी करता है।

किस देश में प्रति वर्ष कितने मन शकर गन्ने से तैयार की जाती है इसका पता नीचे के कोष्टक से लग जायगा।

देश	सन् १९१४-१५	सन् १९१७-१८
१ क्यूबा	७ करोड़ मन	८ करोड़ ७० ला० म०
२ भारतवर्ष (अँगरेज़ी)	६ ,, ७० लाख मन	७ ,, २५ ,, ,,
३ जावा	३ ,, ५५ ,, ,,	४ ,, ८५ ,, ,,
४ हवाई द्वीप	१ ,, ५७ ,, ,,	१ ,, ४० ,, ,,
५ अर्जेनटाइन	६० ,, ,,	४० ,, ,,
६ मारिशस	६१ ,, ,,	७७ ,, ,,

यदि पाँचों महाद्वीप इसी प्रकार के क्रम में जायँ तो वे इस क्रम में आते हैं।

महाद्वीप	सन् १९१४-१५	सन् १९१७-१८
१ अमरीका	१४ करोड़ मन	१६ करोड़ मन
२ एशिया	११ ,, ५० लाख मन	१४ ,, २५ ला० म०
३ अफ़्रीका	१ ,, ४० ,, ,,	१ ,, ४५ ,, ,,
४ आस्ट्रेलिया	६५ ,, ,,	१ ,, ,,
५ योरप (केवल स्पेन)	२ ,, ,,	१ १/२ ,, ,,

चुकन्दर की शकर केवल योरप और अमरीका में बनती है। इसमें भी योरप प्रधान है, जैसा कि नीचे के हिसाब से विदित होता है।

महाद्वीप	सन् १९१४-१५	सन् १९१७-१८
१ योरप	२० करोड़ ६० ला० म०	१० करोड़ ५० ला० म०
२ अमरीका	१ ,, ७५ ,,	२ ,, ४० ,,

इस हिसाब को देखते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गत महायुद्ध के कारण योरप में १९१४-१५ से १९१७-१९१८ में लगभग आधी ही शकर बनी।

योरप के भिन्न भिन्न देशों में जितने परिमाण में

चुकन्दर की शकर बनती है उसका हिसाब नीचे के कोष्टक में दिया जाता है :—

देश	१९०३-०४ शकर सम्मेलन से पहला साल	१९१३-१४ युद्ध के पहले का साल	१९१६-१७ युद्ध का तीसरा साल
१ जर्मनी	५२५ ला० म०	७४० ला० म०	३६५ ला० म०
२ रूस	३१६ ,, ,,	४७० ,, ,,	३१५ ,, ,,
३ आस्ट्रिया	३१५ ,, ,,	४९० ,, ,,	२४५ ,, ,,
४ फ़्रांस	२१५ ,, ,,	२१३ ,, ,,	५० ,, ,,
५ इटली	३६ ,, ,,	९० ,, ,,	
६ बेलजियम	५५ ,, ,,	६२½ ,, ,,	३६ ,, ,,
७ हालेंड	३५ ,, ,,	६२ ,, ,,	७० ,, ,,

भारतवर्ष में शकर और गुड़ का ख़र्च।

पूर्वोक्त कोष्टक में भारतवर्ष के नाम के आगे जो अङ्क दिये हैं वे यथार्थ में उस शकर के नहीं हैं जो हमारे यहां खँड़सारों या बड़ी बड़ी मिलों में बनती है, किन्तु वे उस गुड़ के परिमाण के अंक हैं जिन्हें दुनिया की शकर का हिसाब लगानेवाले अर्थशास्त्री और अंक-गणक अपनी अटकल से निर्धारित करते हैं। संसार की जितनी भूमि पर गन्ना बोया जाता है उसीके क्षेत्रफल पर उनका हिसाब निर्भर है। सामान्यतः उनका यह अनुमान है कि वर्षा आदि के होने पर १ एकड़ (सवा पांच बीघे) भूमि में लगभग जो गन्ना उपजता है उससे लगभग ३०-३६ मन शकर निकलती है।

अमरीका महाद्वीप के वेस्ट इंडीज़ नामक द्वीपपुञ्ज के क्यूबा द्वीप को छोड़ कर सब देशों से अधिक शकर (गुड़ मिला कर) भारतवर्ष में बनती है। किन्तु यहां इसका ख़र्च इतना ज़्यादा है कि फिर भी १४-१५ करोड़ रुपये की शकर प्रतिवर्ष विदेशों से आती है। गन्ने की शकर जावा और मारिशस नाम के टापुओं से, और चुकन्दर की जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस से आती थी। युद्ध छिड़ जाने पर जावा और मारिशस की शकर इंगलैंड को जाने लगी। भारतवर्ष में प्रतिवर्ष १० करोड़ मन शकर का ख़र्च है, जिसमें मोटे हिसाब से तीन चौथाई यहाँ ही बन जाती है और एक चौथाई बाहर से आती है।

चुकन्दर की उन्नति तथा चुकन्दर और गन्ने से शकर बनाना।

चुकन्दर गाजर की तरह एक जड़ होती है, जो तौल में लगभग एक सेर होती है। उसे टुकड़े टुकड़े कर के पानी में भिगोने से उसकी मिठास पानी में चली जाती है। फिर उसी मीठे पानी को जलाकर शकर तैयार की जाती है। योरप में यह काम, बड़े बड़े कारख़ानों में, बड़ी बड़ी मेशीनों द्वारा होता है। अभी सौ सवा सौ वर्ष ही से चुकन्दर की शकर बनने लगी है। किन्तु इस व्यवसाय की उन्नति पिछले ५० ही वर्षों में हुई है। १७७० ई० के बाद ही से चुकन्दर की शकर अधिक परिमाण में बनाई जाने लगी है। उस समय फ़्रांस और जर्मनी में विकट युद्ध हो रहा था, जिससे इन देशों को एशिया के देशों से शकर का (जो उस समय गन्ने से ही निकलती थी) मिलना कठिन हो गया। तब इन देशों के निवासियों को अपने देश ही की किसी वस्तु से शकर बनाने की सूझी। चुकन्दर से शकर निकल सकती है यह बात तो पहले ही से मालूम थी। अतएव जर्मनी ने इस धन्धे की उन्नति करने की ठान ली। थोड़े ही समय में पहले से कहीं अधिक मीठे चुकन्दर की कई एक जातियाँ पैदा की गईं। पहले १०० सेर चुकन्दर से ६ या ७ सेर शकर तैयार होती थी, किन्तु आज कल १६ या १७ सेर होती है। अब जर्मनी में एक एकड़ (अर्थात् पक्के पौने दो बीघा) भूमि में कोई ३५० मन चुकन्दर निकलता है जिससे ५५ मन तक शकर तैयार होती है। अब इसके साथ ऊख की पैदावार का मिलान कीजिये। ऊख की सब से अच्छी खेती जावा और हवाई टापुओं में होती है, यहीं सब से अधिक शकर देने वाले गन्ने उत्पन्न होते हैं और यहीं गन्ने से सब से अधिक शकर निकालने वाली मशीनों का प्रयोग होता है। बीघे पीछे गन्ना भी यहाँ ही सब से अधिक उत्पन्न होता है। इन टापुओं में १ एकड़ के गन्ने से ११० मन तक शकर तैयार होती है। भारतवर्ष में उतनी ही भूमि की खेती से ४०-४२ मन गुड़ तैयार होता है जिससे यदि शकर बनाई जाय तो २५ मन से अधिक न बैठेगी। भारत को छोड़ कर और देशों में गुड़ बनाने की चाल

नहीं है, न वहाँ गुड़ खाया ही जाता है। भारतवासी ही गुड़ खाते हैं। अन्य देशों में गुड़ नहीं, केवल शकर ही बनाई जाती है। किसी कारख़ाने में पक्की अर्थात् साफ़, स्वच्छ और दानेदार शकर बनती है, किसी में कच्ची अर्थात् बिना साफ़ की हुई। हमारे देश में यह रीति है कि छोटे-बड़े सब किसान अपनी अपनी खेती के गन्ने या ऊख अपने ही गाँव में, पेर कर, गुड़ या राब बना लेते हैं जो बाज़ार में बिक जाती है। इसी गुड़ या राब को देशी तरीक़े से शकर बनाने वाले खँड़सारी लोग और मिल वाले भी बाज़ार में मोल ले कर उससे शकर बनाते हैं। जावा आदि देशों में यह रीति नहीं है। वहाँ गन्ने से सीधा शकर ही बनाई जाती है, गुड़ या राब नहीं। किसी कारखाने में कच्ची शकर बनती है तो किसी में पक्की। कच्ची शकर से पक्की शकर बनाने के कारखाने भी अलग होते हैं। इस प्रकार के कारख़ाने पहले इंगलेंड में बहुत थे और इस समय भी लन्दन में कुछ है। जावा आदि देशों से कच्ची शकर मोल मँगाई जा कर इन कारखानों में साफ़ की जाती है। यहां गन्ने से रस नहीं पेरा जाता। जावा में गन्ने के खेत बहुत बड़े बड़े होते हैं जिन के मालिक या तो बड़े बड़े धनी किसान होते हैं या स्वयं शकर के कारबारी। ये लोग वैज्ञानिक रीति से गन्ने की खेती करते हैं। अच्छी क़िस्म का गन्ना ढूँढ़ने या स्वयम् वैसे उत्पन्न करने और खेतों में खाद आदि देने में ये लोग बहुत व्यय करते हैं। हमारे देश में इन बातों का बिलकुल अभाव है। जावा के किसान अपने खेतों के गन्नों को स्वयं नहीं पेरते, किन्तु वे उन्हें किसी शकर की मिल वाले के हाथ बेच देते हैं।

गन्ने से रस निकालना।

इस तरह जब मिलवाले खड़े के खड़े गन्ने के खेत मोल ले लेते हैं तब वे काट कर मिलों में पहुँचाये जाते हैं, जहां बेलनों के नीचे दबा कर उनका रस निकाला जाता है। बेलन जितने ही अधिक कड़े और बड़े होते हैं और जितना ही अधिक बल उनके चलाने में लगाया जाता है उतना ही अधिक रस निकलता है। किन्तु तिस पर भी थोड़ा बहुत रस गन्ने की खोई में अवश्य ही भिदा रह जाता है। २०, २५ वर्ष पहले संयुक्त प्रान्त में ऊख लकड़ी के बेलनोंवाले कोल्हुओं में पेरी जाती थी। जितना रस ऊख में होता है उसका आधा इन कोल्हुओं द्वारा निकल आता था, बाक़ी आधा खोई में रह जाता था जो कि भट्टी में झोंक दी जाती थी। कभी कभी इस खोई को पानी में धो और भिगो कर उससे थोड़ा सा मिठास और भी निकाल लिया जाता था। उसके बाद लोहे के दो बेलनवाले कोल्हू चले जो पहले से सवाया रस निकालते थे अर्थात् लगभग ६० सैकड़ा या कुछ अधिक। अब कुछ वर्षों से तीन बेलन-वाले कोल्हू भी गाँवों में दिखाई देने लगे हैं जिनसे कुछ और भी अधिक रस निकलता है अर्थात् ६५ सैकड़ा। तो भी देखिए ३५ सैकड़ा या लगभग एक तिहाई रस, या शकर, गन्ने में रह ही जाती है, जिस का अर्थ यह है कि हम अपने देश के २४ लाख एकड़ भूमि की गन्ने की खेती से कोई ३० लाख टन अर्थात् ८१/३ करोड़ मन गुड़ तैयार कर लेते हैं और इसका आधा अर्थात् ४ करोड़ मन से अधिक गुड़, जो खोई में रह जाता है, भट्ठियों में जला देते हैं। यह ४ करोड़ मन गुड़ आजकल के भाव से ४० करोड़ रु० का हुआ। यदि हम लोग प्रयत्न करें तो इस ४० करोड़ रु० के मूल्य के गुड़ में बहुत कुछ हमारे हाथ लग सकता है और साल में देश को करोड़ों रुपयों का लाभ हो सकता है।

यहाँ के कोल्हुओं में बैल जोते जाते हैं, इससे बहुत बड़े बड़े बेलनों के कोल्हू यहाँ काम में नहीं आ सकते। जावा में बड़े बड़े एँजिन द्वारा कोल्हू चलाये जाते हैं, इससे वहाँ बहुत बड़े बड़े बेलनों के कोल्हुओं का उपयोग होता है जो कि गन्ने से ६० सैकड़ा रस पेर कर निकाल लेते हैं। किसी किसी कारख़ाने में, जो अब गन्नों को बीच से चीर कर पेरते हैं और जहाँ की मशीनों में ग्यारह अधिक बेलन होते हैं अब ९५ सैकड़ा तक रस निकाल लिया जाता है। अब एक और सुधार हुआ है। गन्नों को बीच से चीरने के बजाय अब गन्ना कुचलनेवाले दो बेलन सब से पहले रक्खे जाते हैं जिनमें पनालीदार चद्दर की तरह की नोकदार पनालियाँ होती हैं।

रस से शकर बनाना।

रस के पिर जाने पर उसे कड़ाहों में पका कर राब बनाते हैं या और भी अधिक गाढ़ा कर के गुड़ बनालिया जाता है। पुरानी चाल के खँड़सारी राब तथा गुड़ से शकर बनाते हैं और मिलों में रस, राब, गुड़ सभी से शकर बना लेते हैं। देशी रीति से शकर बनाने में कई महीने लग जाते हैं, परन्तु मशीनों द्वारा वह बहुत जल्द
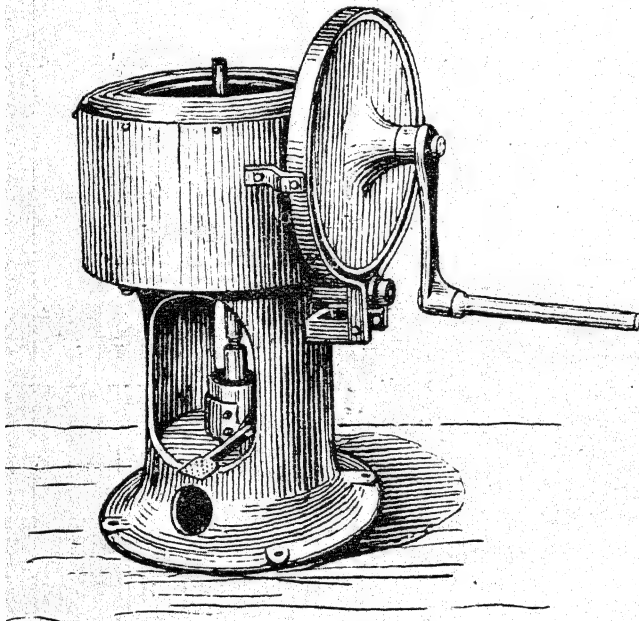
सेंट्रीफुगल मशीन।

तैयार होती है। दस बारह बरस से छोटी छोटी ऐसी मशीनें भी ईजाद की गई हैं जिन्हें आदमी हाथ से भी घुमा सकता है और जो एँजीन से भी चल सकती हैं। इनको सेंट्रीफुगल मैशीन (केन्द्रापगामी यन्त्र) कहते हैं। इसमें राब से शकर बहुत जल्द बनती है।

चीनी किस प्रकार बनती है इसे समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि शकर (चीनी) और गुड़ या राब में क्या अंतर है। शकर दो प्रकार की होती है, एक वह जिसके दाने बन सकते हैं, दूसरे वह जिसके दाने नहीं बन सकते। दोनों ही मीठी होती हैं, किन्तु बिना दाने वाली शकर दानेवाली शकर से अधिक मीठी होती है। रस, गुड़ और राब में दोनों प्रकार की शकर होती है। अस्तु, शकर बनाने में हमें केवल यही प्रयत्न करना पड़ता है कि दानेदार और बे दाने की चीनी अलग अलग होजाय योरप और अमरीका में खाने के काम में केवल दानेदार शकर आती है। जितनी शकर विदेशों से आती है, सब दानेदार होती है। इसी लिये वहाँ ऐसे ऐसे उपाय किये जाते हैं कि दानेदार शकर में ज़रा भी अंश बे दाने वाली शकर का न रह जाय। अपने देश में दानेदार शकर की आवश्यकता नहीं होती, यहाँ सदैव से ऐसी शकर बनती आई है जिसमें दोनों प्रकार की शकरें होती हैं। हम दाने-दार शकर को शकर और बेदानेवाली को शीरा कह सकते हैं। देशी रीति से शकर बनाने में राब से शीरा को सिवार आदि के द्वारा चुआ लेते हैं, किन्तु इसमें कई महीने लग जाते हैं। सेंट्रीफुगल मशीन में यही काम घंटे भर में ही हो जाता है। इस मशीन के लोहे के एक गहरे बर्तन में राब डाली जाती है। फिर उस बर्तन को बड़ी तेज़ी से एक हत्थे द्वारा घुमाते हैं। चक्कर खाने से राब का पनीला अंश (बिना दानावाली शकर अर्थात् शीरा) एक टोंटी के द्वारा नीचे टपक जाता है और शकर का दानेदार अंश उसी बर्तन में रह जाता है। इस शकर में कुछ अंश शीरा का भी चिपटा रहता है जो बहुत प्रयत्न से भी बिलकुल अलग नहीं होता। उसका कुछ न कुछ अंश बना ही रहता है। इस कारण इस मशीन से योरप की सी दानेदार शकर नहीं बन सकती, किन्तु उस प्रकार की शकर ज़रूर बन जाती है जैसी हम लोग बनाने के अभ्यस्त हैं। इस कथन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि देशी शकर विदेशी से क्यों अधिक मीठी होती है, क्योंकि उसमें शीरा का कुछ अंश बना रहता है जो स्वयं अधिक मीठा होने से कुल शकर को अधिक मीठा कर देता है।

बड़ी बड़ी मिलों में, जहाँ सीधे रस ही से शकर बनाई जाती है, रस को मामूली खुले कड़ाहों में नहीं पकाते, किन्तु

वह बन्द कड़ाहों में पकाया जाता है। ये कड़ाह इस प्रकार रक्खे जाते हैं कि एक से निकली हुई भाफ दूसरे को गरम करती है और दूसरे से निकली हुई तीसरे को। इस रीति को "त्रिगुण प्रबन्ध" या "तेहरे प्रभाव की रीति" कहते हैं। ये कड़ाह ढोल के सदृश होते हैं और एक दूसरे से नलों द्वारा इस प्रकार जुड़े रहते हैं कि रस से उठती हुई भाफ़ पहिले कड़ाह से दूसरे में फिर वहाँ की तीसरे में जाती है। इन कड़ाह रूपी ढोलों में रस आग के द्वारा नहीं गरम किया जाता किन्तु केवल पानी की भाफ के द्वारा। पानी की भाफ एक ब्वाइलर से आती है और सबसे पहिले के ढोल में प्रवेश करती है और उसके रस को गरम करती है। पहिले ढोल से वह दूसरे में जाती है और वहां के ज़रा से गाढ़े रस को और भी गाढ़ा करती है। दूसरे से भाफ तीसरे में जाती है। इस तीसरे ढोल में वायु निकालने का यंत्र लगा होता है, जिससे तीसरा ढोल बहुत कुछ वायुशून्य होता है और इस कारण उसमें रस, थोड़ी ही गरमी से, उबलने लगता है। मामूली दशा में पानी १०० दर्जा सायँस के थर्मामीटर की गरमी पर उड़ता है, किन्तु इस तीसरे कड़ाह में ६८ से ७० दर्जा पर ही पानी (रस) भाफ बनने लगता है, उससे तीसरे कड़ाह में रस बहुत जल्द सब से अधिक गाढ़ा हो जाता है। दूसरा ढोल तीसरे से जुड़ा होता है इससे उसकी भी बहुत सी वायु निकल जाती है और उससे भी पानी १०० दर्जा से नीचे ही उबल सकता है। इससे रस इस दूसरे ढोल में पहिले से अधिक गाढ़ा हो जाता है। जब तीसरे ढोल में रस काफ़ी गाढ़ा हो जाता है, अर्थात् राब सी बनती है, तब उसे निकाल कर एक नये वायुपंप-युक्त ढोल या बंद कड़ाई में ले जाते हैं जहाँ राब का अंतिम रूप बनता है और उससे केन्द्रापगामी यंत्र शकर बनाना है। तब दूसरे ढोल का रस तीसरे में डाल दिया जाता है और पहिले का दूसरे में और फिर पहले ढोल में नया रस लाय जाता है। ढोलों को वायुशून्य करने से दो लाभ हैं, (१) ईंधन कम लगता है, (२) कार्य जल्दी होता है। इसके सिवा राब कड़ाहों से लग कर कभी जलने नहीं पाती और दाना बहुत अच्छा, एक ढंग का पड़ता है, शकर भी अधिक परिमाण में तैयार होती है और शीरा कम निकलता है।

भारतवर्ष में गन्ने की उन्नति।

ऊपर बताया गया है कि भारत में गुड़ की पैदावार सवा या डेढ़ टन फी एकड़ है और जावा में शकर की पैदावार ४ टन फी एकड़। इसके कई कारण हैं, जैसे

(१) जावा उष्ण कटिबन्ध में है। वहाँ गर्मी यहाँ से सदैव अधिक पड़ती है जो गन्ने के लिए अधिक हितकारी होती है।

(२) वहाँ गन्ना १२ से २२ महीने तक पकता है, यहाँ केवल १०-११ महीने ही में पक जाता है।

(३) वहाँ एक ही खेत में प्रति वर्ष गन्ना नहीं बोया जा सकता। क़ानून से प्रत्येक किसान बाध्य है कि वह गन्ने के पीछे चावल आदि कोई दूसरी फ़सल बोये, जिससे ज़मीन कमज़ोर न हो पावे और गन्ने में रोग भी कम लगे।

(४) वहाँ के किसान धनी हैं और बड़े बड़े खेतों में मशीनों द्वारा खेती करते हैं। अच्छे से अच्छा बीज बोते हैं। बढ़िया से बढ़िया खाद डालते हैं और समय पर काफ़ी पानी देते हैं।

(५) बहुत बड़े बड़े एँजिनों द्वारा रस पेरा जाता है जो गन्ने से ६५ सैकड़ा तक रस निकाल लेते हैं।

(६) खेतों के बीच में शकर के कारख़ाने (शुगर फैक्टरी) होते हैं, जहाँ पास ही से गन्ना आता है और जो ताज़ा होने से अधिक रस देता है। इसके विपरीत यहाँ के खँडसारियों या मिलवालों को गुड़ या राब मोल लेनी पड़ती है जो दूर दूर से रेल पर लद कर आती है। शकर के व्यवसाय की ओर अब इस देश-वालों का भी ध्यान कुछ दिनों से आकर्षित हुआ है और हमारी सरकार ने भी विदेशों से आने वाली चीनी पर आयात का टैक्स (कस्टम्स ड्यूटी) बढ़ा कर अपनी सदिच्छा

का परिचय दिया है। उधर सरकारी कृषि-विभाग प्रत्येक सूबे में अपने यहाँ के गन्ने की उन्नति करने या नये नये प्रकार के बढ़िया गन्नों को दूसरे स्थानों से लाकर अपने सूबे में बोने में दत्तचित्त है। हमारे सूबे का कृषिविभाग भी किसी दूसरे सूबे से इस विषय में पीछे नहीं है और उसे होना ही क्यों चाहिए जब कि भारत में हमारे प्रान्त ही में सब से अधिक शकर बनती है। इस प्रान्त के क्लार्क साहब के ढूंढ़े हुए जावा नं० ३३ और एशी-मारिशस जाति के गन्ने (जो पौंडा जैसे मोटे होते हैं) अभी तक सबसे अच्छे कहे जाते थे, किन्तु अब ३-४ वर्ष के बीच शाहजहाँ-पुर के सरकारी खेतों के वैज्ञानिक निरीक्षकों ने शाहजहांपुरी १०, ४८ और ३६ नम्बरों के गन्ने उत्पन्न किये हैं जो क्लार्क साहब के गन्नों से भी अच्छे प्रमाणित हुए हैं। यदि इसी प्रकार उन्नति होती रही तो हम लोगों को शीघ्र ही जावा की तरह के गन्ने अपने देश में बोने को मिलेंगे।

शकर बनाने की देशी रीतियों में भी सुधार करने में सरकार लगी हुई है। १० वर्ष हुए, एक नई रीति की, जो हादी साहब की रीति कहलाती है, बड़ी धूमधाम थी। किन्तु अब उसका कुछ भी प्रभाव नहीं है। इस रीति में केवल एक यही बात खँडसारियों को लाभदायक प्रतीत हुई है कि कड़ाहों के कम गहरे या एक से गहरे होने से रस जल्द गाढ़ा होता है। मदरास में चैटर्टन साहब ने, जो आज कल मैसूर राज्य में हैं, "त्रिगुण प्रबन्ध" की नक़ल मामूली कड़ाहों के प्रयोग में की है। वे तीन मामूली कड़ाहों को एक के ऊपर एक रखते हैं जिससे पहले से उठी भाफ दूसरे कड़ाहे को गरम करती है और दूसरे की भाप तीसरे को। इसमें भी ईंधन की कुछ बचत होती है और यदि सबसे नीचे की कड़ाई का रस पहले उससे ऊपर वाली कड़ाई में और फिर अधिक गाढ़ा होने पर सबसे ऊपर की कड़ाई में डाला जाय, तो राब या गुड़ भी अच्छा बने।

बाबूराम अवस्थी, एम० ए०

उलटी रेलगाड़ी।

अंगरेज़ी में कहावत है—Necessity is the mother of invention अर्थात् आवश्यकता ही आविष्कार की जननी है। कभी ऐसा भी एक ज़माना था कि विना रेलगाड़ी के भी लोगों का काम निकल जाता था। अभी हमारे देश में ही ऐसे स्थान हैं जहाँ रेलगाड़ी नहीं जाती। परन्तु अब जहाँ रेलगाड़ी चलती है वहाँ यदि दो-चार दिनों के लिए भी रेलगाड़ी का आना-जाना बन्द हो जाय तो लोगों को बड़ी दिक्कतें हों। व्यापार और वाणिज्य की वृद्धि में एक एक मिनिट की बचत के लिए लोग कोशिश करने लगे हैं। सच तो यह है कि अब रेलगाड़ी से भी अधिक शीघ्रगामिनी गाड़ी की आवश्यकता पड़ने लगी है। मोटर और व्योमयानों का प्रचार इसीसे बढ़ रहा है।

यों तो हमारे सभी पाठकों ने रेलगाड़ी का दर्शन किया होगा पर उन्हें यह न मालूम होगा कि रेलगाड़ी को निर्विघ्न चलाने के लिए वैज्ञानिकों को कितना परेशान होना पड़ा। रेलगाड़ी खुद एक विचित्र वस्तु है। उससे मनुष्यों की बुद्धि की विलक्षणता प्रकट होती है। कहीं ऊँचे ऊँचे पहाड़ों के ऊपर से रेलगाड़ी दौड़ती है तो कहीं बड़ी बड़ी नदियों के ऊपर से जारही है। कहीं पहाड़ों के भीतर से उसके लिए रास्ता बनाया गया है तो कहीं नदी के नीचे सुरङ्ग खोद कर उसके आने जाने के लिए मार्ग तैयार हुआ है। ये सब काम ऐसे नहीं होजाते। इस के लिए लाखों रुपये ख़र्च किये जाते हैं, सैकड़ों मनुष्यों की जानें जाती हैं। तब कहीं हम फ़र्स्ट क्लास पर आराम से मुँह में चुरट दबाये, एक उपन्यास हाथ में लिए, घण्टे आध घण्टे में इन बीहड़ स्थानों को तय कर लेते हैं।

इटली और स्विट्ज़रलैंड के बीच में एक बड़ा

भारी बोगदा मिलता है। यह कोई १० मील लम्बा होगा। इसे हम रेलगाड़ी में मिनटों में पार कर जाते हैं। पर यह सुरंग ७ वर्ष और ६ महीने में तैयार हुई है। इस के एक गज़ खोदने में १६००० रुपये खर्च हुए हैं। परन्तु यह तो सस्ता काम है। टेम्स नदी के नीचे जो सुरंग बनाई गईहै उसके एक गज़ बनाने में १८०००० रुपये खर्च हुए हैं। यह सुरंग १८ वर्ष में बन कर तैयार हुई।

रेलगाड़ियों का कितना प्रचार बढ़ गया है। इस का कुछ अन्दाज़ा लगाइये। रेलगाड़ी पृथ्वी पर से ६७०००० मीलों की यात्रा करती है। इसे चलाने के लिए १,२५०,०००,००० पौंड संसार ने दे रक्खे हैं। ग्रेट ब्रिटन में फ़ी मील ५१,३६८ पौंड लगाये गये हैं। प्रतिवर्ष ग्रेटब्रिटन और आयर लैंड में कोई १६०००००००० यात्री रेलगाड़ियों से आते जाते हैं। इन में ३०००००० लोग फ़र्स्ट क्लास के यात्री रहते हैं। भारतवर्ष में रेलों की लम्बाई ३३००० मील है। परन्तु यहां से यात्रियोंकी बात मत पूछिए। थर्ड क्लास में धक्के खाते हुए ढोरों की तरह भरे हुए लाखों धर्म-प्राण भारतवासी प्रति दिन पुण्य क्षेत्रों में आकर अपना जीवन सफल करते हैं। एक तो वे जानते हैं। और दूसरे भगवान् जानते हैं कि रेलगाड़ी की यात्रा कैसी होती है। न जाने इधर हमारी सरकार की कब दया-दृष्टि होगी कि जिस से थर्ड क्लास के यात्रियों को भी रेल की यात्रा सुखद हो जाय। ख़ैर।

नदी के ऊपर उलटी रेलगाड़ी।

जर्मनी में एल्वरफेल्ड और बारमेन नाम के दो गाँव हैं। इन्हीं के बीच रेलगाड़ी उलटी चलती है, पांत ऊपर और गाड़ी नीचे। तारीफ़ यह कि गाड़ी नदी के ऊपर से जाती है। बैठने वाले मुसाफिरों का जी धड़कता रहता है। उन्हें यही डर रहता है कि अब डूबे।
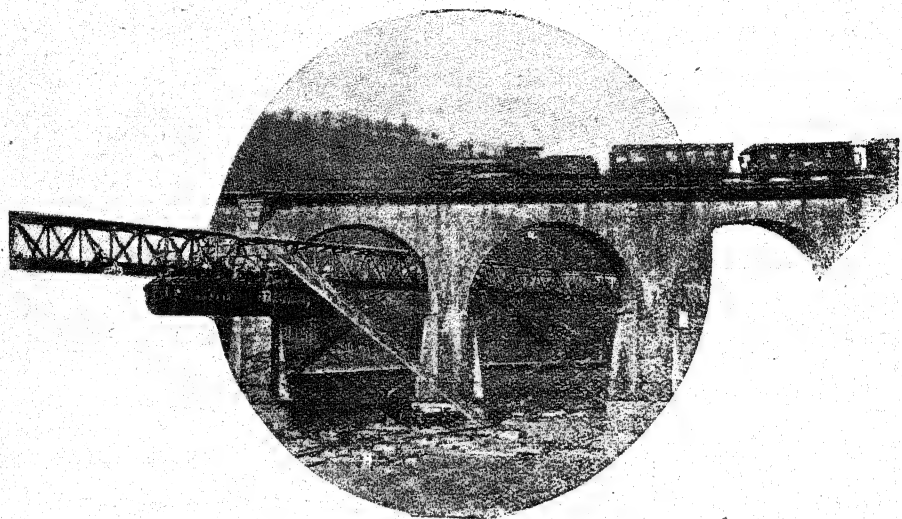
रेल के पुलके नी उलटी रेलगाड़ी ।
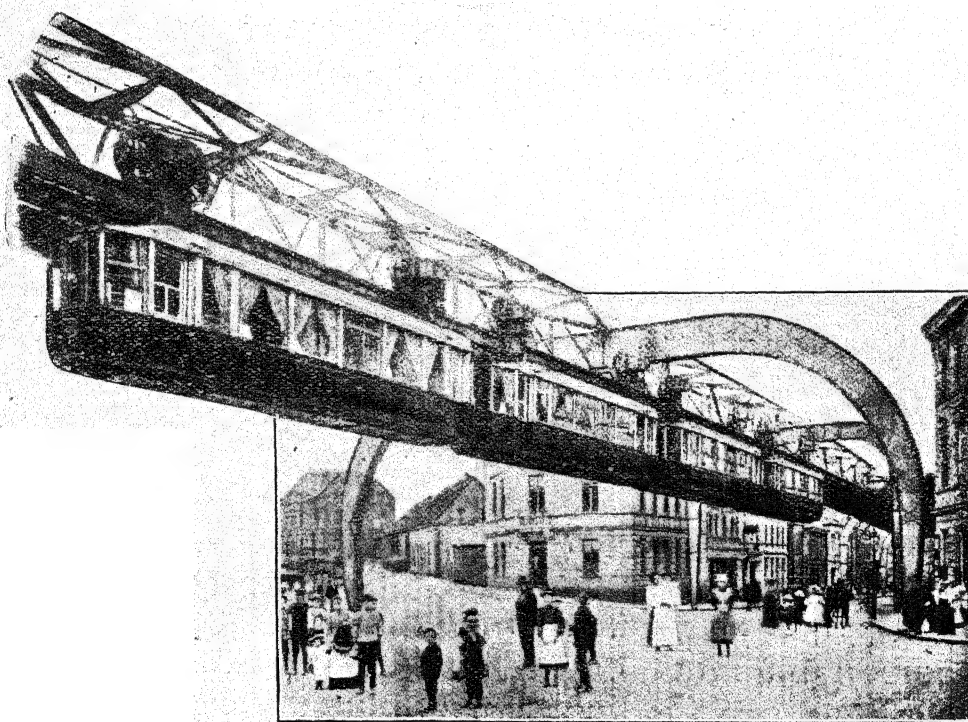
शहर के ऊपर से उलटी रेलगाड़ी ।

वाह विंकिल के स्टेशन पर पहुँचते ही यह विलक्षण दृश्य देखने में आता है। यह देख कर कौन आतंक और विस्मय में नहीं डूब जायगा कि रेलगाड़ी ऊपर हवा में अधर लटकी हुई है। पातेंभी इस की अजीब बनी हैं। लोहे के कमानी पर लम्बे छड़ परस्पर गुथे हुए रहते हैं। देखने में बड़े भद्दे होते हैं। यदि उसी समय गाड़ी आ गई तो मुसाफिर चौंक पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि सिर के ऊपर से कोई टारपीडो जा रहा है।

यह गाड़ी सिर्फ आठ ही मील तक जाती है। यही ग़नीमत है। इसमें सिर्फ़ दूसरे दर्ज़े के डब्बे हैं। किराया है चार पेनी। मामूली गाड़ी से जाने में इस से दूना किराया लगता है। यही कारण है कि लोग इस गाड़ी से आया जाया करते हैं। यदि यह बात न होती तो कम लोग इस में बैठते; क्योंकि इस गाड़ी से यात्रा करना आनन्द-प्रद नहीं होता।

स्टेशन आने पर गाड़ी एक किनारे चली जाती है और फिर अर्धवृत्ताकार चक्कर लगाती हुई प्लेट फार्म पर खड़ी होती है। जब वह खड़ी रहती है तब कुछ झुकी रहती है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो गाड़ी थक गई है। ख़ैर। मुसाफिर भीतर जा कर बैठते हैं। सिगनल होते ही गाड़ी छूटती है। मुसाफिरों को न धक्का लगता है और न किसी तरह की अड़चन होती है। पर उनका जी मचलाने लगता है। जहाज़ के यात्रियों को जैसा मालूम होता है वैसा ही कुछ कुछ यहाँ भी समझ लीजिए। जब गाड़ी किसी मोड़ पर पहुँचती है तब एक झटका लगता है।

मज़ा तब आता है जब गाड़ी नदी पर पहुँचती है। इस नदी का नाम है वूपर।

भगवान् ने तो इसे पहाड़ियों और जंगलों के भीतर से बहाया था पर अब तो उसके दोनों किनारे बड़े बड़े कारखाने बने हुए हैं। इञ्च भर भी जगह खाली नहीं है। रेल की पातों को थाम्हने के लिए जो खम्भे हैं वे कारखानों की दीवालों से हो कर भीतर कारखाने में गड़े हैं।

जब स्टेशन कुछ दूर रहता है तब गाड़ी पर से उस की अजीब सूरत नजर आती है लकड़ी के सिर्फ़ दो पतले पतले टुकड़े दिखाई पड़ते हैं; वे भी इस तरह कि मानो किसी ने हवा में पतङ्ग जमा रक्खा हो। जब गाड़ी बिलकुल पास पहुँच जाती है तब विश्वास होता है कि सचमुच यह स्टेशन है; क्योंकि तख़्तों पर आदमी खड़े हुए मिलते हैं।

गाड़ी में बैठे हुए मुसाफिर तरह तरह के तमाशे देखते हैं कभी तो उनके पैरों के नीचे पुल रहता है और कभी उनके सिर के ऊपर से पुल निकलता है। कभी ट्राम निकलती है तो कभी भक भक करती हुई कोई रेलगाड़ी ही चली जाती है। पर जब गाड़ी मोड़ पर पहुँचती है तब जी घबड़ाता है। ऐसी तबीयत होती है कि फिर इस गाड़ी पर कभी नहीं चढ़ेंगे। जब बारमेन के स्टेशन पर गाड़ी खड़ी होती है। तब जी में जी आता है। सभी कहते हैं कि भाई, खर्च भले ही हो जाय पर हमारे पुराने तरीक़े की गाड़ी अच्छी। अब इस बला में नहीं पड़ेंगे।

सत्यवती बाई दुबे

विविध विषय।

१—विन्सेंट आर्थर स्मिथ।

वि० ए० स्मिथ साहब ने भारतवर्ष का इतिहास लिखकर अच्छी ख्याति प्राप्त की। ऐसा एक भी इतिहास-प्रेमी न होगा जो उनका नाम न जानता हो। उनकी पुस्तकों का प्रचार भी इस देश में खूब है। आज-कल भारतीय विश्वविद्यालयों के सभी छात्र उनकी किताबें पढ़ते हैं। स्मिथ

साहब थे भी इस योग्य। आप बड़े विद्या-व्यसनी थे। आपकी विद्याभिरुचि ऐसी थी कि पेंशन लेने के बाद भी आप ऐतिहासिक विषयों की ही चर्चा में लगे रहते थे। खेद है, ऐसे विद्वान् का गत वर्ष शरीरान्त हो गया।

स्मिथ साहब का जन्म ३ जून सन् १८४८ में डब्लिन में हुआ था। आपके पिता डाक्टर थे। पर पुरातत्त्व के बड़े प्रेमी थे। उनको प्राचीन सिक्कों का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने प्राचीन सिक्कों का एक अच्छा सङ्ग्रह किया था। उनका वह सङ्ग्रह ब्रिटिश म्यूज़ियम में वर्तमान है। जान पड़ता है, पिता के इसी पुरातत्त्व-प्रेम के कारण स्मिथ साहब को ऐतिहासिक विषयों से इतना अनुराग हो गया।

स्मिथ साहब ने प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त करके डब्लिन के ट्रिनिटी कालेज में प्रवेश किया। वहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करके आप पदवीधर हुए। छात्रावस्था में भी आपकी प्रतिभा झलकती थी। आपने सभी परीक्षायें नामवरी के साथ पास कीं। सन् १८६६ में आप इण्डियन सिविल सर्विस के लिए तैयार हुए। सन् १८७१ में आपने उसकी अन्तिम परीक्षा पास की। उसमें भी आपने अच्छी योग्यता प्रदर्शित की। पास हुए उम्मेदवारों में आपका पहला नम्बर था। सबसे पहले आपकी नियुक्ति संयुक्त प्रान्त में हुई। यहाँ आपने कई पदों पर रह कर काम किया। आपके काम से सभी सन्तुष्ट थे। इससे आपकी बराबर पदोन्नति होती गई। सन् १८८९ में आप डिस्ट्रिक्ट और सेशन्स जज (District and Sessions Judge) बना दिये गये। तीन साल के बाद, सन् १८९८ में, आप चीफ़ सेक्रेटरी हो गये। फिर थोड़े ही दिनों में आप कमिश्नर नियुक्त हुए। १९०० में पेन्शन लेकर आप इँगलेंड चले गये। १९१० में आप आक्सफ़ोर्ड आगये और वहाँ इंडियन इन्स्टिट्यूट (Indian Institute) के क्युरेटर (Curator) हुए। १९१९ में आप रायल एशियाटिक सोसाइटी के मेम्बर हुए। १९१८ में आपको सोसाइटी ने एक सुवर्ण-पदक प्रदान किया। १९१९ में आप उसके उपसभापति हुए। उसी साल ६ फ़रवरी को आपका शरीर छूट गया।

स्मिथ साहब भारतीय इतिहास के बड़े भारी विद्वान् थे। आपने वर्षों उसका अध्ययन किया था। अपने इसी इतिहास-प्रेम के कारण आपने शीघ्र पेंशन ले ली थी। अन्त काल तक आप उसी की चर्चा में निरत रहे।

सबसे पहले आपने बुन्देलखण्ड के प्राचीन इतिहास पर कुछ लेख लिखे। आपके वे लेख "जर्नल आव् दी बङ्गाल एशियाटिक सोसाइटी" में प्रकाशित हुए। इन लेखों से आपकी अध्ययन-शीलता प्रकट होती है। इसके बाद आपने प्राचीन भारत का इतिहास लिखने का निश्चय किया। यह काम बड़ा दुष्कर था। इसके लिए आपने परिश्रम भी ख़ूब किया। आपने पहले प्राचीन भारत के विषय में कई गवेषणा-पूर्ण लेख लिखे। सन् १८९२ में आपने गुप्त-कालीन मुद्राओं के विषय में एक निबन्ध लिखा। यह निबन्ध ख़ूब खोज के साथ लिखा गया था। उसे आपने लन्दन में प्राच्यविद्या-विशारदों की एक सभा (International Congress of Orientalists) में पढ़ा। १९०१ में आपने अशोक का जीवनचरित लिख कर छपाया। इसके तीन साल बाद आपका प्राचीन भारत का इतिहास प्रकाशित हुआ। इससे आपकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। सभी विद्वानों ने आपकी इस कृति की प्रशंसा की। उसका प्रचार भी अच्छा हुआ। १९०८ में उसका दूसरा संस्करण निकला और १९१४ में तीसरा संस्करण। १९११ में आपने भारतीय काल-कौशल के इतिहास की रचना की। १९१७ में आपका अकबर का जीवन-चरित प्रकाशित हुआ। आपका अन्तिम ग्रन्थ आक्सफ़र्ड का भारतेतिहास (Oxford Hisfory of India) था। इसके पहले आप भारतवर्ष का एक संक्षिप्त इतिहास लिख चुके थे। वह विश्व-विद्यालयों की मेट्रिकुलेशन कक्षा के छात्रों को पढ़ाया जाता है। आपका यह दूसरा इतिहास उससे बहुत बड़ा है। उसमें वैदिक काल से लेकर आज तक का हाल विस्तारपूर्वक दिया गया है।

भारतवर्ष का इतिहास अभी तक अपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि उसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भारतीय पुरातत्त्व-विभाग अच्छा काम कर रहा है। नई नई बातें मालूम होती जाती हैं। पर प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास सिर्फ़ पुरातत्त्व का विषय नहीं है। उस पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। यह लज्जा की बात है कि अभी तक भारतीय विद्वानों का ध्यान इसकी

ओर विशेष रूप से आकृष्ट नहीं हुआ। इसका प्रमाण यह है कि आज तक किसी भी भारतीय विद्वान् ने भारतवर्ष का इतिहास लिखने का प्रयास नहीं किया। हम तो स्मिथ साहब के चिरकृतज्ञ रहेंगे कि उन्होंने भारतवर्ष का इतिहास लिख कर हम लोगों को अपने देश के विषय में ज्ञान-प्राप्ति करने का साधन तो सुलभ कर दिया। यह क्या कम बात है कि आपके इतिहास का अध्ययन करके हमारे छात्र पदवीधर बनते हैं।

कुछ विद्वानों की राय है कि स्मिथ साहब के इतिहास में बड़ी बड़ी भूलें हैं। स्मिथ साहब ने अपना काम कर दिया। यह भारतीय विद्वानों का काम है कि वे उनकी त्रुटियों को दूर करें। सम्भव है, स्मिथ साहब ने कई बातें भ्रम-पूर्ण लिखी हों। यह भी सम्भव है कि विदेशी होने के कारण वे हमारे प्राचीन आदर्शों को न समझ कर कुछ का कुछ लिख गये हों। कुछ लोग उन पर पक्षपात तक का दोष लगाते हैं। बात यह है कि किसी भी मनुष्य की कृति सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकती। परन्तु क्या यह लज्जा की बात नहीं कि एक पाश्चात्य विद्वान् तो बीस बीस साल तक अध्ययन करके हमारे देश का इतिहास लिखे और हम केवल उसमें छिद्रान्वेषण करें? तारीफ़ तो तब है जब हम भी उसी तरह एक दूसरा इतिहास लिख कर बतला दें कि निष्पक्षभाव से भारतवर्ष का इतिहास इस प्रकार लिखा जाता है। देखें, वह समय कब आता है।

२—कालिदास का स्थिति-काल।

राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य भारतीय पुरातत्त्व के नामी विद्वान हैं। आप ने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ और लेख लिखे हैं। जब केनेडी साहब ने कनिष्क ही को विक्रम-संवत का प्रचारक सिद्ध किया था तब आप ने एक गवेषणा पूर्ण लेख लिख कर उन की युक्तियों का अच्छी तरह खण्डन कर विक्रमादित्य का अस्तित्व भली भांति प्रमाणित कर दिया। विक्रमादित्य के साथ कालिदास का दृढ़ सम्बन्ध है। अभी हाल में आप ने एक दूसरा लेख लिख कर कालिदास के स्थिति-काल को ईसा के पहले प्रथम शताब्दी में सिद्ध किया है। आप के कथन का संक्षेप नीचे दिया जाता है।

कालिदास ने रघुवंश में दक्षिण के अधिपति पाण्ड्यों और उनकी राजधानी उरगपुर का उल्लेख किया है। कारीकल चोल ने ईसा की पहली सदी में पाण्ड्यों का आधिपत्य ध्वंस कर डाला था। उसके बाद तीसरी सदी में पाण्ड्यों का पुनःप्राबल्य हुआ तब उनकी राजधानी मदुरा में स्थापित हुई। यदि कालिदास पांचवी सदी में में हुए होते तो वे उरगपुर न लिख कर मदुरा लिखते। क्योंकि उस समय तो उरगपुर का अस्तित्व तक लुप्त हो गया था। दूसरी बात यह है कि पाचवीं और छठी शताब्दी में पाण्ड्य लोग पल्लवों के द्वारा परास्त हुए। पर कालिदास ने पल्लवों का हाल तक नहीं दिया है। रघु के दिग्विजय में भी सिर्फ पाण्ड्यों की चर्चा की गई है। इस से तो यही सिद्ध होता है कि कालिदास पल्लवों के आविर्भाव होने के पहले हुए हैं। इस लिए ईसा के पहले प्रथम शताब्दी में ही उन्हें रखना पड़ेगा। उरगपुर से इस अनुमान में थोड़ा भी सन्देह नहीं रह जाता है। अति प्राचीनकाल में उरगपुर नागों की राजधानी थी। इस के बाद उस पर पाण्ड्यों का आधिपत्य हुआ और अन्त में वह चोलों के अधिकार में आया। विक्रमादित्य चालुक्य के गड़वाल ताम्र-पत्रों में उरगपुर का नाम आया है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि मदुरा भी प्राचीन काल में उरगपुर के नाम से प्रसिद्ध था। यदि यह सच हो तो वैद्य महोदय का सिद्धान्त सर्वथा निराधार हो जाता है।

३—कविता की भाषा।

हिन्दी साहित्य में अभी तक अनुप्रासों का प्राधान्य है। इस में सन्देह नहीं कि अन्त्यानुप्रास-हीन कविता लिखने की भी चेष्टा की गई है, पर अधिकांश कवि अनुप्रास का आश्रय नहीं छोड़ना चाहते। अब तो हिन्दी में एक कोष भी बन गया है जिसकी सहायता से कवि सरस और सानुप्रास पद्य-रचना कर सकेंगे। अंगरेज़ी में, जहाँ तक हमें मालूम है, ऐसा एक भी कोष नहीं है। वहाँ अन्त्यानुप्रास हीन कविताओं का प्रचार भी अधिक हो गया है। इतना ही नहीं, कुछ समय से वहाँ कवित्व की अभिव्यक्ति के लिए गद्य ही का आश्रय लिया जा रहा है। सम्भव

है, कुछ दिनों में वहां के कवि पद्य को धता बता दें। इसी लिए इंगलेंड के एक विख्यात पत्र में पद्य की सिफारिश की गई है। सरस्वती के पाठकों को यह मालूम ही होगा कि रवीन्द्र बाबू ने गीताञ्जलि तथा अन्य ग्रन्थों के अनुवाद गद्य में किये हैं। विशुद्ध गद्य में भी कवित्वपूर्ण भाव से कैसे अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता हैं, यह उनके इन अनुवादित ग्रन्थों से साफ़ प्रकट होता है। परन्तु रवीन्द्र बाबू पद्यों के विरोधी नहीं हैं। बंगला में उनकी सभी कविताएँ पद्यात्मक हैं। छन्दः शास्त्र के यथार्थ विरोधी हैं वाल्ट ह्विटमेन। उन्होंने बिलकुल यथेच्छाचार से काम लिया है। हिन्दी में भी अभी हाल में एकाध ऐसे ग्रन्थ निकले हैं जिनमें गद्य को कवित्व का आसन प्रदान किया गया है।

इस में सन्देह नहीं कि कविता में भाव प्रधान हैं और भाषा गौण। परन्तु हमें यह जान रखना चाहिए कि भावों की अभिव्यक्ति भाषा ही द्वारा हो सकती है। कवि के मस्तिष्क में भाव निराधार नहीं उड़ते रहते। जब वे आते हैं तब भाषा ही का परिच्छद पहन कर आते हैं। अतएव कविता में भाव को भाषा से पृथक देखना अनुचित है। संस्कृत में काव्य की परिभाषा की गई है। 'काव्यं रसात्मकं वाक्यम्' यहाँ जैसे रस पर ज़ोर दिया गया है वैसे ही वाक्य पर भी। कविता में भाषा का वैसा ही प्राधान्य है जैसा भाव का। अब विवेचनीय यह है कि कविता के लिए उपयुक्त भाषा कौन सी है?

महर्षि वाल्मीकि भारतवर्ष के आदि कवि कहे जाते हैं। जब क्रौञ्च-बध से उन का हृदय द्रवीभूत हो गया तब सहसा उन के मुख से एक श्लोक निकल आया। यह किंवदन्ती ही सही। परन्तु इस से यह सूचित होता है कि हृदय के गम्भीर भाव पद्य में ही भली भाँति व्यक्त हो सकते हैं। लार्ड मेकाले का कथन है कि ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है त्यों त्यों कवित्व का ह्रास होता है। यदि उनका यह कथन सच माना जाय तो सभ्यता के आदि-काल में कवित्व की पूर्णावस्था माननी पड़ेगी। हम देखते हैं कि उसी समय भारतवर्ष के वाल्मीकि और व्यास और योरप के होमर और वर्जिल आदि कवियों ने पद्यों में ही काव्य रचना की है। अतएव कविता के लिए पद्यात्मक भाषा को ही उपयुक्त मानना पड़ेगा। चेस्टरटन साहब ने लिखा है—

The historical point about this kind of poetry, the rhymed romantic kind, is that it rose out of the Dark Ages with the whole of this huge popular power behind it, the human love of a song, a riddle, a proverb, a pun or a nursery rhyme; the sing-song of in-numerable children's games, the chorus of a thousand camp-fires and a thousand taverns. When poetry loses its link with all these people who are easily pleased, it loses all its power of giving pleasure.

चेस्टरटन साहब के कहने का मतलब यह है कि पद्यात्मक कविता का उद्भव ऐतिहासिक युग में बहुत पहले हो चुका था। पद्यों के ऊपर मनुष्यों का स्वाभाविक अनुराग है। सङ्गीत में, पहेली में, लोरियों में, बच्चों के खेल में, कहाँ तक कहें साधारण बातचीत तक में लोगों का पद्यानुराग प्रकट होता है। विद्वान् समालोचक जिन रचनाओं को तुक-बन्दी कह कर हँसा करते हैं उन को उन्हीं से आनन्द मिलता है। यदि कविता मनुष्यों के इस स्वाभाविक आनन्द का बहिष्कार करेगी तो वह आनन्द-प्रद भी न रहेगी। चेस्टरटन का यह कथन सिर्फ़ पद्यों के लिए नहीं, किन्तु सानुप्रास पद्यों के लिए है।

४—हैदराबाद में शिक्षा का प्रचार।

हैदराबाद के निज़ाम अपने राज्य को समुन्नत करने में दत्तचित्त हैं। उन्होंने उस्मानिया विश्वविद्यालय की सृष्टि कर के अपनी प्रजा को मातृ-भाषा में ही ज्ञान प्राप्त करने का साधन सुलभ कर दिया। प्राचीन अरबी। फारसी-साहित्य के संस्कार के लिए भी उन्होंने अपने राज्य में एक अलग महकमा ही कायम कर दिया है। उन्होंने शासन व्यवस्था में भी सुधार किये हैं। वहाँ प्रजा के राजनैतिक अधिकार बढ़ गये हैं। उनके राज्य की एड-

मिनिस्ट्रेशन रिपोर्ट देखने से उसकी उन्नति का पता लगता है। नीचे हम उनके शिक्षा-विभाग सम्बन्धी कार्य-कलापों का संक्षिप्त विवरण देते हैं।

उसमानिया विश्वविद्यालय का एक विभाग (Translation Bureau) ट्रान्सलेशन ब्यूरो कहलाता है। इस का काम है उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद प्रकाशित करना। इस साल गणित, विज्ञान, इतिहास तथा अन्य विषयों के पन्द्रह ग्रन्थ उस की ओर से प्रकाशित किये गये। गत मेट्रिकुलेशन परीक्षा में ५२३ विद्यार्थी बैठे थे। उन में से सिर्फ ९२ उत्तीर्ण हुए। यह परीक्षा-फल सन्तोष-दायक नहीं है। सम्भव है, पहली परीक्षा होने के कारण अधिकांश विद्यार्थी फेल हो गये। अब हैदराबाद में एक यूनीवर्सिटी कालेज भी स्थापित हो जायगा।

स्कूलों की संख्या ३२२४ तक पहुंच गई। इन में सभी प्रकार की शिक्षा देने वाली संस्थाएँ हैं। सात वर्ष पहले इनकी संख्या २५७६ थी। अतएव सात वर्षों में ६४९ स्कूल बढ़े। विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई है पहले १, ४०, ६७३ लड़के शिक्षा पाते थे। अब १, ८२, ६८७ लड़के शिक्षा पाने लगे हैं। इनके सिवा ३६०७ प्राइवेट स्कूल हैं जिनमें ७१,२६५ विद्यार्थियों के नाम दर्ज हैं। शिक्षा-प्रचार के कार्य में २३, ८९,३७४) रुपये खर्च हुए। गत वर्ष १७,६६,५५२) रुपये खर्च हुए थे। इससे मालूम पड़ता है कि निज़ाम-सरकार शिक्षा-प्रचार के कार्य में व्यय करने में संकोच नहीं करती।

निज़ाम कालेज में अब छात्रों की संख्या १६० हो गई है। गत वर्ष १५१ ही थी। अतएव यहाँ भी कुछ लड़के अधिक हुए। परन्तु कालेज में गतवर्ष की अपेक्षा इस वर्ष कम खर्च हुआ। गतवर्ष ८८,५६३) रुपये खर्च किये गये थे। इस साल ८९,३७६) से ही काम चल गया। दर-अल-उलम, जहाँ प्राच्य साहित्य की शिक्षा दी जाती है, उन्नति कर रहा है। गतवर्ष की अपेक्षा इस साल वहाँ १४ लड़के अधिक भरती हुए। उपाधि परीक्षा में ३२ लड़के बैठे। उन में से १४ लड़के पास हुए। इस साल प्रति छात्र ४६१) वार्षिक खर्च हुआ।

हैदराबाद की यह शिक्षोन्नति देख कर किसे हर्ष न होगा।

५-कुष्ट-रोग-निवारण की योजना

कुष्ट-रोग बड़ा भयानक होता है। यह रोग संक्रामक है। इस लिए सभी देशों में कुष्ट-रोगियों के लिये अलग प्रबन्ध किया जाता है। यह रोग असाध्य माना गया है। जो इस से पीड़ित होते हैं उन के लिए जीवन दुर्वह हो जाता है। स्वयं उन्हें जो कष्ट सहना पड़ता है उसे तो वे सहते ही हैं, पर संसार में जब उनसे सभी घृणा करते हैं तब उन्हें जीवन अवश्य असह्य हो जाता है। उन की यह दयनीय दुर्दशा देख कर अब उनके लिए कुष्टाश्रमों की स्थापना होने लगी है। ऐसे आश्रमों में उनकी भली भांति सेवा शुश्रूषा की जाती है और चिकित्सा भी। इस से रोगियों के कष्ट कम होते जाते हैं।

भारतवर्ष में भी कुष्टरोगियों के लिए १६१८ में एक संघ स्थापित हुआ। श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड ने उसकी संरक्षिका होना स्वीकार किया। श्रीमती लेडी विलिङ्गडन लेडी रोनाल्डशे, लेडी पेंटलेंड और लेडी मनरो उसकी उपसभा-नेत्रीं हुईं। अन्य प्रभावशाली व्यक्ति भी इस में सम्मिलित हुए। इस संघ ने काम भी अच्छा किया है। श्रीमती लेडी चेम्सफोर्ड ने इस उद्देश की पूर्ति के लिए व्याख्यान दिये और लेख लिखे। सभा के सभी अधिवेशनों में लेडी मनरो ने उपस्थित होकर अध्यक्ष का काम सफलता पूर्वक किया। इस संघ का आर्थिक अभाव दूर करने के लिए भारतवासियों से अपील की गई। उसका परिणाम यह हुआ कि साल भर में लगभग १,८६,९६२ रुपये जमा हो गये। इस दान का अधिकांश भारतीय जनता से ही प्राप्त हुआ। दाताओं में कलकत्ते के बाबू देवेन्द्रनाथ मल्लिक का दान उल्लेख करने योग्य है। गत वर्ष उन्होंने बङ्गाल के आफिसियल ट्रस्टी को अपनी कुछ सम्पत्ति दान कर दी। उसकी वार्षिक आमदनी २४०० रुपये है। इस के सिवा उन्होंने ६००० रुपये इस लिए दिये कि मदरास में एक कुष्टाश्रम स्थापित हो जाय। कलकत्ते के कुष्टरोगियों के लिए राय ओङ्कारमल जाटिया बहादुर ने २१००० रुपये दिये। पर इस से संघ का आर्थिक अभाव दूर नहीं हुआ गत २६ अगस्त को शिमला में एक सभा हुई थी। उस में लेडी चेम्सफोर्ड ने कहा था कि अभी दो लाख रुपये की बड़ी ज़रूरत है।

स्थानाभाव के कारण कितने ही रोगियों को लौटना पड़ा समर्थ लोगों को इधर ध्यान देना चाहिए। इस संघ को अपने काम में अच्छी सफलता हुई है। उसके अधीन जितने आश्रम हैं उनमें रोगियों की संख्या खूब बढ़ रही है। गत वर्ष की अपेक्षा इस साल कोई १००० रोगी अधिक आये हैं। कुष्टाश्रम में भरती होने के लिए कितने ही रोगियों के आवेदन पत्र आ रहे हैं। इससे मालूम होता है कि कुष्टाश्रम अब लोकप्रिय होने लगे हैं। भारत सरकार कुष्ट-रोगियों के कानून में सुधार कर रही है। आशा की जाती है कि इसी साल यह नया क़ानून पास किया जायगा। उस से यह होगा कि अभी जो कोढ़ी इधर उधर भीख मांगा करते हैं उन्हें प्रान्तीय सरकार अलग आश्रम में रख सकेगी। उनके लिए अच्छे मकान बनवाये जायँगे और चिकित्सा का भी अच्छा प्रबन्ध किया जायगा। बङ्गाल की सरकार भी इन रोगियों के लिए एक ऐसा निवास-स्थान खोलना चाहती है जहाँ १००० रोगी अच्छी तरह रह सकें।

कुष्ट-रोग की चिकित्सा में भी संघ को बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई है। इस साल आश्रमों से कितने ही रोगी रोग से उन्मुक्त हो कर निकले हैं। यह सच है कि अभी यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे लोग सर्वथा उन्मुक्त हो गये हैं। पर इस में सन्देह नहीं कि उन में रोग का लक्षण नहीं है। इतनी आशा तो अब अवश्य हो गई है कि रोग की प्रारम्भिक दशा में यदि अच्छी तरह चिकित्सा की जाय तो रोग दूर हो सकता है।

भारतवर्ष में कुष्ट-रोगियों की संख्या कम नहीं है। बाँकुड़ा में तो इस रोग का एक अड्डा ही बन गया है। १९११ की मर्दुमशुमारी में वहां के कलेक्टर ने लिखा है कि भारत में कुष्ट-रोग का सब से ज़ियादह ज़ोर बाँकुड़ा में है। कुष्ट-रोग से पीड़ित अनेक भिक्षुक इधर उधर भीख माँगते फिरते हैं। कुछ रोगी तो व्यापार तक करते हैं। यह रोग अभी तक नीच जाति के लोगों में ही अधिक था, पर अब यह ऊँची जाति के लोगों में भी फैल रहा है। यही हाल पुरी का भी है। वहां भी कोढ़ियों की संख्या बहुत अधिक है। इस रोग की वृद्धि का कारण यह है कि रोगी अलग नहीं रक्खे जाते। गाँव में ऐसे रोगी दूसरे लोगों के साथ बराबर मिलते जुलते हैं, खाते पीते हैं, नहाते धोते हैं, सभी काम साथ साथ करते हैं। बात तो यह है कि जनता को यह नहीं मालूम कि इन रोगियों के साथ रहना कितना भयावह है। अभी हाल में कलकत्ते में एक कान्फरेन्स हुई थी। उसमें सर लिओनार्ड राजर्स ने इन रोगियों के लिए अलग निवास-स्थान बनाने की बड़ी आवश्यकता बतलाई थी। उन्होंने कहा था कि यदि इनके रहने के लिए अच्छा प्रबन्ध कर दिया जाय और इनकी अच्छी चिकित्सा होने लगे तो रोगी स्वयं ऐसे स्थानों में रहना पसन्द करें।

इस काम में संयुक्त राज्य (अमरीका) को बड़ी सफलता हुई है। उस ने फिलिपपाइन्स और हवाई द्वीपों में कोढ़ियों को लिये निवास-स्थान बनवाये हैं। उन द्वीपों में १८७७ से ७४ तक हज़ार पीछे १०७८ मनुष्य इस रोग से पीड़ित थे। १८९०—९४ में इनकी संख्या बढ़ कर ११८८ हो गई। तब से बराबर घट रही है। १९११—१२ में एक हज़ार में २२६ ही इस रोग से ग्रस्त थे। फिलिपपाइन्स में भी ऐसी ही उन्नति हुई है। वहां कोढ़ियों के लिए कुलियर (Culior) नामक द्वीप पसन्द किया गया है। वह अपनी प्राकृतिक शोभा के लिए प्रसिद्ध है। वहां कुष्टाश्रम खोलने का श्रेय डाक्टर विक्टर जी० हीसर को है (Dr. Victor G. Heiser)। उनका कहना है कि यहां कुछ ही समय में कोई आठ हज़ार रोगी भेज दिये गये थे, पर कुछ गड़बड़ नहीं हुआ। चिकित्सा में भी अच्छी उन्नति हो गई है। जो बेचारे सब लोगों से दुरदुराये जाते थे और भूखों मरते थे उन के लिए अब सभी प्रकार के सुभीते हो गये हैं। वे आराम से रहते हैं और खाते पीते हैं। रोगियों की संख्या भी खूब घट गई है। प्रतिवर्ष जो छूत से सैकड़ों लोग रोग ग्रस्त होते थे अब उस का भी डर नहीं रहा। दक्षिण यूरोप अफ्रिका, नारवे और आइसलेंड में भी कुष्ट रोग का उच्छेद नहीं हुआ। पर इंगलेंड में १६ शताब्दी के बाद से इस रोग का चिन्ह तक न रहा। उस के पहले एक हज़ार वर्ष तक इसका बड़ा जोर था। वहां भी एक कुष्टाश्रम स्थापित हो गया है। सर मालकम मारिस (Sir Malcolm Morris) उक्त संस्था के अध्यक्ष हैं। उनके सह-

दधि-मन्थन ।
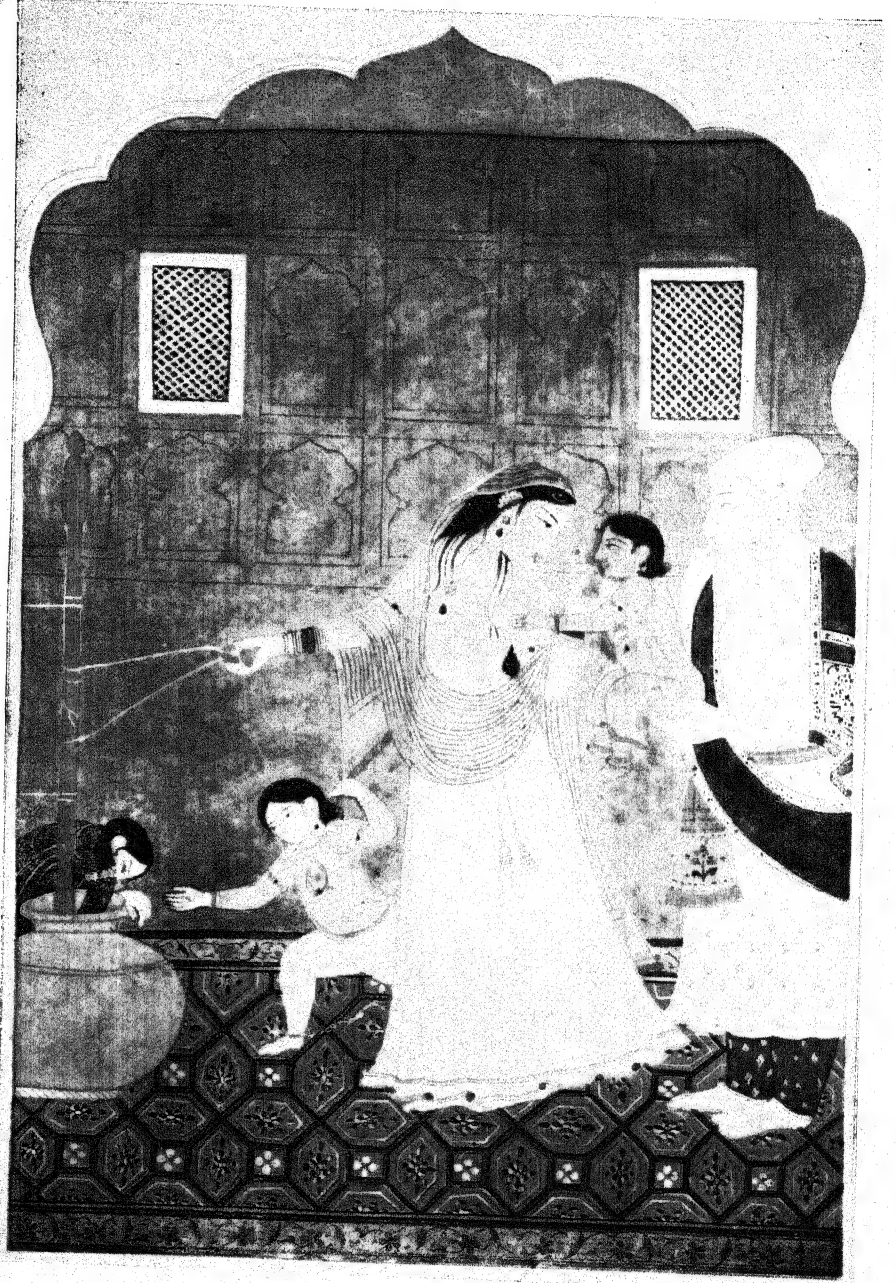
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।

कारियों में सर आर्थर डाउन्स, मांटेग्यू पोलक, डाक्टर जान मेकलिओड आदि लोकमान्य पुरुष हैं। डाक्टर मालकम अपनी संस्था को उसी ढंग से चलाते हैं जिस ढंग से दक्षिणी अफ़्रीका की ऐसी संस्थाएँ चलाई जाती हैं। जनता को रोग से बचाने की चेष्टा करना, परन्तु उसमें नृशंसता से काम न लेना, यही उनका सिद्धान्त है। रोगियों की अच्छी सेवा की जाती है और वे ऐसे ढंग से रक्खे जाते हैं जिससे उन्हें अपना एकान्त जीवन कष्ट-प्रद न जान पड़े।

६—एक प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक की मृत्यु।

इंगलेंड में पुस्तक-प्रकाशन का काम बड़े महत्व का समझा जाता है। जो लोग यह धन्धा उठाते हैं वे अपने देश के समाज और साहित्य से अच्छी तरह परिचित रहते हैं। वे योग्य लेखकों को अच्छा पुरस्कार देकर महत्वपूर्ण विषयों पर ग्रन्थ लिखवा कर प्रकाशित करते हैं। समाज की रुचि का ख़ूब ख़याल रखते हैं। उनकी पुस्तकों का प्रचार भी ख़ासा होता है। इसका मतलब यह नहीं कि वहां रद्दी किताबें निकलती ही नहीं। ऐसे भी कुछ पुस्तक-प्रकाशक हैं जो गंदे से गंदे उपन्यास प्रकाशित करने में ज़रा भी नहीं हिचकते। हिन्दी में भ्रष्ट उपन्यासों के लिए काशी बदनाम है। परन्तु विलायत में भी गंदे उपन्यासों की भरमार है। कोई अश्लीलता की हद तक पहुंच जाते हैं और कोई कोई वह सीमा भी अतिक्रमण कर जाते हैं। परन्तु जो योग्य पुस्तक-प्रकाशक हैं वे समाज में सुरुचि का प्रचार करते हैं। उनसे साहित्य ग्रन्थ-रत्नों से अलङ्कृत होता है और लोगों में विद्या की अभिवृद्धि होती है। अभी हाल में इंगलेंड के एक ऐसे ही प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशक का देहावसान हो गया। आपका नाम था विलियम हेनेमन साहब। हेनेमन साहब का जन्म सन् १८६३ ईसवी में हुआ था। पहले आप सङ्गीत की ओर झुके। कुछ समय तक उसी में संलग्न रहे। फिर सङ्गीत छोड़ कर आप पुस्तक-प्रकाशक के व्यवसाय में आये। उस समय ट्रूवनर साहब की दूकान मशहूर थी। आप उसी में उम्मेदवार हुए। इसमें आपकी बुद्धि अच्छी चमकी। आप ही के समय में Oriental Series और the British and Forigen Philosohical Library नामक ग्रन्थ-मालाओं का प्रकाशन हुआ। आप पर ट्रूवनर साहब का बड़ा विश्वास था। उन्होंने आपको एक अलग दूकान खोलने की सलाह दी। आपने उनकी सलाह मान ली। एक पुस्तक-प्रकाशक में जो योग्यता चाहिए उसे प्राप्त करने की चेष्टा में आप निरत हुए। १८८३ में आपने साहित्य का मनन आरम्भ किया। फिर आप देश देशान्तर घूमे। यूरोप के सभी देशों में जाकर आपने वहाँ साहित्य सम्बन्धी सारे कार्यों का अच्छी तरह अवलोकन किया। इस तरह आप योरप के आधुनिक साहित्य से भलीभांति परिचित हो गये। तब १८९० में आपने अपनी दूकान खोली। कहना नहीं होगा कि आपको इस व्यवसाय में बड़ी सफलता हुई। मेटरलिंक और इब्सन के ग्रन्थों का प्रचार आपने ही किया। आपने एक ग्रन्थ माला भी निकाली। उसमें संसार के मुख्य मुख्य साहित्यों के संक्षिप्त इतिहास प्रकाशित हुए। इसी तरह के अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन कर आपने अंगरेज़ी साहित्य की श्री-वृद्धि की।

आपको नाटक रचना का भी शौक़ था। दो तीन नाटक आप ने लिखे भी। लोगों की राय है कि यदि आप कोशिश करते तो अच्छे नाटककार हो जाते।

७—वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रभाव।

कुछ दिन हुए किसी पाश्चात्य कारीगर ने एक घूंसेबाज़ मूर्ति तैयार की थी। उससे जो चाहे घूंसेबाज़ी की शिक्षा ले सकता है। इसका हाल सरस्वती में प्रकाशित भी हो चुका है। अभी हाल में स्पेन के किसी कारीगर ने शतरञ्ज का उस्ताद बनाया है। यह शतरञ्ज के अच्छे अच्छे खिलाड़ियों को हरा चुका है। यह हाल सुन कर एक विद्वान् ने आशा की है कि कभी कोई कारीगर क्रिकेट का रणजीतसिंह भी बना कर खड़ा कर देगा।

विज्ञान के ऐसे आविष्कारों को देख कर संसार की भविष्य-उन्नति के विषय में एक विद्वान् ने आशङ्का की है। आपका कथन है कि इनसे मनुष्यों का पौरुष घट रहा है। यह सच है कि विज्ञान की सहायता से मनुष्य थोड़े ही समय में अधिक काम कर सकता है। परन्तु क्या उससे हमारी शक्ति क्षीण नहीं हो रही है? सच तो यह है कि जिन्हें हम अपने जीवन का साधन समझते हैं हम उन्हीं

के साधन हो गये हैं। मिलों में काम करने वाले मज़दूर यन्त्रों के साधन मात्र हैं। यन्त्र उनके विरुद्ध काम कर सकता है; पर वे यन्त्र के विरुद्ध नहीं चल सकते। हमारे दैनिक जीवन पर भी विज्ञान का यही प्रभाव पड़ रहा है। सूर्योदय हो गया है, पक्षी कलरव कर रहे हैं; पर हम अभी बिस्तर ही पर पड़े हुए हैं। क्योंकि हम सात बजे उठते हैं और घड़ी में अभी सात बजे नहीं हैं। जो किसान घड़ी की परवा न कर सूर्य की गति से अपना समय निश्चित करता है उसे हम असभ्य समझते हैं। लोग कहते हैं कि विज्ञान उनके सुखों की वृद्धि कर रहा है, पर यह उनका भ्रम है। सच पूछा जाय तो विज्ञान उनका सुख छीन रहा है। ग्रामोफोन को ही देखिए। पहले जब किसी के घर उत्सव होता था तब वह सङ्गीत का प्रबन्ध करता था। वह सङ्गीत मनुष्य के अंतःकरण से उद्गत होता था। परन्तु अब गाना सुनने की इच्छा हुई तो चट ग्रामोफोन उठा कर ले आये। पर उससे क्या हमें वह आनन्द मिलता है जो ढोल पीट कर गाने वाले किसान को प्राप्त होता है? आजकल पैरगाड़ी, मोटरगाड़ी, रेलगाड़ी हवागाड़ी आदि तरह तरह की गाड़ियों की सृष्टि हो रही है। जान पड़ता है, कुछ ही दिनों में मनुष्यों के पैर निकम्मे हो जायँगे। किसी वैज्ञानिक की राय है कि प्राकृतिक नियमानुसार यदि किसी अङ्ग का व्यवहार न किया जाय तो क्रमशः छोटा होता होता अन्त में वह अङ्गही लुप्त हो जाता है। यदि इन गाड़ियों का प्रचार बढ़ता गया तो भविष्य-मनुष्य पद-हीन पैदा होंगे। फोटोग्राफी ने चित्र-कला को चौपट कर दिया है। युद्धभूमि में संहारक यन्त्रों की वृद्धि ने मनुष्यों के वीरत्व को बिलकुल नष्ट कर दिया है। अब न वह शौर्य है और न वह औदार्य। सभ्यता के आदि-काल में जिन उपायों का [illegible] सामरिक नीति में सन्निविष्ट हो गये हैं। छापाखानों की उन्नति से ज्ञान-प्रचार का द्वार उन्मुक्त हो गया, पर पुस्तकों की विशाल राशिमें ज्ञान ऐसा लुप्त हो गया है कि जीवन भर मेहनत करने पर भूसे से दो मुट्ठी अनाज निकलता है।

८—एक अद्भुत घड़ी।

पाश्चात्य देशों के वैज्ञानिक विद्वान् अपने नये नये आविष्कारों से संसार को बहुत समय से चमत्कृ[illegible] रहे हैं। जगद्गुरु बनने वाला भारत भी उनके आविष्क[illegible] देख कर कभी कभी अपनी सिद्धियों की बातें भूल जाता [illegible]। अभी हाल में अमरीका के एक ज्योतिर्विद ने एक बहुत ही अनोखी घड़ी तैयार की है। यद्यपि यह कोई चमत्कारिक आविष्कार नहीं है तो भी एक अद्भुत यंत्र है। इसके निर्माता का नाम विलियम ब्लैफर्ड है। हाल ही में इनकी मृत्यु भी हुई है। अपनी इस अद्भुत घड़ी के बनाने में इन्होंने अपनी उम्र के पूरे चालीस वर्ष लगा दिये तब कहीं जाकर यह अद्भुत वस्तु संसार के सामने आई। आपका साहस और अध्यवसाय वास्तव में स्तुत्य है।

अब थोड़े में इस घड़ी की बात भी सुन लीजिये। यह घड़ी आकार में बड़ी है और एक मशीन के द्वारा चलती है। इससे दिन, महीना और वर्ष मालूम होते हैं। मलमास तथा और भी अनेक छोटी छोटी बातें मालूम होती हैं। इसके सिवा संसार भर के सौ से ऊपर प्रसिद्ध नगरों की देशान्तर रेखाओं का भी ज्ञान इस घड़ी से होता है। यही नहीं, उन स्थानों में किस समय कितने बजे हैं यह बात भी इस घड़ीसे मालूम हो जाती है। चन्द्रमा की कलाएँ, सूर्य की राशि और ऋतुओं के परिवर्तन भी इससे जान लिए जाते हैं। इस तरह की आवश्यक बातों को यह घड़ी नित्य बताती रहती है। इसके निर्माता का कथन है कि यह घड़ी लगातार १०००० वर्ष तक बराबर चलती रहेगी।

९—कवि-सम्मेलन।

मनुष्यों के जीवन में कविता का महत्व-पूर्ण स्थान है। उसकी इस महत्ताके विषय में अंगरेज़ी के एक [illegible] पत्र में एक बड़ा अच्छा लेख निकला है। उसका तात्पर्य यह [illegible] काल से स्थापि[illegible] है और भविष्य में भी अक्षुण्ण र[illegible] कविता होती है वैसा ही उसका महत्व होत[illegible] कवियों की श्रेष्ठ रचनाएँ सभी काल में नहीं पाई जा[illegible] और यदि सच पूछा जाय तो सभी समय उनकी ज़रूरत भी नहीं रहती। लांगफैलो नामक एक कवि ने अपनी एक कविता में इसी भाव को व्यक्त भी किया है। उसका कथन
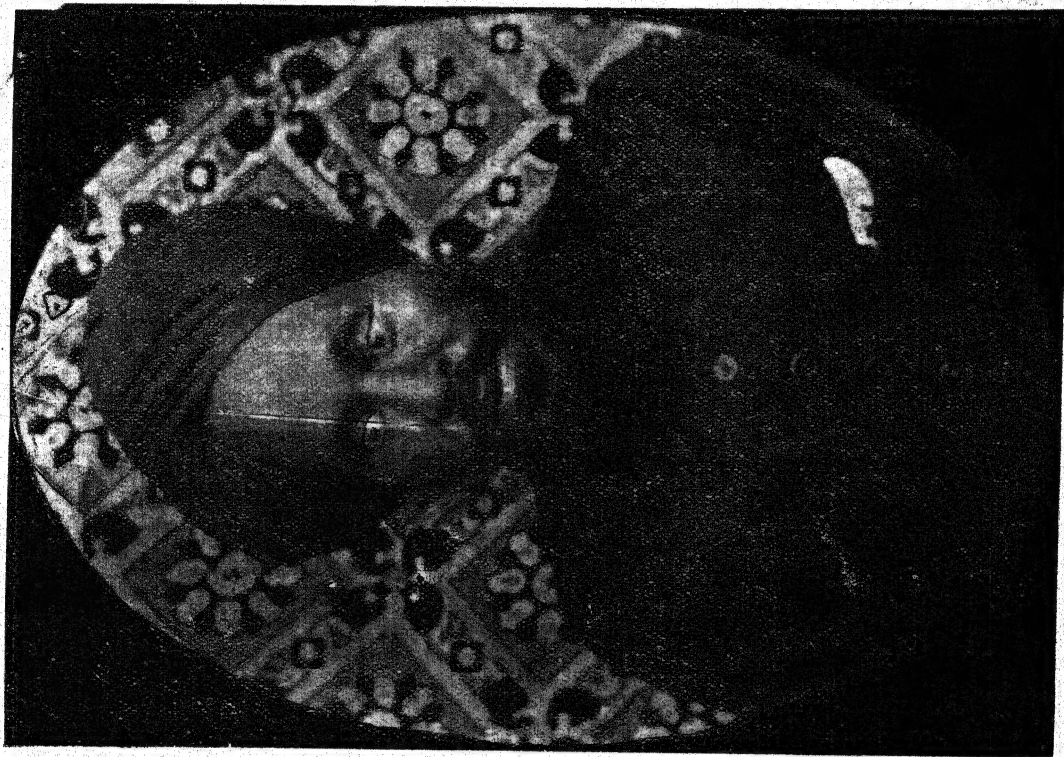
डाक्टर विलसन।

कवि-सम्मेलन (जैन-भ्रातृ-संघ) के सभापति पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय।
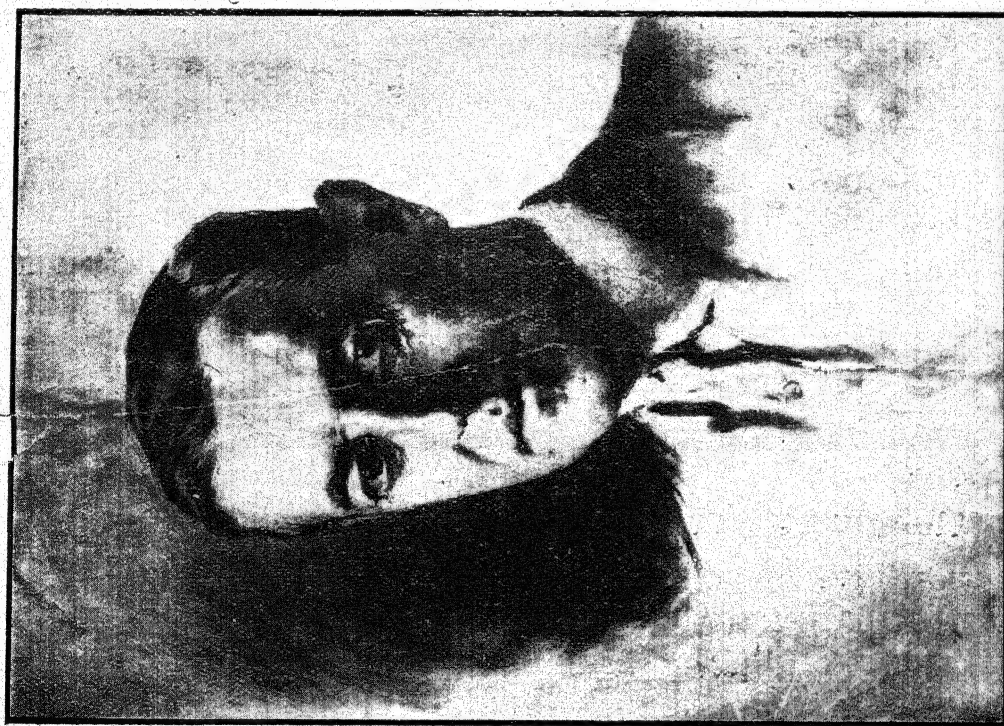
है कि महाकवियों की रचनाओं में हम अनादि और अनन्त जीवनस्रोत का अनुभव करते हैं ; इस लिए सन्ध्या के समय जब अन्धकार की श्याम छाया पृथ्वी पर धीरे धीरे फैल रही है और हम संसार के कार्यों से निवृत्त हो स्थिर हो कर बैठते हैं तब हमें एक साधारण कवि की रचना पढ़नी चाहिए जिसके हृदय से सङ्गीत-ध्वनि उद्गत हुई हो। इसी प्रकार लैम्ब ने भी कहा है, "भोजन तैयार होने में पाँच छः मिनिट की देरी है और हम व्यग्र बैठे हैं, तब कौन स्पेन्सर अथवा ऐसे ही किसी अन्य महाकवि की रचना लेकर पढ़ने बैठेगा"। कहने का मतलब यह कि साधारण कवियों की रचनाएँ भी सर्वथा निरुपयोगी नहीं रहती। हमें कभी उनकी भी ज़रूरत पड़ती है। इसलिए सभी प्रकार के कवियों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। कवि-सम्मेलनों का यही एक उद्देश है। छोटे बड़े सभी कवियों की रचनाएँ वहाँ पढ़ी जाती हैं। लखनऊ, देहली आदि स्थानों में जहां उर्दू का प्राधान्य है ऐसे मुशायरे हुआ करते हैं। हिन्दी में भी अब कवि-सम्मेलन होने लगे हैं। अभी हाल में इलाहाबाद में दो कवि सम्मेलन हुए। एक में सभापति का आसन हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पण्डित श्रीधर पाठक ने ग्रहण किया था और दूसरे में स्वनामधन्य पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय जी ने। इन सम्मेलनों का हाल सुन कर हमें विलायत के एक ऐसे कवि-सम्मेलन की याद आ गई। उसका हाल हमने किसी पत्र में कुछ समय पहले पढ़ा था। लन्दन में ही यह कवि-सम्मेलन हुआ करता है। उसमें अच्छे अच्छे विद्वान् और लब्धप्रतिष्ठ कवि सम्मिलित होते हैं। उसमें कविता का मर्मोद्घाटन किया जाता है और उसके गुण-दोष प्रदर्शित किये जाते हैं। सभी इस सम्मेलन की सम्मति का आदर करते हैं। यदि उसने किसी काव्य की प्रशंसा [illegible] [illegible] है। यदि हिन्दी में भी ऐसे कवि-सम्मेलन होने लगें तो उनसे बड़ा लाभ हो।

११—बङ्गाल में कृषि-शिक्षा।

कुछ समय पहले वाणिज्य की उन्नति होने से कृषि की अवनत दशा हो गई थी। परन्तु अब सभी देश कृषि का महत्व समझ गये हैं। प्रत्येक देश में वैज्ञानिक [illegible] से कृषि-शास्त्र की शिक्षा देनेवाली संस्थाओं की वृद्धि [illegible] है। योरप में डेनमार्क एक छोटा सा देश है। परन्तु [illegible] शिक्षा में उसने बड़ी उन्नति की है। इस समय वहां ६ ऐसे विद्यालय हैं जहां केवल कृषि-शास्त्र की शिक्षा दी जाती है। भारतवर्ष में पूना, मदरास सबोर, कानपुर, लायलपुर और नागपुर में कृषि-कालेज खोले गये हैं। भारतवर्ष अब कृषि-प्रधान देश हो गया है—छः कालेजों से कुछ काम नहीं हो सकता सरकार भी यह मानती है। इस लिए वह कृषि-विद्यालयों की वृद्धि करना चाहती है। अभी हाल में बङ्गाल की सरकार ने इस विषय की सूचना प्रकाशित की है। उसका मतलब नीचे दिया जाता है।

सबोर में जो कृषि-कालेज है वहीं बङ्गाल और बिहार के छात्र जाकर कृषि-शास्त्र पढ़ते हैं। परन्तु सबोर बिहार की हद में है। इसलिए बङ्गाल की सरकार ढाका में एक कालेज खोलना चाहती है। इसके सिवा वह दो स्कूल भी स्थापित करेगी, एक ढाका में और दूसरा चिनसुरा में। इन स्कूलों में देशी भाषा ही के द्वारा कृषि-शास्त्र की शिक्षा दी जायगी। सरकारी कालेजों में कृषि की उच्च शिक्षा पाकर जो पदवीधर निकलते हैं वे प्रायः सरकारी कृषि-विभाग में नौकरी करते हैं। परन्तु इन स्कूलों का उद्देश सरकारी नौकर तैयार करना नहीं है। इन में शिक्षा पाकर छात्र सच्चे किसान होकर निकलेंगे। मतलब यह कि इनमें किसानों के लड़कों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध रहेगा। उन्हें ऐसी शिक्षा दी जायगी कि जिससे वे अच्छी तरह लिख पढ़ सकेंगे, भूगोल और गणित का साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेंगे और व्यवहारिक कृषिविज्ञान की भी शिक्षा पालेंगे। [illegible] वे बढ़ई और लोहारों का भी कुछ काम सीख [illegible] औज़ारों को बना सकें और [illegible] दुरुस्त कर सकें। यह [illegible]

ढाका के कृषिकालेज में कृषिशास्त्र की उच्च [illegible] जायगी। कलकत्ता-यूनीवर्सिटी-कमिशन ने जिस पाठ्य क्रम का अनुमोदन किया है उसीके अनुसार इसमें शिक्षा का प्रबन्ध किया जायगा। कृषिशास्त्र की अन्तिम परीक्षा

पास कर लेने में उत्तीर्ण छात्रों को कलकत्ता-विश्वविद्यालय की ओर से पदवी दी जायगी।

अभी कालेज की स्कीम विचाराधीन है। कहा जाता है कि यह कालेज उच्च आदर्श पर चलाया जायगा। आशा है, इसके द्वारा बङ्गाल में कृषि शास्त्र का अच्छा प्रचार होगा।

१२—कलकत्ते में बौद्ध बिहार।

भगवान् बुद्धदेव ने असीम लोकोपकार कर कुश नगर में शरीर छोड़ा। उनका अन्त्येष्टि-संस्कार हो जाने पर उनके शरीर-धातु अर्थात् अस्थि और भस्म आदि आठ भागों में बांटे गये। लोगों ने उनपर बड़े बड़े स्तूप बनवाये। अब इन स्तूपों का ध्वंसावशेषमात्र रह गया है। कुछ समय पहले पेशावर में एक डिब्बे में बुद्धदेव के धातु मिले थे। उनमें हड्डियों के तीन टुकड़े थे। उनमें से एक तो ब्रह्मदेश में ही रह गया, दूसरा श्याम देश ने रख लिया और तीसरा जापान भेज दिया गया। जापानियों ने उसे एक बड़े मन्दिर में रखना निश्चय किया। यह तो पेशावर में पाये गये धातु का हाल है। सन् १८९२ में मदरास के पुरातत्व विभाग के एक अधिकारी रे साहब ने भी भट्टिप्रोलु के ध्वंसावशेष से बुद्धदेव के धातु खोद निकाले थे। वह मदरास के गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल म्यूज़ियम में अभी तक रक्खा हुआ था। अब वह कलकत्ता की महाबोधी सभा को दे दिया गया। महाबोधी सभा ने उसको एक बिहार में प्रतिष्ठित करना निश्चय किया। बिहार बनवाने के लिए हिन्दू और बौद्ध दोनों ने दान दिये। हनोलूलू से मिसेस फार्सटर ने अच्छी रकम भेजी। कालेज स्क्वैर में यह बिहार बनवाया गया है। गत नवम्बर को बड़े समारोह के साथ बङ्गाल के गवर्नर लार्ड रोनल्डशे महोदय ने महाबोधी सभा के प्रतिनिधि सर आशुतोष मुकर्जी को वह अस्थि-खण्ड अर्पण किया। सर आशुतोष उस समय रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थे और नंगे पैर थे। इसी वेश में उन्होंने बुद्ध-देव का पवित्र धातु ग्रहण किया। इस अवसर पर लार्ड रोनल्डशे महोदय ने एक बड़ा महत्व पूर्ण व्याख्यान दिया। नीचे हम आपके कथन से इस धातु के सम्बन्ध की कुछ बातें उद्धृत करते हैं।

इस धातु की प्राचीनता और महत्व के विषय में थोड़ा भी सन्देह नहीं है। सैकड़ों वर्षों तक यह कृष्णा नदी के समीप भट्टिप्रोलु के एक स्तूप में सुरक्षित रहा। उस प्रान्त में बौद्धकालीन चैत्यों और स्तूपों का बाहुल्य है। यदि पुरातत्व-विभाग के अधिकारी कोशिश न करते तो आज तक वे बिलकुल नष्ट हो गये होते। सड़क बनवाने में इन्हीं स्तूपों का मसाला लिया जाता था। ग़नीमत यही कि पहले एक बार इनकी अच्छी तरह जांच कर ली जाती थी। ऐसी ही एक परीक्षा में बुद्धदेव का यह धातु मिला। विश्वसनीय प्रमाणों से मालूम होता है कि यह कम से कम बाइस सौ वर्ष पहले उस स्तूप में रक्खा गया था। सम्भव है कि बुद्धदेव के निर्वाण-पद प्राप्त होने पर उनके धातु के जो आठ भाग किये गये थे उन्हीं में से यह एक हो। अनागरिक धर्मपाल जी के अभिनन्दनीय उद्योग का यह फल है कि आज इसकी स्थापना एक बिहार में की जाती है।

१३—डाक्टर विलसन को नोबल-पुरस्कार।

अमरीका के प्रेसीडंट डाक्टर विलसन का संक्षिप्त जीवन-चरित्र सरस्वती में प्रकाशित हो चुका है। गत योरोपीय महासमर में आपने सार्वभौम शान्ति स्थापित करने का बड़ा उद्योग किया। आपको इसी सेवा के उपलक्ष्य में नोबल-पुरस्कार मिला है। सरस्वती के इस अङ्क में आपका चित्र दिया जाता है।

पुस्तक-परिचय।

१—मोटर-प्राइमर—मँझोले आकार की इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या दो सौ के ऊपर है। छपाई साधारण और मूल्य १।।।=) है। एच० डब्ल्यू० पाइक साहब की हस्तलिखित एक अँगरेज़ी पुस्तक का यह अनुवाद है। अनुवादक हैं सुलतानपुर ज़िले के दियरा राज्य के कुमार कोसलेन्द्रप्रताप साहि। भाषा बोल चाल की हिन्दी है। मोटरों का प्रचार ख़ूब बढ़ रहा है। जिस के पास चार पैसे हैं वह अब टमटम, फ़िटन और पालकी गाड़ी पर पैर नहीं रखना चाहता। बिना मोटर-कार के उसकी

इज़्ज़त-अफ़ज़ाई नहीं। मोटरें रखते तो बहुत लोग पर उन के कल पुर्ज़ों का हाल वे नहीं जानते। जानते भी हैं तो बहुत कम। परिणाम यह होता है कि ज़रा सा ऐब हो जाने पर भी उन्हें मिस्त्री महाराज की शरण जाना पड़ता है। प्रस्तुत पुस्तक में मोटरों के प्रत्येक कल पुरज़े की शकल सूरत देकर उस के काम का वर्णन किया गया है। कोई बात ऐसी नहीं छोड़ी गई जिसके ज्ञान बिना काम रुक जाय। मोटर रखने और मोटर चलाने वाले दोनों के लिए यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। इस की एक एक कापी मँगाकर उन्हें पढ़ना और पास रखना चाहिए।

२—मराठी की दो पुस्तकें—इन दोनों पुस्तकों का आकार मँझोला और छपाई तथा काग़ज़ साधारण है। दोनों के लेखक हैं—श्रीयुत नारायणहरि आपटे। प्रकाशक श्रीयुत महादेव गणेश गोरे, मधुकर आफ़िस, दादर, बम्बई को लिखने से मिलती है। पहली पुस्तक का नाम है—हृदयाची श्रीमन्ती। इस की पृष्ठ संख्या ६२ और मूल्य १२ आने अर्थात् कोई दो आने फार्म! यह एक आख्यायिका है। अच्छी भाषा में लिखी गई है। सरस है। इस में हृदय की उच्च उदारता का सुन्दर दृश्य दिखाया गया है। दूसरी पुस्तक का नाम है—समर्थ-शिष्य। इस की पृष्ठ संख्या कोई डेढ़ सौ, पर मूल्य केवल बारह ही आने है। यह भी एक कल्पित कथा है। अपना घर-द्वार और सम्पत्ति आदि का परित्याग कर के गोविन्दराव नाम के एक व्यक्ति ने देशोद्धार के इरादे से, समर्थ रामदास स्वामी का शिष्य होना स्वीकार किया है। गुरुदेव ने प्रसन्न हो कर उसे देशोद्धार का मार्ग बताया है। उन्होंने गोविन्दराव से देश की वर्तमान दशा का वर्णन [illegible] गिरी हुई दशा को स्वयं ही उन्नत कर सकते हैं। इसके लिए त्याग, तपस्या और आत्म विस्मृति तक की आवश्यकता है। प्रयत्न करने और काम पड़ने पर शरीर का मोह तक छोड़ देने से सफलता अवश्य प्राप्त होती है। यही इस कहानी का सारांश है।

३—प्राचीन भारत—लेखक पण्डित हरिमंगल मिश्र एम० ए०—प्रकाशक, ज्ञान मण्डल कार्यालय, काशी।

इस पुस्तक में आरम्भ से ले कर लगभग १०० [illegible]ब्द तक के भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास लिखा है। हिन्दी में अभी ऐतिहासिक ग्रन्थों का अभाव ही सा है। प्राचीन भारतवर्ष का तो सर्वाङ्ग सुन्दर इतिहास एक भी नहीं निकला है। लेखक महोदय ने पचीसों ग्रन्थों का अनुशीलन कर के यह ग्रन्थ लिखा है। इस में सन्देह नहीं कि हिन्दी में यह अपने ढंग की एक ही किताब है।

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इस में पौराणिक राजवंशों के भी क्रिया-कलापों का वर्णन है। अभी तक भारतवर्ष के इतिहास पर जितने ग्रन्थ निकले हैं उन में पुराणों की उपेक्षा की गई है। इस में सन्देह नहीं कि पुराणों में ऐतिहासिक तथ्य विद्यमान हैं। पर उन ऐतिहासिक तथ्यों को ढूंढ़ निकालना साहस का काम है। पुराण इतिहास नहीं हैं। प्राचीन काल में भी पुराण इतिहास से भिन्न माने गये हैं—इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। इसलिए उनकी सभी बातें विश्वसनीय नहीं हैं। स्मिथ साहब ने तो रामायण और महाभारत को भी इतिहास का स्थान नहीं दिया। यह तो लेखक महोदय ने भी स्वीकार किया है कि प्राचीन ऋषियों ने जो ग्रन्थ लिखे सो केवल परोपदेश की इच्छा से। उन दिनों रूखी सूखी घटनाओं की सूची सुनना लोगों को प्रिय न रहा होगा अतएव ऐतिहासिक बातें भी उपदेश के लिए उपाख्यान की रीति से लिख दी गई हैं। यदि यही बात है तो उन उपाख्यानों के आधार पर इतिहास की रचना कैसे की जा सकती है? इस लिए इस पुस्तक में १६४ पृष्ठ तक जो घटनाएँ वर्णित हुई हैं वे सभी ऐतिहासिक नहीं मानी जा सकतीं।

१६४ पृष्ठ से आगे प्राचीन भारत का विश्वसनीय [illegible] आरम्भ हुआ है और १२९ पृष्ठों ही में उसका वर्णन [illegible] तत्कालीन घटनावलियों का सूचीपत्र मात्र है। [illegible] लोग इतिहास शब्द का यही अर्थ करते हैं। [illegible] लिए आप ने आधुनिक ऐतिहासिकों का अनुकरण किया [illegible] परन्तु हम ने तो आधुनिक विद्वानों से इतिहास का कुछ दूसरा ही अर्थ सुना है। उन्हीं में से एक, ब्राइस साहब, का कथन है कि इतिहास का अर्थ केवल राजनैतिक इति-

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

भाग २२, खण्ड १] मार्च १९२१—फाल्गुन १९७७ [संख्या ३, पूर्ण संख्या २५५

त्रिमूर्ति।

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान के रूप को परिमित देखना नहीं चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि काम नहीं देती तब वह कल्पना का आश्रय लेता है। तब काव्य की सृष्टि होती है। बाह्य जगत् मनुष्यों के अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होकर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़ के साथ चेतन का सम्मिलन होता है। जो बुद्धि का अवलम्बन करते हैं उनके लिए सूर्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है और मन्दाकिनी एक नदी है। परन्तु कल्पना के द्वारा कवि सूर्योदय में ऊषा देवी का दर्शन करते, हिमालय में भगवान् शिव का विराट रूप देखते और मन्दाकिनी में मातृ-मूर्ति देख कर गद्गद हो जाते। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक मेकाले की राय है कि ज्यों ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है त्यों त्यों कवित्व का ह्रास होता है। उनके इस कथन का अभिप्राय यही है कि ज्यों ज्यों मनुष्यों में प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता है और कृत्रिमता आती जाती है, ज्यों ज्यों मनुष्य प्रकृति का संसर्ग छोड़ कर संसार में प्रवेश करता जाता है, त्यों त्यों उसका जीवन-रस सूखता जाता है। जीवन के प्रभात-काल में किसको यह जगत् सुन्दर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवन से क्रीड़ा करते हैं, फूलों से मैत्री रखते हैं और पृथ्वी की गोद में निश्चिन्त विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल, सौम्य और मधुर रहता है। परन्तु जीवन के मध्याह्न-काल में हमारे लिए प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। संसार के अनन्त कार्यों में निरत हो कर हम केवल विश्व के विषम सन्ताप का अनुभव करते हैं। सब कुछ वही है, हमीं दूसरे हो

जाते हैं। पहले वर्षाकाल में कीचड़ का कुछ भी ख़याल न कर हम आकाश के नीचे पृथ्वी के वक्षस्थल पर विहार करते थे। जब जल के छोटे छोटे स्रोत कल-कल करते, हँसते, नाचते, थिरकते, बहते जाते थे तब हम भी उसी के साथ खेलते, कूदते, दौड़ते थे। परन्तु सभ्य होने पर हमें वर्षा में कीचड़ और गँदलापन का दृश्य दिखाई देता है और हम अपने संसार को नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुलसीदास के वर्षा-वर्णन में हम यह बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोनों विख्यात कवि हैं, दोनों ने एक ही विषय का वर्णन किया है। परन्तु जहाँ वाल्मीकि के वर्णन में हम प्रकृति का यथार्थ रूप देखते हैं वहाँ तुलसीदास के वर्णन में हम संसार की कुटिलता का परिचय पाते हैं। इसका कारण यह है कि वाल्मीकि ने तपोवन में कविता लिखी थी और तुलसीदास ने काशी में अथवा अन्य किसी नगर में।

कवि पर देश-काल का यही प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कवि की कल्पना-गति का बाधक नहीं होता। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसी के कारण कवि की कल्पना एक निर्दिष्ट पथ ही पर विचरण करती है। होमर सीता की कल्पना नहीं कर सकता था और न वाल्मीकि हेलेन की सृष्टि कर सकते थे। भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न भावों की प्रधानता होती है। एक ही देश में भिन्न भिन्न युगों के कवियों की रचनाओं में हम जो विभिन्न भावों की प्रधानता पाते हैं उसका कारण यही है। सभ्यता के आदि-काल में जो कवि होंगे उनकी रचनाओं में हम भाषा का आडम्बर नहीं देखेंगे। निर्मल जल-धारा के समान उनकी कविता सदैव प्रासादिक और विशद रहेगी। परन्तु धन और वैभव से सम्पन्न देश में कवियों की रुचि भाषा की सजावट की ओर अधिक रहेगी, इतना ही नहीं उनकी कविता का विषय भी बाह्य जगत् होगा।

साहित्यज्ञों ने ऐसे ही प्रधान प्रधान लक्षणों के अनुसार साहित्य के युग को तीन कालों में विभक्त किया है, प्राचीन काल, मध्यकाल और नवकाल। साहित्य का यह काल-विभाग सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है। साहित्य के मुख्य विषय दो ही हैं अन्तर्जगत् और बाह्य जगत्। भिन्न भिन्न युगों में इन दोनों का सम्बन्ध भी भिन्न भिन्न होता है। कोई भी एक युग लीजिए। उस काल की सभी रचनाओं में कुछ नकुछ सादृश्य अवश्य रहता है। प्राचीन काल में कवि बाह्य जगत् को अन्तर्जगत् में मिला कर एक अभिनव जगत् की सृष्टि करते हैं जहाँ देवता और मनुष्यों का सम्मिलन होता है। उस समय अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में भेद नहीं रहता। पृथ्वी मधुपूर्ण हो जाती है। तब हमें जान लेना चाहिए कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्य युग में पहुँच गये हैं।

काव्य दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं जो कवि के व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किये जा सकते। उनमें कवि ही की आत्मा छिपी रहती है। ऐसे काव्यों में कवि अपनी प्रतिभा के बल से अपने जीवन के अनुभवों ही के द्वारा समस्त मानव जाति के चिरन्तन गूढ़ भावों को व्यक्त कर देता है। परन्तु कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिनमें विश्वात्मा संचरण करती है। वे देश और काल से अनवच्छिन्न रहते हैं। ऐसे ही काव्यों को महाकाव्य कहते हैं और उनकी रचना वही कवि करते हैं जो विश्वकवि कहलाते हैं, जो समग्र देश और समग्र युग के भावों को प्रकट कर अपनी कृति को मानव-जाति का जीवन-धन बना जाते हैं। गिरिराज हिमालय के सदृश वे पृथ्वी को भेद कर आकाश-मण्डल को छूते हैं। काल का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। वे सदा अटल बने रहते हैं और उनकी कविता-जाह्नवी अनिश्चित काल

से लोगों को पुनीत करती रहती है। भारतवर्ष में रामायण और महाभारत इसी प्रकार के महा-काव्य हैं। प्राचीन ग्रीस के इलियड और आडेसी उसी के समकक्ष महाकाव्य हैं। भारतवर्ष में जो स्थान वाल्मीकि और व्यास का है, योरप में वही स्थान होमर का है।

वाल्मीकि, व्यास और होमर के जीवनचरित लिखने की विफल चेष्टा करने की अपेक्षा उनके काव्यों पर विचार करना अधिक समुचित होगा। इसमें सन्देह नहीं कि इन कवियों के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। होमर के जीवन-चरित कई एक प्रसिद्ध हैं। उन्हीं में से एक का लेखक हेरोडोटस माना जाता है। इन दन्तकथाओं में कवियों की असाधारण बातों ही का उल्लेख किया गया है। वाल्मीकि, व्यास और होमर के काव्य अलौकिक हैं। उनकी कृतियों से यह साफ़ प्रकट होता है कि वे दिव्य-शक्ति-सम्पन्न थे। अतएव यदि मनुष्य उनके जीवन में भी अलौकिकता देखें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। कहा जाता है कि वाल्मीकि पहले अत्यन्त क्रूर और नृशंस थे। पीछे राम का नाम लेकर वे तपस्वी हो गये। जिसके काव्य में करुणा-रस का अपूर्व स्रोत बह गया है उसकी क्रूरता भी देखने योग्य होगी। बात यह है कि रामायण के पाठ से भक्ति का उन्मेष होता है और उससे पाषाण-हृदय भी द्रवित हो जाता है। यही बात इस किंवदन्ती में बतलाने की चेष्टा की गई है। वाल्मीकि के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि कौञ्च-पक्षी के वध से व्यथित हो कर उन्होंने श्लोक की रचना की। ऐसी घटनायें असाधारण होने पर भी असम्भव नहीं है। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये किंवदन्तियाँ कवियों की कृतियों पर सर्वसाधा-रण की आलोचनायें हैं। कविता की उत्पत्ति कैसे होती है, यह इस घटना के द्वारा बतलाया गया है। इस मर्त्यलोक में जीवन और मृत्यु की जो लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी करुण-वेदना की जो ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अनन्त वियोग की जो दारुण निशा आती है, उसी से मर्मा-हत होकर कवि के हृदय से सहसा उद्गार निकल पड़ता है। वही कविता है। जिस कविता में विश्व-वेदना का स्वर नहीं वह कविता माधुर्य से हीन है। शेली ने इसी भाव को निम्नलिखित पद्यों में व्यक्त किया है—

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thoughts.

व्यासदेव ने हिन्दू-समाज को धर्म और नीति की शिक्षा दी है। उनके महाभारत में ही हिन्दू-सदा-चार की सृष्टि हुई है। इसीलिए उसको पञ्चम वेद कहते हैं। परन्तु धर्म और ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना करनेवाले व्यास जी का जन्म-वृत्तान्त ऐसा नहीं है कि उसे प्रकट करने के लिए लोग लालायित हों। क्या उनके जीवन से यह सिद्ध नहीं होता है कि जन्म किसी भी मनुष्य का भविष्य निश्चित नहीं कर देता। होमर अन्धा था। होमर शब्द ही का अर्थ अन्धा है। उसी प्रकार हमारे सूरदास भी अन्धे थे। जो जगत् के बाह्यरूप की अवहेलना करके अन्तर्गत सत्य की खोज करता है उसके लिए ये चर्म-चक्षु सर्वथा व्यर्थ हैं। आँख से तो हम पृथ्वी पर पृथ्वी ही देखते हैं। पर होमर ने नेत्र-हीन हो कर पृथ्वी पर स्वर्ग का दर्शन किया।

वाल्मीकि भारतवर्ष के आदि-कवि माने जाते हैं। उनकी गणना महर्षियों में की जाती है। हिन्दू-समाज में ऋषि का स्थान बड़ा ऊँचा है। उनकी देव-तुल्य पूजा होती है। उनके कथन का खण्डन करने का साहस कोई नहीं कर सकता। उनके वचन मिथ्या कभी नहीं होते। आदि-कवि का महर्षि होना यह सूचित करता है कि कवि को वही स्थान प्राप्त है जो ऋषि को है। उपनिषदों में भी कहा गया है 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'। अतएव जिस कवि की

रचना में वह गुण नहीं जो एक ऋषि के वचन में होना चाहिए उसे हम कवि नहीं कहेंगे। अलङ्कार, भाषा का सौष्ठव, माधुर्य आदि काव्य के गुण कहे जाते हैं। परन्तु ऋषि की कृति में हम इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होंगे। हम तो उससे यही आशा करेंगे कि वह हममें स्वर्गीय भाव भर दे। ऋषि का वचन कामधेनु के समान हमारी सब वासनाओं का अन्त कर सकता है और रामायण का पाठ करने से फिर कोई वासना नहीं रह जाती। तभी तो वह स्वर्ग का सोपान कहा गया है।

रामायण में एक आदर्श समाज का चित्र है। इसी लिए कुछ लोगों को उसकी कथा अस्वाभाविक प्रतीत होती है। परन्तु यह उनका भ्रम है। रामायण से यही सिद्ध होता है कि मानव-समाज किस प्रकार आदर्श रूप में परिणत हो सकता है, पृथ्वी स्वर्ग कैसे हो सकती है। अरविन्द बाबू की राय है कि रामायण में एक विशुद्ध नैतिक अवस्था का चित्र पाया जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक, दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास दिखाया गया है। साथ ही साथ इन शक्तियों को स्वभाव की शुद्धता और श्रेष्ठ धार्मिक जीवन के कार्यों का सहायक बनाने की भी आवश्यकता बतलाई गई है।

व्यास जी ने महाभारत में पार्थिव शक्ति की पराकाष्ठा दिखला कर उसकी निस्सारता दिखलाई है। कर्तव्याकर्तव्य और धर्माधर्म का बड़ा ही सूक्ष्म निर्णय उन्होंने किया है। स्वर्ग में युधिष्ठिर को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके धर्मात्मा भाइयों का तो वहाँ पता नहीं पर अधार्मिक दुर्योधन स्वर्ग की विभूति का उपभोग कर रहा है। बात यह कि अपने कर्तव्य-क्षेत्र में बलि हो जाना, यह धर्म की पराकाष्ठा है।

होमर के दो काव्य प्रसिद्ध हैं। एक का नाम इलियड है और दूसरे का आडेसी। इलियड में प्राचीन ग्रीस-इतिहास में प्रसिद्ध ट्रोजनवार नामक युद्ध का सविस्तर वर्णन है। प्राचीन काल में एशिया में एक समृद्धिशाली राज्य था। उसकी राजधानी थी ट्राय। उस राज्य के अधीश्वर का नाम प्रायम था। उसका एक पुत्र था पेरिस। पेरिस स्पार्टा-नरेश मेनीलास की स्त्री हेलेन को भगा लाया। इस अपमान से क्षुब्ध हो कर मेनीलास ने सब ग्रीक राजाओं को एकत्र कर ट्राय पर आक्रमण किया। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। दोनों ओर के बड़े बड़े वीर धराशायी हुए। अन्त में ग्रीक वीरों ने ट्राय को हस्तगत कर ही लिया। यही इलियड की कथा है। आडेसी में यूलीसेस नामक एक ग्रीक-नरेश की यात्रा वर्णित है।

होमर की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रचण्ड थी। उसके काव्यों में एक विलक्षण शक्ति है। महाकाव्यों में कथा ही पर ज़ोर दिया जाता है। पर होमर ने भिन्न भिन्न चरित्रों की अवतारणा कर और उनके मानसिक भावों का विश्लेषण कर, अपने काव्य को नाटक का रूप दे दिया है। एक विद्वान् समालोचक की राय है कि यदि हम नाटककारों में होमर को स्थान देना चाहें तो हमें उसे शेक्सपियर का समकक्ष रखना पड़ेगा। इस दृष्टि से उसके काव्यों की तुलना रामायण और महाभारत से नहीं की जा-सकती। परन्तु रामायण और महाभारत की तरह होमर के काव्यों ने योरप में एक विचार-धारा प्रवर्तित कर दी। मनुष्यों के जीवन में जिस अदृष्ट शक्ति का प्राबल्य है उससे पृथक् कर उसने मानव-जाति के अध्यात्मशक्ति-विहीन जीवन का दर्शन करा दिया। हेलेन पार्थिव श्री की प्रतिमा है जिस प्रकार द्रौपदी क्रिया-शक्ति की और सीता विशुद्धि की। उसी के प्रभाव से ट्राय जर्जर हो गया। अब हम कविता के नैपुण्य पर कुछ विचार करना चाहते हैं।

कविता के लिए अलङ्कार भी आवश्यक माने गये हैं। होमर की उपमाओं के विषय में एक समालोचक का कथन है कि होमर ने भाषा की

सौन्दर्य-वृद्धि के लिए उपमा का प्रयोग नहीं किया है। वह जिससे किसी बात को विशेष प्रभावोत्पादक बनाना चाहता था उसी का उल्लेख उपमा द्वारा कर देता था। उपमाओं से कवित्व-शक्ति का उच्छ्वास प्रकट होता है इसलिए उनका प्रयोग उतना ही स्वाभाविक जान पड़ता है जितना उनका प्रभाव। वाल्मीकि की उपमायें बड़ी सरल होती हैं। परन्तु व्यासजी की उपमाओं में एक प्रकार की निरंकुशता है।

होमर की कविता के विषय में मैथ्यू आर्नोल्ड साहब का कथन है कि उसके तीन प्रधान गुण हैं। पहला गुण है उसका वेग। गिरिनिर्झर की तरह होमर का कविता-स्रोत बड़े ही वेग से बहता है। उसकी गति कभी भी शिथिल नहीं होती। उसकी छन्दोयोजना भी ऐसी है कि उससे कविता की गति तीव्रतर हो जाती है। दूसरा गुण है भावों की विशदता। होमर की लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण उसकी प्रासादिक कविता है। तीसरा गुण है भावों की उच्चता जिससे मनुष्य अपना पशुत्व दूर कर देवोपम हो जाते हैं। मैथ्यू आर्नोल्ड साहब का यह कथन रामायण और महाभारत के लिए भी उपयुक्त है। उनमें भी कविता की निर्बाध धारा, प्रासादगुण और स्वर्गीय भाव हैं।

कवि का प्रधान गुण है आदर्श चरित्रों की सृष्टि। होमर ने आदर्श नर-नारियों के चरित्र अङ्कित किये हैं और व्यास और वाल्मीकि ने भी। परन्तु इनके चरित्रों की परस्पर तुलना नहीं हो सकती। होमर की हेलेन, वाल्मीकि की सीता और व्यास की द्रौपदी तीनों अद्वितीय हैं। जैसी सफलता हेलेन के चरित्राङ्कण में होमर को हुई है वैसी ही सफलता व्यास और वाल्मीकि को द्रौपदी और सीता के चरित्र-चित्रण में हुई है। परन्तु कला की कुशलता का विचार न कर यदि चरित्र की दिव्यता पर विचार किया जाय तो राम और सीता के चरित्र अद्वितीय हैं।

रामायण में रामचन्द्र और सीता का ही चरित्र प्रधान है। अन्य चरित्रों की अवतारणा इन्हीं दो के चरित्र को विशद करने के लिए हुई है। रामचन्द्र पुरुषोत्तम हैं। वे लोक-मर्यादा के संरक्षक हैं। वे सत्यव्रत हैं। वे शूर हैं। उनमें देवदुर्लभ गुण हैं। परन्तु यदि राम में सिर्फ़ यही गुण रहते तो कदाचित् आज मनुष्यों के हृदय-मन्दिर में उनका यह स्थान न रहता। उनके चरित्र की विशालता और भव्यता देख कर लोग विस्मय-विमुग्ध हो जाते पर उन्हें अपनाते नहीं। आज रामचन्द्र को ईश्वर-पद प्राप्त है। उनका नाम-मात्र स्मरण करके नीच मनुष्य भी भव-सागर को पार कर जाता है। मनुष्यों की यह भक्ति-भावना उनके अलौकिक चरित्र के कारण नहीं है किन्तु उनके लौकिक चरित्र के कारण है। उनकी विशाल महिमा से आतङ्क उत्पन्न हो सकता है, प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। रामचन्द्र ईश्वर थे पर आये थे वे मनुष्य ही के रूप में। उनमें मनुष्योचित गुण थे। वे पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे। उन्होंने मनुष्यों के सुख-दुःख और आशा निराशा का अनुभव किया था। जो राजराजेश्वर हैं वह दरिद्रों की कुटी का अनुभव नहीं कर सकता। परन्तु रामचन्द्र ने दारिद्र-व्रत भी धारण किया था, राजसिंहासन से नीचे उतर कर दरिद्रता को आलिङ्गन किया था, वल्कल-वस्त्र पहन कर जङ्गल जङ्गल घूमे थे। तभी तो अधमों को उनके पास जाने का साहस होता है। तुलसीदासजी ने रामचन्द्र के चरित्र में उनकी ईश्वरीय शक्ति का बार बार स्मरण कराया है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। सच पूछो तो इससे रामचरितमानस में बड़ा दोष आगया है। सीता की वियोग-व्यथा से पीड़ित होकर रामचन्द्रजी ने जो विलापोद्गार किये हैं उन्हें पढ़ कर हृदय

द्रवीभूत हो जाता है। सम्भव नहीं कि कोई भी पाठक उन स्थलों को पढ़ कर—जहाँ तुलसीदासजी ने करुण-रस का स्रोत बहा दिया है—आँसू न बहावे। परन्तु ऐसे स्थानों में तुलसीदासजी हठात् कह देते हैं, ये तो ईश्वर हैं, नर-लीला कर रहे हैं, इन्हें कहाँ दुःख-सुख। उस समय हृदय हताश हो जाता है। क्योंकि तब वे हमसे बहुत दूर हट जाते हैं। कौशल्या की भाँति हम भी हाथ जोड़ कर कहते हैं, 'भगवन्, आप अपना विश्वरूप मत दिखलाइए। ईश्वर के रूप में मत आइए। हमें आप तपस्वी-रूप में ही दर्शन दीजिए। इसी प्रकार धनुष-भङ्ग में सीता के हृदय में आशा और निराशा का जो द्वन्द्व-युद्ध चला है उससे हृदय-स्पन्दन क्षण भर के लिए रुक जाता है। परन्तु ज्योंही तुलसीदासजी हमें इसका स्मरण कराते हैं कि सीता जी तो जगज्जननी हैं त्यों ही हमारा औत्सुक्य नष्ट हो जाता है क्योंकि तब वे हमसे बहुत दूर हट जाती हैं, वहाँ जहाँ क्षुद्र मनुष्य के क्षुद्र भाव नहीं पहुँच सकते। वाल्मीकिजी ने रामचन्द्रजी की ईश्वरता पर ज़ोर नहीं दिया है, उन्हें मनुष्य के रूप में लाकर मनुष्यों के लिए उनका चरित्र सुगम कर दिया है। सीताजी के चरित्र-चित्रण में तो उन्हें बड़ी सफलता हुई है। ऐसा दिव्य-चरित्र अन्य किसी कवि ने अङ्कित नहीं किया है। यही कारण है कि हज़ारों वर्ष बीत गये तो भी वाल्मीकि का मधुर गान भारतीय नर-नारियों के कान में आज भी ध्वनित हो रहा है। प्राचीन अयोध्या ध्वंस हो गई किन्तु हिन्दू-समाज के हृदय में रामायण की अयोध्या आज भी प्रतिष्ठित है। संसार में हिन्दू-जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा तब तक उसके हृदय से रामायण का प्रभाव दूर न हो सकेगा।

मानव-जाति एक ही है। तो भी देश और काल के व्यवधान से वह अनेक खण्डों में विभक्त हो गई है। धर्म के समान साहित्य का यही एक उद्देश है कि वह मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक् करनेवाले इस व्यवधान को उठा दें। यदि यह कभी सम्भव हो जाय तो हम पृथ्वी पर सौन्दर्य का यथार्थ रूप देख लें। परन्तु भिन्नता दूर होने के स्थान में बढ़ ही रही है। धार्मिक क्षेत्र में जब कभी किसी महात्मा ने मानव-जाति को एक करने की चेष्टा की तब न केवल उसकी चेष्टा व्यर्थ हुई परन्तु उससे संसार में भेदभाव की संख्या बढ़ानेवाले एक और नये पन्थ की सृष्टि होगई। संसार में जितने मत प्रचलित हैं उन सबका प्रारम्भ इसी उद्देश से हुआ था। तो भी हम देखते हैं कि उन्हीं से संसार में पारस्परिक विद्वेष और घृणा के भाव फैले हैं। परन्तु साहित्य के क्षेत्र में यह हाल नहीं है। यहाँ किसी भी महान् आत्मा के अभ्युदय होने पर विद्वेष और घृणा के स्थान में प्रेम और सहानुभूति के भाव जागृत होते हैं। सभी लोक परस्पर मिलते-जुलते, देते-लेते हैं और इस प्रकार अपना जातित्व छोड़ कर मनुष्यत्व ग्रहण करते हैं। साहित्य में आदान-प्रदान का यह कार्य बड़ी शान्ति से होता है। किसी की दृष्टि भी उस पर नहीं जाती। भारत ने योरप को कितना दिया और उससे कितना लिया, इस विषय का अनुसन्धान करना पुरातत्त्व-वेत्ताओं का है। हम तो यही कहेंगे कि यह समग्र साहित्य विश्वसाहित्य है और वह समस्त मानव-जाति के कल्याण के लिए निर्मित हुआ है। टेम्स, गङ्गा, मिसीसिपी आदि नदियों का उद्भव कहीं हुआ हो परन्तु अन्त में वे सभी अनन्त समुद्र में आकर गिरती हैं। इसी प्रकार वाल्मीकि, व्यास और होमर का जन्म कहीं हुआ हो, उनकी काव्य-धारायें एक अनन्त विश्व में गिर कर पूर्णता लाभ करती हैं।

—

नवीनचन्द्र

राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप।

आज-कल राष्ट्रीय शिक्षा की खूब चर्चा है। प्रत्येक समझदार भारतीय का ध्यान इस ओर आकर्षित है। इसलिए यहाँ संक्षेप में राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या पर विचार करना अप्रासङ्गिक न होगा।

आज तक राष्ट्रीय शिक्षा--विषयक जितने विचार प्रकाशित हुए हैं उनसे यह नहीं प्रकट होता कि राष्ट्रीय शिक्षा किसे कहना चाहिए। प्रचलित शिक्षा 'राष्ट्रीय' नहीं है कह देने से थोड़े ही काम चलेगा। राष्ट्रीय शिक्षा किसे कहते हैं, यह भी बतलाना होगा। हमारी समझ में 'राष्ट्रीय' विशिष्टता पाने के लिए शिक्षा में दो प्रधान बातें होनी चाहिए। पहली बात यह आवश्यक है कि उससे राष्ट्रीय गुणों का, परम्परागत राष्ट्रीय आदर्शों का, परिपोषण हो। यदि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से किसी प्रधान बात में भिन्न होता है तो वह अपने आदर्श में। प्रत्येक राष्ट्र के आदर्श भिन्न होते हैं। जाति, धर्म, वर्ण इत्यादि से राष्ट्र उतना विशिष्ट नहीं बनता जितना कि वह अपने राष्ट्रीय आदर्श से बनता है। इस राष्ट्रीय आदर्श का प्रभाव खून तक में व्याप्त रहता है। उठते-बैठते, जागते-सोते सभी जगह सभी अवस्था में वह दीख पड़ता है। यदि योरप की नस नस में भौतिकता दीख पड़ती है तो भारतवर्ष के प्रत्येक कण में आध्यात्मिकता अपना घर किये है। यदि कोई दो जातियाँ किसी किसी बात में बिलकुल समान भी हो जायँ, तो भी वे भिन्न ही बनी रहेंगी।

राष्ट्रीय शिक्षा की दूसरी बात राष्ट्रीय आवश्यकतायें हैं। इनमें सब भौतिक आवश्यकताओं का समावेश है। किसी राष्ट्र को किसी एक प्रकार की भौतिक वस्तु की विशेष आवश्यकता होती है तो किसी को किसी दूसरे प्रकार की। जिस राष्ट्र को जिन वस्तुओं की आवश्यकता है उनकी पूर्ति जिस शिक्षा से हो सके वही शिक्षा राष्ट्रीय कहलाने के योग्य हो सकती है। इँग्लेंड, फ्रांस, जर्मनी, अमरीका, हिन्दुस्तान इत्यादि देशों की आवश्यकतायें बिलकुल समान नहीं हो सकतीं। प्रत्येक देश को किसी ख़ास बात की विशेष आवश्यकता होती है। इन विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिस शिक्षा की योजना होती है वही राष्ट्रीय शिक्षा है। सारांश, परम्परागत राष्ट्रीय गुणों का परिपोषण और राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली शिक्षा ही का नाम राष्ट्रीय शिक्षा है।

यह सब लोग मानते हैं कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली दूषित है। उसका सबसे बड़ा दोष यह है कि हमारे राष्ट्रीय गुणों का परिपोषक वह नाम को भी नहीं है। उसके कारण न तो हम पूरे भारतीय रहे, न पूरे योरोपीय बने। अलबत्ता हममें दोनों के दोष बने रहे। आध्यात्मिक अनासक्ति के स्थान में अकर्मण्यता और वास्तविक भौतिक उन्नति की इच्छा के स्थान में विषयवासना उत्पन्न हो गई। अकर्मण्यता के कारण दोनों तरह की प्रगति रुक गई और भोग-लिप्सा से फ़िज़ूलख़र्ची बढ़ गई। आवश्यकतायें अधिक हो गईं पर द्रव्य-प्राप्ति के और मार्ग नहीं खुले। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हम मनमाने उपायों का अवलम्बन करने लगे। फल यह हुआ कि हम अपने उच्च आदर्श से गिर गये और सदियों के अनुभव द्वारा प्राप्त सदाचार से भी हाथ धो बैठे। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे प्राचीन आदर्शों का पूर्णरूप से पुनरुद्धार हो। कुछ लोगों की दृष्टि इतनी संकुचित अथवा कलुषित हो चुकी है कि वे भौतिकता के परे कुछ देख ही नहीं सकते। उनका एक-मात्र ध्येय भौतिक आवश्यकताएँ ही हैं। इस कारण वे लोग आध्यात्मिक उन्नति का नाम लेने से चिढ़ते हैं। परन्तु हम स्पष्टतया कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि संकुचित है, वे बहुत दूर तक नहीं देख

सकते। यदि भौतिकता ही अन्तिम ध्येय हो जाय तो आत्मिक, गार्हस्थ्य, सामाजिक और राष्ट्रीय शान्ति कभी न स्थापित होगी। इन चारों प्रकार की शान्ति के लिए आध्यात्मिक उन्नति का आदर्श होना अत्यन्त आवश्यक है। इस पर कोई पूछे कि क्या आप भौतिक उन्नति नहीं चाहते, इसके बिना तो शरीर, गृह, समाज और राष्ट्र का टिकना सम्भव नहीं, तो हम उत्तर देंगे कि हाँ, अवश्य चाहते हैं और उसके शिखर पर बैठना चाहते हैं। बात यह है कि भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति में हम कोई विरोध नहीं मानते। आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही हम भौतिक उन्नति को अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। 'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनं' बिलकुल सत्य है। शरीर की रक्षा ही नहीं, शरीर का परिपोषण ही नहीं, किन्तु शरीर का विकास भी करना होगा। परन्तु ये सब बातें आध्यात्मिक उन्नति के साधन-मात्र हैं। भौतिक उन्नति करें, परन्तु उसे साधन ही समझे रहें। 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर' ही हमारे आचरण का आदर्श होना चाहिए। भौतिक कार्य हम अवश्य करें, परन्तु आचरण आध्यात्मिक रहे। यदि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में, गृह में, समाज में, राष्ट्र में और जगत् में शान्ति की आवश्यकता है, और किसी भी प्रकार की उन्नति के लिए उसकी आवश्यकता होती ही है, तो हमें अपने आदर्शों को भौतिकता के परे ले जाना चाहिए। स्वर्ग में बैठ कर हमें इस दुनिया के सब आवश्यक कार्य करने चाहिए।

इसके लिए यह आवश्यक है कि हमें हमारे वास्तविक धर्म की शिक्षा मिले। कुछ लोग धर्म की शिक्षा अनावश्यक समझते हैं, कुछ उसका प्रबन्ध कठिनतर मानते हैं। परन्तु यदि हमें अपने आदर्शों की रक्षा करनी है, यदि हमें 'भारतीय' बने रहना है तो उपनिषद् और गीता के कर्म-योग की शिक्षा हमें देनी ही पड़ेगी। उसका प्रबन्ध राष्ट्र को करना ही होगा। हम नहीं मानते कि धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करना अशक्य है। प्रत्येक पाठशाला में, प्रत्येक छात्रनिवास में, प्रत्येक महल्ले में और प्रत्येक ग्राम या शहर में इसका उचित प्रबन्ध हो सकता है। पाश्चात्य सभ्यता के संपर्क से हम अपने धर्म को कुछ का कुछ समझ बैठे हैं। कुछ लोग कहने लगे हैं कि हिन्दू धर्म के कारण इस देश में अकर्मण्यता का साम्राज्य हो गया है। परन्तु इसके वास्तविक कारण कुछ और ही हैं, हिन्दू धर्म नहीं। एक कारण का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। हिन्दू धर्म ने तो नहीं किन्तु उसकी शिक्षा के अभाव ने कुछ अंशों में यह शिथिलता ज़रूर पैदा कर दी है। इसलिए कुछ अंशों तक उसे दूर करना इस धर्म की शिक्षा का ही काम होगा। जब झूठे धर्म का साम्राज्य और वास्तविक धर्म का अभाव हो जाता है, तब ये परिणाम अवश्य देखने में आते हैं। वास्तविक धर्म के पुनरुद्धार से यह शिकायत बहुत कुछ दूर की जा सकती है। इसके लिए उपनिषद् और गीता जैसे ग्रन्थों के अनुवाद या मूल रूप से प्रचार होना अत्यन्त आवश्यक है। उनके आधार पर लिखे गये व्याख्यानों और लेखों की आवश्यकता है। आवश्यकता है उनके तत्त्वों को उनके सच्चे स्थान पर बिठला देने की। इसलिए संस्कृत का थोड़ा बहुत अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। हमारे एक मित्र एम० ए० में हमारे साथ पढ़ते थे। वे हिन्दू थे, परन्तु अर्जुन और युधिष्ठिर का नाम तक उन्हें न मालूम था। धार्मिक और नैतिक उन्नति की दृष्टि से ऐसी स्थिति शोचनीय है।

संस्कृत का थोड़ा बहुत अध्ययन करना और भी एक दृष्टि से आवश्यक है। संस्कृत भाषा ही से हिन्दुस्तान की वर्तमान भाषायें निकली हैं। इनका साहित्य और शब्द-संख्या बढ़ाने के लिए संस्कृत की सहायता की आवश्यकता है ही।

संस्कृत के अभ्यास का एक कारण और है।

हमारे प्राचीन इतिहास का महत्त्वपूर्ण भाग संस्कृत में है। योरप के विद्वानों ने उसकी बहुत कुछ खोज की है और कर रहे हैं। परन्तु यह काम असल में हमारा है। इन लोगों के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर होकर हमें सत्यान्वेषण का कार्य करना होगा। हम अब देखने लग गये हैं कि हम भी 'कुछ' थे। इससे आशा उत्पन्न होती है कि आगे भी 'कुछ' हो सकेंगे। जिनमें आत्माभिमान नहीं वे उच्च और स्वतन्त्र कार्य करने के योग्य नहीं। वे दूसरों के ही प्रकाश के नीचे चला करते हैं। इसलिए हमारे इतिहास की खूब खोज होनी चाहिए। पर इस बात का भी ख़याल रखना चाहिए कि वृथाभिमान न पैदा होने पावे। आत्माभिमान के अभाव से जैसी कार्य-शिथिलता पैदा होती है वैसी ही वृथाभिमान से भी होती है। अतएव योरूपीय देशों की उन्नति से बार बार अपनी तुलना करना अत्यन्त आवश्यक है। शिक्षक का यह कार्य अवश्य नाज़ुक है। परन्तु महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इसकी सिद्धि के लिए शिक्षक को चाहिए कि वह अपना सब कौशल लगा दे। आत्माभिमान तो पैदा हो पर उसका विकास वृथाभिमान में न होने पावे। इसके लिए बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है और वह शिक्षक का काम है।

हम यह नहीं कहते कि प्रत्येक हिन्दू संस्कृत अवश्य पढ़े। यदि प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सके तो बहुत ही अच्छा है, परन्तु कम से कम कुछ लोगों को इस भाषा का थोड़ा बहुत ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। कुछ लोग संस्कृत भाषा के विरुद्ध हैं, वे इसे मृत भाषा समझते हैं। परन्तु यदि हमें अपने राष्ट्रीय आदर्शों का परिपोषण करना है तो संस्कृत का थोड़ा बहुत अभ्यास अनिवार्य है।

ऊपर हमने आत्माभिमान के विषय में चर्चा की है। उसका हमारे इतिहास से सम्बन्ध है। आत्माभिमान के दूसरे स्वरूप का अर्थात् स्वदेश-प्रेम का भी हमें स्वतन्त्र विचार करना होगा। पहले हम हिन्दुस्तान के इतिहास की शिक्षा का विचार करना चाहते हैं। हिन्दुस्तान के इतिहास के नाम से जो पुस्तकें प्रचलित हैं उनकी सत्यासत्य बातों के सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ कहना नहीं है। सत्यान्वेषण का काम इतिहास-संशोधकों का है। हमें यहाँ केवल उसके पढ़ाने की रीति से मतलब है। यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि हिन्दुस्तान में योरुपीय देशों जैसे प्रजातन्त्रात्मक संस्थायें बहुत नहीं निर्मित हुईं, तो भी यह कहना ही पड़ेगा कि उनका हमारे यहाँ अभाव नहीं था, ऐसी संस्थायें यहाँ भी थीं। उनका विकास हुआ और फिर पतन हुआ। उनका इतिहास तथा उनके पतन के कारण भारतीय बालकों को जानना अत्यावश्यक है। बालकों को मिडिल स्कूल तक हिन्दुस्तान का इतिहास कुछ रोचक मालूम होता है, पर हाई स्कूल में जाने पर वही उन्हें नीरस मालूम होने लगता है। इसका एक प्रधान कारण यह है कि इस समय बालकों की प्रवृत्ति कार्य-कारण-मीमांसा की ओर बढ़ जाती है। शिक्षा-विज्ञान इस बात को स्वीकार भी करता है। परन्तु हिन्दुस्तान का इतिहास जिस प्रकार लिखा और पढ़ाया जाता है उससे इस प्रवृत्ति को उचित अवसर नहीं मिलता। परिणाम यह होता है कि राजाओं और बादशाहों की वही वही कथा पढ़ते पढ़ते उनका जी ऊब जाता है। ऐसी बातों में उनका मन लग ही नहीं सकता। इसलिए किशोरावस्था के बालकों को ऐसे ढङ्ग से इतिहास की शिक्षा दी जाय जिसमें कार्यकारण-मीमांसा के लिए उनको उचित अवसर मिला करे। इससे इतिहास में रुचि उत्पन्न होगी, वह न नीरस मालूम होगा और न उससे घृणा पैदा होगी। और अपने ही इतिहास से घृणा होने से स्वाभिमान नष्ट होने का जो डर रहता है वह भी दूर हो जावेगा। इतिहास की उचित अथवा

अनुचित पढ़ाई के ऐसे ही गम्भीर परिणाम होते हैं।

स्वदेश-प्रेम की शिक्षा से इतिहास का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षक चाहे तो अपने इतिहास और अपने देश से बालकों में घृणा पैदा कर दे या प्रेम पैदा कर दे। यह बहुत कुछ उसकी पाठन-पद्धति और इतिहास की सामग्री पर अवलम्बित है। यदि भारतीय बालकों से कुछ कार्य करवाना है तो उनमें स्वदेश-प्रेम और स्वाभिमान उत्पन्न करना ही होगा। इतिहास इसका एक मुख्य साधन है। जब प्राचीन आर्यों की सभ्यता की तुलना तत्कालीन दूसरी जातियों की सभ्यता से की जाती है तब आत्माभिमान स्वभावतः ही पैदा होता है। परन्तु उसका रूपान्तर वृथाभिमान में न हो, इसके लिए उसकी तुलना वर्तमान योरुपीय उन्नति से करनी चाहिए और उसकी आवश्यकता भी प्रतिपादित करनी चाहिए। इस रीति से आवश्यक मात्रा में उचित रीति का स्वाभिमान और स्वदेश-प्रेम उत्पन्न होगा। इसके सिवा स्वदेश-प्रेम प्रत्यक्ष रीति से भी सिखलाया जा सकता है। अन्य देशों में इसके लिए जिन मार्गों का अवलम्बन किया जाता है उनका उपयोग यहाँ भी करना उचित है। वैयक्तिक और और राष्ट्रीय दृष्टि से हम पर देश का कितना ऋण है और उसके लिए हमें क्या करना उचित है यह बतलाना बहुत कठिन बात नहीं है। बार बार धक्के लगने से ये तत्त्व भीतर घुस ही जायँगे। कहा भी है, 'रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान।'

राष्ट्रीय शिक्षा की योजना पर लोग बहुधा एक आक्षेप करते हैं। वे कहते हैं, मान लो कि राष्ट्रीय आदर्शों का परिपोषण करनेवाली शिक्षा का प्रबन्ध भी हो सका, तो क्या उसका यह परिणाम न होगा कि आज किसी भी तरह मुसलमान और हिन्दुओं में जो एकता हुई है वह फिर से जाती रहेगी और उनमें वैमनस्य अधिक बढ़ जायगा? पर इस आक्षेप में कुछ भी जान नहीं। अपने आदर्शों के अनुसार राष्ट्र की सेवा करने में अनैक्य के स्थान में एकता के ही पैदा होने की अधिक आशा है। झगड़ा तब पैदा होता है जब लोग अन्ध-विश्वास में पड़े रहते हैं, अनुदार होते हैं, राष्ट्रीय आवश्यकतायें नहीं समझ सकते और अपना सच्चा लाभ नहीं देख पाते। अपने धर्म के अनुसार, अपने आदर्श के अनुसार, चलने में झगड़े का कोई कारण नहीं देख पड़ता। इसकी सम्भावना तभी है जब लोग परस्पर के कार्यों में विघ्न डालते हैं। यदि शिक्षा इस कार्य को न कर सकी, मन को उदार न बना सकी, राष्ट्रीय आवश्यकतायें न बतला सकी और उसके द्वारा लोग अपना सच्चा लाभ न देख सके तो उस शिक्षा से कुछ भी न सिद्ध हुआ समझिए। इतिहास पढ़ाने में इसी उदार दृष्टि की आवश्यकता है। क्या दुनिया में भिन्न इतिहासवाले, भिन्न धर्म-वाले, आपस में लड़ने झगड़नेवाले लोग भी, आज एक झण्डे के नीचे एकत्र नहीं हैं? क्या उनका एक राष्ट्र नहीं बना है? शिक्षा एक ऐसी चीज़ है कि ये सब बातें उससे सिद्ध हो सकती हैं। आवश्यकता है उचित शिक्षा की, शिक्षकों को अपने कार्यों का स्वरूप और अपना उत्तरदायित्व जानने की। स्वदेश प्रेम की प्रत्यक्ष शिक्षा हिन्दू-मुसलमान सबको समान रूप से दी जा सकती है। हिन्दुस्तान अब हिन्दुओं का ही देश नहीं है, वह मुसलमानों का भी है। जिस स्थिति से हिन्दू-मुसलमानों की एकता उत्पन्न हुई वही उसे बनाये भी रहेगी। यही क्यों, अपना अपना सच्चा लाभ जान लेने पर वे दोनों और भी दृढ़ता के साथ एक हो सकेंगे। दोनों जातियों का लाभ एक ही बात में है, इस बात को मन में जमा देना शिक्षा का काम है।

अभी तक हमने राष्ट्रीय आदर्शों की परिपोषक

शिक्षा का संक्षेप में विचार किया। अब हमें राष्ट्रीय आवश्यकताओं की ओर दृष्टि देनी चाहिए।

सबसे प्रथम निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की आवश्यकता है। सब समझदार लोगों पर विदित है कि हिन्दुस्तान में कितने कम लोग पढ़े-लिखे हैं। पढ़ने-लिखने की योग्यता को सभ्यता का चिह्न कोई माने या न माने, परन्तु इतनी बात तो सबको स्वीकृत होगी कि पढ़ना-लिखना आत्मिक और भौतिक उन्नति का बड़ा भारी साधन है। केवल इसी दृष्टि से सब लोगों का पढ़-लिख लेना आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्य कर चुकने पर नित्य थोड़ी बहुत फुरसत मिलती है। फुरसत का दुरुपयोग या सदुपयोग बहुत कुछ शिक्षा पर अवलम्बित है। अनेक लोग इस ओर दृष्टि ही नहीं देते, परन्तु जो लोग शिक्षा के तत्त्व जानते हैं वे इसे किसी प्रकार नहीं भूल सकते। सन्तोष की बात है कि प्रधान प्रधान प्रान्तों की सरकारों ने प्राथमिक शिक्षा की ओर अब दृष्टि दी है और इस सम्बन्ध में उन्होंने स्थानिक स्वराज्य की संस्थाओं के अधिकार ही नहीं बढ़ाये, परन्तु प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सहायता देने का वचन भी दिया है। तथापि हमें इस विषय में चुपचाप न बैठना चाहिए। जितनी शीघ्रता से हो सके, शिक्षा का प्रकाश हिन्दुस्तान के कोने कोने पहुँचाया जाना आवश्यक है। हिन्दुस्तान की वास्तविक उन्नति का दारमदार इसी पर है। अपने देश की समस्याओं को समझना और उनकी मीमांसा में भाग लेना कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है।

प्राथमिक शिक्षा तो आवश्यक है ही, पर उसे राष्ट्र की दूसरी आवश्यकताओं से विभिन्न न करना चाहिए। सामान्य शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा का संयोग रहना तात्त्विक दृष्टि से आवश्यक है ही, पर राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत ही आवश्यक है। औद्योगिक शिक्षा के बिना सामान्य शिक्षा का वही परिणाम होगा जो अब सब जगह दीख पड़ता है। बोलना बहुत और करना थोड़ा। बोलने की भी आवश्यकता है, पर यह सबका काम नहीं है। यह काम है उनका जिन्होंने विशेष शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया है। उठते बैठते सबको बोलते देख कर शंका उत्पन्न होने लगती है कि कार्य करे कौन? उपदेश देने और बड़े बड़े कार्यों की रचना करने का काम सब राष्ट्रों में बहुधा शिक्षित और अनुभवी समाज करता है, दूसरे लोग उसके उपदेशों के अनुसार कार्यों के विभागों को घटित किया करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम किसी का वाक्स्वातन्त्र्य अपहरण करना चाहते हैं। सबको बोलने की स्वतन्त्रता है, पर केवल बोलने ही से किसी राष्ट्र की उन्नति नहीं होती। उसके लिए कार्य करने पड़ते हैं। इस प्रवृत्ति की अधिक वृद्धि का मुख्य कारण यही है कि सामान्य शिक्षा के साथ उद्योगों की शिक्षा कुछ भी नहीं मिलती। ऐसी स्थिति में बोलने के सिवा रह ही क्या जाता है? इसलिए सामान्य शिक्षा के साथ ही क्रमानुसार और देश की आवश्यकतानुसार औद्योगिक शिक्षा भी देनी चाहिए।

हिन्दुस्तान का प्रधान उद्योग कृषि है और रहेगा भी वही। गाँवों की पाठशालाओं में कृषि की प्रत्यक्ष शिक्षा का भी प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है। सब गाँवों में प्रयोगात्मक शिक्षा नहीं दी जा सकती। इसके लिए विशेष प्रबन्ध की आवश्यकता है। तात्त्विक शिक्षा देहातियों की पहुँच के बाहर है। इसके सिवा किसी किसी गाँव में किसी दूसरे उद्योग की भी शिक्षा दी जा सकती है। जहाँ जो उद्योग प्रचलित है या हो सकता है, वहाँ उसकी शिक्षा का प्रबन्ध करना आवश्यक है। शहरों में भी कोई न कोई उद्योग हो ही सकते हैं। उनका प्रबन्ध वहाँ होना चाहिए। सर्वसामान्य शिक्षा के क्रम से उद्योगों के भी अनेक

कम होने चाहिए जिसमें सर्वसामान्य शिक्षा से प्राप्त योग्यता का उचित उपयोग उद्योग की शिक्षा में हो सके। उद्योगों की शिक्षा का प्रबन्ध करते समय अर्थ-शास्त्र की एक समस्या को ख़याल में रखना अत्यन्त आवश्यक है। बड़े बड़े कारख़ानों और पुतलीघरों के कारण घरेलू धन्धे नष्ट हो गये हैं अथवा नष्ट हो रहे हैं। परन्तु व्यक्ति और राष्ट्र दोनों की दृष्टि से इनकी बहुत आवश्यकता है। यदि ये घरेलू धन्धे आधुनिक विज्ञान के आधार पर रचे जायँ तो हमारी आर्थिक पराधीनता कम हो जाय, लोगों की निकृष्टावस्था घट जाय और शहरों में बड़े भारी जनसमाज के एकत्र होने से जो अनेक अनर्थ हुआ करते हैं वे भी कुछ अंशों में दूर हो जायँ। हमें जहाँ तक मालूम है, योरोपीय देशों में ऐसे अनेक घरेलू धन्धे बड़ी सफलता के साथ चलते हैं और उनसे उन उद्योगों में लगे लोगों की और इस तरह सारे राष्ट्र की स्थिति बहुत कुछ सुधर चुकी है। इसलिए गाँवों और शहरों में उनका पुनरुद्धार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए उचित शिक्षा की ज़रूरत है।

सामान्य शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा सात आठ साल तक एक साथ दी जाने के बाद, अलग कर दी जा सकती है। इन दोनों तरह की शिक्षा-संस्थाओं के ऊँचे दर्जे अलग अलग रहने से उतना अधिक नुक़सान न होगा। उच्च सामान्य शिक्षा तथा उच्च औद्योगिक शिक्षा के लिए यह आवश्यक भी है। बहुत काल तक दोनों तरह की शिक्षाओं को एक सङ्ग बने रहने से किसी तरह की उच्च शिक्षा की प्राप्ति कठिन है। प्रत्येक राष्ट्र में साधारण जनों की संख्या अधिक होती है, अतएव उनके लिए कुछ दिनों तक दोनों तरह की शिक्षाओं का प्रबन्ध साथ साथ होना आवश्यक है। तथापि राष्ट्र में कुछ ऐसे भी लोग चाहिए जो अपने अपने मार्ग पर बहुत ऊँचे चढ़ सकें। यदि बुद्धि के उपयोग के लिए अवसर न मिला तो व्यक्ति की हानि होती ही है, पर राष्ट्र की भी बड़ी भारी हानि होती है। राष्ट्र की महत्ता अधिकांश में उसके महापुरुषों पर अवलम्बित है। इसलिए राष्ट्रीय दृष्टि से उनकी बुद्धि के विकास और उपयोग के लिए अवसर की अत्यन्त आवश्यकता है। सार बात यह है कि जिस की बुद्धि जिस दिशा में जहाँ तक चल सके, उस दिशा में उसके विकास और उपयोग के लिए मौक़ा देने से राष्ट्र की प्रगति बड़े ज़ोर से होने लगती है। राष्ट्रीय शिक्षा की योजना में इस बात पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। इस देश में जितने तरह के उद्योग चल सकते हैं उन सबका प्रबन्ध होना ज़रूरी है।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से एक यह दोष पैदा हुआ है कि शिक्षित और अशिक्षित समाज में बड़ा भारी मानसिक अन्तर पड़ गया है। कई घर ऐसे मिलेंगे, जहाँ पुत्र की कल्पनाओं को माता-पिता समझ नहीं सकते या शिक्षा के चुनाव में उचित सलाह नहीं दे सकते। इससे जो नाना प्रकार की बुराइयाँ गृह और समाज में उत्पन्न होती हैं उनके विवेचन की आवश्यकता नहीं। सारांश में यह कह सकते हैं कि झगड़े फ़िसाद बहुत पैदा होते हैं, बालकों की शिक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं होता, जिसको जो शिक्षा चाहिए वह उसे नहीं मिलती देश में उसका प्रबन्ध भले ही क्यों न हो। ये दोष शिक्षा की आवश्यक वृद्धि से कम हो जायँगे। परन्तु इतना स्वीकार करना पड़ेगा कि कुछ न कुछ ये बने ही रहेंगे। इसका कारण है उच्च शिक्षा का माध्यम। बहुत आन्दोलन करने के बाद अब बहुत से स्थानों में मिडिल स्कूल तक पाठ्य विषय हिन्दुस्तानी भाषाओं द्वारा सिखलाये जा सकते हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि वास्तविक ज्ञान इसके बाद ही मिलता है। मिडिल स्कूल तक तो बालक ज्ञान के मार्ग में पूर्ण रूप से नहीं लगे रहते।

इसके बाद बालक जो ज्ञान प्राप्त करते हैं वह अँगरेज़ी भाषा के द्वारा। इससे जो बुरे परिणाम उत्पन्न होते हैं वे कई रीतियों से होते हैं। परन्तु हमें अपने लेख से सम्बन्ध रखनेवाले परिणामों का ही विचार करना यहाँ उचित है।

अँगरेज़ी भाषा के द्वारा प्राप्त ज्ञान बालक के घर और समाज में नहीं पहुँच सकता। मातृभाषा का ज्ञान कच्चा रह जाता है और अवसर आने पर वह अपना ज्ञान मातृ-भाषा द्वारा दूसरों को नहीं दे सकता। इस कारण बालक और माता-पिता में बड़ा भारी मानसिक अन्तर पड़ जाता है। हिन्दुस्तानी भाषाओं के द्वारा शिक्षा न मिलने से हिन्दुस्तानी भाषाओं तथा उसके साहित्य की भी उन्नति रुकी हुई है। उनकी प्रगति बहुत ही मन्द है। जिन पुस्तकों की आवश्यकता है उनकी रचना कैसे हो सकती है? विविध विषयों की पुस्तकें न होने से हिन्दुस्तानी भाषाओं के जाननेवाले अपना ज्ञान-भाण्डार नहीं बढ़ा सकते। इस कारण माता-पिता और बालक के बीच का मानसिक अन्तर बढ़ता जाता है। मेकाले महोदय ने आशा की थी कि अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों द्वारा ज्ञान के कण छन छन कर जन-साधारण के पास पहुँच जायँगे। पर यह आशा अधिकांश में झूठी ठहरी। इस तरह जन-साधारण में ज्ञान की जो वृद्धि हो रही है उसकी गति अत्यन्त मन्द है। परन्तु इस अन्तर को बनाये रखना राष्ट्रीय दृष्टि से हानिकारक है। यदि पुत्र माता-पिता को अपने विचार न दे सका तो अपनी इच्छा के विरुद्ध उनके मन के अनुसार उसे कार्य करना पड़ता है। यदि वह बालक अपने मन के अनुसार कार्य किया होता और उससे वह राष्ट्रीय उन्नति में हाथ बटाया होता तो उससे राष्ट्र को कुछ न कुछ लाभ होता ही। जैसा कि ऊपर स्वीकार किया जा चुका है इसका एक उपाय शिक्षा का प्रचार है, परन्तु इसके सिवा इसका एक बड़ा भारी उपाय यह है कि शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा दी जाय। इससे उस भाषा और साहित्य की उन्नति होगी। भाषा पर प्रभुत्व पाने से और भाषा का शब्द-भाण्डार बढ़ने से बालक अपने विचार मातृ-भाषा द्वारा सब जगह अच्छी तरह प्रकट कर सकेगा। विविध विषयों की पुस्तकें रची जायँगी और शाला में अधिक शिक्षा न पाये लोग भी उनसे लाभ उठा सकेंगे। इस तरह शिक्षित, अल्प शिक्षित और अशिक्षित लोगों के बीच का मानसिक अन्तर कम होता जायगा। इससे घर के लोग बालकों की शिक्षा में कई तरह से सहायक हो सकेंगे और उन्हें राष्ट्रीय कार्यों के करने में भी बाधा कम पहुँचाया करेंगे। सुधार के इतने अधिक परिणाम होंगे कि उनका संक्षेप में यहाँ विचार करना अशक्य है। यह हम मानते हैं कि नीचे से ऊपर तक इस प्रकार के सुधारों की कम आशा है, क्योंकि यह प्रश्न राजकीय प्रश्नों से जा भिड़ता है और तब इसका उचित उत्तर देना बड़े बड़े लोगों तक के लिए कठिन हो जाता है। आज साहित्य भी इतना विकसित नहीं हुआ है कि सारी शिक्षा हिन्दुस्तानी भाषाओं के द्वारा दी जा सके। तथापि यदि इस बात का निश्चय ही हो जाय तो दस-बीस साल के भीतर ही साहित्य-सम्बन्धी कठिनाइयाँ दूर हो जायँगी। हाई स्कूल में हिन्दुस्तानी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने की इस समय अत्यन्त आवश्यकता है। पहले पहल कई प्रकार की कठिनाइयाँ झेलनी पड़ेंगी, परन्तु धीरे धीरे वे दूर हो जायँगी। एक बार वे दूर हो गईं तो मार्ग सरल हो जायगा और तदनन्तर अगले क्रम पर पैर रख सकेंगे। राष्ट्रीय दृष्टि से मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने की अत्यन्त आवश्यकता है।

राष्ट्रीय शिक्षा के उचित प्रबन्ध से ही, सञ्चित ज्ञान को राष्ट्र में फैलाने से, काम न चलेगा। राष्ट्रीय शिक्षा के दो अङ्ग और होने चाहिए। एक तो विदेशों में जाकर वहाँ की शिक्षा-पद्धति, भिन्न भिन्न

विज्ञान और शास्त्र, सब तरह के यन्त्रों के चलाने की योग्यता, अनेक चीज़ों को कम ख़र्च में अच्छी तरह पैदा कर सकने की विद्या, व्यापार-रहस्य इत्यादि बातों को हमें जानना होगा। इसके लिए दो चार छात्र-वृत्तियों से काम न चलेगा। देश का सब ज्ञान प्राप्त कर लेने पर, थोड़े ही काल के लिए क्यों न हो, सब असामान्य बुद्धि के पुरुषों को विदेश में जाकर अपने मन के अनुसार ज्ञान प्राप्त करना होगा। इसके बिना राष्ट्रीय शिक्षा की पूर्ति न हो सकेगी। और यह स्मरण रखना चाहिए कि इसके लिए दस-पाँच हज़ार रुपयों से काम न चलेगा। यदि राष्ट्र की उन्नति चाहनी है तो लाखों ख़र्च करने पड़ेंगे।

दूसरे, दुनिया के ज्ञान-भाण्डार में आविष्कार द्वारा हिन्दुस्तान को भी अपनी ओर से कुछ मिलाना ही होगा। भौतिक शास्त्रों के ज्ञान के लिए प्रयोग-शालायें और अवलोकनस्थान चाहिए। इस तरह की जितनी सुविधायें आवश्यक हों, उतनी सब पूर्ण करनी होंगी। एक सर जगदीशचन्द्र बोस अथवा सर प्रफुल्लचन्द्र राय के होने ही से काम न चलेगा। हिन्दुस्तान में आविष्कारों का तो अभी श्रीगणेश ही हुआ है। पर उसका क्षेत्र अपरिमित है और राष्ट्रीय उन्नति के लिए इनकी भी उतनी ही अधिक आवश्यकता है, जितनी सर्व-सामान्य प्राथमिक शिक्षा की। प्रयोगशालाओं और अवलोकन-स्थानों के समान ही आवश्यक पुस्तकालय भी चाहिए जहाँ आविष्कार का काम हो सके। सभी तरह के आविष्कारों के लिए संस्थाएँ चाहिए और इनकी संख्या इतने बड़े देश की दृष्टि से दिनों दिन बढ़ती ही जाय। जितनी अधिक इनकी संख्या बढ़ेगी और जितना ही अधिक इनका उपयोग होगा, उतना ही देश को लाभ भी होगा। राष्ट्रीय जीवन की रक्षा, पोषण और विकास के लिए ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता को पहचान कर जो राष्ट्र उनकी पूर्ति नहीं करता वह इस जीवन-संग्राम में सदा पीछे ही पड़ा रहता है।

जिस दिन राष्ट्र इन प्रश्नों का निश्चय कर लेगा उसी दिन ये हल हो जावेंगे। पर इन सबसे बढ़ कर कठिन प्रश्न राष्ट्रीय भाषा का है। जब कभी भिन्न भिन्न प्रान्तों के लोग किसी कार्य के लिए एकत्र होते हैं तब उन सबका कार्य अँगरेज़ी भाषा के द्वारा होता है। परन्तु अब लोग कहने लगे हैं कि ऐसे कार्य किसी स्वदेशी भाषा द्वारा हुआ करें। बहुतेरे लोग हिन्दी को सामने रखते हैं और भिन्न भिन्न प्रान्तों के कई एक नेताओं ने इस सम्बन्ध में समय समय पर अपने मत भी प्रकट किये हैं कि हिन्दी के सिवा और कोई भाषा नहीं दीख पड़ती जो राष्ट्रीय होने का दावा कर सके। कतिपय मुसलमान भाइयों ने कभी कभी इसके विरुद्ध चिल्लाहट भी मचाई है। हिन्दी और उर्दू के सम्बन्ध में वाद-विवाद भी हो चुका है। अभी मौक़ा है और आवश्यकता है कि हम इस प्रश्न पर मुसलमान भाइयों की सम्मति ले लें। उनकी सम्मति के बिना यह प्रश्न हल न होगा। राष्ट्र-भाषा का प्रश्न उतने ही महत्त्व का है जितने महत्त्व-पूर्ण अन्य प्रश्न हैं। यदि मुसलमान भाई विचार से काम लें तो इसका हल हो जाना कठिन भी नहीं है। उर्दू और हिन्दी में वास्तविक भेद बहुत थोड़े हैं। बोलने में तो कुछ भी नहीं। एक मुसलमान फ़ारसी आदि भाषाओं के अधिक शब्द उपयोग में लाता है, तो एक हिन्दू संस्कृत के अधिक। इतना ही वास्तविक भेद बोलने में दीख पड़ता है। यदि फ़ारसी और संस्कृत के सब आवश्यक और व्यवहार्य शब्दों का उपयोग हिन्दू मुसलमान दोनों करने लग जायँ तो झगड़ा मिट जाय। इसके बाद लिपि का प्रश्न आता है। यह तो मानी हुई बात है, देवनागरी लिपि के सिवा सार्वदेशिक लिपि कोई दूसरी नहीं हो सकती। विचारवान् पुरुषों को इसके सिवा कोई दूसरा

उपाय न सूझ पड़ेगा। इसका यह अर्थ नहीं कि जहाँ जो भाषा बोली जाती हो या जो लिपि लिखी जाती हो वहाँ लोग उसे न सीखें या उसका व्यवहार न करें। वे अपनी भाषा और अपनी लिपि ज़रूर सीखें और खूब सीखें, परन्तु सार्वदेशिक कार्यों के लिए हिन्दी भाषा (जिसमें उर्दू के सब आवश्यकीय और व्यवहार्य शब्द सम्मिलित किये जायँ) और देवनागरी लिपि का जानना अत्यन्त आवश्यक समझना चाहिए। इसी दृष्टि से यह प्रश्न हल हो सकता है और इतना ही आवश्यक भी है। देश भर में इस सार्वदेशिक भाषा की शिक्षा का उचित प्रबन्ध होना ज़रूरी है।

इतने सब कार्यों के लिए उचित शिक्षकों की आवश्यकता होगी। पहले विद्वान्, विचारवान्, तपस्वी और संयमी पुरुष शिक्षादान का कार्य करते थे। पर जब से योग्य पुरुषों और विद्वानों को अन्य कामों में सरकार लगाने लगी तब से शिक्षा का काम उनका होगया जो कोई दूसरी नौकरी नहीं पा सकते। इसलिए अब सबसे रद्दी माल शिक्षा-विभाग को मिला करता है। यदि कोई भूला भटका विद्वान् पुरुष शिक्षा-दान का कार्य पवित्र और राष्ट्रीय दृष्टि से आवश्यक समझ कर शिक्षा-विभाग के चंगुल में फँस जाता है तो उसकी बुरी गत होती है। जहाँ लोगों की विद्वत्ता और योग्यता उसके वेतन के मान से नापी जाती है वहाँ उस बेचारे की केवल दुर्गति ही होती है। शिक्षा-विभाग तो उसे औरों के साथ ही तोलता है, उसकी विद्वत्ता और योग्यता का कुछ भी ख़याल नहीं किया जाता। लोग भी उसकी क़द्र नहीं करते, वेतन कम मिलने से वे उसे साधारण आदमी समझते हैं और उस पर उनकी श्रद्धा नहीं होती। इस कारण उसे जो कठिनाइयाँ शिक्षा-विभाग और समाज में झेलनी पड़ती हैं उन्हें वही जानता है। दुनिया का कुछ प्रखर अनुभव होते ही उसके सारे उच्च विचार हवा हो जाते हैं और उसे भी जँचने लगता है कि जब तक राष्ट्र और सरकार अपने विचार न बदले तब तक शिक्षा का धन्धा उन्हीं का बना रहे जिनकी अन्यत्र गति नहीं। इसी कारण अनेक होनहार शिक्षक शिक्षा-विभाग से निकल कर दूसरे धन्धों में लग जाते हैं। सब रद्दी मसाला क़रीब क़रीब इसी में आता है। इससे राष्ट्र की शिक्षा में कितनी बाधा पहुँचती है इसको बहुतेरे नहीं जानते। लोग समझते हैं कि हमारा बेटा शाला में रोज़ जाता है, इतना काफ़ी है। क्या पढ़ता है, शिक्षक क्या और कैसा पढ़ाता है, बालक उचित तरक्क़ी करता है या नहीं, इन बातों की ओर कोई माता-पिता ध्यान नहीं देते। इस कारण शिक्षा-विभाग में चाहे जैसे शिक्षक हों, सब चल जाते हैं। माता-पिता चिल्लाया करते हैं कि बालक बहुत फ़ेल होते हैं, परन्तु वे फ़ेल क्यों होते हैं इस ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। यदि वे इसके वास्तविक कारण ढूँढ़ें और आन्दोलन करें तो बेचारे शिक्षकों की दुर्दशा कम हो जाय, उनके वेतनों में, उनके दर्जे में, उनके अधिकारों में तरक्क़ी हो जाय और योग्य लोग भी इधर झुकने लगें। प्राचीन काल के समान फिर गुरु, शिक्षा-विभाग और समाज दोनों जगहों में आदर के भाजन हों। यदि राष्ट्रीय शिक्षा को सुधारना है तो इस ओर भरपूर दृष्टि दिये बिना काम न चलेगा। असली कारणों को ढूँढ़ कर इलाज करने से बीमारी दूर होती है। समाज और सरकार में शिक्षकों का मान बढ़े बिना शिक्षा की उन्नति नहीं हो सकती। इसके लिए हमें अपने प्राचीन आदर्शों को पुनरुज्जीवित करना चाहिए और उन्हें इस नई परिस्थिति में नई रीति से जोड़ देना चाहिए। इसके लिए एक उपाय यह है कि उनका आर्थिक मूल्य बढ़ाया जाय। योरुपीय देशों में यही किया गया है। उनके कार्य के महत्त्व और परिश्रम की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक भी है। दरिद्रता की अवस्था

में रही सही योग्यता और विद्वत्ता भी चली जाती है। दरिद्रता में कौन दोष उत्पन्न नहीं होते ? विपन्न लोगों को अपने शिक्षक बना कर राष्ट्र अपने सुधार की आशा कभी नहीं कर सकता। जब तक इस देश के लोग इस प्रश्न का विचार उदार दृष्टि से न करेंगे तब तक राष्ट्रीय शिक्षा की पूरी योजना होने पर भी उसकी कमी की पूर्ति न होगी। यदि शिक्षकों के हाथ में राष्ट्र की शिक्षा का भार देना है तो पहले उनकी दशा सुधारिए और उन्हें मान और आदर दीजिए। इसके बिना राष्ट्रीय शिक्षा का काम भली भाँति न चल सकेगा।

परन्तु उचित वेतन देने से ही काम न चलेगा। नार्मल स्कूल और ट्रेनिङ्ग कालेजों की संख्या क्रमशः बहुत बढ़ानी होगी। इस विज्ञानयुग में अब कोई यह प्रश्न न करेगा कि शिक्षकों को भी उनकी कला की शिक्षा की क्यों आवश्यकता है। शिक्षण-कार्य भी एक नियम-बद्ध कला है, यह सब कोई जानते हैं। जिस प्रकार और और कलाओं को सीखना पड़ता है उस प्रकार इसके भी तत्त्व जानने पड़ते हैं और अभ्यास के साथ शिक्षण-कार्य करना होता है। शिक्षा केवल कला ही नहीं, वह मनोविज्ञान का अनुगामी विज्ञान भी है। इसका भी अभ्यास समाज के कतिपय लोगों को करना आवश्यक है। इस कला और विज्ञान में बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है, इतना घनिष्ठ कि विज्ञान कहाँ समाप्त होता है और कला का प्रारम्भ कहाँ होता है, यह बिलकुल नहीं कहा जा सकता। विज्ञान का बहुत सा भाग कला है, और कला का बहुत सा भाग विज्ञान है। एक के विवेचन में दूसरे का कुछ भाग आ ही जाता है। वे बहुत अधिक परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिए दोनों का साथ ही साथ अभ्यास होना अत्यावश्यक है। फिर यह स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षक का बहुत सा कार्य शिक्षा-विज्ञान के आधार पर ही हो सकता है। इसलिए भी उन्हें यह विज्ञान जानना चाहिए। तीसरी बात यह है कि इन्हीं योग्य विद्वान् पुरुषों में से कुछ लोग शिक्षा-विभाग के अफ़सर हुआ करते हैं और वे प्रबन्ध का कार्य करते हैं जिसके लिए शिक्षा-विज्ञान की जानकारी आवश्यक है। सारांश, शिक्षण-कला और शिक्षा-विज्ञान का ज्ञान शिक्षकों को होना अत्यन्त आवश्यक है। कोई यह प्रश्न करे कि आज तक जो नार्मल स्कूल और ट्रेनिङ्ग कालेज खोले गये हैं उनके क्या परिणाम दीख पड़ते हैं ? इसके दो तीन उत्तर दिये जा सकते हैं। एक तो शिक्षक की स्थिति ऐसी ठीक नहीं रहती कि इस विज्ञान के अनुसार अपना कार्य करने के लिए शिक्षक को जितना अपना समय देना चाहिए उतना वह दे सके। क़रीब क़रीब सभी शिक्षक दूसरे धन्धे करते रहते हैं, जिनको रोकना कठिन है और जिनको रोकने से शायद शिक्षक ही न मिल सकें। वे ज्ञानात्मक धन्धा करते तो बात दूसरी रहती। उनके धन्धे ऐसे होते हैं जिनसे उनके ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। देहातों में तो बहुत से शिक्षक स्कूल छोड़ कर प्रायः अपने निज के कामों पर चले जाया करते हैं, विशेष करके ऐसे स्थानों में जहाँ डिपुटी इन्स्पेक्टर अथवा अन्य किसी अफ़सर की पहुँच जल्द नहीं हो सकती। इसके लिए उचित निगरानी की आवश्यकता है ही, जिसका अधिक विवेचन आगे आवेगा, परन्तु सबसे भारी बात शिक्षकों की स्थिति को सुधारने ही से सिद्ध होगी। सारांश, शिक्षा, विज्ञान और उसकी कला का उचित उपयोग न हो सकने का एक प्रधान कारण शिक्षकों की दुःस्थिति है। दूसरा कारण तो निगरानी के प्रबन्ध से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है। हमारे पास शिकायतें आई हैं कि खुद निरीक्षक अफ़सरों में शिक्षा-विज्ञान और उसकी कला की जानकारी नाम को भी नहीं होती। ऐसी दशा में वे जब घण्टे दो घण्टे के भीतर एक शाला के सब शिक्षकों के कार्य की आलोचना करते हैं तब क्या अन्धेर

नहीं हो सकता? जब ख़ुद निरीक्षक शिक्षा-विज्ञान से परिचित नहीं तब वे इस तरह की शिक्षा को समझ ही क्या सकते हैं? परिणाम यह होता है कि शिक्षित शिक्षकों को उनकी मर्ज़ी के अनुसार चलना पड़ता है; शिक्षा, विज्ञान और तत्सम्बन्धी कला का सारा ज्ञान ताक़ में रख देना पड़ता है। कुछ ही समय में नार्मल स्कूल और ट्रेनिङ्ग कालेज में पाये हुए ज्ञान से वे हाथ धो बैठते हैं। इसलिए निरीक्षण की पद्धति में परिवर्तन होना चाहिए। इसका अधिक विवेचन निरीक्षण के सम्बन्ध में आगे किया गया है। तीसरे, यह स्मरण रखना चाहिए कि ट्रेनिङ्ग कालेज और नार्मल स्कूलों का प्रारम्भ ही अभी कहाँ हुआ है? अभी तो आधे भी शिक्षक ट्रेनिङ्ग नहीं पा चुके। ट्रेनिङ्ग स्कूलों के शिक्षा-प्राप्त शिक्षकों का किया हुआ सारा कार्य नये रँगरूट मटियामेट कर देते हैं। यह बात बड़े स्कूलों में भी देखने में आई है। परन्तु बालक की शिक्षा का काम घड़ी के पुर्ज़ों जैसा है। यदि उनमें एक भी अपना काम ठीक ठीक न करे तो उसके परिणाम का प्रभाव दूसरों पर भी पड़ेगा। सुधार का कार्य एक दो दिन में नहीं होता, उसके अच्छे प्रबन्ध के लिए कई साल चाहिए। जब प्रबन्ध में ही सुधार की बहुत आवश्यकता है तब यदि एक शाला में ट्रेनिङ्ग पाये थोड़े शिक्षक रह कर कुछ विशेष कार्य न दिखला सकें तो कोई आश्चर्य नहीं। जब सिर से पैर तक सुधार की आवश्यकता है तब कुछ थोड़े ट्रेनिङ्ग पाये शिक्षक कर ही क्या सकते हैं? वे तो ऐसी स्थिति में पड़ जाते हैं कि उनकी सारी शिक्षा व्यर्थ हो जाना स्वाभाविक ही है। परन्तु इससे ट्रेनिङ्ग की अनावश्यकता नहीं सिद्ध होती। प्रत्युत, वह अधिक वाञ्छनीय हो जाती है। इसलिए ट्रेनिङ्ग कालेज और नार्मल स्कूलों का उचित प्रबन्ध होना अत्यावश्यक है। राष्ट्रीय शिक्षा का यह बहुत महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

२

इस योजना की उचित निगरानी होना आवश्यक है। उसका निरीक्षण से बड़ा भारी सम्बन्ध है। इसी कारण ऊपर दो स्थानों में हमें विषयान्तर के रूप में इसका थोड़ा सा विचार करना ही पड़ा। आज-कल जो इन्स्पेक्टर हैं वे दो तरह के कार्य करते हैं। एक तो शिक्षकों की नियुक्ति, उन्हें वेतन, छुट्टी इत्यादि देना, शाला के लिए आवश्यक चीज़ों का प्रबन्ध करना, हिसाब देखना, शिक्षकों के चाल-चलन पर निगरानी रखना, प्रबन्ध-सम्बन्धी अन्य छोटे मोटे कार्य भी करना इत्यादि उनका काम है। दूसरे, वे शिक्षकों की पढ़ाई का निरीक्षण भी करते हैं। उनके हाथ में औसत डेढ़ सौ शालाएँ रहती हैं, जो भिन्न भिन्न स्थानों पर होती हैं। कोई निरी ऊसर ज़मीन में तो कोई जङ्गल में होती हैं जहाँ जाना बड़ा भयङ्कर है अथवा जहाँ खाने पीने की भी चीज़ें दुर्लभ हैं। धूप, पानी और शीत की कठिनाइयाँ अलग ही हैं। उनके वेतन वही जो आराम से रहनेवाले शिक्षकों के होते हैं। यदि बिना डिपुटी इन्स्पेक्टर हुए वही वेतन घर बैठे पा सकें तो योग्य लोग इस पदवी की चाह क्यों करें? चाह करते हैं वे जिन्हें तरक़्क़ी पाने को अन्य मार्ग ही नहीं है। इसलिए बहुधा मैट्रिक्यूलेशन अथवा बहुत हो गया तो इण्टरमीडिएट तक शिक्षा पाये लोग यह नौकरी किया करते हैं। जो अनेक कार्य आ पड़ते हैं उनको वे किस प्रकार निबाहते हैं, सच्चा काम कितना होता है, वे शिक्षकों पर किस प्रकार का अधिकार चलाया करते हैं, इससे क्या क्या बुराइयाँ पैदा होती हैं, इत्यादि बातें यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं। जिस शिक्षित पुरुष ने डिपुटी इन्स्पेक्टरों के कामों के जानने का प्रयत्न किया है उन्हें ये बातें ज्ञात ही हैं। शालाओं की निगरानी का उचित प्रबन्ध होने के लिए यह आवश्यक है कि प्रबन्धात्मक कार्य निरीक्षकात्मक कार्य से पृथक् कर दिया जाय।

यानी शालाओं के ये कार्य निरीक्षक अफ़सर और प्रबन्धक अफ़सरों में बँटे रहें और प्रत्येक कार्य-कर्ता को उतना ही कार्य देना चाहिए जो वह अच्छी तरह कर सके। निरीक्षक अफ़सर ऊँचे दर्जे के अच्छे सफल विद्वान, सुशील शिक्षकों में से ही चुनने चाहिए। इन्स्पेक्टरों के कार्यों का इस प्रकार विभाजन करने का समय अब आ गया है और शिक्षा की भलाई की दृष्टि से वह अत्यंत आवश्यक है। परन्तु शालाओं के निरीक्षण का कार्य सिर्फ़ सरकारी अफ़सरों पर ही डालने से पूरा न होगा। प्राथमिक शिक्षा का बहुत सा भार स्थानिक स्वराज्य संस्थाओं पर पड़ रहा है। इसलिए उसके निरीक्षण का भार वे अवश्य लें। यही नहीं, स्थानिक शिक्षित लोगों को व्यक्तिशः अथवा समष्टिरूप में निरीक्षण का थोड़ा बहुत अधिकार दिया जाय और उनका वेतन पानेवाले निरीक्षकों से आज कल की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो। ज्यों ज्यों शिक्षा का अधिकाधिक प्रचार होगा त्यों त्यों स्थानीय लोग ही इस सम्बन्ध का कार्य अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे। और इस प्रकार शालाओं के निरीक्षण कार्य के वर्तमान दोष दूर हो सकेंगे। किसी कार्य की योजना करने से ही काम नहीं चलता है। मनुष्य-स्वभाव को जान कर उसके निरीक्षण का भी उचित प्रबन्ध होना चाहिए। हमारी समझ में शालाओं के सर्वसामान्य प्रबन्ध से शिक्षकों के कार्यों के निरीक्षण का जब तक पार्थक्य न होगा, जब तक इन दो प्रकार के अफ़सरों की संख्या उचित न होगी, जब तक स्थानिक लोगों पर इसका थोड़ा बहुत भार न पड़ेगा और इस प्रकार लोगों से निरीक्षकों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित न होगा, तब तक शालाओं की शिक्षा का काम अच्छी तरह न चल सकेगा, चाहे उसके लिए कितना ही भारी आयोजन क्यों न किया गया हो। निरीक्षण का काम भी उतने ही महत्त्व का है कि जितना शिक्षा के अन्य आवश्यक अङ्गों का है।

भारत की राष्ट्रीय शिक्षा का स्वरूप बहुत व्यापक है। इस कार्य के लिए कितने द्रव्य की, कितने भारी प्रबन्ध की और कितनी अन्य आयोजनाओं की आवश्यकता है यह वही बतला सकते हैं जिन्होंने इस कार्य को थोड़ा बहुत किया हो। हम जैसे साधारण लोग उसकी विशालता और उसकी गम्भीरता का पता नहीं लगा सकते। यह कार्य बड़ी बड़ी बातों से न होगा। इसके लिए राजशक्ति की सहायता आवश्यक होगी। राजशक्ति की सहायता की प्राप्ति का उपाय वही जानें जो राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या को हल करने का दावा करते हैं। इस समय यह आवश्यक है कि जो पुरुष शान्ति से विद्या और अनुभव के बल पर विचार कर सकें वह इस सम्बन्ध के अपने विचार अवश्य प्रदर्शित करें। वही कार्य हमने किया है। हम किसी के कार्यों की समालोचना नहीं करना चाहते। इस विवेचन से यदि किसी के कार्य की समालोचना होती हो तो उसका कारण यह महत्त्व-पूर्ण विषय है, हम नहीं। जब बातों बातों में स्कूल और कालेज ही नहीं, विश्व-विद्यालय तक स्थापित हो सकते हैं तब ऐसा जान पड़ता है कि हिन्दुस्तान के लोग जादूगर तो नहीं हो गये! जिस कार्य के लिए लाखों रुपये और अविरत परिश्रम चाहिए वह बात की बात में हो जाता है, यह जादूगरी से क्या कम है! इससे बड़ी जादूगरी और क्या हो सकती है! अब ऐसा डर है कि यह जादूगरी का तमाशा जल्द ही समाप्त हो जायगा और फिर दुगुनी शिथिलता बढ़ जायगी। इसलिए सोच विचार कर शान्ति से काम करने की आवश्यकता है। राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या सबसे महत्त्व की है और अत्यन्त कठिन भी है। अपनी आवश्यकताओं को जान कर, दूसरे देशों के इतिहास से उचित

उपदेश लेकर, गम्भीरता के साथ इसको हल करने से ही कुछ बन पड़ा तो बन पड़ेगा। उठते बैठते शालायें, कालेज और विश्व-विद्यालय नहीं स्थापित होते। अकेले हिन्दू यूनीवरसिटी के स्थापन में कितना काल, श्रम और धन लगा, इसका ख़याल हम तुम को नहीं हो सकता। उसका हाल वही जानें जिन्होंने तन-मन-धन देकर उसकी नींव रक्खी है। आशा है, समझदार लोग इन विचारों पर कुछ ध्यान ज़रूर देंगे।

गोपाल दामोदर तामसकर

राव बहादुर रघुनाथ नरसिंह मधोलकर, सी० आई० ई०।

खेद है कि मध्यप्रदेश के सुप्रसिद्ध नेता राव बहादुर मधोलकर का देहावसान हो गया। आपकी गणना भारतवर्ष के पुत्र-रत्नों में थी। आपका जन्म सन् १८५७ की १६ मई को बम्बई-प्रान्त के धुलिया नामक स्थान में हुआ था। उस समय आपके पिता नरसिंह राव कृष्ण खानदेश के डिस्ट्रिक्ट जज की कोर्ट में रेकर्ड-कीपर (Record-Keeper) थे। जिस समय सारा भारतवर्ष मरहठों की शक्ति का लोहा मान चुका था उस समय मधोलस्टेट में आपके पूर्वजों की तूती बोलती थी। आपके पूर्वज पहले महाराष्ट्र के दक्षिण प्रदेश ही में रहा करते थे।

मधोलकर को प्रारम्भिक शिक्षा धुलिया में ही मिली। बाल्यावस्था ही से आप पढ़ने-लिखने में बड़ा मन लगाते थे। जब आपकी अवस्था दस वर्ष की हुई तब आपके भाई बलवन्त रावजी आप को अपने साथ बरार ले गये। वहीं रह कर आपने अँगरेज़ी पढ़ना आरम्भ किया। तीन वर्ष के बाद आप फिर धुलिया लौट आये और वहीं के हाई स्कूल में भरती हो गये। कुछ ही दिनों में आपकी तारीफ़ स्कूल भर में होने लगी। आपके सभी सहपाठी आपकी तीव्र बुद्धि की प्रशंसा करने लगे। सन् १८७३ ईसवी में सोलह वर्ष की अवस्था में आप उसी स्कूल से मैट्रिक पास हुए।

मैट्रिक पास करके मधोलकर बम्बई के एल्फिंस्टन कालेज में भर्ती हुए; और सन् १८७५ ईसवी में आपने एफ० ए० की परीक्षा भी पास कर ली। अपने अविश्रान्त परिश्रम एवं बुद्धि की कुशलता से आप प्रिन्सपल वर्ड्स-वर्थ (Principal Wordsworth) के प्रेमभाजन बन गये। सन् १८७७ ईसवी में आप स्कालर-शिप की परीक्षा (Scholarship Examination) में उत्तीर्ण हुए; उसी वर्ष आपने बी० ए० की डिगरी भी प्राप्त की। उसके कुछ ही वर्षों बाद आपकी प्रशंसा करते हुए प्रिंसपल वर्ड्सवर्थ ने कहा था, "मि० मधोलकर की असाधारण योग्यता के विषय में जो राय मैंने निश्चित की थी वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। मैं आरम्भ ही से उनकी कार्य्य-कुशलता की प्रशंसा किया करता था और उन्हें आदर की दृष्टि से देखा करता था।" बी० ए० पास करने के बाद आप एल्फिंस्टन कालेज में इतिहास, तर्क-शास्त्र तथा अर्थ-शास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। तीन वर्ष के बाद ही सन् १८८० ईसवी में आपने एल-एल० बी० की परीक्षा पास करली, और बरार के अकोला नामक ज़िले में आकर आप वकालत करने लगे। यहाँ आपको उन्नति करने के लिए विस्तृत क्षेत्र था। आपकी वकालत शीघ्र ही चल निकली और एक ही वर्ष में आपकी गणना उस समय के नामी वकीलों में होने लगी। दूसरे ही वर्ष जुडिशल कमिश्नर की अदालत अमरावती को उठ गई। अतएव आपको भी वहाँ

चला जाना पड़ा। वहाँ रह कर आपने पचीस वर्ष तक धन और यश दोनों अर्जन किये।

मधोलकर ने आरम्भ ही से अपने प्रान्त और देश के राजनैतिक कार्य्यों में भाग लेना आरम्भ कर दिया था। यही नहीं, भारतवर्ष की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के लिए भी आप कोशिश कर रहे थे। भारत की औद्योगिक उन्नति की ओर भी आपका विशेष ध्यान था। उसी के सम्बन्ध में आपने अपने अन्यान्य मित्रों की सहायता से बरार में एक ट्रेडिङ्ग-कंपनी खोली और

राव बहादुर मधोलकर।

सत्ताइस वर्ष तक आप स्वयं उसके संचालक रहे। आपके परिश्रम और उद्योग का यह फल हुआ कि बरार ऐसे छोटे प्रान्त में, कुछ ही समय में, अनेक औद्योगिक संस्थाएँ स्थापित होगईं।

जनता में जागृति पैदा करने के लिए मधोलकर को एक ऐसे समाचार-पत्र की आवश्यकता प्रतीत हुई जो निर्भीकता से भारतवासियों के स्वत्वों का प्रतिपादन करे और उनमें देश-प्रेम के भावों की पीयूष-वर्षा करे। आपके प्रयत्नों का यह फल हुआ कि थोड़े ही दिनों में "वैदर्भ" नामक एक समाचार-पत्र निकलने लगा और लगभग सोलह वर्ष तक वह बराबर जारी रहा। इस पत्र में अधिकतर आप ही के लेख निकला करते थे। आपके लेख भावपूर्ण एवं हृदयग्राही होते थे।

सन् १८८६ ई० में मधोलकर के उद्योग से बरार में एक सार्वजनिक सभा स्थापित हुई। सन् १८९८ ई० तक आप इस सभा के मन्त्री रहे। जो मसविदे इस सभा की ओर से सरकार के सामने पेश किये जाते थे वे अधिकतर आप ही की ज़ोरदार लेखनी से निकला करते थे। उस समय क़ानून-सम्बन्धी विषयों पर आप से राय ली जाती थी। आपकी योग्यता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि कठिन से कठिन औद्योगिक समस्याओं को आप बात की बात में हल कर दिया करते थे। आपकी कार्य्य-परायणता भी प्रशंसनीय थी। देश-सम्बन्धी प्रत्येक बातों में आप सदा आगे रहा करते थे। बरार रिवीज़न सर्वे (Revision Survey) के अफ़सरों के अन्याय-पूर्ण प्रस्तावों के विरोध में उस समय जो सभाएँ होती थीं उनमें आप बड़े उत्साह से सम्मिलित होते थे। इस सम्बन्ध में आपने जो एक लम्बा चौड़ा मसविदा तैयार किया था उससे आपकी विद्वत्ता प्रकट होती है। उन दिनों बरार का राज्य-प्रबन्ध कमेटियों द्वारा होता था। प्रायः इन सभी कमेटियों में आप नियुक्त किये जाते थे।

मधोलकर पहले पहल सन् १८८८ ई० में जातीय महासभा (National Congress) में सम्मिलित हुए थे। वह उसकी चौथी बैठक थी, और

स्वर्गीय मिस्टर जार्ज यूल के सभापतित्व में प्रयाग में हुई थी। तब से आप बराबर इस जातीय महा-सभा में सम्मिलित होते रहे। धीरे धीरे आपकी गणना कांग्रेस के प्रसिद्ध नेताओं में होने लगी। आपकी वक्तृता ज़ोरदार और विद्वत्तापूर्ण होती थी। सन् १८९० ई० में कांग्रेस की ओर से जो प्रतिनिधि इँगलेंड भेजे गये थे उनमें से आप भी एक थे। यह आप ही का साहस था कि सन् १८९७ ई० में आपने कांग्रेस को अमरावती में आमन्त्रित किया था। जिस अदम्य उत्साह के साथ आपने इसके लिए अपना समय और शक्ति लगाई थी और जिस धैर्य्य के साथ आपने सारे विघ्नों और बाधाओं का सामना किया था वह प्रशंस-नीय है।

सन् १८९६ ई० में अकाल के समय मधोल-कर ने दरिद्रों की सहायता करने में जो अपूर्व आत्मत्याग दिखाया उसे भारत-सरकार भी मान गई। उसी समय आप रिलीफ़-फ़ण्ड के मन्त्री के पद पर नियुक्त हुए। इन्हीं सेवाओं के उपलक्ष में सन् १८९८ ई० में आप राव बहादुर की पदवी से विभूषित किये गये। सन् १८९९ में फिर एक भयङ्कर अकाल पड़ा। तब फिर आप रिलीफ़-फ़ण्ड (Relief Fund) के मन्त्री बनाये गये और अपने पद के कार्य चारुरूप से सम्पादित किये। सन् १९०५ और-०६ में आप बरार प्रान्त की औद्योगिक-सभा के सभापति चुने गये। और दूसरे वर्ष सन् १९०७ ई० में रायपुर में प्रान्तिक राजनैतिक सभा की जो तीसरी बैठक हुई उसके आप सभापति निर्वाचित हुए। आपके भाषणों से आपकी अगाध विद्वत्ता का पता चल जाता है। आपने अपने असामान्य कार्य्य-परायणता तथा अलौ-किक सेवा-भाव से अपने देशवासियों के हृदय में घर कर लिया था। देश ने भी आपका हृदय से सम्मान किया और आप सन् १९१२ में नेशनल कांग्रेस के सभापति बनाये गये। जो उपहार दुखिया माता सदा से अपने पुत्र-रत्नों को अर्पित करती आई थी वही उसने आपको भी अर्पित किया। मधोलकर बड़े दृढ़ विचार के मनुष्य थे। आपका कहना था कि मेरी दृष्टि में थोड़े से राजनैतिक स्वत्वों का कोई भी मूल्य नहीं है। स्वराज्य हमारा एक-मात्र स्वत्व है। उसकी प्राप्ति के लिए हमें कमर कस कर कार्य्यक्षेत्र में आ जाना चाहिए। आप अपने देश-बन्धुओं के प्यारे तो थे ही, सरकार के भी आप विश्वासपात्र थे। सरकार ने भी आपको सी० आई० ई० की पदवी देकर सम्मानित किया था।

दुर्भाग्यवश गत दो वर्षों से मधोलकर और कांग्रेस के विचारों में बड़ा अन्तर पड़ गया था। अन्त में आपको उस कांग्रेस से—जिस पर तीस वर्ष पहले आप तन-मन-धन सब निसार कर चुके थे—अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ा। इससे आप को बड़ा क्लेश हुआ। भला किस मनुष्य को अपनी सर्वप्रिय वस्तु से सम्बन्ध तोड़ने में क्लेश नहीं होता? फिर आप तो एक सहृदय व्यक्ति थे।

इन दिनों मधोलकर का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था, फिर भी आप कठोर परिश्रम किया करते थे। हाल ही में आप ऐडिश्नल जुडिशल् कमिश्नर के पद पर नियुक्त हुए थे। सरकार ने आपको मध्यप्रान्त और बरार की नये युग की लेजि-स्लेटिव कौन्सिल का सभापति मनोनीत किया था, परन्तु दुर्भाग्यवश इसी बीच आपकी मृत्यु होगई।

मधोलकर अब इस असार संसार में नहीं रहे। परन्तु अब भी आपके देशवासी आपका कीर्ति-गान करते हैं। आपकी कार्य्य-कुशलता, उदारता और देश-भक्ति की जीवित स्मृति अब भी भारतवासियों को रह रह कर आपकी याद दिलाती है।

जंगबहादुरसिंह
हनुमंतलाल बख़्शी

श्रीहर्ष का कलियुग।
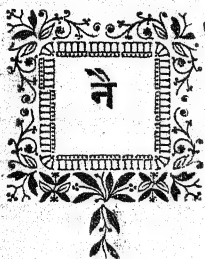
नैषध-चरित नामक महाकाव्य की रचना करनेवाले श्रीहर्ष को हुए कम से कम ८०० वर्ष हो गये। वे क़न्नौज-नरेश, जयचन्द, के समय में विद्यमान थे। महाविद्वान् थे। सब शास्त्रों के ज्ञाता थे। योगी भी थे। उन्होंने खुद ही लिखा है—

यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम्।

नैषध-चरित के सत्रहवें सर्ग में उन्होंने, प्रसङ्ग-वश, कलियुग का वर्णन किया है। कलजुगी आदमी कैसे होने चाहिए या उस ज़माने में कैसे थे, यह बात उनके इस वर्णन में ख़ूब देखने को मिलती है। ऐसे मनुष्य श्रुतियों, स्मृतियों तथा अन्य शास्त्रों के वचनों पर कैसे कैसे आक्षेप कर सकते हैं, और उनके विरोधी आस्तिक जन उन आक्षेपों के उत्तर में कैसी कैसी दलीलें पेश कर सकते हैं, यह भी श्रीहर्ष के वर्णन से अच्छी तरह जाना जा सकता है। उन आक्षेपों, और आक्षेपों के उन उत्तरों, में किसका पक्ष प्रबल और किसका निर्बल है, इसका भी अनुमान श्रीहर्ष की उक्तियों से किया जा सकता है। इस महाकवि की इस कलियुग-वर्णना से एक बात और भी बड़े मार्के की मालूम हो सकती है। वेदों में बहुत पुराने ज़माने की कुछ रूढ़ियों का उल्लेख है। वे रूढ़ियाँ उस समय रायज थीं। जन-समुदाय उन्हें सुदृष्टि से देखता था। पर आज-कल वे कुदृष्टि से देखी जाती हैं। इसी से आज-कल के कुछ नये वेदज्ञ उनका अर्थ इस समय के समाज के अनुसार करके अपनी विद्वत्ता और वेदज्ञता प्रकट करते हैं। पाण्डित्य और वेदज्ञान में वे शायद अपने को श्रीहर्ष से भी सौगुना अधिक समझते होंगे। वेदों का ठीक अर्थ समझने में चाहे श्रीहर्ष अधिक हों, चाहे आज-कल के वेदपाठी विद्वान्, इस झगड़े से मतलब नहीं। श्रीहर्ष के वर्णन से हम यदि इतना ही जान सकें कि वे वेद के कुछ संशयास्पद स्थलों का क्या अर्थ समझते थे, तो पुराने वेद-व्याख्याताओं की संख्या में एक की और वृद्धि हो जाय।

अच्छा तो अब, आगे, श्रीहर्ष ही की कही हुई बातें सुनिए। उन्हें मैं संक्षेप ही में सुनाऊँगा। श्रीहर्ष की उक्तियों का सारांश मात्र दे दूँगा—कहीं कम, कहीं कुछ अधिक; जहाँ जैसी आवश्यकता होगी।

(२)

अपनी प्राप्ति के अन्य सभी अभिलाषियों को निराश करके दमयन्ती ने, भरे स्वयंवर में, निषध-नरेश, नल, के कण्ठ में वरणमाला डाल दी। तब उसी के साथ उसका विवाह हो गया। दमयन्ती को लेकर नल अपने घर चला गया। अन्य नर, सुर, नाग, किन्नर, गन्धर्व आदि भी, जो स्वयंवर में आये थे, सब अपना अपना सा मुँह लेकर लौट गये। इन्द्र, वरुण, यम, कुवेर—ये चारों देवता दिक्पाल कहाते हैं। ये अपनी अपनी दिशा के स्वामी हैं। इन्होंने दमयन्ती पाने की चेष्टा सब से अधिक की थी; माया तक रची थी। पर दमयन्ती के सतीत्व के सामने इनकी कुछ भी न चली। पीछे से इन्हें प्रसन्न होकर अपनी माया का संवरण करना पड़ा और नल-दमयन्ती को वर भी देना पड़ा। ये लोग सबके पीछे स्वयंवर से रवाना हुए। साथ इनके सरस्वती भी चली। स्वयंवर में आये हुए नरेशादि के गुण वर्णन करने के लिए आप तशरीफ़ लाई थीं। सागर के कल्लोल जैसे तट तक व्यर्थ ही आकर फिर लौट जाते हैं वैसे ही ये चारों दिक्पाल भी स्वयंवर में आने का व्यर्थ श्रम उठा कर लौट चले। परन्तु दमयन्ती को न पाने का दुःख इन्हें न हुआ।

इन्होंने सोचा, नल पर दमयन्ती चिरकाल से आसक्त थी। नल था भी उसके सर्वथा योग्य। इस कारण हम लोगों को असन्तुष्ट न होना चाहिए। विनीत शिष्य को विद्या का दान देने से गुरु को विषाद थोड़े ही होता है; उसे तो उलटा हर्ष होता है। अतएव नल जैसे विनीत और सर्वगुणसम्पन्न राजशिरोमणि को यदि हम लोगों की कृपा से दमयन्ती मिल गई तो अप्रसन्न होने की कोई बात नहीं। नल तो हम लोगों का परम भक्त है।

इस तरह मन में सोच कर सरस्वती-सहित वे चारों देवता चल दिये। विमान इन लोगों के बड़े वेगगामी थे। वे हवा से बातें करते थे। उनके वेग से वायु बड़े ज़ोर से फटती चली जाती थी। वायु के झोंकों से दूर दूर तक के बादल खिँच आते थे। विमानों की ध्वजाओं के अग्रभागों के घुस जाने से कहीं कहीं बादल विदीर्ण हो जाते थे। इस कारण बिजली चमकने लगती थी और ऐसा मालूम होता था कि विमानों के ऊपर पीली पीली पताकायें फहरा रही हैं। इन्द्र के रथ से उसका धनुष लटक रहा था। उधर बादलों की दौड़ आकाश में हो ही रही थी। जो बादल रथ के पास आ जाता, इन्द्र का धनुष उसका आभूषण सा बन जाता था। यम की गदा रथ पर रक्खी थी। उसका ऊपरी सिरा ऊपर को उठा था। वह सूर्य्य को छू छू लेता था। ऐसे समय सूर्य्य सफेद रङ्ग का छत्र सा बन जाता था और यम की गदा उसके डण्डे के सदृश हो जाती थी। बात यह थी कि यम-राज सूर्यवंशी हैं। अतएव सूर्य्य देवता उस पर छत्र सा लगाये चले जाते थे। वरुण का कुछ और ही ठाठ था। नल-दमयन्ती का जोड़ा ख़ूब मिला, यह सोच कर स्वर्गलोक को परमानन्द हुआ। यह बात वरुण के पाश से मालूम हुई। वह चमकता हुआ उड़ता चला जाता था। इससे ऐसा जान पड़ता था कि आनन्दमग्न स्वर्गलोक के सिर हिलाने से उसके कानों का कुण्डल गिर कर अधर में लटकता चला जा रहा है। आकाश के पवनस्कन्ध-प्रान्त से होकर जाते समय अग्नि-नारायण की शिखा ख़ूब ऊँची उठ कर इधर-उधर हिल रही थी। यह देख कर व्योमविहारियों को यह भ्रम हो रहा था कि कहीं इसी को तो भैमी नहीं मिल गई जो मारे ख़ुशी के ख़ूब झूमता झामता चला जा रहा है।

सरस्वती इन चारों देवताओं के साथ थी। सफ़र दूर का था। कटे कैसे? यह देख कर सरस्वती ने अपनी वीणा उठाई और दमयन्ती की बातें, पद्य-बद्ध करके, लगी उन्हें गाने और वीणा बजाने। वह बेचारी दमयन्ती के वियोग से ख़ुद भी बहुत दुखी थी। सो इस गाने-बजाने से उसका भी ख़ूब मनोरञ्जन हुआ और उसके साथी देवताओं का भी।

इतने में उन लोगों ने खड्ग के समान काले काले आदमियों का एक झुण्ड, अपनी तरफ़ आते, देखा। उस समय उन्हें यह भ्रम हुआ कि आगे बढ़ कर हमारी अगवानी करने के लिए कहीं मूर्तिमान् आकाश ही तो नहीं उड़ा चला आ रहा है। धीरे धीरे उन्हें असल बात मालूम हुई। उन्होंने देखा कि यह तो कलिकाल महाराज की सेना है और उस सेना के जनरल, मनोज मिश्र, आगे आगे बढ़ाते चले आ रहे हैं।

मनोज महाशय अकेले न थे। उनके साथ नौकर-चाकर भी थे। उन्होंने भय और लज्जा की ज़रा भी परवा न करके, अगम्या भी नारियों की प्राप्ति के लिए अपने प्राणों को सदा ही अपनी हथेली पर रख छोड़ा था। पास उनके टका न रह गया था; जो कुछ था दूतियाँ और कुटनियाँ सब चाट चुकी थीं। ऐसे अनुचरों के स्वामी मनोज महाशय की बराबरी भला कौन कर सकता है। सुनते हैं, बुद्ध भगवान् ने अपनी तपस्या के प्रभाव से लोकमात्र को जीत

लिया था। मनोज भी उनसे कम न थे। इन्होंने भी सारे संसार को—समस्त त्रिलोकी को—अपने प्रबल प्रभाव से जीत लिया है। क्या कोई ऐसा भी है जिसके हृदय में इनके तीर आपुङ्ख न धँस गये हों? प्रत्यक्ष परमेश्वर को भी तो ये कुछ नहीं समझते। ईश्वर अशरीरी होकर सृष्टि-निर्माण करता है। आप भी अशरीरी (अनङ्ग) होकर सृष्टि उत्पन्न करते हैं। बलिक यह कहना चाहिए कि इनमें और परमेश्वर में षडाष्टक योग है। ये परमेश्वर के परम विरोधी हैं। ईश्वर ने जगत् में स्त्रियों और पुरुषों के युग्म बनाये हैं। ये इस क्रम को उलट देना चाहते हैं। इसी से ये स्त्री को अस्त्री (शस्त्र-धारी तथा स्त्री का उलटा पुरुष) बना कर संसार में अपनी अलग ही माया फैला रहे हैं।

ऐसे महापराक्रमी और महाविलक्षण-शक्ति-धारी मनोज मिश्र को देख कर, आप शायद यह समझें कि इन्द्रादि देवता प्रसन्न हुए होंगे। सो बात नहीं। उनकी आँखें तो नल की शोभा को आकण्ठ पी चुकी थीं। इस कारण उन्होंने मनोज की तरफ़ देखा तक नहीं। उस शोभा का पान बहुत अधिक कर जाने से उन्हें अरुचि-रोग सा हो गया था—ऐसा भीषण अरुचि-रोग जिसे न तो कोई दवा दूर कर सकती थी और न किसी देवता के पूजा-पाठ ही से वह जा सकता था।

मनोज की तरफ़ से आँखें हटा लेने पर देवताओं का ध्यान एक और पुरुष पर गया। उसका हाल कुछ न पूछिए। उसका सारा शरीर लाल था। वह कँप रहा था। अवाही तवाही बातें बक रहा था। जो चीज़ हाथ में आ जाती उसी को उठा उठा कर फेंक रहा था। ज़ोर ज़ोर से चिल्ला रहा था। कभी किसी को फटकारता था, कभी किसी का नाम लेकर पैतड़ा बदलता था। आपने जाना, ये कौन साहब थे? इनका नाम था, कप्तान क्रोधसिंह। आप भी अकेले न थे। कितने ही साथियों को साथ लिये हुए थे। इन साथियों की आँखें सुर्ख़ अङ्गार हो रही थीं। दाँतों से ओंठ काटने से जो ख़ून निकलता है उस ख़ून की लालिमा से ही इन लोगों की आँखों ने लालिमा प्राप्त की थी। इनके नथनों से ग़ज़ब की निश्वास निकल रही थी। काली नागिनियों की फुफकार को भी वह मात कर रही थी। जब नौकरों का यह हाल, तब मालिक का क्या पूछना! आप महामुनि दुर्वासा को जानते होंगे। जानते हैं न? उनके हृदय को आप दुर्लङ्घ्य क़िला समझिए। क्योंकि मन्मथ महाराज के तीरों तक की पहुँच वहाँ तक नहीं होती। पर क्रोधसिंह तो उसी दुर्लङ्घ्य दुर्ग के भीतर निःशङ्क आया जाया करते हैं। उन्होंने दिक्पालों को ऐसी भयङ्कर दृष्टि से देखा जैसे उन्हें वे जला कर ख़ाक ही कर डालना चाहते हों। उन्हीं को क्यों, उनके अधिष्ठित लोकों को भी। अपने अपने स्वामियों समेत सभी लोकों को जला डालना उनके लिए बात ही कौन बहुत बड़ी थी!

इसके बाद उन देवताओं ने एक और महाशय को देखा। उनका नाम था कर्नल लोभनाथ। अमीरों के सामने वे अपने दोनों हाथ फैलाने में नितान्त निपुण थे। माँगते समय भय से उनका सारा बदन काँपने लगता था; मुँह से पूरी बात तक न निकलती थी। गद्गद कण्ठ होकर कुछ तो कहते थे, कुछ मुँह के भीतर ही रखते थे। उनके साथ भी उनके अनुयायी घिरे हुए थे। उनके नाम थे—दैन्य, चौर्य्य और अत्याहार-जनित रोगी आदि। कुछ लोग ऐसे भी थे जो दूसरों को खाते देख सामने खड़े होकर लार टपकाते फिरते थे। लोभनाथ की लीला अजीब ही थी। धनवान् दानी जब धन बरसाते थे तब आप उस धनवृष्टि को अपने हाथों की टोकरी में ऊपर ही लोक लेते थे और ज़रूरत पड़ने पर अपनी स्त्री और अपने पुत्रों तक को,

अफ़रीका के पूर्वकालीन गुलामों की तरह, धनिकों के हाथ बेच डालते थे। कोप को, काम को और पाँचों महापातकों में से अगम्या-गमन और अपेय-पान को आप एक तिनके से भी अधिक तुच्छ समझते थे। रहते तो आप सभी इन्द्रियों में थे, पर ज़ियादह समय आपका जिह्वारूप महल में ही व्यतीत होता था।

एक और महाशय भी देवताओं को देख पड़े। उन्होंने सच्ची और हितकारक बात न मानने की क़सम खा ली थी। भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और इष्ट-मित्र यदि इन्हें कुछ उपदेश दें—कुछ समझावें बुझावें तो उनके उस प्रबोध को सुन लेना उन्होंने हराम समझ रक्खा था। जिस बात पर आप अड़ जाते थे उससे चाहे दमड़ी का भी लाभ न हो, अन्त तक उसी पर डटे रहते थे। आपका शुभ नाम था मेजर मोह। ये भी अपने अनुयायियों को साथ लिये हुए थे। ये लोग अपने अपने कुटुम्बरूपी गहरे दलदल में गले तक फँसे हुए थे। बुद्धिमान् इतने थे कि कल प्राण निकलना निश्चित जान कर भी ईश्वर का नाम न लेते थे। मोह-महाशय की महिमा अवर्णनीय समझिए। जो लोग अपनी आत्माओं में निर्वाण-ज्ञान-दीपक जलाने की चेष्टा में रत रहते हैं उनके उस उज्ज्वल दीपक को आप उसी तरह मलिन किया करते हैं जिस तरह कि साधारण दीपकों को उन्हीं से उत्पन्न काजल मलिन किया करता है। जिस तरह ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये तीनों ही आश्रमचारी गृहस्थ के आसरे रहते हैं उसी तरह पूर्ववर्णित मनोज मिश्र, क्रोधसिंह और लोभनाथ भी इन्हीं मोह-महाशय के आसरे रहते हैं। अगर ये न हों तो उन तीनों को कहीं खड़े होने के लिए भी ठौर न मिले।

यह न समझिए कि उस जन-समूह में यही चार प्रतिष्ठित पुरुष थे। और भी न मालूम कितने रथी, महारथी विद्यमान थे। वे सभी पापरूपी काले काले कोट, क्या ओवरकोट, पहने हुए थे। ये ओवरकोट उन लोगों के सिर से पैर तक लटक रहे थे। उनकी हक़ीक़त देवताओं ने पहले ही सुन रक्खी थी। बहुतों को वे पहचानते भी थे। इस कारण सबको देख चुकने पर वे परस्पर बोल उठे—अरे ये तो फलाँ हैं, ये फलाँ हैं, ये फलाँ के फलाँ हैं, इत्यादि।

इतने में उन लोगों का वह सैन्य, समुद्र की तरह उमड़ता हुआ, देवताओं के बहुत पास आ गया। तब उनमें से एक सैनिक ने, बड़े तर्जन-गर्जन के साथ, देवताओं को सुना कर इस प्रकार व्याख्यान देना शुरू किया—

(३)

अजी ज्ञानवृद्धजी महाराज, सुनिए तो। आपके वेदों में लिखा है कि यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। लिखा है न? ज़रा बताइए तो सही, किसने किसने यज्ञ करके स्वर्ग पाया है। वेदों में अगर लिखा हो कि पत्थर फेंकने से वे पानी पर तैरने लगते हैं तो क्या आप वेदों की इस उक्ति को भी सच मान लेंगे? नहीं, तो आपने स्वर्ग-प्राप्ति की बात कैसे सच मान ली? क्यों आप तृतीय पुरुषार्थ अर्थात् काम-सिद्धि की चेष्टा छोड़ कर स्वर्ग-प्राप्ति की चेष्टा में लग गये? अगर पानी पर पत्थर तैर सकता है तो आग में आहुतियाँ डालने से स्वर्ग भी मिल सकता है। अन्यथा दोनों बातें कपोलकल्पना-मात्र हैं। आपके एक आचार्य्य बृहस्पतिजी हो गये हैं। उनका नाम आपने कभी सुना है? वे तो कहते हैं कि अग्निहोत्र, वेद-पाठ, तन्त्रोक्त क्रियाओं का साधन, त्रिदण्ड धारण करना और ललाट पर त्रिपुण्ड लगाना, उन लोगों के पेट पालने का एक साधन-मात्र है जिनमें न अक़्ल है, न पौरुष है और न ख़र्च करने के लिए जिनके पास एक छदाम ही है। फिर क्यों तुम लोग इन शुष्क आडम्बरों के पीछे पड़ कर लोगों को ठग रहे हो?

तुम लोग जातिशुद्धि और कुल की निष्कलङ्कता के बड़े क़ायल हो। पर कभी यह भी सुना है—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना

संसार अनादि है। अब तक स्त्री पुरुषों के अनन्त जोड़े उत्पन्न हो चुके। काम दुर्वार है; उसके सामने बड़े बड़े धैर्य्यवानों का भी धैर्य्य हवा हो जाता है। कुलों की जड़ कामिनी-मूलक है। एक भी कामिनी का सम्पर्क कालुष्य से हो जाने पर आगे पीछे के सैकड़ों, हज़ारों, कुल कलङ्कित हो जाते हैं। इस दशा में जातियों और कुलों की पवित्रता का स्वप्न देखना पागलपन के सिवा और कुछ नहीं। अरे भले आदमियो, स्मरान्धता जैसे नरों को पीड़ित करती है वैसे ही नारियों को भी। तिस पर भी तुम लोग, ईर्ष्यावश, नारियों की रक्षा के लिए तो बड़े बड़े ढोंग रचते हो, पर नरों की रक्षा की रत्ती भर भी परवा नहीं करते। कुल-स्थिति को अक्षुण्ण रखने का दम्भ करनेवाले तुम जैसों को हज़ार बार धिक्कार!

तुम लोग आक्रोश किया करते हो—परस्त्री-संसर्ग बड़ा भारी पाप है। क्या तुम्हारी यह भावना सच है? मैं तो इस घोषणा को दम्भ के सिवा और कुछ नहीं समझता। तुममें से एक का नाम इन्द्र है। मेरी बात पर विश्वास न हो तो ज़रा अपने उस इन्द्र से ही पूछ देखो। पर पूछने के पहले ज़रा उसे अहल्या की याद ज़रूर दिला देना! तुम लोग वेदों के बड़े भक्त हो। उनमें लिखा है—

सोमराजानो ब्राह्मणाः

अच्छा तो तुम ब्राह्मण हो या नहीं? और सोम तुम्हारा राजा है या नहीं? फिर तुम गुरुतल्पगमन को क्यों पाप समझते हो? जिस काम में तुम्हारे राजा को इतना उत्साह उसी से तुम्हारी इतनी घृणा! तुम पूरे राज-विद्रोही हो। पीनल-कोड में राज-विद्रोहियों के लिए कितनी कड़ी सज़ा का विधान है, यह बात किसी वकील से तो पूछ लेते।

तुम्हारे वेद कहते हैं, पाप करने से अगले जन्म में ताप और पुण्य करने से सुख होता है। पर इस जन्म में इसका उलटा प्रत्यक्ष देख पड़ता है। अगम्या-गमन इत्यादि से सुख होता है या नहीं? अरे, फिर क्यों प्रत्यक्ष प्रमाण को न मान कर जन्म-जन्मान्तर की न देखी हुई कपोल-कल्पित बातों पर विश्वास करते हो? इसका क्या ठिकाना कि मर कर फिर जन्म होगा। ऐसी सन्देहावस्था में भी यदि तुम लोग पाप-कार्य्य नहीं करना चाहते तो फिर यज्ञों में तुम लोग हिंसा क्यों करते हो? बोलते क्यों नहीं? हिंसा से पाप होता है या नहीं? वैदिकी हिंसा से पाप नहीं होता, यह विचार क्या सन्देह से ख़ाली है? कितने ही आचार्य्य इस प्रकार की हिंसा को निन्द्य ठहराते हैं या नहीं? अरे धूर्तो, कुछ तो अक़्ल से काम लेते!

तुमने अपने वेदों की, इन्द्र की, बृहस्पति की कथा सुन ली। व्यास को जानते हो? वही व्यास जिन्होंने पुराणों के पोथे बनाये हैं। याद है, तुम्हारे लिए उनकी क्या आज्ञा है? उनकी आज्ञा है कि जात-काम कामिनी को कदापि न छोड़ना चाहिए। इसी से तो उन्होंने विचित्रवीर्य की भार्या के साथ वैसा सलूक किया। तुम लोग इस वृद्धाचार का अनुसरण क्यों नहीं करते? क्या तुम अपने बाप दादे का भी कहना न मानोगे? मनुष्य का फ़र्ज़ है कि वह ऐसा काम करे जिससे अन्त में सुख हो। है कि नहीं? अच्छा तो सुकृत के अन्त में सुख होता है या सुरत के? तुम्हारा निज का अनुभव क्या है? फिर भला, क्यों अन्धे की तरह सुकृत के पीछे हैरान हो रहे हो?

अच्छा, व्यास को भी जाने दो। अपने धर्म्म-शास्त्री मनु को मानोगे या उन्हें भी नहीं? उनका फ़रमान है —

सर्वान् बलकृतानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत्।

वे कहते हैं कि जो काम ज़बरदस्ती किया जायगा उसकी गिनती किये जाने में न होगी। वह हिसाब ही में न लिया जायगा। पाप करने से यदि सुख मिले तो तुम ज़बरदस्ती उसे क्यों नहीं करते। ऐसा करने से तुम्हें मुफ़ में ही सुख मिल जायगा। तुम्हारा इस तरह किया गया पाप लेखे में न आवेगा। फिर तुम्हें डर किस बात का?

श्रुतियों और स्मृतियों का अर्थ लोग मनमाना किया करते हैं। जो जितना ही अधिक बुद्धिमान् है, अर्थ करने में वह उतनी ही अधिक बुद्धिमत्ता दिखाता है और अपने मन के अनुकूल अर्थ कर देता है। जब यह दशा है—जब कोई एक अर्थ निश्चित ही नहीं—तब क्यों तुम वेदों और धर्म्मशास्त्रों के वचनों का ऐसा अर्थ नहीं करते जिससे तुम्हें सुख की प्राप्ति हो? तुम्हारा ही वेदान्त कहता है कि तुम शरीर नहीं; तुम तो उससे भिन्न हो। पाप करता है शरीर। अतएव उसके कृतकर्म के भोक्ता तुम कैसे हो सकते हो? छोड़ दो अपनी इस जड़ता को। कहना मानो। जिस तरह हो सके सुख-प्राप्ति की चेष्टा करो। मर जाने पर भी संस्कारों का नाश नहीं होता; जीव को पाप-पुण्य का फल भोगना पड़ता है; श्राद्ध में ब्राह्मण-भोजन से मृत प्राणी की तृप्ति होती है—ये सब धूर्तों की बातें हैं। उनकी प्रतारणा के फन्दे में पड़ कर अपना सर्वनाश न करो।

ये जो तरह तरह के फूल खिलते हैं उनकी शोभा तभी तक है जब तक वे पेड़-पौधों पर लगे हुए हैं। वे फल भी तभी देते हैं। फूल ही तोड़ लोगे तो फल कहाँ से आवेगा। यदि तोड़ना ही है तो तोड़ कर अपने सिर पर रक्खो—अपने ही ऊपर चढ़ाओ। पत्थरों पर क्यों उन्हें चढ़ाते फिरते हो? वाहरी तुम्हारी मूर्तिपूजा!

ब्रह्मा आदि देवताओं तक ने भी हमारे जनरल मनोज मिश्र की आज्ञा का कभी उल्लङ्घन नहीं किया। देखो, जिन वेदों की तुम दुहाई देते हो वे वेद भी तो तुम्हारे देवताओं ही की रचना हैं। देवता ख़ुद ही जिनकी आज्ञा मानते हैं उन मनोज महाशय की आज्ञा मानना क्या तुम्हारा धर्म नहीं? अरे मूर्खो, वेदों में और अधिक क्या रक्खा हुआ है। फिर उन पर इतनी अधिक श्रद्धा क्यों? वेद मेरी ही वाणी है, यह तुम्हारे भगवान् का वचन है या नहीं? यदि है और यदि वे मनोजाज्ञा मानते हैं तो तुम कहाँ के बड़े ज्ञानी आये जो उसे नहीं मानते।

तुम लोग तो पशुओं से भी गये बीते जान पड़ते हो। क्योंकि ब्रह्मा आदि देवताओं और व्यास आदि द्विजों के बनाये हुए ग्रन्थों पर तुम आँख मूँद कर विश्वास करते हो। उन्होंने लिख दिया है—'गां प्रणमेत्" अर्थात् गाय को नमस्कार करना चाहिए। बस तुम लोग लगे पशुओं के सामने हाथ जोड़ने। अरे क्या तुम गाय, भैंस से भी तुच्छ हो जो किसी के कहने-मात्र से उनको नमस्कार करने दौड़ते हो? क्या ज़रा भी अक्ल से काम लेना नहीं जानते? तुम्हारी मूर्खता की तो सीमा ही नहीं। बड़े बड़े यज्ञ करके स्वर्ग की कामना तुम सिर्फ़ इसी लिए करते हो कि मर कर वहाँ जाने पर लीलाललाम अप्सराओं की प्राप्ति होगी। ख़ूब ख़ूब! इसी से तुम इस लोक में कामुकता से इतना डरते हो! इसी से तुमने उसका त्याग किया है! क्या कहना है! जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए मरते हो उसी का त्याग इस जन्म में करते हो! अक्ल का अजीर्ण इसी को कहते हैं। अरे मूर्खो, शम, दम में इतना परिश्रम क्यों करते हो? परिश्रम करना ही है तो प्रिया की प्रीति के सम्पादन में करो। भस्म हो गये शरीर का पुनरागमन होगा, इस भ्रम को छोड़ दो।

हरिहरादि देवताओं की उपासना करके क्यों

हैरान हो रहे हो? इन लोगों की स्त्रियाँ, लक्ष्मी आदि, क्या अपने अपने पतियों की कम सेवा-शुश्रूषा और पूजा करती हैं? वे क्यों न मुक्त हो गई? देखते नहीं, वे भी हमारे जनरल मनोज के द्वारा निर्म्माण किये गये जेलों में बन्द पड़ी हुई सड़ रही हैं!

दुर्वासा आदि तुम्हारे तपोधनी ऋषि ख़ुद तो क्रोध के कीड़े हो रहे हैं, पर दूसरों को क्रोध न करने की शिक्षा देते हैं। यह तो वही बात हुई जैसे कोई महानिर्धन मनुष्य दूसरे को धनवान् बना देने के अभिप्राय से ताँबे से सोना बना देने की विद्या सिखाने की चेष्टा करे!

क्यों तुम व्यर्थ दान देते फिरते हो? दान देने से लक्ष्मी प्रसन्न नहीं होती; कृपण बनने—दान न देने—से ही प्रसन्न होती है। बलि ने सर्वस्व दान देकर क्या पाया? केवल बन्धन! क्या तुम भी यही चाहते हो?

इन सब ढकोसलों को छोड़ो। अपने हित की बात सुनो। इनमें रक्खा ही क्या है। स्वच्छन्द हो जाव। जिस काम से सुखप्राप्ति हो उसे बिना विचार किये करो। वेद-पुराण, पूजा-पाठ, दान-पुण्य उठा कर ताक़ पर रख दो।

(४)

इन दुर्वाक्यों को सुन कर इन्द्र ने बड़ा कोप किया। उसने उस सैनिक को ज़ोर से ललकारा। वह बोला—

यह दुरात्मा कौन है जो धर्म्म के मर्म्मों पर कुल्हाड़ी चला रहा है? क्या यह नहीं जानता कि भीषण वज्रधारी मैं त्रिलोक का शासन करनेवाला हूँ और वेद ही इस त्रिलोक की आँखें हैं? उन्हीं पर यदि हरताल लग गया तो यह त्रिभुवन अन्धा हो गया समझिए। चातुर्वर्ण्य में ज़रा भी सङ्कीर्णता नहीं आई। जाति-लोप भी नहीं हुआ। इस विषय की जो परीक्षायें शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं वे सदा ही ठीक उतरी हैं। जो वर्णच्युत हो गया वह अलग कर दिया गया; जो जाति बाहर हो गया सो हो गया। कोई प्रमाण तेरे पास है कि ऐसा नहीं हुआ? ब्राह्मणी आदिकों का धर्षण करनेवाले क्या कभी विजयी हुए हैं? दहकते हुए लोहे का गोला उठाने पर क्या वे जलने से बचे हैं? जो बच गये वे शुद्ध। जो नहीं बचे वे अशुद्ध; वे जातिच्युत हो गये। जातिहीनता और वर्णसङ्करता का फिर क्या ज़िक्र? जाति और वर्ण दोनों ही सर्वथा विशुद्ध बने हुए हैं। इस शुद्धि-रक्षा के लिए ही तो वेद में जलानल-परीक्षाओं की विधि है। इससे भी क्या तेरी नास्तिकता दूर नहीं होती? तुझे धिक्कार!

रे नास्तिक, कृतकर्म्म का फल ज़रूर ही मिलता है। संस्कार कभी व्यर्थ नहीं जाते। अदृष्ट का फल कभी नहीं मिटता। यदि तुझे प्रमाण चाहिए तो आँखें खोल। तू समझता होगा कि पति-संयोग होने से ही गर्भोत्पत्ति होती है। यह तेरी भूल है। यह बात होने से भी गर्भोत्पादन नहीं होता—सन्तति जन्म नहीं लेती। यदि अदृष्ट में नहीं तो हज़ार संयोग हुआ करे। उससे फलोत्पत्ति होती ही नहीं। इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिए?

तेरी अच्छी समझ है कि मृत जीव के निमित्त किये गये पिण्डदान से परलोकगत आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकती। मूर्खशिरोमणे, क्या तूने भूताविष्ट लोगों को मरे के लिए गया श्राद्ध माँगते कभी नहीं सुना? यदि मृतात्माओं को दूसरे के दिये हुए पिण्ड से तृप्ति न होती तो वे क्यों इस प्रकार की इच्छा प्रकट करते? तू तो मूर्ख ही नहीं, महा-मूर्ख और महा-नास्तिक जान पड़ता है। क्योंकि तू परलोक को भी नहीं मानता। ऐसी अनेक घट-नायें हो गई हैं जिनमें यम के दूत भूल से अन्य आत्माओं को यमलोक ले गये हैं। वहाँ जाने पर

जब भूल मालूम हुई है तब वे आत्मायें वापस भेज दी गई हैं और उनके मृत शरीरों में फिर जान गई है। ऐसी आत्माओं ने परलोक के दृश्यों तक का आंखोंदेखा वर्णन किया है। क्या तूने कभी एक बार भी इस प्रकार की घटना नहीं सुनी?

अब तक अग्निदेव मन ही मन जल-भुन रहे थे। अब उनसे न रहा गया। उनकी क्रोध-ज्वाला और भी तीव्र हो उठी। उन्होंने उस सैनिक को बड़ी ही कड़ी फटकार बताई। वे बोले—

क्यों इतना प्रलाप करता है? इतनी निरर्गल विकत्थना करते तुझे लज्जा नहीं आती! हम लोगों के सामने इतनी धृष्टता! श्रुतियों में महीने महीने भर तक के उपवासों का विधान है। उन उपवासों—उन व्रतों—का अनुष्ठान करनेवाले महीनों बिना खाये-पिये जीते रहते हैं। तुझे यदि एक दिन भी खाने को न मिले तो तू मूर्च्छित हो जाय—तो तू म्रियमाण दशा को प्राप्त हो जाय। यह सब श्रुतिसम्मत कर्म्मानुष्ठान ही की महिमा है। पर तुझ अन्धे की समझ में यह बात कैसे आ सकती है? चाहिए तो था कि धर्म्म की यह महिमा देख कर तुझे विस्मय होता; पर, नहीं, तुझ नास्तिक पर इसका कुछ भी असर नहीं हुआ। अरे! पुत्रेष्टि इत्यादि यज्ञों की बात भी क्या तूने नहीं सुनी? इस प्रकार के यज्ञों से अपुत्रियों को भी पुत्र-लाभ होता है या नहीं? यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है या नहीं? फिर भी, श्रुति-स्मृति-निर्दिष्ट धर्म्माचरणविषयक तेरा सन्देह बना ही हुआ है? तू तो अक़्ल का पूरा दुश्मन मालूम होता है।

धर्म्मराज से भी न रहा गया। क्रोधावेश में उन्होंने जो अपने दण्ड को ऊपर उठा कर घुमाया तो बादलों से टक्कर खाने के कारण उससे आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। श्रुतिविरुद्ध बातें सुनने से उनके मर्म्मस्थल विदीर्ण हो गये। उन्होंने ललकारा—रे शठ! खड़ा रह। तेरा कण्ठ काटे देता हूँ; तेरे ओष्ठ चूर किये देता हूँ। तू न कहने योग्य बातें बक रहा है! तू इतना विरुद्ध बकवाद कर रहा है! तू छोटे मुँह बड़ी बातें कह रहा है! तुझे धिक्! वेद कह रहे हैं कि परलोक है। वेदविरोधी बौद्ध-दर्शन आदि भी कह रहे हैं कि परलोक है। अकेला तू कहता है, परलोक नहीं। कौन तेरी बात पर विश्वास कर सकता है? तुझे इस प्रकार प्रलाप करते लज्जा भी नहीं आती? जितने मत हैं उनमें से एक न एक मत तो अवश्य ही सच्चा होगा। इस दशा में उस मत के अनुयायियों को तो धर्म्म लाभ अवश्य ही होगा। परन्तु तेरे सदृश पुरुष का कदापि निस्तार नहीं; क्योंकि तू तो सभी मतों को बुरा बता रहा है। तू तो किसी को भी दाद नहीं देता। तू तो सर्वमतत्यागी चार्वाक का चेला है।

क्रोध से वरुण की आँखें अरुण हो रही थीं। उन्होंने भी अपने पाश को सँभाला। उन्होंने इस प्रकार दारुण वचनों की सृष्टि की—रे पाखण्डी! क्या तू मेरे इस प्रचण्ड पाश से भी नहीं डरता? ज़रा सँभल कर मुँह खोल। विष्णु के कूर्म, मत्स्य, वराह आदि अवतारों से चिह्नित शालग्राम-शिलायें भला कोई आदमी बना तो ले। उनका निर्म्माण कदापि सम्भव नहीं। उनकी उत्पत्ति को परमेश्वर ही की लीला समझना चाहिए। इसी से उनकी इतनी महिमा है। क्या इस पर भी वेद-विहित धर्म्म पर तेरी श्रद्धा नहीं? श्रुतिनिर्दिष्ट बातों की सत्यता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है?

इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण के ऐसे कोप-पूर्ण वचन सुन कर वह सेना-समूह स्तम्भित हो गया। उस दल में जो लोग थे उनके दिल दहल उठे। तब उनमें से एक धूर्त कुछ आगे बढ़ा। उसने अपने दोनों हाथों की अञ्जलि अपने मस्तक पर रक्खी। तब, इस प्रकार, बड़ी नम्रता से, उसने उन देवताओं को नमस्कार किया। वह बोला—

स्वर्ग के स्वामियो! आप मुझ पर क्यों इतना रोष प्रकट कर रहे हैं? मेरा कुछ भी दोष नहीं। मैं अपराधी नहीं। मैं तो पराधीन हूँ। आपने शायद नहीं जाना कि मैं कलिकाल महाराज का चारण हूँ। मुझे आप उनका भाट समझें। उनकी तारीफ़ करना तो मेरा काम ही है। इसी की तो मैं रोटी खाता हूँ। अब आप मेरे महाराज से निपट लें। लीजिए, मैं यहाँ से हटा जाता हूँ।

[अपूर्ण

महावीरप्रसाद द्विवेदी

नाना साहब की न्याय-भिक्षा।

सन् १८१८ के युद्ध में पूना के अन्तिम पेशवा बाजीराव ने अपने आप को अँगरेज़ों के सिपुर्द कर दिया। अँगरेज़ों ने उनके राज्य पर क़ब्ज़ा कर लिया और वे क़ैद करके कानपुर ज़िले के बिठूर में गंगा सेवन करने को भेज दिये गये। उन्हें कम्पनी सरकार ८ लाख साल पेंशन देती रही। उन्होंने राज्यपाट के झंझटों को छोड़ दिया और सन् १८५४ तक अँगरेज़ों की पेंशन पर सुख के साथ अपना जीवन बिताया। जब उनका आख़िरी समय आया और वे चल बसे तब उनकी सारी जायदाद तथा उनके परिवार के भरण-पोषण का भार उनके पोष्य पुत्र धोंधूपन्त उपनाम नाना साहब पर पड़ा। पेशवा का परिवार भारी था। इसके सिवा नौकर चाकर भी बहुत थे। राज्याधिकार के न रह जाने पर भी नौकरों की संख्या सात आठ हज़ार तक सदा बनी रही। पेशवा की जो सम्पत्ति नाना साहब को मिली थी उसका हिसाब सुनिए। सोलह लाख के कम्पनी कागज़, दस लाख के जवाहिरात, तीन लाख मुहरें, अस्सी हज़ार मूल्य के सोने के ज़ेवर और २० हज़ार के चाँदी के बर्तन थे। परन्तु पेशवा के परिवार का ख़र्च चलाना इतने धन से नाना साहब को असम्भव समझ पड़ा। उस समय लोग समझते थे कि पेशवा के परिवार के भरण-पोषण के लिए थोड़ी बहुत पेंशन कम्पनी सरकार ज़रूर देती रहेगी। इस समझ के जड़ पकड़ने का कारण यह था कि जब बाजीराव जीवित थे तभी इस बात का आश्वासन इँगलैंड से मिल गया था कि उनकी मृत्यु के बाद उनके परिवार की गुज़र-बसर के लिए भी कुछ प्रबन्ध अवश्य कर दिया जायगा। इसी बात से नाना साहब यह समझ रहे थे कि अँगरेज़ उनका ख़याल ज़रूर करेंगे। अतएव अत्यन्त नम्रता और करुणा-पूर्ण भाषा में एक प्रार्थना-पत्र रामचन्द्र राव ने, जो उस समय पेशवा का प्रधान कारबारी था, अँगरेज़ी सरकार की सेवा में भेजा। उस प्रार्थना-पत्र का अन्तिम अंश इस तरह था—

"कम्पनी सरकार को नाना साहब अपने स्वर्गीय पिता के स्थान में अपना रक्षक और सहायक समझते हैं, अतएव उन्हें पूर्ण आशा है और इस मामले के सम्बन्ध में उन्हें ज़रा भी चिन्ता नहीं है। वे अपनी रक्षा को हर प्रकार से अँगरेज़ सरकार की कृपा और उदारता पर निर्भर समझते हैं। इसी लिए इस सरकार की शक्ति और समृद्धि की वृद्धि के लिए वे उत्सुक हैं और सदा रहेंगे।" बिठूर के अँगरेज़ कमिश्नर ने भी इस प्रार्थना-पत्र का समर्थन किया था और इसे ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों के पास भेज दिया था।

नाना साहब के दुर्भाग्य से उस समय भारत के गवर्नर जनरल लार्ड डलहौज़ी थे। निर्बल देशी राजाओं के राज्यों को अँगरेज़ी अमलदारी में शामिल कर लेने की उनकी निरंकुश नीति का दौरदौरा था। अतएव उनसे किसी प्रकार की आशा करना सर्वथा व्यर्थ था। उन्होंने बिठूर के अँगरेज़ कमिश्नर को उस प्रार्थना-पत्र की सिफ़ारिश करने के सम्बन्ध

में एक फटकार बताई और उस पर स्पष्ट लिख दिया कि पेशवा के परिवार का स्वत्व पेंशन पर ज़रा भी नहीं है और कम्पनी सरकार उन्हें किसी मद में एक पाई तक देने को तैयार नहीं। इसके सिवा उन्होंने यह भी लिख दिया कि पैंतीस वर्ष से पेंशन के रूप में जो भारी रक़म पेशवा को मिलती रही है उससे पेशवा ने ख़ूब धन एकत्र कर लिया होगा और उससे उनका परिवार अपनी गुज़र बसर अच्छी तरह से कर सकता है। गवर्नर जनरल इतना हुक्म देकर चुप नहीं हो गये। उन्होंने बिठूर की जागीर भी ज़ब्त कर ली जो कि बाजीराव को इसलिए दी गई थी कि उसके घराने के लोग कम्पनी सरकार के शासनाधीन न रहें। इसके सिवा पेशवा की पेंशन के जो ६२,००० रुपये बाक़ी थे वे भी न दिये गये। मिस्टर बार्ले हाल के कहना है कि इन रुपयों के न दिये जाने से पेशवा की विधवाएँ और उनके सम्बन्धी संकट में पड़ गये, क्योंकि उनकी सारी सम्पत्ति, जो १५,६०,००,०००) के मूल्य की थी, उनके दत्तक पुत्र नाना धाँधूपन्त के क़ब्ज़े में चली गई थी। निस्सन्देह जागीर के ज़ब्त हो जाने से पेशवा के परिवार के लोगों के मान-मर्तबे पर ख़ासी ठेस पहुँची थी। यह ज़रा सोचने की बात है कि जो व्यक्ति एक समय सारे भारत में महाराज के पद पर अधिष्ठित रहा हो उसकी विधवाएँ और राजघराने के लोग उसके मरते ही छोटी छोटी बातों के न्याय के लिए कम्पनी सरकार की अदालतों के दरवाज़े खटखटाते फिरें। इस प्रकार की अवमानना सहन करने के स्थान में

नाना साहब का घर।

भारत के ख़ान्दानी लोग मर जाना अधिक पसन्द करते हैं। कहा जाता है कि सरकार ने पेशवा की वृद्धा बेवाओं को सुप्रीम कोर्ट कलकत्ते में उपस्थित होने को तलब किया था। परन्तु संयोगवश उन्हें वहाँ न जाना पड़ा और सरकार ने थोड़ी बहुत जागीर उनकी गुज़र-बसर के लिए बख़्श दी। कम्पनी की इस प्रकार की कार्रवाई से वे जनसाधारण भी असंतुष्ट हो गये जिनका पेशवा से कुछ सरोकार था या उनसे सहानुभूति रखते थे। उत्तरी भारत के सिपाही-विद्रोह के प्रबल रूप धारण करने में लार्ड डलहौज़ी की उपर्युक्त कृति साधक बनी, इसमें ज़रा भी

कानपुर का स्मृति-कूप।

सन्देह नहीं है। लार्ड डलहौज़ी को इस बात का ज्ञान ही नहीं था कि इस प्रकार की छीना-झपटी का क्या परिणाम होगा। उन्होंने तुरन्त यही हुक्म दे दिया कि जो पेंशन बाजीराव को दी जाती थी वह केवल उनकी ज़िन्दगी भर के लिए थी। अतएव उनके मरने के बाद पेंशन का दिया जाना सर्वथा अनावश्यक और व्यर्थ है। उन्होंने इस काम को अपनी ही इच्छा से किया, कोर्ट आव् डायरेक्टरों से पूछा तक नहीं।

जब नाना साहब को यह बात मालूम होगई कि यहाँ भारत के अँगरेज़ कर्मचारी उनकी बात नहीं सुनते तब उन्होंने इँग्लेंड में प्रधान कर्मचारियों से अपना दुखड़ा रोने का निश्चय किया। अतएव एक प्रार्थना-पत्र भारत सरकार की मार्फ़त इँग्लेंड को भेजा गया। उसमें लिखा थाः—यहाँ भारत के शासन-कर्ताओं ने जो अनुदार भाव धारण किया है वह सर्वथा अनुचित है। स्वर्गीय पेशवा के भारी परिवार का एक-मात्र आश्रय ईस्ट इंडिया कम्पनी का वह आश्वासन है जो पेशवा को मिला था। अतएव प्रार्थी केवल सन्धियों की ही बुनियाद पर नहीं प्रार्थना करता है; किन्तु इस बात के ख़याल से भी कि कम्पनी सरकार को मरहठा राज्य के पिछले पेशवा से अनेक लाभ हुए हैं। यह बात अब तक की सारी सन्धियों के बिलकुल विपरीत होगी, यदि पेंशन के सम्बन्ध-वाली शर्त का एक विशेष अर्थ लिया जाय और दूसरी का कुछ और अर्थ करके वह अमल में लाई जाय।

नाना साहब ने अपने प्रार्थना-पत्र में इस बात को मज़बूत दलीलों से पुष्ट किया है कि सन् १८१७ की सन्धि के अनुसार 'बाजीराव और उसके परिवार को वार्षिक आठ लाख रुपये पेंशन का मिलना निश्चित हुआ था'। उससे यह स्पष्ट है कि वह वैयक्तिक नहीं, किन्तु वंशपरम्परा के लिए नियत थी। सन्धिपत्र में 'परिवार' शब्द के प्रयोग से यही बात अधिक पुष्ट होती है। यही नहीं किन्तु नाना साहब ने अपनी बात को कई प्रमाण देकर पुष्ट किया था। प्रार्थना-पत्र में आगे लिखा था—कम्पनी सरकार का जैसा व्यवहार मेरे ही जैसे दूसरे राजघरानों से है वैसा मेरे साथ न होने से

मेरी बहुत कुछ हानि है। मैसूर के शासकों से कम्पनी-सरकार की घोर शत्रुता थी। उस दुर्दमनीय शत्रु का नाश-साधन करने में मेरे पिता से भी सहायता ली गई थी। और जब उक्त शासक कम्पनी-सरकार से युद्ध करता हुआ धराशायी हुआ तब उसका कुटुम्ब अपने भाग्य के भरोसे नहीं छोड़ दिया गया था। उसके उत्तराधिकारियों को कम्पनी-सरकार ने आश्रय और आर्थिक सहायता का प्रबन्ध कर दिया और वह भी एक ही पीढ़ी के लिए नहीं, किन्तु आगे के लिए भी। उत्तराधिकारी न्याय-संगत थे या नहीं, इस बात की ओर ज़रा भी ध्यान तक नहीं दिया गया था। इसी तरह या कुछ अधिक उदारता से कम्पनी सरकार ने दिल्ली के सिंहासन-च्युत सम्राट् को क़ैद से छुड़ा कर उन्हें पुनः अपने शाही मर्तबे पर प्रतिष्ठित किया और एक पर्याप्त रक़म उनके ख़र्च के लिए नियत कर दी जो आज दिन भी उनके उत्तराधिकारियों को बराबर मिल रही है। इधर मेरे साथ दूसरे ही प्रकार का व्यवहार हो रहा है। यह सच है कि वर्षों तक अँगरेज़ों के साथ मित्रता रख कर पेशवा दुर्भाग्य से उनसे शत्रुता कर बैठा। इसके परिणाम में उसका राज्य-सिंहासन उसके हाथ से निकल गया और अँगरेज़ों को कोई आधा करोड़ के राजस्व का देश मिल गया। इस युद्ध में पेशवा की स्थिति बिलकुल बुरी नहीं होगई थी और यदि हो भी गई थी तो भी अँगरेज़ो सेनापति की निर्धारित शर्तों पर ही युद्ध बन्द हुआ था। अतएव उसने अपना सारा राज्य अँगरेज़ सरकार के अधीन कर दिया और वह अपने परिवार के सहित अँगरेज़ सरकार की छत्रच्छाया के नीचे चला आया। और जब पेशवा के राज्य से कम्पनी-सरकार को बराबर लाभ हो रहा है तब यह कौन सा सिद्धान्त है जिसके कारण उसके उत्तराधिकारी उसकी पेंशन पाने से वञ्चित किये जायँ, यद्यपि उसका मिलते रहना सन्धि की शर्तों में स्पष्ट लिखा है। क्या उसके परिवार के लोग विजित मैसूरी और बन्दी दिल्ली-सम्राट् की अपेक्षा कम्पनी-सरकार की कृपा और उदारता के कम अधिकारी हैं?

इसके आगे नाना ने पेंशन के बन्द किये जाने की आज्ञा का और भी विरोध किया है। उन्होंने लिखा कि यदि पेंशन इस कल्पना के आधार पर बन्द की गई हो कि स्वर्गीय पेशवा भारी रक़म एकत्र कर गया है तो यह बात ही दूसरी है। इस बुनियाद पर किसी की पेंशन रोक देना अँगरेज़ी शासन-काल के इतिहास में बिलकुल एक नई बात है। महाराज बाजीराव और उसके परिवार की गुज़र बसर के लिए अँगरेज़ सरकार ने अपनी ओर से आठ लाख रुपये वार्षिक पेंशन मुक़र्रर की थी। इस बात से अँगरेज़ सरकार का सरोकार कुछ भी नहीं है कि उस रक़म में उक्त पेशवा कितना ख़र्च करता था और न इस प्रकार का कोई इक़रार ही हुआ था कि पेशवा उस रक़म को बिलकुल ख़र्च कर डालने को इस विचार से बाध्य किया जाय कि उसने अँगरेज़ सरकार को ३४ लाख सालाना राजस्व का देश अर्पित कर दिया है। उक्त पेंशन के ख़र्च की निगरानी करने का अधिकार किसी को नहीं है और यदि स्वर्गीय महाराज बाजीराव ने पाई पाई बचाया है तो उन्हें ऐसा करने का पूर्ण अधिकार था। इसके बाद नाना अपने प्रार्थना-पत्र में सरकार से प्रश्न करते हैं कि क्या सरकार को मालूम है कि उसके तमाम पेंशन पानेवाले कर्म-चारी अपनी पेंशन किस प्रकार ख़र्च करते हैं, क्या उनमें से कुछ लोग बचा भी लेते हैं और यदि बचा लेते हैं तो कितना कितना? जब यह बात साबित हो जायगी कि पेंशनयाफ़्ता लोग अपनी पेंशनों में बहुत कुछ बचा लेते हैं तब क्या ऐसी दशा में उनकी पेंशनें बन्द कर देने के लिए यह पर्याप्त कारण होगा जब कि कम्पनी-सरकार अपने नौकरों के साथ उनके बाल-

बच्चों को पेंशन देते रहने के प्रतिबन्ध में बँधी हुई हो ? जो देशी राजा किसी पुराने राज-घराने का वंशधर हो और जिसका सारा दारमदार ब्रिटिश-सरकार की उदारता और न्याय पर निर्भर हो उसे क्या कम्पनी-सरकार के नौकरों की अपेक्षा कम स्वत्व प्राप्त है ?

इस सम्बन्ध के सारे सन्देहों को दूर कर देने के लिए नाना साहब ने अपने प्रार्थना-पत्र में बहुत ही आदर दिखाते हुए लिखा था कि सन् १८१८ की सन्धि के अनुसार जो आठ लाख रुपये वार्षिक की पेंशन महाराज बाजीराव को मिलती थी वह एक-मात्र उनके तथा उनके परिवार के ही भरण-पोषण के लिए नहीं मिलती थी, किन्तु उन बहुसंख्यक स्वामि-भक्त अनुगामियों और सरदारों के गुज़र-बसर के लिए भी थी जो निर्वासन में उनके साथ रहने को स्वेच्छा से आये थे। अँगरेज़ सरकार को इन लोगों की संख्या पूर्ण रीति से मालूम है। इनका निर्वाह करने में पेशवा को कोई साधारण रक़म नहीं ख़र्च करनी पड़ती थी। इसके सिवा उन्हें अपना राजसी ठाट-बाट बनाये रखने के लिए भी अधिक द्रव्य-व्यय करना पड़ता था। इन मदों के कारण उन्हें धन-संग्रह करने की ज़रा भी सुविधा नहीं थी तो भी उन्होंने अपने ख़र्च का प्रबन्ध इस प्रकार की सावधानी से सँभाला था कि वे अपनी पेंशन से इतनी रक़म बचा लेने में समर्थ हुए थे जिससे उन्हें सर-कारी काग़ज़ों और बैंक से २०,०००) वार्षिक सूद में मिलते थे। तब क्या महाराज बाजीराव की मितव्ययता और सूक्ष्म-दृष्टि एक ऐसा अपराध समझा गया जिससे उनकी पेंशन बन्द कर दी गई जो कि सन्धि-पत्र द्वारा उनके और उनके परिवार के भरण-पोषण के लिए मिलती थी ?

इस सम्बन्ध में सर जे० केपी साहब ने लिखा है—न तो नाना साहब की फ़साहत और न तर्क का ही प्रभाव प्रधान सरकार पर पड़ा। ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टर लोग चट्टान की सदृश दृढ़ रहे। वे किसी प्रकार न पसीजे। उन्होंने नाना साहब के प्रार्थना-पत्र को ख़ारिज कर दिया और यह आज्ञा दे दी कि भारतीय सरकार प्रार्थी को सूचित कर दे कि पेशवा की पेंशन वंश-परम्परा के लिए नहीं थी। पेंशन पर प्रार्थी का कोई स्वत्व नहीं है, अतएव प्रार्थना-पत्र अस्वीकृत है। अपने पिता के परिवार की गुज़र-बसर के लिए पेंशन मिलते रहने के सम्बन्ध में जो थोड़ी बहुत आशा नाना साहब को थी उसे डायरेक्टरों ने इस प्रकार समूल नष्ट कर दिया। डायरेक्टर लोग सिवा इस बात के और कुछ कर भी तो नहीं सकते थे। क्योंकि १९ मई सन् १८५२ के अपने निज के ख़रीते में उन्होंने गवर्नर जनरल के तद्विषयक निर्णय का समर्थन एक साल पहले ही कर दिया था। अपने प्रार्थना-पत्र का इस प्रकार का उत्तर पाने के पहले ही नाना साहब अजीमउल्ला नामक अपना एक चतुर वकील इँगलेंड को भेज चुका था। उसने भी वहाँ अपने स्वामी के मामले के सम्बन्ध में यथा-शक्ति पैरवी की, पर वह भी सफल न हुआ।

जब नाना साहब को अपने वकील से यह मालूम हुआ कि इँगलेंड में अधिकारियों ने उसके प्रार्थना-पत्र को नामंज़ूर कर दिया और पेशवा के कुटुम्ब के प्रति कुछ भी ध्यान न दिया जायगा तब उसे बहुत भारी क्षोभ हुआ और वह मन ही मन जलने लगा। इस व्यवहार से उसके मन में कसर पड़ गई। और ऐसा होना स्वाभाविक ही था। मि० ट्रिवेलिन ने लिखा है, "हमें यह बात न भूलना चाहिए कि नाना की माँग निरी कल्पना थी"। मिस्टर चार्ल्स बाल का कथन है, "दत्तक विधान स्वीकृत हो गया था और कम्पनी ने तत्सम्बन्धी अधिकार सेन्धिया, होल्कर और दूसरे राजाओं को प्रदान कर दिये थे। अतएव कोई कारण ऐसा नहीं था जिससे

हिन्दुओं का यह पवित्र रिवाज बाजीराव के सम्बन्ध में न लागू समझा जाय। यह बड़े ही परिताप की बात है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी इस विषय में अपने निर्णयों पर सदा दृढ़ न रही। जिन मामलों में पेंशन की रक़म थोड़ी हुआ करती थी उनमें तो हिन्दुओं का क़ानून मान लिया जाता था और पोष्य पुत्र का स्वत्व स्वीकृत हो जाता था। परन्तु जिन मामलों में पेंशन की रक़म भारी होती या राज्य अधिक लाभदायक होता उनमें हिन्दू क़ानून की बात न पूछी जाती थी। नाना साहब, कुर्ग-नरेश और झाँसी की रानी के मामले इसी कोटि के थे बहु-संख्यक भारतीय रईसों और सरदारों के ऐसे मामले थे जिनके साथ अँगरेज़ सरकार ने न तो बुद्धिमानी का और न सचाई का ही व्यवहार किया।" नाना साहब के सम्बन्ध में उक्त लेखक लिखता है—"बाद को जिस विक्षोभ के कारण भयंकर बदला लिया गया उसका कारण यही व्यवहार था और सम्भवतः इसी से इस देश के निवासियों ने नाना के साथ सहानुभूति दिखाई।"

यह जो कुछ ऊपर लिखा गया है वह सब पक्षपात-रहित सम्मतियों के आधार पर लिखा गया है। प्रसिद्ध इतिहासकार सर जान केई, मिस्टर चार्लस वाल, मिस्टर ट्रिवेलिन और मिस्टर मार्टिन इन्हीं निर्णयों पर पहुँचे हैं। उन्होंने नाना साहबके मामले की ख़ूब जाँच-पड़ताल की है। इतिहास और परम्परा के निर्णय से भी उनकी पक्षपात-रहित सम्मतियों का समर्थन होता है। परन्तु जो पक्षपात से अन्धे होकर कालों की एक एक बात को बुरी कहते हैं और गोरों की भयङ्कर त्रुटियों और दोषों पर दृष्टिपात तक नहीं करते उन्होंने इन अन्यायी और सत्यवादी विद्वानों की क्रोध-पूर्ण और आश्चर्य-सूचक सम्मतियों के विरुद्ध अनेक तरह की बातें कही हैं।

अस्तु, जो अन्याय-पूर्ण व्यवहार नाना साहब के साथ किया गया उससे उसके दिल में बहुत ही अधिक क्रोध उत्पन्न हुआ और उसे कार्य में परिणत करने के लिए वह उपयुक्त अवसर की ताक़ में रहने लगा। ऊपर से वह सब प्रकार से सन्तुष्ट दीखता था और अपने स्वाभाविक सद्व्यवहार से अँगरेज़ सरकार को प्रसन्न किये था। परन्तु अपने हृदय के भीतर से वह अँगरेज़ों के प्रति घोर द्रोह रखता था, भीतर ही भीतर वह उनसे जला करता था। वह अपनी इस जलन से उस राज्य को ही उलट-पलट देने के लिए गुप्त षड्यन्त्र रचने लगा जिसने उसे इस प्रकार की करुणा-जनक स्थिति को पहुँचा दिया था। उसकी इस प्रकार की कार्रवाइयों में धूर्त अजीमउल्ला ख़ाँ की विशेष कारगुज़ारी थी। एक राजा के दरबार से दूसरे राजा के दरबार को, भारत के एक छोर से दूसरे छोर को, नाना साहब के गुप्त दूत आने जाने लगे। विभिन्न धर्मावलम्बी तथा जाति के राजाओं और सरदारों के पास वह अपने गुप्त सँदेशे भेजने लगा। परन्तु उसके दूतों को सफलता न हुई। नाना साहब की इच्छाओं की पूर्ति के लिए कुछ और बात होने की आवश्यकता थी। और लार्ड डलहौज़ी का दूसरे राज्यों को अन्यायपूर्वक अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने की नीति ने नाना की मंशा पूरी हो जाने में शीघ्रता कर दी। संयोगवश लार्ड डलहौज़ी ने अवध को अँगरेज़ी राज्य में शामिल कर लिया। इस घटना से नाना साहब और उसके साथियों को अपने उद्देश में सफल होने की पूरी आशा हो गई। जो काम अभी तक दुस्साध्य था वही अब अँगरेज़ों की पर-राज्यापहरणवाली नीति के कारण साध्य हो गया। सर जान केई साहब लिखते हैं, "हमारे इस अन्तिम कार्य का (अवध को अँगरेज़ी राज्य में मिला लेने का) ऐसा प्रभाव पड़ा कि लोग परस्पर कहने सुनने लगे कि भाई, अब किसी की कुशल नहीं। ऐसी वफ़ादारी से क्या लाभ है जब कि अवध के

वज़ीर जैसे अँगरेज़ों के भक्त और सहायक तक अपने सिंहासन से च्युत कर दिये जायँ और उनका राज्य अँगरेज़ी सल्तनत में मिला लिया जाय। आवश्यकता के समय अवध के नवाब सदा अँगरेज़ों की सहायता करते रहे हैं। कहा जाता है कि जो राजे महाराजे अभी तक नाना की बातों की ओर ध्यान तक न देते थे वही अब उससे गुप्त रीति से पत्र-व्यवहार करने लगे।

सन् १८५७ के अप्रेल में नाना अपने छोटे भाई तथा कुछ अनुचरों के साथ लखनऊ गया। कानपुर के एक पुराने जज ने कैप्टन हेइस और मिस्टर गुबिन्स के नाम एक सिफ़ारिशी चिट्ठी लिख दी थी। जब नाना साहब लखनऊ के कमिश्नर मिस्टर गुबिन्स से मिला तब उसने अपने ढँग से कोई विशेष प्रीतिभाव नहीं व्यक्त किया। मिस्टर गुबिन्स ने लिखा है—उसका ढँग रूखा और गर्व-सूचक था। उसके छोटे भाई का स्वभाव और रङ्ग-ढङ्ग अधिक प्रीतिदायक था। मिस्टर गुबिन्स ने नाना साहब को सर हेनरी लारेंस से मिलाया। जब बातचीत से यह मालूम हुआ कि वह लखनऊ की सैर करने आया है तब उन्होंने अपने कर्मचारियों को आज्ञा दे दी कि वे उसका यथोचित सत्कार करें। यद्यपि नाना साहब ने मिस्टर गुबिन्स से कहा था कि मैं कुछ समय तक लखनऊ में रहूँगा। परन्तु वह सहसा लखनऊ छोड़ कर शीघ्र ही चला गया, यहाँ तक कि वह उन अँगरेज़ों से मिला भी नहीं जो वहाँ रहते थे। उसने केवल मिस्टर गुबिन्स को यह कहला भेजा कि किसी विशेष आवश्यक कार्यवश मैं कानपुर जाता हूँ। उस समय उसकी इस हरकत की ओर किसी का ध्यान न गया था।

लार्ड डलहौज़ी की अज्ञतापूर्ण नीति और उसके तथा उसके कुटुम्ब के साथ कोर्ट आव् डायरेक्टर्स द्वारा किये गये अन्यायपूर्ण व्यवहार ने नाना साहब को अँगरेज़ सरकार के एक अनन्यभक्त अनुयायी से उसका एक घोर शत्रु बना दिया और इसके साथ ही उसके साथ बहुसंख्यक लोगों को कम्पनी के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण करने को लाचार किया। नाना साहब की शिकायतें और ईस्ट इंडिया कम्पनी का पतन ये दो ऐसी बातें हैं जो एक हैं और भारत के इतिहास में इनका अपना स्थान है। इसके सिवा क्रोधान्ध होकर नाना ने जिस भयङ्कर कार्य में योग दिया उससे भारत के प्रसिद्ध पेशवा के राजघराने का अस्तित्व तक इस देश से उठ गया। बिठूर में नाना के घर का खँडहर और कानपुर का स्मृति-कूप ही अन्तिम पेशवा के उत्तराधिकारी के स्मृति-चिह्न इस देश में अब शेष रह गये हैं।

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

दुर्योधन।

(१)

कैसे नहीं तुम हे सुयोधन ! मानते धन मान को
अपमृत्यु से भी तुम अधिक थे मानते अपमान को।
हटते न थे निज टेक से तुम थे हठीले एक ही
उत्कर्ष पर में गर्व का देखा गया तुमसे नहीं॥

(२)

तुममें भरी थी कूट करके नीति चोखी कूट की
विष-वल्लरी पनपी तुम्हीं से बान्धवों में फूट की।
तुम छद्म के तो सद्म थे अनुचर तुम्हारे क्रूर थे
भरपूर थे तुम धीरता से, भीरुता से दूर थे॥

(३)

केवल प्रतापी थे न तुम, तुममें रहा उत्साह भी
जैसी बड़ी वैसी कड़ी तुममें खड़ी थी चाह भी।
चञ्चल कभी होते न थे हों कष्ट कैसे भी कड़े
तुम स्पष्ट कह देते रहे छक्का पड़े या नौ पड़े॥

(४)

तुमने अहित समझा जिसे फिर हित उसे माना नहीं
दबना किसी से स्वप्न में तुमने कभी जाना नहीं।

झटकार कर डाटा तुम्हीं ने कृष्ण को भी क्रोध से
तुमने कहा था बाँधने को भी उन्हें प्रतिबोध से।

(५)

अनुकूल के अनुकूल थे प्रतिकूल के प्रतिकूल तुम
तुम थे अधन के धन सुयोधन ! कंटकों के शूल तुम।
तो भी तुम्हारी नीति सबको एक सी जँचती न थी
लचती न थी ग्रीवा तुम्हारी मति वृथा नचती न थी॥

(६)

गुरु विप्र पग के दास थे यद्यपि रहे महराज तुम
इस कीर्ति को करके यहाँ जाने कहाँ हो आज तुम।
कब शस्त्र था तुमने चलाया विप्र के प्रतिकूल हो
क्यों शुद्ध क्षत्रिय के करों से विप्र-वध की भूल हो॥

(७)

थी स्त्री सती तुमको मिली तुम भी सती के पुत्र थे
सौ भाइयों की रत्न-माला में मनो तुम सूत्र थे।
शासन-प्रणाली भी तुम्हारी क्या अनोखी थी भली
आज्ञा तुम्हारी वीरवर किसके नहीं ऊपर चली?॥

(८)

तुमने किया बर्ताव कुत्सित पाण्डवों के साथ में
तो भी तुम्हारा दल रहा हर पल तुम्हारे हाथ में।
सद्धर्म सम्मिश्रित तुम्हारा पाण्डवों से युद्ध था
मानो तुम्हारा मन समर में हो गया संशुद्ध था॥

(९)

आश्चर्य-गृह में पाण्डवों के नीर में तुम गिर गये
या आपदाओं से तुम्हारे साथ पाण्डव घिर गये।
स्त्री के सहित तब भीम यों हँस कर तुम्हें कहने लगे—
"है अन्ध का सुत अन्ध ही" तुम मौन हो सहने लगे॥

(१०)

उत्कर्ष अपना पाण्डुसुत तुमको दिखाते यदि नहीं
प्रतिकूल उनके तुम कभी होते उतारू तो नहीं।
अपमान करने के प्रथम तुम पाण्डवों के भक्त थे
अनुरक्त थे उनके गुणों में नीति में संसक्त थे॥

(११)

अपमान कर तुमको चिढ़ाया पाण्डवों ने व्यर्थ ही
छल से उन्हें वनवास तुमने भी दिया इस अर्थ ही।
पर ऋतुमती द्रुपदात्मजा को नग्न करना पाप था
सन्ताप सहते मर मिटे तुम, यह उसी का शाप था॥

(१२)

छल-द्यूत से यदि पाण्डवों को जीत लेते तुम नहीं
यदि अति निठुर होकर उन्हें विष-अन्न देते तुम नहीं।
निन्दा तुम्हारी तो कभी होती नहीं सच मानना
जो जाल रचता बन्धु से उसको निशाचर जानना॥

(१३)

लाक्षाभवन में पाण्डवों को क्यों जलाने तुम चले?
कौरव! तुम्हारी नीचता यह क्यों नहीं जग को खले?
प्रत्यक्ष में लड़ते, उन्होंने यदि किया अपकार था
क्या घातकों को उस समय मिलता नहीं धिक्कार था?॥

(१४)

पाण्डव तुम्हारे साथ में यदि मेल रखते थे नहीं
या द्वेष से वैभव तुम्हारा देख सकते थे नहीं।
संसर्ग उनका छोड़ कर अन्यत्र जा रहते कहीं
क्या रह न जाती है यहीं, जीती हुई छल से मही?॥

(१५)

दोनों दलों के दोष न्यूनाधिक रहे कुल-नाश में
दोनों फँसे थे नेत्र खोकर लोभ के दृढ़ पाश में।
झगड़ा लगाने के लिए दोनों दलों में खल रहे
कारण महारण का तुम्हें ही विज्ञ क्यों कोई कहे?॥

(१६)

तुम दूरदर्शी थे नहीं, सकुटुम्ब रण में मर गये
जो भूमि गौरव-पीन थी बलहीन उसको कर गये।
कुरुराज! था क्या राज आया था गया वह साथ में
जग में रही अपकीर्ति ही कुछ भी लगा क्या हाथ में?॥

रामचरित उपाध्याय

भारतीय इतिहास-सम्बन्धी कुछ अरबी-ग्रन्थ।
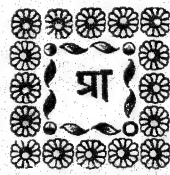
प्राचीन अरबी लेखकों तथा मुसलमान यात्रियों ने देश-देशान्तरों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करके जो कुछ लिखा है, वास्तव में, वही उसे जान सकता है जो पर्याप्त समय तक अरबी का

अच्छा ज्ञान प्राप्त करने के बाद कुछ काल तक केवल अरबी ग्रन्थों के ही पीछे पड़ा रहे। अरबी-लेखकों ने केवल अरब, ईरान, मिस्र और टर्की आदि के ही राग नहीं अलापे, किन्तु उन्होंने भारतवर्ष के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ लिखा है। उनके लेखों से भारत के केवल राष्ट्रीय-इतिहास ही की सामग्री नहीं प्राप्त हो सकती, किन्तु वहाँ के आचार-विचार, साहित्य, चिकित्सा और विद्या की दूसरी शाखाओं का भी आदरणीय परिचय मिल जाता है। किस ग्रन्थ में क्या लिखा है और किस ग्रन्थकार ने क्या लिखा है? इन सारी बातों के उल्लेख के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता है। इसलिए यहाँ भारतीय इतिहास-सम्बन्धी कुछ अरबी-ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का, संक्षेप में, परिचय-मात्र ही देना पर्याप्त है। आशा है इससे हिन्दी-पाठकों के भारत-सम्बन्धी अरबी ग्रन्थों का कुछ परिचय हो जायगा और साथ ही अरबी ग्रन्थकारों के सराहनीय परिश्रम का भी थोड़ा सा पता लग जायगा।

भारत के सम्बन्ध में जिन अरबी-लेखकों ने लिखा है उनमें मदायनी का नाम सबसे पहले आता है। इससे पहले का कोई भी लेखक नहीं मिलता जिसने भारत के विषय में कुछ लिखा हो। मदायनी का जन्म कब हुआ? उसने अपना ग्रन्थ कब लिखा? इन बातों का ठीक ठीक उत्तर इतिहास से नहीं मिलता, परन्तु यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि उसकी मृत्यु २१५ हिजरी अर्थात् ८३० ईसवी में हुई थी। इसका मूल-ग्रन्थ अब अप्राप्य है। योरप, मिस्र, कुस्तुन्तुनिया आदि के प्रसिद्ध पुस्तकालयों में इसके ग्रन्थ की एक भी प्रति नहीं मिलती, पर अपने अमूल्य ग्रन्थ में इसने जिन विषयों पर लेखनी उठाई थी उसकी सूची एक ग्रन्थ में है। कुछ लोगों का अनुमान है कि पिछले समय के तबरी और मसऊदी नाम के इतिहासकारों ने मदायनी के ग्रन्थ से बहुत कुछ लाभ उठाया है, क्योंकि उन दोनों की लेख-सूचियाँ मदायनी की लेख-सूची से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं।

अजायबुलहिंद नाम की एक पुस्तक बोज़ुर्ग बिन शहरयार की लिखी हुई है। लेखक फ़ारस का निवासी था। ईसा की दसवीं सदी में जो अनेक व्यापारी जल और स्थल-मार्ग से भारत में आते जाते थे उन्हीं से सुनसुना कर लेखक ने अपने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की एक हस्त-लिखित प्रति कुस्तुन्तुनिया के पुस्तकालय में है। उसी की एक प्रतिलिपि शेफ़र नाम के एक योरपीय विद्वान् के पास थी जिससे अजायबुलहिंद का अनुवाद फ़्रेंच भाषा में किया गया, और सन् १८७८ ईसवी में इस अनुवाद को डेविक (L. Morcel Devic) नाम के किसी विद्वान् ने प्रकाशित किया। बाद को सन् १८८६ ई० में मूल ग्रन्थ भी, फ़्रेंच अनुवाद के सहित, छापा गया। इस बार के संस्करण के सम्पादक वान डे. लीथ (Van De Lith) ने आवश्यक टीका-टिप्पणियाँ देकर इस ग्रन्थ को महत्त्वपूर्ण कर दिया। इसमें सन्देह नहीं है कि इस ग्रन्थ की कुछ बातें ऊटपटाँग हैं, पर अनेक बातें बहुत अनूठी और सारवान् हैं।

तबक़ातुलउमय (طبقات الامم) नाम की पुस्तक क़ाज़ी अबुलक़ासिम साइदबिन (पुत्र) अहमद की लिखी हुई है। इस लेखक का देहान्त सन् १०६९ अथवा १०७० ई० में हुआ था। यह स्पेन का निवासी था। इसने अपने ग्रन्थ में भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे ज्ञान की ख़ासी वृद्धि हो सकती है, पर न जाने क्यों इस अमूल्य ग्रन्थ की ओर बहुत दिनों तक किसी ने कुछ ध्यान ही न दिया। इस पुस्तक की दो हस्त-लिखित प्रतियाँ लन्दन के प्रधान पुस्तकालय में हैं। उन्हीं के सहारे मूल ग्रन्थ सन् १९१२ ईसवी में, शाम अर्थात् सिरिया देश के बेरुत नगर से प्रकाशित हुआ। सम्पादन का भार वहीं के पी० लोइस

शेखू (P. Lois Cheikho) नाम के एक ईसाई विद्वान् ने लिया और उसे टीका-टिप्पणियों आदि आवश्यक बातों से उन्होंने अलङ्कृत किया। इस पुस्तक में भारत पर एक अलग अध्याय ही है, उससे भारत का महत्त्व प्रकट होता है। भारत के अतिरिक्त अरब, चीन, फ़ारस और यूनान आदि के भी वर्णन इसमें हैं। इसी से ग्रन्थ का नाम भी ग्रन्थकार ने, 'तवक़ातुल उमम्' अर्थात् जातियों की श्रेणियाँ रक्खा है। इस ग्रन्थ का अनुवाद अभी तक किसी भाषा में नहीं हुआ है।

अरबी के एक नामी ऐतिहासिक का नाम अबूहनीफ़ादीनौरी है। इनकी मृत्यु सन् ८६४ ई० में हुई थी। इन्होंने अनेक विषयों पर अपनी लेखनी उठाई है। यह प्रामाणिक ग्रन्थकार माना जाता है। रेख-गणित तथा अन्य भारतीय विद्याओं की चर्चा इसके ग्रन्थ में है। मूल-ग्रन्थ तो योरप से प्रकाशित हो चुका है। पर इसका कोई अनुवाद नहीं मिलता।

इब्न् वाज़िह कातिब ने 'तारीख़ याक़ूबी (تاريخ يعقوبى) नाम की पुस्तक लिखी है। पहले भाग में ही लेखक ने संसार की प्राचीन जातियों का इतिहास लिखते हुए भारतवर्ष का भी वर्णन किया है। लेखक की मृत्यु सन् ६०५ ई० में हुई थी। अतएव यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि इस 'तारीख़' से नवीं सदी के अन्त तथा दसवीं सदी के प्रारम्भ के भारतीय इतिहास पर थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ सकता है। हालेंड के लीडन नगर से सन् १८८३ ईसवी में यह पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है, पर इसका भी अनुवाद किसी भी योरुपीय भाषा में नहीं पाया जाता।

क़ानून मसऊदी (قانون مسعودى) भी एक अपूर्व ग्रन्थ है। इसका लेखक अबू रिहान अलबेरूनी है। यह ग्यारहवीं सदी का एक धुरन्धर विद्वान् है। इसने भारत को जानने के लिए घोर परिश्रम किया था। सुलतान महमूद ग़ज़नवी का पुत्र बादशाह मसऊद बड़ा विद्या-प्रेमी था। इसी के नाम पर अलबेरूनी ने अपने ग्रन्थ का नाम रक्खा है। एक सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक का मत है कि बादशाह मसऊद ने अलबेरूनी को इस ग्रन्थ के निमित्त एक हाथी के बराबर सोना-चाँदी पुरस्कार में दी थी।

क़ानून मसऊदी का न तो अभी तक किसी भाषा में अनुवाद ही छपा है और न मूल ग्रन्थ ही अरबी में प्रकाशित हुआ है। उसके केवल हस्त-लिखित प्रतियाँ ही पाई जाती हैं। अलीगढ़ के मुहम्मडन कालेज-पुस्तकालय में इस ग्रन्थ की एक हस्त-लिखित प्रति दो भागों में मौजूद है। इसके सिवा मूल ग्रन्थ की उस हस्त-लिखित प्रति का फ़ोटो, जो कि लन्दन के प्रधान पुस्तकालय में है, वहाँ के पुस्तकालय में मौजूद है। पुस्तकालय से सम्बन्ध रखनेवाले एक महाशय ने लेखक से बतलाया था कि कालेज की ओर से इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ पहले बहुत कुछ उद्योग किया गया था। इसी लिए मूल-ग्रन्थ का फ़ोटो भी लन्दन से मँगाया गया था, पर न मालूम इसके प्रकाशन का काम क्यों रुक गया? भारत के ज्योतिष-प्रेमी विद्वानों को चाहिए कि मूल-ग्रन्थ को सानुवाद प्रकाशित करवा कर उससे लाभ उठावें, क्योंकि ज्योतिष में यह एक अपूर्व ग्रन्थ है।

शम्स उद्दीन अबी अबदुल्ला मुहम्मद बिन अबीबकर 'मुक़द्दसी' नाम का एक धुरन्धर लेखक सन् ६८५ ई० में हुआ है। इसकी पुस्तक का नाम 'अहसनुत्तक़ासीम फ़ी मार फ़तिल अक़ालीम (احسن التقاسيم فى معرفتہ الاقاليم) है। इसके ग्रन्थ में भारत के क़न्नौज, मुलतान और वैहिन्द नाम के किसी नगर की चर्चा है। ग्रन्थ के अवलोकन से ऐसा पता चलता है कि ग्रन्थ बड़े परिश्रम से लिखा गया है। मूल-ग्रन्थ (Bibliotheca Geographorum

Arabum ? Leiden की सीरीज़ से M. J. De Goeje द्वारा सन् १८७७ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ का भी अनुवाद किसी भी योरुपीय भाषा में नहीं है।

किताब आला क़िन्नफ़ीसते (كتاب اعلاق النفيسته) में भी भारत के विषय में कुछ चर्चा है। व्यापार पर भी कुछ लिखा गया है। इसके ग्रन्थकार का नाम अबू अली अहमद बिन 'इब्नरूस्तः' है। ग्रन्थकार का ठीक ठीक समय तो निश्चयरूप से मालूम नहीं हो सका, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार निस्सन्देह दसवीं सदी में या उससे कुछ पहले हुआ था। मूल ग्रन्थ M. J. De Goeje द्वारा ही लन्दन से १८६१ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका भी अनुवाद नहीं हुआ है।

ओयूनुल अनबायफ़ीतबक़ातिल अतिब्बाय (عيون الانباء في طبقات الاطباء) नाम का ग्रन्थ हकीमों और वैद्यों के विषय में है। ग्रन्थकार इब्न अबी ओसैबियः ने इसको सन् १२४६ ई० में लिखा था। ग्रन्थकार ने इस रचना की बदौलत बड़ा यश प्राप्त किया। सारे ऐतिहासिकों का मत है कि हकीमों और वैद्यों के विषय में इससे बढ़कर कोई और ग्रन्थ है ही नहीं। मनका, शानाक़, सालेह और सझल ऐसे नाम के भारतीय विद्वान् ६०० वर्ष पहले बग़दाद गये थे। उन्होंने भारतीय विद्या की धाक वहाँ अच्छी तरह जमा दी थी। इस पुस्तक में उनकी चर्चा हुई है। वे कौन भारतीय हैं, यह बात नहीं स्पष्ट होती। इस पुस्तक से चिकित्सा-शास्त्र के इतिहास के लिए ख़ासी सामग्री मिल सकती है। इस ग्रन्थ का भी अनुवाद अभी तक किसी भी भाषा में नहीं हुआ। मूल ग्रन्थ १८८२ ई० में मिस्र देश के काहरः (Cairo) नगर से प्रकाशित हो चुका है और वह बड़े आकार की दो जिल्दों में है।

इस प्रकार इब्न हौक़ल, मसऊदी, अलबेरूनी, और इब्न बतूतः आदि लोगों के अनेक अरबी-ग्रन्थ ऐसे हैं जिनसे भारत-विषयक ऐतिहासिक सामग्री बहुत कुछ मिल सकती है। श्रीयुत सन्तराम, बी० ए० ने अलबेरूनी के एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का भाषानुवाद करके इतिहास के साहित्य में निस्सन्देह एक आदरणीय वृद्धि कर दी है। पर इतना ही काफ़ी नहीं। हिन्दी प्रेमियों का कर्तव्य है कि अन्य ग्रन्थों के अनुवाद की ओर भी ध्यान दें। उसके अनुवादों से केवल नवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी के भारत के इतिहास पर ही प्रकाश न पड़ेगा, किन्तु हिन्दी के साहित्य-भाण्डार में भी एक अच्छी वृद्धि हो जायगी। योरपवालों ने इस प्रकार के अरबी-ग्रन्थों से जितना लाभ उठाया है उसको वस्तुतः वही बहुत कुछ जान सकता है जो दत्तचित्त होकर कुछ खोज करता है।

महेशप्रसाद

सर रासबिहारी घोष।

डाक्टर रासबिहारी घोष का जन्म २३ दिसम्बर सन् १८४५ ई० में बाँकुड़ा ज़िले के टोरेकोना नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता बाबू जगद्बन्धु घोष मध्यम श्रेणी के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। प्रारम्भिक शिक्षा आपको बाँकुड़ा में मिली। आपके परवर्ती जीवन की अगाध विद्वत्ता तथा प्रतिभा बाल्यकाल ही से प्रकट होने लगी। आपने सोलह वर्ष की अवस्था में एन्ट्रेन्स परीक्षा पास की।

सन् १८६१ के आरम्भ में रासबिहारी कलकत्ता आकर प्रेसीडेंसी कालेज में भरती हो गये। एफ़० ए० की परीक्षा में आपको प्रथम स्थान मिला और सन् १८६५ में बी० ए० की परीक्षा भी आपने फ़र्स्ट डिवीज़न में पास की। एम० ए० की परीक्षा तो आपने ऐसी सफलता से पास की

जैसी सफलता से उस समय तक कोई भी भारतीय विद्यार्थी न पास कर सका था।

कालेज-जीवन में आपका अध्ययन केवल विश्वविद्यालय की निर्दिष्ट पुस्तकों में ही सीमाबद्ध नहीं रहता था। अँगरेज़ी तथा दूसरी योरपीय भाषाओं के साहित्य में आपने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। इसी समय से आपकी प्रखर बुद्धि और असाधारण स्मरण-शक्ति का परिचय लोगों को मिलने लगा। आप मौलिक लेख भी लिखने लग गये थे।

सर रासबिहारी घोष।

सन् १८६७ में रासबिहारी ने बी० एल० की परीक्षा दी। उसमें उत्तीर्ण होकर आप कलकत्ते में वकालत करने लगे। पहले पहल आपको वकालत में कुछ विशेष सफलता न हुई। अपनी आर्थिक उन्नति के ध्रुवस्थान को पहुँचने के पूर्व आपको अनेक कठिनाइयों और निराशाओं का सामना करना पड़ा। भारतीय क़ानून ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने अँगरेज़ी क़ानून के भिन्न भिन्न विषयों के ग्रन्थों का भी अध्ययन करके आपने 'आनर्स-इन-ला' की परीक्षा पास की। सन् १८७५ ई० में आप 'टगोर प्रोफ़ेसर आव् ला' के पद पर नियत किये गये। वहाँ आपको भारतीय क़ानून पर व्याख्यान देने पड़ते थे। आपके व्याख्यान महत्त्व-पूर्ण सिद्ध हुए और वे पुस्तक के रूप में प्रकाशित किये गये। इस पुस्तक का नाम 'ला आव् मार्गेज़ेस इन् इंडिया' है। यह क़ानून की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी और महत्त्व-पूर्ण पुस्तक मानी जाती है। भारतीय व्यवस्थापक सभा के क़ानून के मेम्बर डाक्टर स्टोक्स ने भारत का रेहन का क़ानून नामक ग्रन्थ रचते समय घोष महोदय की उपर्युक्त पुस्तक से खूब सहायता ली और इस बात को उन्होंने अपनी पुस्तक की भूमिका में कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया है।

सन् १८७७ में रासबिहारी घोष कलकत्ता-

विश्वविद्यालय के बी० एल० परीक्षा के परीक्षक नियत हुए। जब विलियम मार्कबी उक्त विश्वविद्यालय के चान्सलेर थे तब दो वर्ष तक आप उसके फेलो भी रहे। सन् १८६४ में आपने डी० एल० की उपाधि प्राप्त की और सन् १८८७ में कलकत्ता-विश्वविद्यालय की सेंडीकेट सभा के सदस्य बनाये गये। इसके सिवा आप सन् १८६३ में फैकल्टी आव् ला नाम की संस्था के सभापति मनोनीत हुए। सरस्वती की विशेष प्रतिभा होने के कारण आप केवल विश्वविद्यालय ही से अधिक सम्बन्ध न बनाये रहे, किन्तु आपने राजनीति के क्षेत्र में भी आगे क़दम रक्खा। आपकी योग्यता से देश की सरकार भी क़ायल थी। अतएव सन् १८८६ में आप बङ्गाल की व्यवस्थापक सभा के सदस्य चुने गये। इसके बाद जब सन् १८६१ में सर रमेशचन्द्र दत्त ने सुप्रीम कौन्सिल से पदत्याग किया तब उक्त पद पर सरकार ने आप ही को नियुक्त किया। दूसरी बार सन् १८६३ में भी आप ही की नियुक्ति उस पद पर की गई। कौंसिल में योग्यतापूर्वक कार्य करने से सरकार ने आपको सी० आई० ई० की उपाधि प्रदान की। कौंसिल में आपने निर्भीकता से काम किया, खुशामदी मेम्बरों की भाँति सब बातों में गवर्नमेंट की हाँ में हाँ ही नहीं मिलाते रहे। आप ही के प्रयत्नों से दीवानी के क़ानून में अनेक सुधार हुए। बड़े लाट की व्यवस्थापिका सभा में बजट पर आपकी वक्तृता बड़े मार्के की हुई थी। सन् १६०८ का सिविल प्रोसिजर कोड बिल आपके प्रयत्नों से क़ानून के रूप में परिणत हुआ। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि सन् १६०७ में राज-विद्रोही सभा सम्बन्धी क़ानून का विरोध आपने बड़ी योग्यता के साथ किया था।

इधर कोई पन्द्रह साल से प्रजा तथा देश-हित-सम्बन्धी कार्यों में आप बराबर अग्रेसर रहते रहे। १६०६ की प्रसिद्ध कलकत्ता-कांग्रेस की स्वागत-कारिणी सभा के अध्यक्ष की हैसियत से आपने एक मार्मिक तथा विद्वत्तापूर्ण वक्तृता दी थी। इसके बाद सूरत की कांग्रेस के आप सभापति बनाये गये, पर वहाँ रङ्ग में भङ्ग हो गया। तब दूसरे वर्ष अर्थात् १६०८ में कांग्रेस का अधिवेशन मद्रास में आप ही के सभापतित्व में हुआ था। आप नरम दल के नेता थे।

यद्यपि डाक्टर रासबिहारी घोष अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के कारण अनेक कार्यों में योग देते रहते थे, तो भी वे अपने वकालत के पेशे से विमुख नहीं रहते थे। पहले पहल आपको अपने पेशे में अवश्य सफलता नहीं मिली, पर ज्यों ही आप अधिक प्रयत्नशील हुए त्यों ही आप कुछ ही दिनों में हाईकोर्ट के प्रमुख वकीलों में गिने जाने लगे। यही नहीं, आप सब वकीलों में प्रधान हो गये और यावज्जीवन आप वैसे ही बने भी रहे। वकालत से आपने धन भी खूब पैदा किया और उसका खर्च भी खूब किया। आपने एक प्रकार से अपनी सारी कमाई ही दान कर दी। कोई बीस लाख का दान तो आपने कलकत्ता-विश्वविद्यालय को दे डाला। एक लाख हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी, को भी दिये थे। मृत्यु-समय भी आप बारह लाख का दान कर गये हैं।

डाक्टर रासबिहारी घोष नई रोशनी के हिन्दू थे, तो भी आपका पहनावा देशी था। आपने अपने देश की यात्रा तो की ही थी, पर इँग्लेंड, फ्रांस, इटली आदि देशों का भ्रमण भी आपने किया था। आप पढ़ने-लिखने के बहुत शौक़ीन थे। सदा नव प्रकाशित पुस्तकें पढ़ा करते थे। आपकी दो शादियाँ हुई थीं, पर कोई सन्तति न हुई। आप अपने परिवार के लोगों के साथ प्रेम का व्यवहार रखते थे, उनके सुख तथा उनकी उन्नति का ध्यान आपको सदा बना रहता था। आपका नश्वर शरीर ७६ वर्ष की उम्र में छूट गया। इतने वयोवृद्ध

से प्रसिद्ध है भी आप की मानसिक तथा शारी-
चौड़ाई २० फुट भले प्रकार काम देती रहीं।
कई वर्षों त
वंशीधर मिश्र
झरनेवाले
। परन्तु
किया ।

...कों की अद्भुत गुफा।

...को तीन ...र १८०६ ईसवी की बात है कि ...ा की; त... अमरीका के केन्तुकी नामक स्थान ...हसी ! का एक शिकारी एक दिन अपने घायल गिलहरी की खोज करते करते एक गुफा के भीतर ... पहुँचा। वह गुफा पहाड़ के किनारे थी। यह तो हम नहीं जानते कि शिकारी को शिकार मिला, परन्तु उसने एक ऐसी गुफा का पता लगा लिया जो संसार में अद्वितीय है। जब वह गुफा के भीतर घुसा तब वह वहाँ का दृश्य देख कर विस्मय-विमुग्ध हो गया। अँधेरे में वह अच्छी तरह न देख सका, परन्तु जो कुछ देख पाया उसी से उसे ऐसा मालूम हुआ कि मानों वह पृथ्वी के अन्तर्गत किसी राज-प्रासाद में हो। बहुत देर तक वह वहाँ का मनोरम दृश्य देखता रहा। जब वह वापस लौट आया तब उसने अपने पड़ोसियों से उस गुफा का हाल कह सुनाया। इससे यह न समझना चाहिए कि उस शिकारी ने ही पहले पहल उस गुफा का पता लगाया था। यथार्थ में उसका पता लगानेवाले केन्तुकी के मूलनिवासी थे जिनके अस्थि-पंजर अभी तक वहाँ पड़े हुए पाये जाते हैं।

उस समय गुफा के अनुसन्धान की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। परन्तु जब अमरीका और इँग्लेंड के बीच युद्ध आरम्भ हुआ तब एक धनी ने इस अवसर पर लाभ उठाने के अभिप्राय से उस गुफा के मुहाने के एक मील भीतर शोरे का कारखाना खोला। कहना नहीं होगा कि गुफा में शोरा खूब पाया जाता है। यह कारख़ाना दो वर्ष तक जारी रहा। युद्ध समाप्त होते ही वह बन्द कर दिया गया। क्योंकि दूसरे देशों से भी शोरा आने लगा और उसकी अपेक्षा गुफा का शोरा महँगा पड़ता था।

वह गुफा कितनी बड़ी है और कितनी दूर तक फैली है यह किसी को ज्ञात नहीं था। कारख़ाने के कुछ कर्मचारियों ने गुफा में प्रवेश तो किया; परन्तु वे उसकी चौड़ी खाई तक ही जाकर वापस लौट आये। जब सन् १८३४ ईसवी में चौड़ी खाई की गहराई नापी गई तब लोगों को ज्ञात हुआ कि वह १७५ फुट गहरी है। कितने ही मनुष्यों का बलिदान और सैकड़ों रुपये स्वाहा करके इस गहराई को पार करने के लिए एक पुल बनाया गया है। प्रति-वर्ष लोग उसके भीतर जाकर इस गुफा की खोज करते हैं, परन्तु उसका अन्त आज तक कोई न पा सका। यहाँ सूर्य भगवान् की पहुँच नहीं है। इसलिए यहाँ अन्धकार का ही अखण्ड साम्राज्य है। मशाल के सहारे मनुष्य अधिक से अधिक एक सप्ताह तक इसके भीतर भ्रमण कर सकता है। ऐसे दुर्गम स्थान के दो सौ मील तक के भीतरी मार्गों का पता लगा लेना कम साहस की बात नहीं है।

इस गुफा के भीतर झील, नदी, जल-प्रपात, झरने और बड़े बड़े दर्रे हैं। इतना ही नहीं, यहाँ कुञ्ज-पथ और सुरङ्ग, बड़े बड़े कमरे और गुम्बज़, तहख़ाने और मीनार, मेहराब और शिल्प-मूर्तियाँ, एक से एक विलक्षण और सुन्दर, बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ का प्राणि-संसार भी विचित्र है।

इस गुफा के कुछ स्थानों के नाम चुन कर रक्खे गये हैं; यथा—स्वर्णझील, मृतसमुद्र, अंगूरी-चौक, वैतरणी, प्रतिध्वनि-नदी, वामन सुरंग, उल्का-भवन, प्राणरोधकूप, बृहद्गुफा आदि। इस गुफा की एक सकरी गली इतनी घुमावदार है कि चलनेवाले को सौ गज़ जाने में छः बार घूमना

पड़ता है। इस गली की चौड़ाई १८ इंच और ऊँचाई पाँच फुट से कम है। यह गली स्थूलकाय मनुष्य के लिए शूकर-मुख नरक के समान है। गुफा की अंगूरीचौक की दीवाल पर जो स्वाभाविक आकृतियाँ बनी हैं उन्हें देख कर दर्शकों को दूर से ऐसा प्रतीत होता है मानों अंगूर की हरी-भरी बेल दीवाल पर चढ़ाई गई हो और उसमें से अंगूर के सैकड़ों गुच्छे लटक रहे हों। मृतसमुद्र के चारों ओर ७० फुट ऊँची ढालू चट्टानें हैं और स्वर्णझील के चारों तरफ़ सुनहरी रेत की जाली बनी है। गुफा के भीतर सैर करनेवाले यात्रियों को झील और नदी पार करने के लिए जलयान की आवश्यकता पड़ती है। इन नदियों और झीलों को पार करते समय यात्रियों को ऐसा जान पड़ता है मानों यमदूत उनकी नौका खेकर उन्हें वैतरणी पार करा रहा हो। प्रतिध्वनि-नदी एक मील लम्बी और कहीं कहीं दो सौ फुट चौड़ी है। उसकी गहराई दस से लेकर तीस फुट तक की है। गुम्बज़ाकार तहख़ाने से लगा कर वामन-सुरङ्ग तक के दृश्य ऐसे विलक्षण हैं कि देखते ही बनता है। वामन-सुरङ्ग के नीचे से होकर जानेवाले जल-यात्री को अपना मस्तक बहुत ही नीचा कर लेना पड़ता है; अन्यथा पथरीले चँदोवे से सिर टकरा जाने का भय रहता है।

गुफा के भीतर एक यह विचित्र बात देखने में आती है कि जब भूमि के ऊपर बहनेवाली हरित नदी का जल, जिसका तापक्रम गुफा के तापक्रम से बहुत अधिक है, प्रतिध्वनि-नदी में गिरता है तब इतने जल-कण ऊपर उड़ते हैं कि कुछ भी नहीं दिखाई देता। यहाँ साथियों का सङ्ग छूट जाने का बड़ा भय रहता है। प्रतिध्वनि-नदी में केवल पौन मील तक नौका जा सकती है। इसके आगे नदी चट्टानों से टक्कर खाती बहती है और न जाने कहाँ जाकर लुप्त हो जाती है। इस भूम्यन्तर्गत नदी में शब्द करने से [illegible] लती है वह यथार्थ में भयोत्प[illegible] चलाने से उसकी कड़कड़ा[illegible] मिनटों तक प्रतिध्वनित होती [illegible]

इस गुफा के सभा-भवन बड़े [illegible] हैं। उन पर बने हुए गुम्बज़ों [illegible] कोई दूसरे गुम्बज़ इस पृथ्वी [illegible] इन गुम्बज़ों की ऊँचाई और गोलाई [illegible] और २०० फुट हैं। यहाँ का एक स[illegible] ५ फुट ऊँचा है और उसमें दो मेहराब [illegible] नाम दीवाने-आम है। यहीं मूल-निवासि[illegible] की अधजली मशालें पाई गई थीं, जिससे जान पड़ता है कि कभी वे लोग यहाँ रहते थे।

कुछ भवनों की दीवारों और छतों पर बिल्लौर के परत लगे हुए हैं। उसके फ़र्श पर भी बिल्लौरी पच्चीकारी की गई है। इन्हीं में से एक का नाम उल्काभवन है। इसकी छत ७०५ फुट ऊँची है और वह लोह-मिश्रित पत्थर की बनी है। छत को छेद कर चूने के पत्थरों की काली नोकें तारात्रों के समान झाँकती हैं। यात्रियों की लालटेन के प्रकाश से जब नोकें प्रकाशित हो जाती हैं तब उस काली छत पर उनका प्रकाश ऐसा जान पड़ता है मानों आकाश में तारे चमक रहे हैं। लालटेन को उल्काभवन की दूसरी ओर रख देने से एक प्रकार की लहरदार छाया उत्पन्न होती है जो छत पर हिलती हुई दिखाई पड़ती है। उस समय वहाँ सजल जलद का दृश्य देख पड़ता है। उससे यात्रियों को यह भ्रम हो जाता है कि वे पृथ्वी के ऊपर मेघमण्डल पर आ गये हैं।

गुफा के एक भाग में बड़ा भारी जल-प्रपात है। इसका जल १५० फुट नीचे गढ़े में गिरता है। इससे भी एक बड़ा भयानक गढ़ा गुफा के मुहाने से ६ मील की दूरी पर है जो प्राणरोध-कूप के नाम

से प्रसिद्ध है। उसकी गहराई १७५ फुट और चौड़ाई २० फुट है।

कई वर्षों तक लोग प्राणरोध-कूप की तली में झरनेवाले पानी की झरझराहट का शब्द सुनते रहे। परन्तु किसी ने उसमें उतरने का साहस नहीं किया। एक ज़मींदार ने उसमें उतरनेवाले को तीन हज़ार रुपये का पुरस्कार देने की भी प्रतिज्ञा की; तो भी कोई राज़ी न हुआ। अन्त में एक साहसी पुरुष ने प्राणरोध-कूप के भीतर उतरने का दृढ़ सङ्कल्प किया। वह १०० फुट नीचे नहीं उतर पाया था कि इतने में उसका सारा धैर्य जाता रहा और वह भयभीत होकर अपने साथियों को रस्सा ऊपर खींचने के लिए पुकारने लगा। उसने फिर कभी गुफा में जाने का नाम न लिया। तब एक साहसी बालक ने इस प्राणरोध-कूप के भीतर प्रवेश करने का दुस्तर कार्य अपने हाथ में लेना चाहा। वह बालक एक पत्र-सम्पादक का पुत्र था। गुफा के नैसर्गिक दृश्य देख कर उसके मन में एक प्रकार का आह्लाद होता था। इसी से उसने उस गुफा के अनेक स्थलों की खोज की थी। उसने उस गुफा के कई गुप्त और दुर्गम मार्गों का पता लगाया था। उसी के खोजे हुए मार्गों में से एक मार्ग में मनुष्यों के अस्थि-पञ्जरों का समूह पड़ा हुआ मिला था, जो सम्भवतः मूल-निवासियों के थे।

उस बालक की उत्कट इच्छा और निर्भीकता देख कर यही कहना पड़ता है कि वह बड़ा साहसी था। जब उसने देखा कि पुरुषार्थ की डींग मारनेवाले लोग कूप की जाँच करने के लिए आगा-पीछा कर रहे हैं तब उसका हौसला एक-दम बढ़ गया। और, बालकों में पुरुषार्थ की कितनी मात्रा रहती है, यह बात संसार को प्रदर्शित करने के लिए उसने प्राणरोध-कूप के भीतर जाने का दृढ़ सङ्कल्प किया। कूप में उतरने के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता थी सब एकत्र करके वह वीर बालक अपने युवक मित्रों के सहित उसी गुफा के किनारे पर जा खड़ा हुआ।

पहले रस्से के छोर से एक बड़ा भारी पत्थर बाँधा गया। उसे नीचे उतार कर कुएँ के किनारे की चट्टानों की उभरी नोकें तोड़ डाली गईं। अब उस वीर बालक को नीचे उतारने की बारी आई। उतारने के पहले उसके कमर से रस्सा बाँध दिया गया और उसके सिर पर लोहे की टोपी लगा दी गई जिससे रस्से की रगड़ से गिरते हुए पत्थर के टुकड़ों से उसे चोट न लगे। फिर उसके दोनों बगल में जलती हुई दो लालटेनें लटकाई गईं। इसके बाद वह नीचे उतारा गया। उसे उतारने के कार्य में ६ मनुष्य लगे थे। ये लोग रस्से को बड़ी सावधानी से धीरे धीरे ढीलते जाते थे तो भी रस्से की रगड़ से चट्टान के इतने बड़े बड़े टुकड़े टूट टूट कर गिरते थे कि उनके लगने से अच्छे हृष्टपुष्ट मनुष्य की मृत्यु हो सकती थी; परन्तु सौभाग्य से उतरनेवाले वीर बालक को इन पत्थर के टुकड़ों से हानि नहीं पहुँची। तीस चालीस फुट नीचे उतर जाने के अनन्तर वह बालक उस स्थान के पास जा पहुँचा जहाँ नदी चट्टानों को फोड़ कर बाहर निकलती है। वह इस जल-प्रपात के धुवाँधार में से होता हुआ, बिना कहीं विश्राम किये, नीचे उतरता चला गया। १७५ फुट नीचे उतर जाने पर वह कूप की तली पर जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि प्राणरोध-कूप एक वृत्ताकार गढ़ा है। उसकी चौड़ाई २० फुट है। उसकी एक ओर छोटे छोटे कमरे बने हुए हैं जिनके पत्थर इतने सफ़ेद थे कि उन्हें देख हमारे यात्री बालक को बर्फ़ का सन्देह होने लगा।

कूप की तली की जाँच-पड़ताल करके उसने रस्सा ढीलनेवालों को सङ्केत किया। अब रस्से की चढ़ाई शुरू हुई। बालक आधे मार्ग तक जाकर ठहर गया और भूल कर एक कन्दरा के मुहाने पर के

उभरे हुए चट्टान पर जा पहुँचा। यहाँ उसने कमर से रस्सा खोल लिया और उसकी छोर को पकड़े हुए कन्दरे के भीतर झाँक कर देखने लगा। इतने में एकाएक रस्सा उसके हाथ से छूट पड़ा और वह इस दुर्गम स्थान में निराधार हो गया। रस्सा उस की पहुँच से दूर था, उसके सहायक मित्र ऊपर थे और वह कूप में बीचोंबीच खड़ा था। अतः उसके मित्र उसकी सहायता नहीं कर सकते थे, न वही अपनी सहायता कर सकता था।

इस आपत्ति-काल में उसने लालटेन में लगे हुए तार को निकाल कर और उसके एक छोर को हुक के समान मोड़ कर उससे रस्से को फँसाना चाहा। यदि वह थोड़ा आगे झुकता तो सम्भव था कि रस्से को पकड़ लेता; परन्तु ऐसा करने में उसे नीचे गिर जाने का भय था। बड़ी देर तक खेंचातानी करने के बाद रस्सा उसके हाथ आ लगा। तब उसने निःशङ्क होकर उस कन्दरा के भीतर २०० गज़ तक प्रवेश किया और वहाँ का स्वाभाविक दृश्य देख कर वह अपने पूर्व स्थान को लौट आया। प्राणरोध की दूसरी ओर भी इसी प्रकार की एक दूसरी कन्दरा उसे देख पड़ी; परन्तु वह रस्से से झूल कर वहाँ तक नहीं पहुँच सकता था। इसलिए उसने अपने मित्रों को रस्सा ऊपर खींचने के लिए इशारा किया।

जब वह अपने मित्रों से ६० फ़ुट के अन्तर पर था तब उसने देखा उसके रस्से पर लकड़ी के पटिये के सङ्घर्षण के कारण आग लग गई है। मृत्यु सन्मुख होकर नाचने लगी। लकड़ी की पटिया इस प्रकार लगाई गई थी कि वहाँ तक उसके साथी नहीं पहुँच सकते थे। एक ने बोतल में पानी भर भर कर रस्से पर डाला। ज्यों त्यों आग बुझाई गई। अब रस्सा धीरे धीरे खींचा जाने लगा और वह वीर बालक प्राणरोध-कूप के बाहर आ खड़ा हुआ। उसके चेहरे पर भय के चिह्न नहीं थे। वह ऐसा निर्भीक और शान्त था कि मानों वह किसी बग़ीचे की सैर करके लौटा हो। इस वीर बालक का नाम विलियम कोर्टलैंड प्रेंटिस था।

इस गुफा के मुहाने पर ख़ूब कुहरा जमा रहता है। भीतर सदैव (चाहे जाड़ा हो या गर्मी) ५४ अंश की गर्मी बनी रहती है। ग्रीष्म-ऋतु में जब ज़मीन की हवा का तापक्रम गुफा की वायु के तापक्रम से अधिक रहता है तब गुफा से ठंढी वायु बाहर निकलती है। परन्तु शीत-काल में, जब पृथ्वी पर की वायु का तापक्रम गुफा की हवा के तापक्रम से कम रहता है तब गुफा में ठंढी वायु का संचार होता है। गुफा के भीतर हवा स्वच्छ होने के कारण ८० वर्ष पहले वहाँ क्षय-रोग के रोगियों के लिए कई निवासस्थान बनाये गये थे।

गुफा के भीतर जो जीव-जन्तु पाये जाते हैं उनका आकार-प्रकार भूमि पर रहनेवाले जीव-जन्तुओं से भिन्न हैं। वहाँ मछली, पतंगा, मकड़ी, मक्खी, गुबरीले तथा इसी प्रकार के दूसरे प्राणियों की अधिकता है। परन्तु वे सब अन्धे हैं। जान पड़ता है कि उनके पूर्वज भूमि पर से भटकते हुए गुफा में आये और घोर अन्धकार में रहने से उनकी दृष्टि जाती रही। इनकी आँख की कमी पूरी करने के लिए ईश्वर ने इनकी दूसरी इन्द्रियों की शक्ति में वृद्धि कर दी है। वहाँ की मछली की श्रवणेन्द्रिय बड़ी तीव्र होती है और कीड़े-मकोड़ों में स्पर्शेन्द्रिय की विलक्षण शक्ति होती है। यहाँ चमगीदड़ों की भी कमी नहीं है। शीत-काल में इनके सैकड़ों दल दीवारों पर उलटे लटके हुए दिखाई पड़ते हैं।

अभी इस गुफा के भीतर खोज का काम जारी है। सम्भव है कि भविष्य में उसके और और चमत्कार लोगों को प्रकट हों।*

वनमालीप्रसाद शुक्ल

---

* एक अँगरेज़ी प्रबन्ध के आधार पर।

लीलाशय।

हे कृष्ण, लीलायें प्रकट हैं जगत में जो आपकी।
वे गूढ़ता से हैं भरी संहारिका भवताप की॥
यदि ज्ञात होवे भूल उनमें तो हमारी भूल है।
उससे न होगी भूल जो प्रभु शान्ति का सुख-मूल है॥१॥
कंसारि बन उपदेश दुर्जन-दलन का जैसे दिया।
गोपाल हो ज्यों आपने व्रत देश-रक्षा का लिया॥
जिस भाँति वंशी से प्रकट है विज्ञता संगीत की।
गिरि को उठाना मूर्ति है ज्यों योग-बल की जीत की॥२॥
चौर्यादि में भी नाथ अद्भुत तत्त्व हैं जैसे भरे।
ज्यों भक्त-गण को अभय करना दया दिखलाता हरे॥
जिस भाँति गीता आपकी व्युत्पत्ति की छबि है महा।
ज्यों पूतना-वध गूढ़ता से देश-हित सिखला रहा॥३॥
त्यों ही महाभारत-समर में भाग जो प्रभु ने लिया।
उससे जगत को आपने कर्तव्य का परिचय दिया॥
प्रभु, जो कहा करके दिखाया आपने संसार में।
इस भाँति जीवन को बिताया विश्व के उपकार में॥४॥
जब जब नरों को ग्लानि होती है सनातन धर्म से।
अन्याय होता है प्रबल, होती अरुचि सत्कर्म से॥
अवतार तब तब ग्रहण कर हरते सदा भूभार हो।
करके सुखी सब साधु करते दुष्ट-दल-संहार हो॥५॥
जिन कौरवों ने भीम को मिष्टान्न मिष से विष दिया।
रख पाण्डवों को लाख-घर में भस्म उस गृह को किया॥
फिर राज्य पाने को जिन्होंने द्यूत था छलमय रचा।
खींचा सती का वस्त्र जिनसे अघ नहीं कोई बचा॥६॥
उन पापियों को धर्म-पथ पर खींच लाने के लिए।
जो मानवोचित यत्न थे सो आपने भरसक किए॥
सुख-शान्ति रखने के लिए दूतत्व तक स्वीकृत किया।
अपमान भी कौरव-सभा में शक्ति रहते सह लिया॥७॥
छल-कपट से था मुक्त प्रभु-कृत सन्धि का प्रस्ताव भी।
होता कपट तो पाँच गाँवों हेतु क्या कहते कभी॥
थी शुद्धता, गम्भीरता हरि आपके उस भाव में।
दुःस्वप्न होते हैं उन्हें जो पड़े मोह-प्रभाव में॥८॥
क्या पाण्डवों की कीर्ति गाना नीति के विपरीत था।
उस पर चिढ़े यदि रिपु समझ लो मूढ़ थे वे सर्वथा॥
सज्ज्ञान अरियश-गान से मन म्लान हैं करते नहीं।
वे दूर करते दोष निज यदि देख पड़ते हैं कहीं॥९॥
माने न जब कौरव, समर तब रोकना अपकार था।
वह था समर्थन अधमता का, धर्म का संहार था॥
जिस राज्य पर उन पाण्डवों का जन्म से अधिकार था।
अन्यायियों को वह दिलाना घोर अत्याचार था॥१०॥
विश्वास अर्जुन में विजय-फल का न प्रभु ने था भरा।
फल-त्याग का उपदेश देकर आपने था भ्रम हरा॥
निष्काम ही कर्तव्य-शिक्षा दी जिन्होंने पार्थ को।
वेही सुझावेंगे अहो! कैसे विजय के स्वार्थ को॥११॥
करते भिखारी आप उसको कर्म-पथ से यदि हटा।
जग बीच पापाचारियों का खूब जमता जमघटा॥
नर-रहित वसति-स्थान हो जाता कदाचित् है जहाँ।
शत-शत उलूकों का चतुर्दिक् वास होता है वहाँ॥१२॥
साम्राज्य हो जाता उसी विधि जगत में जब पाप का।
भूभार हरने का बहुत ही कार्य बढ़ता आपका॥
यदि वैद्य करता है उपेक्षा रुज-चिकित्सा में कहीं।
तो रोग बढ़ता, वैद्य को भी अल्प श्रम पड़ता नहीं॥१३॥
अपना पराया देखना है उचित शिष्टाचार में।
पर न्याय में अपने पराये एक हैं संसार में॥
निज वंश का भी भूप यदि अन्याय को छोड़े नहीं।
नृप वेणु-सम संहार उसका कीजिए तत्काल ही॥१४॥
जो कुछ किया है आपने वह था उचित सब रीति से।
अनुचित यही जो वह हमें हैं भासते विपरीति से॥
सुख-मूल प्रभु के कार्य हैं, कुछ भूल उनमें है नहीं।
स्थल कञ्ज के भी कोष से दुर्गन्ध निकली है कहीं॥१५॥
यह मानना यदुवंश-क्षय इस पाप ही का मूल है।
निर्जीव पोथी युक्ति है, भारी भयङ्कर भूल है॥
यदुवंश के संहार का जो मुख्यतः कारण रहा।
भगवान् वेदव्यास ने वह भागवत में है कहा॥१६॥
यदुवंश इतना उस समय पर होगया उद्दण्ड था।
संसार के स्वातन्त्र्य को वह छीन लेता सर्वथा॥
अतएव जगहित हेतु ही संहार उसका कर दिया।
इस विश्व के इतिहास में ऐसा कहाँ किसने किया॥१७॥
जो हैं जगत-पति, जगत-हित में निरत आठो याम हैं।
सर्वज्ञ हैं, समदृष्टि हैं, निर्लेप हैं, निष्काम हैं॥

आनन्दघन अच्युत, अलौकिक, जो महा अभिराम हैं।
उनके युगुल पद-पद्म में सादर अनन्त प्रणाम हैं ॥१८॥

गोविन्ददास

चीन की चित्र-कला।

कला की उत्पत्ति मनुष्यों के सौन्दर्य-बोध से हुई है। मनुष्यों में सौन्दर्य-बोध स्वाभाविक है। शिशु भी सुन्दर वस्तु देख कर उसकी ओर आकृष्ट होता है। पर सौन्दर्य है क्या, यह बतलाना सहज नहीं है। प्रायः देखा जाता है कि जो वस्तु एक की दृष्टि में सुन्दर है वही दूसरे की दृष्टि में कुत्सित है। व्यक्तिगत रुचि को छोड़ देने पर भी हम यह देखते हैं कि एक जाति जिसे सुन्दर समझती है दूसरी जाति उसे कुरूप कहती है। एक जाति में भी कालानुसार उसका सौन्दर्य-बोध विभिन्न हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि सौन्दर्य काल और देश से मर्यादित है। इसका कारण यह है कि सौन्दर्य एक मानसिक अवस्था है। वह किसी वस्तु में नहीं, मनुष्यों के मन में है।

एक विद्वान् का कथन है कि धर्म ही सब ललित कलाओं का मूल स्रोत है। मनुष्यों ने आज तक कलाओं में जो उन्नति की है वह उनके धार्मिक भावों की प्रेरणा से ही हुई है। अब विचारणीय यह है कि धर्म की उद्भावना से सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जान लेने पर यह प्रकट हो जायगा कि जिस सौन्दर्य की अनुभूति के लिए भिन्न भिन्न कलाओं की सृष्टि हुई है वह केवल मनुष्यों की एक धार्मिक अवस्था सूचित करता है।

लोकोक्ति प्रसिद्ध है सत्यं शिवं सुन्दरम्'। अँगरेज़ी में कवि कीट्स की यह उक्ति खूब प्रसिद्ध है, 'Truth is beauty.' अर्थात् सत्य ही सौन्दर्य है। जो असत्य है वह सुन्दर नहीं। पर क्या यह सच है? संसार में क्या सभी सत्य सौन्दर्य्यमय होते हैं? इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि जो मिथ्या है वही अधिक सुन्दर है। जब तक हम पहाड़ों का सत्य रूप नहीं देखते तभी तक वे हमें रमणीक और सुन्दर प्रतीत होते हैं। ज्यों ही हम उनके पास पहुँच कर उसका यथार्थ रूप देख

प्रकृति का दृश्य (१)

लेते हैं त्यों ही हमारा पूर्व-भाव नष्ट हो जाता है। इसी लिए कुछ लोगों की यह धारणा हो गई है कि सौन्दर्य केवल काल्पनिक है, मिथ्या है। वह जीवन की मरीचिका है। उसका अस्तित्व नहीं।

यह तो हम कह आये हैं कि सौन्दर्य केवल मानसिक अवस्था है। मन को जिसकी चाह होती है वही उसे सुन्दर जान पड़ता है। अनन्त समुद्र की नीलिमा, सन्ध्याकालीन आकाश की लालिमा, अभ्रभेदी पर्वतों की शृङ्गमाला, देख कर मनुष्य तभी उन्हें सौन्दर्यमय कहता है जब उसे संसार के वैभव से विरक्ति अथवा अरुचि हो जाती है। मूक प्रकृति की निश्चल शोभा तभी उसके मन में एक ऐसी भावना उत्पन्न कर देती है जिसके लिए वह सदा लालायित रहता है।
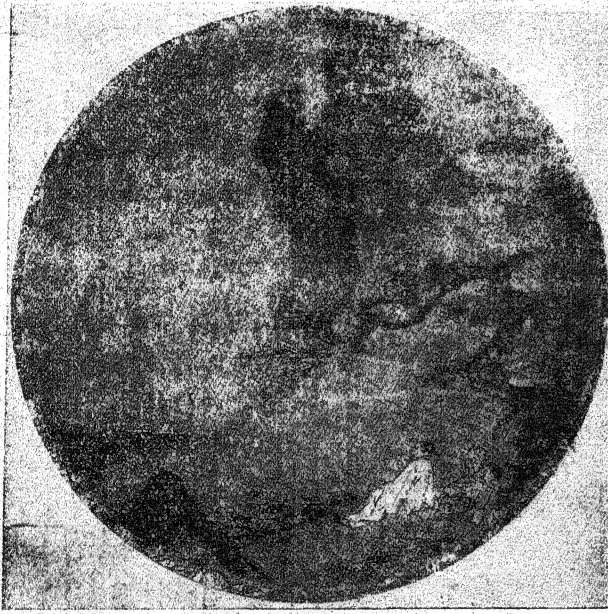
प्रकृति का दृश्य (२)

प्रकृति सत्य ही का एक दूसरा रूप समझी जाती है। अर्थात् प्रकृति के राज्य में जो कुछ इन्द्रिय गोचर होता है वह सत्य कहलाता है। जो इन्द्रिय से अनुभूत नहीं उसे साधारण जन सत्य कहने का साहस नहीं करते। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि प्रकृति का अन्त इन्द्रिय-गोचरों में ही नहीं हो जाता। कुछ तो प्रत्यक्ष रूप से हम पर प्रभाव डालते हैं और कुछ अप्रत्यक्ष रीति से। सामने एक जरा-जीर्ण, कुष्ट-रोग से पीड़ित मनुष्य को देख कर कुछ लोग घृणा से मुँह फेर लेते हैं। पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिनके हृदय में ऐसे दृश्यों से दयाभाव का संचार होता है और वे उसकी सेवा में तत्पर हो जाते हैं। ऐसे ही लोग जब इन असहाय और दयनीय मनुष्यों की अवस्था का चित्र खींच देते हैं तब संसार मुग्ध हो जाता है। बीभत्स वस्तु के दर्शन से साधारण मनुष्यों के हृदय में घृणा और भय के भाव उदित होते हैं। पर तो भी वह कविता का एक प्रधान विषय समझा गया है। जिस किसी को बीभत्स-रस की अवतारणा में सफलता हुई है उसे कला-कोविदों में अच्छा स्थान मिला है। बीभत्स में सौन्दर्य का दर्शन करना कला की कुशलता है। तात्पर्य यह कि सौन्दर्य वस्तुगत नहीं, वह केवल मन की अवस्था है। अतएव इस सौन्दर्य के स्पष्टीकरण से कला-कोविदों का उद्देश मनुष्यों की मानसिक अवस्था को उन्नत करना है। सभी धर्मों का यही उद्देश है। ग्रीक जाति में कभी धर्म का दूसरा नाम सौन्दर्य था।

योरप में पूर्वैतिहासिक काल के चित्र पाये गये हैं। स्पेन के उत्तर में अल्टा मीरा नाम की पुरानी गुफायें हैं। इनकी छतों पर कितने ही रङ्गीन चित्र अङ्कित हैं। विद्वानों की राय है कि इन चित्रों को बने हज़ारों वर्ष हो गये। अब विचारणीय यह है कि इन चित्रों के लिए उस गुफा के आदिम निवासियों ने इतना परिश्रम क्यों किया? क्या यह उनके अन्ध विश्वास का फल है? कुछ लोगों की राय है कि प्राचीन काल के मनुष्यों की यह धारणा थी कि जिन जन्तुओं का चित्र वे खींच रक्खेंगे वे उनके वशीभूत हो जावेंगे। कदाचित् चित्र-रचना मूर्ति-पूजा की

तरह उनके धार्मिक विश्वास का परिणाम हो अथवा यह भी सम्भव है कि ललित-कलाओं की सृष्टि से जो आनन्द होता है उसी की उपलब्धि के लिए उन्होंने यह चित्राङ्कण किया हो। कुछ भी हो। इसमें सन्देह नहीं कि जिन जन्तुओं के चित्र उन्होंने खींचे हैं उनसे उनका घनिष्ठ—रक्तमांस का—सम्बन्ध था। उन्हीं से उनकी प्राण-रक्षा होती थी और उन्हीं से वे अपने शरीर की रक्षा करते थे। अतएव जिनसे उनका यह सम्बन्ध था उनको कल्पना द्वारा रेखाङ्कित कर पुनर्जन्म देना उनके

प्रकृति का दृश्य (३)

लिए सर्वथा स्वाभाविक था। यही तो कला का एक मात्र उद्देश है। विश्व से मनुष्य का जो सम्बन्ध है, विश्व मनुष्य के पास जिस रूप में प्रकट होता है, विश्व की सामग्री से वह जो आनन्द और सन्तोष, सुख और दुःख का अनुभव करता है उसी को वह प्रकाशित करने की चेष्टा करता है। एक ओर अनन्त विश्व-प्रकृति नित्य नवीन रूप धारण कर उपस्थित होती है और दूसरी ओर मनुष्य विश्व की ज्ञेय और अज्ञेय शक्ति के आवर्त में पड़ कर उसके रहस्योद्घाटन की चेष्टा कर रहा है। वह सदैव यह जानने के लिए उत्सुक रहता है कि विश्व क्या है, हमसे उसका क्या सम्बन्ध है, जीवन की सार्थकता क्या है? मानव-जीवन की इन्हीं भावनाओं को व्यक्त करने के लिए कला की सृष्टि होती है। जीवन के सम्बन्ध में कला-कोविद की जितनी अभिज्ञता रहती है, जो विश्वास रहता है, उसे ही वह अपने चित्रों में प्रकट करता है।

चीन की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। प्राचीन काल में भी वह अपने कला-कौशल के लिए विख्यात थ। चीन की चित्र-कला में एक विशेषता है जो उसी की सम्पत्ति है। यहाँ हम उसी विशेषता का उल्लेख करते हैं।

योरप में लोगों की यह धारणा हो गई है कि कला का जन्म मनुष्यों की स्वाभाविक अनुकरण-प्रवृत्ति का फल है। परन्तु यह भ्रम है। इसमें सन्देह नहीं कि अनुकरण में भी एक विशेष सुख है। परन्तु जो सुख सृष्टि करने में है वह अनुकरण करने में नहीं है। जो है उसकी नक़ल करने से मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता। वह यह सोचता है कि यह तो है ही, इसमें हमारा कर्तृत्व कहाँ। हम तो जगत् को वह देना चाहते हैं जो हमारा हो।

योरप के चित्र देखने से ज्ञात होता है कि वहाँ के चित्रकार अपने विषय पर कितना दख़ल रखते थे। परन्तु इससे क्या हम यह कह सकते हैं कि माइकेल एञ्जलो ने शारीर-विद्या का रहस्य जानने

के लिए अपने चित्रों की रचना की है। चित्रों का प्राण आकृति नहीं। परन्तु आकृति में उसका प्राण रहता है। आकृति केवल एक उपाय-मात्र है जिसके द्वारा चित्रकार अपने उद्देश को व्यक्त करता है।

पाश्चात्य चित्रों में पूर्णता की ओर चित्रकारों की प्रवृत्ति खूब लक्षित होती है। यही कारण है कि चित्र की सभी बातें चित्र में ही खतम हो जाती हैं। फिर कुछ शेष नहीं रह जाता। परन्तु चीनी चित्र-कारों में ऐसी पूर्णता का आदर नहीं है। उनका कथन है कि जहाँ पूर्णता है वहीं अन्त है, वहीं मृत्यु है। इसी लिए वे ससीम को स्वीकार नहीं करते। यही कारण है कि चीन के चित्रों में इतना शून्य स्थान रहता है कि उसमें हमारी कल्पना निर्बाध विचरण कर सकती है। चीन के चित्रकारों ने विश्व की जीवनी शक्ति को मनुष्य की प्रकृति में स्फुट करने की आवश्यकता कभी नहीं समझी। उन्होंने भगवान को गति अथवा शक्ति-रूप में कल्पना की है। जीवन की अपरिवर्तनीय गति के भीतर जो नित्य, नियत परिवर्तन हो रहा है उसे उन लोगों ने ग्रहण किया है। चीनी चित्रों में यह दृश्य प्रायः खूब अङ्कित किया जाता है कि कोई कवि जल-प्रपात की शोभा देख रहा है। जल-प्रपात ही जीवन का स्वरूप है। उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं परन्तु देखने से यही प्रतीत होता है कि जल-धारा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आकाश में जिस प्रकार हंसों का दल उड़ता चला जाता है उसी प्रकार हम लोग भी घूमते रहते हैं। पर हम लोग श्रान्त नहीं होते, अपनी यात्रा के अवसान के लिए अधीर नहीं होते। जिस गति का शेष नहीं, जो अनन्त और शाश्वत है, उसी के अन्तर्गत होकर हम लोग परमानन्द लाभ करते हैं।

चीन की दृश्याङ्कण कला पर स्वीडन के एक विद्वान् ने यह सम्मति दी थी—

If one wished to describe in one word the essential character and ultimate aim of Chinese landscape—painting, that word should be infinity. All that to the artist is implied in that word of freedom from the fetters of the material world, of visionary suggestion, of contemplation of the hidden mysteries of nature reflected in his soul, flows as an under-current through the whole wealth of landscapes in monochrome produced during the Sung period. These landscapes are no mere representations of nature in the sense commonly attributed to this term, but impressionistic renderings of inner moods rather than of outward appearences. In them the objective motive seems to sink completely into the peaceful depths of the creative soul and to reissue brighter and stronger, replete with an inner life that is suggested by means of tone and rhythm.

अर्थात् यदि एक ही शब्द में कोई चीन की दृश्याङ्कण-कला की विशेषता कहना चाहे तो उसके लिए वह शब्द अनन्त भावना है। चीन के दृश्य चित्रों में इसी भावना का स्रोत बह रहा है जिससे सांसारिक बन्धनों से उन्मुक्ति, कल्पना की अभिव्यक्ति और अन्तरात्मा की विश्व-चिन्ता सूचित होती है। इन चित्रों में प्रकृति का बाह्य दृश्य अङ्कित नहीं है, किन्तु अन्तःकरण पर उसका जो चित्र उदित होता है वही इनमें परिस्फुट हुआ है। इनमें वस्तु-विशेष का उद्देश आत्मा में लीन हो जाता है और फिर अन्तर्जीवन से युक्त हो विशेष प्रभावित होकर उद्भूत होता है।

ऐसे ही तीन चित्र सरस्वती के इस अङ्क में दिये जाते हैं।

कमलाकान्त

कन्या-दान।

(२)

[४]
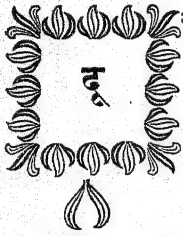
दूसरे दिन कालिकादीन भोजन करके एक एक्के पर सवार हो चौक में पन्नालाल अगरवाले की दूकान पर पहुँचा। उस लम्बी-चौड़ी दूकान में तरह तरह की नई पुस्तकें आलमारियों में सजी हुई रक्खी थीं। बीच में एक ख़ूब-सूरत टेबिल रक्खी थी जिसके ऊपर बिजली का पंखा बड़ी तेज़ी से नृत्य कर रहा था। अधेड़ उम्र के पन्नालाल अगर-वालेजी, एक कुर्सी पर बैठे हुए, कल का हिसाब जाँच रहे थे। उनके तालू पर बालों का अभाव था। कुछ अन्तर पर एक और मेज़ रक्खी थी जिस पर पुस्तकों के पैकट बँधे रक्खे थे। पैकटों पर पते-ठिकाने के लेबिल लगे हुए थे। वह एक बाबू बैठा था जो एक एक पैकट का वी० पी० फ़ार्म भरता जाता था और पुस्तकों की क़ीमत को जाँच रहा था। वह आर्डर की चिट्ठी के साथ पता-ठिकाना भी जाँच लेता था और इस तरह पूरी जाँच करके पैकट को पास ही रक्खे हुए एक टोकरे में रखता जाता था।

कालिकादीन को आते देख लाला पन्नालाल ने उसकी सादर अभ्यर्थना की। पुस्तकों के व्यवसायी लोग मासिक पत्रिकाओं के सहकारी सम्पादकों की ख़ूब ख़ातिर-तवाज़ो किया करते हैं। जो वे ऐसा न करें तो उनकी प्रकाशित की हुई पुस्तकों की गड़बड़ आलोचना हो।

"कहिए पण्डित कालिकादीनजी? सब कुशल-मङ्गल? तिवाड़ीजी प्रसन्न हैं न? कहिए, क्या आज्ञा है?"

कालिकादीन ने कुर्सी पर बैठ कर कहा—"जी हाँ। सब कुशल-मङ्गल है। पण्डित रामगुलाम पाँड़े की पुस्तकों का एक सेट तो निकलवाइए।"

पन्नालाल की आज्ञा के अनुसार, एक आदमी अभीष्ट पुस्तकें कालिकादीन के पास रख गया। एक एक पुस्तक उठा कर कालिकादीन चुपचाप जाँचने लगा कि पुस्तक पहले पहल किस साल प्रकाशित हुई थी, क्या मूल्य है और अब तक उसके कितने संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। एक पुस्तक के टाइटिल पर नज़र जमा कर कालिकादीन ने कहा—"इस पर लिखा है, 'स्वत्वाधिकारी की अनुमति लिये बिना यदि कोई इस पुस्तक का अनुवाद प्रकाशित करेगा तो उसे क़ानूनन हर्जाना देना पड़ेगा'—तो इसका कोई अनुवाद प्रकाशित हुआ भी?"

पन्नालाल ने ज़रा अभिमान के साथ कहा—"हुआ क्यों नहीं। सभी पुस्तकों का अनुवाद होगया है। गुजराती, बँगला, मरहठी, उर्दू आदि कई भाषाओं में होगया है। देश-विदेश में सर्वत्र इन पुस्तकों का आदर है। और भी कुछ भाषाओं में अनुवाद करने के लिए लोग चिट्ठियों पर चिट्ठियाँ लिख रहे हैं—किन्तु वे रुपये नहीं देना चाहते—और मैं रुपये लिये बिना किसी को अनुवाद करने देने का नहीं।"

"तो गुजराती, मरहठी, उर्दू और बँगलावाले रुपये देते हैं?"

"जी हाँ, नियमानुसार रुपये देते हैं। नहीं तो मैं अनुवाद क्यों करने देता? पन्ना तो पक्के गुरु का चेला है।"

"अच्छा, अनुवाद कर लेने की अनुमति देने में आपको क्या दक्षिणा मिलती है?"

व्यवसाय-बुद्धि-सम्पन्न लाला पन्नालाल ने इसका सीधा उत्तर न देकर कहा—मरहठीवाले ही सबसे अधिक द्रव्य देते हैं। उनकी बिक्री भी तो वैसी ही होती है। पण्डित रामगुलाम की प्रत्येक पुस्तक की हम हर बार दो हज़ार प्रतियाँ छपाते हैं, पर मरहठी के अनुवाद की प्रत्येक बार पाँच पाँच हज़ार कापियाँ छपाई जाती हैं। अपने साहित्य की हम कितनी ही प्रशंसा क्यों न किया करें, पर मरहठी का साहित्य हमारे साहित्य की अपेक्षा बहुत अग्रेसर है—कम से कम आर्थिक हिसाब में तो यह बात प्रत्यक्ष है।

कालिकादीन—यह ठीक है। इनका एक मासिक-पत्र 'मनोरञ्जन' है, उसके जितने अधिक ग्राहक हैं उतने हमारे यहाँ किसी भी पत्र के नहीं।—जो हो, आपके यहाँ मैं एक विशेष काम के लिए आया हूँ। मुझे पण्डित गङ्गाधर तिवाड़ी ने भेजा है। ज़रा एकान्त हो तो कहूँ।

"बहुत अच्छा, आइए" कह कर लाला पन्नालाल पण्डित कालिकादीन को दो-मञ्ज़िले के एक ख़ास कमरे में ले गये।

कालिकादीन ने बैठ कर कहा—आप जो पण्डित रामगुलाम पाँड़े के उपन्यास छापते हैं इनका ठीक ठीक हिसाब आप रखते ही होंगे ?

पन्नालाल ने ज़रा अचरज करके, सन्देह की दृष्टि से, कालिका को देखा और कहा—क्यों ?

कालिकादीन ने गम्भीरता से कहा—बही-खाता, रोकड़-बही आदि झट पट बदल डालिए।

"बही-खाता बदल दूँ ? क्यों, क्या हुआ है ? इन्कम-टैक्स का कुछ"—

"नहीं लालाजी, इन्कम-टैक्स की बात नहीं है। आप पर एक सङ्गीन मुक़द्दमा चलाया जायगा। उसकी तैयारी हो रही है।"

यह बात सुनते ही पन्नालाल के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। उसने कहा—मुक़द्दमा दायर होगा ? क्यों, कैसा मुक़द्दमा ? मैंने क्या किया है जो मुक़द्दमा चलेगा ?

"पण्डित रामगुलाम पाँड़े का बेटा ललिताप्रसाद आप पर कई हज़ार का दावा करने की तैयारी में है। वह कहता है,—'मेरे पिता की लिखी पुस्तकें पन्ना अगरवाला किसके हुक्म से छपाता और बेचता है। इधर कई वर्ष से उसे इन पुस्तकों की बिक्री से जो मुनाफ़ा हो रहा है उसका कौड़ी कौड़ी का हिसाब अदालत में लेकर वसूल करूँगा।"

यह सुन कर पन्नालाल ज़ोर से हँसने लगा। वह बोला—यही बात थी ! तो करे न नालिश। जिसके हुक्म से मैं छापता-बेचता हूँ उसका प्रमाण अदालत में ही दूँगा। ललिताप्रसाद नालिश करेगा ! बड़ा भारी हौसला हुआ है !—साठ रुपये माहवार पर गुलामी करके पेट भरता है, नालिश करेगा !

"उसे आप पहचानते भी हैं ?"

"ख़ूब जानता हूँ। बनारस आये उसे तीन ही बरस तो हुए हैं। जब से आया है, बीच-बीच में मुझसे मिल जाता है। मुझसे कहता है, '१००) में मेरे बाप की किताबें ख़रीद कर न जाने कितने १००) वसूल कर चुके हो; अब किताबें हमें लौटा दो।' मैंने उससे कहा—भैया, जब मैंने १००) में तुम्हारे पिता की पुस्तकें ख़रीदी थीं तब तुम्हारे पिता को जानता ही कौन था ? मैंने कितना रुपया ख़र्च करके, कितना कष्ट सह करके, कितने आदमियों की ख़ुशामद करके, किताबों की बढ़िया आलोचना करा दी जिससे पुस्तकें मशहूर हो गईं; अब भला मैं पुस्तकें कैसे वापस कर सकता हूँ ? और दूँ ही क्यों ? सरे बाज़ार नीलाम में ख़रीद लाया हूँ, तुम्हें यों ही दे दूँ ?"

कालिकादीन—कोई दस्तावेज़ भी है ?

"है क्यों नहीं। न होता तो क्या योंही पुस्तकें छाप छाप कर बेचता रहता ?

"पर ललिताप्रसाद तो कहता है कि कोई लिखा-पढ़ी नहीं है।"

"उसके कह देने से क्या होता है ! अच्छा, आपको ही प्रमाण दिखलाता हूँ।"—यह कह कर पन्नालाल एक कमरे में चला गया। थोड़ी देर में लौट कर उसने एक सेल-सर्टीफ़िकेट कालिकादीन के आगे रख दिया। इस सर्टीफ़िकेट पर अदालत की सील-मोहर थी। पन्नालाल ने कहा—"लीजिए, देख लीजिए। आप तो पढ़े-लिखे सज्जन हैं। आप देखिए कि मैंने पण्डित रामगुलाम की पुस्तकें बिना ही अधिकार के छाप ली हैं, या ऐसा करने का मुझे क़ानूनन अधिकार है ?"

कालिकादीन ने देखा कि उस सेल-सर्टीफ़िकेट में ख़रीदी हुई चीज़ों का—आलमारी, पुरानी पुस्तकों की संख्या और लिखी हुई पाँच कापियों के मसविदे का—उल्लेख है। सर्टीफ़िकेट देख कर कालिकादीन ने कहा—हाँ, यह तो ज़रूर लिखा है कि "उक्त मृतक के हाथ की लिखी पाँच किताबों के मसविदे।" पण्डित रामगुलाम पाँडे की लिखी पाँच ही तो पुस्तकें हैं ? तब तो यह पक्का प्रमाण है आप के पास। चलो अच्छा हुआ, एक फ़िक्र दूर हुई।

पन्नालाल ने पूछा—ललिताप्रसाद पर यह सनक कब से सवार हुई है ? आप जानते हैं, इसे कौन नचा रहा है ?

"जी नहीं। मुझे क्या मालूम। पण्डित गङ्गाधरजी को तो ललिताप्रसाद से ही यह ख़बर मिली है। पण्डित रामगुलाम पाँडे गङ्गाधरजी तिवाड़ी के बाल-सखा थे न। ललिताप्रसाद कल तिवाड़ीजी से मिलने आया था। उसके चले जाने पर तिवाड़ीजी ने मुझसे कहा—'तुम पन्नालाल को ख़बर दे आओ, वे हमारी पत्रिका के प्रधान विज्ञापन-दाता हैं। उनसे बहुत आमदनी हुई है। अब भी डेढ़ सौ रुपये मिलने को हैं—उनको ज़रा सावधान कर आओ। अभी कुछ

कहा तो जा नहीं सकता, अन्त में कहीं डिगरी हो जाय—इसलिए उनको इस समय जो करना धरना हो कर लें।'—उन्होंने साफ़ साफ़ यह नहीं कहा कि बही-खाता बदल डालें, किन्तु उनका इशारा कुछ कुछ ऐसा ही प्रतीत हुआ। जब से मैंने यह ख़बर पाई है तब से मुझे भी बड़ी चिन्ता थी; इसी से मैंने यहाँ आते ही पहले किताबें देखी थीं कि किसके कितने संस्करण हो चुके हैं। जान पड़ता है, उन पाँच किताबों से आपको ख़ासी आमदनी होती है।"

पन्नालाल ने सावधानी से कहा—"हाँ, होती तो कुछ कुछ ज़रूर है। पर बाज़ार आज-कल बहुत मद्दा है।

"पुस्तकें तो बहुत ही बढ़िया हैं। इनकी अच्छी बिक्री होनी चाहिए। बाबू देवकीनन्दन के पश्चात् ऐसी पुस्तकें और कोई भी नहीं लिख सका—कोई कितना ही विज्ञापन क्यों न दे। अच्छा, तो अब आज्ञा दीजिए।"

कालिकादीन के साथ साथ पन्नालाल बातें करते हुए नीचे उतरा और दरवाज़े तक आया। बिदा माँग कर कालिका दो क़दम आगे बढ़ा और रुक कर बोला—हाँ, अच्छी याद आ गई। लालाजी, इस समय रुपये की बड़ी ज़रूरत है। श्रावण की संख्या के लिए अभी तक काग़ज़ नहीं ख़रीदा गया। क्या आप विज्ञापन-छपाई के—"

पन्नालाल—चपरासी को भेज दीजिएगा। कल ही पेमेण्ट कर दूँगा।

"बहुत अच्छा। तो अब जाता हूँ—वन्दे मातरम्।" कालिकादीन चला गया। सड़क पर एक्का मिल गया था—कचहरी जा रहा था। उसी पर कालिकादीन बैठ गया।

कचहरी के पास जो वकीलों की लाइब्रेरी है उसमें कालिकादीन ने प्रवेश किया। वहाँ पहुँचते ही चार-पाँच नये वकीलों ने उसका स्वागत कर कहा—"कहिए सुकुलजी, आज इधर कहाँ? और तो सब कुशल-मङ्गल है।" इनमें से कोई तो आद्याशक्ति का लेखक है और कोई ग्राहक।

कालिकादीन—आप लोगों के ही पास आया हूँ। एक क़ानूनी सलाह तो दीजिए।

एक ख़ाली टेबिल ढूँढ़ कर सभी वहाँ जा बैठे। नाम-धाम छिपा कर कालिकादीन ने उन्हें सारा मामला समझा दिया और अन्त में पूछा—तो इसमें किताबों का कापी राईट भी बिक गया?

एक वकील ने कहा—सर्टेनली नाट्। कापी राईट कैसे बिका?

अन्यान्य वकील—नहीं, कापी राईट नहीं बिका।

कालिकादीन—किन्तु बिक्री तो हुई ज़रूर है! जब कापी राईट नहीं बिका तब फिर क्या बिका?

पहले वकील ने कहा—हाथ के लिखे हुए कुछ काग़ज़। कापी राईट इज़ क्वाइट एनअदर थिंग! मान लीजिए कि प्रेमचन्दजी के घर में उनके सेवा-सदन की मूल प्रति रक्खी है। अब कोई हाथ की लिखी हुई पुस्तकें संग्रह करने-वाला—जिसे कि अँगरेज़ी में मैनस्क्रिप्ट हण्टर कहते हैं—सेवा-सदन के उस मसविदे को ५००) रुपये में ख़रीद ले जाय तो क्या सेवा-सदन का कापी राईट भी उसका हो गया? वह कापी राईट की बिक्री न मानी जायगी। आपके इस केस में यदि कापी राईट भी बेचा गया होता तो सर्टी-फ़िकेट में यह बात स्पष्ट दर्ज कर दी जाती।"

कालिकादीन ने हँस कर कहा—देख लीजिए, आपकी यह राय ठीक है न?

इस पर एक वकील झट से लाइब्रेरी में से एक किताब उठा लाया। सबने मिल कर उसके एक अंश को पढ़ा और उस पर विचार करके कहा—नहीं साहब, कापी राईट नहीं बिका।

कालिकादीन बड़ी प्रसन्नता से आद्याशक्ति के दफ़्तर में लौट आया। किन्तु उसने पण्डित गङ्गाधरजी को कुछ भी न बताया।

[५]

आज इतवार है। सम्पादक महाशय के यहाँ कालिका-दीन का भी न्योता है। वह नहा धोकर आठ बजे के लग भग दफ़्तर पहुँच गया।

तिवाड़ीजी घर में न थे। कालिकादीन भीतर घर में तिवाड़िनजी के पास जा पहुँचा। उस साल जब यह आगरे की सैर करने गया था और तिवाड़ीजी के बड़े काम आया था तब से इस घर में कालिका की ख़ूब ख़ातिर होने लगी है। तब से अन्तःपुर में भी वह घर के लड़के की भाँति आता जाता है। कोई रोक-टोक नहीं है। उसने

तिवाड़िनजी से कहा—अम्मा, ललिताप्रसाद के सम्बन्ध में तुमसे चम्पा के दादा ने कुछ कहा था? अच्छा, जो ललिताप्रसाद के साथ चम्पा का ब्याह कर दिया जाय तो कैसा हो?

"हाँ, कहा तो था। लड़का पढ़ा-लिखा है, दो पैसे पैदा कर लेता है, देखने में भी अच्छा है। कहते थे, सम्बन्ध कराने का भार कालिका को सौंप दिया है।"

"हाँ, कहा तो है।"

"तो उससे कुछ बातचीत भी की है?"

"नहीं, अभी तो नहीं की। पहले एक और काम करना है अम्माँ।"

"क्या काम?"

"आज जब ललिताप्रसाद आवे तब ऐसा करना जिसमें वह एक बार चम्पा को देख ले। उसका शृङ्गार मत करना, जिसमें ललिताप्रसाद के मन में किसी प्रकार का सन्देह न हो। एक सादी साड़ी पहना देना, गहने अधिक न हों। ज़रा बाल अच्छे गूँध देना। बस। चेहरे पर पाउडर लगाना हो तो बहुत ही थोड़ा लगाना। समझ गई न? जब हम लोग भोजन करने बैठें तब चम्पा अपने पिता के पास बैठ कर पंखा झलती रहे। आज-कल के लड़के हैं, देखिए फिर जो हो। इसके बाद, मौक़ा पाकर मैं बातचीत करूँगा। जैसा देखूँगा, कर लूँगा।"

तिवाड़िनजी ने सब बातें मान लीं।

× × × ×

ललिताप्रसाद ने भोजन से छुट्टी पाकर तिवाड़िनजी के पैर छूकर कहा—चाची, तो अब जाता हूँ?

तिवाड़िनजी—अभी! इतनी जल्दी? ऐसी दोपहरी में न जाओ तो कुछ हर्ज है?—यहीं ज़रा सा विश्राम कर लो, बिस्तर बिछाये देती हूँ।

ललिताप्रसाद—चाची, आज कई काम हैं—आज तो मुझे अभी जाने दो। फिर कभी आऊँगा।

"तो आना ज़रूर। तुम्हारे बाप से और इनसे बड़ी घनी मित्रता थी। तुम्हारी माँ मुझे बहुत चाहती थीं। इससे तुम तो घर के ही लड़के हो। सो तुम अपना घर समझ कर आया करो। कुछ दिन यहीं क्यों न रहो। वहाँ मेस में तो तुम्हें खाने-पीने का कष्ट होता होगा!"

जब से माँ मरी है तब से ललिताप्रसाद से किसी ने इस प्रकार प्रेम से बातचीत नहीं की। अतएव, इस निमन्त्रण को आदर के साथ ग्रहण कर लेने की उसे इच्छा होने लगी। किन्तु सँभल कर उसने कहा—चाची, मेस में रहते रहते अब अभ्यास हो गया है। कुछ कष्ट नहीं जान पड़ता। इसके सिवा, यहाँ रहूँ तो यहाँ से मेरा दफ़्तर भी दूर पड़ेगा। हाँ, बीच-बीच में आता-जाता रहूँगा। सबसे मिल जाया करूँगा।

"फिर किस दिन आओगे?"

ललिताप्रसाद ने ज़रा सोच कर कहा—चाची, परसों दोपहर के बाद आऊँगा।

ललिताप्रसाद कोठे से उतर कर नीचे आया। दफ़्तर में कालिकादीन प्रूफ़-संशोधन कर रहा था। ललिताप्रसाद को देख कर उसने पूछा—अभी से चल दिये?

"जी हाँ। तो क्या आपकी श्रावण की संख्या का मेटर अभी से तैयार होगया?"

"जी हाँ, दूसरे फ़ार्म का आर्डर-प्रूफ़ आया है। पहले फ़ार्म में आपकी एक कविता छपी है।"

इस बात को सुन कर ललिताप्रसाद ने कहा—सच-मुच? अच्छा, कौन सी कविता?

"श्रावण का मेघ—" कह कर कालिकादीन ने दराज खोली और छपा हुआ पहला फ़ार्म निकाला। ललिताप्रसाद के हाथ में देकर कहा—देख न लीजिए।

उसने देखा कि पहले फ़ार्म के पहले ही पृष्ठ पर उसका "श्रावण का मेघ" गरज रहा है। यह देख कर उसका मन-मयूर नाचने लगा। इससे पहले अपनी रचना को छपी हुई देखने का सौभाग्य ललिताप्रसाद को प्राप्त न हुआ था। ध्यान देकर वह अपनी कविता पढ़ने लगा। मुँह छिपा कर कालिकादीन ने ज़रा सा मुसकुरा दिया। क्योंकि इस कविता का प्रकाशित हो जाना कालिका का ही कौशल है। तिवाड़ीजी ने तो कविता को 'रद्दी' बताया था, छापने की इच्छा ही न की थी—कालिकादीन ने बहुत समझा-बुझा कर उनको, छापने के लिए, राज़ी किया था।

कविता पढ़ करके ललिताप्रसाद ने कहा—इसे तो आपने बिलकुल ही पहले सफ़े पर छापा है!

कालिकादीन—तिवाड़ीजी को जो पसन्द यह इतनी

आई ! कहने लगे—ऐसी अच्छी कविताएँ यहाँ बहुत ही कम आती हैं; इसे पहले पृष्ठ पर ही छापो।' एक कविता तो आप और भी दे गये हैं न ? बहुत करके अन्त में, किसी पृष्ठ पर, वह भी छाप दी जायगी।

ये बातें सुन कर ललिताप्रसाद बिलकुल मुग्ध होगया। उसने कहा—तिवाड़ीजी को वह कविता कैसी पसन्द आई—आपसे कुछ कहते थे ?

"जी नहीं। अभी तक तो कुछ नहीं कहा। हाँ, एक बात ज़रूर कहते थे, पर वह आपको बतलाई जाय अथवा नहीं—यह सोच रहा हूँ।"—यह कह कर कालिकादीन विनोद-पूर्ण दृष्टि से ललिताप्रसाद की ओर देखने लगा। अन्त में बोला—"अब कहे देता हूँ। आपकी कविता पढ़ कर तिवाड़ीजी ने मुझसे कहा 'सुना जी, इस कविता में भाव है, रस है।—यह लड़का इतने दिन तक रहा कहाँ ? मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि यह लिखता रहा तो किसी दिन बड़ा ही उत्तम कवि हो जायगा। भाग्य की बात है कि इसने किसी और पत्र से सम्बन्ध नहीं जोड़ा, हमारे ही यहाँ चला आया है ! सावधान रहना इस युवा-कवि को हाथ से न जाने देना। तुम उसके स्थान पर जाना-आना शुरू कर दो—उससे खूब हेल मेल कर लो—उससे अभी से वचन ले लो जिसमें किसी और पत्र में कविताएँ छपने को न भेजे।— सुन लिया साहब, आपको मैंने घर की बातें बतला दीं—मैं तो सीधा सादा आदमी हूँ !"—यह कह कर कालिकादीन हँसने लगा।

ललिताप्रसाद ने आनन्द में मत्त होकर कहा—यदि आपको मेरी कविताएँ पसन्द आवेंगी, और आप उन्हें स्थान देने की कृपा करेंगे तो मैं किसी और पत्र की शरण क्यों लूँगा ? आप मेरी ओर से बेफ़िक्र रहें।

ललिताप्रसाद ने जो और पत्रों में कविता न भेजने का वचन दिया था, इसका एक कारण भी था। इससे प्रथम अन्यान्य पत्रों में भेजी गई इनकी कविताएँ धन्यवादपूर्वक वापस आगई थीं। किन्तु इस बात को प्रकट कर देने की कोई आवश्यकता उसे प्रतीत न हुई। तिवाड़ीजी की सुदुर्लभ काव्य-विचार-शक्ति देख उसे बड़ा अचरज हुआ; और उस असाधारण गुण-सम्पन्न पुरुष के प्रति ललिताप्रसाद का मन, आत्यन्तिकी भक्ति से, बिलकुल अवनत होगया। उसमें प्रतिभा है, और उसकी रचना सचमुच उच्च श्रेणी की होती है—इस विषय में तिवाड़ीजी के साथ उसका रत्ती भर भी मतभेद न था।

[६]

कालिकादीन ललिताप्रसाद के यहाँ प्रायः जाने आने लगा है। और वह भी न्योता पाकर तिवाड़ीजी के घर आने भोजन आदि करने, लड़कों बच्चों और तिवाड़िन जी के साथ तथा चम्पा देवी से बातचीत और गप शप करने लगा है। छोटे बच्चों के साथ वह खेलता भी है। घर जाते समय, नीचे दफ़्तर में, उसे रुक जाना पड़ता है—कालिकादीन के पास घंटा आध घंटा लग जाता है।

ललिताप्रसाद की कविता की लगातार कालिकादीन ने प्रशंसा करके उसे अपनी मुट्ठी में कर लिया। दोनों की उम्र में भी अधिक अन्तर नहीं, अतएव दोनों की मित्रता हो जाने में बहुत दिन नहीं लगे। कालिकादीन, बहुत ही जल्द, 'कालिका भाई' होगये—और इसके बाद रह गये सिर्फ़ कालिका।

एक दिन शाम के चार बजे अज़मतगढ़ पैलेस के बाग़ में घूमते घूमते ललिताप्रसाद ने कहा—भाई कालिका, तुमने इतना तो लिखा-पढ़ा है, क्या ४०) मासिक की सहकारी सम्पादकी ज़िन्दगी भर करते रहोगे ? तुम्हारे परिवार में कुछ कम आमदनी नहीं है ! कोई और जगह क्यों नहीं ढूँढ़ते ? ४०) में तुम्हारी गुज़र हो भी जाती है ?

"हो क्या जाती है, किसी तरह चलाता हूँ। कुछ तो पैतृक धन है, उसका सूद मिल जाता है। कुछ मेरी लिखी पुस्तकें हैं, उनसे भी आमदनी हो जाती है। छोटा भाई नौकर है, वह भी कुछ देता है। इस तरह मिला-जुला कर किसी तरह गुज़र करता हूँ। मेरे लिए और जगह रक्खी कहाँ है ? हाँ एक व्यवसाय करने का इरादा है—देखो क्या होता है ?"

"कैसा व्यवसाय ?"

"पुस्तकों की दूकान खोलूँगा। खूब मुनाफ़ा होता है, इस रोज़गार में। मेरी बनाई किताबें तो हई हैं। उपन्यास-लेखक पण्डित गङ्गानारायण भी मेरी मुट्ठी में हैं, उनकी पुस्तकें छपाऊँगा और बेचूँगा। 'आद्याशक्ति' में

अच्छी समालोचना हो सकेगी। विज्ञापन-छपाई भी आधी ही लगेगी—तिवाड़ीजी ने भरोसा दिया है।"

"तो कब तक दूकान खोलने का विचार है?"

"बहुत जल्द। दशहरे से पहले ही। हो सकेगा तो श्रावण में ही खोल दूँगा। चौक में एक दूकान भी लेने को हूँ।"

"दूकान पर बैठेगा कौन?"

"भाई को बिठालूँगा। रेल के दफ़्र में काम करता है। २५) मिलते हैं और सो भी जगह पक्की नहीं। नौकरी छुड़वा कर उसी को दूकान पर बिठालूँगा। और जब फ़ुरसत मिल जाया करेगी तब मैं भी बैठूँगा। जो कहीं तुम्हारे पिता की पुस्तकें इस समय हाथ लग जातीं तो क्या कहना था! बड़ा सुभीता होता।"

दो दिन निकल जाने पर कालिका ने कहा—"भाई ललिताप्रसाद, मैंने एक हिकमत सोची है।"

"क्या?"

"किन्तु बहुत ही गुप्त रखना। तिवाड़ीजी, तिवाड़िनजी या चम्पा से बातचीत करते समय कहीं प्रकट न कर बैठना। वचन दो तो कहूँ।"

"जब तुम इस तरह मना कर रहे हो तब भला मैं क्यों कहने लगा? तुम बेखटके होकर कहो। बतलाओ, क्या बात है?"

कालिका ने बहुत ही धीरे धीरे कहा—पन्ना अगरवाले ने तुम्हारे पिता की पुस्तकें, एक तरह, धोखा देकर ही ले ली हैं। उसके साथ 'शठे शाठ्य' क्यों न किया जावे?

"सो किस तरह?"

(असमाप्त)

ललीप्रसाद पाण्डेय

ज्ञान और भक्ति।

[१]

जहाँ नहीं कोई उच्छ्वास,
विमल निरन्तर नीलाकाश,
बन कर, नहीं अनन्त कहाऊँ, प्रभु के निकट न प्रभु बन जाऊँ।
हे मन! छूटे भव-भय-बन्धन,
ऐसा गीत न गाओ!

[२]

मुझे मिले तू प्राणाधार,
यही एक जीवन का सार,
किन्तु ज्ञान की चाह नहीं है, वैभव की परवाह नहीं है।
मुझे न अपने पास बुलाओ,
निकट आप ही आओ!

[३]

मुक्ति? सिर्फ़ है स्वार्थ-विधान,
उसमें नहीं विश्व-कल्याण,
इसी तुच्छता में रहने दे, भाव-पयोनिधि में बहने दे।
दयानिधान! भक्तमनरंजन,
निज करुणा दरसाओ!

[४]

मुझे न दीजे निश्चल वास,
मुझे न कर तू नीलाकाश,
केवल छोटा मेघ बनाओ, इच्छा-मारुत मध्य उड़ाओ।
सूखे खेत जहाँ जब देखो,
गरज-गरज बरसाओ!

नयन

विविध विषय।

१—वैदिक भाष्यों पर लोकमान्य की सम्मति।
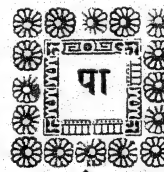
पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की शैली का अनुकरण करके एतद्देशीय जिन विद्वानों ने वैदिक साहित्य का मन्थन किया है उनमें लोकमान्य तिलक का नाम आदर के साथ लिया जाता है। वेदों में आपकी कैसी गति थी, वह आपके 'ओरियन' और 'आर्कटिक होम आव् दि आर्यन्स' नाम के ग्रन्थों से भली भाँति प्रकट हो जाती है। विलायत से लौटते समय मार्ग में आपसे और मिस्टर पी० पी० सुब्रह्मण्य शास्त्री, बी० ए० (आक्सफ़र्ड) से वेदों के सम्बन्ध में वार्तालाप हुआ।

था। उसमें आपने वेदों के भाष्यों पर अपनी सम्मति प्रकट की थी। उसका सारांश नीचे दिया जाता है:—

ऋग्वेद की भाषा की जाँच-पड़ताल पूर्ण रीति से होनी चाहिए। उसकी भाषा में भिन्न भिन्न दो या तीन रूप स्पष्ट देख पड़ते हैं। उसमें जो अनेक व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग हमें मिलते हैं उसका एक-मात्र कारण यही भाषा-विभिन्नता है। प्रोफ़ेसर मैकडानल का यह मत है कि ऋग्वेद में एक ही प्रकार की भाषा है और उसमें जो भिन्नता दृष्टि-गोचर होती है वह विभिन्न आचार्यों के कारण है। पर उनका यह मत ठीक नहीं है।

कवित्व-भाव की स्फूर्ति से ऋचाओं की रचना हुई। कदाचित् धर्मोत्सवों या यज्ञों की समाप्ति के बाद उनकी रचना होती रही हो। कर्म-काण्ड से ऋचाओं का सम्बन्ध पीछे से हुआ है।

सायण-भाष्य का महत्त्व इस बात से घट गया है कि उसके आचार्य ने ऋचाओं की रचना का कारण धार्मिक कृत्यों को माना है। उसने वैदिक कर्मकाण्ड का लक्ष्य रख कर ऋचाओं के अर्थ किये हैं। उसके भाष्य भर में 'यद्वा' का प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि उसके समय में भी वैदिक मन्त्रों के अर्थ में विरोध था। सम्भव है कि सायण ने उन भाष्यकारों के अर्थ दिये हों जिनके भाष्य अब उपलब्ध नहीं। यह किंवदन्ती भी प्रसिद्ध है कि रावण ने वेद पर भाष्य लिखा था। दूसरी बात यह है कि सायण-भाष्य के संकलन में अनेक पण्डितों का सहयोग मालूम पड़ता है। भिन्न भिन्न पण्डितों की भिन्न भिन्न राय होने के कारण वैदिक मन्त्रों के अर्थों में विभिन्नता होनी ही चाहिए। फिर वैदिक शब्द भी ऐसे हैं कि उनके कई अर्थ होते हैं।

ऋग्वेद का कर्म-काण्ड में उपयोग करना एक साधारण बात है। जब ऋग्वेद की रचना समाप्त हो गई और उसे धार्मिक रूप प्राप्त हो गया तब सभी लोग उसका प्रमाण उद्धृत करने लगे जैसा कि इस समय भी लोग करते हैं। क्षणिक-सन्धि का उत्सव करने के सम्बन्ध में हम ऋग्वेद की एक ऋचा पढ़ा करते हैं। परन्तु इस ऋचा की रचना अतीत काल में प्रायः विभिन्न परिस्थिति में, किसी दूसरे उद्देश से हुई थी। यदि किसी भाष्यकार को किसी ऋचा में अपने उद्देश-सिद्धि की ज़रा भी गुञ्जाइश देख पड़ी तो उसने तुरन्त उसका अर्थ अपने अनुकूल कर लिया। उदाहरण के लिए 'पञ्चगव्य' को लीजिए। 'पञ्चगव्य' में दधि की आवश्यकता होती है, परन्तु 'दधि' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद भर में नहीं मिलता। हाँ, 'दधिक्रविन्नो' का प्रयोग है, बस लोगों ने इसे 'दधि' के अर्थ में ले लिया। अतएव ऋचाओं की रचना के पीछे ही ऋग्वेद का उपयोग कर्म-काण्ड में किया गया है।

अस्तु, पण्डितों को इस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए जिससे उनमें आलोचनात्मक विवेचना-शक्ति का विकास हो। ऋचाओं का वास्तविक अर्थ क्या है, इसके ज्ञान से वेदों की पवित्रता घटती नहीं। आर्यसमाज जैसी आधुनिक संस्था तक स्वतन्त्र रीति से वेदों का अर्थ जानने को तैयार नहीं होती। वह केवल स्वामी दयानन्द के भाष्य का ही उल्लेख करके सन्तुष्ट हो जाती है। अतएव अभी वेदों में अनुसन्धान करने के लिए जगह है। यह भी विचारणीय है कि जिस स्वर में हम वैदिक ऋचाओं को पढ़ते हैं क्या वही १०,००० वर्ष पूर्व प्रचलित था?

२—भारतीय साहित्य की गति

भारतीय साहित्य की सृष्टि हिन्दू-मस्तिष्क द्वारा हुई है। इसलिए भारतीय साहित्य की विशेषता जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी प्राचीन भारत की संस्थाओं और विचार-धाराओं के विषय में भी ज्ञान प्राप्त करें। वर्तमान भारत के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का मूल अतीत काल में है। भारतवर्ष का इतिहास अभी तक अपूर्ण ही है। परन्तु संस्कृत-साहित्य में उसके मानसिक विकास का इतिहास विद्यमान है। संस्कृत-साहित्य जितना विस्तृत है उतना ही व्यापक है। मनुष्यों के विचार और कल्पना का क्षेत्र जहाँ तक जा सकता है वह उसके अन्तर्गत है।

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। बाह्य जगत् के साथ मनुष्यों का सम्पर्क होने से उनके हृदय में हर्ष और विस्मय, आधार और आतङ्क की जो भावनायें उद्भूत होती हैं वे उनमें विद्यमान हैं। भावों की विशदता और भाषा की शक्ति में वैदिक मन्त्रों के साथ संसार के किसी भी काव्य की तुलना नहीं हो सकती। उनमें प्रकृति का आवरण दूर कर अन्तिम सत्य का रूप जानने की चेष्टा की गई है। हिन्दू

की दृष्टि में वेद उसके सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का अनन्त स्रोत हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वेदों ने ही हिन्दू-साहित्य और विज्ञान की गति निर्दिष्ट कर दी। वेदों के कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड से हिन्दू-धर्मशास्त्र और वेदान्त-शास्त्र की सृष्टि हुई।

शास्त्रों का कथन है कि जिन नियमों के द्वारा हमारे बाह्य और अन्तर्जीवन का सङ्गठन होता है उनका न आदि है और न अन्त। वे स्वतः प्रसूत हैं, अतएव उन्हें शिरोधार्य करना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। सदाचार और कर्तव्य-विधि में कोई भेद नहीं है। पवित्र-जीवन उसी का समझा जाता है जो अपने समाज-निर्दिष्ट सभी कर्मों को करता है। यही कारण है कि आज तक हिन्दुओं में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक प्राबल्य है। वेदान्त-शास्त्र की शिक्षा इसके बिलकुल विपरीत है। उसने सामाजिक जीवन की उपेक्षा करके प्रत्येक व्यक्ति के आत्मिक विकास पर ज़ोर दिया है।

क्रमशः वैदिक साहित्य जन-साधारण की सम्पत्ति न होकर कुछ ही लोगों की सम्पत्ति हो गया। भारतवर्ष के सर्वसाधारण के मानसिक विकास में रामायण और महाभारत ने ख़ूब काम किया। उनका प्रभाव आज तक अक्षुण्ण है। इन्हीं दो महाकाव्यों के आधार पर संस्कृत का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है। संस्कृत के जितने कवि और नाटककार हुए हैं सभी ने रामायण और महाभारत का आश्रय-ग्रहण किया है।

नवीन संस्कृत-साहित्य में सौन्दर्य है, पर प्राण नहीं। हम उस पर मुग्ध हो जावेंगे, पर उसे हम अपने जीवन की सहचरी नहीं बनावेंगे। उसका आकार है, परन्तु गति नहीं। कृत्रिमता है, सजीवता नहीं।

संस्कृत-साहित्य के ह्रास-काल में मुसलमानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। इससे संस्कृत-साहित्य की उन्नति में बड़ी बाधा पहुँची। दो सौ साल के बाद वर्तमान भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण होने लगा। सर्व-साधारण की भाषा में होने के कारण यह साहित्य ख़ूब लोक-प्रिय हुआ। यह साहित्य तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन का परिणाम था। यह आन्दोलन ज्ञान की अपेक्षा भक्ति पर ज़ोर देता था। भक्ति-भाव के उन्मेष से कवियों ने जो रचनायें कीं वे सभी सरस, सरल और हृदयस्पर्शी थीं। अतएव मुसलमानों के आगमन का यह सुफल हुआ कि हिन्दू-साहित्य में शुष्क तर्कवाद का स्थान भक्ति-वाद ने ले लिया।

अँगरेज़ों के भारत-विजय करने पर हिन्दू-साहित्य ने दूसरा रूप धारण किया। अँगरेज़ी भाषा और साहित्य का प्रचार बढ़ने पर भारतीयों ने उसमें नवीन ज्ञानालोक का दर्शन किया। वह था पाश्चात्य विज्ञान। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में भारतीय साहित्य में नव्य युग उपस्थित हुआ। भारतीय भाषाओं में अँगरेज़ी-साहित्य के ग्रन्थ अनुवादित होने लगे। पचास साल में पाठ्य पुस्तकों और अनुवाद-ग्रन्थों की एक विशाल राशि खड़ी होगई। पर स्थायी साहित्य की दृष्टि से एक भी ग्रन्थ न निकला।

आधुनिक साहित्य का अभी शैशव-काल है। बङ्गाल में मधुसूदन दत्त और रवीन्द्रनाथ, उत्तर-भारत में स्वामी दयानन्द और हरिश्चन्द्र, और दक्षिण में आपटे इसी साहित्य के पुरस्कर्ता हैं। इस साहित्य की विशेषता यह है कि इसमें भारतीय आध्यात्मिकवाद के साथ पाश्चात्य-विज्ञान का मेल हुआ है। रवीन्द्रनाथ की कृति में यह विशेषता साफ़ लक्षित होती है। पाश्चात्य विद्वान् उनके ग्रन्थों में पाश्चात्य-विचार और भावनायें तो देख लेते हैं, परन्तु वे यह नहीं समझ सकते कि रवीन्द्रनाथ की धार्मिक भावना वेदान्त का परिणाम है और उनकी रचनाओं में वैष्णव-कविता की आत्मा वर्तमान है। भारतवर्ष के आधुनिक साहित्य से सिर्फ़ यही नहीं विदित होता कि पूर्व और पश्चिम का सम्मिलन हुआ है, परन्तु यह भी मालूम होता है कि दोनों ने एक दूसरे के तत्त्व हृदयङ्गम कर लिये हैं।

पूर्वोक्त बातें इँगलेंड के एक सामयिक पत्र में प्रकाशित एक लेख से ली गई हैं।

३—जापान का गार्हस्थ जीवन।

पाश्चात्य सभ्यता से सम्पर्क रख कर भी जापान अपनी प्राचीन प्रथाओं को छोड़ना नहीं चाहता। वहाँ आज-कल भी सम्मिलित कौटुम्बिक प्रथा का प्रचार है। जापान के निवासी एक-जाति के लोग हैं। उनमें भेद-भाव नहीं है। सब परस्पर भाई भाई हैं। वे लोग अपने राजा को पिता मानते हैं। जापानियों में सम्मिलित कुटुम्ब-प्रणाली का चलन है। अतएव एक परिवार के लोगों में छोटाई-बड़ाई के लिहाज़ से एक दूसरे के व्यवहार की भी व्यवस्था

है। छोटे का अपने बड़ों से अथवा बड़े का अपने छोटों से कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका उन लोगों में ख़ासा प्रबन्ध है। इस प्रकार की प्रणाली के अस्तित्व का मुख्य कारण वहाँ की पितृ-पूजा है। अतएव प्रत्येक घर में सन्तान का होना लाज़िमी है जिसमें 'लुप्तपिण्डोदकक्रिया' न होने पावे। यदि किसी जापानी परिवार में सन्तान का अभाव हुआ तो गृह-स्वामी को दत्तक पुत्र लेना पड़ता है। इस तरह एक जापानी कुटुम्ब में एक पुरुष, एक स्त्री और उनकी सन्तान का होना आवश्यक है।

जापानी कौटुम्बिक प्रथा के अनुसार परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को अपने परिवार की भलाई के लिए सदा प्रस्तुत रहना पड़ता है। वहाँ किसी भी व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की चिन्ता नहीं रहती। वे सबके सब अपने को परिवार का अङ्ग समझते हैं और उसके सुख-दुख में सदा शामिल रहते हैं। पुराने समय में तो यहाँ तक चलन था कि यदि किसी परिवार का कोई व्यक्ति किसी तरह का अपराध करे तो सारा कुटुम्ब अपराधी समझा जाता था। एक व्यक्ति के अपराध के कारण सारे परिवार को दण्ड भोगना पड़ता था। प्रत्येक कुटुम्ब में परस्पर ऐसी भारी प्रीति रहती थी कि यदि कोई उनमें से किसी को मार-पीट दे तो उसके घरवाले उसका पक्ष लेते थे। यदि किसी परिवार का कोई आदमी मार डाला जाय तो उसके घरवाले ख़ूनी के घरवालों को अपना घोर शत्रु समझते थे। उनमें 'हड़ौती' हो जाती थी और वह पीढ़ियों तक बनी रहती थी।

जापानी कुटुम्ब में माता-पिता का दर्जा पूज्य है। अपने माता-पिता का ऋण अपनी देह तक बेच कर अदा करना जापानी पुत्र एक गौरव-पूर्ण काम समझता है। माता-पिता के लिए तन-मन-धन सर्वस्व उत्सर्ग कर देना जापान में पुत्र का एक-मात्र कर्तव्य है। युवा होने पर जापानी पुत्र अपने माता-पिता की जैसी सेवा करता है उसके लिए वह सर्वथा प्रशंसा का पात्र है। मातृभक्त भव, पितृभक्त भव, आचार्यसेवकश्च भव, इस वैदिक वाणी का अक्षरशः पालन करते हुए 'गुरु गुड़ ही रहा, चेला शकर बन गया' इस लोकोक्ति को जापानी पुत्र स्पष्ट रीति से चरितार्थ कर रहे हैं। जब तक पुत्र घर सँभालने के योग्य नहीं होता तब तक घर का सारा भार पिता ही पर रहता है। परन्तु जब पुत्र समर्थ हो जाता है तब घर की सारी ज़िम्मेदारी उसी पर आ जाती है और पिता सारे झञ्झटों से छुट्टी लेकर एकान्त में भगवद्भजन करता है। यह प्रथा सारे देश में इतनी प्रबल है कि संसार-व्याप्त पाश्चात्य सभ्यता उससे टक्कर नहीं ले सकी। उसका सिक्का कम से कम इस सम्बन्ध में वहाँ न जम सका।

जब जापानी यह समझता है कि उसके किसी भी बुरे कार्य से उसके घरवालों पर सङ्कट आ सकता है और वह स्वयं दण्ड का भागी हो सकता है तब वह सदा सावधान रहता है। वह ऐसा कोई काम ही नहीं करता जिससे उसके घरवालों पर उसके कारण विपत्ति पड़े। यही नहीं, वह यह भी मानता है कि उसे अपने दुष्कृत्यों के लिए अपने पितरों के समक्ष उत्तर देने पड़ेंगे। केवल सांसारिक लाञ्छन ही का भय उसे नहीं रहता। परलोक के परिणाम की ओर भी उसका ध्यान रहता है। यद्यपि आधुनिक जापानी क़ानून में यह परिवर्तन कर दिया गया है कि किसी एक आदमी के अपराध करने से सारा परिवार अपराधी नहीं होगा, तो भी लोगों की पुरानी धारणा अभी वैसी ही बनी है।

इस प्रकार की प्रेममयी कौटुम्बिक प्रथा के प्रचलन से जापान में भिखमङ्गों का नाम तक नहीं है। हाँ कुष्टरोगी अलबत्ता इधर-उधर भीख माँगते नज़र पड़ते हैं। पर यह बात नहीं है कि उनके सम्बन्धी उनके उत्तर-दायित्व से इन्कार करें।

जापानियों की इस जातीय प्रथा को पाश्चात्य लोग उनका जातीय गुण समझते हैं और उनके इस प्रकार के व्यवहार की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। यदि अच्छी तरह से विचार करके देखा जाय तो यही सिद्ध होगा कि जापान को यह विभूति भारत से प्राप्त हुई है और जैसे यहाँ से बौद्ध-धर्म का निष्कासन आ वैसे ही इस आदरणीय प्रथा का विनाश भी धीरे धीरे यहाँ से होता जाता है।

४—हिन्दी में जीवन-चरित्र।

रस्किन ने एक जगह लिखा है कि पुस्तकों की दो श्रेणियाँ की जा सकती हैं। पहली श्रेणी में उन पुस्तकों की गणना होती है जो सामयिक कही जा सकती हैं। दूसरी श्रेणी की पुस्तकें स्थायी साहित्य में रक्खी जाती

हैं। पुस्तकों के इस विभाग में अच्छी और बुरी पुस्तकों का ख़याल नहीं रक्खा गया है। स्थायी पुस्तकों में कितनी ही पुस्तकें ख़राब होती हैं और सामयिक पुस्तकों में भी कई अच्छी होती हैं। अब विचारणीय यह है कि इस श्रेणि-विभाग में जीवन-चरित्र का स्थान कहाँ है। कुछ लोग कहेंगे कि जीवन-चरित्र की गणना स्थायी साहित्य में होनी चाहिए, क्योंकि महापुरुषों के जीवन सभी समय के लिए हमारे पथ-प्रदर्शक होते हैं। परन्तु जीवन-चरित्र के लेखक सभी समय इस बात का ख़याल नहीं रखते हैं। कुछ लोग तो घड़ी आध घड़ी लोगों का मनोरञ्जन करने के लिए ही महात्माओं का जीवन-चरित्र लिख डालते हैं। प्लूटार्क का लिखा हुआ जीवन-चरित्र बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। यह सचमुच संसार की स्थायी सम्पत्ति है। लोग इसे वर्षों तक पढ़ते रहेंगे। पर कितने ही जीवन-चरित्र ऐसे निकलते हैं, जिनकी बिक्री छः महीने से अधिक नहीं रहती। बात यह है कि जितना विलक्षण महापुरुषों का जीवन रहता है उतना विलक्षण उनका जीवन-चरित्र नहीं रहता। यही कारण है कि संसार में उनका नाम अक्षय रहने पर भी उनके जीवन-चरित्र शीघ्र ही काल के गर्भ में लुप्त हो जाते है। अँगरेज़ी इतिहास में वेलिंगटन का नाम अमर है, पर अँगरेज़ी साहित्य में वेलिंगटन का एक भी स्थायी जीवन-चरित्र नहीं निकला। इसके विपरीत स्टर्लिङ्ग का नाम कोई जाने अथवा न जाने, पर कारलाइल का लिखा हुआ स्टर्लिङ्ग का जीवन-चरित्र अक्षय है।

आज-कल हिन्दी में अस्थायी जीवन-चरित्रों की ख़ूब धूम है। लोकमान्य का देहावसान होने पर कई पुस्तक-प्रकाशकों ने लोकमान्य के जीवन-चरित्र प्रकाशित किये। कोई पचास-साठ पृष्ठों में ख़तम होगया था और कोई सौ सवा सौ पेजों में। छपाई, सफ़ाई सभी की अच्छी थी और प्रायः सभी चित्रों से अलङ्कृत थे। किसी का दाम १) रुपया तो किसी का १।।) रुपया। हिन्दी-भाषा-भाषियों को लोक-मान्य के विषय में कुछ बातें जानने की स्वाभाविक उत्सुकता थी। उनकी यह उत्सुकता इन जीवन-चरित्रों से पूरी हो गई। लेखकों का परिश्रम सफल होगया और पुस्तक-प्रकाशकों ने काफ़ी टके भी वसूल कर लिये। पर लोकमान्य का एक भी ऐसा जीवन-चरित्र नहीं निकला जिसे हम हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति कह सकें।

अभी हाल में कलकत्ते के एक पुस्तक-प्रकाशक ने महात्मा गान्धी का जीवन-चरित्र प्रकाशित किया। तीस-चालीस पृष्ठों में महात्माजी के विषय में इधर-उधर की कुछ बातें अच्छी भाषा में लिख दी गई हैं। ऐसी पुस्तकों से न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न जीवन-चरित्र पढ़ने का उद्देश ही पूर्ण होता है। जो जीवन-चरित्र लिखने का सामर्थ्य रखते हैं उन्हें चाहिए कि वे हिन्दी में एक ऐसा जीवन-चरित्र लिख दें जो बँगला के ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माईकेल मधुसूदन दत्त और बङ्किमचन्द्र के जीवन-चरित्रों के कम से कम समकक्ष तो हो।

५—उर्दू-साहित्य की श्री-वृद्धि।

किसी भी भाषा के साहित्य को पुष्ट करने के दो उपाय हैं। एक तो उसमें मौलिक ग्रन्थों की रचना की जाय, दूसरा अन्य भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का अनुवाद किया जाय। अनुवाद उपेक्षणीय नहीं है। इनसे साहित्य में नवीन भावों और विचारों का ख़ूब प्रचार होता है। हिन्दी में आज-कल अनुवाद-ग्रन्थों की धूम है। तो भी उर्दू में जितने अच्छे अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हो चुके हैं उतने हिन्दी में नहीं हैं। माडर्न रिव्यू के एक लेख में उर्दू-साहित्य के विषय में लिखा गया है कि उसमें संसार के प्रायः सभी श्रेष्ठ कवियों की रचनायें अनुवादित होगई हैं। उसमें इलियड, रामायण, महाभारत, अभिज्ञान-शाकुन्तल, मेघदूत, पैराडाइज़ लास्ट, गीताञ्जलि, चित्रा आदि ग्रन्थों के अनुवाद मौजूद हैं। शेक्सपियर के कितने ही नाटकों के अनुवाद होगये हैं और वे खेले भी जाते हैं। शेरिडन के भी कुछ नाटक उर्दू में विद्यमान हैं। इनके सिवा सोफोक्लिस, सैफो, दान्ते, गेटी, लांगफेलो, साउदी, शेली, बायरन, वर्डस्वर्थ और टेनीसन की भी कवितायें अनुवादित होगई हैं। उपन्यासों में मेरी कुरेली, स्काट और कननडायल के ग्रन्थों का अच्छा प्रचार है। बङ्किम बाबू के सभी ग्रन्थों के अनुवाद हो चुके हैं। स्टिवेन्सन,, हैगर्ड अस्करवाइल्ड, बर्नार्डशा और एच० जी वेल्स के उपन्यासों के भी अनुवाद हो रहे हैं। गद्य-लेखकों में मेकाले, कार्लाइल, स्माइल्स और लबक के ग्रन्थ अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। दार्शनिक विषयों में प्लेटो, अरिस्टाटिल, सेनेका, बर्कले, लिवान के ग्रन्थों के सिवा बेकन, ह्यूम, कैन्ट, मिल, स्पेन्सर, जेम्स और स्टाउट की भी कुछ रचनायें

अनुवादित होगई हैं। इतिहास और जीवन-चरित्र में प्लूटार्क का प्रसिद्ध ग्रन्थ अनुवादित हो गया है। शलिन का 'ग्रीस का इतिहास', बरी का 'ग्रीस का इतिहास,' 'योरप का इतिहास', डोज़ी का 'इस्लामिक स्पेन', बालसे का 'रूस', नेपोलियन का जीवन-चरित्र, एल्फ़न्स्टिन का इतिहास, मालकन का 'फ़ारस का इतिहास', ये सब ग्रन्थ हैं। राज-नीति और अर्थ-शास्त्र में अरिस्टाटिल, मिल, वेल, मारले, सील, मारिसन्, मारशल आदि नामी लेखकों के अच्छे अच्छे ग्रन्थ निकल चुके हैं। शिक्षा-विज्ञान में स्पेन्सर, वेन, फ्रौवेल, पेस्टालाजी, मान्टेसरी आदि प्रसिद्ध लेखकों की रचनाओं से उर्दू-भाषा-भाषी अनभिज्ञ नहीं हैं। विज्ञान में डार्विन, हक्सले, हेकल, केलविन आदि वैज्ञानिकों के विषय में कुछ न कुछ लिखा ही गया है। अतएव यह कहना चाहिए कि उर्दू-साहित्य की अच्छी उन्नति हो रही है।

६—जापान के नार्मल स्कूल।

सन् १८७३ से जापान में सर्व-साधारण की शिक्षा के लिए स्कूलों का सङ्गठन होने लगा। उसके पहले वहाँ उच्च श्रेणी के कुछ ही लोगों के लिए शिक्षा का सुभीता था। स्कूलों की स्थापना के बाद शिक्षक तैयार करने के लिए नार्मल स्कूलों की ज़रूरत पड़ी। तब टोकियो में एक स्कूल खोला गया और वहाँ अमरीका का एक शिक्षक नियुक्त हुआ। उसकी सहायता के लिए एक जापानी भाषा जानने-वाला भी रक्खा गया जिससे जापानियों को अपनी मातृ-भाषा में ही शिक्षा-विज्ञान का तत्त्व समझने का सुभीता हो गया। इसके दो ही साल के बाद वहाँ ४६ नार्मल स्कूल स्थापित हो गये। इन में से दो ही गवर्नमेंट की संरक्षकता में आये। इन दोनों स्कूलों में सिर्फ़ सेकंडरी शिक्षकों को शिक्षा दी जाती थी। ग्रामर-स्कूलों के शिक्षकों को शिक्षा-विज्ञान सिखलाने का काम शहर के दूसरे स्कूलों को सौंपा गया।

आज-कल जापान में चार बड़े नार्मल स्कूल हैं और ९३ ग्रामर-स्कूल। इनमें से ४८ स्कूलों में पुरुषों की शिक्षा का प्रबन्ध है और ३६ में स्त्रियों की। ९ स्कूल ऐसे है जहाँ स्त्री और पुरुष दोनों शिक्षा पा सकते हैं। इन स्कूलों से प्रति वर्ष ६,००० शिक्षक तैयार होकर निकलते हैं। जापान की संख्या में प्रति वर्ष ६,००,००० की वृद्धि होती है। अतएव ६,००० शिक्षक भी पर्याप्त नहीं हैं। इसलिए ३,००० प्राइमरी शिक्षक भी तैयार किये जाते हैं।

नार्मल स्कूलों में दो कक्षायें होती हैं, 'अ' और 'ब'। 'अ' कक्षा में मिडिल स्कूलों का पाठ्य-क्रम रहता है। विदेशी भाषाओं के लिए कम समय रक्खा गया है और शिक्षा-विज्ञान के लिए ज़ियादह। तर्कशास्त्र, शिक्षा-विज्ञान, मनोविज्ञान और शिक्षा-विधि वहाँ के पाठ्य विषय हैं। अँगरेज़ी ऐच्छिक विषय है। सङ्गीत की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। विद्यार्थी चाहे तो कृषि और व्यापार की भी बातें सीख सकता है। स्त्रियों को इन विषयों के अतिरिक्त सीना-पिरोना और गृह-प्रबन्ध भी सिखलाये जाते हैं। उन्हें किंडरगार्टन प्रणाली भी सीखनी पड़ती है। 'ब' कक्षा के विद्यार्थियों को शिक्षा-विज्ञान की विशेष शिक्षा दी जाती है।

परीक्षा पास कर लेने के बाद जिन विद्यार्थियों ने सरकार से सहायता प्राप्त की है उन्हें सात वर्ष तक सरकारी स्कूलों में शिक्षा देनी पड़ती है। स्त्रियों को पाँच वर्ष तक काम करना पड़ता है। 'ब' कक्षा के विद्यार्थी साल ही भर तक काम करते हैं।

बड़े नार्मल स्कूलों का पाठ्य-क्रम चार वर्षों में ख़तम होता है। उनमें धर्म-विज्ञान, शिक्षा-विज्ञान, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, जापानी, चीनी और अँगरेज़ी भाषायें और साहित्य, इतने विषयों की शिक्षा दी जाती है। प्रति वर्ष कोई ४३० विद्यार्थी यहाँ से पदवीधर होकर निकलते हैं। पर यह संख्या भी वहाँ पर्याप्त नहीं मानी जाती।

७—जर्मनी के एक प्रसिद्ध कवि का देहावसान।

जर्मनी के प्रसिद्ध कवि रिचर्ड देमल की मृत्यु होगई। विद्वानों की राय है कि नीट्शे के बाद आपके समान शक्तिशाली लेखक दूसरा कोई नहीं हुआ। नीट्शे की रचनाओं की तरह आपकी भी रचनायें बड़ी उग्र हैं। लोग आपकी कविता को ज्वालामयी बतलाते हैं। एक समालोचक की राय है कि मनुष्यों के अन्तःकरण के विकास-काल में जो चिरन्तन द्वन्द्व जागरूक होता है वही मूर्तिमान होकर आपकी कविता में विद्यमान है। आपकी तरुणावस्था की रचनाओं में युवावस्था का प्रभाव साफ़ लक्षित होता है। परन्तु अवस्था के साथ आपने इस मोह को

भी अतिक्रमण कर लिया और आपकी कविता में प्रेम का विशुद्ध रूप और आध्यात्मिक भाव आ गये। देमेल की अन्तिम रचनाओं के विषय में जर्मनी के प्रसिद्ध औपन्यासिक वान हाफमैन्स्थल ने लिखा है कि जो काव्य-कला में निष्णात होगा वही देमेल से स्पर्धा करने का साहस करेगा। देमेल ने अपने अन्तिम जीवन-काल में सामाजिक जीवन-समस्या ही पर काव्य-रचना की है। कितने ही लोगों का कथन है कि वाणिज्य और वैभव से तृप्त जर्मनी के हृदय में विश्व-विजय की जो आकांक्षा उद्दीप्त हुई थी उसका कारण देमेल की कविता भी है। वहाँ के श्रमजीवी सम्प्रदाय तो आप पर देवता के समान श्रद्धा रखते हैं। आपने मजदूरों की उन्नति के लिए परिश्रम भी खूब किया। आपकी लोक-प्रियता का अनुमान इतने ही से किया जा सकता है कि वहाँ मज़दूर आपकी रचनाओं का वैसा ही आदर करते हैं जैसे यहाँ गीता का।

८—मृतकों में प्राण-सञ्चार।

डाक्टर क्रेन्सटन वाकर वरमिंघम के निवासी हैं। उनका एक लेख ब्रिटिश मेडीकल जरनल में निकला है। उसमें यह सिद्ध किया गया है कि ओषधि-प्रयोग द्वारा मृत मनुष्य को जीवित करना संभव है। यह ओषधि डाक्टर साहब ने जानवरों के गुर्दे से बनाई है और इसका नाम रक्खा है Adrenalin एडरीनेलिन। डाक्टर वाकर ने इस ओषधि का प्रयोग बीस बार किया और तीन बार उन्हें पूरी सफलता हुई। ११ महीने के एक बच्चे पर अस्त्र-क्रिया की गई। उससे वह मर गया। उसमें मृत्यु के सब लक्षण प्रकट होगये। हृत्कम्प बन्द हो गया और शरीर ठण्डा पड़ गया। इस दवा के प्रयोग से हृत्पिण्ड फिर धड़कने लगा। और ४ मिनट में बच्चा जीवित हो गया। दूसरी बार ३० वर्ष की एक स्त्री की यही गति हुई। उसका भी हृत्कम्प बन्द होगया, जबड़े बैठ गये और उसकी आँखों से भी परिलक्षित होने लगा कि वह मर गई। इसी ओषधि के प्रयोग से कुछ ही समय में वह स्त्री उठ कर बैठ गई और बातचीत करने लगी।

तीसरी बार एक बच्चे के मृत शरीर में यह ओषधि पिचकारी द्वारा (injection) पहुँचाई गई। इसका परिणाम यह हुआ कि वह बच्चा भी जी उठा। यह आविष्कार सचमुच बड़ा विस्मयजनक है।

नरेन्द्रचन्द्र मिश्र

पुस्तक-परिचय।

१—चारुचरितावली—(संस्कृत)—लेखक, श्रीसिद्धगोपाल काव्यतीर्थ। आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या १४ + १६३, मूल्य १)। हल्दौर, ज़िला बिजनौर के पते पर लेखक को लिखने से प्राप्य।

इस पुस्तक में बुद्ध, शंकराचार्य, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक और दयानन्द के चरित सरल संस्कृत में लिखे गये हैं। संस्कृत में अपने ढंग की यह पहली पुस्तक है। इन महापुरुषों के चरित लिखने में लेखक ने बड़ी कुशलता दिखाई है और इनसे सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों को पढ़ कर इसकी रचना की है। पुस्तक सुपाठ्य है और संस्कृत के विद्यार्थियों के काम की है।

☼

२—भक्ति का मार्ग—अनुवादक स्वामी धर्मानन्द। आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या ७४, मूल्य ॥) है। पता—वी० त्रिपाठी एण्ड० को०, बड़ा बाज़ार, कलकत्ता।

स्वामी परमानन्द ने 'दि पाथ आव् डिवोशन' नाम की एक छोटी पुस्तक अँगरेज़ी में लिखी है। आपने अमरीका में ही उसको प्रकाशित किया और वहीं उसका प्रचार भी हुआ। उसी पुस्तक का यह हिन्दी-अनुवाद है। पुस्तक बहुत अच्छी है। स्वामी जी ने भक्ति का मार्ग बहुत ही अच्छे ढँग से समझाया है। अनुवाद की भाषा मनोहर और सरल है।

☼

३—प्रथम प्राच्य सम्मेलन का कार्य-विवरण—यह अँगरेज़ी में है। सरस्वती के पाठक जानते हैं कि पूने में भाण्डारकर ओरियण्टलरिसर्च इन्स्टीट्यूट नाम की एक संस्था है जहाँ भारतीय पुरातत्त्व का अनुसन्धान किया जाता है। इसी में प्राच्य-विद्या-विशारदों का एक सम्मेलन १९१९ के ५,६,७ नवम्बर में हुआ था। उसमें बड़े बड़े विद्वान् उपस्थित हुए थे। अच्छे अच्छे निबन्ध पढ़े गये और कितने ही महत्त्व-पूर्ण विषयों की चर्चा की गई थी। इस रिपोर्ट में सम्मेलन के सभापति भाण्डारकर महोदय का विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्यान है। अन्य लेखों के सारांश ही दिये गये हैं। तो भी उनसे अनेक बातें मालूम हो जाती हैं। यह कार्य-विवरण का पहला भाग है। इसका मूल्य ५) है।

भाण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना को लिखने से मिलती है।

❀

४—सनातन-धर्म-शिक्षा—इसका आकार मझोला, काग़ज़ और छपाई साधारण, पृष्ठ-संख्या २१६ और मूल्य ॥।) है। श्रीयुत कृष्णजसराय ने इसकी रचना की है और व्यापारिक विद्या-प्रचारिणी सभा ने इसका प्रकाशन किया है। सेन्ट्रल-हिन्दू-कालेज के विद्यार्थियों के लिए अँगरेज़ी में सनातन धर्म एडवान्स टेक्स्ट बुक लिखा गया है। यह उसी का हिन्दी-रूपान्तर है। पुस्तक में संसार की उत्पत्ति, कर्म, श्राद्ध, उपासना, आश्रम आदि हिन्दू-धर्म और समाज की बातें अच्छी तरह समझाई गई हैं। पुस्तक अच्छी है। थोड़े ही में हिन्दू धर्म का ज्ञान हो जाता है। मन्त्री व्यापारिक विद्यालय, चर्खे वाला, देहली इसे बेचते हैं।

❀

५—देवी अहल्याबाई होल्कर—अहल्याबाई का यह पुनीत चरित्र अँगरेज़ी में लिखा गया है। इसके लेखक हैं श्रीयुत मुकुन्द वामन राव बरवे बी० ए०, जज, स्माल काज़ कोर्ट, इन्दौर। पुस्तक में जगह जगह मरहठी के भी कुछ अंश उद्धृत किये गये हैं।

अहल्याबाई का नाम भारत में ख़ूब प्रसिद्ध है। उनके चरित्र के पढ़ने से उनका माहात्म्य प्रकट होता है। इस दृष्टि से यह पुस्तक पढ़ने योग्य है। लेखक ही को लिखने से पुस्तक मिलती है।

❀

६—हिन्दी-गल्पमाला—इस नाम की मासिक पत्रिका कुछ समय से काशी से निकल रही है। इसकी प्रवर्तिका श्रीकौशल्या देवी हैं। इसके प्रत्येक अङ्क में चार पाँच छोटी छोटी कहानियाँ रहती हैं। प्रायः सभी कहानियाँ पढ़ने योग्य होती हैं। प्रति वर्ष जिस लेखक की कहानी सर्वोत्कृष्ट होती है उसे एक स्वर्णपदक भी दिया जाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इस गल्पमाला में गल्पों ही द्वारा संसार की सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

७—ज्ञान-प्रकाश—(प्रथम भाग) इसे चुरू-निवासी रायचन्द्र सुराणा ने बालकों के उपकारार्थ लिख कर प्रकाशित किया है। आप इसे बिना मूल्य बाँटते हैं। इसमें छोटे छोटे पन्द्रह पाठ हैं। जैनधर्म की स्थूल बातें समझाई गई हैं। जैन-धर्मावलम्बियों के काम की है। पुस्तक मिलने का ठिकाना—श्रीजैनश्वेताम्बरी तेरापंथी सभा, ११५ केनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता।

❀

नीचे नाम लिखी हुई पुस्तकें भी मिल गईं। भेजनेवाले महाशयों को धन्यवाद।

(१) तार के क़ायदों की नई पुस्तक—मूल्य ।) मिलने का पता, गोप ब्रदर्स, जनरल सप्लायर्स, जयपुर सिटी।

(२) निर्णयपत्रम्—प्रकाशक लक्ष्मीकिशोर, मंत्री श्रीपर्वसंशोधिनी सभा, कानपुर।

(३) जैनदर्शन और जैन-धर्म } प्रकाशक, जैन-पुस्तक-
(४) मार्गानुसारी के ३५ गुण } प्रकाशक कार्यालय, ब्यावर (राजपुताना)

(५) सञ्जीवनी भजनावली—प्रकाशक, पण्डित भवानीदत्त जोशी भजनोपदेशक, नौजर मुहल्ला, पो० चन्दौसी (यू० पी०)

(६) हिन्दूपन की रक्षा—प्रकाशक, भारतकल्याण-कम्पनी पुस्तक-विभाग, ब्रेंच आफ़िस डालटनगंज (पलामू बिहार)

चित्र-परिचय।

सरस्वती के इस अङ्क में यमुनावगाहन नाम का रङ्गीन चित्र दिया जाता है। यह चित्र हमें टिहरी (गढ़वाल) के कुँवर विचित्रशाह के अनुग्रह से मिला है। यह एक प्राचीन चित्रकार के कला-कौशल का नमूना है।

Printed and Published by Apurva Krishna Bose, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

लेख-सूची ।

चित्र-सूची ।

भाग २२, खण्ड १] मई १९२१—वैशाख १९७८ [संख्या ५, पूर्ण संख्या २५७

अनुरोध।

दयामय ! फिर पछताओगे।
दास की खोज न पाओगे ॥
स्वामी बन कर फूल रहे हो, भक्ति-भाव पर भूल रहे हो,
किन्तु किसे कब तक तुम कोरा नाच नचाओगे ॥
दयामय ! फिर पछताओगे ॥
देख चुके लीलाएँ सारी, सहन-शक्ति थक चुकी हमारी,
हो जायँगे नेत्र बन्द फिर किसे दिखाओगे ॥
दयामय ! फिर पछताओगे।
घुल कर प्रभुवर हृदय हमारा, बहा जा रहा आँखों द्वारा,
रोको बढ़ कर नहीं कहो फिर कहाँ विराजोगे ॥
दयामय ! फिर पछताओगे ॥

देवीप्रसाद गुप्त

सूरदास।
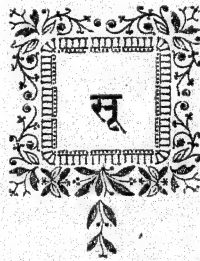
सूरदास भक्त-शिरोमणि थे और कवीश्वर भी थे। उनकी कविता में कला और शक्ति का विलक्षण संमिश्रण है। उनका जन्म उस समय हुआ जब भारतवर्ष में भक्ति का स्रोत फूट पड़ा था। समग्र देश में वैष्णव कवियों ने एक नव-जीवन का सञ्चार कर दिया था। भारतीय जीवन पर वैष्णव-साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ा। वह प्रभाव आज तक विद्यमान है। सूरदास हिन्दी साहित्य के सूर्य माने गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि सूर्य के समान उनका कवित्वालोक अनन्त विश्व में निर्बाध विचरण कर रहा है। वह राज-प्रासादों में ही अवरुद्ध नहीं है, किन्तु क्षुद्र मनुष्यों के

क्षुद्र कुटीरों में भी उसने निस्संकोच निवास किया है।

सूरदास की गणना अष्टछाप अर्थात् ब्रज के आठ कवीश्वरों में है। ये सभी भक्त थे और इन्होंने केवल श्रीकृष्णचन्द्र जी का यशोगान करने के लिए ही पद लिखे हैं। इनकी कविता में प्रेम और भक्ति ही का वर्णन है। परन्तु यहाँ हमें एक बात का स्मरण रखना चाहिए। वह यह कि इन भक्त-कवियों की गणना शृङ्गार-रस के आचार्यों में नहीं है। इन दोनों में परस्पर बड़ा भेद है। वह भेद कैसा है, इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक बार हिन्दी के काव्य-साहित्य पर दृष्टि डालते हैं।

हिन्दी का काव्य-भाण्डार बड़ा विशाल है। चन्दकवि से लेकर आजतक कितने ही कवि हुए हैं। सभी ने चमत्कार-पूर्ण काव्यों की रचना करके हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि की है। इस काव्य-भाण्डार का अधिकांश भाग शृङ्गाररसात्मक है। नायिका-भेद और नख-शिख-वर्णन के जितने ग्रन्थ हिन्दी में विद्यमान हैं उतने शायद अन्य किसी भाषा में न होंगे। शृङ्गार-रस पर हिन्दी के कवियों का यह प्रगाढ़ अनुराग देख कर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतवर्ष में उस समय भोग-विलासिता खूब फैली हुई थी। हिन्दी के जितने प्रसिद्ध कवि हुए हैं वे प्रायः किसी न किसी श्रीमान् के आश्रित ही थे। अतएव अपने आश्रयदाता की मानसतुष्टि के लिए उन्होंने शृङ्गार-रसात्मक कविताओं की रचना की। एकाध विद्वान् की यह सम्मति है कि उस समय भक्तिमार्ग का प्रचार था। अतएव राधा-कृष्ण के प्रेम-वर्णन से गद्गद होकर कवियों ने पवित्र शृङ्गार-रस की अवतारणा की। जो लोग ऐसे काव्यों को शृङ्गार-रस से संयुक्त होने के कारण भोग-विलासिता का प्रतिबिम्ब समझते हैं वे भगवद्भक्तों की शृङ्गारमय उपासना तथा उनके भाव की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नहीं देते।

कविता का जन्म कवि की कल्पना में होता है। कविता कवि की मानस कन्या है, उसके अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है। कवि के हृदय में जिन भावों की उत्पत्ति होती है उन्हीं को वह कविता में व्यक्त करता है। अब विचारणीय यह है कि भावों की उत्पत्ति किस तरह होती है। जब तक मनुष्य मनुष्य है तब तक वह अपने देश और काल के संस्कारों से नहीं बच सकता। यदि शेक्सपियर का जन्म इँग्लैंड में न होकर भारत में होता तो क्या वह हेमलेट अथवा किङ्गलियर की रचना कर सकता? अथवा यदि शेक्सपियर महारानी एलिज़ाबेथ के समय न होकर चार्ल्स द्वितीय के समय में होता तो क्या वह विन्टर्सटेल लिख सकता। क्या हम मुग़लों के शासन-काल में रवीन्द्रनाथ की कल्पना कर सकते हैं? क्या हम हिन्दी की वर्तमान स्थिति में सूरदास और तुलसीदास का अस्तित्त्व सम्भव समझ सकते हैं? बात यह है कि कोई भी कवि हो, आकाश में विद्युत् की भाँति उसका सहसा उदय नहीं होता। जिस कवि के लिए जो उपयुक्त काल है उसी में वह प्रकट होता है। चिर-काल से भावना का जो स्रोत बहता चला आरहा है उसकी गति के विरुद्ध कोई नहीं चल सकता।

मनुष्यमात्र का यह स्वभाव है कि जब उसकी क्रिया-शक्ति निर्बल रहती है तब उसकी भाव-शक्ति खूब प्रबल हो जाती है। बाल्यकाल में क्रिया-शक्ति क्षीण रहती है। इसी लिए उस समय बालकों के हृदय में भिन्न भिन्न कल्पनाओं और भावों की तरङ्गें उठा करती हैं। जब वृद्धावस्था आती है तब क्रिया-शक्ति फिर निर्बल हो जाती है। यही कारण है कि वृद्ध पुरुष भावों के इतने वशीभूत रहते हैं। मुसलमानों के राजत्त्व-काल में हिन्दू राजनैतिक स्वत्त्वों से हीन थे। उनकी आर्थिक-स्थिति अच्छी थी। पर

पराधीनता ने उनको उत्साह-शून्य और शक्ति-हीन बना दिया था। मुसलमानों की प्रभुता उत्तर-भारत ही पर अक्षुण्ण थी। जहाँ उनकी प्रभुता अच्छी तरह नहीं स्थापित हुई थी वहाँ हिन्दू बिलकुल ही क्षीणपराक्रम नहीं हो गये थे। यही कारण है कि रामदास ने भक्ति में निष्काम कर्म का उपदेश देकर दक्षिण-भारत में जो शक्ति उत्पन्न कर दी उससे उत्तर-भारत के हिन्दू सर्वथा वञ्चित रहे। दासत्व की शृङ्खला में बद्ध होकर उत्तर-भारत के श्रीमान् सभी बातों में अपने सम्राटों का अनुकरण करने लगे।

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म संवत् १५३५ में हुआ था। उनके उपदेशों ने हिन्दी-साहित्य में अमृत-वर्षा की और वैष्णव-साहित्य का उद्भव हुआ। वैष्णव-साहित्य और धर्म का विशेषत्व यह है कि वह मनुष्यों में भगवान् के स्वरूप को उपलब्ध करना चाहता है। ईश्वर के विराट् और अचिन्त्य-स्वरूप से वह दूर रहता है। प्रेम में भय नहीं रहता। इसलिए वैष्णव कवियों ने पिता, माता, स्वामी, सखा आदि पारिवारिक स्नेह में ही लीलामय का लीला-विकास देखा। जितने वैष्णव-कवि हुए वे सभी पार्थिव प्रलोभनों से दूर रह कर भगवद्भक्ति में निरत रहते थे। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि कवियों की गणनावैष्णव-कवियों में की जाती है।

वैष्णव-साहित्य ख़ूब लोक-प्रिय हुआ क्योंकि वह सरस और सरल था। परन्तु हिन्दी में वही एक साहित्य नहीं था। बौद्ध-धर्म के पतन के बाद भारत में जो नवीन संस्कृत-साहित्य प्रचलित हुआ था उसके आधार पर भी हिन्दी में एक दूसरा साहित्य बन रहा था। उसकी ओर भी हम एक दृष्टि डालना चाहते हैं।

मुसलमानों के आने के पहले भी भारतवर्ष में धार्मिक विद्वेष था। बौद्ध और जैन-धर्मों ने हिन्दू-धर्म पर कुठाराघात किये। परन्तु अन्त में हिन्दू-धर्म ने बौद्ध-धर्म का उच्छेद कर डाला और जैन-धर्म की प्रभुता लुप्त कर दी। बौद्ध-धर्म के प्राबल्य-काल में प्राकृत-साहित्य का प्रचार बढ़ा था, पर हिन्दू-धर्म के अभ्युदय से नवीन संस्कृत साहित्य का आविर्भाव हुआ। हिन्दू धर्म का यह संस्कृत-साहित्य खण्डन और मण्डनात्मक ग्रन्थों से ही पूर्ण था। दर्शन, धर्म, व्याकरण और काव्यों की शास्त्रीय विवेचना में ही तत्कालीन हिन्दू-विद्वानों ने ख़ूब परिश्रम किया। भगवान् शङ्कराचार्य के समय से कबीर की उत्पत्ति तक जितने ग्रन्थ बने हैं प्रायः सभी आलोचनात्मक हैं। उनमें तात्त्विक संश्लेषण और विश्लेषण ही है। श्रीहर्ष इसी काल के कवि हैं। उनका पाण्डित्य इतना प्रखर है कि सर्वसाधारण उनकी ओर ताकने का साहस नहीं कर सकते। इस प्रकार यह साहित्य कुछ ही लोगों में सीमाबद्ध हो गया। इसी समय संस्कृत में शृङ्गार रस का तूफ़ान आ गया। कितने ही, काव्य, नाटक, कला, प्रहसन आदि की सृष्टि हुई, उनमें से कुछ तो अश्लीलता की सीमा तक पहुँच गये। पर इस साहित्य का प्रचार सर्वसाधारण में नहीं था। काव्य-कला के निष्णात कवि और शास्त्रों के मर्मज्ञ पण्डित सर्वसाधारण से पृथक् होकर राज-सभा के आभूषण हो गये थे। राज-चिह्नों में उनकी गणना होने लगी थी। मुग़ल-काल में जब विद्या-रसिक मुग़ल बादशाहों ने विद्वानों को राज-सभा में स्थान दिया तब छोटे छोटे अधिपति भी कवियों का सम्मान करने लगे। इन कवियों ने नवीन संस्कृत-साहित्य के अनुकरण पर काव्य-रचना की। कालिदास के बाद संस्कृत कवियों में शब्दों का आडम्बर और अलङ्कारों का प्रचार बढ़ने लगा था। साहित्य-कला के मर्मज्ञों ने काव्य के लिए सूक्ष्मातिसूक्ष्म नियम बनाये थे। इन राज-कवियों ने उन्हीं नियमों का अनुसरण किया। प्रायः सभी ने अलङ्कार-शास्त्र पर एकाध ग्रन्थ लिखा है। इन कवियों ने जो साहित्य-निर्माण किया है वह वैष्णव-

साहित्य से सर्वथा पृथक् है। पण्डितराज जगन्नाथ जिस कोटि के कवि हैं उसी में केशव, विहारी, मतिराम और पद्माकर की गणना होनी चाहिए। सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि जितने स्त्री-पुरुष भक्तों में आदरणीय माने गये हैं उन सबने सांसारिक वैभव का परित्याग कर ऐहिक वासनाओं का दमन करने की चेष्टा की है। यही उनका प्रधान लक्ष्य रहा है, परन्तु क्या यही बात विहारी, मतिराम आदि शृङ्गार-रस के आचार्यों के विषय में भी कही जा सकती है? क्या उन्होंने भक्ति के आवेग में आकर सांसारिक वैभव की कामना छोड़ी है? शृङ्गार-रस के वर्णन में तो उन्होंने अपनी कृष्ण-भक्ति की पराकाष्ठा दिखलाई, परन्तु क्या उन्होंने अपने जीवन में भी कभी भक्ति-भाव प्रदर्शित किया है? उनके नख-शिख वर्णन में अध्यात्मवाद अथवा भक्तिवाद देखना अन्याय है।

कविवर विहारीलाल अथवा मतिराम राजसभा के रत्न थे। उनकी प्रतिभा उसी में अवरुद्ध थी। उन्हें कोई विश्व-कवि नहीं कहेगा। उनकी कृति विद्वानों की शोभा हो सकती है। पर वह सर्व-साधारण की सम्पत्ति नहीं है। वह विलास की सामग्री है, पूजा का पात्र नहीं है। उससे मस्तिष्क में उत्तेजना पैदा हो सकती है, पर हृदय में शान्ति नहीं हो सकती। उनके भावों में तल्लीन होकर रसिक आत्मविस्मृत हो सकते हैं, पर उनमें जागृति नहीं आसकती। अस्तु।

सूरदासजी का प्रधान काव्य-ग्रन्थ सूरसागर है। यह सचमुच सागर है। हमारे ऐसे क्षुद्रों के लिए तो वह अथाह है। इसलिए यहाँ हम सूरदास की केवल एक ही कृति पर विचार करना चाहते हैं। वह है उनका शिशु-वर्णन।

कवियों के लिए शैशवकाल की बाल्य-लीला सचमुच वर्णनीय विषय है। भगवान् ईसामसीह ने एक बार कहा था, Suffer little children to come unto me for such is the Kingdom of Heaven. अर्थात् छोटे छोटे बच्चों को हमारे पास आने दो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य ऐसा ही है। भगवान् ईसा की उक्तियों में यह उक्ति सबसे अधिक मधुर है। पृथ्वी में यदि कहीं सरलता और पवित्रता है तो वह शिशु में ही है। यही कारण है कि कवियों और चित्रकारों ने बाल्यकाल का चित्र अङ्कित कर पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य की सृष्टि की है। पाश्चात्य चित्रकारों ने ईसामसीह के बाल्यकाल का चित्राङ्कण किया है और भारतीय चित्रकारों ने बाल गोपाल का। किसी कवि ने कहा है कि आकाश की उज्ज्वल नक्षत्रावली जिस प्रकार आकाश का काव्य है उसी प्रकार पृथ्वी का विचित्र कुसुम-सम्भार पृथ्वी का काव्य है। परन्तु हमारी दृष्टि में तो पृथ्वी के शिशुरूपी सचेतन पुष्प में ही सबसे अधिक सौन्दर्य है। तभी तो अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि लांगफ़ेलो ने कहा है—

Ye are better than all the ballads
That ever were sung or said;
For ye are the living poems,
And all the rest are dead.

महाकवि होमर ने अपने आडेसी नामक काव्य में शिशु यूलिसिस का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। कविकुलगुरु कालिदास का शिशु-वर्णन भी बड़ा ही हृदय-ग्राही है।

क्वचित् स्खलन्तिः क्वचिदस्खलन्तिः
क्वचित् प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः
बालः स लीलाचलनप्रयोगै-
स्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः।
अहेतुहासच्छुरिताननेन्दु-
र्गृहाङ्गनक्रीडनधूलिधूम्रः
मुहुर्वदन् किञ्चिदलक्षितार्थम्
मुदं तयोरङ्क गतस्ततान।

इसी भाव पर तुलसीदासजी ने भी लिखा है।

तनु की द्युति श्याम सरोरुह लोचन,
कंज की मञ्जुलताई हरैं ।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे,
छबि भूरि अनंग की दूरि भरैं ।
दमकै दतियां द्युति दामिनि सी,
मिलि कै कलबाल विनोद करैं ।
अवधेश के बालक चारि सदा,
तुलसी मन मन्दिर में विहरैं ।
कबहूँ शशि माँगत आरि करैं,
कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं ।
कबहूँ करताल बजाय के नाचत,
मातु सबै मनमोद भरैं ।
कबहूँ रिसि आय कहैं हठि के,
पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं ।
अवधेश के बालक चारि सदा,
तुलसी मन मन्दिर में विहरैं ।

रामचरित-मानस की भी दो चार चौपाइयाँ देखिए ।

कौसल्या जब बोलन जाई
ठुमकि ठुमकि प्रभु चलहिं पराई ।
धूसर धूरि भरे तनु आये
भूपति हँस के कण्ठ लगाये ।
भोजन करत चपल चित, इत उत अवसर पाय
भाजि चलै किलकात मुख, दधि ओदन लिपटाय ।

कालिदास और तुलसीदासजी ने शिशु-क्रीड़ा का सिर्फ़ दर्शनमात्र कराया है । परन्तु सूरदासजी ने शिशु-जीवन का रहस्य खोल दिया है। इस विषय में यदि उनकी तुलना किसी से हो सकती है तो रवीन्द्रनाथ से । रवीन्द्रबाबू ने अपने शिशु-नामक काव्य में शैशव-काल का सजीव चित्र खींच दिया है । सूरसागर के दशम स्कन्ध में कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन है ।

पहले श्याम की शोभा देख लीजिए ।

श्याम कर मुरली,
अतिहि विराजत ।
परसत अधर सुधारस,
प्रकटत मधुर मधुर सुर बाजत ॥
लटकत मुकुट भौंह छबि मटकत,
नैन-सैन अति छाजत ।
ग्रीव नवाय अटकि बंसी पर,
कोटि मदन छबि लाजत ॥
लोल कपोल झलक कुँडल की,
यह उपमा कछु लागत ।
मानहुँ मकर सुधा-सर क्रीड़त,
आपु आपु अनुरागत ॥
वृंदावन विहरत नँद नन्दन,
ग्वाल सखन सँग सोहत ।
सूरदास प्रभु की छबि निरखत,
सुर-नर-मुनि-मन मोहत ॥

सचमुच यह छबि कि न सेमुग्ध कर देगी ।

बाल-सरलता का एक बड़ा अच्छा उदाहरण लीजिए । माता ने कहा—

कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बाढ़ै ।
सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढ़ै ।
पुनि पीवत ही कच टकहोवे झूठे जननि रठै ।
सूर निरखि मुख हँसत यशोदा सो सुख उर न कढ़ै ।

तब कृष्ण ने पूछा—

मैया कबहि बढ़ैगी चोटी ।
किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी ।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी ।

निम्नलिखित पद्य बाल-विनोद का एक अच्छा उदाहरण है ।

हरि अपने आगे कछु गावत ।
तनक तनक चरणन सो नाचत मनही मनहि रिझावत ।
बाँह उचाइ काजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत ।
कबहुँक बाबानन्द बुलावत कबहुँक घर में आवत ।
माखन तनक आपने करलै तनक बदन में नावत ।
कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खँभ में लवनी लिए खवावत ।

चन्द्रप्रस्ताव में बाल-हठ का अच्छा चित्र है । जब कृष्णचन्द्र कुछ बड़े हो गये तब अपने सखाओं के साथ खेलने लगे । बालकों में अपनी शक्ति

का जो स्वाभाविक अभिमान होता है उसका चित्र इस पद्य में अच्छी तरह खींचा गया है।

खेलत श्याम ग्वालन सँग।
सुबल हलधर अरु सुदामा करत नाना रङ्ग।
हाथ तारी देत भाजत सबै करि करि होड़।
बरजै हलधर श्याम तुम जिनि चोट लगिहै गोड़।
तब कह्यो मैं दौरि जानत बहुत बल मो जात।
मेरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात।
बोलि तबै उठे सुदामा जाहु तारी मारि।
आगे हरि पाछे सुदामा धरयो श्याम हँकारि।
जानिकै मैं रह्यो ठाढ़ो छुवत कहा जु मोहि।
सूर हरि खीझत सखा सो मनहि कीनो कोहि।

कृष्ण का यह उलहना भी बड़ा सुन्दर है। सुनिए।

मातु मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों तोहि जसुमति कब जायो।
कहा कहौं यहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरो तात।
गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत श्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर।
तू मोहीं को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति अति मन रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मो गोधन की सौं हौं माता तू पूत।

निम्नलिखित पद भी कितना स्वाभाविक है।

मैया हौं न चरैहौं गाइ।
सिगरे ग्वाल घिरावत मोसों मेरे पाँइ पिराइ।
जौन पत्याहि पूछ बलदाउहि अपनी सौंह दिवाइ।

एक बार कृष्ण अपना पीताम्बर छोड़कर राधा की सारी उठा लाये। माता ने पूछा, "अरे, यह क्या किया? किसकी सारी उठा लाया?"

पीत उढ़नियाँ कहाँ बिसारी।
यह तो लाल ढिगनि की औरै है काहू की सारी॥

कृष्ण का उत्तर सुनिए।

हौं गोधन लैगयो जमुन तट तहाँ हुती पनिहारी।
भीर भई सुरभी सब बिडरीं मुरली भली सँभारी।
हौं लैगयो और काहू की सो लैगई हमारी।

जब यशोदा ने सुना कि कृष्ण दूसरों के घर जाकर मक्खन खाते फिरते हैं तब वह रुष्ट होकर बोली, "तुम्हारे घर में कमी किस बात की है जो दूसरे के घर जाकर मक्खन की चोरी करते हो?" तब, देखिए, कृष्ण ने कैसी अच्छी अपनी सफ़ाई दी है।

मैया, मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।

सूरदास ने कृष्ण की बाल-लीला का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। पर इतने ही उदाहरणों से हमें उनकी निपुणता का परिचय मिल जाता है।

नवीनचन्द्र

जातीयशिक्षा।

आजकल जातीयशिक्षा की ओर सब लोगों का ध्यान आकृष्ट है। अब हम समझने लगे हैं कि प्रचलित शिक्षा-प्रणाली से हमें चाहे जितना लाभ हुआ हो, पर वह निर्दोष नहीं है।

इसी सम्बन्ध में लीडर के सम्पादक महाशय का एक नोट निकला था। आपने लिखा था कि यदि शिक्षा को जातीय ही बनाना है तो शिक्षा के नेता जातीय-शिक्षा की एक स्कीम क्यों नहीं पेश करते। यदि वह स्वीकार करने योग्य हुआ तो ख़ुद सरकार ही उसके अनुसार शिक्षा में सुधार करेगी। बम्बई के शिक्षा-विभाग के मन्त्री श्रीयुत परांजपे जी ने भी यही बात कही है। अब नवीन शासन-व्यवस्था के अनुसार प्रान्तीय कौंसिलों को हमारी शिक्षा पर पूर्ण अधिकार है। वे जितना चाहें

ख़र्च कर सकती हैं, जिस तरह से चाहें नीति को बदल सकती हैं। यदि वे कुछ न करें तो हम किसे दोष दें। यहाँ हम जातीयशिक्षा पर अपना विचार प्रकट करते हैं। यदि विद्वज्जन इसपर अपनी राय प्रकट करें तो जातीय शिक्षा का प्रश्न हल हो सकता है।

जातीय-शिक्षा क्या है? कुछ महाशयों का यह विचार है कि वही शिक्षा ज़ातीय है जो जातीयता के भाव उत्पन्न करे। यह सत्य है कि जातीयशिक्षा जातीयता के भावों को उत्पन्न करती है, परन्तु यह जातीयशिक्षा का उद्देश्य नहीं माना जा सकता। जातीयशिक्षा वह है जो जातीय स्वभाव के अनुकूल हो, जो देश के सर्वोच्च आदर्शों पर स्थित हो और जो जाति के सब अङ्गों को पुष्ट करने में सहायक हो। जातीयता ऐसी शिक्षा का बीज नहीं, उसका एक फलमात्र है।

शिक्षा का उद्देश्य क्या हो? इस विषय में पश्चिमीय देशों में भी मतभेद है। कुछ देश चरित्र को प्रधानता देते हैं और कुछ विद्या को। इँग्लैंड चरित्र का उपासक है, जर्मनी विद्या का। हम इन दोनों को मिलाना चाहते हैं, परन्तु जातीयता के भाव पर। हमारे देश का आदर्श धार्मिक है। सभी लोग धार्मिकता का एक ही अर्थ नहीं करते। कुछ लोग भारतीय धार्मिकता से समाज-संगठन समझते हैं। कुछ महाशय धर्म का अर्थ 'सम्प्रदाय' करते हैं और स्कूलों तथा कालेजों में 'साम्प्रदायिक' शिक्षा का प्रचार करने का अनुरोध करते हैं। कुछ पुराने विचार के सज्जन अपने धर्म का यही आदर्श समझते हैं कि वे संसार से मुक्त होजायँ, वैराग्य धारण करें और उसके द्वारा निर्वाण पाकर जीवन-मरण के क्लेश से बचें। हम यहाँ धर्म का निरीक्षण करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। परन्तु अपने देश के आदर्श पुरुषों के चरित्र स्मरण कर हम इतना कह सकते हैं कि धर्म का प्रधान अङ्ग निःस्वार्थसेवा है। हमारे देश के सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ गीता, का यही उपदेश है।

कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन

जातीय-आदर्श भी क्रिया-हीन होने पर निकम्मे हो जाते हैं। यही दशा हमारे आदर्श की हुई। हम निःस्वार्थता को वैराग्य समझ बैठे। परिणाम यह हुआ कि हम अपना देश खो बैठे और साथ ही साथ अपना धर्म भी। सच पूछिए तो विजातीय पश्चिमीय आदर्शों के संघर्ष से हमारे आदर्श में फिर नव-जीवन का संचार हुआ है। अब उसने एक नया रूप धारण कर लिया है। संसार में रह कर ही निःस्वार्थ भाव से जाति-सेवा करने ही में आत्मा का कल्याण है। देश भक्ति ही में ईश्वर-भक्ति है।

परन्तु देश-सेवा बिना विद्या के नहीं हो सकती और न बिना पेट भरे भगवत्-भक्ति हो सकती है। इसलिए इस समय बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि देश धन-धान्य से पूर्ण हो, समृद्धि-शाली हो। परन्तु हमें इसका ध्यान रखना चाहिए कि हम पार्थिव वैभव की लालसा से पाश्चात्य जड़वाद के फेर में न पड़ जायँ। इस परिणाम को पहुँचने के लिए शिक्षा के उद्देश्य को स्थिर करने की आवश्यकता है। पूर्व और पश्चिम भारतवर्ष में मिलें। शिक्षा का उद्देश्य यह हो कि हम सांसारिक विद्यायें प्राप्त करें, उनके द्वारा धन भी उपार्जन करें, परन्तु यह सब अपने स्थूल शरीर के लिए नहीं, किन्तु अपने जातीय शरीर के सुख के लिए और उसके द्वारा अपनी आत्मा के लिए। पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि यह असम्भव है, मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा इतनी अधिक है कि यह सम्भव नहीं हो सकता। परन्तु यदि पश्चिम के साम्यवाद की उत्तरोत्तर वृद्धि से हम कुछ पाठ सीख सकते हैं तो वह यह है कि यह उद्देश्य कठिन अवश्य है, पर असम्भव नहीं है।

अब इस उद्देश्य के साधनों की ओर ध्यान दीजिए। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में कौन से ऐसे परिवर्तन किए जायँ कि वह जातीय हो जाय?

प्रथम साधन यह है कि हमें शिक्षा अपनी मातृ-भाषा ही के द्वारा मिलनी चाहिए। सरस्वती के किसी पिछले अङ्क में अँगरेज़ी और देशी भाषा के शीर्षक लेख में इस प्रश्न पर विचार प्रकट किए जा चुके हैं। हम उनको यहाँ दुहराना नहीं चाहते। हम केवल यह निवेदन करना चाहते हैं कि कठिनाइयाँ हल हो सकती हैं। हम अँगरेज़ी का बहिष्कार करना नहीं चाहते। अँगरेज़ी अवश्य पढ़ाई जाय, परन्तु उसका उद्देश्य अँगरेज़ी में दक्षता प्राप्त करना नहीं, मातृ-भाषा की उन्नति करना हो। हम पाठ्य पुस्तकों के प्रश्न को कठिन नहीं समझते। जब मातृ-भाषा में शिक्षा दी जाने लगेगी तब पाठ्य-पुस्तकों का अभाव भी क्रमशः दूर हो जायगा।

यदि कुछ समय तक हमको अँगरेज़ी की पुस्तकों पर आश्रित रहना पड़े तो क्या हर्ज़ है। शिक्षक मातृ-भाषा में पढ़ावें और विद्यार्थी परीक्षा में अपनी मातृ-भाषा द्वारा उत्तर दें। भाषा-भेद की भी कठिनाई हल की जा सकती है। प्रत्येक प्रान्त की एक प्रधान भाषा है, उसके भेद प्राकृतिक हैं। संयुक्तप्रान्त में हिन्दी-उर्दू का भेद सिर्फ़ साहित्य-सेवियों का गढ़ा हुआ है। वास्तव में हम सब एक ही भाषा बोलते हैं। विहार, मध्यप्रान्त तथा पञ्जाब की प्रधान भाषा हिन्दी ही है, बङ्गाल की बँगला है। केवल बम्बई और मद्रास प्रान्त में भाषा-भेद अधिक है। परन्तु वहाँ एक सरलता भी है। भाषा के आधार पर इन प्रान्तों के ऐसे हिस्से किए जा सकते हैं जहाँ एक प्रधान भाषा मानी जा सकती है जैसे मरहठी, गुजराती, सिन्धी, तामील, तेलगू या कनाडी। बिना समझौते के कहीं भी उन्नति नहीं हो सकती। यदि कठिनाइयाँ हों तो प्रान्तीय विद्वान् उनको एक साथ बैठ कर हल कर सकते हैं। हिन्दू-मुसलमान-द्वेष के समझौते का प्रसाद शासन-सुधार के रूप में मिल चुका है। क्या हम यह आशा न करें कि हिन्दी-उर्दू-द्वेष के दूर हो जाने पर हमारे शिक्षा-सुधार का रास्ता साफ़ हो जायगा? अपनी अपनी डफली और अपना अपना राग अलापने से क्या हो सकता है।

कुछ महाशय इस साधन के विरुद्ध यह उज़्र कर सकते हैं कि इस शिक्षा से जितनी भाषायें हैं उतनी जातियों में देश विभक्त हो जायगा। जिस शिक्षा से जातीय संगठन न हुआ उस शिक्षा ही से क्या लाभ? उत्तर में निवेदन यह है कि भाषा की एकता जातीयता के लिए अवश्य आवश्यक है, परन्तु इतनी नहीं कि बिना भाषा की एकता के राष्ट्र संगठन हो ही न सके। उदाहरण के लिए स्वीज़रलैंड और बेलजियम ही को लीजिए। इनमें भाषा की विभिन्नता होते हुए भी जातीयता है। प्रान्तीय भेद तो बहुत समय तक रहेंगे। उस भेद को कम करने के लिए, हम उच्चश्रेणी में अँगरेज़ी रखते हैं और सर्वसाधारण के लिए हिन्दी। साहित्य किसी का प्रधान हो, परन्तु यह तो सब मानेंगे की हिन्दी ही इस देश की प्रधान भाषा है। हमारे साधन के पूर्ण करने के लिए बालक को तीन भाषाएँ पढ़नी होंगी। अपनी मातृ-भाषा, अँगरेज़ी, और हिन्दी। बोझ अधिक नहीं होगा। क्योंकि हम चाहते हैं कि बालक मातृ-भाषा में ही योग्यता प्राप्त करे। अँगरेज़ी और हिन्दी में वह सिर्फ़ इतना ज्ञान प्राप्त करे कि अँगरेज़ी तथा हिन्दी के ग्रन्थों को समझ सके और उनके विचार अपनी भाषा में व्यक्त कर सके।

हमको बालक के बोझ का खूब ख़याल रखना चाहिए। क्योंकि जाति का स्वास्थ्य ही हमारी जातीय शिक्षा का दूसरा साधन है। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली ने हमारे स्वास्थ्य को ख़राब कर दिया है। और देशों में पढ़े लिखे लोग दीर्घजीवी होते हैं। वहाँ शिक्षा

जाति के स्वास्थ्य को सुधारती है, यहाँ वह उसको नष्ट करने में सहायता पहुँचा रही है। यह हम मानते हैं कि देश की कुप्रथाएँ विशेष हानि पहुँचा रही हैं। ग़रीबी भी हमारी शारीरिक अवनति का एक कारण है। परन्तु इस शिक्षा के पहले भी कुप्रथाएँ थीं, पहले भी ग़रीबी थी, परन्तु हम इतनी जल्दी काल के ग्रास नहीं हो जाते थे। अँगरेज़ी शिक्षा का बोझ हमको मारे डालता है। अँगरेज़ी के भारतीय विद्वान् अँगरेज़ी शिक्षा की तारीफ़ करते समय यह भूल जाते हैं कि कितना खोकर उन्होंने एक विदेशी-भाषा में योग्यता प्राप्त की है, जो कभी कभी बालकों को हानि भी पहुँचाती है।

चरित्र-बल से स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह हो सकता है कि चरित्र-बल होने पर भी स्वास्थ्य ख़राब हो। परन्तु यह नहीं हो सकता कि चरित्रहीन मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक रह सके। चरित्र-शिक्षा का प्रश्न इतना विस्तृत और कठिन है कि इस विषय में दो चार स्थूल विचार ही प्रकट किये जा सकते हैं।

प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में यह बड़ा दोष है कि वह हमारे चरित्र को, आत्मा को, बल, वान् नहीं कर सकती है। इस चरित्रहीनता का कारण कुछ लोग यह बतलाते हैं कि प्रचलित प्रणाली में धार्मिक शिक्षा को स्थान नहीं दिया गया। परन्तु चरित्रहीनता के दूसरे कारण भी हो सकते हैं।

विद्या से चरित्र का थोड़ा बहुत सम्बन्ध है, परन्तु अधिक नहीं। यह हो सकता है कि विद्या मनुष्य की विचार शक्ति को तीव्र और विचार-क्षेत्र को विस्तृत करके भले बुरे का ज्ञान करा सकती है। परन्तु ज्ञान से कुछ नहीं होता। उसे कर्म में परिणत करने के लिए आत्मबल होना चाहिए। बिना धर्म के सहारे आत्मबल टिक नहीं सकता। और धर्म की जड़ त्याग में है। सांसारिक वैभव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

अभाग्यवश अर्थ से प्रचलित शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। शिक्षा के लिए बड़े बड़े सोने के पिँजरे हों। विद्वान् अध्यापक हों। निरीक्षक हों। इन सभी के लिए धन की आवश्यकता है। शिक्षक वर्ग अपने चरित्र-बल को बेचकर इस धन-मरीचिका की ओर दौड़ते हैं।

जातीय-शिक्षा के लिए महलों की आवश्यकता नहीं, बड़ी बड़ी तनख़्वाहों की भी ज़रूरत नहीं है। निरीक्षण-कार्य में जितना व्यय होता है उसमें से बहुत कुछ अनावश्यक है। प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षालयों के लिए तो तनख़्वाह का कोई प्रश्न ही नहीं है। उनको जो कुछ वेतन मिलता है वही उनके लिए काफ़ी नहीं है। आवश्यकता है उच्च शिक्षा-लयों में वेतन कम करने की। एक भारतीय गृहस्थ के लिए ३००) से ५००) महीने तक का वेतन सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए बहुत है। कम वेतन पर सिर्फ़ वही लोग आएँगे जिनमें यथेष्ट आत्मत्याग, चरित्रबल होगा।

कुछ महाशय शायद इस प्रस्ताव पर हँसें, नाराज़ हों। परन्तु यह प्रस्ताव असम्भव नहीं है। गुरुकुल, शान्ति-निकेतन, दयानन्द-कालेज, फर्गुसन-कालेज आदि ऐसे शिक्षालय हैं जहाँ योग्य अध्यापकों ने एक आदर्श के लिए, सांसारिक सुख का त्याग कर, अपना जीवन अपनी संस्था की सेवा में अर्पण कर दिया है। ऐसे ही शिक्षालयों से आत्म-त्यागी स्नातक भी निकले हैं। सरकारी कालेजों के स्नातकों में अभी तक अधिकांश का उद्देश्य डिप्टी-कलेक्टरी, पुलिस या वकालत रहा है।

धार्मिक-शिक्षा से जातीयशिक्षा के प्रश्न का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ समय हुआ प्रचलित शिक्षा के विरुद्ध यह कहा गया था कि वह धर्महीन है। इसका अर्थ पण्डितों ने यह लगाया कि उसमें

सनातन-धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती और मौलवियों ने समझा कि नमाज़ के लिए लड़कों को छुट्टी तक नहीं मिलती। आर्य-समाज को जातीय रोगों का प्रधान कारण वैदिक शिक्षा का अभाव मालूम हुआ। कुछ संस्थाएँ इस कमी को पूरा करने के लिए स्थापित हुईं। अब धर्म के नाम पर काशी और अलीगढ़ में विश्वविद्यालय तक स्थापित हो गये हैं। इनके स्थापक इनसे बहुत कुछ आशा रखते हैं। इस विषय में स्वर्गीय अध्यापक होमरशम काक्स के विचार मनन करने योग्य हैं। धार्मिक, विद्वेष ने इस देश में ही नहीं, संसार भर में जातीय शरीर को हानि पहुँचाया है और यह आशा नहीं की जा सकती कि यदि हिन्दू और मुसलमान भिन्न भिन्न स्थानों में रह कर अपने ही धर्म, इतिहास और सभ्यता की वायु से पुष्ट हों तो उनका ऐतिहासिक विद्वेष पुष्ट न होगा। विद्वेष दूर करने का एक यही उपाय है कि शिक्षा वास्तव में धार्मिक हो, साम्प्रदायिक नहीं। धर्म का यह तत्त्व एक है, वही सब धर्मों में विद्यमान है। यदि शिक्षा दी जाय तो इसी की। ऐसे धर्म की शिक्षा अनिवार्य है। इसके लिए किसी साम्प्रदायिक पण्डित की आवश्यकता नहीं है। इसके अध्यापक वही हो सकते हैं जिन में चरित्र-बल और आत्मत्याग है।

अब हम शिक्षा के दूसरे अङ्ग पर विचार करते हैं। वह है विद्या की प्राप्ति। यह तो सभी मानते हैं कि विद्या-बल से ही देश समृद्धिशाली हो सकेगा। विद्या के लिए हमें अभी पश्चिम की सेवा करनी होगी। उससे समृद्धि का पाठ सीखना होगा। हमारे पाठ्य-विषय ऐसे हों जो हम को व्यवसाय, शिल्प और कला-कौशल सिखला सकें। पाठ्य-प्रणाली के क्रम के लिए हम जर्मनी से शिक्षा ले सकते हैं। पाठ्य विषयों के अनुसार शिक्षालयों के दो विभाग हों। एक बालकों को साधारण शिक्षा दे दूसरा उनको किसी ख़ास काम, जैसे इञ्जीनियरिंग, वैद्यक, व्यवसाय, बैंकिंग, राजनीति, इतिहास, कानून, शिक्षा आदि, के लिए तैयार करे। श्रेणी के अनुसार शिक्षा तीन भागों में विभक्त की जाय। सर्वसाधारण के लिए प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य हो। प्रारम्भिक शिक्षालयों से निकलने पर उनको अन्तिम श्रेणी में ऐसे व्यवसायिक शिक्षालय मिलें जिनमें पढ़कर वे किसी व्यवसाय में निपुण हो जायँ। माध्यमिक शिक्षा का अनिवार्य होना आवश्यक नहीं है। योग्यता को मौक़ा देने के लिए माध्यमिक शिक्षालयों में प्रारम्भिक शिक्षालयों से निकले हुए उन छात्रों को वजीफ़ा दिया जाय जिनके माता-पिता उनके पढ़ाने के लिए ख़र्च न कर सकें। इन शिक्षालयों से निकले हुए विद्यार्थियों के लिए दूसरी श्रेणी के कला-भवन हों जिनके पाठ्य विषय को पूरा करने पर वे मिलों में फोरमैन, बड़े फार्म के किसान, ओवरसियर या साधारण वैद्य हो सकें। इन शिक्षालयों में सरकारी प्रबन्ध हो। परन्तु सर्वोच्च श्रेणी के शिक्षालयों पर सरकारी निरीक्षण का कम होना ही अच्छा है। इनका निरीक्षण शिक्षकों के ही हाथ में रहना चाहिए। इनका सम्बन्ध विश्वविद्यालय ही से रहे। इन शिक्षालयों के लिये चरित्रवान् शिक्षकों की आवश्कता है, क्योंकि इनसे निकले हुए युवकों से यह आशा की जाती है कि वे देश के साहित्य, राजनीति, शिल्प तथा व्यवसाय के विशेषज्ञ होंगे। साधारण शिक्षा तो माध्यमिक शिक्षालयों में खतम हो चुकती है। इन में विशेष शिक्षा की आवश्यकता है। उच्च श्रेणी के इन शिक्षालयों के भी दो विभाग हों, एक में किसी विशेष व्यवसाय के लिए तैयारी की जाय और दूसरे में उसके अध्ययन का प्रबन्ध रहे। पढ़ाई का ख़र्च अधिक न हो। विश्वविद्यालय में निर्धन युवकों की पढ़ाई का भी प्रबन्ध हो। जातीय शिक्षा पर यह लाञ्छन न लगे कि वह धनवानों

ही के लिए है । यह तो मानी हुई बात है कि जातीय जीवन के नेता अधिकतर उच्च और मध्यम श्रेणी से ही निकलेंगे, परन्तु यही नेतृत्त्व की जड़ समाज की तह तक पहुँचाई जा सके तो उससे लाभ ही होगा, हानि नहीं ।

स्त्री-शिक्षा का प्रश्न हम अन्त में लेते हैं, परन्तु इससे यह न पाठक समझें कि इसका महत्त्व किसी से कम है । इस देश में तो स्त्री शिक्षा का प्रश्न और भी अधिक महत्त्व का है, क्योंकि हमारे देश के समान पद-दलित और मूर्ख स्त्रियाँ शायद ही किसी सभ्य देश में हों । स्त्री शिक्षा की आवश्यकता को तो अब सभी मानते हैं । पुराने विचार की स्त्रियाँ भी अब लड़कियों को स्कूल भेजने में अड़चन नहीं डालतीं । परन्तु शिक्षा किस प्रकार की हो, इस में मत भेद है। हम समझते हैं कि अभी कुछ समय के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दू तथा मुसलमान लड़कियों के लिए स्कूल एक दूसरे से अलग हों । धार्मिक शिक्षा पर विशेष ज़ोर देने की आवश्यकता है । लड़कियों की शिक्षा ऐसी हो कि वे योग्य गृहणी बन सकें । पति परायणा होना वे अपना धर्म समझें । शिशु-पालन और गृह-प्रबन्ध में वे प्रवीण हों । यदि हो सके तो उनको कोई ऐसे काम भी सिखा दिये जायँ जिनके द्वारा घर बैठे आवश्यकता के समय वे अपनी गुज़र कर सकें । यह आवश्यकता नहीं है कि वे अँगरेज़ी पढ़ें । हाँ, कुछ योग्य बालिकाओं के लिए उच्च श्रेणी के शिक्षालयों में प्रबन्ध हो जिनमें पढ़कर वे अध्यापन तथा चिकित्सा-सम्बन्धी काम कर सकें । यदि गृह के बाहर कोई कार्य उनको शोभा देता है तो यही कि वे बालिकाओं को अपने समान योग्य बनावें और अपनी बहनों के स्वास्थ्य की रक्षा कर सकें । पश्चिम में स्त्रियाँ पुरुषों के कार्य-क्षेत्र पर अधिकार जमाने का दावा कर रही हैं । हमारे देश का यह आदर्श नहीं है । हमारे देश की विदुषी स्त्रियों का लक्ष्य पति-सेवा रहा है । उन्होंने मातृत्त्व के सर्वोच्च पद के लिए प्रयत्न किया है । हमें आशा है कि इस नवीन जागृति के समय हमारे देश की स्त्रियाँ अपने देश के आदर्श को न भूल जायँगी । यदि वे गिर गई हैं तो इस देश के हीन पुरुषों ही के दोष से । उपाय यही है कि पुरुष फिर से उनको योग्य बनाने का प्रयत्न करें ।

विषय विस्तृत है । इतिहास किस देश का पढ़ाया जाय और उसका क्या रूप हो, जातीय-प्रेम की शिक्षा दी जाय या नहीं आदि प्रश्नों के लिए इतनी ही जगह और हो तो काम चले । यह छोटा लेख सिर्फ़ इसलिए लिखा गया है कि विद्व-ज्जन इन प्रश्नों की ओर ध्यान दें । मालवीयजी ने एक बार एक एज्युकेशनल कानफ्रेंस के लिए प्रस्ताव किया था । क्या यह सम्भव नहीं है कि इस की चर्चा भिन्न भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अच्छी तरह करके हमारे नेता एक जगह बैठकर देश की शिक्षा-नीति निश्चित कर लें ? इस समय तो हम अन्धकार में चल रहे हैं । मालूम नहीं, हमारी गति किधर है ।

अध्यापक

इँग्लैंड के श्रमजीवी ।

सम्पत्ति शास्त्र-वेत्ताओं का कथन है कि यदि किसी देश की आर्थिक या सामाजिक अवस्था का पता लगाना हो तो वहाँ के श्रमजीवी समाज की अवस्था का निरीक्षण करना चाहिए । यदि उनकी दशा अच्छी है तो समझ लो कि देश समृद्धवान् है । इँग्लैंड से हज़ारों कोस दूर बैठे लोग अच्छी तरह नहीं जान सकते कि यहाँ समाज किस अवस्था में है । सामाजिक सुधारों में या आर्थिक दशा में यहाँवाले उनसे कितना आगे बढ़े हैं, इसका पूर्ण ज्ञान उन्हें नहीं

हो सकता। आज हम यहाँ कुछ अनुभूत विचारों का उल्लेख करते हैं। आशा है, पाठकों को मनोविनोद के साथ कुछ तुलनात्मक ज्ञान प्राप्त करने का अवसर भी प्राप्त होगा।

आर्थिक दशा—जिसने भारत के किसानों, कुलियों और मज़दूरों को देखा है और उनकी दशा पर विचार किया है वह यदि इँग्लेंड के श्रमजीवियों की दशा देखें तो उसे मालूम होगा कि दोनों में कितना अन्तर है। क्या आर्थिक, क्या सामाजिक और क्या राजनैतिक, सभी दशाओं में एक महान् भेद है। भारतीय श्रमजीवी प्रातःकाल उठकर और रात के बचे बचाये सूखे-रूखे टुकड़े खाकर नित्य अपने काम पर चला जाता है। दिनभर अनवरत परिश्रम करने के बाद वह दस पाँच आने कमा कर लाता है। उसी पर उसके समस्त परिवार की जीविका निर्भर है। यदि कोई मज़दूर महीने में १५ रुपये कमा लेता है तो वह अपने मन में समझता है कि बहुत मिल गया। उसे उतने में ही सन्तोष है। यदि भोजन दिनभर में एक ही बार मिला तो कुछ परवाह नहीं। यदि शरीर पर वस्त्र नहीं तो क्या एक लँगोटी से काम नहीं निकल जाता है? स्वयं पढ़ना या बच्चों को शिक्षा देना, इसकी तो चर्चा ही व्यर्थ है।

लेखक को यहाँ के मज़दूरों में रहने और उनके समस्त व्यवहारों को देखने का विशेष अवसर मिला है। उनकी आर्थिक अवस्था की जाँच उनके मकानों और उनकी पोशाक इत्यादि से पूरी तरह हो सकती है। यदि यह अत्युक्ति न समझी जाय तो मेरा तो ऐसा अनुभव है कि यहाँ का श्रमजीवीदल हमारे यहाँ के मध्यम श्रेणी के लोगों से भी अच्छी दशा में है।

मिलों और कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों के घरों में जाकर देखने से अमीराना ही ठाठ नज़र आता है। उनका सोने का कमरा अलग रहता है। सुन्दर पलँग, सफ़ेद चादरों के सहित साफ़-सुथरे बिछौने, दो एक बड़ी बड़ी शीशेदार आलमारियाँ, ड्रेसिंग टेबिल इत्यादि सामानों से वह सज्जित रहता है। रसोई-घर भी अलग होता है। यहाँ आधुनिक वैज्ञानिक रीति के चूल्हे रक्खे रहते हैं। गैस का नल खोल दिया और एक दियासलाई के जलाते ही चूल्हा जलने लगा। पास ही गरम और पानी के नल लगे हुए हैं। जब और जितना चाहो गरम पानी ख़र्च करो। घर गरम करने के लिए प्रत्येक घर में अँगीठी रहती है। जब चाहो जला लो। भोजन करने के लिए कमरे के बीच एक टेबिल रक्खी रहती है। मज़दूरी का पेशा है तो क्या, शान और आराम सब अमीरी है। भोजन करते समय भी वह ठाठ के साथ ही छूरी काँटों से खाता है। अब बैठक का हाल सुनिए। उसकी बैठक भी ख़ूब सजी-सजाई होती है। छः सात मखमली कुरसियाँ वहाँ रक्खी रहती हैं। एकाध कोच भी रहता है। एक कोने में, आलमारी में, चुनी हुई किताबें अलग रक्खी रहती हैं। बैठक के बीच में एक मेज़ पर मखमल का मेज़पोश पड़ा है। उस पर सुन्दर फूलों का गमला उसकी शोभा अलग बढ़ाता है। बैठक की दीवारें सुन्दर काग़ज़ से मढ़ी रहती हैं। उन पर बड़े बड़े सुन्दर चित्र लटकते रहते हैं। कमरे के बीचोबीच छत से सुन्दर लैम्प लटकता रहता है। नीचे फ़र्श पर कालीन बिछा है। प्रत्येक वस्तु साफ़-सुथरी यथास्थान सजी रक्खी रहती है। मेरे इस कथन को केवल कल्पनात्मक घर का वर्णन न समझिए। यह वास्तव में इँग्लेंड के एक छोटे से गाँव के एक छोटी सी मिल के एक जुलाहे के घर का वर्णन है। इस मकान की एक भी वस्तु कल्पनात्मक नहीं है। इससे पूर्व मुझे ऐसा अवसर

प्राप्त नहीं हुआ था कि मैं इस प्रकार से किसी मज़दूर के घर का निरीक्षण कर सकता। एक बार अकस्मात् ही एक जुलाहे ने, जो कि मुझ से विशेष प्रीति रखता था, मुझे अपने यहाँ शाम को चाय पीने का निमन्त्रण दिया। पहले तो मैंने यह विचार किया कि यह एक ग़रीब आदमी है, इसे मेरे लिए चाय का ख़र्च क्यों उठाना पड़े। अतएव मैंने नम्रतापूर्वक इन्कार कर दिया। परन्तु जब उसने अधिक आग्रह किया तब मुझे उसका निमन्त्रण स्वीकार करना पड़ा। जब मैं उसके घर पहुँचा तब उसकी शोभा देखकर मैं चकित हो गया और सोचने लगा कि क्या यह एक जुलाहे का घर है। भारत के जुलाहे के घरों से तो क्या उसके घर का मुक़ाबिला हो सकता है। हाँ, भारत की मध्यम-श्रेणी के लोगों के घरों से यहाँ के जुलाहों के घरों का मुक़ाबिला अलबत्ता किया जा सकता है। यहाँ के जुलाहे सप्ताह में चार पाँच पौंड तक कमा लेते हैं और यदि किसी परिवार में दो तीन लड़के लड़कियाँ हों तो क्या कहना है। फिर तो एक सप्ताह में दस बारह पौंड तक कमा लेना एक साधारण बात है। भारत के मज़दूरों और यहाँवालों की आमदनी की तुलना इससे अच्छी तरह की जा सकती है। हम यह बात स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि यहाँ भी एक ऐसी श्रेणी के लोग हैं जिनकी दशा अत्यन्त शोचनीय है। ये लोग मैलेकु-चैले भी बहुत रहते हैं और कङ्गाल भी होते हैं, पर इनकी आमदनी कम नहीं होती। अपव्यय की अधिकता के कारण ही इनकी यह हेय दशा है।

व्यय—मज़दूरों की आर्थिक दशा का उल्लेख संक्षेप में, करने के बाद अब उनके व्यय की चर्चा की जाती है। ये लोग दो तीन मदों में बहुत अधिक ख़र्च करते हैं। सबसे अधिक धन ये अपनी पोशाक़ बनाने में ख़र्च करते हैं। किसी भी मज़दूर से आप उसके काम के समय के बाद मिलिए। आप उसे सहसा पहचान भी न सकेंगे कि यह वही मज़दूर है जो आपको एक घन्टा पहले मिल में मिला था और जिसके मैले कपड़ों से आपको घृणा होती थी। परन्तु अब वही मज़दूर १५-२० रुपये का बूट पहने, कोई ग्यारह बारह पौंड का नीली सर्ज का सूट डाटे और कालर-टाई से सुसज्जित एक धनी पुरुष सा प्रतीत हो रहा है। इसी प्रकार स्त्रियों को भी अपने शृङ्गार में बहुत द्रव्य ख़र्च करना पड़ता है। जिस प्रकार भारत की स्त्रियों का आभूषण बनवाने का बहुत शौक़ होता है उसी प्रकार यहाँ स्त्रियाँ ड्रेस पर बहुत ख़र्च करती हैं। फर कोट, जो यहाँ पर प्रायः सब स्त्रियाँ पहनती हैं, ४० पौंड से लेकर १०० पौंड तक के तथा इससे भी अधिक के होते हैं। इनको आभूषणों से भी बड़ा प्रेम होता है। इन्हें कई जोड़े कपड़ों की आवश्यकता रहती है। सायङ्काल घूमने के लिए अलग पोशाक़ होनी ही चाहिए। यदि नाच-घर में जाना हो तो उसके उपयुक्त दूसरी पोशाक़ होनी चाहिए। क्या ग़रीब और क्या अमीर, सब कोई फ़ैशन का पूरा ध्यान रखते हैं। जहाँ तक जिससे बन पड़ता है अपना शौक़ पूरा करते हैं। यहाँ यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि कुछ लोग अपने रहन-सहन में ज़रा भी अन्तर नहीं आने देते। उनकी सज-धज कभी कभी युवक और युवतियों को भी मात कर देती है। सायङ्काल ऐसे दृश्य प्रायः देखने में आते हैं। उस समय वह वृद्ध पुरुष भी जिसके समस्त बाल पक चुके हैं, जिसने उन्नीसवीं सदी का बहुत बड़ा भाग अपनी आँखों से देख लिया है, शानदार सूट-बूट से सज्जित चहल-क़दमी करते नज़र आता है। एक तो यहाँ की प्राकृतिक दशा ही ऐसी है कि कोई मनुष्य यहाँ कपड़ों के बिना रह ही नहीं सकता। उसपर जब फ़ैशन का ध्यान रक्खा जाय तब व्यय तो दुगुना तिगुना

होगा ही। जब अपने शरीर का शृङ्गार करने में ये लोग खूब द्रव्य व्यय करते हैं तब मकान के सजाने में व्यय की कमी कैसे की जा सकती है। यदि किसी मामूली मज़दूर के मकान की सजावट का अन्दाज़ा लगाया जाय तो कम से कम २०००) रुपये से तो कम में उसकी सजावट नहीं हो सकती। मुझे यह लिखने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता कि भारत के श्रमजीवी की तो गिनती ही क्या, मध्यम-श्रेणी के अच्छे लोग भी उतना व्यय नहीं कर सकते जितना कि यहाँ के श्रमजीवी बढ़ई, लोहार या जुलाहे करते रहते हैं।

भोजन—इसी प्रकार भोजन का व्यय भी इन लोगों का साधारण नहीं होता। एक तो यहाँ चीज़ें ही बहुत मँहगी हैं। यदि कोई कंजूसी से केवल दोही समय खाय तो उसका भी परिमाण कम न होगा। परन्तु यहाँ शायद ही कोई ऐसा अभागा श्रमजीवी होगा जो चारों समय भोजन न पाता हो। प्रातः-काल होने के पहले ही चाय की डेगची चूल्हे पर चढ़ जाती है। काम पर जाने से पहले नियम-पूर्वक चाय ली जाती है। चाय के साथ बिस्कुट, केक या डबल रोटी और एक आध अँडा होना ही चाहिए। इनका यह कलेवा यदि अधिक नहीं तो आठ आने से कम का नहीं हो सकता। इसके बाद मध्याह्न में पूरा भोजन होता है जिसमें मांस का भाग अधिक रहता है। यहाँ का मुख्य भोजन मांस है और मांस मँहगा होता है। परन्तु ऐसा कोई दिन नहीं जाता जब मांस छूट जाय। इस भोजन के बाद जब मिल से छुट्टी मिलती है तब फिर सायङ्काल चाय का समय आता है। इस समय चाय के साथ बिस्कुट, केक या, डबल रोटी, मक्खन और किसी फल का मुरब्बा आदि ज़रूर ही होने चाहिए। यदि कोई विशेष अवसर हो तो इससे भी विशेष तैयारी की जाती है। इसके बाद सोने से पहले के भोजन (Supper) की बारी आती है। इस तरह यहाँ के लोग चार बार खाते हैं। जो कुछ दरिद्र समझे जाते है, जो ग़रीब कहे जा सकते हैं; वे यदि अपने भोजन में किसी चीज़ की कमी करें तो केवल मुरब्बे, फल इत्यादि की। परन्तु ऐसा कोई आदमी न मिलेगा जो भूखा सो रहे।

भारतीय किसानों और मज़दूरों की तुलना यहाँ के श्रमजीवियों से हो ही नहीं सकती। जो किसान समस्त संसार को भोजन-सामग्री देते हैं, जो हज़ारों मन धान्य भूमि से उत्पन्न करते हैं, उनकी क्या दशा है? सहस्रों भारतीय कृषक पेट भर अन्न नहीं प्राप्त कर सकते। ऐसे श्रमजीवियों की भी संख्या भारत में कम नहीं है जिनको एक समय के भोजन पर ही सन्तोष करना पड़ता है। आश्चर्य यही है कि जो देश कृषि प्रधान कहलाता है उसी के निवासी पेटभर भोजन नहीं पाते। जिनको पेटभर खाने को नहीं मिलता उनकी तुलना इँग्लेंड के श्रमजीवी-समाज से करना एक उपहासा-स्पद कार्य है।

इन लोगों के खर्च की तीसरी मद मद्य-पान, नाटक, चित्र-घर, खेल-तमाशे हैं।

सायङ्काल अपने अपने कार्यों से छुट्टी पाते ही मज़दूर लोग अपने अपने घरों को जाते हैं। वहाँ काम करने के कपड़े उतार कर सायङ्काल की पोशाक पहनते हैं। उसके बाद घूमने को बाहर निकलते हैं। उस समय कोई किसी श्रमजीवी को ढूँढ़ना चाहे तो केवल दो ही स्थान हैं जहाँ वे मिल सकते हैं। वे या तो शराब-खानों में मिलेंगे या चित्र-घरों में। वे लोग अपनी कमाई का बहुत बड़ा हिस्सा इसी आमोद-प्रमोद में खोते हैं। सायङ्काल इन लोगों से शराब-खाने भरे रहते हैं। सात बजे से दस बजे रात तक शराबवालों के कमाने का समय है। वास्तव में जितना शराबखानेवाले और सिनेमा या नाटकवाले इस देश में कमाते हैं उतना दूसरे पेशेवाले नहीं कमाते। यदि इन

स्थानों की आमदनी की जाँच की जाय तो ज्ञात होगा कि इन लोगों की अस्सी प्रतिशतक आमदनी मज़दूरों ही से होती है। यहाँ सायङ्काल सात बजे से चित्र-घर या नाटक-घर खुलते हैं। परन्तु लोग आध घंटा और कभी कभी घंटा भर पहले ही से दरवाज़े पर आ खड़े होते हैं। यहाँ यह अच्छी प्रणाली है कि नाटक-घर आदि जैसे स्थानों में अधिक भीड़ के कारण किसी तरह का कोलाहल या गड़बड़ी नहीं मचती। जो पहले आया वह आगे खड़ा हो गया, जो बाद को आया वह उसके पीछे। इस तरह एक पंक्ति सी बन जाती है। प्रायः ये पंक्तियाँ फरलाँग और डेढ़ फरलाँग तक लम्बी पहुँच जाती हैं।

यहाँ के लोगों को फ़ुटबाल के खेल का बहुत शौक़ है। फ़ुटबाल का खेल देखने के लिए यहाँ के लोग कितना उत्सुक रहते हैं इसका पता भली भाँति तब लग सकता है जब फ़ुटबाल के मैदान में खेल के समय पहुँचा जाय। ऐसी भारी भीड़ होती है कि साधारण फ़ुटबाल मैचों में जन संख्या चालीस हज़ार से ऊपर पहुँच जाती है। यदि कोई विशेष मैच हो तो फिर क्या कहना। फ़ुटबाल का मैच देखना भी कोई सहज काम नहीं। साधारण मैचों में और छोटे शहरों में खेल के मैदान में जाने के लिए दरवाज़े पर १ शिलिङ्ग देना पड़ता है। यदि कोई दूर से आये तो आठ पेन्स के लगभग ट्राम के आने-जाने के भी समझ लीजिये। इस प्रकार जब रुपया डेढ़ रुपया ख़र्च करे तब फ़ुटबाल का मैच देखे। तो क्या ये मज़दूर फ़ुटबाल का मैच न देखें? फ़ुटबाल के मैदान में तीन चौथाई से अधिक जनता इन्हीं मज़दूरों ही की रहती है और ऐसे मैच प्रायः प्रत्येक सप्ताह होते ही रहते हैं। ऐसा कोई सप्ताह खाली नहीं जाता है जब कोई न कोई मैच न हो। लन्दन जैसे बड़े बड़े शहरों में १० शिलिङ्ग से कम का टिकट नहीं होता और जनता की संख्या सत्तर अस्सी हज़ार से भी ऊपर पहुँच जाती है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि यहाँ की जनता कितनी समृद्ध है। यदि लन्दन के खेल-घरों की आमदनी का अन्दाज़ा लगाया जाय तो आश्चर्य होता है। एक रात के किसी तमाशे की आमदनी हज़ार पौण्ड तक पहुँच जाती है। यदि इससे भी अधिक हो जाय तो कुछ आश्चर्य नहीं। एक कम्पनी, जिस के तमाशे का नाम (Shop Girl) शाप गर्ल है, यहाँ कई वर्ष से तमाशा कर रही है और वह भी एक ही खेल का। उसका सबसे छोटा टिकट दस शिलिङ्ग का है। उसका यह हाल है कि सीट रिज़र्व कराने के लिए कम से कम सात दिन पहले पेशगी रुपया दिया जाय तब कहीं उस में जगह मिलती है। यहाँ की जनता कितना द्रव्य इन खेल-तमाशों में व्यय कर सकती है इसका अनुमान अच्छी तरह से किया जा सकता है। यहाँ किसी भी शहर में जाकर देखिए, जहाँ देखो वहाँ चित्र-घरों और नाटक-कम्पनियों के बड़े बड़े ऊँचे मकान दिखाई देते हैं। इनके बनाने तथा सजाने में लाखों रुपये लगे होंगे। इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के अन्यान्य भोग-विलासों में यहाँ के लोग द्रव्य व्यय करते हैं।

इस व्यय का परिणाम क्या होता है? आज मिल बन्द हुई और काम करने को नहीं मिला तो कल खाने को भोजन नहीं है। द्रव्य सञ्चय की प्रवृत्ति इन लोगों में बहुत कम पाई जाती है। यदि इस प्रकार का अपव्यय न होता तो प्रत्येक मज़दूर अपनी आयु में ख़ासी पूँजी एकत्र कर सकता। उदाहरण स्वरूप ऐसे लोग भी यहाँ मिलते हैं जिन्होंने पैसे का सदुपयोग किया और ख़ासी रक़म एकत्र कर ली। उधर भारतीय मज़दूरों की हालत देखिये। सबसे प्रथम तो उन्हें मज़दूरी ही बहुत कम मिलती है, जिससे पेट भर खाने को ही नहीं मिलता, बचाने की कौन कहे। तो भी यदि

प्रत्येक नहीं तो अधिकांश श्रमजीवी यह यत्न अवश्य करता है कि उसकी आमदनी से कुछ बच जाय। फलतः वे थोड़ा बहुत धन-सञ्चय भी कर लेते हैं, परन्तु उस सञ्चित धन का बहुत बड़ा भाग विवाह, मृत-क्रिया इत्यादि मदों में ख़र्च हो जाता है। कितने ही ऐसे भी उदाहरण मिलेंगे जब विचारे मज़दूर लड़के-लड़की की शादी में दूसरों से क़र्ज़ लेकर काम चलाते हैं और उस क़र्ज़ के भार से वे प्रायः जीवन भर दबे रहते हैं। उसके सिवा उन्हें त्यौहारों इत्यादि के ख़र्च के लिए भी कुछ बचाना पड़ता है। परन्तु अपनी साधारण कमाई में वे क्या परिवार का भरण-पोषण करें और क्या बचावें। परिणाम यही होता है कि उन्हें रूखे-सूखे भोजन पर निर्वाह करना पड़ता है।

इधर मजदूरों की आय अच्छी है। माँ-बाप को लड़के-लड़की की शादी की भी कोई चिन्ता नहीं। वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त रहते हैं। यहाँ तो शादी-ब्याह युवक और युवती की इच्छा पर निर्भर है। जो जब जिससे चाहे विवाह करले। और विवाह भी थोड़े ही ख़र्च में निपट जाता है। हम यह विचार करना नहीं चाहते कि यहाँ की विवाह-प्रणाली कहाँ तक उचित है। क्योंकि यहाँ के मज़दूरों का मुख्य सिद्धान्त यह है कि खाओ-पीओ, मौज करो।

परन्तु इस समय यहाँ बेकारी का बड़ा भारी मसला है। जो हज़ारों लोग युद्ध के समय सेना में भर्ती हुए थे वे अब उसके बन्द हो जाने से बेकार हो गये हैं। उनके जीवन-निर्वाह के प्रबन्ध का सवाल यहाँ की गवर्नमेंट के सामने उपस्थित है। चन्दे किये जाते हैं, सरकार की तरफ से पेंशनें नियत की जाती हैं, तो भी यही शोर है कि खाने को भोजन नहीं मिलता। आज एक मिल बन्द हुई तो फिर किसी दूसरे कारख़ाने में हड़ताल हुई। इन बेकार लोगों को सरकार की तरफ से भत्ता मिल रहा है, ट्रेड यूनियनें अलग भत्ता देती हैं। इस प्रकार दो दो पौण्ड प्रत्येक व्यक्ति को घर बैठे मिल रहा है, परन्तु लोगों की आवश्यकतायें इतनी बढ़ी हुई हैं कि इतने में भी पूरा नहीं पड़ता। थियेटर और सिनेमा-हाल अब भी वैसे ही खचाखच भरे मिलते हैं। तमाखू और शराब के ख़र्च में कुछ भी कमी नहीं हुई। इनको तो इस बात का विश्वास है कि भूखें मरेंगे ही नहीं, फिर क्यों पैसे की परवाह करें। जो लोग बिलकुल लाचार या अपाहिज हैं और जो परिश्रम कर ही नहीं सकते उनके लिए ग़रीबख़ाने (Poor House) बने हैं उनको भोजन तथा अन्यान्य आवश्यक वस्तुएँ सरकार की तरफ से मिलती हैं।

शिक्षा—श्रमजीवी लोगों के बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध भी अत्युत्तम है। अनिवार्य शिक्षा-पद्धति प्रचलित होने के कारण प्रत्येक मज़दूर इतना शिक्षित हो जाता है कि वह अपना पत्र-व्यहार खुद कर सकता है। समाचार-पत्र भी वह मज़े में पढ़ लेता है। पाँच वर्ष के बालक को स्कूल जाना ही पड़ता है। कोई अपने बालक को इस अवस्था के बाद स्कूल जाने से नहीं रोक सकता। प्रत्येक ग्राम में, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, एक पाठशाला अवश्य होती है। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद बालकों को आगे पढ़ाना-लिखाना उसके माता-पिता की इच्छा पर निर्भर है। बारह-तेरह बरस के बालक दिन भर मिल-कारख़ाने में काम करते हैं, रात में स्कूल जाते हैं। जुलाहों के लड़के दिन में कपड़े की मिल में काम करते हैं और रात में उस स्कूल में पढ़ने जाते हैं जिसमें कपड़े बुनने की शिक्षा दी जाती है। इसी प्रकार एक राजगीर का लड़का, जो दिन में अपने बाप के साथ काम करता रहता है रात को स्कूल में पढ़ने जाता है। इस व्यवस्था से उनको व्यवहारिक एवं सिद्धान्तिक दोनों का ज्ञान मिल जाता है

और वे अपने व्यवसाय में निपुण हो जाते हैं। यही कारण है कि जब हम अपने देश में मिल और कारखाने खोलते हैं तब हमें भारतीय कार्य-कर्ता नहीं मिलते। और जो मिलते हैं वे प्रायः काम नहीं चला सकते। हमें यह सुन कर आश्चर्य हुआ कि इँग्लैंड के एक छोटे से गाँव से, जहाँ लेखक को रहने का अवसर मिला है और जिस की आबादी चार सौ से अधिक न होगी, तीन मनुष्य बम्बई की बड़ी बड़ी मिलों के मैनेजर बन कर गये हैं जिनमें एक इस समय भी वहीं विराजमान है। ये तीनों यहाँ के मामूली जुलाहे हैं। इनकी सफलता का कारण केवल यह है कि ये लोग अपने धन्धे में दक्ष होते हैं।

साधारण आचार-व्यवहार—श्रमजीवी लोगों का आचार-व्यवहार हमारे यहाँ के मज़दूरों से श्रेष्ठ है। ये लोग अपने काम पर ठीक समय उपस्थित हो जाते हैं, एक मिनट की भी देरी नहीं होती। छोटी छोटी चीज़ें चुराना या गाली-गलौज करना यहाँ के मज़दूर जानते ही नहीं। काम के समय इन पर निगरानी करने के लिए कोई भी नहीं रहता। क्या छोटा काम, क्या बड़ा काम, सब का भार इन्हीं मज़दूरों पर ही रहता है। मालिक अपने समय पर आकर सारा काम देख जाता है। यहाँ के मज़दूर असहाय और दीन भी नहीं होते। इनके बड़े बड़े सङ्घ हैं। यदि किसी मिल के मज़दूरों के साथ किसी प्रकार का अन्याय किया जाय तो कल ही उसका परिणाम मिल के मालिकों को भोगना पड़ेगा। ये लोग तभी तक मज़दूर हैं जब तक इनके साथ न्याय का व्यवहार होता है। धनियों के अन्याय और दुर्व्यवहार का सामना करने के लिए इन लोगों ने यथेष्ट शक्ति प्राप्त करली है। इस कारण कोई मिल-मैनेजर अपने मज़दूरों को बुरे शब्दों से नहीं बुलाता, गाली और मार की तो बात अलग है। लोगों का कहना है कि पहले यहाँ भी मालिक लोग अपने मातहतों के साथ मनमाना व्यवहार करते थे, परन्तु जबसे इनके सङ्घ बन गये हैं तब से कोई चूँ तक नहीं कर सकता। ये लोग स्पष्ट कह देते हैं की यदि तुम हमें धन देते हो तो हम भी उसके बदले में तुम्हारा काम करते हैं। हमने अपना आत्म-सम्मान गँवाने के लिए तुम्हारी मज़दूरी नहीं की है। यदि तुम्हें हमारा काम पसन्द नहीं तो तुम अपना काम देखो, हम जाते हैं।

परन्तु इस बीसवीं-शताब्दी में भी भारत में प्रायः ऐसे ऐसे दृश्य देखने में आते हैं जिन्हें देखकर घोर दुःख होता है। मालिक अपने नौकर को बहुधा इस प्रकार निर्दयता से मार बैठता है कि कभी कभी वह मर तक जाता है। अपने स्वामी के बूट की चोट खाकर भारतीय नौकरों का प्राण त्याग करना भारत में सम्भव है। जब हम भारतीय मज़दूरों की दशा की तुलना यहाँ के मज़दूरों से करते हैं तब हमारा हृदय विदीर्ण होने लगता है। जिनको अपने स्वत्वों का ज्ञान नहीं, जिनको आत्म-सम्मान के बचाने की शक्ति नहीं, और तो क्या जो पेट भर खाने को भोजन नहीं प्राप्त कर सकते, उनसे उच्च भावों की आशा कैसे की जा सकती है। वे अपने स्वत्वों की रक्षा कैसे कर सकते हैं? इस सम्बन्ध में उन्हीं को दोष देना उनके साथ अन्याय करना है। जब समाज ने या राज-शासन ने उन्हें उच्च बनाने में कोई यत्न नहीं किया, उनकी आर्थिक दशा सुधारने की ओर ध्यान तक नहीं दिया, तब विचारे अशिक्षित ग़रीब ही पाप के भागी कैसे समझे जायँ। जो कुली दिन भर की मेहनत के बाद आठ या दस आने कमा कर लाता है, जिसकी इस अल्प आय पर उसका सम्पूर्ण परिवार निर्भर है, वह स्वयं क्या खाये और क्या दूसरों को खिलावे। पेट बड़ी बुरी बला है। इसके कारण बड़े बड़े धर्मात्मा तक पाप कर बैठते हैं। तब उन अशिक्षित मज़दूरों का

क्या कहना है। यदि वे झूठ बोलें या चोरी करें तो इसमें आश्चर्य की कौन बात है?

यहाँ के मज़दूरों की सन्तान का हाल देखिए। कैसे मोटे-ताज़े, हृष्ट-पुष्ट इधर से उधर खेलते कूदते नज़र आते हैं। इन्हें खाने को भोजन पूरा मिलता है, पहनने को कपड़े भी पर्याप्त हैं। किसी ग़रीब का भी बच्चा ऐसा नहीं देख पड़ेगा जिसके पैर में जूते न हों, जिसके पास गरम मोज़े, गरम सूट और कालर-टाई न हो। किसी भी जाति की शारीरिक दशा का प्रत्यक्ष प्रमाण उसकी सन्तान हैं। यहाँ बच्चों की मृत्यु-संख्या भी बहुत कम है। यहाँ के गँवार लड़कों में गाली-गलौज की आदत बहुत ही कम पाई जाती है। कम से कम मैंने तो कभी नहीं सुनी। हमारे यहाँ के गँवार लड़के गली-कूचों में मारे मारे फिरते हैं, गाली देने में ख़ूब निपुण होते हैं और गाली भी ऐसी बुरी बुरी जिनका सुनना भी पाप है। उनके कोमल हृदयों पर क्या इन गालियों का बुरा प्रभाव न होता होगा? यह सब अविद्या का प्रभाव है।

यहाँ के श्रमजीवियों की तुलना भारतीय श्रमजीवियों से करना ठीक नहीं है। कहाँ इनके स्वच्छ सुसज्जित हवादार कमरे और कहाँ भारतीय मज़दूरों की टूटी झोपड़ियाँ जिनमें समस्त कुटुम्ब का निर्वाह होता है! कहाँ इनके शानदार क़ीमती कपड़े-लत्ते और कहाँ भारतीय श्रमजीवी की फटी धोती और मैले कुर्ते जिसमें उसे जाड़े और गरमी दोनों मौसम गुज़ारने पड़ते हैं! जब शीत से वे अधिक पीड़ित होते हैं तब वे सूर्य-देवता की शरण में जाते हैं और उन्हें किसी तरह अपने दिन काटने पड़ते हैं। ऐसी दशा में यह शरीर-रथ कितनी दूर चल सकता है। तीस-बत्तीस वर्ष की उम्र ही में बुढ़ापा अपना रङ्ग दिखाने लगता है। न जाने कब हमारे देश के मज़दूरों का भाग्योदय होगा?

एस० बहादुर, इँगलैंड

पशुओं पर सङ्गीत का प्रभाव।
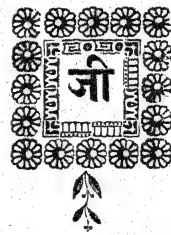
जीव-जन्तुओं पर भी सङ्गीत का प्रभाव पड़ता है। मौखर बजाकर सँपेरे साँपों को अपने क़ाबू में कर लेते हैं। इस बात की चर्चा संस्कृत के काव्यों में है कि बंशी बजा कर शिकारी हिरनों को मार लेते थे। छत्तीसगढ़ के देहाती एक प्रकार का झुँनझुना बजाकर आजकल भी ख़रगोश का शिकार करते हैं। परन्तु जीव-जन्तुओं पर वाद्ययन्त्रों का कैसा प्रभाव पड़ता है इस बात की जाँच वैज्ञानिक रीति से पाश्चात्य देशों में ही हुई है। अतएव एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक के लेख के आधार पर इस सम्बन्ध में आगे कुछ लिखा जाता है।

विभिन्न स्वभाव के जीव-जन्तुओं पर वाद्य-यन्त्रों का प्रभाव भी भिन्न भिन्न प्रकार का पड़ता है। बाजे को सुनकर कोई जीव उत्तेजित हो उठते हैं तो कोई सन्तुष्ट हो जाते हैं। कोई कोई उन्हें केवल चुपचाप सुन भर लेते हैं। परन्तु ऐसे भी जीव होते हैं जिन पर बाजे का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। किस जानवर पर बाजे का कैसा प्रभाव पड़ा, यह बात जान लेना सहज नहीं है। तो भी उद्योगी पुरुषों ने इस सम्बन्ध में अनेक जानवरों की परीक्षा की है और जो परिणाम निकले हैं वे बहुत ही मनोरञ्जक और विचित्र प्रमाणित हुए हैं।

इस कार्य को हाथ में लेते समय पहले इस बात का निर्णय किया गया कि किन वाद्य-यन्त्रों से परीक्षा की जाय। इस कार्य के लिए कौन कौन बाजे अधिक उपयुक्त हैं। यह बात शीघ्र ही मालूम हो गई कि उच्च तथा कड़े स्वरवाले वाद्य-यन्त्रों की अपेक्षा मधुर स्वरवाले यन्त्र जानवरों के ध्यान को आकर्षित करने में अधिक उपयोगी हैं। उदाहरण के लिए तुरही या सहनाई की ऊँची आवाज़ से वे उत्तेजित

हो जाते हैं और अलगोज़ा जैसे बाजों की ओर वे ध्यान तक नहीं देते। हाँ, बैगपाइप या बेला वे बड़ी रुचि से सुनते हैं। विचित्रता तो यह है कि जो पक्षी या पशु किसी वाद्य-यन्त्र की ध्वनि से आकृष्ट नहीं होते वे महोख या बतक की आवाज़ पर मुग्ध हो जाते हैं। इस बात का अनुभव शिकारियों ने किया

बन्दर पर बाजे का प्रभाव।

है। महोख या बतक की बोली बोल कर ऐसी चिड़ियों या जीवों का शिकार वे बहुधा किया करते हैं। वाद्य-यन्त्रों का प्रभाव जीव-जन्तुओं पर कैसा पड़ता है, इस बात का अनुभव यद्यपि इस लेख के लेखक ने भिन्न अवस्थाओं तथा अनेक स्थानों में भाँति भाँति के जीव जन्तुओं की परीक्षा करके प्राप्त किया है तो भी जो विवरण यहाँ दिया जाता है वह मुख्य करके लन्दन के रेजेंट पार्क की जन्तु-विद्या सभा के बगीचों में किये गये प्रयोगों का ही फल है।

पहले पहले बन्दर की परीक्षा की गई। इस बात का जानने का प्रयत्न किया गया कि चञ्चल चित्त बन्दर जाति पर वाद्य-यन्त्रों का कैसा प्रभाव पड़ता है। बन्दरों के वास-स्थानों में गीत-वाद्य एक प्रकार से बिलकुल ही नहीं सुनाई देते। अस्तु बाजेवाले और फोटोग्राफर वहाँ कई घंटे तक अपने कार्य में लगे रहे। बाजेवाला इस बात के प्रयत्न में था कि वह मधुर स्वर में बाजा बजा कर बन्दर को मुग्ध करले और फोटोग्राफर इस बात की प्रतीक्षा करता था कि बाजे के प्रभाव से बन्दर जैसे भाव-भङ्गी प्रकट करें उनका चित्र वह तत्क्षण उतार ले। जब बन्दर किलकारते थे उस समय बेला बजने लगा। परन्तु उसका उन पर कैसा प्रभाव पड़ा यह बताना एक प्रकार से असम्भव है। बेला बहुत ही अच्छे ढँग से बजाया गया था। फलतः सारे बन्दरों ने शोरगुल बन्द कर दिया और वे निस्तब्ध हो गये। परन्तु क्षण ही भर में वे इतना अधिक उत्तेजित हो गये कि वे अपने बड़े बड़े पिंजरों की छड़ें पकड़ कर, जहाँ तक शीघ्र उनसे
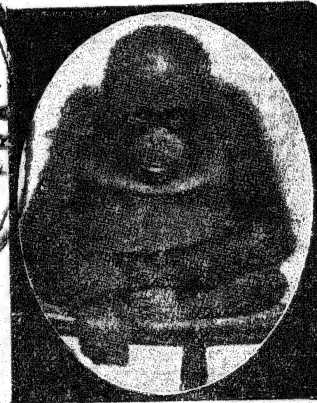
बन्दर तिपाई पर बैठकर बाजा सुन रहा है।

बन पड़ा, ऊपर जा चढ़े। उनकी इस विकलता को देख कर बेला बन्द करवा दिया गया। इससे यह सिद्ध हुआ कि बन्दरों की ज्ञान तन्तुओं के लिए बेले का स्वर असहनीय है, परन्तु कुछ दिनों के बाद जब हम फिर बन्दर-घर को गये तब सीटी

(whistle) बजाई गई। उसकी ध्वनि सुनकर वह दुःख से चकित हो गया। परन्तु वह चुपचाप बैठे सुनता रहा। उसने अपने हाथ-पैर सिकोड़ लिये थे मानो वह उसको बहुत कुछ आत्म-संवरण किये हुए सुन रहा हो। एक दूसरा बन्दर जो अपने रक्षक की गोदी में था दूसरे ही प्रकार का भाव व्यक्त करने लगा। उसके मुँह का निचला जबड़ा लटक सा गया था। वह बाजेवाले को मुँह टेढ़ा करके देखने लगा, परन्तु वह अपने रक्षक की देह से चिपटा ही रहा। ओरेंगउटैंग जाति के बन्दरों के घर में और ही प्रकार का अनुभव हुआ। जब हम उस स्थान में
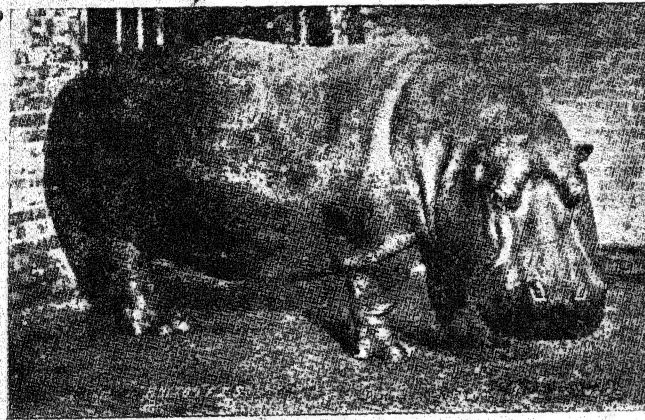
दरियाई घोड़े पर बाजे का प्रभाव।

पहुँचे, वह बाहर निकाला गया और एक छोटी तिपाई पर बिठाया गया। जब उसके सामने बाजा बजाया जाने लगा तब उसने उसे बहुत ही ध्यान देकर सुना। बाजे का मधुर स्वर वह चुपचाप बैठे बड़े प्रेम से सुनता रहा। यही नहीं जब बाजा बन्द कर दिया गया तब उसने चीख़ कर अपना रोष भी दिखाया।

इतना अनुभव प्राप्त होजाने के बाद एक दिन उकाबपक्षी के सामने बाजे बजाये जाने का निश्चय किया गया। इन बड़ी चिड़ियों ने भी बहुत ही प्रेम से वाद्य-यंत्रों को सुना। उन्होंने किसी भाँति की आतुरता नहीं दिखाई और जैसे जैसे बाजा बजने लगा वैसे ही वैसे वे और भी शान्त और मुग्ध से होते जाते थे। यह बात उनकी आकृति से स्पष्ट प्रगट होती थी कि सङ्गीत को सुनकर वे ख़ुश हुए हैं। उनके पास ही गिद्धों का पिँजरा था, पर उन्होंने कुछ अधिक उत्तेजना न दिखाई। वे केवल अपना सिर उठा और गर्दन लम्बी करके विचित्रता के साथ हम लोगों की ओर देखते रहे।

हाथियों पर बाजे का प्रभाव पड़ने की आशा पहले ही से न थी और जब हम उनके पास गये तब हमारी सम्भावना ठीक उतरी। यद्यपि वहाँ बहुत ही ऊँचे तथा उत्तेजित करनेवाले स्वर में बाजा बजाया गया था, तो भी वे ज़रा भी न रीझे वरन् अपनी सूँड़ और दुम हिला कर तथा बेचैनी से अपने पैर इधर-उधर रख रख यह सूचित करते थे कि जितना ही शीघ्र हम लोग वहाँ से हट जायँ उतना ही अधिक आनन्द उन्हें प्राप्त होगा। पशु-शाला में हाथी ही एक ऐसे जानवर हैं जिनसे इस सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करने की आशा करना दुराशा मात्र है। हाँ, वे बैंड बाजे, बच्चों की बातों और घबराहट की आवाज़ के ही अभ्यस्त होते हैं। जङ्गली हाथियों पर बाजे का कैसा प्रभाव पड़ता है यह जानना दुस्तर कार्य है। यद्यपि लेखक उस स्थान तक गया है जहाँ वे जङ्गलों में रहते हैं, पर इस सम्बन्ध का अनुभव प्राप्त करने की तब इच्छा ही न हुई।

एक बार हमारे बाजेवाले ने दरियाई घोड़े तथा गैंड़े की परीक्षा लेने की ठानी। हमने उसकी बात हँसी में उड़ा दी। क्योंकि हमें इस बात की आशा ही नहीं थी कि दरियाई घोड़ों को सङ्गीत रुचेगा। परन्तु वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। उसने कहा कि मैं तो अवश्य परीक्षा लूँगा और देखूँगा कि उसकी

निद्रा मेरे बजाने से भङ्ग होती है कि नहीं। पशु-शाला का दरियाई घोड़ा अपने घर में सदा सोता ही रहता था। वह अपने घर के एक कोने में, जहाँ उसे हवा न लगे, चुपचाप ज़मीन पर अपना विशाल सिर टेके खड़े खड़े सोया करता था। हम तो ऐसा समझते थे कि उसकी निद्रा बिना भूकम्प हुए कदापि नहीं भङ्ग हो सकती, परन्तु हमारे बाजेवाले ने हमारी इस धारणा को निर्मूल कर दिया। उसने उस दिन इतने परिश्रम से बाजे को बजाया था कि उसका मुँह लाल हो गया था। इतना घोर परिश्रम करने पर उस चिरनिद्रित पशु पर उसका प्रभाव पड़ा। इतनी अधिक मेहनत ले चुकने के बाद उसने धीरे से अपना नीचे का जबड़ा, जो ज़मीन पर रक्खा था, ऊपर उठाया और कुछ घुमाकर उसने फिर उसे ज्यों का त्यों उसी स्थान पर जमा दिया। इसके बाद उसने भारतीय गैंड़े की अजमाइश की। बाजे को सुनकर इस भयङ्कर जानवर ने अपने कान ताने, शृङ्ग सज्जित अपना बाँसा ऊपर को उठाया और बेतहाशा हम लोगों की ओर दौड़ पड़ा। उसकी इस क्रिया से ऐसा मालूम हुआ, मानों उसकी ख़ुशी का कुछ ठिकाना ही नहीं।

इस सम्बन्ध में हिंसक जन्तुओं की जाँच करते समय जो परिणाम निकले वे इस तरह हैं। हम लोग इन जन्तुओं के बाड़े में पहुँचे। वहाँ एक शेरनी उस समय गहरी नींद में पड़ी सो रही थी। उसकी पीठ हम लोगों की ओर थी। जब उसके पास बाजा बजाया जाने लगा तब वह तुरन्त जाग पड़ी। उसकी चेष्टा से उत्तेजना झलकती थी। उसे बैग-पाइप का बाजा बहुत पसन्द आया। इसके बजने पर वह अपने कठघरे की छड़ों के पास आ खड़ी हुई। वह उस समय उछलने जैसे तथा अर्द्धभयभीत आसन में बैठी थी, परन्तु जब बाजे का स्वर अधिक ऊँचा हुआ तब वह अपने कठघरे में उछल कर घूमने लगी। इसके बाद हम वनबिलावों के कठघरे के पास गये। वे उस समय अर्द्ध निद्रित दशा में लेटे हुए थे। जब बाजा बजने लगा तब वे उठ बैठे और चारों ओर देखने लगे। अन्त में आगे आ कर और अपने पञ्जों के बीच अपना सिर रखकर बाजे को सन्तोष के साथ सुनने लगे। परन्तु जब बाजा ज़ोर से बजने लगा तब वे तुरन्त भड़क गये और जल्दी जल्दी अपने कठघरे में इधर से उधर घूमने लगे।
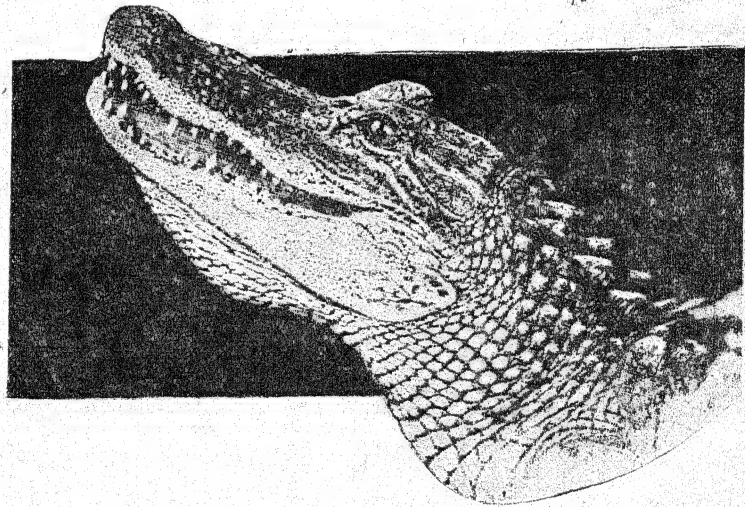
मगर पर बाजे का प्रभाव।

यात्री लोग ऐसी अनेक कहानी कहते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि भेड़ियों और शृगालों पर भी सङ्गीत का प्रभाव पड़ता है। इनकी कहानियों में इस बात का उल्लेख है कि जब जङ्गलों में भेड़ियों और शृगालों के सामने बेला बजाया गया तब पंक्तिबद्ध होकर उन्होंने उसे

बड़े प्रेम से सुना। सम्भव है कि इन कहानियों की बातें सच हों। परन्तु पशु-शाला के भेड़ियों और शृगालों पर जो प्रभाव सङ्गीत का पड़ा वह इनके बिलकुल विपरीत हुआ। जब इन जन्तुओं के सामने बाजा बजाया जाने लगा तब ये अपने कठघरे में शीघ्रता से पीछे को हट गये और वहाँ छड़ों से भिड़ कर जा खड़े हुए। उनकी पूँछ नीचे की ओर झुकी थी और देह के बाल फटकर खड़े हो गये थे। उनके कान नीचे को झुके थे और वे ओठों को सिकोड़े खीस काढ़ कर अपने दाँत दिखा रहे थे। उनकी वह आकृति भयसूचक तथा क्रोधव्यञ्जक मालूम पड़ती थी।

बाजे को सुनकर बाघों और चीतों ने विभिन्न प्रकार के भाव व्यक्त किये। जब एक पुराने बाघ के सामने बाजा बजाया जाने लगा और उस पर उसके जैसे प्रभाव पड़े उनसे यह सिद्ध हुआ कि कोमल और मधुर स्वर के सुनने में वह अपनी रुचि प्रकट करता है। जब इस ढङ्ग से बाजा बजाया गया तब वह बार बार जँभुआया और ऐंड़ा कर उसने अपनी मनःतुष्टि व्यक्त की। कभी कभी वह अपनी पीठ कठघरे की छड़ों से रगड़ने भी लगता था। इससे भी उसकी अभिरुचि प्रकट होती थी।

जब मगर की परीक्षा के लिए वहीं के एक जल-कुण्ड के पास बाजा बजाया गया तब उसने अपना सिर पानी के बाहर निकाला। वह हँसता सा मालूम पड़ता था और उसकी आँखें चमकती थीं। उसके सब दाँत स्पष्ट दिखाई देते थे। वह बाजे को थोड़ी देर तक चुपचाप सुनता रहा, परन्तु जब उसने डुबकी लगाई तब वह फिर न निकला। यद्यपि बाजा बहुत देर तक बजता रहा और उसे निकालने के लिए चेष्टाएँ की गईं, पर उसने फिर दर्शन न दिया। इसके बाद हमने चलते चलते माहीख़ोर नाम के पक्षी की भी जाँच की यह उस पशुशाला में २४ वर्ष से था। जब उसके सामने बाजा बजने लगा तब वह गहरी नींद में था। परन्तु बाजे को सुनकर उसने एक बड़ी भारी जँभुआई ली और अपनी चोंच खूब फैला दी। इसके बाद अपनी चोंच बन्द कर तथा उसे अपनी बाजुओं में घुसेड़ वह पहले की भाँति फिर सोने लगा। अधिक समय हो जाने से हमने उसे और अधिक छेड़ना उचित न समझा और हम लोग वापस चले आये।

निस्सन्देह इस बात का अनुभव प्राप्त करना कि जीव-जन्तुओं पर सङ्गीत का कैसा प्रभाव

माहीख़ोर पर बाजे का प्रभाव

पड़ता है बहुत ही अनूठा और मनोरञ्जक कार्य है। यह कोई बात नहीं कि इस सम्बन्ध के प्रयोग पशु-शालाओं में ही किये जा सकते हैं। घर में और खेतों तथा बाग़-बगीचों में भी यह काम हो सकता है।

देवीदत्त शुक्ल

——

नेपोलियन का शासन-सङ्गठन ।

नेपोलियन बोनापार्ट का नाम किसने नहीं सुना ? कार्सिका द्वीप के एक साधारण वंश में जन्म-ग्रहण करके, अपने बुद्धिबल, पराक्रम और चातुर्य के द्वारा केवल पचीस वर्ष की अवस्था में उसने प्रजा-सत्तात्मक फ़्रांस के सेनापति के रूप में इटली का विजय किया। वहाँ उसने कई राज्यों से कर लिया, कई से सन्धि कर उनके देश का कुछ भाग लेकर नये नये राज्य स्थापित किये और इटली से आस्ट्रिया को निकाल बाहर किया। इस इटली-विजेता सेनापति का यशःसौरभ योरप में सर्वत्र व्याप्त हो गया। उस समय फ़्रांस के शासन की बागडोर केवल पाँच डाइरेक्टरों के हाथों में थी और उनके नीचे दो व्यवस्थापिका सभाएँ भी थीं। एक "वृद्धसभा" (Council of Ancients) थी और दूसरी का नाम "पञ्चशत-सभा" था। यह वह समय था जब फ़्रांस के भयङ्कर राष्ट्रविप्लव की आग शीतल हो चुकी थी। फ़्रांस के राजा और रानी को शूली मिल चुकी थी। "भयराज्य" (Reign of Terror) के विकराल दिवस व्यतीत हो चुके थे। कुछ वर्ष पूर्व इँग्लैंड, आस्ट्रिया, प्रशिया और रशिया ने गुट्ट बाँध कर इन राज-सङ्घातक-विप्लव-कारियों के विरुद्ध युद्ध ठाना था। फ़्रांस में वे घुस भी आये थे। परन्तु अपने देश और मान की रक्षा के लिए इन विप्लवकारियों ने अद्भुत सामर्थ्य और पराक्रम का परिचय दिया। प्रजासत्ता, स्वतन्त्रता, और समानता के नये सिद्धान्तों से उन्मत्त रूसो और वाल्टेयर के इन नवीन शिष्यों ने उन प्राचीन, जर्जर और जीर्ण राज्यों के शासकों से अपनी मातृ-भूमि की रक्षा करने को कमर कसी और अन्त में इन्होंने उन्हें अपने देश से मार भगाया। रशिया और प्रशिया पूर्वोक्त गुट्ट से खिसक गये। केवल इँग्लैंड अन्य-राज्यों को फ़्रांस के विरुद्ध भड़काने और उनको आर्थिक सहायता देने के कार्य्य में लगा रहा। उसके पास इतनी सेना नहीं थी कि वह अपने द्वीपों की रक्षा भी करे और योरप में अपने मित्रों की सहायता के लिए सैन्य भी भेजे। बस, केवल आस्ट्रिया का दर्प अभी चूर्ण नहीं हुआ था। उसी को नाश करने के लिए जनरल बोनापार्ट इटली भेजा गया था।

"मैरङ्गुआ" के प्रसिद्ध युद्ध में आस्ट्रिया की पूर्ण पराजय हुई। अन्त में "कैम्पो-फोर्मियो" की सन्धि के अनुसार इटली में फ़्रांस का आधिपत्य स्थापित हो गया। तदनन्तर इँग्लैंड के व्यापार को धक्का पहुँचाने के लिए जनरल बोनापार्ट मिश्र भेजा गया। बोनापार्ट की अनुपस्थिति में फ़्रांस को फिर शत्रुओं ने आ घेरा। आस्ट्रिया, प्रशिया और इँग्लैंड ने फ़्रांस को बोनापार्ट से रहित पाकर उस पर फिर आक्रमण किया। बोनापार्ट उस समय मिश्र-विजय कर चुका था और सीरिया में युद्ध कर रहा था। फ़्रांस का समाचार पाकर वह तुरन्त लौट पड़ा। भूमध्यसागर में उसके ख़ून के प्यासे अँगरेज़ी जहाज़ चक्कर लगा रहे थे। भाग्यवश उनसे बचकर वह फ़्रांस पहुँच गया। तब तक शत्रु खदेड़ दिये गये थे। इस प्रकार ६ अक्टूबर सन् १७६६ में उसने फ़्रांस की भूमि पर पदार्पण किया।

डाइरेक्टरी के शासन की परीक्षा हो चुकी थी। उसकी निर्बलता और अयोग्यता का ज्ञान फ़्रांस-वासियों को भली भाँति हो चुका था। 'लावेण्डी' नामक प्रान्त में अशान्ति के विकरालचिह्न विद्यमान थे। देश की आर्थिक-दशा शोचनीय थी। यद्यपि शत्रुओं के आक्रमणों से फ़्रांस को छुट्टी मिल चुकी थी, तोभी डाइरेक्टरी के शासन की क़लई खुल जाने से सब लोग उससे असन्तुष्ट थे। ऐसे समय में सारे देश-भक्तों की आँखें इटली और मिश्र के विजेता जनरल बोनापार्ट पर पड़ीं। देश की नौका को तूफ़ान में सुरक्षित रूप से

खेने के लिए वही नवयुवक उपयुक्त कर्णधार समझा गया।

नेपोलियन के राज्य-शासन को भली भाँति समझने के लिए उस समय के फ्रांस की दशा का चित्र सामने रखना अत्यन्त आवश्यक है। पेरिस पहुँच कर नेपोलियन ने वहाँ की दशा की देख-भाल की। वह जानता था कि डाइरेक्टरों की निर्बलता के कारण देश में अशान्ति और असन्तोष फैला हुआ है। उसने तीन डाइरेक्टरों को अपनी ओर कर लिया और "वृद्धसभा" तथा "पञ्चशत-सभा" से उन सभासदों को निकाल दिया जो प्राचीन-व्यवस्था के पक्ष में थे। फलतः शेष दो डाइरेक्टरों को भी पदत्याग करना पड़ा। यह घटना ९ नवम्बर १७९९ की है और ब्रुमेअर मास के राष्ट्रविप्लव के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद तीन सभासदों—बोनापार्ट, सिये और रोगर ड्यूकास—की एक अस्थायी-सभा उस समय तक देश के प्रबन्ध के लिए नियत की गई जब तक नवीन-सङ्गठन स्वीकृत न हो जाय।

नई व्यवस्था के सङ्गठन का भार सिये को दिया गया। सिये ही ने सन् १७९१-९३-और ९५ में नये सङ्गठनों की रचना की थी। इसलिए इस बार भी उसी को यह कार्य्य सौंपा गया। जब सङ्गठन की व्यवस्था तैयार होगई तब उस पर सिये और नेपोलियन में परस्पर बहस हुई। यद्यपि नेपोलियन ने उसमें बहुत कम परिवर्तन किये तथापि सिये की स्कीम को उसने ऐसा रूप दे दिया कि उसमें आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। सिये की स्कीम के अनुसार शासन का वास्तविक सूत्र ६० सभासदों की एक 'मण्डली' के हाथ में होता; परन्तु नेपोलियन ने समस्त अधिकार केवल एक ही पुरुष के हाथ में दे दिया। इस नव-सङ्गठित व्यवस्था को "अष्टम वर्ष का सङ्गठन" (Constitution of the year VIII) कहते हैं, क्योंकि फ्रेञ्च-विप्लवकारियों के नये संवत् के आठवें वर्ष में, अर्थात् सन् १८०० में, वह व्यवस्था स्वीकृत हुई थी।

"अष्टम् वर्ष के सङ्गठन" के अनुसार तीन "काँसल" (सर्वोच्च पदाधिकारी) नियत हुए। इन में नेपोलियन प्रथम काँसल हुआ। अन्य दो काँसल प्रथम काँसल के नीचे रक्खे गये। उनको केवल सम्मति देने का अधिकार था। प्रथम काँसल को ही मन्त्री नियत करने और शासन के निरीक्षण का अधिकार था। इसके सिवा ६० मेम्बरों की सिनेट-सभा की जो व्यवस्था की गई थी वह इस प्रकार थी। नव सङ्गठन में दो सिनेटरों, सिये और रोगर ड्यूकास, के नाम दे दिए गए थे। काँसलों की सहायता से वे दोनों पहले सिनेट के अधिकांश मेम्बर चुनते थे। तदनन्तर स्वयं सिनेट को शेष मेम्बर चुन लेने का अधिकार था। सिनेटर जीवन भर के लिए नियत होते थे। सिनेट का काम सङ्गठन की रक्षा करना था। इसके अतिरिक्त क़ानून बनानेवाली दोनों सभाओं—व्यवस्थापिका-सभा और ट्रिब्यूनेट—को नियत करने का भार भी उसी पर था।

व्यवस्थापिका-सभा (Legislative Assembly) के सदस्यों की संख्या ३०० थी, और ट्रिब्यूनेट की १००। प्रतिवर्ष इन दोनों सभाओं के पञ्चमांश सभासद निकाल दिये जाते थे और उनके स्थान पर नई भर्ती होती थी। प्रथम काँसल एक "कौन्सिल आव् स्टेट" को भी नियत करता था, जो वास्तव में गवर्नमेंट की मशीन को चलाने की असली कमानी थी। केवल कौन्सिल आव् स्टेट ही को किसी नये क़ानून के बनाने का अधिकार था। जब किसी नये क़ानून के बनाने की आवश्यकता होती तब कौंसिल आव् स्टेट के तीन सभासद व्यवस्थापिका-सभा में उपस्थित होकर उसका प्रतिपादन

करते थे और तीन ट्रिब्यून उस पर प्रजा की ओर से अपना मत प्रकट करके बहस करते थे। परन्तु ट्रिब्यून को 'वोट' देने का अधिकार नहीं था। वोट का अधिकार केवल व्यवस्थापिका सभा के सभासदों ही को था। नेपोलिन के चरित-लेखक रोज़ साहब लिखते हैं, "कौंसिल आव् स्टेट तथा ट्रिब्यून्स की तुलना मुद्दई और मुद्दाअलेह से की जा सकती है। व्यवस्थापिका सभा के सभासद तो केवल मूक-न्यायाधीश के समान थे"। इस प्रकार क़ानून बनानेवाली सभाओं के तीन भाग कर दिए गये थे। कौंसिल आव् स्टेट तो क़ानून का श्रीगणेश करके उसके पक्ष में बहस करती थी। ट्रिब्यून्स भी उस पर बहस कर सकते थे परन्तु 'वोट' नहीं दे सकते थे। व्यवस्थापिका सभा अपना 'वोट' दे सकती थी, परन्तु बहस नहीं कर सकती थी। इस विचित्र रचना के कर्ता की बलिहारी। प्रथम कौंसलरूपी स्वर्णकार इन तीन अग्नियों से तपाकर मनोनीत क़ानूनरूपी आभूषण गढ़ लेता था। इन तीनों सभाओं को आपस में लड़ाकर प्रथम कौंसल मनमाना क़ानून रच सकता था।

इस प्रकार शासन की समस्त बागडोर वास्तव में एक ही पुरुष के हाथ में थी। परन्तु इस बात को छिपाने के निमित्त माया का एक विचित्र ठाठ खड़ा किया गया था। प्रजा-सत्ता की अवहेलना करना साधारण बात न थी। दस वर्ष पूर्व इसी एक पुरुष के शासन के विरुद्ध तथा जन-सत्ता की कामना के लिए एक भयङ्कर तूफ़ान आ चुका था और फ़्रांस के अभागी राजा लुई सोलहवें को प्राण-दण्ड मिल चुका था। अतएव यदि वास्तविक जन-सत्ता न सही तो दिखावटी जन-सत्ता का मायायुक्त जाल तो अवश्य ही होना उचित था। इसलिए क़ानून रचने की सभाएँ नियत की गई थीं। उनमें खूब ज़ोर-शोर से बहसें हुआ करती थीं। कौंसिल आव् स्टेट और ट्रिब्यून्स एक दूसरे को लाल-पीली आँखें दिखाते थे, लड़ते थे और विवाद करते थे। परन्तु परिणाम वही होता था जो ऊपर लिखा जा चुका है।

इसी दिखावट के लिए एक अद्भुत निर्वाचन प्रथा की भी रचना हुई थी। प्रति ज़िले के समस्त पूर्णवयस्क पुरुष एकत्र होकर अपने में से दशांश पुरुष चुन लेते थे। इनमें से म्यूनिसीपल्टी आदि के कर्मचारी नियत किये जाते थे। अब प्रत्येक सूबा या डिपार्टमेण्ट के प्रधाननगर में सब ज़िलों के उक्त दशांश पुरुष एकत्र होकर फिर अपने में से दशांश पुरुष चुनते थे। इनका नाम 'सूबे की नामावली' में रहता था। इनमें से सूबों के कर्म्मचारी प्रथम कौंसल द्वारा नियत किये जाते थे। फिर पेरिस में समस्त सूबों की नामावलियों के पुरुष एकत्र होकर अपने में से दसवाँ भाग चुन लेते थे। इस को "राष्ट्रीय-नामावली" कहते थे। इस "राष्ट्रीय-नामावली" में से राष्ट्रीय कर्मचारी, मन्त्री और कौंसिल आव् स्टेट, सिनेट, व्यवस्थापिका-सभा और ट्रिब्यूनेट के सभासद नियत होते थे। इस प्रकार प्रजा-मत तीन बार दशमलव-प्रथा द्वारा विचित्र चलनियों से छन छनकर गवर्नमेण्ट के अन्तवर्ती कुण्ड में पहुँच पाता था। भूसी उड़ा उड़ा कर दाना एकत्र करने के लिए क्या ही अद्भुत उपाय था! जन-सत्ता को मान-भङ्ग से बचाने के निमित्त इस अनुपम ठाठ की रचना की गई थी।

सन् १८०१ ई० में नेपोलियन ने फिर एक बार आस्ट्रिया को पददलित करके उसके साथ ल्यूनविल की सन्धि की और इँग्लेंड से भी अमीन्स की सन्धि होगई। इसके साथ ही साथ फ़्रांस की उन्नति के निमित्त भी उत्तमोत्तम सुधार किए गए। सन् १८०२ में फिर उपर्युक्त सङ्गठन में कुछ सुधार किए गए। अब तीनों कौंसल अपने जीवन-काल के लिए अपने पदों पर नियत हो गए। प्रथम कौंसल को

अपना उत्तराधिकारी नियत करने का अधिकार मिल गया। अब युद्ध और सन्धि का समस्त अधिकार उसी के हाथ आगया। सिनेट की संख्या बढ़ा कर १२० कर दी गई। सिनेटर्स को नियत करने का अधिकार प्रथम कौंसल को मिल गया। निर्वाचन-विधान में भी परिवर्तन हो गया। अब प्रत्येक ज़िले के सब लोग मिल कर ६०० सबसे अधिक धनवान् पुरुषों में से पदाधिकारियों के लिए एक नामावली तैयार करते थे। उनमें से प्रथम कौंसल मनोनीत पुरुषों को चुन लेता था।

सन् १८०४ में नेपोलियन बहु सम्मति से फ्रांस का सम्राट् नियत हुआ। फिर सङ्गठन में कुछ परिवर्तन हुआ। सिनेट की संख्या अपरिमित कर दी गई। सिनेट अब पूरी तरह से सम्राट् के अधीन हो गई। ट्रिब्यूनेट के तीन भाग कर दिए गए। कुछ समय के उपरान्त ट्रिब्यून का अन्त हो गया। व्यवस्थापिका सभा का अब केवल यही काम रह गया कि सम्राट् के आदेशों को चुपके से लिख लिया करे। इस प्रकार ४ वर्षों के भीतर ही फ्रेंञ्च रिपबलिक का सेनापति बोनापार्ट सम्राट् नेपोलियन हो गया।

लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी

सत्य क्या है ?

जब कोई भी विवाद-ग्रस्त प्रश्न उपस्थित होता है तब सत्यासत्य का निर्णय करना कठिन हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कथन को सत्य और दूसरे के कथन को असत्य कहता है और सभी अपने अपने कथन को सत्य सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु "सत्य" के विषय में विवाद या मतभेद नहीं हो सकता। सत्य क्या है, यह बात सभी समझ सकते हैं। हम इसे स्वीकार करते हैं और हमारे प्रतिपक्षी भी इसे मानते हैं। विवाद सिर्फ इतना ही रहता है कि किसका पक्ष सत्य है और किसका पक्ष असत्य। "नहि सत्यात्परो धर्मः" सत्य का यह माहात्म्य वाद-विवाद में दोनों पक्षों को स्वीकृत है। मतलब यह कि "सत्य" स्थिर निश्चित और सुबोध है। सामान्य रूप से सत्य की यह मर्यादा निर्धारित कर लोग वाद-विवाद प्रारम्भ करते हैं। वाद-विवाद में ऐसा प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है कि अपने कथन के समर्थन में जो प्रमाण एक पक्ष देता हैं उन्हें प्रतिपक्षी मान्य नहीं करता। तब कौन "प्रमाण" मान्य है, इस पर ऊहापोह प्रारम्भ होता है। चार्वाकवादियों के समान कई लोग प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मान्य समझते हैं। परन्तु सामान्य जन प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों प्रमाणों को ग्राह्य समझते हैं। हिन्दू अपने श्रुति, स्मृति आदि आदरणीय ग्रन्थों के कथन को प्रमाण मानते हैं। जैन अपने धार्मिक ग्रन्थों को प्रामाणिक समझते हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न पन्थ के लोग अपने अपने धर्म के मूल-ग्रन्थ को सर्वथा प्रमाण मानते हैं।

परन्तु सत्य के निर्णय में सूक्ष्मविचारक इससे भी अधिक गहरे जा पहुँचते हैं। सामान्य मनुष्य सत्य का मतलब यही जानता है कि जो वस्तु जैसी हो उसका वैसा ही ज्ञान होना सत्य है और असत्य वस्तु का विपरीत ज्ञान है। सामान्य मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार सत्य की यही व्याख्या करेगा कि जो वस्तु स्थिति के अनुकूल और अनुरूप है वह सत्य-ज्ञान है और बाकी असत्य ज्ञान।

यहाँ प्रश्न होता है कि वस्तु-स्थिति के अनुकूल का अर्थ क्या है? इसका उत्तर है, जैसी "वस्तु" हो वैसा ही उसका मानसिक प्रतिबिम्ब या चित्र जिस विचार में हो वह विचार सत्य और अन्य प्रकार के विचार असत्य हैं। दृष्टान्त लीजिए—एक रस्सी (रज्जु) देखने पर उसका यथार्थ प्रतिबिम्ब अपने मन में हो तो उस ज्ञान को सत्य समझना चाहिए और रस्सी देखकर यदि हमारे

मन में साँप का आभास हो अर्थात् रस्सी के बदले साँप का चित्र हमारे आँखों के सामने खड़ा हो जाय तो उसे अज्ञान समझना चाहिए। कहने का मतलब यह कि वस्तु का यथार्थ-अनुरूप-प्रतिबिम्बात्मक जो ज्ञान है उसे हम सत्य कहते हैं।

पर यह उत्तर भी विशेष समाधानकारक नहीं प्रतीत होता। इसका कारण यह है कि "प्रतिबिम्ब" "चित्र" आदि साकार वस्तुओं का ही हो सकता है और विचार, कल्पना, मनोविकार आदि मानसिक वस्तुएँ निराकार होती हैं। ऐसी मानसिक वस्तुओं का प्रतिबिम्ब कल्पनातीत है। चन्द्रमा, कमण्डलु, रस्सी आदि प्रत्यक्ष और साकार वस्तुओं का प्रतिबिम्ब कल्पनागम्य होने के कारण "तदनुरूप जो ज्ञान वह "सत्य" इस वाक्य का अर्थ समझना सहज है। परन्तु "शक्ति" "कारण" "अभाव" 'ज्ञान" इन अमूर्त वस्तुओं का चित्र आँखों के सामने उपस्थित न होने के कारण या उनका कोई रूप अथवा आकार न होने के कारण वस्तु-स्थिति के अनुरूप ज्ञान कैसे होता है, इसकी कल्पना नहीं हो सकती। इसलिए अनुरूपत्त्व या यथार्थत्त्व का अर्थ अधिक स्पष्ट करना आवश्यक है।

ज़रा सा विचार करने पर यह बात भली भाँति ध्यान में आ जायगी कि यह प्रश्न कैसे उत्पन्न हुआ और इसका कितना महत्त्व है। प्रश्नोत्तर रूप से यह सहज ही में पाठकों की समझ में आ जायगा—
'किसका पक्ष सत्य है?' यह मूल प्रश्न हुआ।

"मेरा।"

"क्यों?"

"क्योंकि मैंने उसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध करके दिखा दिया है।"

"सिद्ध करके दिखा दिया, इसका अर्थ क्या?"

"सत्य के अनुकूल-अनुरूप है, ऐसा मैंने दिखा दिया।"

"अनुरूप का अर्थ क्या?"

"वस्तु का जो स्वरूप हो उस का यथार्थ प्रतिबिम्ब जिस ज्ञान में रहता है, वह उस वस्तु का अनुरूप ज्ञान है"।

"शक्ति, ज्ञान, धर्म, नीति, इन सबका प्रतिबिम्ब कैसा होता है?"

"इनका प्रतिबिम्ब कल्पनागम्य नहीं।"

"फिर अनुरूपत्वका क्या अर्थ? वस्तु-स्थिति के अनुकूल-अनुरूप ऐसा जो ज्ञान वह सत्य, यह बात हमें स्वीकार है; परन्तु अनुरूपत्व की पहचान क्या? उसे कैसे जानना चाहिए?"

इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। ऐसे शुष्क प्रश्नों को हल करने में सिर लड़ाना समय का अपव्यय करना है, ऐसा कहकर यह प्रश्न सहज ही में टाला जा सकता है। इस शब्द की व्याख्या कोई कैसी कर सकेगा? यदि हम प्रत्येक शब्द की व्याख्या करने लगें तो किसी भी प्रश्न का अन्त न होगा, और अनवस्थाप्रसङ्ग उपस्थित होगा। इस तरह लोग इस प्रश्न को रास्ते लगा सकते हैं। परन्तु रास्ते लगाने की इस युक्ति का अवलम्बन न करके विचारशील पाठकों को ज़रा गहरा विचार करना चाहिए। सत्य कैसा होता है, यह हमारा प्रश्न है। इस प्रश्न का एक उत्तर यह है कि सर्वज्ञ परमात्मा का जैसा ज्ञान हो उसी के समान ज्ञान का होना सत्य-ज्ञान और अन्य सब अपूर्णज्ञान अर्थात् वास्तव में अज्ञान ही है, परन्तु सर्वज्ञ का ज्ञान किस भाँति का है, यह सर्वज्ञ परमात्मा ही जान सकते हैं। हमें इसकी यथार्थ कल्पना न होने के कारण इस व्याख्या का कुछ उपयोग नहीं। परमात्मा का ज्ञान कैसा रहता है, यही जब मालूम नहीं तब उसके ज्ञान के अनुसार जो ज्ञान वह सत्य है, ऐसा कहने से क्या निर्णय हो सकता है? इसलिए सत्य का कोई दूसरा लक्षण बताना होगा।

कुछ व्याहारिक दृष्टान्त लेकर देखना चाहिए कि हमें किस तरह सत्य का अनुभव होता है।

कलमी आमों की उत्तमता का यथार्थ ज्ञान तभी होता है जब उन्हें खाने से मधुर आस्वाद मिले और करेलों का यथार्थ ज्ञान उसके कड़ुवेपन से हो जाता है। अध्यात्मशास्त्र के दृष्टान्तों में भी यही घटित होता है। रस्सी को साँप समझ कर उससे भय न रखना और उसका योग्य उपयोग कर लेना, यह उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान है अर्थात् किस चीज़ का कैसा उपयोग करने से क्या परिणाम होगा, इसे जान लेना और उस वस्तु का किस प्रकार उपयोग करने से वह हमें लाभदायक अथवा हानिकारक होगी, यह मालूम हो जाना ही उस चीज़ का यथार्थ ज्ञान हुआ। किसी वस्तु का ज्ञान हो जाने पर हम उस वस्तु का अच्छा उपयोग कर सकते हैं। इसके विपरीत सत्य-ज्ञान न होने पर विष को अमृतमय जान कर या रस्सी को साँप समझ हम अपने आप हानि उठा लेते हैं। यदि ज्ञान अत्यन्त उपयुक्त, सुखजनक और कल्याणकारी है तो वह सत्य है, नहीं तो वह असत्य। दृष्टान्त के लिए अग्नि गरम है या नहीं है, इस विषय में संशय होने पर अग्नि को गरम मानने से ही हमारा काम होगा। अग्नि शीत है या समशीतोष्ण है, ऐसा मानकर अग्नि को स्पर्श करने से जीवन की हानि होगी। अतएव अग्नि को गरम मानना ही हितकारी और उपयुक्त है। क्योंकि जो ज्ञान कल्याणकारी हो* उसे सत्य मानना गलत नहीं है। यह सत्य साध्य नहीं, किन्तु जीवन को अधिक सुखमय बनाने का एक साधन है।

यदि सत्य उपयुक्तता पर निर्भर है तो जिस ज्ञान का उपयोग हम अपने व्यवहार में नहीं करते उसे असत्य कहने में क्या बुराई है, यह आक्षेप कई लोगों का है। दृष्टान्त लीजिए। शुक्र तारा, जोतिष शास्त्र के अनुसार, पृथ्वी से २५ लाख मील की दूरी पर है। यदि हम उसे २८ लाख या ३७ लाख मानें तो इसमें हमारी कोई हानि तो नहीं है। दूसरा दृष्टान्त लीजिए। शिवाजी महाराज सन् १६५७ में पैदा हुए या १६३० में, इससे हमारे व्यवहार में तो कोई परिवर्तन न होगा। यदि उपयुक्तता ही पर सत्य का दारमदार है तो शिवाजी १६३० में पैदा हुए—यह बात झूठ क्यों मानी जाय?

इसका उत्तर यह है कि उपयुक्तता का सङ्कुचित अर्थ लेना ठीक नहीं। उपयुक्तता अनेक प्रकार की है। इन्द्रिय-सुख की और जीवन-निर्वाह, अर्थात् व्यवहार की दृष्टि से जो उपयुक्त हो वही एक मात्र उपयुक्त नहीं है। मन, बुद्धि और आत्मा का जिससे समाधान हो वह भी तो उपयुक्त है। हमें गणितशास्त्र या इतिहास-शास्त्र प्रिय होने के कारण इन शास्त्रों के सिद्धान्त-विरुद्ध जो बात हो वह हमें अप्रिय, अनुपयुक्त, मालूम होना ही चाहिए। इस दृष्टि से शिवाजी १६३० में पैदा हुए, यह बात असत्य है, उपयुक्ततावादी मनुष्य यही कहते हैं। जो ज्ञान पूर्वापर विरोधी या असङ्गत हो वह अनुपयुक्त है और इसी लिये उसे असत्य कहने में कोई दोष नहीं।

जिन विचारों को सत्य मानने में अपना मन

---

* सत्य की यह व्याख्या "साधनवाद" नाम से आजकल योरप और अमेरिका आदि देशों में प्रचलित है। जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे विलियम जेम्स नामक ग्रन्थकार की लिखी "प्रेग्मेटिज़्म्" पुस्तक देखें। भारतीय दर्शनों में नैयायिक ग्रन्थों में भी जो ज्ञान "सफल" हो सके वही सच्चा ज्ञान, इस प्रकार का विवेचन है। 'मृगजल' को पानी जानकर उसे पीने के लिए दौड़नेवाले मृग का ज्ञान "सफल" न होने के कारण उसे आभासजनक समझना चाहिए। इस प्रकार के वचन उन ग्रन्थों में मिलते हैं। आजकल के "साधनवाद" (Pragmatism) और प्राचीन नैयायिकों के इन विचारों की तुलना विशेषज्ञ सज्जनों के योग्य है।

सबसे अधिक सन्तुष्ट हो वही सत्य है। ऐसी अवस्था में जो बात जिसके मन को तुष्ट करेगी वही उसे सत्य जँचने लगेगी और प्रत्येक मनुष्य के लिए सत्य का स्वरूप भिन्न भिन्न हो जायगा। सत्य के इस सिद्धान्त पर यह दूसरा आक्षेप है। परन्तु यदि सन्तोष, समाधान या सुख सङ्कुचित किया जाय तो ऐसे आक्षेप साधार हो सकते हैं। "साधनवादी" लोग मन की तरङ्गों को सत्य नहीं मानते। इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि यद्यपि कोई बात मन में उपस्थित होते ही सत्य मालूम होने लगती है तथापि यदि अनुभव-जन्य अन्य बातों से उसमें कोई विषमता हो तो पूर्व के अनुभव और इसमें उपयुक्तता और समाधानकारकता की दृष्टि से विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करना चाहिए। धार्मिक या नैतिक दृष्टि से जो बातें परम आवश्यक हों उनसे विपरीत बातों को उपयुक्ततावादी मनुष्य असत्य ही मानेंगे। इसी प्रकार सौन्दर्य-दृष्टि से, ऐतिहासिक दृष्टि से, भौतिक दृष्टि से, जो बातें जिसे सत्य मालूम हो रही हैं उनसे विपरीत बातों की सत्यता वह सहसा स्वीकार न करेगा। विचार करने के बाद ही वह उनके विषय में अपना मत निश्चित करेगा। अपने अनुभव की कसौटी और उपयोगिता पर सत्य की सत्यता निश्चित करनेवाला मनुष्य मनमानी बातों को सच्चो मानने लगे, यह सम्भव नहीं है। किन्तु इस प्रकार की बेसमझी होना सहज है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। इसी प्रकार "सदाचार" को व्यवहार, "उपयुक्तता", पर निश्चित करनेवाले Utilitarian (जनहितवादी) लोगों पर भी आक्षेप किये जाते हैं।

अपने देश की प्राचीन कहावत '**मनः पूतं समाचरेत्**' इस मूल-उपदेश का जो बुरा अर्थ किया जा रहा है, उसका कारण भी यही है कि लोग उपयुक्त, समाधानकारक, मनःपूत इत्यादि शब्दों का सङ्कुचित अर्थ ले लेते हैं, ख़ैर।

अपने अनुभव के अनुसार सत्य की परीक्षा करनी चाहिए। यह बात मान लेने पर प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने अनुभव के अनुसार सब बातों का सत्यासत्य निश्चित करेंगे। इसका अर्थ यह है कि सत्य व्यक्तिगत है और किसीएक व्यक्ति के आयुष्य में भी पाँच वर्ष पूर्व जो बात सत्य प्रतीत हो रही थी वह कदाचित् अब प्रतीत नहीं होती तथा अब जो बात सत्य प्रतीत हो रही है वह कदाचित् पाँच वर्ष बाद असत्य मालूम होगी। जब ऐसी बात है तब कोई एक निश्चित, सर्वसामान्य और सनातन सत्य मानना असम्भव हो जायगा। यदि किसी ने कुछ कहा या किया और वह लोगों में सर्वमान्य हो गया तो उसका अर्थ यही है कि वह कथन बहुसंख्यक जनता को इष्ट है, इसी लिए वह सामान्यतया सत्य है। अर्थात् "सत्यत्व" बहुमत पर अवलम्बित है। दस हज़ार अशिक्षित लोगों को कोई एक बात सत्य प्रतीत हुई और किसी एक विचारशील विद्वान् पण्डित को वही बात असत्य प्रतीत हुई तो अशिक्षित लोगों का ही कथन "सत्य" मानना चाहिए और उस विद्वान् पण्डित को अपना मत अपने घर में ही सत्य मानना चाहिए, यही इस सिद्धान्त का निष्कर्ष निकलता है। इस आक्षेप का इतनाही उत्तर दिया जा सकता है कि हाँ, सामान्य जन-समूह की भाषा बहुमत पर ही अवलम्बित रहती है। शास्त्रज्ञ मनुष्य की सत्यवाक्यता जब सामान्य जन-समूह को इष्ट होगी तभी वह जन-समूह की भाषा में "सत्य" शब्द का पात्र होगी।

जिसे जो समाधानकारक, कार्योपयोगी मालूम हो उसे वह अपने घर में बिना दिक़्क़त उठाये भले ही सत्य माने। और वह यदि बहुजन सम्मत हो तो उसे सर्वत्र माने। पर लोग सत्य को स्थिर और सनातन मानते हैं। परन्तु सत्य न तो स्थिर है, न अनादि। वह चल और काल-गति से

निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होनेवाला है। 'सत्य' के द्वारा अनुभव प्रमाणित नहीं होता, किन्तु 'अनुभव' से सत्य सिद्ध होता है। 'सत्य' उपयुक्त नहीं, किन्तु जो 'उपयुक्त' वही सत्य। सत्य से मन का समाधान होता है, यह नहीं किन्तु जिससे मन का समाधान हो वही सत्य। सत्य से किसी कार्य का महत्त्व निश्चित नहीं होता, किन्तु महत्त्व के अनुसार कार्य का 'सत्यत्व' निश्चित होता है। 'सत्य' साध्य नहीं, किन्तु साधन है। 'सत्य' सर्वजन-सम्मत ही हो, यह बात नहीं, किन्तु—जितने व्यक्ति उतनी प्रकृति—इस न्याय से प्रत्येक व्यक्ति का "सत्य" भिन्न भिन्न होगा। सत्य के इस विलक्षण सिद्धान्त से ये सब बातें सिद्ध हैं। पर दूसरा उपाय ही क्या है! सत्य का दूसरा लक्षण क्या हो सकता है? हमें यदि उपयुक्त विवेचना ठीक हो तो "कौन मत सत्य है" इस प्रश्न का रूपान्तर "कौन मत बहुमूल्य है" होना चाहिए। "ईश्वर है", यह मत सच्चा या "ईश्वर नहीं" यह मत सच्चा इत्यादि प्रश्नों के बदले "ईश्वर है, यह मत कल्याण-प्रद और समाधानकारक है, या ईश्वर नहीं यह मत?" इस प्रकार के प्रश्न उचित हैं। तत्त्व-ज्ञान निरर्थक वाग्जाल नहीं है। वह जल-ताड़नवत् निष्फल नहीं है। उससे जीवन की समस्यायें हल हो जाती हैं। अतएव तत्त्व-जिज्ञासुओं को शब्द-जाल से दूर रह कर हिताहित किस बात में है, सतपथ क्या है, सुख किस प्रकार प्राप्त होगा इत्यादि महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करना चाहिए।*

सरस्वती सहोदर

कालिदास और शेक्सपियर।

विश्व के अक्षय साहित्य-मन्दिर में कालिदास और शेक्सपियर का निर्बाध राज्य है। भारतवर्ष में हिन्दू साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ नाटककार कालिदास हैं और पाश्चात्य साहित्य में शेक्सपियर की समता करनेवाला कोई नाटककार नहीं है। शेक्सपियर ने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में कहीं लिखा है।

Not marble nor the gilded monument of princes shall out-live this powerful rhyme.

अर्थात् राजाओं के स्वर्ण-मण्डित समाधि-मन्दिर इन रचनाओं से अधिक काल तक जीवित नहीं रहेंगे।

कालिदास को भी अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास था। वे जानते थे कि उनकी रचनायें सदैव आदृत होंगी। तभी तो उन्होंने सब विद्वानों से प्रार्थना की है कि वे पहले उनकी रचनाओं की परीक्षा अच्छी तरह कर लें। जब वे उनकी परीक्षा में ठीक उतरें तब वे उन्हें ग्रहण करें।

> पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
> न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते
> मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

अर्थात् कोई कृति न तो प्राचीन होने से आदरणीय हो सकती है और न नवीन होने से निन्द्य। जो विद्वान् होते हैं वे उसकी उत्तमता की परीक्षा करके उसे ग्रहण करते हैं। जो मूढ़ हैं वही दूसरे के विश्वास पर चलते हैं।

यहाँ हम इन्हीं दोनों कवियों की कृति पर तुलनात्मक विचार करना चाहते हैं।

कालिदास के जीवन के सम्बन्ध में अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ है। सौ वर्ष पहले शेक्सपियर के विषय में भी निश्चय पूर्वक इतना ही कहा जा सकता था कि वह स्ट्रैटफोर्ड में पैदा हुआ, उसका विवाह हुआ, लड़के-बच्चे हुए, फिर वह लन्दन गया, वहाँ उसने एक नाट्यशाला में कुछ समय तक काम किया, नाटक लिखे, फिर धन और कीर्ति अर्जन कर वह स्ट्रैटफोर्ड लौट आया। वहीं उसका अन्तिम जीवन व्यतीत हुआ। परन्तु आज शेक्सपियर के विषय में हज़ारों ग्रन्थ निकल चुके हैं।

* वामन मल्हार जोशी एम० ए० लिखित मराठी नीति-शास्त्र के परिशिष्ट से अनुवादित।

उसके नाटकों का जितना प्रचार है उतना अन्य किसी ग्रन्थ का नहीं। उसकी गणना संसार के सर्व श्रेष्ठ कवियों में होती है। उसके अन्तर्जीवन की यह विशालता देख कर लोगों को उसका बाह्य जीवन भी जानने की उत्सुकता हुई। तब विद्वानों ने उसके जीवन-वृत्तान्त की खोज की। उनके अनुसन्धानों का फल यह हुआ कि शेक्सपियर के जीवन की अधिकांश बातें लोगों को मालूम होगई। इससे लोगों को कुछ मनोरञ्जन अवश्य हुआ, पर यदि सच पूछा जाय तो शेक्सपियर का जीवन अभी तक रहस्य-पूर्ण है। यह हम अवश्य जान गये कि शेक्सपियर की कैसी आर्थिक स्थिति थी, उसने नाट्य-शाला में कैसा जीवन व्यतीत किया। तो भी उसके नाटकों में हमने जिस शेक्सपियर का दर्शन किया उसे हम उसके जीवन-चरित्र में नहीं देखते। बात यह है कि कवि का जीवन काव्य नहीं है किन्तु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक् नहीं देख सकते।

शेक्सपियर के नाटकों की सृष्टि उसके अन्तर्जगत में हुई है। बाह्य जगत से उनका थोड़ा ही सम्बन्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि शेक्सपियर को अपने देश, काल और अवस्था का ज्ञान था। मानव-जीवन की उत्तम, मध्यम और निकृष्ट अवस्थाओं से भी वह भली भाँति परिचित था। क्योंकि उसने अपने जीवन के अनुभव का उपयोग नाटकों में किया है, इसी लिए उसके जीवन पर हमें एक दृष्टि डालनी चाहिए। इससे अधिक विशेषता हम उसके जीवन में नहीं पाते। अपने जीवन में उसने सुख-दुख और आशा-निराशा का जो द्वन्द्व-युद्ध देखा वह साधारण स्थिति के सभी मनुष्यों को देखना पड़ता है।

शेक्सपियर का जन्म १५६४ ईसवी में स्ट्रैटफोर्ड ग्राम में हुआ। उसका पिता, जान शेक्सपियर, एक साधारण स्थिति का गृहस्थ था। जान शेक्सपियर ने मेरी आर्डेन नाम की एक युवती से विवाह किया। उस विवाह से उसे अपनी स्त्री की पैत्रिक सम्पत्ति मिल गई। जब विलियम शेक्सपियर का जन्म हुआ तब उसकी अच्छी स्थिति थी। पर जब विलियम १२ वर्ष का हुआ तब उसके पिता की स्थिति बिगड़ गई। विलियम को स्कूल छोड़ कर अपने पिता की सहायता के लिए आना पड़ा। उसके विषय में जितनी कथायें प्रचलित हैं उनसे मालूम होता है कि वह बड़ा शराबी था और उसमें शराबियों के सभी दुर्गुण वर्तमान थे। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि वह सदाचार का आदर्श नहीं था। इसके बाद उस पर और भी आपत्तियाँ आईं। तब वह भाग कर लन्दन चला गया। लन्दन पहुँच कर वह किसी न किसी तरह एक नाटकमण्डली में सम्मिलित हो गया। परन्तु नटों का जीवन सुखमय तो होता नहीं। शेक्सपियर के समय में तो उनकी दुर्दशा थी। इसलिए उसको अपमान और कष्ट चुपचाप सहन कर लेना पड़ा। यह बात हम उसके निम्न-लिखित पद्यों से अनुमान कर सकते हैं।

Alas, it is true, I have gone here and there
And made myself a motley to the view,
Gored mine own thoughts, sold cheap what is most dear.

यही बात उसने हेमलेट के मुख से भी कहलाई है।

For who would bear the whips and scorns of time,
The oppressor's wrong, the proudman's contumely,
The pangs of despised love, the laws' delay,
The insolence of office and the spurns
That patient merit of the unworthy takes,
When he himself might his quietus make
With a bare bodkin

अर्थात् कौन समाज का तिरस्कार, अन्यायियों का अत्याचार, अभिमानियों का दर्प, तिरस्कृत प्रेम की वेदना आदि दुःखों को सहना स्वीकार करेगा जब वह अपने शरीर के नाश से इन दुःखों से मुक्ति-लाभ कर सकता है।

नीचों की सङ्गति में रहने से नीचता आ ही जाती है। जल में रह कर कमल के समान निर्लिप्त बने रहना सभी लोगों के लिए सम्भव नहीं है। नाट्यशालाओं में काम करनेवाले लोगों के जीवन में अर्ध-रात्रि की छाया सदैव बनी रहती है। उन्हें अपने हृदय के भावों के विपरीत रङ्गमञ्च पर प्रेम करना पड़ता है, निराश होना पड़ता है और हर्ष और खेद प्रदर्शित करना पड़ता है। मनुष्य उनके लिए क्रीड़ा की एक सामग्री हो जाता है और वे भावों का अनुकरण करते करते अन्त में सर्वथा भाव-शून्य हो जाते हैं। इसी लिए उनके आचार-व्यवहार में कृत्रिमता और निर्लज्ज़ता आ-जाती है। शेक्सपियर पर भी नाट्यशाला के जीवन का प्रभाव पड़ा। नाट्यशाला के बाहर वह बड़े लोगों की सङ्गति में रहता था जो सदा सांसारिक वैभव और पार्थिव सुखों में ही लिप्त रहते थे। यही कारण है कि हम शेक्सपियर की प्रथम रचना—वेनस और एडोनिस—में बाह्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति और विलास की तीव्र भावना पाते हैं। इसके बाद उसने प्रेमोन्माद का अनुभव किया। वह अपने उन्माद पर लज्जित था, पर उसे छोड़ नहीं सकता था

When my love swears that she is made of truth,
I do believe her, though I know she lies.

अर्थात् जब मेरी प्रेमिका कहती है कि उसका प्रेम निश्छल है और वह बड़ी सुशीला है तब मैं उस पर विश्वास कर लेता हूँ, यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि उसका कहना सच नहीं है।

शेक्सपियर की यह प्रेम भावना बढ़ती ही गई। अन्त में वह समस्त विश्व में अपनी प्रेमिका का सौन्दर्य देखने लगा।

The lily I condemned for thy hand,
And buds of marjoram had stol'n thy hair,
The roses fearfully on thorns did stand,
One blushing shame, another white despair.
A third, nor red nor white, had stol'n of both
And to his robbery had annexed thy breath,
More flowers I noted, yet I none could see
But sweet or colour it had stolen from thee.

अर्थात् मैंने जितने फूल देखे सभी ने तुझ से कुछ न कुछ चुरा लिया। किसी ने रङ्ग चुराया है तो किसी ने रूप। किसी ने तेरा माधुर्य अपहरण किया है तो किसी ने तेरा सुगन्धिमय निश्वास।

यही शेक्सपियर की प्रतिभा है। उसका हृदय स्वच्छ दर्पण था जिस पर संसार की छाया तुरन्त ही पड़ जाती थी। स्पर्शमात्र से उसकी हृत्तन्त्री बज उठती थी। बेन जानसन ने उसे यथार्थ में एवन का राजहंस (sweet Swan of Avon) कहा था। उसमें खूब सहानुभूति थी। यही कारण है कि उसे अपने नाटकों में ऐसी सफलता हुई। जिसमें सहानुभूति है, जो अपना अस्तित्व भूल कर दूसरों में मिल जाता है वही लियर और ओफीलिया की सृष्टि कर सकता है। शेक्सपियर विद्वान् नहीं था, उसने देश-विदेशों की खूब यात्रा भी नहीं की थी तो भी उसे मानव-स्वभाव का अपरिमित ज्ञान था। यह ज्ञान उसने अपने हृदय से प्राप्त किया, मस्तिष्क से नहीं।

कालिदास के नाटकों में भी जगह जगह ऐसे श्लोक मिलते हैं जिनसे उनके हृदय की अन्तर्गत वेदना प्रकट होती है।

आचारइत्यवहितेन मया गृहीता
या वेत्रयष्टिरवरोधगृहेषु राज्ञः
काले गते बहुतिथे मम सैव जाता
प्रस्थानविक्लवगतेरवलम्बनार्था।

कौन जाने, कञ्चुकी के इस कथन में कालिदास के अन्तर्गत ताप का उद्गार है या नहीं?

इसी प्रकार—

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः

अभिज्ञान शाकुन्तल के इस भरत-वाक्य से हमें ऐसा जान पड़ता है कि उनका अन्तिम काल कदा-

चित् सुखद न रहा हो। परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना है। कालिदास ने तो

जीवन-मन्थन से जो निकला विष वह उसने पान किया।
और अमृत जो बाहर आया उसे जगत को दान दिया॥

कालिदास के विषय में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वह पहले निपट मूर्ख था और फिर देवी की कृपा से वह वाक्सिद्ध हो गया। इसमें सन्देह नहीं कि शेक्सपियर की तरह कालिदास में पाण्डित्य की अपेक्षा कवित्व अधिक है। ऊपर हमने शेक्सपियर की जो विशेषता बतलाई है वह कालिदास में भी चरितार्थ हो सकती है।

शेक्सपियर के नाटकों का विषय महत् तो है, पर उसके नायकों में विशेष कोई गुण नहीं है। हेमलेट में पितृ-भक्ति की पराकाष्ठा है। तो भी नाटकभर में उसका चित्त चलायमान ही रहा। लियर तो उन्माद-ग्रस्त था। उथेलो ईर्ष्या से इतना अन्धा हो गया कि प्रमाण की अपेक्षा न कर उसने अपनी साध्वी स्त्री ही का वध कर डाला। मैकबेथ नमक-हराम था। अन्टोनी कामुक था। जूलियस सीज़र दाम्भिक था। किन्तु शेक्सपियर ने इन नाटकों में चरित-दौर्बल्य और पाप-प्रवृत्ति का भीषण परिणाम दिखलाया है।

यद्यपि शेक्सपियर ने अपने नायकों में उच्च चरित्र का समावेश नहीं किया तथापि उसने ऐसे पात्रों की कल्पना की है जिनके चरित्र से नाटक उज्ज्वल हो गये हैं। हेमलेट में होरेशियो और ओफीलिया, और लियर में केंट, एडगर और कार्डीलिया ऐसे ही पात्र हैं।

शेक्सपियर ने ऐसा क्यों किया? इसका कारण हमारी-समझ में तो यह आता है कि वह धन और क्षमता से गर्वित अँगरेज़ था। पार्थिव क्षमता ही उसके लिए लोभनीय थी। उसे महत् चरित्र की अपेक्षा विराट् चरित्र ही अधिक मुग्ध करता था। विराट् बुद्धि, विराट् प्रतिहिंसा, विराट् लोभ यही उसका वर्णनीय है। निरीह शिशु अथवा पर-दुःख-कातर बुद्धि और चैतन्य कदाचित् उसकी दृष्टि में क्षुद्र-चरित्र थे। इसका यह मतलब नहीं कि शेक्सपियर स्वार्थत्याग का महत्त्व नहीं समझता था। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसने चरित्र के माहात्म्य को क्षमता से नीचे स्थान दिया है।

भारतवर्ष के कवि धर्म की महिमा से महीयान् थे। चरित्र का माहात्म्य ही उन्हें प्रीतिपद था। चरित्र को क्षमता से नीचे स्थान देना उन्हें कभी स्वीकृत न था। इसीलिए इन्होंने इस नियम का प्रचार किया कि नाटक के नायक को सर्वगुणान्वित और दोष-शून्य अङ्कित करना चाहिए। कालिदास भारतीय कवि थे। उन्होंने अपने नाटकों के प्रधान चरित्र को यथाशक्ति महत् करने की चेष्टा की है। यही इन दोनों के चरित्र-चित्रण में भेद है।

कुछ स्थलों में कालिदास और शेक्सपियर की रचनाओं में सादृश्य पाया जाता है। ऐसे ही कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं।

शेक्सपियर ने लिखा है—

As a long parted mother with her child
Plays fondly with her tears and smiles in meeting;
So weeping, smiling, greet I thee, my earth.

अर्थात् अपने पुत्र से चिरकाल से बिछुड़ी हुई माता जिस प्रकार उससे भेट होने पर रो रोकर और हँस हँस कर उसके साथ खेलती है उसी प्रकार हे देश, मैं भी रोता और हँसता हुआ तेरा स्वागत करता हूँ। देखिए, कालिदास ने भी ऐसे अवसरों पर क्या ही अच्छा लिखा है। चौदह वर्ष के बाद रामचन्द्र अयोध्या लौट रहे हैं। दूर से सरयू नदी को देख कर वे सीताजी से कहते हैं—

जलानि या तीर निखातयूपा
वहत्ययोध्यामनुराजधानीम्।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णै-
रिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानाम्
प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम्।
सामान्यधात्रीमिवमानसं मे
सम्भावयत्युत्तरकोशलानाम्॥
सेयं मदीया जननीव तेन
मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्माम्
तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव।

शेक्सपियर का निम्नलिखित पद्य ख़ूब प्रसिद्ध है—

Cowards die many times before their death,
The valiant never taste of death but once,
Of all the wonders that I yet have heard,
It seems to me more strange that men should fear.
Seeing that death, a necessary end,
Will come when it will come.

अर्थात् भीरुलोग अपनी मृत्यु के पहले भी अनेक बार मरते हैं। पर वीर पुरुष मृत्यु का एक ही बार आस्वादन करते हैं। मुझे सब से अधिक आश्चर्य इसी बात पर होता है कि लोग मृत्यु से डरते हैं। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है। जब उसे आना होगा तब वह आवेगी ही। इस में डर क्या?

यही निर्भीकता हम दिलीप के कथन में पाते हैं। एक श्लोक देखिए।

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहम्
यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु

पितृ-शोक से पीड़ित हेमलेट को जीवन की असारता और शोक की व्यर्थता बतलाने के लिए उसके चाचा ने यह कहा था।

All that lives must die.
Passing through nature to eternity

अर्थात् जो जीवित हैं उन्हें मरना ही पड़ेगा। प्रकृति से सभी अनन्त धाम को जाते हैं। इस-लिए—

Why should we, in our peevish opposition,
Take it to heart? Fie! 'tis a fault to heaven,
A fault against the dead, a fault to nature.

हमें क्यों उससे मर्माहत होना चाहिए। शोक करने से तो हम ईश्वर के सामने अपराधी हो रहे हैं। मृत मनुष्य और प्रकृति के भी हम विरोधी हो रहे हैं।

हेमलेट के चाचा का यह समझाना सिर्फ़ लोकाचार था। परन्तु कालिदास के निम्न लिखित पद्यों से यथार्थ में सान्त्वना मिलती है।

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्
यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ॥
अवगच्छति मूढ़चेतनः
प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते
कुशलद्वारतया समुद्धृतम्॥
स्वशरीरशरीरिणावपि
श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा।
विरहः किमिवानुतापयेत्
वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम्।
न पृथग् जनवच्छुचो वशं
वशिनामुत्तम गन्तुमर्हसि।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं
यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः।

शेक्सपियर के अष्टम हेनरी की प्रत्याख्याता कैथेरिन की उक्ति सुनिए।

Sir, I desire you do me right and justice
Upward of twenty years I have been blest
With many children by you; if in the course.
And process of this time you can report
And prove it too against mine honor aught
My bond to wedlock or my love and duty
Against your sacred person, in God's name
Turn me away.

अर्थात् २० वर्ष से मैं तुम्हारी सहचरी होकर रही हूँ। यदि आप बतला सकें और प्रमाणित कर

सकें कि इस समय में मैंने कभी भी अपने कर्तव्य अथवा सेवा में कोई त्रुटि की हो तो आप अवश्य मुझे निर्वासित करदें।

यहाँ हमें सीताजी के सन्देश की याद आती है।

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा
वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम्
मां लोकवादश्रवणादहासीः
श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य।

शेक्सपियर ने बीस पचीस नाटक लिखे हैं, परन्तु कालिदास के सिर्फ़ तीन ही नाटक प्रसिद्ध हैं। जान पड़ता है कि अभिज्ञानशाकुन्तल उनकी अन्तिम रचना है। इसमें तो सन्देह नहीं कि वह कालिदास की श्रेष्ठ रचना है। इस दृष्टि से उसकी तुलना शेक्सपियर के टेम्पेस्ट नामक नाटक से की जाती है, विशेषकर शकुन्तला की तुलना मिरेन्डा से। शकुन्तला और मेरेन्डा दोनों का लालन पालन संसार से दूर एक निर्जन स्थान में हुआ था। दोनों में स्वाभाविक सरलता है। परन्तु रवीन्द्रबाबू की राय है कि शकुन्तला की सरलता स्वाभाविक है, पर मिरेन्डा की सरलता अस्वाभाविक है। शकुन्तला की सरलता मिरेन्डा की तरह अज्ञानता से नहीं हुई थी। परन्तु तीसरे अङ्क में शकुन्तला का आचरण बड़ा ही उच्छृङ्खल हो गया है। द्विजेन्द्रलाल राय ने लिखा है—

'तृतीय अङ्क में शकुन्तला का निर्लज्ज आचरण देखकर हम व्यथित हो जाते हैं। कुछ लोगों की राय है कि तृतीय अङ्क का शेष भाग कालिदास की रचना नहीं है। परन्तु इस अङ्क के प्रथम भाग में भी पुरुष से स्त्री का प्रेम-भिक्षा माँगना शोभा नहीं देता। जिन देशों में प्रेमालाप के बाद विवाह की प्रथा प्रचलित है वहाँ भी पुरुष ही स्त्री से प्रेम की याचना करता है। शेक्सपियर के टेम्पेस्ट में मिरेन्डा ने भी फर्डिनैंड से प्रेम की भिक्षा माँगी है। परन्तु उसके कहने का ढंग देखिए।

I am your wife, if you will marry me—If not I die your maid, to be your bed-follow you may deny me, but I'll be your servant whether you will or no.

मिरेन्डा की इस भिक्षा में भी एक प्रकार की सरलता है, गम्भीरता है और आत्ममर्यादा है जिससे यह जान पड़ता है कि यह भिक्षा ही दान है। यह प्रेम की भिक्षा नहीं, प्रतिज्ञा है। परन्तु शकुन्तला की भिक्षा भिक्षा ही है। वह एक प्रकार से आत्मविक्रय है।

मनोहरलाल श्रीवास्तव

उपदेश।

(१)

श्रीमन्, कभी शास्त्र-सीमा के भूल नहीं बाहर होना
पुरुखाओं के पुण्य-पुञ्ज को कभी न निज हाथों खोना।
मर्यादा-महिमा-मति-मण्डित मुद-दायक महिपाल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है।

(२)

क्रूर कुटिल क्या कर सकते हैं तेरा कमर कसे रहना
कहना कुछ भी नहीं किसी से नय के साथ अनय सहना।
कल कृपाण सा कठिन कलेवर कण्टक-कुल का काल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

(३)

चमकीले चंगुल में चोरों के तू चिपक नहीं जाना
वाना वेश देख उनके तू कभी न बातों में आना।
चतुराई से चुम्बित तेरी स्थिर अचला सी चाल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

(४)

नीचानीच दिखाने को जो तेरे सम्मुख आवेंगे
पावेंगे अपमान स्वयं वे अपने मुँह की खावेंगे।
शत्रु-संघ के शीश-स्थित तू सब दिन शर सा साल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

(५)

तू है सिंह अन्य वन्य सम सचमुच सब संसार है
जैसे से तैसा तू रहना धर्म-नीति अवतार है।

बलवानों के लिए बली है छलियों को करवाल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

(६)

प्राण-दान देकर भी प्रण का पालन करनेवाला है
डरनेवाला नहीं खलों से रण में मरनेवाला है।
प्रणत जनों के लिए प्रणय से प्रतिपल का प्रतिपाल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

(७)

तेरा सौम्य साम्य श्रुति-पथ भी सुख-दायक है किसे नहीं
तेरा दिव्य दयामय नय भी उन्नायक है किसे नहीं।
लाखों लालायित हैं तुझ पर लालन लायक लाल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

(८)

गुरु था गरिमा-गर्भित था जो सेवक था गुण ग्राम था
श्री-सम्पत्ति सहित सुख सर था शोभा का भी धाम था।
हलका हुआ हाल में क्यों तू कैसा तेरा हाल है?
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है।

(९)

कैसे चालाकों की चालें तुझ पर चलीं बतावेगा?
धनु धारण कर धैर्य, धर्म का कभी न धोखा खावेगा।
ढँगीलों से ढँगीला तू बेढब ढाड़स-ढाल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

(१०)

दया-दान से द्रवित रहा तू और दैन्य दुःखों से दूर
शौर्य शक्ति सम्पन्न शूर था डर मत क्या कर लेंगे क्रूर?
जलद-जाल सम जग-जीवन के लिए जीव-गृह जाल है
भारत, भव्य-भाव-भूषित तू भूमण्डल का भाल है॥

रामचरित उपाध्याय

खरदा का युद्ध।

सन् १७६१ के पानीपत की प्रसिद्ध संग्राम-भूमि पर मरहठों का जैसा संहार हुआ था उससे इस बात की बिलकुल आशा नहीं हो सकती थी कि वे फिर सँभल कर उठ खड़े होंगे परन्तु कुछ कुशल राजनैतिकों के अनवरत परिश्रम की बदौलत मरहठे एक बार फिर शक्तिसम्पन्न होगये जिसका परिचय उन्होंने प्रसिद्ध नाना फड़नवीस के नेतृत्त्व में खरदा की युद्ध-भूमि में अच्छी तरह से दिया। यह इतिहास-प्रसिद्ध युद्ध निज़ाम और मरहठों के बीच सन् १७९५ ई० में हुआ था। इस युद्ध का पूरा विवरण ग्रान्ट डफ के मरहठों का इतिहास नामक ग्रन्थ में दिया हुआ है।

इस युद्ध के संघटित होने के बहुत पहले से नाना फड़नवीस के हाथों में मरहठा-शासन की बागडोर थी। इस निश्चित विजय के प्राप्त कर लेने पर मरहठा-शासन के वे एक प्रकार से सर्वेसर्वा होगये। पेशवा माधवराव वही काम करते थे जो नाना उन्हें करने को कहते थे। और नाना ने भी सदा वही काम किया जिससे उसके स्वामी का गौरव बढ़े। यह नाना ही का नीति-नैपुण्य था कि इस युद्ध में सेंधियाँ, होल्कर, भोसला आदि मरहठा साम्राज्य के महारथी ऐक्य-भाव से प्रेरित होकर एकत्र हुए थे और सबने अपना पराक्रम प्रदर्शित करके पेशवा के गले में जयमाला पहनाई थी।

इस युद्ध का संक्षिप्त विवरण एक ख़ानगी पत्र में स्वयं नाना ने भी लिखा था। उन्होंने वह पत्र अपने विश्वासी मित्र और सतारा के राज-परिवार के प्रबन्धक बाबूराव कृष्ण को भेजा था। ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वोक्त पत्र महत्वपूर्ण है। अतएव उसका अनुवाद इतिहास-प्रेमियों के मनोरञ्जनार्थ नीचे दिया जाता है।

राजश्री बाबूराव,

बालाजी जनार्दन (नाना फड़नवीस) का विनीत अभिवादन स्वीकृत हो। इस पत्र से हमारे कुशल-समाचार आपको विदित हो जायँगे, अतएव अपने मङ्गल समाचार देने की प्रार्थना है। आगे बारहवीं रमज़ान का लिखा हुआ आपका

कृपा-पत्र हमें मिला है जिसमें निम्नोद्धृत विवरण लिखा है:—

लोगों से हमें युद्ध-सम्बन्धी विभिन्न समाचार मिले, परन्तु युद्ध का यथार्थ हाल हमें नहीं मिला है। अतएव हम बहुत ही चिन्तित हैं। श्रीमन्त (पेशवा) की विजय निश्चित है। परन्तु इस ग्रीष्म-ऋतु के कारण हम आपके स्वास्थ्य तथा श्रीमन्त की सुकुमारता के सम्बन्ध में चिन्तायुक्त

माधवराव पेशवा।

हैं। इन सब बातों का पूरा विवरण आप लिखवा देने की कृपा करिएगा। जितना सम्भव है उतना आप ज़रूर ही ठीक कर लेंगे। लोगों के हज़ार तरह के विचार होते हैं परन्तु श्रीमान् का एकमात्र धैर्य, विजय तथा अनेक दूसरे राजनैतिक कार्य ही हैं। यही एक बात है जिसे लोग नहीं समझते। जोखिम के समय निज़ामअली खाँ हरिपन्त के आदेशों के अनुकूल ही बना रहा। जो बात मेरी समझ में आई उसे मैंने श्रीमान् को लिख दी। यद्यपि मैं श्रीमान् से दूर हूँ तथापि मैं सदा इन घटनाओं को ध्यान से देखता हूँ जो कि मेरे स्वामी के स्वार्थ की विघातक या सहायक प्रतीत होती हैं। मैं लिखने से बाज़ नहीं रह सकता और आपने भी मेरे पत्रों की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया ही है। हमने लोगों की ज़बानी सुना है कि आप अपने उद्योग में पूर्ण सफल हुए हैं। सेना चक्रव्यूह में सङ्गठित की गई थी और इसी रचना-कौशल के अनुसार युद्ध किया गया था। इस रीति से पहले युद्ध कभी नहीं किया गया था। आपकी इस भारी विजय से जो हर्ष मुझे हुआ है उसे मैं यथार्थ रीति से शब्दों के द्वारा नहीं व्यक्त कर सकता।

[बाबू राव के पत्र से उपर्युक्त अवतरण देकर नाना ने अपना उत्तर इस प्रकार दिया।]

मेरा यह उद्देश नहीं था कि युद्ध का समाचार आपको मुझ से नहीं, किन्तु दूसरे लोगों से मालूम हो। मेरा यह विचार था कि पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर मैं उसका पूरा विवरण आपको लिखूँगा. परन्तु इसी बीच में आप का पत्र मुझे मिल गया जिसका उत्तर मैं इस तरह देता हूँ।

श्रीमन्त ऐसे भाग्यशाली हैं कि जब से वे माता के गर्भ में आये तब से आज तक सदैव यशस्वी रहे। उनकी सुकुमारता के सम्बन्ध में आपका चिन्तित होना यथार्थ है, परन्तु भगवद् कृपा से ऐसी कोई बात नहीं हुई जिससे पेशवा को किसी तरह का कष्ट उठाना पड़ा हो। हाँ, ये गरमी के दिन हैं, परन्तु इसके लिए अनेक उपाय हैं; और जहाँ राज्य है वहाँ कठिनाइयाँ भी होती हैं। आप चिन्ता न करें। इस बात का स्मरण करते हुए कि नवाब कठिनाई के अवसर पर सहायक बना रहा।

आपने लिखा है कि मामले को वहाँ तक ठीक करना जहाँ तक उसका दुरुस्त करना सम्भव हो। परन्तु उसके वर्तमान मन्त्री मीन उद्दौला ने अपना ढङ्ग पूर्णतया बदल दिया है। वह पेशवा का राज्य छीन लेने की घात में है और चाहता है कि निज़ाम अपना झण्डा पूना में जा गाड़े। इसके सिवा हमारा राज्य उलट देने तथा श्रीमन्त का वध करने के लिए अनेक राज-नैतिक षड़यन्त्र भी रचे गये थे। श्रीमन्त के प्राण लेने के लिए तो कुछ दुष्ट भी नियुक्त किये गये थे। इस सम्बन्ध में लिखित प्रमाण भी प्राप्त

निज़ाम अली और उसका मन्त्री।

हुए हैं। श्रीमन्त को नर्मदा पार खदेड़ देना चाहिए, यह बात खुले दरबार में कही गई थी। ऐसी बातें और ऐसे ही अनेक कार्य नवाब ने कहीं और किये, तो भी मैंने कई बार उनकी उपेक्षा कर दी। इसके बाद ५०००० घुड़सवार और ५०००० गर्दी सैन्य-दल का सङ्गठन किया गया और इस विशाल सेना की सहायता से नवाब ने श्रीमन्त पर चढ़ाई करने की इच्छा की। इसपर भी हमने उसे अनेक तरह से लिखा और उसके पास कई एक दूत भेजे। उसका राजदूत आया और हमने समझाया कि हमारी परस्पर की मित्रता न टूटनी चाहिए। परन्तु सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए। अतएव हमें यह आक्रमण करना पड़ा।

इसके सिवा यह कोई नहीं जान सकता था कि इस अवसर पर टीपू क्या करेगा, अतएव हमने सेंधिया की एक कम्पनी और १५००० सैन्य-दल हिन्दुस्तान से बुलवाई। हमने भोंसले की भी ·०००० सेना मँगवाई। इसके सिवा ४०००० सरकार की फ़ौज़ तथा २०००० गर्दी सैन्य दल भी हमने तैयार किया। तब होल्कर तथा सरकार की अन्यान्य कम्पनियों को भी सज्जित होने की आज्ञा दी। जब हम इन सेनाओं का संग्रह कर रहे थे तब नवाब ने बीदर से कूच किया और विजय करते हुए वह आगे बढ़ा। इस कारण हमें भी उसका सामना करने को आगे बढ़ना पड़ा। श्रीमन्त सीना नदी के तटपर जा पहुँचे। सेंधिया के सरदार अपनी कम्पनी के साथ थे

और गर्दियों के सहित सरकार का सैन्य-दल परशुरामभाऊ पन्त के सेनापतित्व में था। इनके आगे छः कोस की दूरी पर अग्रगामिनी सेना फड़के के अधीन अवस्थान करती थी। इन सबके पीछे श्रीमन्त २०००० सैन्य-दल के सहित आ रहे थे। इसी बीच नवाब मोहरी घाट से होकर आ पहुँचा। पहले दिन जब पेशवा की कुछ फ़ौज शत्रु की खोज में बाहर निकली तब नवाब की सेना ने आगे बढ़कर उन पर तोपें दागीं। अतएव वह सेना पीछे हट आई। इतने से भी हम सन्तुष्ट थे। परन्तु पूना पर आक्रमण करने के विचार से नवाब ने करबलिया होकर १६ वीं को कूच किया और पेशवा के सरदारों ने उसे दोपहर में जा रोका। जो लड़ाई वहाँ हुई उसमें परशुरामभाऊ पन्त कुछ घायल हुए। उनके सिर में दाहनी ओर घाव हो गया था। ज्यों ही शत्रु आगे बढ़ा त्यों ही पेशवा की सेना, सेंधिया और भोंसले की सेनाओं तथा अन्यान्य सरदारों ने बड़े वेग से उस पर आक्रमण किया। तलवार और भाले, छोटे बड़े सब तरह के, स्वच्छन्द रीति से व्यवहृत हुए थे। शत्रु की तोपों की बाढ़ हमारी सेना पर होने लगी। पर सेंधिया के तोपख़ाने ने उनका अच्छा जवाब दिया और अन्त में उनका मुँह ही बन्द कर दिया। रात हो गई थी, युद्ध उग्ररूप धारण किए था और वेग से अक्रमण हो रहे थे कि दूसरी बार नवाब ने युद्ध बन्द कर देने का संदेसा भेजा। इस पर हमने रात के पिछले पहर युद्ध बन्द कर दिया। इस समय तक केवल बारह मुर्चे अधिकृत करने को रह गये थे। बाद को १० या १२ हज़ार पिंडारी, जो उत्तरी भारत से मुख्यतः लाये गये थे, शत्रु की सेना पर जा टूटे। जब नवाब ने इस सेना को आते देखा तब वह खरदा नामक स्थान को हट गया। युद्ध-भूमि से यह स्थान लगभग दो कोस दूर था। इस समय तक उसकी भारी हानि होगई थी। उसकी सेना का सदर लूट लिया गया था। युद्ध में जो तोपें छीन ली गई थीं वे हमारी सेना में लाई जा चुकी थीं। इसी तरह बहुत सा गोला-बारूद भी हमारे हाथ लग चुका था। शत्रु-पक्ष के अनेक अमीर उमरा घायल हो गये थे और मारे जा चुके थे। शत्रु की बहुत भारी हानि हुई थी।

दूसरे दिन नवाब ने युद्ध बन्द कर देने और सुलह करने की बात-चीत प्रारम्भ की। अतएव हमने युद्ध बन्द रक्खा। हमने प्रस्ताव किया कि जो मीन उद्दौला इस युद्ध की जड़ है उसका सम्बन्ध सन्धि से कुछ भी न होना चाहिए। इस पर नवाब ठिठुका पर हम अपने प्रस्ताव पर दृढ़ बने रहे। इस प्रस्ताव के स्वीकृत होजाने पर सन्धि की शर्तों पर विचार होने लगा। जब मीन उद्दौला पर दबाव डाला गया तब उसने अपनी भूल स्वीकार कर ली और आत्मसमर्पण करने को तुरन्त राज़ी हो गया। हमने उसे इस बात का वचन देने को बाध्य किया कि वह अब ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा जिससे हमारे मन में किसी प्रकार का सन्देह हो। उसने यह शर्त मान ली। इस पर हमने उससे भेंट की और उसे सख़्त निगरानी में रक्खा। युद्ध के दूसरे दिन यह प्रस्ताव किया गया था कि नवाब को विनष्ट कर दिया जाय, अतएव हमने उसे इस प्रकार क़ैद में रखना उचित समझा था। सरदार लोग भी इस कार्य से सहमत थे और इस प्रकार के व्यवहार के लिए वह अपने विश्वासघात के कारण सर्वथा पात्र था। परन्तु नवाब ने पहले बहुत अच्छा सलूक किया था, इसलिए हमने उसकी रक्षा ही की। इसके बाद हमने सन्धि की शर्तें निश्चित कीं। हमारे वादाविवाद में यह निश्चित हुआ कि नवाब पेशवा को तीन करोड़ रुपये बीस वर्ष की उस बाक़ी के अदा करे जो कर के रूप में अदा करना था और युद्ध-व्यय तथा दूसरी मदों के सम्बन्ध में दो करोड़ रुपये वह और दे। तीस लाख रुपये वार्षिक

आय की एक ज़ागीर तथा दौलताबाद का क़िला भी वह दे। वह भोंसले के उन प्रान्तों को भी वापस कर दे जो बलपूर्वक उससे छीन लिए गये थे तथा उसकी रकम भी अदा करे।

इन सब शर्तों को निज़ाम ने स्वीकार कर लिया। आठ दिन के भीतर सन्धि-पत्र लिखा जायगा। इस के बाद पेशवा (सतारा के) महाराज को सरकारी पत्र लिखेंगे। यह सब आपको मालूम हो जाय, इसलिए मैंने पूरा हाल लिख दिया है। सारांश यह, सारी सफलता परमात्मा की कृपा, महाराज के आशीर्वाद और श्रीमन्त के सौभाग्य का फल है। आपने लिखाहै कि महाराज सितारा-धिप और उनकी पूजनीया माता सदैव कहती हैं कि श्री शम्भु भगवान् पेशवा की सारी इच्छाओं को पूर्ण करेंगे। यह सब उन्हीं के (महाराज के) आशीर्वाद का फल है। २२ वीं रमज़ान।

इस पत्र पर २२ वीं रमज़ान सन् १२०४ फसली, चैत्र शुक्ल ६ सोमवार शाके १७१७ राक्षस लिखा हुआ है।

दीनबन्धु मुख़्तार

विश्व-साहित्य।

नवीय सभ्यता की उन्नति का मुख्य कारण है अभावों की वृद्धि। अपनी वर्तमान-स्थिति से मनुष्यों को कभी सन्तोष नहीं होता। उन्हें अपने जीवन में सदैव अपूर्णता ही देख पड़ती है। इसी अपूर्णता को दूर करने की चेष्टा में सब लोग लगे हुए हैं। परन्तु हज़ार प्रयत्न करने पर भी वे अपने समस्त अभावों को दूर नहीं कर सकते। कोई भी यह नहीं जान सकता कि जीवन की पूर्णावस्था कब होगी। मनुष्यों का यह अनवरत प्रयास ही संसार का साहित्य

साहित्य की सृष्टि तभी हो जाती है जब बाह्य प्रकृति के साथ साहचर्य स्थापित होते ही मनुष्यों के हृदय में भिन्न भिन्न भावनायें उत्पन्न होने लगती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा के विकास से साहित्य की पुष्टि होती है। परन्तु हमें साहित्य का जन्म भाषा की उत्पत्ति के पहले मानना पड़ेगा, क्योंकि भावना पहले होती है और उसकी अभि-व्यक्ति की चेष्टा पीछे। अतएव यह बतलाना असम्भव है कि विश्व-साहित्य का आरम्भ कब हुआ।

वर्तमान युग में आर्यजाति ही की प्रधानता है। कुछ विद्वानों की राय है कि प्राचीन आर्यजाति का आदि निवास-स्थान मध्य-एशिया में था। किसी कारण से उसे अपनी जन्मभूमि छोड़ कर अन्य देशों में जाना पड़ा। तब उसकी दो शाखायें हो गईं। एक शाखा ने भारत को अपना निवास-स्थान बनाया है और दूसरी शाखा योरप में जाकर रहने लगी। योरोपीय शाखा से ही प्राचीन ग्रीक, रोमन, स्लेवानिक, ट्यूटानिक आदि जातियाँ उत्पन्न हुईं। हिन्दू-जाति भारतीय आर्य के वंशज हैं। देश, काल और अवस्था का प्रभाव मनुष्यों के जीवन पर पड़ता है। यद्यपि भारतीय आर्यों और योरपीय आर्यों की सभ्यता का मूल स्रोत ही एक है तथापि उनमें बड़ा भेद हो गया। कुछ काल के बाद जब इन जातियों में पुनः संघट्टन हुआ तब एकने दूसरी को बहुत कुछ लिया दिया। इसी प्रकार के आदान-प्रदान से सभ्यता के समस्त अङ्ग, कला-कौशल और विज्ञान की उन्नति हुई है। यूरोपीय सभ्यता का केन्द्र ग्रीस है और प्राच्य सभ्यता का भारतवर्ष।

साहित्य बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का द्वारोद्घाटन है अर्थात् मनुष्यों के भीतर और बाहर जीवन का जो एक प्रवाह बह रहा है उसी का वह केन्द्रस्थान है। यहीं सब चिन्ता-स्रोतों का सङ्गम

होता है। साहित्य का भाव-जगत् इस जड़-जगत् के सामान ही सत्य है। मनुष्य की सृष्टि होकर भी वह अक्षय है। कवियों ने इस जगत् में जिन महान् पुरुषों की सृष्टि की है वे सब अक्षय पद प्राप्त कर चुके हैं। वे उस गौरवास्पद को पहुँच चुके हैं जहाँ से उनकी दृष्टि समग्र संसार पर जा सकती है।

साहित्य की इस अक्षय सृष्टि के साथ ही एक दूसरा साहित्य होता है जो चिरस्थायी नहीं है। तो भी उसका महत्त्व कम नहीं है। प्राचीन काल में मनुष्यों ने ज्ञान की जो सम्पत्ति अर्जन की थी उसका अब पता नहीं लगता। परन्तु इससे क्या हम कह सकते हैं कि उनकी वह सम्पत्ति बिलकुल नष्ट हो गई? यह सच है कि अब हम यह नहीं जान सकते कि किस जाति ने कब किस ज्ञान का प्रचार किया। तो भी हम यह निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि वर्तमान युग का विद्या-मन्दिर उन्हीं की उपार्जित ज्ञान-राशि पर स्थित है। समय समय पर लोगों ने धार्मिक और जातीय विद्वेष-भाव से अपने विरोधियों के साहित्य को नष्ट करने का प्रयत्न किया। पर आश्चर्य की बात यह है कि उनके साहित्य में एक दूसरे का प्रभाव विद्यमान है। सामाजिक और धार्मिक बन्धनों के कारण हिन्दू और मुसलमान का सम्मिलन कभी नहीं हुआ, पर साहित्य में दोनों निस्संकोच एक दूसरे से मिल गये हैं। संसार में इनका पारस्परिक व्यवहार कितना विद्वेष-पूर्ण हो, पर विश्व-साहित्य के निर्माण में सभी एक भाव से काम कर रहे हैं। ब्राइस साहब ने एक बार कहा था कि संसार में कभी बीस-पचीस मुख्य भाषायें रह जायँगी। इससे भी सिद्ध होता है कि एक जाति दूसरी जाति की भाषा को किस तरह अपना रही है। आजकल कुछ लोग विश्व-भाषा की कल्पना कर रहे हैं। परन्तु विश्व-भाषा और विश्व-साहित्य मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। सभी देश और साहित्य की गति एक दिशा की ओर है। सम्भव है, कभी एक विश्व-भाषा और विश्व-साहित्य का निर्माण होजाय।

भारतीय आर्यों का सर्वस्व वेद है। वेदों से ज्ञान के जिस स्रोत का उद्गम हुआ उसी से हिन्दू-साहित्य आजतक प्लावित है। हमारे षड्-दर्शनों और उपनिषदों ने उसी के आधार पर ज्ञान का विशालभवन निर्मित किया। इतना ही नहीं, हिन्दू ज्योतिष-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, गणित और विज्ञान भी उसी से उद्भूत हुए। भारतीय आर्यों ने अपने ज्ञान की अच्छी वृद्धि की। भारतवर्ष की सजला और सफला भूमि में उन्हें आत्म-चिन्तन के लिए कोई भी बाधा नहीं थी। कितने ही लोगों का ख़याल है कि भारतवर्ष में विज्ञान की चर्चा कभी थी ही नहीं। परन्तु यह उनका भ्रम है। भारतवर्ष में सत्य ज्ञान का पर्यायवाची है। भारतीयों का विश्वास है कि ईश्वर ज्ञानमय है और मनुष्य उसका अंश है। उसमें यह शक्ति है कि वह ज्ञानमय ईश्वर की सदृशता को पहुँच सकता है। जो अनन्त ज्ञान की उपलब्धि के लिए अपने को योग्य समझता है वह भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त न करे, यह सम्भव नहीं।

विज्ञान में भारत ने बड़ा काम किया है। अङ्क-गणित, रेखा-गणित और बीज-गणित में उसी ने आविष्कार किये। दशमलव की रीति उसी की है। एक विद्वान् का कथन है कि अरब-निवासियों ने भारतीय बीज-गणित का अनुवाद अपनी भाषा में किया और उसी से ज्ञान प्राप्त कर पिज़ा के लिओ-नार्डो ने योरप में बीज-गणित का प्रचार किया। प्रयोगात्मक विज्ञान में भी भारत का दख़ल था। साठ-सत्तर साल पहले बोगदे की निर्माण-कला पाश्चात्यों को अज्ञात थी। परन्तु भारत में यलोरा के गुफा-मन्दिरों को बने हज़ारों वर्ष होगये। जैसे लोह-स्तम्भ भारत के प्राचीन कारीगरों ने तैयार

किये हैं वैसे स्तम्भ बना लेना पचास साठ वर्ष पहले योरप के लिए दुष्कर था। योरप में हिप्पोक्रेटस चिकित्सा शास्त्र का जनक समझा जाता है। आधुनिक अनुसन्धान से विदित होता है कि उसने यह शास्त्र भारत से ही लिया था।

यदि ग्रीस ने भारत से कुछ लिया तो उसकी वृद्धि भी अच्छी की। काव्यों में वियोगान्त नाटकों की उत्पत्ति ग्रीस में ही हुई। दर्शन शास्त्र में साक्रेटीज़, प्लेटो और अरिस्टाटिल के नाम अक्षय हैं। यूक्लिड का नाम कौन नहीं जानता। हैरोडोटस ने इतिहास लिख कर आधुनिक इतिहास को जन्म दिया। सिकन्दर के दिग्विजय के पश्चात् ग्रीस की सभ्यता प्राच्य देशों में फैल गई। पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि भारत के बौद्धकालीन कला-कौशल पर ग्रीस की छाया विद्यमान है। विद्याभूषण महाशय की राय है कि भारतवर्ष के न्याय पर अरिस्टाटिल के न्याय का प्रभाव अवश्य पड़ा। धर्मकीर्ति और उद्योतकर पर सीरिया और पर्शिया के नैयायिकों का प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों की यह भी सम्मति है कि हिन्दू-नाटकों में भी ग्रीस का प्रभाव विद्यमान है

किसी समय बौद्ध-धर्म के प्रचारकों ने एशिया के पश्चिमी देशों में अपने मत का खूब प्रचार किया। उन्हीं लोगों से वहाँ भारतीय ज्ञान का प्रसार हुआ। भारतवर्ष की शिक्षा ही फ़ारस की ज्ञानोन्नति का मूल है। इसके बाद इसलाम धर्म का अभ्युत्थान हुआ। अरब-निवासियों ने भारत से तो सीखा ही था। इधर मिश्र और ग्रीस देश के भी साहित्य ने अरबी-साहित्य को ख़ूब ही उन्नत किया। क्रमशः मुसलमानों की राजनैतिक शक्ति बड़ी प्रचण्ड होगई। उन्होंने एशिया, योरप और अफ़्रीका के अधिकांश भागों पर अधिकार कर लिया। भारतवर्ष पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हुआ तब उसने भी अरब से कितनी ही बातें सीखीं। अरबी साहित्य का प्रभाव भारतीय-साहित्य में आजतक विद्यमान है।

चीन और जापान में भारतवर्ष का प्रभाव स्पष्ट है। चीन की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। प्राचीन काल में चीन से भारत का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। कितने ही भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद चीनी भाषा में हुए हैं। प्राचीन काल में भी चीन अपने कला-कौशल के लिए विख्यात था। यह सम्भव नहीं कि भारत ने उससे कुछ भी ग्रहण न किया हो।

लारेन्स विनीयन साहब नाम के एक अँगरेज़ विद्वान् ने एक बार कहा था, "मैं इस बात का प्रतिदिन अधिकाधिक अनुभव करता जाता हूँ कि संसार पर भारतवर्ष का कितना अधिक ऋण है।" सिकन्दर का आक्रमण भारत पर नहीं हुआ, पर दैवविधान से मनुष्यों की अज्ञानता पर हुआ। सिकन्दर की विजय-यात्रा का ऐतिहासिक परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। भारतवर्ष में उसकी चर्चा तक नहीं है। परन्तु उसी के द्वारा भारतीय ज्ञान का द्वार उन्मुक्त हो गया। अपनी यात्रा में सिकन्दर ने उस भारतीयता का परिचय पाया जिसमें अन्तरात्मा का दर्शन कराया गया था। योरप अभी तक बाह्य जगत् में ही व्यस्त है। उसने अन्तर्जगत् का आभास भारत से ही पाया है।

यदि पाश्चात्य विद्वान् भारत के ऋण को मानते हैं तो भारतीयों को भी उनका उपकार मानना चाहिए। भारत की अकर्मण्यता उसी ने दूर की है। भिन्न भिन्न देशों में तभी सहानुभूति स्थापित हो सकती है जब वे एक दूसरे को अच्छी तरह पहचानें। इसके लिए राष्ट्रीय भावों का दमन करने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु राष्ट्रीयता के साथ साथ हमें अपने मनुष्यत्व का भी ख़याल रखना चाहिए। हमें इसकी सदा चिन्ता करनी चाहिए कि किस प्रकार हम अपने देश को संसार की गति में लावें। राष्ट्रीय भावों को पुष्ट कर उन्हें व्यापक बना देने से

ही हमें अपनेअभीष्ट की सिद्धि हो सकती है। सभी देशों के साहित्य में अज्ञात रूप से यही भाव काम कर रहा है।

सत्य एक है, प्राच्य और पाश्चात्य साहित्य का साध्य वही है। उसी की उपलब्धि के लिए सब चेष्टा कर रहे हैं। आर्य-ऋषियों ने आत्म-चिन्तन और तपस्या के द्वारा जिस सत्य का रूप देखा था उसी को पाश्चात्य विद्वानों ने वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा पाया है। हम यह नहीं कह सकते कि सत्य इतना ही है। ज्ञान अनन्त है। तोभी उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना मानव-जीवन की सार्थकता है। विश्व-साहित्य का यही एक उद्देश है।

रामेन्द्रकुमार शर्मा

महाभारत मीमांसा।

(समालोचना)

राव बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य अँगरेज़ी और मराठी के प्रसिद्ध लेखक हैं। आप भारतीय पुरातत्त्व के अच्छे ज्ञाता हैं। आपने भारतीय इतिहास के अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। रामायण और महाभारत का तो आपने विशेष परिशीलन किया है। आपने संक्षिप्त महाभारत, एपिक इंडिया, महाभारत ए क्रिटिसिज़्म, श्रीकृष्ण-चरित्र आदि कई महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों से आप की विद्वत्ता तो प्रकट होती ही है, पर इनसे यह भी मालूम हो जाता है कि आप कितने निर्भीक समालोचक हैं। जो बात आपको सच मालूम हुई उसे लिखने में आपने कभी संकोच नहीं किया, चाहे उससे लोगों के धार्मिक विश्वासों पर आघात क्यों न हो। सरस्वती के पाठक जानते होंगे कि एक बार आपने रामायण के 'स्त्रियः' शब्द से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि रामचन्द्र बहुपत्नीक थे। जिनके पत्नीव्रत पर हिन्दूमात्र की अचल श्रद्धा है उन्हें बहुपत्नीक बतलाने से आपका निष्पक्ष भाव और ज्ञान-स्पृहा साफ़ प्रकट हो जाती है। महाभारत-मीमांसा आप ही के उपसंहार नामक मराठी ग्रन्थ का अनुवाद है। हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पण्डित माधवराव सप्रेजी इसके अनुवादक हैं।

महाभारत प्राचीन हिन्दू-साहित्यागार की अक्षय निधि है। उसके आधार पर अनन्त ग्रन्थों की रचना हो चुकी है। संस्कृत-साहित्य के प्रायःसभी कवियों ने उसी के कथा-भाग का अवलम्बन कर कितने ही काव्य और नाटक लिख डाले। महाभारत में हिन्दू-धर्म का विषद विवेचन है, उसी में कर्म और ज्ञान का रहस्य समझाया गया है। राजनीति और समाज-शास्त्र की विस्तृत व्याख्या उसी में की गई है। सारांश यह कि ऐसा कोई भी शास्त्रीय विषय नहीं है जिसका निरूपण महाभारत में न किया गया हो। इसी लिए कहा गया है—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥

अर्थात् महाभारतमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों का वर्णन है। जो इसमें है वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है वह दूसरी जगह भी नहीं है।

ज्ञान के ऐसे अक्षय भण्डार की परीक्षा करने के अधिकारी वैद्य जी ही के समान विद्वान हो सकते हैं। आपकी इस आलोचना से आपकी बहुज्ञता और विवेचना-शक्ति झलकती है। ऐसे ग्रन्थ के विषय में सम्मति देने का हमें कोई भी अधिकार नहीं है। अस्तु, यहाँ हम पाठकों को इस का परिचयमात्र करा देते हैं।

महाभारत-मीमांसा में निम्नलिखित चार प्रश्न का निर्णय किया गया है (१) महाभारत की रचना किसने की? (२) महाभारत का समय कौन सा

है? (३) क्या भारतीय युद्ध काल्पनिक है? (४) यदि वह ऐतिहासिक है तो वह कब हुआ था? इसके सिवा इसमें तत्कालीन भारतीय सभ्यता का भी वर्णन है। उस समय भारत की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति कैसी थी, शिक्षा-पद्धति कैसी थी, कौन कौन से उद्योग-धन्धे प्रचलित थे, साहित्य, विज्ञान और दर्शन में लोगों ने कैसी उन्नति की थी, उनका धार्मिक विश्वास कैसा था, उनमें कैसी विवाह-संस्था का प्रचार था, आदि बातों का भी बड़ा ही मनोरञ्जक वर्णन है। एक भी महत्त्व-पूर्ण बात नहीं छूटी है। लोगों की वेश-भूषा तक का वर्णन किया गया है। विवादास्पद विषयों की गम्भीर गवेषणा की गई है।

महाभारत विशाल ग्रन्थ है। उसके कर्ता वेद-व्यास माने जाते हैं। वही अठारह पुराणों के भी रचयिता कहे जाते हैं। यद्यपि ग्रीक-साहित्य के एक नाटककार के विषय में भी यह कहा जाता है कि उसने अकेले सैकड़ों नाटकों की रचना की है तथापि महाभारत की विशालता देख कर विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि यह असम्भव है कि इतने बड़े ग्रन्थ की रचना एक ही मनुष्य ने की हो। दूसरी बात यह है कि महाभारत में जिन परिस्थितिओं का वर्णन है उनके अनुसार महाभारत एक ओर तो वैदिक-काल तक पहुँच जाता है और दूसरी ओर अर्वाचीन काल के बौद्ध और जैन ग्रन्थों तथा ग्रीक लोगों के इतिहास-ग्रन्थों से आ मिलता है। अतएव इस दीर्घ-कालव्यापी सभ्यता का वर्णन एक ही व्यक्ति नहीं करता। भारतीय सभ्यता की धारा सदैव मन्द ही रही है, क्योंकि भारतीय प्राचीनता के पक्षपाती ही रहे हैं। बाह्य संघट्टनों से ही सभ्यता में शीघ्र परिवर्तन होता है और प्रायः उच्च जाति ही का प्रभाव निम्न जाति पर अधिक पड़ता है। भारतीय आर्यों ने अनार्यों से कुछ न कुछ अवश्य ही ग्रहण किया होगा, परन्तु अनार्यों पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी सभ्यता ही लुप्त होगई। प्राचीन काल में भारत ही सभ्यता का केन्द्र था। अतएव यही अधिक सम्भव जान पड़ता है कि वैदिक-काल से लेकर बौद्ध-काल तक भारत की परिस्थिति में विशेष परिवर्तन न हुआ हो। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत में बौद्धकालीन स्तूपों तक का उल्लेख है। अतएव ऐसे स्थलों को प्रक्षिप्त मानना ही पड़ेगा। विद्वान् लेखक का कथन है कि वर्तमान महाभारत के कर्ता तीन ही हैं। तीन से अधिक मानना निराधार है। ये तीन हैं व्यास, वैशम्पायन और सौति। मूल-ग्रन्थ ऐतिहासिक था। उसका नाम जय था। उसी के कर्ता व्यासजी हैं। यही ग्रन्थ भारत हो गया और अन्त में जब उसका विस्तार बढ़ गया तब वह महाभारत हो गया। हम वैशम्पायन के ग्रन्थ को भारत और सौति की कृति को महाभारत कह सकते हैं। लेखक का यह सिद्धान्त है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप शक के पहले तीसरी शताब्दी में गठित हुआ है। उस समय जैन और बौद्ध धर्मों के आघात से सनातन धर्म की दुरवस्था हो रही थी। इसी लिए सौति ने भारत को महाभारत का बृहत् स्वरूप देकर सनातन धर्म के अन्तस्थ विरोधों को दूर कर दिया। मूल ग्रन्थ और वैशम्पायन के भारत में विशेष अन्तर नहीं था। भारत में सिर्फ २४००० श्लोक थे और अब महाभारत में एक लाख श्लोक हो गये हैं। यह अधिक संख्या सौति की जोड़ी हुई है। परन्तु ये भाग व्यासजी के मूल-ग्रन्थ की स्फूर्ति से ही जोड़े गये हैं। ऐसी अवस्था में इन भागों का कर्तृत्व भी व्यासजी को ही दिया जा सकता है। लेखक का यह कथन किसी दृढ़ प्रमाण पर अवलम्बित नहीं है। यह अनुमानमात्र है। लेखक की यह भी राय है कि वर्तमान समय की रामायण शक के पूर्व पहली सदी की है। वर्तमान मनुस्मृति का भी यही समय है।

महाभारत की कथा में यत्र तत्र असम्भाव्यता है। लेखक की राय है इसके दोषी सौति जी हैं। उदाहरण के लिए नागों का वर्णन लीजिए। लेखक का कथन है कि ये नाग भारत के मूल निवासी थे। यही ऋग्वेद में दस्यु के नाम से उल्लिखित हुए हैं। खाण्डव वन यमुना के किनारे था। वहीं ये लोग रहते थे। पाण्डवों ने इन्हें वहाँ से भगा दिया। तभी से दोनों में घोर शत्रुता हो गई। परीक्षित की मृत्यु और सर्प-सत्र उसी का परिणाम है। यह कल्पना पीछे से की गई कि ये लोग प्रत्यक्ष सर्प थे। एक बात हमारी समझ में नहीं आई। सभी देशों के प्राचीन काव्यों में असम्भाव्य घटनाओं का वर्णन है। एक समालोचक ने इसका कारण यह बतलाया था कि सभ्यता के आदि काल में लोगों को ऐसी ही घटनायें रुचिकर होती हैं। जिस प्रकार बच्चों को काल्पनिक कथाओं में आनन्द आता है उसी प्रकार हमारे पूर्वजों का भी ऐसी कथाओं में मन लगता था। ज्ञान की वृद्धि होते ही ऐसी घटनायें अरुचिकर हो जाती हैं और तब लोग अप्राकृतिक घटनाओं का समावेश नहीं करते। यदि व्यासजी इन अप्राकृतिक घटनाओं का वर्णन करते तो हम यह कहते कि सभ्यता के आदि-काल के अनुकूल ही वह वर्णन था। परन्तु जब बौद्ध-काल में दर्शन और विज्ञान का प्रचार अच्छी तरह हो गया था और लोग हिन्दू-धर्म पर संशययुक्त भी हो गये थे तब सौति ने क्या समझ कर इतिहास को कल्पना के रंग में रंग दिया। इससे वह विशेष उपदेशप्रद तो नहीं हुआ, उपहास-जनक हो गया। सौति विद्वान् था और फिर लेखक के अनुसार, उसने व्यासजी की कथा के आधार ही पर सब बातें लिखी हैं। इसलिए उसने ऐसा क्यों किया, यह समझ में नहीं आता। यह दन्तकथा नहीं थी, यह तो इतिहास था। यदि दन्तकथा होती तो हम मान लेते कि ज्यों ज्यों समय अधिक बीतता जाता है त्यों त्यों किसी कथा-भाग में अधिकाधिक असम्भाव्यता की भर्ती होने लगती है।

महाभारत के निर्माण-काल के विषय में लेखक की राय है कि महाभारत के काल की सबसे नीचे की मर्यादा सन् ५० ईसवी है। डायोन क्रायसोस्टोम नाम का एक ग्रीक लेखक ईसवी सन् की पहली शताब्दी में दक्षिण-भारत के पाण्ड्य, केरल इत्यादि भागों में आया था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का इलियड है। डायोन क्रायसोस्टोम की यह साक्षी अत्यन्त महत्त्व की है। यह तो महाभारत-काल की सबसे नीचे की मर्यादा हुई। पर महाभारत के काल की ऊँची मर्यादा कौन सी है? महाभारत में यवनों का बार-बार उल्लेख किया गया है। आदिपर्व में वर्णन है कि जिस यवन राजा को वीर्यवान पाण्डु भी न जीत सका उसे अर्जुन ने जीत लिया। यह बात प्रसिद्ध है कि यवनों से हमारा परिचय पहले पहल सिकन्दर के समय हुआ। अतएव सिकन्दर की चढ़ाई को, अर्थात् ईसवी सन् के ३२० वर्ष पहले के समय को, हम महाभारत काल की पूर्व मर्यादा कह सकते हैं।

कुछ विद्वान् भारतीय युद्ध को काल्पनिक मानते हैं। वेबर और रमेशचन्द्रदत्त की यही राय है। वैदिक साहित्य में भारतीय युद्ध अथवा भारतीय योद्धाओं का कुछ भी उल्लेख नहीं है। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण में वैचित्रवीर्य धृतराष्ट्र का उल्लेख है ही। फिर वैदिक-साहित्य के ग्रन्थ इतिहास तो नहीं हैं। वे तो धार्मिक ग्रन्थ हैं। प्रसङ्गानुसार उनमें किसी राजा अथवा व्यक्ति का नाम देख पड़ता है। यदि उनमें भारतीय-युद्ध का उल्लेख नहीं है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि भारतीय युद्ध काल्पनिक है। वह कब हुआ, इसके विषय में लेखक महोदय ने सभी प्रमाणों पर विचार कर यह निश्चय किया है कि ईसा के ३१०१

वर्ष पहले यह युद्ध हुआ था। मेगास्थनीज़ के कथनानुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि श्रीकृष्ण चन्द्रगुप्त के २७६० वर्ष पहले हुए। इस हिसाब से श्रीकृष्ण का समय ईसा के ३०३२ वर्ष पहले हुआ। यही कलियुग के आरम्भ-काल का निकटवर्ती समय है।

इसमें कुछ बातें ऐसी भी हैं जिन्हें आजकल धार्मिक हिन्दू निन्द्य समझते हैं। लेखक की राय में महाभारतीय-काल में नियोग की प्रथा प्रचलित थी। स्त्रियों को स्वाधीनता थी। चन्द्रवंशी आर्यों में मातुलकन्या का विवाह निषिद्ध नहीं माना जाता था।

उपर्युक्त बातों से ही पाठक जान सकते हैं कि पुस्तक कितने महत्त्व की है। इसके आठवें, नवें, दसवें और ग्यारहवें प्रकरण तो बड़े ही मनोरञ्जक हैं। उन्हें पढ़ते समय प्राचीन भारत का चित्र खिंच जाता है। पुस्तक बड़े आकार के छै सौ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इसके प्रकाशक, बालकृष्ण पाण्डुरंग ठकार, (बुधवार पेठ, नं० १७३ पूना) हिन्दी-भाषा-भाषियों के धन्यवाद के पात्र हैं।

इंग्लेंड-जापान-संधि

सन् १८९५ की बात है। इसी साल पश्चिमी सभ्यता के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित जापान ने अफ़ीमची चीन को धर दबोचा था। यदि रूस, फ्रांस और जर्मनी ने हस्तक्षेप करके जापान को अपनी मनमानी करने से न रोका होता तो उसने साम्राज्य का कुछ अंश हड़प लिया होता। इस लड़ाई में जापान के हाथ सिर्फ़ फारमूसा का टापू लगा। पर सबसे बड़ी बात संसार को यह मालूम हुई कि एशिया में भी एक शक्ति ने सफलता की कुञ्जी प्राप्त करली है और पूर्व में वह शनैः शनैः अपना प्रभुत्व जमा लेगी। जापान के अभ्युदय से क्षुब्ध योरप उसकी प्रत्येक गति-विधि को संदिग्ध दृष्टि से देखने लगा। मुख्यतः पड़ोसी रूस की वक्रदृष्टि उसपर सदा बनी रहने लगी।

विशाल किन्तु अवनतिशील चीन-साम्राज्य पर समस्त पश्चिमी शक्तियों की दृष्टि लगी थी। चीन को जापान अकेले ही न निगल ले, इस डर से योरोपीय शक्तियाँ भी चीन में अपने लिए ठौर-ठिकाना ढूँढ़ने की फ़िक्र में लग गईं। जर्मनी के बादशाह दूसरे विलियम ने सन् १८९७ ईस्वी में चीन के क्याचो बन्दर पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया। इसके बाद रूस ने पोर्ट आर्थर और इँग्लेंड ने वी–हाई–वी नाम के बन्दरगाहों को अपने अपने हाथों में किये। सन् १८९८ में स्पेन से प्रशान्त महासागर का द्वीप-पुञ्ज फिलीपाइन, अमरीका के भी हाथ लग गया। इस तरह जर्मनी, रूस और इंग्लेंड चीन के मेहमान बन बैठे। अमरीका भी फिलीपाइन में बैठ कर चीन की ओर मुँह करके माला फेरने लगा।

पृथ्वी में रूस का राज्य बड़ा विस्तृत है। योरप और एशिया का अधिकांश भाग उसके अन्तर्गत है। योरप का सारा पूर्वी-उत्तरी भाग तथा एशिया का समग्र उत्तरी खण्ड उसके साम्राज्य का स्वरूप है। बाल्टिक समुद्र के किनारे से प्रशान्त महासागर तक रूस-राज्य फैला हुआ है। इसके पश्चिम में स्वीडेन का छोटा राज्य है। दक्षिण में जर्मन, आस्ट्रिया और टर्की है। योरप में उसकी सीमा पर यही देश हैं। इधर एशिया में उसकी सीमा ईरान और अफ़ग़ानिस्तान से मिलती है और इस तरह उसकी सीमा भारत के भी समीप पहुँच जाती है। इसके बाद चीन-साम्राज्य के उत्तर में उसका राज्य पूर्व की ओर बढ़ कर जापान के समीप जा पहुँचा है। ऐसे विशाल-साम्राज्य के

निकटस्थ राज्यों का उससे सर्वदा शङ्कित रहना बुद्धि-सङ्गत ही है। इस साम्राज्य की शनि-दृष्टि पहले ही चीन पर पड़ चुकी थी। रङ्ग, रूप, और धर्म में समान, उन्नतिशील और बलशाली जापान चीन में अन्य शक्ति का प्रभुत्त्व देख न सकता था। अँगरेज़ों को भी रूस की बढ़ती खटकती थी। यह भी भय था कि कहीं जर्मनी, रूस और कोई अन्य योरपीय शक्ति गुट्ट बाँध कर चीन पर हमला न कर दे जिससे चीन और अन्य पूर्वी-देशों में एक व्यापक हलचल उठ खड़ी हो। यह सोच कर उन्नतिशील जापान को अपनी ओर मिला लेना अँगरेज़ राजनीतिज्ञों ने अपना प्रधान कर्तव्य समझा।

इधर रूस पूर्व की ओर धीरे धीरे बढ़ता चला आता था। वह कोरिया पर, जो चीन के उत्तर और जापान के निकट है, क़ब्ज़ा करने की धमकी दे रहा था। रूस के इस भाव से जापान का भविष्य सङ्कुचित मालूम पड़ता था। उसकी स्वतन्त्रता और अस्तित्व पर व्याघात होने की स्पष्ट आशङ्का थी। ऐसी दशा में उसने दुनिया की सर्वोत्कृष्ट जल-शक्ति, इँग्लेंड, से मैत्री करना ठीक और समयोचित समझा। इसलिए सन् १९०२ में इँग्लेंड और जापान के बीच पाँच साल के लिए एक सन्धि हुई जिसका उद्देश्य सुदूर पूर्व में पूर्व-स्थिति और शाँति क़ायम रखना और चीन और कोरिया के क्षेत्र फल को अक्षुण्ण रखना था। उसका यह भी अभिप्राय था कि चीन और कोरिया के व्यवसायिक द्वार खुले रहें। एक यह भी शर्त थी कि यदि जापान या इँग्लैंड से किसी एक शक्ति से युद्ध ठन जाय तो एक दूसरे की मदद देने के लिए बाध्य न होगा। यदि एक से अधिक शक्तियों से लड़ाई छिड़ जाय तो एक को दूसरे की सहायता देनी ही होगी। जिस बात का अन्देशा था वही हुआ। रूस और जापान के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वदेश-प्रेमोन्मत्त, लघुकाय, किन्तु बलवान, जापानियों ने विशालकाय पुराने रूसी योद्धाओं को बेतरह हराया। बलशाली जापान सिंह ने मत्त गयन्द रूस के दाँत तोड़ डाले। सिर्फ़ जापान और रूस के बीच में लड़ाई हुई। इसलिए एक ही शक्ति के साथ लड़ाई होने के कारण सन्धि की शर्तों के अनुसार इँग्लेंड को जापान का साथ न देना पड़ा। इँग्लेंड ने विना लाठी ही के सर्प को घायल और अशक्त कर दिया। कोरिया रूस के पंजों में पड़ने से बच गया। जापान का प्रभुत्व बढ़ा। जापानी शौर्य ने दुनिया को चकाचौंध कर दिया। पश्चिमी शक्तियाँ उसे भय और आदर से देखने लगीं। उसकी भी गणना संसार की महाशक्तियों में होने लगी।

रूस-जापान-युद्ध के बाद योरप की राजनैतिक दशा में परिवर्तन होने लगा। जर्मनी में मानव-संहारक अस्त्र-शस्त्रों की दिन-दिन उन्नति हो रही थी। वह अपनी जहाज़ी शक्ति इँग्लेंड के बराबर ही नहीं प्रत्युत उससे भी अधिक करना चाहता था। इसलिए वह जङ्गी जहाज़ों की संख्या बढ़ाने लगा। संसार में इँग्लेंड जहाज़ी शक्ति में सिरमौर है। इसी कारण दुनिया के व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग उसी के हाथों में है। जर्मनी की इच्छा सार्वभौमिक राज्य की थी और यह तभी सफलीभूत हो सकती थी जब जहाज़ी शक्ति में इँग्लेंड का महत्त्व घटे और समुद्रों पर उसका प्राधान्य हो जाय। अतएव नितान्त आवश्यक था कि जर्मनी के पास इँग्लेंड के जहाज़ी बेड़े के मुक़ाबले का बेड़ा हो। जर्मनी के इस रङ्ग-ढङ्ग से इँग्लेंड शङ्कित हुआ। वह अपनी बढ़ी हुई जहाज़ी शक्ति को और भी बढ़ाने लगा। संसार को इँग्लेंड और जर्मनी का युद्ध अमिट दिखाई देने लगा।

योरपीय राजनीति की चढ़ा-उपरी के कारण

इँग्लेंड को अपना ध्यान विशेषरूप से उधर ही लगाना पड़ा। अतएव उसे अपने पूर्वी-राज्यों की रक्षा के लिए जापान की मैत्री परमावश्यक थी। जापान भी रूस-जापान युद्ध से थका हुआ था। उसे भी अपनी हानि की पूर्ति करने के लिए शाँति अभीष्ट थी। ऐसे ही कारणों से, १६०५ में, दस साल—और अगर तोड़ी न जाय तो अधिक समय—के लिए इँग्लेंड और जापान के बीच एक नई सन्धि हुई। इसमें १६०२ वाली सन्धि शर्तों के सिवा पूर्वीय एशियाई देश और हिन्दुस्तान में पूर्व-स्थिति और शाँति क़ायम रखने की शर्तें बढ़ाई गईं। कोरिया परतन्त्र राज्य माना गया और उस पर जापान का प्रभुत्त्व स्वीकृत किया गया। पहले की भाँति फिर भी कोरिया या चीन में व्यापार-सम्बन्धी रोक-टोक नहीं रक्खी गई। इस सन्धि में एक परिवर्तन यह भी किया गया कि यदि कोई दूसरी शक्ति सुदूर पूर्व और हिन्दुस्तान के मित्र-राष्ट्रों के हितों पर आक्रमण करे तो मित्र-शक्तियों को एक दूसरे की सहायता करनी पड़ेगी।

यह सन्धि १६११ तक जारी रही। इसी साल में जुलाई १९०५ वाली सन्धि फिर से दुहराई गई। इसकी मियाद दस साल की है और यदि मियाद खतम होने के एक साल पहले नोटिस द्वारा तोड़ने की चेतावनी न दी जाय तो उससे अधिक की है। यह सन्धिकाल बीत रहा है। जुलाई आ रही है। अभी सन्धि पूर्ववत् जारी है। किन्तु कुछ महीनों से इँग्लेंड-जापान की सन्धि-चर्चा बहुत ज़ोरों से छिड़ रही है। कुछ राज्य सन्धि के पक्ष में हैं और कुछ विपक्ष में हैं।

सन् १६११ से १६२१ तक संसार में बड़े बड़े परिवर्तन होगये। इसी समय में रूस और जापान के बीच चीन के उत्तरी हिस्से में काम करने का कुछ समझौता हो गया है। कोरिया जापान के राज्य में मिला लिया गया है। इस तरह कोरिया का भी प्रश्न अब उठ गया है। चीन भी जाग उठा है। वहाँ भी स्वदेश-प्रेम का अङ्कुर निकल आया है। उसे अपनी सम्पत्ति, बल और सभ्यता का ज्ञान हो गया है। मंचू-सम्राट् सिंहासन-च्युत कर दिये गये हैं। क्रान्ति पर क्रान्ति होने के बाद अब वहाँ प्रजा-तन्त्र स्थापित हुआ है। हाल में विलक्षणबुद्धि सम्पन्न प्रकाण्ड राजनीति-विशारद चीन के अग्रगण्य-क्रान्तिकारक डाक्टर सन-याट-सेन चीन प्रजा-तन्त्र के प्रेसीडेंट हुए हैं। यह देख चीन के मुर्दा हो जाने पर उसे बाँट खानेवाली शक्तियों की आशाओं पर पानी पड़ गया। अब उन्हें पूर्ण विश्वास हो गया है कि उनका माया-जाल चीन में नहीं चल सकता अभी उस दिन चीन के एक प्रधान पुरुष ने अपनी स्पष्टोक्ति से संसार को चीन के स्वरूप का परिचय दे दिया है। आप चीन के मुख्य न्यायाधीश वाङ्ग-चुङ्ग-हुई हैं। राष्ट्रसंङ्घ की बैठक में सम्मिलित होने के लिए आप चीन के प्रतिनिधि की हैसियत से जिनेवा गये हैं। आपने कहा है कि यदि जापान और इँग्लेंड का समझौता पूर्ववत् ही बना रहा तो चीन अमरीका से मिलकर जापान से युद्ध करेगा।

रूस की ज़ारशाही का अन्त हो गया। पुरानी सरकार के स्थान में वहाँ बोल्शेविकों की सोवियट सरकार का शासन है। बोल्शेविक साम्यवादी हैं और ये साम्राज्य-वाद के कट्टर विरोधी हैं। रूस की इस नई सरकार और अफ़ग़ानिस्तान के बीच अभी हाल में एक सन्धि हुई है।

इस सन्धि से बोल्शेविकों को अफ़ग़ानिस्तान में कुछ व्यवसाय-सम्बन्धी रियायतें मिली हैं। इस तरह बोल्शेविक अफ़ग़ानिस्तान में पहुँच गये। यहाँ इनकी गति-विधि सन्देहजनक प्रतीत होती है। यदि अभाग्यवश पूर्व में उपद्रव हुआ तो इँग्लेंड को जापान का साहाय्य बहुमूल्य ही नहीं प्रत्युत अत्यन्त आवश्यक होगा।

यह तो हुई पूर्व की बात। उधर योरप में जर्मनी-पराजय से जर्मन-आतङ्क दूर हो गया। उसकी जल-शक्ति भी किसी काम की न रही। विजयी-शक्तियों की क्षति पूर्ण करते करते उसके धुर्रे उड़ जायँगे। फ्रांस ने अलसेस और लोरेन नामक दो बहुमूल्य प्रान्त तक छीन लिये। आष्ट्रिया का साम्राज्य ही भङ्ग हो गया। महायुद्ध के कारण योरप में क्राँति हो गई है। उसे इस समय शाँति ही पसन्द है। राष्ट्रसङ्घ की स्थापना से शाँति का क़ायम रहना बहुत कुछ सम्भव है। इस तरह इँग्लेंड योरप में निरापद है।

अब रहे इँग्लेंड के उपनिवेश और अमरीका का संयुक्तराज्य। संयुक्तराज्य मनरो के सिद्धान्तानुसार बाहरी झगड़ों में नहीं पड़ना चाहता। इसी कारण वह राष्ट्रसङ्घ से भी अलग है। उसे वही करना अभीष्ट है जिससे अमरीका का हित-साधन पहले हो। प्रशान्त महासागर पर वह अपना प्रभुत्व चाहता है। अतः जहाज़ी बेड़े को बढ़ाने में वह अपना हित समझता है।

इधर जापान राष्ट्रसङ्घ का मेम्बर होते हुए भी अपनी जहाज़ी ताक़त के बढ़ाने की फ़िक्र में है। इस होनहार देश को प्रशान्त महासागर में अमरीका का इजारा स्वीकृत और इष्ट नहीं। वह अमरीका की जहाज़ी-शक्ति की वृद्धि नहीं देख सकता। और अमरीका भी प्रशान्तमहासागर में जापान का प्रभुत्व अपने लिए हानिकारक समझता है। प्रशान्तमहासागर के प्रभुत्व की स्पर्धा से दोनों देशों में मनोमालिन्य बढ़ता जाता है। यही नहीं, उसे अपने राज्य में जापान-प्रवासियों की संख्या की वृद्धि भी अभीष्ट नहीं। जापान इसे अपनी मान-हानि समझता है। लोगों का कहना है कि कहीं इन दोनों शक्तियों के बीच युद्ध न छिड़ जाय। यदि युद्ध छिड़ गया तो इँग्लेंड-जापान-सन्धि के रहते हुए क्या इँग्लेंड अमरीका से लड़ेगा? क्या अमरीका से लड़ने में इँग्लेंड का हित-साधन होगा? ये बातें भविष्य के गर्भ में हैं।

आस्ट्रेलिया और कनेडा इँग्लेंड के दो बड़े उपनिवेश हैं। ब्रिटिश-साम्राज्य के वैदेशिक मामलों में ये भी अपनी सलाह देने का दम भरते हैं। इँग्लेंड इनकी सलाहों को एकदम उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता। जापानियों का आस्ट्रेलिया में आकर अधिक संख्या में बसना आस्ट्रेलिया को पसन्द नहीं। प्रशान्तमहासागर में वह जापानियों के प्रभुत्व का सहन नहीं कर सकता। इसलिए वह इँग्लेंड-जापान-सन्धि का विरोधी है।

कनेडा का भी ऐसा ही हाल है। वहाँवाले भी अपने देश में जापानियों का अधिक संख्या में आकर रहना नहीं चाहते। यद्यपि कनेडा को जापान की मैत्री से व्यापार-सम्बन्धी लाभ है तथापि जातीय अस्तित्व की दृष्टि से इँग्लेंड-जापान-सन्धि का दोहराया जाना उसे भी अभीष्ट नहीं है।

अब रहा राष्ट्रसङ्घ। यह बात विचारणीय है कि शांति का ठेकेदार राष्ट्रसङ्घ सन्धि के इस संस्करण को कहाँ तक अनुमोदित करता है। इँग्लेंड और जापान दोनों राष्ट्रसङ्घ के सदस्य हैं। अतएव यह आवश्यक है कि सन्धि-स्थापन की चर्चा इस सङ्घ में चले।

समस्या सचमुच बड़ी जटिल है। देखें इँग्लेंड के सुचतुर राजनीतिज्ञ इस समस्या को कैसे हल करते हैं।

शारदाप्रसाद अग्रवाल

पागलख़ाने में संवाददाता।

पाश्चात्य देशों में अख़बारों की ख़ूब क़द्र है। वहाँ छोटे बड़े सभी लोग अख़बार पढ़ने के शौक़ीन हैं। वहाँ पत्रों की ग्राहक-संख्या लाखों तक पहुँच जाती है। यदि किसी का अख़बार चल गया तो वह थोड़े ही दिनों में मालामाल हो जाता

हैं। इसलिए सामयिक पत्रों के सञ्चालक अपने अपने पत्रों को सर्वप्रिय बनाने के लिए बड़ी चेष्टा करते हैं। समाचार संग्रह करने के लिए वे ख़र्च करने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं करते। अपने संवाद-दाताओं को वे अच्छी रक़म देते हैं। ये संवाददाता भी अपने कार्य में बड़े निपुण होते हैं। बड़े कौशल से वे समाचार संग्रह किया करते हैं। वे सदा इसी फ़िक्र में रहते हैं कि कहीं से कुछ ऐसी बात मिल जाय जिसे पढ़कर लोगों में सनसनी फैलजाय। इसके लिए वे तकलीफ़ उठाने को भी तैयार रहते हैं। पेरिस के दो चार लेखकों ने इसी तरह की बातें लिखकर बड़ा नाम पैदा किया है। एम० वालियर, जार्जेस डेनियल, जीन ब्रेमान्टियर आदि लेखकों ने ऐसी ऐसी आपत्तियाँ झेली हैं कि उन्हें पढ़कर लोग विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। डेनियल एक बार, यह सिद्ध करने के लिए कि लोवरे के अजायब-घर में रक्षक बड़े असावधान रहते हैं, रात भर एक पत्थर के ताबूत में छिपा रहा। एक दूसरा लेखक सीन नदी में कूद पड़ा और इसके बाद उसने एक लेख लिखा कि पुलिस के कुत्तों से मनुष्यों की प्राण-रक्षा नहीं हो सकती। मैडम ब्रेमान्टियर को लोग पेरिस-प्रेस की हेलेन कहा करते हैं। हेलेन का नाम होमर के इलियड नामक काव्य में विख्यात है। उसी के सौन्दर्य के कारण ट्राय का युद्ध हुआ था। ऐसी सुन्दरी होकर भी मेम साहिबा भेष बदल कर कुछ समय तक घूम घूम कर मेवे बेचती रहीं। इसके बाद आपने अपने अनुभवों का बड़ा ही मनोरञ्जक हाल लिख डाला। एक दूसरी स्त्री ने लन्दन के दरिद्रों की दुरवस्था का वर्णन करने के लिए कुछ समय तक उन्हीं के साथ निवास किया। पर सब से विलक्षण हाल एम० वालियर साहब का है। आप एक बार ख़बर की खोज में पागलख़ाने की हवा खा आये। वहाँ आपकी बड़ी दुर्दशा हुई, पाठकों के मनोरञ्जन के लिए नीचे हम उसी का हाल लिखते हैं।

वालियर साहब ऊँचे क़द के दुबले-पतले आदमी थे। आपकी आँखें बड़ी बड़ी थीं। रङ्ग कुछ पीला था। इसलिए जब आपने अपने बाल और दाढ़ी को बिखेरा कर दर्पण में अपना मुख देखा तब आपको पूरा सन्तोष हो गया कि लोग आपको देखकर पागल समझ लेंगे। इस तरह पागल का स्वाँग बनाकर आप घर के बाहर निकले। आप चाहते थे कि रास्ते में कोई पुलीस का आदमी मिल जाय तो आप पागलपन की हरकत करें। दैव आप पर अनुकूल था। रास्ते में आपको दो डिटेक्टिव मिले। आप उन्हें अच्छी तरह पहचानते थे, पर वे लोग आपसे परिचित नहीं थे। ज्यों ही आप उनके पास से निकले त्यों ही आप ख़ूब ज़ोर से खिलखिला कर हँसने लगे, फिर कहने लगे, "पुलीस की नादानी तो देखो। वह अपने बादशाह 'एडवर्ड' की रक्षा नहीं कर सकती। बेचारा अपने सहारा के भाई के चक्कर में पड़ गया है।"

वे दोनों डिटेक्टिव यह बात सुन कर ज़रा हट कर खड़े हो गये। तब आप एक लैम्प-पोस्ट से बात चीत करने लगे। आपने कहा "क्यों, तुम्हारी क्या राय है? तुम तो यहाँ बैठे बैठे दुनिया भर के लोगों से बातें किया करते हो। किसी की सुनते तो हो नहीं। मेरी तो बात सुनो। मैं कहता हूँ तुम्हारा कहना बिलकुल ग़लत, एकदम ग़लत। नहीं तो विवाद कर लो। हम तैयार हैं।" लैम्प-पोस्ट ने कुछ उत्तर न दिया।

तब तो आप बड़े नाराज़ हुए। ज़ोर से चिल्ला कर कहा, "बदमाश शैतान, खड़ा रह, अभी तुझे मज़ा चखाता हूं।" यह कह कर आपने आस्तीन चढ़ा कर मुक्का उठाया। दोनों डिटेक्टिव खड़े खड़े तमाशा देख रहे थे। अब वे लोग पास आये। आपने उन्हें देखकर बड़े तपाक से कहा, "साहबो, आप लोग अच्छे मौक़े पर आये। ज़रा इधर आइए। मैं आपको एक मार्के की बात सुनाता हूँ। पर यह लैम्प-पोस्ट

कहीं सुन न ले। इधर हट आइए।" फिर आपने आवाज़ धीमी करके कहा, "मेरा नाम होपोपूलो है। मोरोको के बादशाह ने मुझे राजदूत बना कर भेजा है। मैं एक ख़ास काम के लिए भेजा गया हूँ। जानते हैं, वह काम कैसा है।" आपने अब अपनी आवाज़ बिलकुल धीमी करली और बड़ी गम्भीरता से कहा "बादशाह एडवर्ड एक बड़ी विपत्ति में फँस गये हैं। समझे साहब। मैं ऐसा वैसा आदमी नहीं हूँ।" अब डिटेक्टिवों को पूरा विश्वास हो गया कि यह आदमी पागल है। उन लोगों ने वालियर साहब को ख़ुश करने के लिए बड़ी नम्रता से सिर झुकाया। फिर एक ने कहा, "आपका कहना सच है। यहाँ इँग्लैंड के बादशाह के एक गुप्त दूत आये हुए हैं। चलिए, मैं उनसे आपको मिला दूँ। तब फिर आप उनसे यह रहस्य खोल दीजिएगा।" होपोपूलो फिर ज़ोर से खिलखिला कर हँसने लगा और कहा, "यह तो आपने ख़ूब मज़े की बात कही।" दोनों डिटेक्टिवों ने बड़ी सफ़ाई से इस बात की जाँच कर ली कि इसके पास कोई पिस्तौल वग़ैरह तो नहीं है। फिर बड़े प्रेम से बात-चीत करते हुए वे तीनों वहाँ से रवाना हुए।

थोड़ी ही देर में तीनों एक पुलीस-स्टेशन में पहुँच गये। वहाँ के अफ़सर को भी यह विश्वास हो गया कि वालियर पागल है। यहाँ भी वालियर ने पागलपन का स्वाँग रचने में कमाल कर दिया। उक्त अफ़सर से भेंट होते ही आप बड़े तपाक से उठकर बोले—"मेरा नाम सिगनर हेर वान होपोपूलो है। यह मेरा कार्ड है।" यह कहकर आपने जेब से एक लम्बा-चौड़ा तख़्ता निकाला। उसपर काली स्याही से टेढ़ी-मेढ़ी लकीरों में कुछ लिखा हुआ था। अफ़सर ने उसे बैठने के लिए एक कुर्सी दी। तब आप बड़ी शान से बैठ गये।

इत्तिला पाकर वहाँ दो डाक्टर पहुँचे। दोनों डाक्टरों ने उसकी परीक्षा की। बड़ी देर तक वे उसकी परीक्षा करते रहे। अन्त में उन्होंने यह निश्चय किया कि इसका मस्तिष्क तो बिगड़ा नहीं है, पर उसमें कुछ ख़राबी आ गई है, साधारण चिकित्सा से यह अच्छा हो जायगा। पर वालियर साहब तो यह चाहते नहीं थे। उन्हें तो पागलख़ाने जाने की सूझी थी। आपने तुरन्त ही ऐसा ढोंग किया कि डाक्टरों को भी विश्वास हो गया कि रोग साधारण नहीं है। सर्व-साधारण को धोखा देने के लिए पागलपन का स्वाँग कर लेना सरल है। पर डाक्टरों को धोखा देना टेढ़ी खीर है। कुछ भी हो, वालियर साहब के चकमें में दोनों डाक्टर आ गये और उन्होंने उसे पागल निश्चय कर उसके दोनों हाथ बँधवा कर एक कोठरी में बन्द कर दिया।

जब वालियर साहब कोठरी में पहुँचाये गये तब आपको मालूम हुआ कि पागल बनकर रहना सुख-कर नहीं है। कुछ देर के बाद आपको भूख लगी। पर डाक्टर की आज्ञा से आपको भोजन की मात्रा इतनी कम मिली थी कि उससे तृप्त होना तो दूर रहा उलटा जठरानल और बढ़ गया। रात किसी तरह आपने काटी। ग़नीमत यही थी कि आपको नींद आ गई। सुबह आपके हाथ खोल दिये गये और आप डाक्टर के पास पहुँचाये गये। डाक्टर ने कहा, "आप पागलख़ाने में सबसे अलग रक्खे जायेंगे, क्योंकि आपका लक्षण असाधारण है। दिन में पाँच छः बार आपको बर्फ़ के पानी में स्नान करना पड़ेगा"।

वालियर साहब ने देखा कि अब बात बहुत बढ़ गई है, तब आपने कहा, "मैं एक सामयिक पत्र का संवाददाता हूँ। मैं पागल नहीं हूँ।"

डाक्टर ने उसे आश्वासन देते हुए कहा, "कौन कहता है कि आप पागल हैं। आप ज़रा ठण्डे पानी में नहा लीजिए। फिर आप इँग्लैंड के बादशाह से भेंट कीजिए"।

वालियर साहब ने लाख कोशिश की, पर किसी

ने उसकी बात न सुनी। बेचारे को बर्फ़ में डूबना पड़ा। चिकित्सा हो जाने पर आप फिर अपने कमरे में पहुँचाये गये। अकेले बैठ कर आप सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। हम कुछ भी कहें, ये लोग तो हमारी बात पर विश्वास करने के नहीं।

पाश्चात्य देशों में संवाददाताओं के पास एक कार्ड रहता है। उसमें पत्र-सञ्चालक और पुलीस-अफ़सर के दस्तख़त रहते हैं और संवाददाता का चित्र भी उसी में चिपका दिया जाता है। मौक़ा पड़ने पर उसी को दिखला कर संवाददाता मौक़े बेमौक़े बच जाते हैं। वालियर साहब को एकाएक ख़याल हुआ कि उनके कोट में कार्ड मौजूद है। जब नौकर आपको भोजन देने आया तब आपने उसे अपने कोट को जाँचने के लिए बहुत अनुरोध किया। बड़ी मुश्किल से वह राज़ी हुआ। डाकृरों के आने पर वालियर के सामने उसके कोट की जाँच की गई। तब कोट के जेब से वह कार्ड निकला। कार्ड को देख कर डाकृरों को सन्तोष न हुआ, पर वालियर साहब मुसकुराने लगे। फिर डाकृरों से कहा, "साहबो, आप रञ्ज न करें, मैं आप को दोस्त ही समझूँगा और यहाँ से छूटते ही आप को दावत दूँगा।" डाकृरों ने उसको उत्तर न दिया और दोनों एक दूसरे की ओर देखने लगे। फिर बड़े डाकृर ने बड़े गम्भीर स्वर से कहा, "साहब, यह तो बड़ा बुरा हुआ। यह चोरी का मामला है। आपका नाम होपोपूलो है और यह कार्ड वालियर साहब का है। अब तो मामला सङ्गीन हो गया।" इतना कह कर डाकृर ने घंटी बजाई। नौकर के आने पर उसे चार पाँच गगरे पानी लाने के लिए कहा और फिर वालियर साहब की ओर लौट कर कहा "आपका रोग बढ़ गया है। इसके लिए सबसे अच्छा उपाय..........."

वालियर साहब ने चिल्ला कर कहा "माफ़ कीजिए। मुझे आपकी चिकित्सा की ज़रूरत नहीं।"

पर डाकृर साहब ने उसकी बात न सुनी। बेचारे के सिर पर घड़ा भर ठण्डा पानी डाला गया। इसके बाद सब लोगों ने मिल कर उसकी चिकित्सा आरम्भ की। कोई सिर पर पानी उड़ेलने लगा, कोई भीगे टावल से उसके शरीर को रगड़ने लगा, कोई पोंछने लगा। बेचारा वालियर बिलकुल घबड़ा गया। वह सचमुच घड़ी भर के के लिए पागल हो गया। वह भागने की कोशिश करने लगा। सामने का दरवाज़ा खुला हुआ था और वहीं उसके कोट और हैट भी रक्खे हुए थे वह तुरन्त ही उठ कर भागा। बड़ी मुश्किल से वह बाहर आया। तब ज़रा उसके जी में जी आया। फिर एक गाड़ी किराया करके वह अपने पत्र के आफ़िस में गया और वहाँ कुर्सी पर बैठ कर उसने अपनी विपत्ति की कहानी लिख डाली। कहानी छप जाने पर वह एक कापी लेकर उन्हीं डाकृरों के पास पहुँचा। डाकृरों ने कहा, "साहब, हम तो आपको पहले ही पहचान गये थे।" वालियर ने हंसकर कहा, "अब आप क्यों नहीं ऐसा कहेंगे।" फिर तीनों बैठ कर वही कहानी पढ़ने लगे।

मौजी

जन्मभूमि

जयति जयति जन्मभूमि, जननी मम प्यारी।
अनुपम रमणीय देश, दीप्तिमान भव्य-वेश,
सुन्दर पावन प्रदेश, तेरे सुखकारी॥
शीतल सुरभित समीर, श्यामल अति मृदुल चीर,
सहज-मधुर दिव्य नीर, तेरा बलकारी॥
नृपति राम नय-निधान, वीर पार्थ के समान,
भीष्म-तुल्य धैर्य्यवान्, तव सुत श्रुतिधारी॥

सुनकर तव यशोगान, कवि-कृत-सुषमा-निधान,
प्रमुदित सुरगण महान्, नन्दन-वनचारी ॥
अब क्यों हे अम्ब दीन, व्याकुल हो मुख-मलीन,
होकर वैभव-विहीन, पाती दुख भारी?
पीकर तव पुण्यनीर, वर्धित जिसका शरीर,
जननी, मत हो अधीर, हरि तव हितकारी ॥

ज्योतिषचन्द्र घोष।

विविध विषय।

१—हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि

आजकल हिन्दी साहित्य में नए नए ग्रन्थ ख़ूब निकल रहे हैं। शायद ही कोई ऐसा महीना जाता हो जिसमें दस पाँच किताबें प्रकाशित न होती हों। लेखकों का ध्यान महत्त्वपूर्ण विषयों पर है और पुस्तक-प्रकाशक ग्रन्थों की छपाई-सफ़ाई पर ख़ूब ध्यान देते हैं। कभी कभी सचित्र किताब भी प्रकाशित हो जाती है। इन सब बातों से यह साफ़ सूचित होता है कि अब हिन्दी का भाग्य जागा है। यदि इसी तरह ग्रन्थों का प्रकाशन होता रहे तो हमें विश्वास है कि शीघ्र ही हिन्दी-साहित्य भी ख़ूब समुन्नत हो जायगा। यहाँ हम पाठकों को हिन्दी की कुछ नई पुस्तकों का परिचय देना चाहते हैं।

काव्य—सिडनी ने लिखा है कि मनुष्य के अन्तर्जगत् के रत्नों में काव्य सबसे श्रेष्ठ है। इसकी प्रभा सर्वत्र, सदैव, उज्ज्वल बनी रहती है। परन्तु भाषा के कारण काव्य की यह ज्योति एक ही देश में अवरुद्ध रहती है। कवि के आदर्श विश्वमात्र के लिए श्रेयस्कर हैं। अतएव उनकी कृति का सर्वत्र प्रचार होना चाहिए। इसी लिए काव्य-ग्रन्थों के अनुवाद किये जाते हैं। कुछ विद्वान् अनुवाद को बिलकुल निस्सार समझते हैं, विशेषकर काव्यों के अनुवाद को। अँगरेज़ी में पोप ने होमर के काव्य का अनुवाद किया है। पर पोप का अनुवाद पोप ही की कृति है, उसमें पोप की विशेषता है, होमर की नहीं। पाश्चात्य विद्वानों की यही राय है। कहते हैं कि इसी कारण इंग्लेंड के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ डिज़रायली ने किसी साहित्य-सेवी से कहा था, "अनुवाद कभी मत करना।" अनुवाद में सफलता न होने का एक कारण है। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में उसका व्यक्तित्व रहता है उसी प्रकार प्रत्येक देश में उसी की एक विशेषता रहती है। भाषा भाव का बाह्य रूप है। अतएव जिस देश में जिस भाव की प्रधानता है उसकी भाषा भी तदनुकूल रहेगी। एक बार एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा था कि अँगरेज़ी भाषा ही ईसाई है। ईसा-धर्म से वह किसी प्रकार पृथक् नहीं की जा सकती। शब्दों तक में एक ऐसी विशेषता है जो उनके पर्यायवाची शब्दों में नहीं है। हिन्दी के 'तप' के लिए अँगरेज़ी में कोई भी शब्द नहीं है। जब भिन्न भिन्न जातियों का परस्पर संघट्टन होता है तब एक पर दूसरे की भाषा का भी प्रभाव पड़ता है और इससे भाषा अधिक व्यापक हो जाती है। तब उसमें विभिन्न भावों की भी अभिव्यक्ति हो सकती है। हिन्दी-भाषा का क्षेत्र अभी सङ्कुचित है। उस पर मुसलमानों का प्रभाव ख़ूब पड़ा है। इसलिए यदि हम उसमें इसलाम-धर्म के भावों को प्रकट करना चाहें तो हम कृतकार्य हो सकते हैं। बँगला ने अब एक विशेष रूप-धारण कर लिया है। वह ख़ूब व्यापक हो गई है। हिन्दी में अभी बँगला काव्यों के अनुवाद करने में हमें उतनी सफलता नहीं हो सकती। फिर एक बात और है। काव्य में कवि की आत्मा रहती है, उसका एक विशेषत्व रहता है। वह उसके अनुवादक में नहीं आ सकता। यही कारण है कि कविवर मधुप के "पलासी-युद्ध" से हमें सन्तोष नहीं हुआ। मार्डर्न रिव्यू के समालोचक ने यह कहा था कि अनुवादक ने स्वच्छन्दता से काम नहीं लिया, नहीं तो उन्हें अनुवाद में अधिक सफलता होती। पलासी-युद्ध के विषय में कहा गया है कि 'कवि ने आग्नेय गिरि के अग्निस्राव के साथ करुणा-मन्दाकिनी की पवित्र धारा बहाई है।' पर हमने अनुवाद में न तो अग्नि की ज्वाला का अनुभव किया और न हमें मन्दाकिनी-प्रवाह का ही दर्शन मिला। हाँ, उसमें हमने मधुप के माधुर्य का रसास्वादन अवश्य किया।

नाटक—बम्बई के हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय ने द्विजेन्द्रलाल राय के सभी नाटकों के अनुवाद करा

डाले हैं। इनमें, हमारी समझ में, 'उस पार' सबसे अच्छा है और 'पाषाणी' सबसे निकृष्ट। पण्डित रूपनारायण पांडेय गज़ब के अनुवादक हैं। आप गद्य-पद्य दोनों अच्छी तरह लिख सकते हैं। ताराबाई आपकी पद्यात्मक रचना का नमूना है और उसमें आपको सफलता भी अच्छी हुई है। पर सभी नाटकों में आप वह रस नहीं ला सके। दो चार नाटकों में तो आपकी शक्ति बिलकुल ही क्षीण हो गई है। ऐसा जान पड़ता है कि आपको अनुवाद करना था, इसलिए किसी तरह उससे अपना पिण्ड छुड़ा लिया।

हास्य-रसात्मक ग्रन्थ—हिन्दू-साहित्य-शास्त्रकारों ने नवरसों में हास्य-रस की गणना की है। परन्तु नाटकों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी हास्य की छटा नहीं दिखाई देती। हिन्दी-साहित्य में हास्य-रस के तीन आचार्यों के ग्रन्थ विद्यमान हैं, मालियर, द्विजेन्द्रलाल राय और बङ्किमचन्द्र। द्विजेन्द्रलाल राय ने एक जगह लिखा है, हास्यरस में भी कई भेद हैं। मत-वालों के अर्थहीन प्रलापों से भी हँसी आती है। परन्तु वह निम्न श्रेणी का हास्य-रस है। प्रकृत हास्य-रस मनुष्यों के मानसिक दौर्बल्य पर प्रतिष्ठित है। मनुष्यों में जो दौर्बल्य है उसमें असङ्गति दिखलाने से हास्यरस होता है, उसी के प्रति आक्रोश करने से व्यङ्ग्य की सृष्टि होती है और उससे सहानुभूति प्रकट करने से मृदु परिहास की सृष्टि होती है। आपकी राय है कि मालियर की कृति में मृदु परिहास है। मालियर के सिर्फ़ एक ही नाटक का अनुवाद प्रकाशित हुआ है। वह है ठोंक पीट कर वैद्यराज। उनके एक दूसरे नाटक का भी अनुवाद हो गया है उसका हिन्दी नाम है 'राव बहादुर'। परन्तु कदाचित् वह अभी प्रकाशित नहीं हुआ है। हास्यरस की अवतारणा करना सरल नहीं है। हिन्दी के दो एक लेखक ऊट-पटाङ्ग और अश्लील बातें लिख कर हास्य-रस के आचार्य बन गये हैं। उन्हें बर्नार्ड शा के नाटकों का पाठ करना चाहिए। शा के नाटकों में एक ओर हास्य-छटा है तो दूसरी ओर एक आश्चर्य-जनक गाम्भीर्य है। नाटक के अन्तर्गत भावों में प्रवेश करने से मालूम होता है कि शा की हँसी कैसी कठोर होती है, हँसी के भीतर सत्य की तीव्र भावना किस तरह छिपी रहती है। द्विजेन्द्रलाल राय की हँसी में भी सत्य का कलेवर बिलकुल स्पष्ट है। उनके हँसी-मज़ाक के गानों में कहीं कहीं विकृत वङ्गीय-समाज की क्रन्दन-ध्वनि सुनाई देती है। द्विजेन्द्रलाल राय के दो प्रहसन भी हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं। गङ्गा-पुस्तक-माला ने मूर्ख-मण्डली नामक प्रहसन का प्रकाशन किया है।

जीवन-चरित्र—लखनऊ की गङ्गा-पुस्तक-माला में दो अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। एक तो है बङ्किम बाबू का जीवनचरित्र और दूसरा है केशवचन्द्र सेन का। ये ग्रन्थ मौलिक नहीं हैं और न किसी एक ग्रन्थ के अनुवाद हैं। लेखकों ने कई ग्रन्थों के आधार पर इनकी रचना की है। दोनों ग्रन्थ पढ़ने योग्य हैं। पर एक बात हमें कहनी है। बङ्किम बाबू साहित्य-सेवी थे और केशवचन्द्र सेन थे धर्मप्रचारक। यदि इनके जीवन-चरित्र लिखने में लेखक इनकी साहित्य-सेवा और धर्म-प्रचार पर विशेष लक्ष्य रखते तो बड़ा अच्छा होता। केशवचन्द्रसेन ने जिन सिद्धान्तों के प्रचार में अपना जीवन व्यतीत किया उनके विषय में एक भी बात नहीं लिखी गई है। इसी प्रकार बङ्किम बाबू के जीवन-चरित्र में उनके ग्रन्थों की विस्तृत आलोचना होनी चाहिए। अँगरेज़ी में Men of Letters नामक-ग्रन्थ माला में साहित्य-सेवियों के जैसे जीवन-चरित्र निकलते हैं वैसे ही ग्रन्थ हिन्दी में क्यों न निकलें। लेखक को अपने नायक के गुण-दोषों की अच्छी तरह विवेचना करनी चाहिए।

समालोचना—लखनऊ की गंगा-पुस्तक-माला में अब तक बीस बाईस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। वैसे तो सभी पुस्तकें अच्छी होंगी क्योंकि उनका प्रचार भी अच्छा हो रहा है—दो तीन किताबों के तो चार चार संस्करण तक हो चुके हैं—पर मौलिकता की दृष्टि से उसका बारहवाँ पुष्प सर्वश्रेष्ठ है। उसका नाम है देव और विहारी। श्रीयुत कृष्णविहारी मिश्र बी० ए० एल-एल० बी ने उसकी रचना की है। यह तुलनात्मक समालोचना ग्रन्थ है। ऐसे ग्रन्थों की बड़ी आवश्यकता है। ग्रन्थ के आरम्भ में लेखक ने ८६ पृष्ठों की एक भूमिका लिखी है। उसकी कोई ज़रूरत नहीं थी। उसमें आपने

समालोचना की समालोचना की समालोचना कर डाली है। अब उसकी समालोचना हम क्या करें। हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं के समालोचकों को आपने बेतरह फटकारा है। शायद आपकी राय में पूज्यपाद मिश्र-बन्धु ही सच्चे समालोचक हैं। हमें विश्वास है कि आप अपनी राय बिलकुल निष्पक्ष होकर देते हैं, विपक्षियों के भी गुण को गुण और दोष को दोष ही मानते हैं, क्योंकि जब आपने दूसरे समालोचकों में ये दोष बतलाये हैं तब यह सम्भव नहीं कि आपमें भी वही दोष हों। तब कहना चाहिए कि यह हिन्दी भाषा-भाषियों का सौभाग्य है कि अब हिन्दी में भी ऐसी समालोचना होने लगी कि जिसमें न तो "निन्दा का उद्गार" है और न किसी की "पक्षपात-पूर्ण प्रशंसा" ही की गई है। यदि हमें आपकी भूमिका में ये दोनों ही बातें मिलें तो उसका कारण हमारी अज्ञानता है।

२—साहित्य और देश-सेवा।

राष्ट्र की उन्नति के लिए राष्ट्रीय साहित्य की आवश्यकता है। जो लोग देश में राष्ट्रीय भावों का प्रचार करना चाहते हैं उन्हें अपने साहित्य की उन्नति की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। राष्ट्रीय साहित्य का मतलब सिर्फ़ राजनैतिक साहित्य नहीं है। इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र काव्य, आदि सभी विषय इसके अन्तर्गत हैं। जबसे भारतवर्ष में राजनैतिक आन्दोलन होने लगे हैं तबसे बड़े बड़े विद्वान् राजनीति को ही अपना एक मात्र ध्येय समझने लगे हैं। यही भाव देश के नवयुवकों में भी जागृत हो उठा है। राजनीति के क्षेत्र में काम करना ही वे देश-सेवा समझते हैं। यही कारण है कि वे बड़ी व्यग्रता से ऐसा अवसर ढूँढ़ा करते हैं कि जिसमें वे भी भारत के वर्तमान राजनैतिक आन्दोलन में भाग ले सकें। देश-सेवा की कामना को कोई भी बुरा नहीं कह सकता। पर हमारे नवयुवकों को यह समझ रखना चाहिए कि उनके राजनीतिज्ञ होने की यह अभिलाषा सर्वोच्च नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि राजनीतिज्ञों से देश की गति उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। परन्तु देश की उन्नति को चिरस्थायी करने के लिए राजनीतिज्ञों से अधिक योग्यता रखनेवाले कृतविद्यों की ज़रूरत होती है। रेनन नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने लिखा है कि फ्रैंको-जर्मन-वार में जर्मनी को विजय दिलानेवाले न तो माल्टके थे और न बिस्मार्क। इसका श्रेय लूथर, कैंट, फिकटे, हीगल आदि विद्वानों को है जिन्होंने जर्मन-जाति की मानसिक अवस्था को उन्नत किया था। एक बार ग्लैडस्टन और हक्सले में विवाद हुआ था। राजनीति-विशारदों में ग्लैडस्टन का स्थान बड़ा ऊँचा है। हक्सले एक वैज्ञानिक था। परन्तु हक्सले ने अपने जीवन के विषय में जो कुछ लिखा है उससे उसी के जीवन की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। ग्लैडस्टन ने स्वयं कहा था कि भविष्य में लोगों को यह जानकर बड़ा आश्चर्य होगा कि जो आदर टेनीसन के समान विश्व-विश्रुत कवि को दिया गया वही मुझ जैसे राजनीतिज्ञ को भी मिला। यह ग्लैडस्टन की अतिशयोक्ति हो सकती है। पर इसमें सन्देह नहीं कि ग्लैडस्टन ने संसार के भाण्डार में कोई स्थायी सम्पत्ति नहीं छोड़ी, पर टेनीसन ने लोगों को पृथ्वी पर स्वर्ग का दर्शन करा दिया और इसका भी आभास दे दिया कि यदि वे चाहें तो पृथ्वी पर वे स्वर्ग की सृष्टि कर सकते हैं। जो अपने देश के कल्याण के इच्छुक हैं उन्हें सिर्फ़ राजनीति की चर्चा में ही निरत नहीं रहना चाहिए। यदि उनमें योग्यता है तो उन्हें चाहिए कि वे राष्ट्रीय साहित्य की उन्नति में उसका सदुपयोग करें।

३—शिक्षा से असन्तोष।

यह तो सभी मानते हैं कि भारतवर्ष में ज्ञान-विस्तार की आवश्यकता है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली से देश को सन्तोष नहीं है। कुछ लोग यह कहते हैं कि जिस शिक्षा की बदौलत तुमने देश-प्रेम और देश-सेवा के शब्द सीखे उसे अब तुम सदोष कहते हो। यह तुम्हारी कृतघ्नता है। इस पर हमारा यह कथन है कि यदि वर्तमान शिक्षा का यही उद्देश्य था कि वह हम लोगों में देश-सेवा का भाव जागृत कर दे तो हमें यह कहना चाहिए कि उसका यह उद्देश्य पूर्ण हो गया है। अब उसे देश की आवश्यकता को पूर्ण करना चाहिए। अँगरेज़ी शिक्षा ने देश की आँखें खोल दीं। यह उसने बड़ा काम किया। पर आँखें खुल जाने पर हम चुपचाप कैसे बैठे रह सकते हैं। जब तक हम सो रहे थे तब तक तो कोई

बात नहीं थी, पर अब तो हम जाग पड़े हैं। अब हमें अपनी चिन्ता करनी ही पड़ेगी। नहीं तो, इस जागृति से लाभ ही क्या हुआ। वर्तमान शिक्षा ने मालवीय और वसु सरीखे दस पाँच विद्वान् उत्पन्न किये हैं। इसके लिए हम उसके कृतज्ञ हैं। पर इन दस पाँच विद्वानों से देश की अज्ञानता तो दूर नहीं होगी और न उसका अभाव ही दूर होगा। शिक्षा के विषय में एक विद्वान् ने कहा था। The real object of a sound system of education is national strength and progress first, and individual culture next अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य यह है कि पहले राष्ट्र की उन्नति हो, पीछे व्यक्ति विशेष की। अतएव जब तक भारत की जनता अशिक्षित है तब तक राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों की उन्नति होने पर भी हम शिक्षा को अपूर्ण ही कहेंगे।

सरकार शिक्षा की उन्नति के लिए ख़ूब प्रयत्न कर रही है। इसके लिए वह तरह तरह के हुक्मनामे और तज़बीजें निकाल रही है। स्कूलों की संख्या बढ़ाई जा रही है। नए नए विश्व विद्यालय-स्थापित हो रहे हैं। संयुक्त प्रान्त में ही दो नए विश्व-विद्यालय खुलनेवाले हैं, एक लखनऊ में और दूसरा आगरे में। सबसे बड़ी बात यह कि शिक्षा-विभाग पर प्रजा-पक्ष का अधिकार है। अब तो लोगों को असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। यह सब ठीक है, पर शिक्षा का सारा दारमदार है धन पर। जितना ही अधिक सरकार शिक्षा के कामों में ख़र्च करेगी उतना ही अधिक शिक्षा का प्रचार होगा। परन्तु एक तो सरकार शिक्षा के काम में अधिक ख़र्च ही नहीं कर सकती। फिर जो कुछ ख़र्च होता है उससे सर्व साधारण को उतना लाभ भी नहीं होता। बात यह है कि भारत की अधिकांश प्रजा गावों में रहती है और सरकार ख़र्च करती है शहरों में। तब प्रजा को सन्तोष हो तो कैसे हो। प्रजा चाहती है कि प्रारम्भिक शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य हो, पर वह निकम्मी शिक्षा न हो। वह ऐसी हो जिससे उन्हें यथार्थ में कुछ लाभ हो। ग्राम्य-पाठशालाओं में आजकल जैसी शिक्षा दी जाती है वह किसी काम की नहीं है। फिर शहरों में जो बड़े बड़े स्कूल और कालेज हैं उनमें तड़क-भड़क अधिक है और उपयोगिता कम है। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा है The fabric of the educational world of to-day is interwoven with a multitude of hyprocrisies. What is thought is not said ; what is said is not done ; what is said and thought is not written

स्कूलों में कैसी शिक्षा दी जाती है इसकी जाँच करने के लिए इन्स्पेक्टर नियुक्त किये गये हैं। उनका एक अलग विभाग ही है। पर क्या इन्स्पेक्टर की जाँच कभी सार्थक होती है? इन्स्पेक्टर जाता तो इसलिए है कि देखें, स्कूल में रोज़ किस तरह काम होता है, पर वह वहाँ देखता है वह जो कभी नहीं होता। स्कूल के हेडमास्टर से पूछने पर हेडमास्टर उसे अच्छी अच्छी बातें तो सब बता जाता है, पर दोष एक भी नहीं बतलाता। फल यह होता है कि स्कूल की दशा दिन प्रति-दिन ख़राब होती जा रही है। स्कूल के छात्रों की शारीरिक और नैतिक अवस्था कितनी बुरी है, इसका पता शिक्षा-विभाग के उच्च-कर्मचारियों को कभी नहीं लगता। तब उनके निरीक्षण से लाभ क्या? उनके लिए इतना ख़र्च करने की कौन सी ज़रूरत है।

स्कूल के मास्टरों की योग्यता पर तो ध्यान दिया जाता है, पर उनके नैतिक आचरण पर कोई ध्यान नहीं देता। हिन्दी के एक वयोवृद्ध सम्पादक ने, जिन्हें शिक्षा का पूर्ण अनुभव है, लिखा है कि स्कूल में शिक्षा देने की योग्यता वही रखते हैं जो नार्मल-स्कूल और ट्रेनिङ्ग कालेज में शिक्षा पा चुके हैं। पर हमारी समझ में इनसे अधिक योग्यता उन लोगों में है जो निःस्वार्थभाव से बालकों को शिक्षा दे रहे हैं। शिक्षक का सबसे श्रेष्ठ गुण है स्वार्थ-त्याग। जिसमें स्वार्थ-त्याग का भाव नहीं उसे शिक्षक का पद देना ही नहीं चाहिए। यदि समाज में स्कूल-मास्टरों का मान नहीं है तो उसका कारण यही है कि शिक्षक अपने आदर्श से गिर गये हैं।

विश्व-विद्यालय में अभी तक कला-कौशल और उद्योग-धन्धे की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं है। यहाँ साहित्यिक ज्ञान ही पर ज़ोर दिया जाता है। देशी भाषाओं की तो पूरी अवहेलना की गई है। वर्तमान शिक्षा में यही सब त्रुटियाँ हैं जिनसे लोगों को असन्तोष है। यदि ये दूर हो जायँ तो भारत का बड़ा कल्याण हो।

४—इँग्लेंड और भारतवर्ष।

अँगरेज़ी उपन्यासों और नाटकों में यत्र तत्र भारतीय जीवन का चित्र अङ्कित किया जाता है। सेंट निहालसिंहजी ने एक बार एक लेख लिखा था। उसमें आपने बतलाया था कि लन्दन के रङ्गमञ्च पर भारत का कितना उपहासजनक और निन्दा-द्योतक दृश्य दिखलाया जाता है। आपने लिखा था—At times I have been so pained to see the caricatures of my country and my country-people that I could not sit through the entire performance. In many instances I had to exert all my self-control that I possessed to restrain myself from rising from my seat and shouting down the actors and actresses who were perpetrating appalling monstrosities. Often, however, the representations of India are so crude and ludicrous that an Indian pities the writers and players and even more so, the unsuspecting public whom they are duping. इसका मतलब यह है कि कभी अपने देश और देशवासियों के मखौल करनेवाले ऐसे दृश्यों से मुझे इतना दुःख होता था कि मैं वहाँ बैठ कर पूरा नाटक नहीं देख सकता था। कभी कभी तो ऐसी तबीयत हो जाती थी कि वहीं उठकर मैं उन लोगों को फटकारूँ। बड़ी मुश्किल से मैं अपने दिल को रोकता। पर प्रायः ऐसे दृश्यों को देखकर मुझे लेखक की अज्ञानता और उससे भी अधिक अँगरेज़ी समाज की अज्ञानता पर दया आती थी।

सेंट निहालसिंह का यह कथन हिन्दी के उन उपन्यास-लेखकों पर बिलकुल घट जाता है जो कभी कभी अँगरेज़ी समाज का चित्र खींचने का प्रयत्न करते हैं। हिन्दी के औपन्यासिकों में अधिकांश की यही धारणा है कि अँगरेज़ी समाज में अनाचार ही का राज्य है। पवित्रता और सदाचार का तो बिलकुल ही लोप हो गया है। वहाँ की न कोई स्त्री अच्छी और न कोई पुरुष अच्छा। इसलिए वे अँगरेज़ी समाज का बड़ा ही गन्दा चित्र खींचते हैं। इसका कारण उनकी अज्ञानता है। पर हम उसके लिए उन्हें दोष नहीं देंगे। भारतवर्ष में प्रजा के साथ अँगरेज़ जाति का थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं है। दोनों के बीच एक ऐसा अस्वाभाविक व्यवधान खड़ा हो गया है कि दोनों एक दूसरे को अच्छी तरह देख ही नहीं सकते। जब अँगरेज़ भारतवासियों को घृणा और अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं तब भारतवासियों के हृदय में उनके प्रति पूज्यभाव कहाँ से आ सकता है।

साहित्य अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब है। यही कारण है कि सेंट निहालसिंहजी को लन्दन में भारत का विकृत रूप देखना पड़ा और यदि कोई अँगरेज़ भारतीय साहित्य का मन्थन करता तो वह भी इँग्लेंड का भद्दा चित्र देखता। जहाँ शासक और शासित जाति में पारस्परिक सहानुभूति नहीं, वहाँ शान्ति की आशा दुराशा-मात्र है।

रवीन्द्र बाबू ने अपने एक पत्र में एक डिनर-पार्टी का हाल लिखा है। किसी सम्भ्रान्त बङ्गाली ने एक बार कुछ अँगरेज़ों को न्योता दिया। रवीन्द्रबाबू भी उसमें उपस्थित थे। एक अँगरेज़ ने इधर खाने पर हाथ साफ़ किया और उधर बङ्गाली जाति पर। जिसका उसने आतिथ्य स्वीकार किया था उसी की वह निन्दा करने लगा। कभी कभी तो कोई भारतीय कर्मचारी ही किसी अँगरेज़ अफ़सर से अपनी जन्मभूमि की निन्दा करने लग जाते हैं। जब तक यह स्थिति है, जब तक भारत और इँग्लेंड एक दूसरे की प्रतिष्ठा नहीं करेंगे, तब तक उनका पारस्परिक सम्बन्ध अभेद्य न रहेगा।

५—कीट्स की जयन्ती।

इँग्लेंड में कीट्स नामक एक कवि होगया है। २६ अक्टूबर सन् १७६५ में उसका जन्म हुआ था। सन् १८१७ में उसकी कविताओं का पहला संग्रह प्रकाशित हुआ। एक साल बाद उसकी कविताओं का दूसरा संग्रह निकला। सन् १८२० में उसकी अन्तिम रचनायें प्रकाशित हुईं। २६ ही वर्ष की उम्र में उसकी मृत्यु हो गई।

जब कीट्स की रचना पहले पहल प्रकाशित हुई तब कुछ समालोचकों ने उसे बेतरह फटकारा। पर अब सभी साहित्यमर्मज्ञों ने उस की प्रतिभा की विलक्षणता स्वीकार कर ली है। इँग्लेंड के अच्छे अच्छे कवियों में कीट्स की गणना की जाती है। विद्वानों की राय है कि यदि उसकी अल्पायु न होती तो इँग्लेंड के साहित्य-क्षेत्र में उसका आसन शेक्सपियर के समकक्ष होता। अभी हाल में इँग्लेंड में कीट्स की जयन्ती मनाई गई थी। उसी के उपलक्ष में एक सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है। उसमें अच्छे अच्छे विद्वानों ने कीट्स के विषय में लेख लिखे हैं। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि उसमें हिन्दी, संस्कृत बँगला, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं में भी कीट्स का यशोगान किया गया है।

इसे ही वीर-पूजा कहते हैं। इँग्लेंड अपने वीरों की पूजा करना जानता है। उनकी स्मृति-रक्षा करना वह अपना कर्तव्य समझता है। वहाँ प्रायः सभी बड़े बड़े कवियों की जयन्ती मनाई जाती है। कवियों की स्मृति-रक्षा के लिए वहाँ उनके नाम से क्लब खोले जाते हैं जहाँ उनके काव्यों की चर्चा की जाती है। अपने कवियों पर अँगरेजों की इतनी श्रद्धा है कि वे उनकी छोटी छोटी चीज़ों तक का संग्रह करते हैं और इसके लिए वे हज़ारों रुपये तक दे डालते हैं। कवियों का जन्म-स्थान तो उनके लिए तीर्थ-स्थान हो गया है। प्रतिवर्ष सैकड़ों लोग वहाँ जाया करते हैं।

भारतवर्ष में भी कवियों पर लोगों की श्रद्धा है। लोग तुलसीदास और सूरदास के विषय में जो सैकड़ों विलक्षण कथायें कहा करते हैं उनसे यह साफ़ सूचित होता है कि उनके हृदय में कवियों के प्रति कितना पूज्य भाव है। यदि यह बात न होती तो लोग उनकी शक्ति में अलौकिकता कैसे देखते। पर इसमें सन्देह नहीं कि अभी हमने कवियों का वैसा आदर करना नहीं सीखा है जैसा इंग्लेंड में किया जाता है। अभी हमें इँग्लेंड से वीर-पूजा की शिक्षा लेनी चाहिए।

६—शङ्कर की रचना।

सोलन नामक एक ग्रीक विद्वान् का कथन है कि जब तक तुम किसी का अन्त न देख लो तब तक उसकी सफलता अथवा असफलता का निश्चय मत करो। हिन्दी की आधुनिक कविता का अभी आरम्भ ही हुआ है। अतएव अभी हम यह नहीं कह सकते कि उसे सफलता प्राप्त होगी कि नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि अब लोग खड़ी बोली की कविता का विरोध नहीं करते। भारत-भारती और प्रिय-प्रवास खड़ी बोली ही के काव्य हैं। इनका प्रचार भी अच्छा हुआ है। परन्तु क्या वे दोनों काव्य हिन्दी की स्थायी सम्पत्ति हैं? क्या पचास साठ वर्ष के बाद भी ये ऐसे ही लोक-प्रिय बने रहेंगे? हम जानना चाहते हैं कि खड़ी बोली के काव्य में भी स्थायित्व-गुण है कि नहीं। इसी दृष्टि से आज हम हिन्दी के एक वर्तमान कवि की रचना पर विचार करना चाहते हैं।

एडीसन अँगरेज़ी का एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। उसके गद्यात्मक लेखों की बड़ी तारीफ़ है। पर अपने जीवन-काल में उसने अपनी पद्यात्मक रचनाओं के कारण भी यश प्राप्त किया था। जब उसने ड्यूक आव् मार्लबरो की विजय के उपलक्ष में काव्य लिखा तब इँग्लेंड में धूम मच गई। लोगों ने वाह वाह के पुल बाँध दिये और इँग्लेंड के प्रधान सचिव ने एडीसन के गले में जय-माला डाल दी। परन्तु आज उसके काव्य को कोई पूछता भी नहीं। इसका क्या कारण है? बात यह है कि विषय सामयिक होने पर लोगों के लिए चित्ताकर्षक रहता है। इसलिए उसका प्रचार ख़ूब होता है, पर जब बात पुरानी पड़ जाती है तब उसे जानने के लिए लोगों की उत्सुकता नहीं रहती। यदि काव्य का विषय देश-काल से अनवच्छिन्न हो तो उसका प्रचार अधिक काल तक रहता है। विषय के साथ ही उसकी विवेचना में भी मौलिकता रहनी चाहिए। विलक्षण होने से ही कोई रचना आदृत होती है। उसकी यह विलक्षणता भी स्थायी होनी चाहिए। पोप के पहले अँगरेज़ी में कुछ तुकड़ों ने अपने जीवन-काल में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। परन्तु पोप के अभ्युदय होते ही उनकी कीर्ति लुप्त हो गई। बात यह थी जब तक पोप नहीं हुआ था तब तक उन्हीं की तुकबन्दियाँ असाधारण समझी जाती थीं। पर जब पोप ने लोगों को तुक की अन्तिम सीमा दिखला दी तब वे कैसे टिकते। खड़ी बोली

की अधिकांश कविताये सामयिक हैं। उनका महत्व क्षणिक है। उन की विलक्षणता भी अस्थायी है। ऐसी कविताओं की कौमुदी साहित्य के निशाकाल में ही शोभा पा सकती है। सम्भव है किसी काव्य-प्रभाकर के उदय से उनकी कविता-कौमुदी निष्प्रभ हो जाय। अस्तु।

आज कल हिन्दी के चार कवि लब्धप्रतिष्ठ हैं, पण्डित श्रीधर पाठक, पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्याय, बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पण्डित रामचरित उपाध्याय। पाठक जी की कविता में सरलता है, उपाध्याय जी की रचना में उनका भाषाधिकार लक्षित होता है, गुप्त जी की कृति में माधुर्य है और रामचरित उपाध्याय जी की कविता में आडम्बरहीन गम्भीरता है। शङ्कर जी का स्थान इन सबसे पृथक्

पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्म्मा।

है। पण्डित रामचरित उपाध्याय के तो वे बिलकुल विरुद्ध हैं। उनकी कविता में एक प्रकार की उद्दण्डता है। पढ़ते समय ऐसा जान पड़ता है कि कवि को शब्द भी असह्य हो गया है—

शंख जो बराबरी की घोषणा सुनावेगा तो
नार कट जायगी उदर फट जायगा।
शङ्कर कली की छबि कदली दिखावेगा तो
ऐंठ अट जायगी छवाड़ छट जायगा।

शङ्कर जी ने अपनी कविता के विषय में स्वयं लिखा है—मिसरी के साथ बाँस फाँस का सा मेल जान शङ्कर की भद्दी कविता भी पढ़ लीजिए। सचमुच आपकी कविता मिश्री की डली है। यदि कोई इस मिश्री से बाँस के फाँस को अलग निकालने की चेष्टा करेगा तो वह मिश्री भी खो बैठेगा। पर रामचरितजी की रचना मक्खन के समान मधुर और कोमल है। उसके रसास्वादन में ज़रा भी तकलीफ़ न होगी।

कवियों में गर्व की मात्रा अधिक रहती है। कुछ लोग कवियों की गर्वोक्तियों पर आक्षेप करते हैं। उनका कथन है कि ये शालीनता-सूचक नहीं। कालिदास और तुलसीदास बड़े भारी कवि थे। पर उन्होंने अपने काव्यों में एक भी अभिमान-सूचक शब्द नहीं लिखा। पर हम इसे नहीं मानते। जब किसी कवि ने अनन्त सत्य का आभास पा लिया है तब यह सम्भव नहीं कि वह उसकी परीक्षा के लिए संसार का आह्वान न करे। जब भवभूति ने यह कहा कि मेरी रचना अक्षय है तब उसने यही प्रकट किया कि जिस सत्य का वर्णन मैंने अपने नाटकों में किया है वह अक्षय है। यदि कभी कोई मेरा समानधर्मा होगा तो वह उस सत्य का दर्शन कर लेगा। कालिदास और तुलसीदासजी ने भी यही बात कही है, यद्यपि उनके कहने का ढंग भिन्न है। कालिदास ने लिखा है कि सुवर्ण की परीक्षा अग्नि से ही होती है। अतएव मेरी रचना की परीक्षा करने के अधिकारी सभी नहीं हैं। यदि तुम्हें मेरी रचना सदोष मालूम होती है तो उसे आग में डाल कर देख लो। वह दीप्तिमती होकर निकलती है कि नहीं।

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।

उनके इस कथन का क्या दूसरा अभिप्राय है? तुलसीदास जी ने लिखा है।

सपनेहु साँचेहु मोंहिपर जो हरगौरि पसाउ
तौ फुर होउ जो कहेंउ सब भाषा भनिति प्रभाउ।

यह गर्वोक्ति नहीं, इससे कवि की आत्म-शक्ति सूचित होती है। इसी के कारण कवि का आसन सर्वसाधारण से ऊँचा रहता है। शङ्कर जी की रचना में उनका यह आत्म-विश्वास साफ़ लक्षित होता है। गुप्त जी का 'भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती' उनका आत्म-शैथिल्य प्रकट करता है। मिल्टन और मधुसूदनदत्त ने वाग्देवी को आह्वान किया। उनका अभिप्राय यह था कि हमारे मुख से कविता की वह धारा निकले जो वाग्देवी के मुख में शोभा दे। पर गुप्त जी भगवान् की कृपा से अपनी भारती का प्रचार करना चाहते हैं।

गेटी का कथन है कि कवि में एक अलक्षित शक्ति निवास करती है। उसी की प्रेरणा से वह कविता लिखता है। कवि उस शक्ति के हाथ में वीणामात्र है। रवीन्द्रबाबू ने अपनी कविता में इस शक्ति का स्पष्ट उल्लेख किया है। जो इस शक्ति का अनुभव नहीं करता वह कवि नहीं, तुकड़ है। जो यथार्थ में कवि होता है उसका भाषा पर पूरा प्राधान्य रहता है। कवि भाषा का अनुगमन नहीं करता, पर भाषा कवि का अनुगमन करती है। कवि न तो मुहावरों का ख़याल रखता है और न अलङ्कार का। जो लोग मुहावरों का Procrustean bed बना कर उसी के अनुसार अपने कवित्व को काटते छाटते हैं वे वैयाकरण हो सकते हैं, पर कवि नहीं। शङ्कर जी अपनी रचना में भाषा को खींच लाते हैं, उसके पीछे दौड़ते नहीं; वे अलङ्कारों का जमघट लगा देते हैं। जो परीक्षक होगा वही उनमें से रत्न चुनता रहेगा। वही बतावेगा कि कौन पुराने रत्न हैं और कौन नए रत्न। शङ्कर जी को इसकी परवाह नहीं है।

कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है कि,
श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अङ्क में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबन्ध पै कराल केतु तारा है॥

शङ्कर कसौटी पर कञ्चन की लीक है कि,
तेज ने तिमिरि के हिये में तीर मारा है।
कालो पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है॥

शङ्कर जी की कविता में मौलिकता है, नवीनता है, भाव की विशदता है और गम्भीरता है। कुछ वर्ष पहले सरस्वती में उनकी 'पञ्चपुकार' नाम की एक कविता छपी थी। उसे पढ़ कर हमें बर्नार्ड शा के एक नाटकीय पात्र का यह कथन याद आ जाता है, My way of joking is to tell the truth. शङ्करजी की रचनायें अल्पसंख्यक हैं सही, पर उनमें वह गुण है जो वर्तमान हिन्दी साहित्य की अधिकांश कविताओं में नहीं है। इससे हम कह सकते हैं कि खड़ी बोली की कविता का भविष्य उज्ज्वल है। अभी हिन्दी साहित्य के कज्जल-कूट पर शङ्कर जी की दीप-शिखा शोभा दे रही है। हमें विश्वास है कि यह दीप-शिखा कभी मलिन न होगी।

७—मनुष्य का मूल्य।

लोग कहा करते हैं कि जो जैसा काम करता है उसे वैसा ही फल मिलता है। कार्य के महत्त्व पर फल अवलम्बित है। परलोक में यह बात होती हो तो होती हो। पर इहलोक में तो यह बात नहीं होती। अब ज़रा तुलना कर देखिए, इहलोक में मनुष्यों का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है। पीयरसन्स मैगज़ीन में एक लेखक ने यह तुलना की है और उससे बड़ा ही विलक्षण परिणाम निकला है।

इँग्लेंड में प्रधान सचिव का पद बड़े महत्त्व का है। उस पर समस्त बृटिश साम्राज्य का भार रहता है। यह साम्राज्य छोटा मोटा नहीं है। कहावत प्रसिद्ध है कि बृटिश साम्राज्य में सूर्य कभी नहीं अस्त होता। आज कल यह भार लायड जार्ज पर है। यह भार वहन करने के लिए उन्हें ५००० पौण्ड प्रतिवर्ष मिल जाते हैं। उसी इगलैंड में चार्ली चेपलिन नाम का एक नट है। उसका काम है लोगों को हँसाना। अपने इस कार्य-भार के लिए वह लायड जार्ज से पचास गुना अधिक रक़म लेता है। यदि वेतन से मनुष्य का मूल्य निर्धारित किया जाय तो वह लायड जार्ज से पचास गुना बड़ा है। सरस्वती के पाठकों ने कदाचित् मेरी पिक फोर्ड का नाम सुना होगा। उसने साल भर में १००००० पौण्ड तक लिया है। यही रक़म फेयर बैंक नाम के एक प्रसिद्ध नट को मिलती है। यदि तीनों की वार्षिक आमदनी जोड़ दी जाय तो उस रक़म से बृटिश सचिव-मण्डल के सब मन्त्रियों के वेतन भी निकल आवें और फिर भी उन तीनों के पास इतनी रक़म बच जाय कि मध्यम श्रेणी के गृहस्थ ललचाने लगें।

आजकल इँग्लेंड में मज़दूर धड़ाधड़ हड़ताल करते हैं, तो भी उनके वेतन से दूसरों के वेतन की तुलना कीजिए। लिवरपूल के एक झाड़ू देने वाले को प्रतिसप्ताह ३ पौण्ड, ७ शिलिंग और ६ पेंस मिलते हैं। वहीं ऐसे सैकड़ों पादरी हैं जिन्हें प्रति सप्ताह तीन पौण्ड से भी कम मिलता है। ऐसे पादरी अपनी शिक्षा के लिए एक हज़ार पौण्ड तक ख़र्च कर डालते हैं। तब कहीं वे इस योग्य होते हैं कि वे प्रति सप्ताह तीन पौंड कमा सकें। वहाँ कोई भी कारीगर चार पौंड से कम में हफ्ते भर तक काम नहीं करेगा। अधिकांश तो ख़ूब अच्छी रकम कमाते हैं। पर भविष्य जाति के सुधारक स्कूल-मास्टर को प्रतिसप्ताह तीन ही पौंड में सन्तोष कर लेना पड़ता है। इँग्लेंड के एक घूँसेबाज की इतनी आमदनी है कि वह उससे पाँच सौ सैनिक नौकर रख सकता है।

यदि आप इँग्लेंड में प्रतिसप्ताह ३ पौंड देकर किसी को नौकर रखना चाहें तो आपको इतने आदमी मिल सकते हैं:—लन्दन के मजिस्ट्रेट, स्काटलैंड यार्ड के अध्यक्ष, फर्स्ट सी-लार्ड, असिस्टेन्ट पोस्ट-मास्टर-जेनरल और लोहे का काम करनेवाला एक अच्छा मज़दूर।

यह तो इँग्लेंड का हाल है। भारत का तो बिलकुल उलटा हाल है। जिन्होंने कभी खेत के दर्शन तक नहीं किये, जिन्हें अक्षर तक का परिचय नहीं, वे तो विशाल सम्पत्ति का उपभोग कर रहे हैं, पर कड़ी धूप में बारह घंटे काम करनेवालों को भरपेट खाने को भी नहीं मिलता। उद्योग-धन्धे की शिक्षा का विस्तार न होने के कारण यहाँ साक्षर लोगों की भी दुर्दशा है। शरीर का स्वास्थ्य नष्ट कर, अस्वाभाविक रीति से शिक्षा प्राप्त कर, जो विश्वविद्यालय की डिग्री लेकर निकलते हैं उन्हें तो यही नहीं सूझता कि कौन सा काम करें। सरकारी नौकरी तो

स्वर्ग का सोपान है। वह बिना पूर्वजन्म के पुण्यों के लभ्य नहीं। अतएव यहाँ मज़दूर और पण्डित, दोनों की दुर्दशा है।

८—पाश्चात्य साहित्य की गति।

अँगरेज़ी के एक पत्र ने पाश्चात्य देशों के गत १० वर्षों की ग्रन्थ-रचना का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया है। योरपीय महासमर के समय में और उसके बाद भी पुस्तकों की संख्या में ह्रास हुआ है। १९०८ से १९१३ तक और १९१३ से १९१८ तक भिन्न भिन्न देशों में जितनी पुस्तकें निकली हैं उनका हिसाब लगाने से मालूम होता है कि पुस्तक-रचना में जर्मनी का आसन सबसे ऊँचा है। १९०८ से १९१३ तक वहाँ १६५००० से ऊपर किताबें प्रकाशित हुईं और १९१३ से १९१८ तक १०४००० किताबें निकलीं। युद्ध के पहले पुस्तक-संख्या में जर्मनी के बाद फ़्रांस का नम्बर था। वहाँ पुस्तकों की संख्या ६०००० तक पहुँच जाती थी। अमरीका (संयुक्त राज्य) का नम्बर तीसरा था। वहाँ पुस्तकों की संख्या ५९००० थी। युद्ध के बाद संयुक्त राज्य में ५१००० निकलीं। इसके बाद इँग्लेंड का नम्बर है। इँग्लेंड में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या ४७००० है। इँग्लेंड के बाद इटली और इटली के बाद फ़्रांस का नम्बर है। इन देशों में वैज्ञानिक और पाठ्य पुस्तकों की ही संख्या में विशेष ह्रास हुआ। दो वर्ष तक युद्ध सम्बन्धी पुस्तकों की ख़ूब धूम थी। पर इसके बाद उनकी संख्या कम होने लगी। ऐतिहासिक ग्रन्थों की भी संख्या घट गई। धार्मिक ग्रन्थों की संख्या अवश्य बढ़ी है। कविताओं के संग्रह भी ख़ूब निकले। १९१५ से योरप में काव्यों की ख़ूब माँग रही। चिकित्सा-विज्ञान के भी ग्रन्थ धड़ल्ले से प्रकाशित हुए।

९—कुमार देवेन्द्रप्रसाद का परलोकवास।

खेद है कि आरा के प्रसिद्ध हिन्दी-प्रेमी कुमार देवेन्द्रप्रसाद का देहावसान हो गया। कुमारजी के जीवन-काल में उनकी स्मृति जैसी ही आनन्द-जननी थी अब वह वैसी ही हृदय-विदारिणी होगी। भारतवर्ष में अभी तक जिन पर लक्ष्मी की कृपा है उनमें विद्यानुराग ज़रा भी नहीं है। पर कुमारजी धनवान् होकर भी विद्या के प्रेमी थे। आपका स्वभाव बड़ा सरल था। आप बड़े परिश्रमी थे। अभिमान तो आपको छू न गया था। सभी लोगों से आप बड़े प्रेम से मिलते थे। पुस्तक-प्रकाशन का आपको बेहद शौक़ था। कम दाम में सुन्दर पुस्तकों का प्रचार करना आप अपना कर्तव्य समझते थे। हिन्दी में ऐसी नयनाभिराम पुस्तकों के प्रकाशित करने का गौरव किसी दूसरे प्रकाशक को प्राप्त नहीं है। प्रेम-कली, प्रेम-पुष्प आदि ग्रन्थ इसी कोटि के हैं। इन्हीं पुस्तकों के द्वारा सार्वभौम प्रेम का प्रचार करने के कारण आपको लोग प्रेम-मन्दिर का प्रेम-पुजारी कहा करते थे। आप धार्मिक जैन-ग्रन्थों के प्रकाशन में भी लगे हुए थे। आपने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद अँगरेज़ी में कराके प्रकाशित किये हैं। आपकी इच्छा आरा में एक प्रेस खोलने की थी। आप स्त्री-शिक्षा के भी प्रेमी थे। अनाथ विधवाओं के लिए आपने एक आश्रम स्थापित करने का निश्चय किया था।

ऐसे विद्या-प्रेमी और उदार-चेता की अकाल मृत्यु से किसको दुःख न होगा।

गिरीश

पुस्तक-परिचय

१—ज्ञान और कर्म—यह हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर (बम्बई) का ४४ वाँ ग्रन्थ है। यह बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान् सर गुरुदास बनर्जी के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ का अनुवाद है। अनुवादक हैं पण्डित रूपनारायण पाण्डेय। पुस्तक के आरम्भ में श्रीयुत नाथूराम प्रेमी ने एक छोटी सी प्रस्तावना लिखी है। उसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकर्ता के परिचय दिये गये हैं। उसे पढ़ने से इस ग्रन्थ का महत्व अच्छी तरह समझ में आ जाता है। "मनुष्य के अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी भी बातें हैं, उसके आत्मिक, मानसिक और शारीरिक सुखों को बढ़ानेवाले जितने भी साधन हैं और परिवार, जाति, सम्प्रदाय, देश, राज्य आदि के प्रति उसके जितने कर्तव्य हैं, इस ग्रन्थ में उन सभी पर प्रकाश डाला गया है। गहरे से गहरे दार्शनिक और तात्विक विचारों से लेकर साधारण से साधारण सगाई, विवाह, खान-पान और
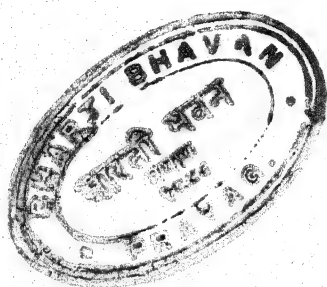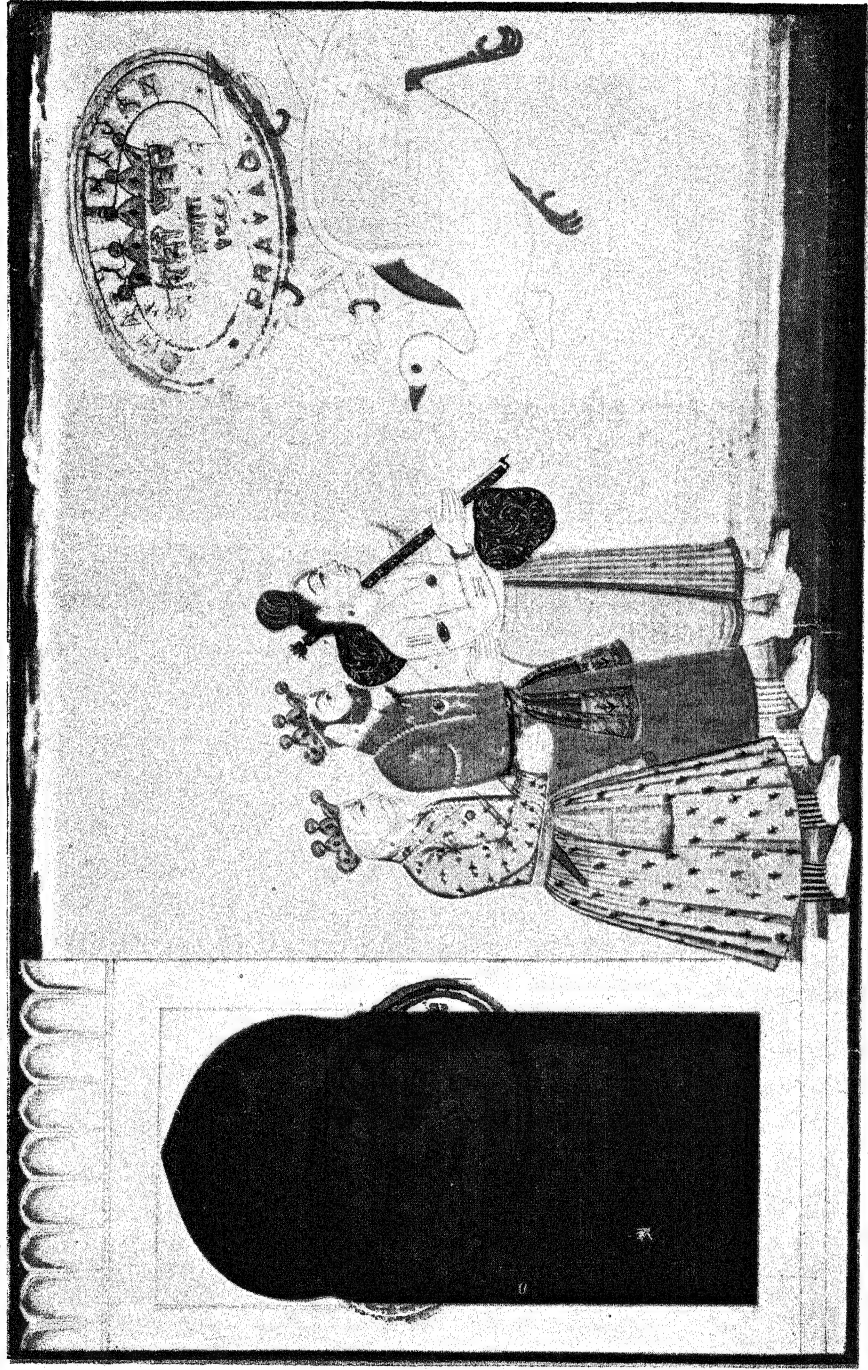
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

वर-दान।
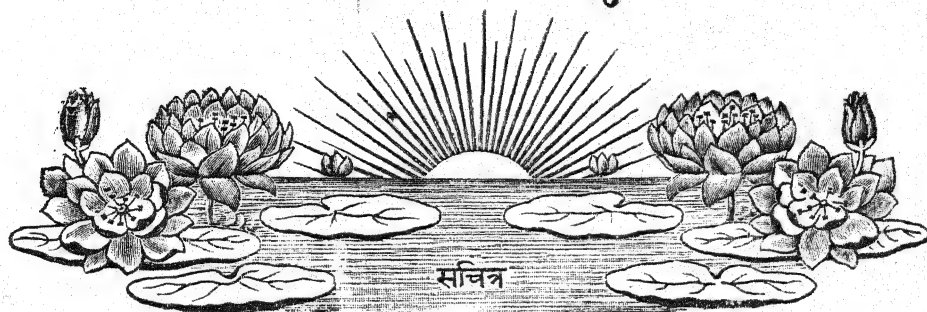
भाग २२, खण्ड २] जुलाई १९२१—आषाढ़ १९७८ [संख्या १, पूर्ण संख्या २५९

विश्व-भाषा।

आज-कल सभी देश अपने व्यवसाय की उन्नति में सचेष्ट हैं। जो जाति जीवित रहना चाहती है उसे व्यवसाय के समराङ्गण में उतरना ही पड़ेगा। यदि वह इस युद्ध में सफलता प्राप्त कर सकी तो उसकी उन्नति हो सकती है। परन्तु यदि वह व्यवसाय के क्षेत्र में सबसे पीछे पड़ गई तो फिर उसका कल्याण नहीं है। दूसरों की भिक्षा से किसी जाति का जीवन कब तक टिकेगा? समता से ही बन्धुत्व-भाव स्थिर रह सकता है। यही कारण है कि जो उन्नतिशील देश हैं वे सदैव यही चेष्टा करते हैं कि हम किसी देश से कम न रहें।

व्यवसाय की वृद्धि से देशों की राजनैतिक सीमा भङ्ग होगई है। यदि जापान की प्रभुता जापान ही की सीमा में परिमित रहती तो उसकी गणना संसार की महाशक्तियों में कभी नहीं होती। आज जापान की शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी है। इसका कारण उसकी राजनैतिक शक्ति नहीं, किन्तु उसकी व्यावसायिक शक्ति है। जो देश व्यवसाय के क्षेत्र में प्रबल है वही राजनीति के क्षेत्र में अदम्य रहेगा। व्यवसाय-वृद्धि का यह पहला फल है। व्यवसाय की उन्नति का दूसरा फल यह है कि सभी देशों में एक पारस्परिक बन्धन स्थापित हो रहा है। कोई भी देश ऐसा नहीं है जो पृथ्वी के अन्य देशों से सम्बन्ध तोड़ कर सबसे पृथक् रह सके। भिन्न भिन्न देशों में अब कुछ ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि यदि किसी एक पर धक्का लगे तो दूसरे को भी उसका आघात

सहना पड़ता है। इसीलिए अब राजनीतिज्ञों की दृष्टि अपने देश में ही सीमा-बद्ध नहीं रहती। वे सदैव दूसरे देशों की अवस्था पर ध्यान देते रहते हैं। यह काम उन्हें परोपकार के लिए नहीं, किन्तु अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए करना पड़ता है। व्यावसायिक उन्नति का तीसरा फल है विश्व-भाषा का निर्माण। सभी देशों के लोगों का सम्बन्ध अब विदेशियों से इतना घनिष्ठ हो गया है कि उन्हें दूसरों की भाषा जानने की ज़रूरत होती ही है। प्रचलित भाषाओं में अँगरेज़ी और फ्रेंच भाषा का खूब प्रचार है। तो भी इन्हीं दो भाषाओं से किसी का काम नहीं चल सकता। इसलिए कुछ समय से लोग एक विश्व-भाषा का प्रचार करना चाहते हैं। यहाँ हम उसी के विषय में कुछ बातें कहना चाहते हैं।

आज-कल संसार में तीन हज़ार से अधिक भाषायें प्रचलित हैं। भाषा की विभिन्नता का सबसे बड़ा कारण देश है। यदि आज तीन हज़ार भाषायें प्रचलित हैं तो हमें समझना चाहिए कि मानव-जाति तीन हज़ार खण्डों में विभक्त होगई है। भाषा की इस विभिन्नता के कारण मनुष्य के विचार सङ्कुचित हो जाते हैं। भारतवर्ष में अभी तक राष्ट्रीयता और एकता का भाव प्रबल नहीं हुआ है। उसका कारण यही भाषा-विभिन्नता है। जो जिस प्रान्त की भाषा से अनभिज्ञ होता है वह वहाँ के निवासियों को अवहेलना की दृष्टि से अवश्य देखता है। यदि हम किसी प्रान्त के निवासी से उसी की प्रान्तीय भाषा में बातचीत करें तो उससे शीघ्र ही घनिष्ठता हो जाती है। यही कारण है कि अब देश के नेता इस फ़िक्र में पड़े हैं कि भारतवर्ष में एक राष्ट्रीय भाषा का प्रचार हो। अधिकांश नेताओं की सम्मति है कि भारतवर्ष के लिए सबसे उपयुक्त राष्ट्रीय भाषा हिन्दी है। यदि लोग अपने हठ और दुराग्रह को छोड़ कर हिन्दी-भाषा को अपनालें तो भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का भाव जागृत हो जाय। इसके लिए यह आवश्यकता नहीं कि प्रान्तीय भाषाओं की उपेक्षा की जाय। लोग अपनी अपनी भाषाओं को पढ़ें और अपने अपने साहित्य की वृद्धि करें। परन्तु यदि वे चाहते हैं कि उनका एक राष्ट्र हो जाय तो उन्हें एक भाषा का अवलम्बन करना ही पड़ेगा। यही बात विश्व-भाषा के लिए कही जा सकती है। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि कोई भी देश अब संसार से अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता। राजनैतिक और व्यावसायिक, दोनों दृष्टि से यह आवश्यक है कि वह पृथ्वी के अन्य देशों से अपनी घनिष्ठता रक्खे। इसके लिए उसे अन्य देशों की भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। संसार की सब भाषाओं का ज्ञान होना असम्भव है। इसलिए यदि किसी ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय जिसे सभी देश ग्रहण कर सकें तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार होगा। आज-कल विभिन्न जातियों में जो पारस्परिक संघर्षण चल रहा है और ईर्ष्या तथा द्वेष के जो भाव प्रबल हो रहे हैं वे कम हो जायँ। अब विचारणीय यह है कि विश्व के लिए कौन सी भाषा उपयुक्त हो सकती है।

यदि एक ही स्थान में भिन्न भिन्न देशों के ऐसे मनुष्य रहने लगें जो एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते हैं तो क्या वे लोग सदा मूक ही बन कर बैठे रहेंगे? कुछ समय तक उनको अड़चन अवश्य होगी, पर धीरे धीरे वे लोग एक ऐसी भाषा ईजाद कर लेंगे जिससे सभी अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि वह भाषा खिचड़ी होगी, उसमें सभी लोगों के दो दो चार चार शब्द रहेंगे, पर प्रधानता उसी भाषा की होगी जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक होंगे अथवा सबसे ज़ियादह प्रतापवान् होंगे। संसार

में भिन्न भिन्न जातियों का संघर्षण होता ही रहता है। इससे एक दूसरे की भाषा से शब्द लेते रहते हैं। आप किसी भी देश की भाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें खोज करने से विदेशी शब्दों की भरमार मिलेगी। लोग विदेशी शब्दों को इतनी शीघ्रता से अपनालेते हैं कि किसी का उस पर ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि मनुष्य अपनी भाषा को देश और काल के अनुसार खुद ही कर लेता है। यही भाषा की परिवर्तनशीलता है। यदि साहित्य और व्याकरण का बन्धन न रहे तो शब्दों का रूपान्तर इतना शीघ्र होने लगे कि फिर कोई एक भाषा ही न रह जाय। शब्दों के परिवर्तन में उनका उच्चारण ही रूपान्तरित होता है। हिन्दी के 'रङ्गरूट' और बल्लमटेर' इसी के उदाहरण हैं। अँगरेज़ो के समान उन्नत भाषाओं में भी ऐसा परिवर्तन होता रहता है। भिन्न भिन्न भाषाओं की यह परिवर्तन-शीलता देख कर इँग्लेंड के एक प्रसिद्ध विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि कभी ऐसा भी समय आवेगा जब संसार में पाँच ही छः मुख्य मुख्य भाषायें रह जायँगी और अन्य भाषायें उन्हीं में विलीन हो जायँगी।

आज-कल भाषा-विज्ञान-शास्त्र की खूब उन्नति हो रही है। भिन्न भिन्न भाषाओं पर तुलनात्मक विचार किया जाता है। जब सर विलियम जोन्स के उद्योग से योरप में संस्कृत का प्रचार हुआ तब इस विज्ञान की सृष्टि हुई। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के जन्मदाता बाप (Bopp) थे। उनके बाद जेकब ग्रिम साहब ने व्याकरण-शास्त्र पर अपना तुलनात्मक ग्रन्थ प्रकाशित किया। तब से इस शास्त्र की बराबर उन्नति हो रही है। भाषा-विज्ञान की उन्नति का एक फल यह हुआ कि कुछ लोगों को एक कृत्रिम विश्वभाषा बनाने की सूझी। आज तक ऐसी तीन भाषाओं की सृष्टि हो चुकी है। प्रवासी में इन भाषाओं के विषय में एक लेख भी निकला था।

मानवीय सभ्यता के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि आज तक मनुष्यों ने ज्ञान-राशि की जो सम्पत्ति अर्जित की है उसका सर्वत्र प्रचार कर दिया जाय। पर ज्ञान का मुख्य द्वार है भाषा। अतएव एक ही भाषा में यदि विश्व का ज्ञान सुलभ कर दिया जाय तो उससे मानव-जाति का बड़ा उपकार हो। कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसलिए यदि संसार के सभी विद्वान् एक ही भाषा में अपने मनोगत भाव प्रकट करने लगें तो सर्वसाधारण के लिए भी ज्ञान का पथ सुगम हो जाय। परन्तु जिन तीन भाषाओं का उल्लेख किया गया है वे साहित्यिक दृष्टि से निर्मित नहीं हुई हैं, किन्तु व्यावसायिक दृष्टि से बनाई गई हैं। उनका उद्देश यह नहीं कि उनसे विश्व-साहित्य का प्रचार किया जाय। लोगों को विदेशी भाषाओं का ज्ञान न होने से जो अड़चन होती है उसी को दूर कर देना इन विश्व-भाषाओं का उद्देश है। इनसे ज्ञान का द्वार उन्मुक्त नहीं होगा, किन्तु व्यापारियों और यात्रियों को सुविधा होगी। इन भाषाओं से मनुष्य उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं होंगे। इनसे उन्हें आराम ज़रूर मिलेगा। हम चाहते हैं कि एक ऐसी भाषा का प्रचार किया जाय जिसे संसार के सब विद्वान् अपनालें। यह भाषा इतनी व्यापक हो जाय कि इसमें पूर्व का अध्यात्मवाद और पश्चिम का भौतिक-वाद दोनों व्यक्त किये जा सकें। पाश्चात्य मनोविज्ञान-शास्त्र में आध्यात्मिक शब्दों के अभाव से बड़ा झगड़ा होता है, यहाँ तक कि अर्थ का अनर्थ हो जाता है। विश्व-भाषा का ऐसा रूप हो कि मनुष्य की सभी भावनायें सुबोध हो जायँ। हम कह नहीं सकते कि कभी ऐसी विश्व-भाषा का प्रचार होगा कि नहीं। परन्तु आज-कल संसार के नेता विभिन्न जातियों के

मनोमालिन्य को दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं। तब सम्भव है कि कभी सभी देश एक भाव, एक धर्म और एक भाषा ग्रहण कर एक विशाल राष्ट्र के अन्तर्गत हो जायँ। अस्तु।

आज-कल विश्व-भाषा के रूप में जिन तीन भाषाओं का प्रचार करने की चेष्टा की जा रही है उनमें पहली भाषा का नाम (Volapuk) वोलापुक है। इस भाषा की उद्भावना सन् १८८० में हुई थी। यह भाषा युक्ति-शास्त्र पर अवलम्बित है। यह तो सभी जानते हैं कि प्रचलित भाषाओं में शब्दों के अर्थ जानने में युक्ति काम नहीं देती। कुछ शब्दों को छोड़ कर बाक़ी शब्दों में अर्थ और ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है। वोलापुक के उद्भावक थे Johann M. Schleyer। आपने इस भाषा को युक्ति-युक्त और नियमित करना चाहा। इसके लिए आपने यह उपाय सोचा कि कुछ मूल शब्द निर्धारित कर दिये जायँ और उन्हीं शब्दों से, प्रत्यय और विभक्ति के योग से और समास से, नाना प्रकार के शब्द बनाये जायँ। ये शब्द दीर्घ न हों इसलिए मूल शब्दों को एकाक्षरिक करना चाहिए। इन्हीं उपायों का अवलम्बन कर आपने वोलापुक की रचना की।

वोलापुक के बाद एस्परान्टो नामक भाषा की सृष्टि हुई। इस भाषा के जन्मदाता थे डाक्टर ज़ामिन हाफ़। सरस्वती में आपका जीवन-चरित प्रकाशित हो गया है। सन् १९०१ से एस्परान्टो का प्रचार ख़ूब बढ़ने लगा। एस्परान्टो के व्याकरण-भाग में मौलिकता है। इसमें एक ही नियम की सर्वत्र पाबन्दी की जाती है। अपवाद तो एक भी नहीं है। एक मूल शब्द से अनेक शब्द बनाये जा सकते हैं। विभक्तियों और प्रत्ययों की संख्या भी कम है। इसके शब्द-समूह किसी एक भाषा से नहीं लिये गये हैं। ज़ामिन हाफ़ साहब ने देखा कि भिन्न भिन्न भाषाओं के अनेक शब्दों में बड़ी समानता है। अतएव ऐसे शब्दों की उत्पत्ति एक ही मूल शब्द से होनी चाहिए। आपने यथासम्भव इन्हीं मूल शब्दों के आधार पर अपनी भाषा की रचना की है।

एस्परान्टो का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी है Idion Neutral. पेट्रो ग्रेड में Akademi Internasional de Lingu universal नामक एक समिति है। उसी के द्वारा इस भाषा की सृष्टि हुई है। इस समिति के डाइरेक्टर रोज़नवर्ग साहब इसके सृष्टिकर्ता हैं।

बस, विश्व-भाषा की यही कथा है।

मनोहरलाल श्रीवास्तव

मुग़ल-साम्राज्य का गौरव।

काल-चक्र के चक्करों का अनुभव जितना दिल्ली ने किया है उतना संसार में शायद ही किसी नगर को हुआ हो। जिस दिल्ली की नींव का पत्थर धर्म-धुरीण महाराज युधिष्ठिर ने आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व रक्खा था और जिसका गौरव भारत के इतिहास-प्रसिद्ध सम्राट् अपनी राजधानी बना कर सदा बढ़ाते रहे वही दिल्ली उन्नीसवीं सदी का प्रारम्भ होते ही इँगलेंड के व्यापारियों के हाथ पड़ी और उसका शासक अन्तिम मुग़ल-सम्राट् उनका पेंशनभोगी हुआ। अठारहवीं सदी के पिछले पचीस वर्षों में मरहटे ही उस समय के मुग़ल राज्य के वास्तविक स्वामी बन बैठे थे और नेत्रहीन मुग़ल-सम्राट् शाह आलम उनके हाथों में कठपुतली बन कर अपने फ़रमान निकाला करता और लोगों को उपाधियाँ तथा सिरोपाव प्रदान करता रहता था। यद्यपि मुग़ल-सम्राट् क्षमताशहित था और उसका साम्राज्य धीरे धीरे छिन्न भिन्न होकर विनष्ट हो रहा था तो भी लोगों का विश्वास यही था कि शाह आलम ही भारत का स्वामी है, एक-मात्र वही हमारी भक्ति का पात्र है और राजनैतिक तथा सामाजिक प्रबन्धों का वही कर्ता-धर्ता है।

जिस राजवंश के उत्तराधिकारी शाह आलम पर लोगों की इतनी भारी श्रद्धा थी उसके संस्थापक बाबर ने बारह हज़ार सेना लेकर ख़ैबर घाटी को पार किया था। उसने तत्कालीन दिल्ली के बादशाह इब्राहीम लोदी को पानीपत की युद्ध-भूमि में परास्त करके दिल्ली पर अधिकार किया और समीपवर्ती देश को अपने अधीन कर उसने भारत में अपने वंश के राज्य की नीव रक्खी। यद्यपि बाबर की मृत्यु के बाद भारत के पठानों ने उसके पुत्र हुमायूँ को वहाँ से निकाल बाहर किया तो भी उसने कालान्तर में अपना राज्य फिर प्राप्त कर लिया था। हुमायूँ के बाद उसका पुत्र अकबर दिल्ली के तख़्त पर बैठा और वास्तव में यही महापुरुष भारत में मुग़ल-साम्राज्य का संस्थापक हुआ। अपने शासन-काल में अकबर ने अपने राज्य की ख़ूब वृद्धि की। धीरे धीरे समग्र उत्तरी भारत पर उसका अधिकार हो गया, यही नहीं किन्तु उसने दक्षिण का भी कुछ अंश अपने राज्य में मिला लिया था। अकबर के बाद भी साम्राज्य की वृद्धि दिन प्रति दिन होती ही रही और जब उसका शासन-दण्ड औरङ्गज़ेब के हाथ आया तब तो वह उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। परन्तु अठारहवीं सदी के आरम्भ में औरङ्गज़ेब की मृत्यु हो गई। उसके बाद साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ। जब मरहटे शाह आलम को ईस्ट इंडिया कम्पनी की संरक्षा से निकाल कर फिर दिल्ली लिवा लाये और उन्होंने बादशाह को अपने हाथ का खिलौना बना लिया तब समझना चाहिए कि साम्राज्य का पतन अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था।

औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद ही से साम्राज्य का अङ्ग-भङ्ग होना आरम्भ हो गया था। धीरे धीरे प्रान्त के प्रान्त साम्राज्य से अलग होते जाते थे। जो मुसलमान सूबेदार मुग़ल-साम्राज्य के स्तम्भ थे वही राजद्रोह करके उन प्रान्तों में अपना राज्य स्थापित करने लगे थे। इस तरह एक के बाद एक प्रान्त शक्ति-सम्पन्न सूबेदारों ने हथियाना शुरू कर दिया और इस स्वार्थ-परायणता के कारण मुग़ल-सम्राट् दिन प्रति दिन शक्तिहीन और क्षमता-रहित होते गये। यह लीला लगभग सौ वर्ष तक जारी रही, परन्तु उस समय भी यह कोई न जान सका था कि यह विशाल साम्राज्य एक दिन विनष्ट हो जायगा। जब जनरल लेक ने सन् १८०३ में दिल्ली में प्रवेश किया था तब स्वयं सम्राट् भी उस घटना के महत्त्व को न समझ सका था। इसी घटना के बाद से मुग़ल-साम्राज्य का अस्तित्व भी मिट गया। इस सम्बन्ध में Fall of the Mogul Empire नामक अपनी पुस्तक में एच० जी० कीन साहब ने लिखा है, "जनरल लेक को बादशाह के पास ले आने के लिए शाहज़ादा मिर्ज़ा अकबर अँगरेज़ी शिविर में भेजा गया था। जब शाहज़ादा अँगरेज़ी शिविर में पहुँचा तब जनरल लेक शाहज़ादे से भेंट करने को आया, परन्तु वह जनरल से तब मिला जब उसने लगभग तीन घंटे तक प्रतीक्षा की। अपना गौरव तथा मर्यादा क़ायम रखने ही के लिए शाहज़ादे ने ऐसा व्यवहार किया था। यह एशियावासियों की एक विशेषता है। इसके बाद सवारी निकली और पाँच मील का मार्ग इतनी मन्द गति से तय किया गया कि जलूस महल में उस समय पहुँचा जब सूर्य्यास्त हो रहा था... दीवान ख़ास की ड्योढ़ी पर एक फटा पुराना शामियाना खड़ा किया गया था जिसके नीचे अकबर और औरङ्ग़ज़ेब का वंशज एक साधारण सिंहासन पर बैठा था।"

अस्तु, अन्ध सम्राट् शाह आलम और जनरल लेक के बीच यह तय हुआ कि सम्राट् केवल दिल्ली तथा उसके आस पास के ज़िले भर का शासन करे और वह भी एक अँगरेज़ रेज़ीडेन्ट की निगरानी में। इसी निश्चय के अनुसार कम्पनी की ओर से सम्राट् को १०,०००) मासिक पेंशन देना भी स्वीकार किया गया।

इस तरह लगभग दो सदियों तक अपना गौरव-पूर्ण जीवन बिताने के बाद मुग़ल-साम्राज्य का पतन हुआ। उसके जीवन-काल में उसका शासक भारत के एक विशाल भाग का स्वामी समझा जाता था। उसके आदेशों का पालन बड़ी श्रद्धा तथा भक्ति के साथ होता था। लोग अपनी पदवी तथा अपने स्वत्व समुचित ठहराने के लिए उसका फ़रमान प्राप्त करना आवश्यक समझते थे। यद्यपि अँगरेज़, फ़रासीसी और मरहटे मुग़ल-साम्राज्य को विनष्ट करने में लगे हुए थे तो भी सम्राट् की पद-मर्यादा का आदर वे करते ही थे। भारत में किसी न किसी रूप में

वही एक-मात्र आदर का पात्र था। मुग़ल-साम्राज्य ने इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करली थी, सर्व-साधारण के मन पर उसका इतना भारी प्रभाव पड़ चुका था कि उसका पतन हो जाने पर भी लोग इस बात का विश्वास नहीं करते थे। इस सम्बन्ध में डब्ल्यू० एच० हूटन ने 'लार्ड वेलज़ली' नाम की अपनी पुस्तक में लिखा है, "जब शाह आलम महादाजी सेंधिया का नौकर सा बन गया था तब भी भारत में एक-मात्र वही सम्राट् समझा जाता था। देश के राजे महाराजे अपने आपको उसी के अधीन समझते थे, वही सबको पदवियाँ तथा सम्मान प्रदान करता था और देश के जिन भिन्न भिन्न राजाओं से अँगरेज़ों का युद्ध होता था तथा जिन्हें वे स्वाधीन राजा मानते थे वे लोग केवल उसके उच्च राज्य-कर्मचारी थे। लोगों के विश्वास और प्रथा के कारण अपनी हीनावस्था में भी मुग़ल-सम्राट् का अधिकार राजनैतिक क्षेत्र में अक्षुण्ण बना था। जो कुछ कार्य किया जाता, सब उसी के नाम पर किया जाता था। वह अपने आदेशों से लोगों को वह अधिकार प्रदान कर देता जिसका उपयोग करने की क्षमता स्वयं उसमें न थी।"

दिल्ली के पठान बादशाहों से विद्रोह करके कुछ मुसलमान सरदारों ने जिस बहमनी राज्य की स्थापना दक्षिण में की थी वह शिवाजी के उदय-काल के पूर्व ही विनष्ट होकर पाँच छोटे छोटे राज्यों में विभाजित होगई थी। इन राज्यों के अधिपति सदा परस्पर लड़ते रहते थे। उन्हों ने महाराष्ट्र देश का अधिकांश भाग अपने अधिकार में कर लिया था। उधर महाराष्ट्र लोग अपना स्वाधीन राज्य अलग स्थापित करने को लालायित थे। अतएव पहले इन्हें उन्हीं पर चढ़ाई करनी पड़ी थी। अकबर के समय से मुग़ल-सम्राटों ने भी दक्षिण के मुसलमानी राज्यों पर छीना-झपटी प्रारम्भ कर दी थी और सतत परिश्रम तथा घोर युद्ध के अनन्तर अहमदनगर-राज्य मुग़ल-साम्राज्य में मिला लिया गया था। जब शिवाजी ने अपने पड़ोसी शत्रुओं का सामना करने को पर्याप्त शक्ति प्राप्त करली तब उसने मुग़ल-साम्राज्य के प्रान्तों पर धावे मारना प्रारम्भ किया। मरहटों ने उन प्रान्तों से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का स्वत्व प्रकट किया, परन्तु राजनीति तथा अपनी शक्ति के विचार से शिवाजी ने स्वयं मुग़ल-साम्राज्य की अधीनता स्वीकार करली। तदनुसार सम्राट् ने उसे मनसब और जागीर प्रदान की। मरहटों को अपने अधिकृत देशों के लिए मुग़ल-सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त करनी ही चाहिए, यह भाव पहले ही जड़ पकड़ चुका था और साम्राज्य के अन्त समय तक वह ज्यों का त्यों बना रहा। जो सन्धियाँ शिवाजी ने शाहजहाँ और औरङ्गज़ेब के साथ कीं उनमें उसने साम्राज्य तथा बाहर के कुछ देशों पर चौथ तथा सरदेशमुखी-सम्बन्धी अपने स्वत्व को बराबर ज़ोर दिया था। इसके सिवा वह मुग़ल-सम्राट् के अधीन एक जागीरदार बनने को भी राज़ी हो गया। चौथ तथा सरदेशमुखी-सम्बन्धी स्वीकृति शिवाजी की मृत्यु के बाद दे दी गई और शाहू के शासन-काल में उस शाही स्वीकृति की पुनरावृत्ति समय समय पर होती रही। चौथ तथा सरदेशमुखी के स्वत्व के रूप में अत्याचार का एक भयङ्कर शस्त्र मरहटों के हाथ लग गया। मुग़ल-सम्राटों के समक्ष मरहटे अपने स्वत्वों की जो माँग उपस्थित करते थे वह एक राजनैतिक चाल तो थी ही, पर उसकी ओट में एक दूसरा भाव भी छिपा रहता था। वह था सम्राट् द्वारा अपने अधिकृत देशों की स्वीकृति प्राप्त करना। आगे की बात से उपर्युक्त कथन और भी स्पष्ट हो जाता है। बादशाह ने शाहू को छः दक्खिनी प्रान्तों का स्वराज्य एवं उन पर चौथ तथा सरदेशमुखी का स्वत्व प्रदान किया। उसके बदले में मरहटों ने सम्राट् को पेशख़ास अदा करना स्वीकार किया। इसके सिवा उन्होंने शान्ति स्थापित रखने का भार तथा समय उपस्थित होने पर घुड़-सवारों का एक सेनादल सम्राट् के सेनापतियों के अधीन कर देना भी स्वीकार किया था।

यद्यपि धीरे धीरे मुग़ल-साम्राज्य का पतन होता जा रहा था और मरहटे उसके एक भाग के बाद दूसरा भाग अपने क़ब्ज़े में करते चले जाते थे तो भी उसके ऊँचे दर्जे तथा गौरव के सम्बन्ध का प्राचीन भाव उनके मन में सदा बना रहा। शनवर वादा नाम का पेशवा का महल पहले बाजीराव के समय में बना था। इसका फाटक उत्तर ओर है और उसका नाम दिल्ली-फाटक है। यह नाम महत्त्व-पूर्ण है। उस समय बाजीराव दिल्ली-विजय करने के मनसूबे बाँध रहा था। शायद उसने अपने फाटक का नाम-करण इसी धारणा के वशवर्ती होकर किया हो जिससे

यह प्रकट हो जाय कि उस समय मरहटों के मन में दिल्ली के प्रति कैसे भाव थे। चाहे जो हो, पर मरहटों पर दिल्ली का कितना अधिक प्रभाव था, यह बात स्पष्ट है। उस समय यद्यपि दक्षिण और बङ्गाल के सूबेदार, जो अठारहवीं सदी के मध्यभाग में स्वतन्त्र से हो गये थे, अपने सम्राटों को नगण्य समझने को प्रस्तुत नहीं हुए थे। उन्होंने अपने सम्राटों पर कभी आक्रमण करने का दुस्साहस भी नहीं किया था। इसके विपरीत नये सूबेदारों की नियुक्ति के सम्बन्ध में शाही फ़रमान जारी होने की जो प्रथा थी वह ज्यों की त्यों बनी ही रही। निज़ामुल्मुल्क के पुत्र, जो अपने अपने प्राधान्य के लिए परस्पर लड़ रहे थे, अपनी अपनी नियुक्ति के सम्बन्ध में शाही फ़रमान उपस्थित कर सकते थे। उस समय सम्राट् किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने में समर्थ न था। वह बहुत ही अधिक क्षमता-रहित हो गया था। तो भी शाही स्वीकृति की आवश्यकता का महत्त्व वैसा ही बना था। Rise of the Maratha Power नामक ग्रन्थ में रनाडे महोदय लिखते हैं, "इस बात की जानकारी से कि सूबेदार की नियुक्ति का अधिकार सम्राट् को है, निज़ामुल्मुल्क के ख़ानदान के भिन्न भिन्न दावेदारों ने सूबेदारी के लिए अपने अपने स्वत्व उपस्थित किये और उनमें से प्रत्येक ने अपना स्वत्व समर्थन करने के लिए शाही फ़रमान प्रकाशित किये।" ऐसे ही एक फ़रमान के आधार पर चाहे वह असली रहा हो या जाली रहा हो, निज़ामुल्मुल्क की मृत्यु के बाद उसके पुत्र नासिरजङ्ग ने उत्तराधिकार के लिए अपना स्वत्व प्रकट किया। ऐसे ही प्रमाण के आधार पर, जिसके असली होने में सन्देह ही रहा, मुजफ़्फ़रजंग ने उसके विरुद्ध अपना हक़ बताया। जब इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों की भी मृत्यु होगई तब फ़रासीसी जनरेल बुसी ने निज़ामुल्मुल्क के तीसरे पुत्र सलाबतजंग को उत्तराधिकार के लिए खड़ा किया। ओरमी ने लिखा है कि इस सरदार को राजधानी में उपस्थित होने की हिम्मत न हुई। उसने पहले सम्राट के राजदूत के हाथ से अपना नियुक्ति-पत्र ले लेना उचित समझा। तदनुसार उसने बड़ी शान और महोत्सव के साथ उस बादशाही फ़रमान को ग्रहण किया जिसके अनुसार वह उन सारे देशों का सूबेदार नियुक्त हो गया जो उसके पिता के अधिकार में थे।

साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों की सूबेदारी का पद वंशानुगत हो गया था। तो भी उत्तराधिकार के सम्बन्ध में सम्राट् की स्वीकृति ले लेना आवश्यक समझा जाता था। सम्राट् में इस बात की क्षमता नहीं थी कि वह अपनी रुचि के अनुसार सूबेदार नियुक्त कर सके। अतएव वह उसी को नियुक्ति का फ़रमान प्रदान कर देता था जो उत्तराधिकारी सूबेदारी का पद अपने अधिकार में कर लेता था। ऐसा ही हाल सतारा के राजाओं का भी हो गया था। वहाँ राज्य का कर्ता-धर्ता पेशवा था। शिवाजी का उत्तराधिकारी एक प्रकार से उसकी क़ैद में था। राघोबा दादा, सवाई माधवराव, बाजीराव और चिमनाजी अप्पा आदि की नियुक्ति के जो आज्ञापत्र सतारा के राजाओं ने समय समय पर प्रदान किये थे वे केवल लौकिक मर्यादा की रक्षा के लिए प्राप्त किये गये थे। वास्तव में बात यह थी कि पूर्वोक्त व्यक्ति इतने अधिक शक्ति-सम्पन्न थे कि सतारा-नरेश को वही करना पड़ता था जो कुछ ये लोग कहते थे। परन्तु मुग़ल-सम्राट् के फ़रमान की कुछ और ही बात थी। यद्यपि वह नाम-मात्र का सम्राट् था। उसकी सारी शक्ति छिन्न-भिन्न होकर दरबार के अमीर उमराओं तथा प्रान्तिक सूबेदारों के हाथों में चली गई थी, तो भी उसके फ़रमान का महत्त्व बहुत ही भारी था। उसके स्वतन्त्र प्रान्तिक सूबेदार ही उसे प्राप्त करने को उत्सुक नहीं रहते थे, किन्तु भारत के दूसरे राजे महाराजे एवं योरपीय शक्तिशालिनी वणिक् कम्पनियाँ भी। ये लोग भी अपने स्वत्वों तथा अधिकृत देशों की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए सम्राट् के प्रार्थी होते थे।

पलासी के युद्ध के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में बङ्गाल प्रान्त हो गया था। वहाँ के सूबेदार की नियुक्ति उसी की बात होगई थी। उसके इस काम में कोई कुछ भी हस्तक्षेप न कर सकता था। उस समय दिल्ली के षड्यन्त्रों से प्राण बचा कर शाहज़ादा शाह आलम इधर-उधर मारा मारा फिरता था, परन्तु तो भी वह अपनी प्रजा को सनदें और जागीरें प्रदान करता था। वह अपना काम उसी मर्यादा के साथ करता था, मानों वही सम्राट् हो। उसके और लार्ड क्लाइव के बीच सन् १७६५ में एक समझौता हुआ। शाहज़ादा ने कम्पनी को बङ्गाल की

दीवानी का अधिकार प्रदान किया। तदनुसार कम्पनी ने २६ लाख रुपये वार्षिक शाहज़ादा को देने की प्रतिज्ञा की और कोड़ा तथा इलाहाबाद के ज़िले भी सुराजुद्दौला से दिला दिये। शाहज़ादा कम्पनी के हाथ में था और वैसी स्थिति में क्लाइव का उक्त स्वत्व के लिए फ़रमान प्राप्त कर लेना इसलिए भी समुचित नहीं समझा गया है कि बङ्गाल सब प्रकार से कम्पनी के क़ब्ज़े में था न्यायानुसार इस अधिकार-प्रधान के कारण शाहज़ादे को सूबेदार की नियुक्ति का अधिकार भी प्राप्त हो गया। समय उपस्थित होने पर किया भी ऐसा ही गया था। जब मीर जाफ़र के बाद मीर क़ासिम बङ्गाल का सूबेदार हुआ था तब उसने शाह आलम से अपनी नियुक्ति का फ़रमान प्राप्त भी किया था। परन्तु यह अवस्था ज़रूर उपस्थित होगई थी कि बङ्गाल के सूबेदार पर जो प्राधान्य कम्पनी ने प्राप्त कर लिया था उसे वह सम्राट् को सौंप देने को तैयार नहीं थी। और न सूबेदार तथा सम्राट् ही इतने शक्तिसम्पन्न थे कि उनमें से कोई कम्पनी का प्राधान्य हटा कर बलपूर्वक अपना प्राधान्य स्थापित कर ले। तब प्रश्न हो सकता है कि ऐसी अनुकूल परिस्थिति में क्लाइव जैसे नीति-निपुण और कार्य-कुशल व्यक्ति ने क्षमता-रहित शाहज़ादा से समझौता करके अपना पद अपने ही हाथ हीन क्यों कर लिया। इसका उत्तर स्पष्ट है। क्लाइव ने सोचा कि वास्तव में मैं बङ्गाल का स्वामी हूँ। अतएव यदि कम्पनी का स्वामित्व सम्राट् भी स्वीकार कर ले तो कम्पनी न्याय से भी बङ्गाल की स्वामिनी बन जायगी। परन्तु यदि इस प्रकार का न्यायानुमोदन प्राप्त करने के लिए क्लाइव और बातों में भी बादशाह से फ़रमान प्राप्त करने की इच्छा करता तो उस स्थिति में कम्पनी के स्वार्थ में व्याघात पहुँचने की सम्भावना थी और विशेष करके उस समय जब शाह आलम मरहटों की संरक्षा में हो गया था। परन्तु जब सम्राट् मरहटों की संरक्षा में चला गया तब कम्पनी ने केवल पूर्वकृत समझौते के अनुसार वार्षिक पचीस लाख रुपये का भुगतान ही केवल न बन्द कर दिया, किन्तु तत्कालीन कम्पनी के गवर्नर वारेन हेस्टिंग्ज़ ने यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि कम्पनी का बङ्गाल पर शासन मुग़लों की किसी सनद या फ़रमान पर निर्भर नहीं करता है। कैप्टन एल० जे० ट्राटर ने अपने 'वारेन हेस्टिंग्ज़' नामक ग्रन्थ में लिखा है, "जिन प्रान्तों को हमारी सेनाओं ने तलवार के बल से जीत लिया था उनके अधिकार की स्वीकृति नाम-मात्र के मुग़ल-सम्राट् से प्राप्त करना क्लाइव तथा डायरेक्टरों को भले ही उपयुक्त समझ पड़ा हो.............. परन्तु वास्तविक बात तो यह है इस समय भी जो हम भारत पर शासन कर रहे हैं वह एक-मात्र तलवार के ही बल से कर रहे हैं। अतएव हेस्टिंग्ज़ की स्पष्टवादिता से सम्राट् की स्वीकृति का महत्त्व जाता रहा। क्लाइव ने मुग़ल-साम्राज्य तथा उसके सार्वभौमिक प्राधान्य को स्वीकार किया था, पर उसके उत्तराधिकारी उस खोखले सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं थे जिससे कम्पनी को आर्थिक हानि पहुँचने की सम्भावना थी। अतएव उन्होंने उस राजकीय स्वत्व की उपेक्षा की"

ईस्ट इंडिया कम्पनी भागे हुए शाह आलम को दिल्ली के सिंहासन पर बैठाने की सहायता कर सकती थी। इस सम्बन्ध के प्रस्ताव भी उससे किये गये थे, परन्तु कम्पनी के अधिकारियों ने वैसा करना उचित न समझा। उन्होंने उस भारी उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेना समय की गति के अनुसार राजनीति के विरुद्ध समझा। जब शाह आलम दिल्ली के सिंहासन पर आसीन होने के लिए कम्पनी की संरक्षा त्याग करके जाने लगा तब कम्पनी के अधिकारियों ने किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया, बरन् वे उसे अपनी सीमा तक पहुँचा भी आये। कम्पनी के कर्मचारियों को इस बात की कड़ी आज्ञा थी कि वे कोई ऐसा काम न करें जिससे उनकी और मरहटों की मुठ-भेड़ हो जाय। पूर्व निश्चय के अनुसार सम्राट् इलाहाबाद से चला गया और मरहटों ने उसे दिल्ली के तख़्त पर जा बिठाया। इस अवसर से माधवराव शिंदे ने लाभ उठाया। सम्राट् के जो बड़े बड़े कर्मचारी दरबार में अपने अपने प्राधान्य के लिए द्वन्द कर रहे थे वे बैठे के बैठे ही रह गये। यद्यपि महादाजी शिंदे ने पहले मरहटा-युद्ध में भाग लिया था जिसका परिणामस्वरूप वादेगाँव का सुलहनामा हुआ था तथा गुजरात में भी उसने गोडर्ड से तलवार बजाई थी और इस तरह वह अँगरेज़ों का शत्रु था, तो भी उसने उस अवसर पर अँगरेज़ों से मित्रता ही रखना मुनासिब समझा।

उसने सोचा कि यदि मैं अपना गौरव बढ़ाना तथा अपनी शक्ति प्रबल करना चाहता हूँ तो मुझे अँगरेज़ों से छेड़-छाड़ न करनी चाहिए। सम्भवतः इसी धारणा के वशवर्ती होकर उसने मरहटों और अँगरेज़ों में सन्धि हो जाने के लिए ज़ोर दिया। तदनुसार सालबाई का सुलह-नामा हुआ। इससे महादाजी की गौरव-वृद्धि हुई। अँगरेज़ भी उसे क्षमताशाली समझने लगे और मरहटा-सङ्घ में भी उसका पद महत्त्व-पूर्ण हो गया। वारेन हेस्टिंग्ज़ के मन में यह बात तुरन्त आ गई कि यदि महादाजी जैसे नीति-निपुण व्यक्ति को दिल्ली की राजनीति से स्वेच्छा-पूर्वक लाभ उठाने दिया जाय तो उससे अँगरेज़ों के हितों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँच सकती। इसके सिवा उत्तरी तथा दक्षिणी भारत में परस्पर की कलह मिटने तथा शान्ति स्थापित करने में उससे सहायता भी मिल सकेगी। जो मुसलमान अमीर और सरदार तथा राजपूत राजे दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में अपना प्राधान्य चाहते थे उनको युद्ध में भले प्रकार परास्त करके महादाजी 'हिन्दुस्तान' में प्रधान शक्तिशाली व्यक्ति हो गया। साम्राज्य के शासन की बागडोर उसी के हाथ चली गई। और यद्यपि उस समय सम्राट् कहने भर को सम्राट् रह गया था तो भी तैमूर के वंशज की प्रतिष्ठा भारत में बहुत ही अधिक थी। "यद्यपि समग्र दक्षिणी भारत धीरे धीरे मुग़ल-साम्राज्य से पूर्ण स्वतन्त्र हो गया था, तो भी भारत में कोई ऐसा नवाब या राजा नहीं था जो अपने को बादशाह कहने का साहस कर सके। शाह आलम उस समय मुग़लों के सिंहासन पर विराजमान था और समग्र देश के सारे राजनैतिक कार्य उसी के नाम से किये जाते थे।" यह बात एक विदेशी लेखक ने लिखी है। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि उस समय लोग मुग़ल-साम्राज्य के प्रति कितनी भारी भक्ति रखते थे।

यद्यपि महादाजी का प्राधान्य दिल्ली के राजनैतिक क्षेत्र में भले प्रकार स्थापित हो गया था और वह स्वयं सम्राट् का संरक्षक बन बैठा था तो भी उसका स्वभाव अत्यन्त ही विनम्र बना रहा। उस शीलवान् पटेल और पेशवा के जूते के रक्षक ने सम्राट् से अपने नव युवक पेशवा के लिए 'वकील ए मुतलक़' की पदवी प्राप्त करली एवं अपने लिए पेशवा के वकील की। जब उसकी स्थिति हिन्दुस्तान में पुष्ट नीव पर स्थापित होगई तब उसने अपनी वैसी ही मर्यादा पेशवा के दरबार में भी क़ायम करनी चाही। अतएव उसने अपनी विशाल शिक्षित सेना तथा विजयों को दिखला कर नव युवक तथा अनुभवहीन पेशवा को अपनी मुट्ठी में करना चाहा। परन्तु पेशवा उसके प्रतिद्वन्द्वी विचक्षण राजनैतिज्ञ नाना फड़नवीस के प्रभाव में था। नाना ने यह बहुत ठीक अनुमान किया था कि महादाजी ने जैसी क्षमता तथा स्वाधीन पद प्राप्त किया है उससे मरहटा-सङ्घ के टूट जाने की सम्भावना है और वह तभी क़ायम रह सकता है यदि केन्द्रिक सरकार अपने अधीनस्थ सरदार पर हुक्म चलाने के लिए सदा समर्थ बनी रहे। परन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता कि महादाजी ने सङ्घ को भङ्ग करने की कल्पना कभी की हो। वह पहला आदमी था जो उसे क़ायम रखने के लिए अपनी तलवार बाहर निकालता। परन्तु उसकी यह आकांक्षा ज़रूर थी कि नाना के स्थान में पेशवा के दरबार में मेरा प्रभाव हो जाय। जो नाना एक पीढ़ी से मरहटा साम्राज्य का सूत्रधार हो रहा था उसका प्राधान्य वह ज़रूर नष्ट करना चाहता था। जब महादाजी पूना पहुँचा तब सम्राट् की प्रदान की हुई ख़िलत तथा 'वकील ए मुतलक़' की पदवी ग्रहण करने के लिए एक बड़ा भारी दरबार किया गया। इसका विवरण मरहटों के इतिहास में विस्तार के साथ दिया गया है। उस दरबार में ठीक वैसा ही एक सिंहासन रक्खा गया था जिस पर सम्राट् बैठता था। उस पर सम्राट्-प्रदत्त फ़रमान और ख़िलत रक्खी गई। पेशवा ने तीन बार झुक झुक कर उसका अभिवादन किया। उसने उसके सामने १०१ मुहर की नज़र रक्खी। महादा जी के फ़ारसी के मुंशी ने फ़रमान पढ़ना शुरू किया। इसके बाद पेशवा तख़्त की बाईं ओर बैठ गया। उसके प्रधान अधिकारियों ने उसे नज़रें दीं। तदनन्तर धूमधाम के साथ पेशवा की सवारी निकली और सलामी में तोपें सर हुईं। इस सारी प्रक्रिया से महादाजी पेशवा पर अपना प्रभाव डालना चाहता था। इससे यह भी प्रकट होता है कि उस समय मुग़ल-सम्राट् की लोग कितनी भारी भक्ति करते थे।

जब मुग़ल-साम्राज्य नाम भर को रह गया था और

उसका शासक मरहटों के हाथ का खिलौना बन चुका था उस समय इस प्रकार का सम्राट् के प्रति सम्मानद्योतक महोत्सव एक प्रकार का खेलवाड़ी ही सा प्रतीत होता है। सम्राट् के तख़्त के प्रति पेशवा का भक्ति-प्रदर्शन तथा वकील ए मुतलक् अर्थात् साम्राज्य का सबसे बड़ा सूबेदार की पदवी ग्रहण करना एक ऐसी बात थी जिसका विरोध किया गया। मरहटा मनकरी तथा सरदारों ने पेशवा की इस कार्रवाई का प्रतिवाद किया। उनका कहना यह था कि पेशवा की इस कार्रवाई से शिवाजी के वंशधर सितारा के राजकीय पद को ठेस पहुँचती है। अतएव वे लोग न तो उस दरबार में ही शामिल हुए और न वकील ए मुतलक् के रूप में पेशवा को उन्होंने नज़रें ही दीं। वे उस उत्सव की सवारी में भी शरीक नहीं हुए। यद्यपि मरहटा सरदारों ने इस प्रकार की नाराज़ी प्रकट की तो भी सम्राट् ने जो पदवी पेशवा को प्रदान की थी वह महत्त्वपूर्ण समझी गई। जिस मुग़ल-साम्राज्य का ध्वंस साधन करने की उत्कट आकांक्षा एक समय मरहटों को थी उन्हीं ने अपनी राजधानी में उसी साम्राज्य के एक नामधारी सम्राट् के प्रति अगाध भक्ति का परिचय दिया और वह भी उस समय जब कि वह शीघ्रता के साथ विनाश को प्राप्त हो रहा था। इससे सिद्ध होता है कि मुग़लों ने लोगों के मन में अपना घर कर लिया था। उनकी उस बिगड़ी दशा में भी लोग उनकी कृपाकटाक्ष के भिक्षुक थे। उस समय बहुत कम लोगों ने अनुमान किया होगा कि कुछ ही वर्षों में मुग़ल-साम्राज्य तथा मरहटा-साम्राज्य दोनों का अस्तित्व इस देश से मिट जायगा और एक तीसरी शक्ति, जो देश के पूर्व, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम—तीन ओर अपनी शक्ति का विस्तार शीघ्रता के साथ कर रही है, उनका स्थान ग्रहण कर लेगी। दो सौ वर्षों का जीवन व्यतीत करके मुग़ल-साम्राज्य सन् १८०३ में धराशायी हुआ। उसके साथ ही उसका गौरव तथा महत्त्व दोनों का भी लोप होगया। आज वही मरहटे और मुसलमान मुग़ल-साम्राज्य से भी विस्तृत तथा गौरवपूर्ण साम्राज्य के नागरिक हैं। इस प्रभावशाली तथा महत्त्व-पूर्ण परिवर्तन की कल्पना उस समय के लोगों को मुश्किल से हुई होगी। वे लोग तो यही समझते थे कि जो कुछ है सो दिल्ली है।

यद्यपि मुग़ल-साम्राज्य का लोप होगया तो भी उसकी राजधानी का महत्त्व लोग भूल न सके। यहाँ तक कि भारत के अँगरेज़ वायसरायों के मन पर भी उसका प्रभाव बना ही रहा। प्रकृति ने उसे वैसा स्थान ही प्रदान कर दिया है जिससे वह साम्राज्य की राजधानी बनने के सर्वथा अनुरूप है और ज़माने से वह अपने इस स्वत्व का उपयोग बराबर करती चली आई है। हमारे ब्रिटिश शासकों में पूर्वी देशों की हवा नहीं लगी है, उन्हें यहाँ के रङ्ग ढङ्ग पसन्द नहीं हैं तो भी दिल्ली की मनोमोहकता के प्रभाव से वे भी न बच सके। सन् १८७७ में लार्ड लिटन ने दिल्ली में एक दरबार करके महारानी के भारत की सम्राज्ञी का पद ग्रहण करने की घोषणा की। वही सन् १९०३ में सम्राट् एडवर्ड के अभिषेकोत्सव के सम्बन्ध में प्रसिद्ध साम्राज्यवादी लार्ड कर्ज़न ने पहले से भी बढ़ कर दरबार किया था। इसके बाद सन् १९११ में स्वयं सम्राट् पञ्चम जार्ज ने भारतीय प्रजा के अनुराग से प्रेरित होकर भारत आने का कष्ट स्वीकार किया और दिल्ली में अभूतपूर्व दरबार करके उसके गौरव की वृद्धि की। यही नहीं उसके बाद इस बात की घोषणा भी की गई कि दिल्ली ही भारत की राजधानी बनाई गई। इस तरह दिल्ली को पुनः अपना गौरवपद प्राप्त हुआ। भगवान् करे वह अपने पद पर सदा इसी तरह विराजमान रहे।*

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

देहात की उन्नति।
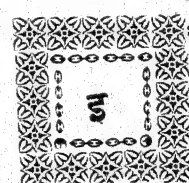
इस देश में सौ पीछे नव्वे आदमी देहात में रहते हैं और खेती से गुज़र करते हैं। इन्हीं की मेहनत से शहरवालों का पेट भरता है और इन्हीं के लगान से सरकार का अधिकतर ख़र्च चलता है। परन्तु देहाती मूर्ख हैं। इनमें एकता नहीं, इसलिए बल भी नहीं है। सभी इनको पीसते हैं। वकील आदि पढ़े लिखे लोग, पटवारी

---

* सङ्कलित।

से लेकर बड़े लाट तक सरकारी कर्मचारी और अँगरेज़ी शासन से सुरक्षित आनन्दमय जीवन भोगनेवाले ज़मीन्दार और ताल्लुक़ेदार—सभी इनकी मूर्खता और निर्बलता से लाभ उठाते हैं। यही नहीं, महामारी देवी तथा रुद्रदेव भी इन पर कृपा करते हैं। जब कभी प्लेग, हैज़ा, इनफ़्लुएंज़ा आदि रोगदेव अपना दौरा करते हैं तब अधिकतर देहातियों से ही उनका पेट भरता है। जब कहीं लड़ाई छिड़ती है तब हज़ारों लाखों की संख्या में इन्हीं की भर्ती होती है। युद्ध-देवता के समक्ष बलि चढ़ते हैं ये लोग, पर उसका प्रसादरूप पदवियाँ, उपाधियाँ तथा सनदें आदि प्राप्त होती हैं इनके स्वतःसिद्ध नेताओं को। जो युद्ध में मरने से बच जाते हैं उनके खेतों पर इज़ाफ़ा किया जाता है। युद्ध-ऋण अदा करने में क्या इन्हें भाग न लेना चाहिए। ख़ैर, अपनी मूर्खता के कारण ये बेचारे क़ायदे से शिकायत करना भी नहीं जानते। लोग समझते हैं कि देहात से बढ़कर स्वास्थ्यकारक, शान्तिमय जीवन कहीं नहीं है। यदि वे प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करें तो उनका यह भ्रम दूर हो जाय। इस समय ग्रामवासियों की अवस्था बहुत ही हीन है।

परन्तु दुखड़ा गाने से कोई विशेष लाभ नहीं। उपाय क्या है? आज-कल इस देश ही में नहीं, संसार भर में असन्तोष की धारा बह रही है। सभी उसके साथ बह रहे हैं। पुराने अत्याचार को स्मरण कराके लोग इस धारा को और भी प्रबल कर रहे हैं। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि यह हम को किधर ले जायगी। जो कुछ कष्ट है पेट का है। आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। जन-संख्या की भी वृद्धि हो रही है। परन्तु पृथ्वी से अन्न की उतनी उपज नहीं है। मनुष्य अपने बुद्धि-बल और मेहनत से उस कमी को अब तक पूरा करते आते थे। परन्तु जब से यह महा-युद्ध हुआ, लोग नाश करने ही में लगे हैं। युद्ध क़ानूनन समाप्त हो गया है, परन्तु अभी नाश करने का सिलसिला जारी है। तमाम योरप में अशान्ति है। एशिया में अशान्ति है और भारतवर्ष भी उससे बचा नहीं है। यहाँ भी असन्तोष बढ़ रहा है।

निस्सन्देह हमारी अनेक शिकायतें हैं। परन्तु क्या शिकायतें आन्दोलन करने से ही दूर हो जायँगी! हम मानते हैं कि बिना रोये बच्चे को मा भी दूध नहीं देती, परन्तु यह उक्ति पुराने समय की प्रजा के लिए चरितार्थ हो सकती थी। भविष्य में प्रजासत्ताक राज्य संसार भर में स्थापित हो जायगा। प्रजा की शिकायतों की दवा प्रजा ही के हाथ में है। स्वावलम्बन ही की आवश्यकता है। हमें चाहिए कि हम आन्दोलन की मात्रा को कम करें, भूमि की उपजाऊ शक्ति को बढ़ावें। शान्ति स्थापित कर हम अपनी उन्नति के लिए सचेष्ट हों। बुद्धि-बल और मेहनत से देश का दुःख-दरिद्र अवश्य दूर होगा।

सबसे पहले हम देहात ही की ओर झुकें, क्योंकि इस देश में इसी की उन्नति से भारत की उन्नति है। व्यवसाय चाहे जितने बढ़ें, परन्तु रहेगा यह देश कृषि-प्रधान ही। इसलिए शिक्षा-सम्बन्धी प्रयत्नों में देहात की प्रारम्भिक शिक्षा, व्यवसाय में खेती की उन्नति, तन्दुरुस्ती के लिए देहात की सफ़ाई और सङ्गठन के लिए देहाती पंचायतों और सहयोग-समितियों का प्रचार—यही बातें देहात की उन्नति के सम्बन्ध में हमारे लिए सर्वोपरि महत्त्व की हैं।

देहात में शिक्षा की यों ही बहुत कमी है। जो कुछ है भी वह देहातियों के मतलब की नहीं। वह सिर्फ़ पटवारी और स्कूल के मुदर्रिस तैयार करती है और उसमें अधिकांश उन्हीं देहातियों के बालक पढ़ते हैं जिनके घर में काफ़ी रुपया है या जिनकी केवल खेती ही से गुज़र-बसर नहीं होती। सामान्य खेतिहर अपने बालकों को इन मदरसों

तक फटकने नहीं देते, क्योंकि एक तो उनमें पढ़ाने से उनकी खेती में हर्ज होता है और दूसरे उनमें पढ़नेवाले युवक खेती के काम के नहीं रहते। जेठ की कड़ी धूप में थोड़ी भी देर तक खड़े रहने पर उनके सिर में दर्द होने लगता है।

देहात में शिक्षा का प्रधान उद्देश यह होना चाहिए कि वह खेतिहरों के बालकों के लिए उपयोगी हो। आज-कल देहाती मदरसों में पढ़ने का जो समय नियत है और उनमें लड़कों को जो छुट्टियाँ मिलती हैं वे किसानों के किसी काम की नहीं। उनके लिए जैसा इतवार वैसा सोमवार, उन्हें जून की गर्मी नहीं सताती। उनके लिए दस बजे से चार बजे तक स्कूल लगना हानिकारक ही है। उनके लिए न अँगरेज़ी छुट्टियों की आवश्यकता है न अँगरेज़ी दफ़्तरों के समय की। छुट्टी उनके बालकों को तब मिले जब किसानों को उनकी सहायता की आवश्यकता हो। मई जून में किसान स्वयं बेकार रहते हैं। इस बेकारी में या तो वे मुक़द्दमेबाज़ी करके पुरानी अदावतें निकालते हैं, या विवाह इत्यादि में ज़मीन्दार और बनिये से बची हुई रक़म फूँक कर भविष्य के लिए फिर ऋण की बेड़ियाँ पहन लेते हैं। इस समय को काम में लाने की आवश्यकता है। अतएव हमारा प्रस्ताव यह है कि देहाती बालकों की अधिकांश पढ़ाई इन्हीं दिनों में होनी चाहिए। अगस्त, सितम्बर, दिसम्बर और जनवरी इन महीनों में भी यदि सिँचाई या निकाई का काम न हो तो लड़कों को पढ़ने का समय मिल सकता है। प्रति दिन पढ़ने का समय साधारणतः देहातियों के लिए प्रातःकाल से दोपहर तक ही ठीक है। परन्तु उन्हें किसी नियम से जकड़ना ठीक नहीं है। प्रत्येक गाँव को अपने यहाँ के मदरसे के लिए छुट्टियाँ और प्रति दिन की पढ़ाई का समय निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिए। साल में कितने दिन की छुट्टियाँ मिलनी चाहिए तथा पाठ्य विषयों में कितनी योग्यता प्राप्त होनी चाहिए इसके निश्चय का अधिकार शिक्षा-विभाग ही के हाथों में रहे। आज-कल निरीक्षण का कार्य सरकार की तरफ़ से होता है। यह निरीक्षण कम कर दिया जाय और इसका कुछ भार गाँव पर रहे। इस परिवर्तन से विशेष लाभ की सम्भावना है।

पाठ्य विषयों में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। शिक्षा का यह उद्देश हो कि खेतिहर इतना पढ़ लिख जाय कि वे ज़िलेदारों, पटवारियों, और चौकीदारों के जाल से बच सकें। सरल भाषा में लिखी हुई अपने व्यवसाय की पुस्तकें पढ़ सकें। उनकी पाठ्य पुस्तकों में कहानी आदि द्वारा साफ़ तौर से उनको खेती तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी मोटा सिद्धान्त बता देना चाहिए। उदाहरणतः जोड़ बाक़ी सिखाने में उनके लिए पाउण्ड, शिलिङ्ग, पेन्स या टन, हन्ड्रेडवेट, और क्वार्टर की आवश्यकता नहीं है। उनके लिए रुपये, आने, पाई; मन, सेर, छटाँक; और बीघा, बिस्वा, बिस्वान्सी ही का ज्ञान बहुत है। तात्पर्य यह है कि इन मदरसों से निकल कर वे योग्य और सच्चे कृषक बन सकें।

शिक्षा तो उन्नति का मूल है ही। परन्तु जब तक शिक्षा का प्रचार न हो तब तक हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहना भी ठीक नहीं है। इस समय देहात में सफ़ाई न होने के कारण देहातियों का स्वास्थ्य दिन प्रति दिन बिगड़ता जा रहा है। किसी भी बीमारी से वे नहीं बचते। यहाँ तक कि अब गाँवों में यक्ष्मा-रोग का भी धावा होने लगा है। इस पर तुर्रा यह कि सफ़ाई न होने के कारण खेती को भी नुक़सान पहुँच रहा है। खेतिहरों को जूड़ी-बुख़ार का शिकार महीनों तक बने रहने के कारण खेती को जो हानि पहुँचती है वह प्रत्यक्ष ही है। उनकी रुग्णावस्था से परोक्षरूप में भी हानि पहुँचती है, खेतों को खाद तक ठीक नहीं मिलती। गाँव का मल-मूत्र वहीं का वहीं पड़ा रहने से और भी हानि

पहुँचाता है। उससे रत्ती भर का लाभ नहीं होता। कच्चे घरों में कच्ची नालियाँ हैं। जो कुछ घर से मल-मूत्र निकलता है सब ज़मीन ही में सूख जाता है, या घर के बाहर निकल कर कच्ची गली में सड़ा करता है। जो कुछ गोबर या कूड़ा-करकट होता है उसका ढेर मकानों के पास ही, तालाब या कुएँ के किनारे लगा दिया जाता है। यहाँ वह गर्मी की धूप खाता है और बरसात का पानी पीता है। जब वह अच्छी तरह जल और वायु को अशुद्ध कर चुकता है, जब वह पौधों के लिए भी कूड़ा ही रह जाता है, तब खेतिहर उसको खाद समझ कर खेत में छोड़ते हैं। देहाती इसी तरह खाद को भी बरबाद कर डालते हैं। नतीजा यह होता है कि प्रत्येक अच्छे बसे हुए गाँव के चारों ओर का वायु-मण्डल सदा दुर्गन्धिपूर्ण बना रहता है, और उस मल से खेती को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता क्योंकि वह भी धूप में सूख कर और पानी में घुल कर बेकार हो जाता है।

अब कुछ गाँवों में सरकार ने म्यूनीसिपेल्टियाँ क़ायम कर दी हैं। परन्तु जब तक उनके कर्मचारी और सदस्य देहात की सफ़ाई के सिद्धान्त न समझेंगे तब तक उनसे कुछ भी लाभ न होगा। उलटा ग़रीबों पर टेक्स ही का बोझ लदेगा। बात यह है कि ये नवीन म्यूनीसिपेल्टियाँ शहर का पाठ यहाँ भी पढ़ती हैं। शहर में पक्की गलियाँ और नालियाँ हैं, इसलिए यहाँ भी हों। शहर में सड़कें चौड़ी की जा रही हैं, नये बाग़ बन रहे हैं। इसलिए यहाँ भी गलियाँ चौड़ी की जायँ और बाग़ बनें; मानों गाँव में भी पक्की आलीशान इमारतें बनी हुई हैं और कृत्रिम बाग़ों की हवा खुले खेतों से अधिक शुद्ध होती है। फलतः एक बरसात के बाद पक्की नालियों और गलियों पर एक फुट मिट्टी जम जाती है और एक ही वर्ष में खेत और बाग़ एक हो जाते हैं।

गाँव की सफ़ाई के लिए दूसरे ही सिद्धान्तों का अनुसरण करने की आवश्यकता है। सफ़ाई का उद्देश स्वास्थ्य ही नहीं, अच्छी खाद तैयार करना भी, होना चाहिए। कच्चे घरों के लिए पक्की नालियाँ बेकार हैं। परन्तु यह हो सकता है कि प्रत्येक घर को गाँव की ओर से पक्के कूँड़े मिलें। एक में सूखा कूड़ा जमा किया जाय और दूसरे में द्रव मल-मूत्र। सप्ताह में कम से कम एक बार वह कूड़ा उठा लिया जाय और गाँव के बाहर, तालाब तथा कुँए से हट कर, तृण-मण्डित गढ़ों में जमा किया जाय। गढ़े एक से, अधिक जितने आवश्यक हों बनाये जा सकते हैं। जिस गढ़े की खाद तैयार हो जाय वह गाँव के नियमानुसार खेतिहरों के हाथ बेच दी जाय। इससे गाँव की म्यूनीसिपेल्टी का बहुत कुछ ख़र्च निकल आवेगा, गाँव साफ़ रहेगा और किसानों को अच्छी खाद भी मिल सकेगी।

खाद का बहुत कुछ मसाला जला कर नष्ट कर दिया जाता है। गोबर के कंडे बना कर जला दिये जाते हैं, पेड़ों से गिरी हुई पत्तियों को उनके नीचे ही जला देते हैं। राख भी खाद का काम दे सकती है; परन्तु गोबर और पत्तियों की खाद राख से कहीं अधिक पौधों के लिए उपयोगी होती है। यह नियम भी होना चाहिए कि यथासम्भव देहात में लकड़ी ही जलाई जाय। गोबर और पत्तियाँ खाद के काम में आवें। ये चीज़ें भी गढ़ों में जमा की जायँ और उसी तरह बाँटी जायँ।

कच्चे घरों के अन्दर पाख़ाने बनाना ठीक नहीं। देहातियों को मल त्याग करने के लिए गाँव के बाहर ही जाना अच्छा है। परन्तु प्रचलित प्रथा गन्दी होने के साथ ही साथ असभ्यता-सूचक भी है। इसलिए गाँव के बाहर टट्टी बनाने का प्रबन्ध होना चाहिए। कठिनाई वहीं होने की सम्भावन जहाँ काफ़ी डोम नहीं मिल सकेंगे।

शुद्ध जल रखना गाँव की सफ़ाई-विषयक दूसरा प्रश्न है, परन्तु यदि मल-मूत्र के हटाने का अच्छा प्रबन्ध हो सके तो जल शुद्ध रखना कुछ भी कठिन नहीं। कुओं की जगत ऊँची रक्खी जाय। और जल भरने के लिए एक ही डोल इस्तेमाल किया जाय। यह नहीं कि जो चाहे अपना बर्तन—साफ़ हो या गन्दा—कुएँ में डुबो दे। जहाँ तालाब हों वहाँ एक का पानी सिर्फ़ पीने के काम में लाया जाय। जूड़ी बुख़ार से देहातियों को बचाना अधिक कठिन है। यह काम सरकार ही द्वारा हो सकता है। परन्तु देहाती भी अपनी तरफ़ से उसके ज़ोर को कम करने की कोशिश कर सकते हैं। तालाब और गढ़े अधिक न हों। गहरे हों, चौड़े न हों। यदि अधिक हों तो पाटने के बनिस्बत उनको एक दूसरे से मिला कर दो या तीन छोटे परन्तु गहरे तालाब बना देना अधिक उपयोगी है। इससे मलेरिया के मच्छड़ों को जगह कम मिलेगी और बरसात का पानी भी जल्द नहीं सूखेगा।

यदि कृषक शिक्षित हों, उन्हें शुद्ध जल-वायु मिले, और उनका स्वास्थ्य ठीक रहे तो इतने ही से बहुत कुछ उन्नति हो सकती है। परन्तु कुछ बाधाएँ ऐसी आ पड़ती हैं जिनको कृषक अपने ही प्रयत्न से दूर नहीं कर सकते। उनमें से एक तो यह है कि आज-कल किसानों का उनके खेत बिखरे होने के कारण, बहुत कुछ समय और रुपया नष्ट होता है। इन खेतों का एकीकरण करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत मेहताजी ने प्रतापगढ़ में जो कर दिखाया है वह प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय है; और यदि हो सके तो क़ानूनन अनिवार्य करने योग्य है। एकीकरण करने में पहले कुछ असुविधाएँ कृषकों और उनके ज़मीन्दारों को झेलनी पड़ेंगी। परन्तु भावी लाभ के सामने वे कुछ भी नहीं हैं। दूसरी कठिनाई इज़ाफ़े और बेदख़ली की है। हम यह नहीं चाहते कि ज़मीन्दार इज़ाफ़ा न कर सकें। परन्तु यह देखते हुए कि ज़मीन्दारों ने अभी तक अपनी ज़मीन की उन्नति के लिए बहुत ही कम प्रयत्न किया है, यह अवश्य क़ानूनन तय हो जाना चाहिए कि काश्तकार बिना अपने ज़मीन्दार की आज्ञा के भी अपने खेत में उन्नति के कार्य कर सके; खेत के चारों तरफ़ झाड़ियाँ लगा कर घेर सके; कुआँ तथा मकान बना सके, अच्छी खाद तथा बीज से खेत की उपज बढ़ा सके। ज़मीन्दार सिर्फ़ अनाज के महँगे होने पर इज़ाफ़ा कर सके, बेदख़ल न कर सके, यदि करना चाहे तो जो कुछ काश्तकार ने उन्नति की है और जो कुछ बेदख़ल होने से उसको हानि पहुँचे—इन दोनों का अन्दाज़ा लगा कर एक मुश्त रक़म अपने काश्तकार को चुका दे तब ऐसा कर सके। अभी तो यह हालत है कि ज़मीन्दार महाशय को मोटर के ख़र्च और साहबों की दावत से रुपया ही नहीं बचता, खेती की उन्नति क्या करें। यदि किसान समझदार हुआ तो वह इस डर से कोई उन्नति नहीं करता कि उसका फल तो उसको मिलेगा ही नहीं।

विचार तो हो चुका। काम कौन करे? सरकार करे? ज़मीन्दार करें? या काश्तकार करें। उत्तम यह है कि सब करें। सरकार सिर्फ़ यह कर सकती है कि उन्नति के मार्ग में जो बाधायें हैं उन्हें हटा दे। एकीकरण के लिए क़ानून बना दे, रेन्ट ऐक्ट की तरमीम कर दे, सहयोग-समितियों के लिए एक नया विभाग क़ायम कर दे। शिक्षा के लिए क़ाफ़ी रक़म की मंज़ूरी दे दे। पञ्चायतों को स्थापित करने के लिए कलेक्टरों को हिदायत कर दे। बस, इसके आगे ज़मीन्दारों और काश्तकारों का काम है कि वे सरकारी क़ानूनों से लाभ उठावें और आपस के वैमनस्य को तिलाञ्जलि देकर देहात की उन्नति में एक दूसरे का हाथ बटावें। यदि इस कार्य-क्षेत्र में काश्तकारों के सच्चे

नेता कोई हो सकते हैं तो ज़मीन्दार ही । अभी उन में शिक्षा की कमी है। उन्हें अपने हानि-लाभ का ज्ञान नहीं। वे समझते हैं कि इज़ाफ़ा करके ही उनको लाभ पहुँच सकता है, उनकी आमदनी बढ़ सकती है। परन्तु आमदनी बढ़ाने का दूसरा ही मार्ग है जिसमें उनका लाभ है और उनके काश्तकारों का भी।

इस मार्ग के लिए सङ्गठन की आवश्यकता है। अकेले न काश्तकार कुछ कर सकते हैं, न ज़मींदार। दोनों के एक साथ मिल कर काम करने की ज़रूरत है। किसानों ने अपनी तरफ़ से अभी तक कोई प्रयत्न नहीं किया है। योरप में सहयोग-समितियों की सफलता देख कर सरकार ने यहाँ भी उनका प्रचार करने का निश्चय किया। जर्मनी में सहयोग-समितियों ने सरकारी विरोध होने पर भी उन्नति की। यहाँ सरकारी अफ़सरों के हज़ार प्रयत्न करने पर भी सहयोग देहाती बैंकों के आगे न बढ़ सका। सहयोग के लाभ किसान कुछ समझते ही नहीं। यहाँ सरकारी कोशिश है और जनता का विरोध। बनियों का विरोध तो कुछ समझ में आ सकता है। ज़मीन्दारों और काश्तकारों ने इसमें जोश से काम नहीं किया। नतीजा यह हुआ है कि बहुत कम ऐसे देहाती बैंक हैं जो अच्छी हालत में हों और जिनसे देहातियों को विशेष लाभ पहुँचा हो।

दूसरे मेल का सङ्गठन कुछ समय से प्रारम्भ हुआ है। उसमें दूसरों का हाथ है। जगह जगह किसान-सभाएँ क़ायम हो रही हैं। यह हम मानते हैं कि उनका ज़मीन्दारों की नीति के प्रति असन्तोष प्रकट करना और लगान-सम्बन्धी क़ानून की तरमीम के लिए आन्दोलन करना एक कर्तव्य है। परन्तु यहीं पर रुक जाना ठीक नहीं है। खेती, शिक्षा, तथा देहाती स्वास्थ्य की ओर उनका बिलकुल ध्यान ही नहीं है। यदि ये किसान-सभाएँ और उनके नेता देहात की उन्नति की ओर ध्यान दें तभी उनका होना सार्थक है।

हम किसान-सभाओं के विरोधी नहीं हैं, और हम विरोध करें भी तो वृथा है। जो नवजीवन की धारा हिमालय से रासकुमारी तक और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक अनेक रूपों में जातीय समुद्र की ओर बह रही है उसे कौन रोक सकता है? जो सच्चे देश-सेवक हैं वे जगह जगह बाँध बना कर और नहरें खोद कर उसको संहारकर्म से रोक सकते हैं। किसान-सभाएँ दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ें, सङ्गठित किसान यदि चाहें तो वे सरकारी तथा ज़मीन्दारी, अत्याचार को ही नहीं बन्द कर सकते, किन्तु वे सहयोग-समितियों के शुष्क पौधों को सींच सकते हैं और भावी पञ्चायतों में जीवन डाल सकते हैं। सहयोग-समितियों से कृषि-व्यवसाय की जो उन्नति हो सकती है उसका उल्लेख करने के लिए इस लेख में स्थान नहीं है। यहाँ इतना ही कहना बहुत होगा कि क़र्ज़ देना ही इनका काम नहीं है। ये कृषि-सम्बन्धी कामों में ही किसानों को लाभ नहीं पहुँचा सकतीं बरन् ये उनके उन व्यवसायों में भी सहायता दे सकती हैं जिनको किसान अपने अवकाश के समय कर सकें। जानवर पालना, सूत कातना, या कपड़ा बुनना—इन सब कामों में क्रमशः यह समितियाँ किसानों को सहायता दे सकती हैं। आवश्यकता है, सिर्फ़ प्रचार की।

पञ्चायतों के लिए जो क़ानून बना है वह दोष-रहित नहीं है। पञ्चों को चुनने का अधिकार सरकारी अफ़सरों के हाथों में होगा। यदि प्रारम्भ ही से गाँववालों को पञ्च चुनने का अधिकार मिलता तो अधिक अच्छा होता, परन्तु तो भी यह किसान-सभाओं का कर्तव्य है कि वे अपने गाँवों में पञ्चायतें क़ायम करने के लिए दरख़्वास्तें दें। अभी इनके अधिकार बहुत नहीं हैं।

छोटे झगड़े फ़ैसल करना, सफ़ाई और मदरसों की देख-भाल—यही अधिकार इनको मिले हैं। परन्तु कार्य प्रारम्भ करने के लिए यही बहुत हैं। सहयोग-समितियाँ कृषकों की व्यावसायिक उन्नति के लिए, और पञ्चायतें उनकी शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए एक दूसरे का साथ दें। किसान अपने पैरों के बल खड़े होना सीखें। परन्तु ज़मीन्दारों को बिना सम्मिलित किये हुए उन्हें जल्दी सफलता नहीं मिल सकती। चाहिए तो यही कि ज़मीन्दार ही इस ओर ध्यान देकर किसानों के सच्चे नेता बनें। यदि मूर्खता के अन्धकार में पड़े रह कर वे अभी तक यह नहीं कर सके हैं, तो जो इस समय किसानों के नेता हैं वही दोनों को एक साथ मिल कर काम करना सिखावें।

देहात की उन्नति में कोई विवादमय समस्या है ही नहीं। इसमें दलबन्दी की कोई आवश्यकता ही नहीं। राजनीति से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके लिए सभी एक दूसरे का हाथ बँटा सकते हैं, इस पवित्र क्षेत्र में किसान और ज़मीन्दार, सरकारी अफ़सर और ग़ैर सरकारी नेता, नरम दल, और गरम दल, सहयोगी और असहयोगी, सभी एक साथ मिल कर काम कर सकते हैं। इस देश के लिए यही स्वराज्य की प्रथम सीढ़ी है और यही उसका अन्तिम आदर्श है।

कालिदास कपूर

सन् १९२१ की मनुष्य-गणना।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से सूचित होता है कि इस देश में चन्द्रगुप्त के समय में भी मनुष्य-गणना होती थी। परन्तु वह ज़माना और तरह का था; आज-कल का ज़माना और तरह का। प्राचीन काल में मनुष्यों की संख्या स्थूल रूप से मालूम कर ली जाती रही होगी; उससे वे सब बातें न मालूम की जाती होंगी जो आज-कल मालूम की जाती हैं। मनुष्य-गणना-सम्बन्धी जो नक़शे आज-कल तैयार किये जाते हैं उनकी ख़ानापुरी सही सही करने से प्रत्येक सूबे, नगर और क़सबे की ही मनुष्य-संख्या नहीं ज्ञात हो जाती, किन्तु छोटे छोटे गाँवों की भी मनुष्य-संख्या मालूम हो जाती है। कितने नर और कितनी नारियाँ कहाँ रहती हैं, उनकी उम्र क्या है, उनका पेशा क्या है, वे अशिक्षित हैं या शिक्षित, शिक्षित हैं तो किस विषय की शिक्षा उन्होंने पाई है, भाषायें और लिपियाँ कौन कौन सी वे जानते हैं—इत्यादि अनेक ज्ञातव्य बातें मनुष्य-गणना के नक़शों से ज्ञात हो जाती हैं। इन नक़शों के अध्ययन से देश की वास्तविक दशा का चित्र आँखों के सामने आजाता है। ये नक़शे आईने का काम देते हैं। पिछली मनुष्य-गणना से मनुष्य-संख्या में वृद्धि हुई या ह्रास, यह तो मालूम ही हो जाता है; ह्रास और वृद्धि के कारणों पर विचार करने के लिए भी सामग्री मिल जाती है। उससे ह्रास के कारणों को दूर करने के उपाय भी निकाले जा सकते हैं। ये सब बातें बड़े लाभ की हैं। राजपुरुषों और राजकर्म्मचारियों के लिए मनुष्य-गणना का फल जानना और उससे लाभ उठाना तो अनिवार्य्य ही सा है। सर्व-साधारण को भी उससे जानकारी प्राप्त करना चाहिए। जो लोग देश-हित-चिन्तक हैं—जो लोग प्रजा के नायक बन कर उसकी भलाई करने के व्रत के व्रती हैं—वे चाहें तो मनुष्य-गणना के आधार पर बहुत कुछ देश-हित कर सकते हैं।

मनुष्य-गणना के महत्त्व के कारण ही अँगरेज़ी गवर्नमेंट हर दसवें साल भारत में रहनेवाले मनुष्यों की गिनती करके उनकी वृद्धि या ह्रास का पता लगाती है। फिर वह उनके आधार पर बड़ी बड़ी रिपोर्टें तैयार करके भिन्न भिन्न बातों पर विचार करती है। उनको देखने से देश की दशा का सच्चा हाल मालूम हो जाता है। इन रिपोर्टों के अनेक अंशों को सरकारी कर्म्मचारी जिस दृष्टि से देखते हैं, प्रजा के प्रतिनिधि उस दृष्टि से नहीं देखते। इन दोनों पक्षों की दृष्टियों में भिन्नता रहती है। एक उदाहरण लीजिए। कल्पना कीजिए कि १९११

की अपेक्षा १९२१ की गणना से यह मालूम हुआ कि संयुक्त-प्रान्तों की आबादी में १३ लाख आदमियों की कमी हो गई। इस कमी का कारण बताते हुए सरकारी रिपोर्ट का लेखक बहुत होगा तो यही कहेगा कि अकाल (अवर्षण) या किसी रोग-विशेष के कारण बहुत नर-नाश हुआ—जितने बच्चे उत्पन्न हुए उनकी अपेक्षा मरे अधिक मनुष्य। इसी से आबादी कम हो गई। पर प्रजा के प्रतिनिधि यदि इस घटना की आलोचना करेंगे तो ह्रास के कारणों पर विचार करते समय सरकार को उसके कर्तव्य की भी याद दिलाये बिना न रहेंगे। वे कहेंगे—जिस प्रजा के आप माँ-बाप बनते हैं और जिससे प्राप्त हुए रुपये की बदौलत बड़े बड़े राजकर्म्मचारी गुलछर्रे उड़ाते हैं उसके हित के लिए आपने अपने धर्म्म का पूर्ण पालन क्यों नहीं किया। जिन मारक रोगों के कारण इतना जन-नाश हुआ उन्हें दूर करने के लिए आपने उपाय क्यों नहीं किये? और किये भी तो काफ़ी क्यों नहीं किये? मारक रोगों का आविर्भाव क्या अन्य देशों में नहीं होता? वहाँ इतने मनुष्य क्यों नहीं मरते? इसी लिए न कि वहाँ की सरकार सफ़ाई और तन्दुरुस्ती का अधिक ख़याल रखती है, चिकित्सा का प्रबन्ध अधिक अच्छा करती है, मनुष्य-संख्या के अनुसार ही दवाख़ाने क़ायम करती और उन्हें बढ़ाती रहती है? आपने ये सब काम यथेष्ट नहीं किये। इसी से इतने अधिक आदमी मर गये। अतएव इस व्यर्थ नर-नाश के उत्तरदाता आपही हैं। अस्तु।

पिछली मनुष्य-गणना १८ मार्च १९२१ को हुई थी। उसकी आलोचनात्मक पूरी रिपोर्ट निकलने में तो बरसों की देरी है। पर कच्चा चिट्ठा तैयार होगया है और सरकार की कृपा से गैज़ट आव् इंडिया में छप भी गया है। उससे मालूम हुआ कि जिस दिन—दिन क्यों रात को—आदमियों की गिनती हुई थी उस दिन इस देश की आबादी ३१, ९०, ७५, १३२ थी। अर्थात्

अँगरेज़ी शासन के अधीन भारत में २४,७१,३८,३९६

और

देशी राज्यों और रियासतों में ७,१९,३६,७३६ मनुष्य

थे। दस वर्ष पहले, १९११ में, जब मनुष्य-गणना हुई थी तब

गवर्नमेंट-शासित भारत की आबादी थी २४,३९,३३,१७८

और

देशी राज्यों की थी ७,१२,२३,२१८

कुल भारत की ३१,५१,५६,३९६

अर्थात् पिछले दस साल में केवल ३९ लाख आदमियों की वृद्धि हुई। इसका औसत पड़ा फ़ी सदी १.२ अर्थात् सैकड़े पीछे सवा आदमी से भी कम वृद्धि हुई। पर १९११ ईसवी में जब मनुष्य-गणना हुई थी तब १९०१ और १९११ के बीच २ करोड़ से भी अधिक आबादी बढ़ी थी। उस वृद्धि का औसत पड़ा था फ़ी सदी ६.५। कहाँ सैकड़े पीछे ६½, कहाँ एक या सवा! सो पिछले क्रम के अनुसार आबादी का बढ़ना तो दूर रहा, फ़ी सदी ५ से भी अधिक वह कम हो गई—कोई डेढ़ करोड़ से भी अधिक आदमी हिसाब से ज़ियादह मर मिटे। वृद्धि का जो औसत १९११ की मनुष्य-गणना में पड़ा था वही यदि इस बार भी पड़ता तो कई करोड़ आबादी और बढ़ जाती। पर यहाँ तो घर के धान भी पयाल में चले गये। पिछली वृद्धि से इस दफ़े, १० साल में, अधिक वृद्धि होनी चाहिए थी; सो न होकर उस पिछली वृद्धि का भी औसत घट गया! इसे इस देश का दुर्भाग्य कहें या उस गवर्नमेंट का दुर्भाग्य जो अपने को संसार में सभ्यशिरोमणि समझती है और मौक़े बेमौक़े सदा ही कहा करती है कि उसे भारत के अशिक्षित, अध-भुखे या मरभुखे मनुष्यों के सुख-दुख का ख़याल और सबसे अधिक है।

आबादी में इतनी कमी कैसे हुई, इसके कारण सुनिए। सरकार फ़रमाती है कि—

पिछले दस साल के मध्य तक फ़सल अच्छी हुई। बारिश भी ख़ासी हुई। कोई रोग-दोख भी वैसे नहीं हुए। अतएव प्रजा-वृद्धि के प्रायः सभी सामान काफ़ी थे। उसी से १९१३ ईसवी में ख़ूब बच्चे पैदा हुए और मृत्यु-संख्या भी कम ही रही। पर १९१८ में इनफ़्लुएंज़ा ने ग़ज़ब ढा दिया। मृत्यु-संख्या पिछले साल से दूनी होगई। १९१८ के कुछ ही महीनों में सिर्फ़ ब्रिटिश गवर्नमेंट के शासित प्रदेशों में

७०लाख आदमियों के लिए लोगों को "राम-नाम सत्य है"—इस वाक्य का उच्चारण करना पड़ा। इस मारक रोग के कारण प्रजा की जनन-शक्ति भी कम हो गई। फल यह हुआ कि १९१८ और १९१९ में जितने आदमी मरे उससे बहुत कम पैदा हुए। १९१७ और १९१८ में प्लेग ने भी बहुत कुछ जन-नाश किया। हैज़े ने भी बहुतों को यमपुरी को पधराया। दाद में खाज यह हुई कि पिछले वर्षों में, जहाँ तहाँ अवर्षण ने भी भारत पर भारी कृपा की। इसी से भारत की मनुष्य-संख्या बढ़ने के बदले बहुत कुछ घट गई। इसे जी चाहे दैवदुर्विपाक समझिए; जी चाहे भारत का दुर्भाग्य। जगन्नियन्ता को यही मंज़ूर था। प्लेग, इनफ़्लुएंज़ा और अवर्षण दैवी-दुर्घटनायें हैं। उन्हें दूर करना मनुष्य के वश की बात नहीं।

सरकार ने ये पिछली बातें यद्यपि खुले शब्दों में नहीं कहीं, तथापि उसके लिखने के ढङ्ग से यही जान पड़ता है कि मारक रोगों और अवर्षणों की मार से प्रजा की यथेष्ट रक्षा कर सकना उसकी शक्ति के बाहर की बात है।

अच्छा तो ये दैवोपघात, दुर्घटनायें और रोग-दोख आदिक व्याधियाँ और देशों को भी सताती हैं या नहीं? इनका अवतार या आविष्कार केवल भारत ही के लिए तो है नहीं। और देशों में भी पानी नहीं बरसता। वहाँ भी प्लेग, हैज़ा, बुख़ार, इनफ़्लुएंज़ा आदि रोग प्रजापीड़न करते हैं। फिर क्या कारण है जो वहाँ के लोग ख़ूब फूल फल रहे हैं; ख़ूब बढ़ रहे हैं; ख़ूब अपनी उन्नति कर रहे हैं? अँगरेज़ों ही के देश इँग्लेंड और वेल्स में, १९११ ईसवी में, जन-संख्या की वृद्धि लगभग ११ फ़ी सदी के हिसाब से हुई थी। वृद्धि का यह क्रम बहुत कम था—१८४१ ईसवी से लेकर १९११ तक इतनी कम वृद्धि कभी न हुई थी। तथापि भारत की फ़ी सदी ६-५ वृद्धि से वह भी कुछ कम दूनी थी! यदि ये सब व्याधियाँ ईश्वर-निर्म्मित मान ली जायँ तो इँग्लेंड और भारत के ईश्वर अलग अलग दो तो हैं ही नहीं। वही ईश्वर वहाँ है, वही यहाँ। भारत में सब प्रकार की खाद्य-सामग्री उत्पन्न होती या हो सकती है। खनिज पदार्थ भी यहाँ अधिकता से पाये जाते हैं। नदियाँ भी अनेक हैं। अधिवासी यहाँ के परिश्रमी और समझदार हैं। फिर क्या कारण कि यहीं के लोग मरें तो अधिक, पर पैदा हों कम। बात यह जान पड़ती है कि गवर्नमेंट प्रजा की रक्षा करने, उसके लिए तन्दुरुस्ती क़ायम रखने के यथेष्ट साधन प्रस्तुत करने, और अवर्षण के साथ आबपाशी के कृत्रिम द्वार खोलने का काफ़ी प्रयत्न नहीं करती। जहाँ दस दस पन्द्रह पन्द्रह कोस तक एक भी सरकारी शफ़ाख़ाना नहीं वहाँ हैज़ा या इनफ़्लुएंज़ा फैल जाने पर लोग यदि धड़ाधड़ मरते चले जायँ तो क्या आश्चर्य्य। यह दशा और देशों में नहीं। इसी से पूर्व-निर्दिष्ट कारण या व्याधियाँ उपस्थित होने पर भी वहाँ इतना नर-नाश नहीं होता। वहाँ २४ घंटे में सबके पेट कम से कम २ दफ़े—अधिकांश के ३ दफ़े—भर जाते हैं। यहाँ, भारत में, करोड़ों आदमियों को दिन में एक दफ़े भी पेट भर खाने को नहीं मिलता। इससे वे अशक्त रहते हैं; रोग के साधारण धक्के से भी मर जाते हैं; प्रजोत्पादन की शक्ति भी वे कम रखते हैं। राजा का कर्तव्य है कि वह इन कारणों को दूर करने का यथेष्ट यत्न करे। क्योंकि अपनी रक्षा ही के लिए प्रजा उसे कर देती है। उसके दिये हुए कर-धन का अधिकांश फ़ौज-फाटा रखने और रेलें बनाने में ही खर्च कर डालना, राजा का प्रधान कर्तव्य नहीं। प्रधान कर्तव्य उसका है प्रजा को नीरोग रखना, बीमार पड़ने पर उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध करना, पानी न बरसने पर सिँचाई के साधन प्रस्तुत करना, भूखों को पेट पालने के द्वार उन्मुक्त करना और अशिक्षितों को शिक्षा देना। यदि ये सब बातें होतीं तो भारत की आबादी बहुत बढ़ जाती, रोगों से इतना मनुष्य-नाश न होता, और यहाँ के निवासी भी और देशों की तरह खुशहाल होते।

इस दफ़े की मनुष्य-गणना से मालूम हुआ कि ३१,९०,७५,१३२ मनुष्यों में १६,४०,५६,१९१ तो पुरुष-जाति के हैं और बाक़ी १५,५०,१८,९४१ स्त्री-जाति के। अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं। सूबे बिहार और मदरास को छोड़ कर और सभी प्रान्तों का यही हाल है। इन दो प्रान्तों में तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक हैं; अन्यत्र सब कहीं कम। यह कमी विचार करने योग्य है। सारे देश में प्रायः १ करोड़ स्त्रियाँ कम हैं। स्त्रियों की संख्या में

विशेष कमी हो जाने से फ़िजी-टापू की तरह कितना अनिष्ट हो सकता है और कितने अपराध और पाप हो सकते हैं, यह कौन नहीं जानता। किसी किसी प्रान्त में यह विषमता बहुत ही बढ़ गई है। उदाहरण के लिए पञ्जाब को लीजिए। वहाँ पुरुषों की अपेक्षा २० लाख के भी ऊपर स्त्रियाँ कम हैं। यह विषमता भावी अनिष्ट की सूचक है। देखिए, गवर्नमेंट अपनी रिपोर्ट में इस ह्रास या कमी का क्या कारण बताती है।

नीचे हम प्रत्येक प्रान्त की जन-संख्या देते हैं और यह भी बताते हैं कि आबादी में कितना ह्रास या कितनी वृद्धि हुई है—

प्रान्त	जन-संख्या	वृद्धि + / ह्रास — } फ़ी सदी
१—अजमेर-मेरवारा	४,९५,८९९	— १·१
२—अंडमन और नीकोबार	२६,८३३	+ १·४
३—आसाम	७५,९८,८६१	+ १३·२
४—बलूचिस्तान	४,२१,६७९	+ १·८
५—बङ्गाल	४,६६,५३,१७७	+ २·६
६—बिहार और उड़ीसा	३,३९,९८,७७८	— १·४
७—बम्बई	१,९३,३८,५८६	— १·८
८—ब्रह्मदेश	१,३२,०५,५६४	+ ९·०
९—मध्यप्रदेश और बरार	१,३९,०८,५१४	— ·१
१०—कुर्ग	१,६४,४५९	— ६·०
११— देहली	४,८६, ७४१	+ १७·७
१२—मदरास	४,२३,२२,२७०	+ २·२
१३—पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त	२२, ४७, ९९६	+ २·३
१४—पञ्जाब	२,०६,७८,३९३	+ ५·६
१५—संयुक्त-प्रान्त	४,५५,९०,९४६	—२·६

अकेले बङ्गाल को छोड़ कर अपने प्रान्त की आबादी और सभी प्रान्तों से अधिक है। पर बङ्गाल में तो २½ फ़ी सदी के क़रीब जन-संख्या में वृद्धि हुई; पर अपने प्रान्त में ठीक उतनी ही कमी हो गई! बङ्गाल के निवासी अधिक सुशिक्षित हैं और उनकी आमदनी भी शायद अधिक है। अपने प्रान्त में ये बातें नहीं। बीमार होने पर चिकित्सा का भी यथेष्ट प्रबन्ध नहीं। भूखे और निर्धन मनुष्य रोगों का अधिक शिकार ज़रूर ही होते हैं। आश्चर्य्य नहीं जो यहाँ इतने मनुष्य कम होगये। अगर यह प्रान्त बङ्गाल की अपेक्षा अधिक कर देता हो अथवा उससे बहुत कम न देता हो तो यह इस प्रान्त का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए जो उसकी रक्षा का ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं किया गया। क्योंकि मौत से बचाने के जो साधन मनुष्य के हाथ में हैं उनसे यदि पूरे तौर पर काम लिया जाता तो बहुत सम्भव था कि इतना नर-नाश न होता।

अच्छा, अब अपने प्रान्त के ज़िलों का हाल देखिए। प्रत्येक ज़िले की आबादी न देकर हम केवल प्रत्येक कमिश्नरी ही की आबादी नीचे देते हैं—

कमिश्नरी	आबादी	फ़ी सदी वृद्धि + या ह्रास—
१—मेरठ	४७,१०,६७५	+ १·८
२—आगरा	४१,८३,७१४	—७·३
३—रुहेलखण्ड	५१,९७,३८५	—८·०
४—इलाहाबाद	४७,९१,९५७	—३·१
५—झाँसी	२०,६५,७६२	—६·४
६—बनारस	४४,४८,५८४	कमी हुई पर ·१ से भी कम
७—गोरखपुर	६७,२९,१२२	+ ३·१
८—कमायूँ	१२,९३,४३९	—२·७
९—लखनऊ	५५,७०,८४३	—५·८
१०—फ़ैज़ाबाद	६५,९९,४६५	— ·७

सिर्फ़ मेरठ और गोरखपुर की कमिश्नरियों को छोड़ कर और सब कहीं ह्रास, ह्रास, ह्रास! किसी किसी ज़िले में तो फ़ी सदी ८, ९, १०, ११ और १४ तक मनुष्य-संख्या घट गई! बढ़ी है मेरठ में १३ फ़ी सदी, बस्ती में ५ फ़ी सदी, गोरखपुर में २ फ़ी सदी और देहरादून में ३ फ़ी सदी। कुछ ही ज़िले और हैं जिनमें कुछ थोड़ी थोड़ी वृद्धि हुई है। और कहीं नहीं। सरकारी नक़शे में जहाँ देखो वहीं ऋण का चिह्न (—) लगा हुआ है। यदि मनुष्य-गणना से भी किसी देश, प्रान्त या ज़िले के पतन या उत्थान, सुख-समृद्धि या दीनता का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है तो अपने प्रान्त की बहुत कुछ सच्ची स्थिति का पता लगाने के

लिए पिछली मनुष्य-गणना के नक्शों में काफ़ी सामग्री विद्यमान है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विशद विचार।

(१)

गृही हैं नहीं त्यों न हैं ब्रह्मचारी।
हमें जानिए जन्म-भू का पुजारी॥
न द्वेषी किसी के न प्रेमी किसी के।
बने हैं सदा सत्य-नेमी उसी के॥

(२)

हमें शिष्ट है इष्ट भी देश ही का।
हमें क्लेश देखा न जाता मही का॥
यहीं जन्म लेंगे, यहीं प्राण देंगे।
कभी भी खलों को नहीं त्राण देंगे॥

(३)

नहीं प्रेम है दुर्जनों से हमारा।
हमें है मिला धर्म का तत्त्व न्यारा।
उसी में बनी प्रीति है, भीति क्या है?
यही नीति है, दूसरी रीति क्या है?॥

(४)

स्वयं धर्म के युद्ध से शुद्ध होंगे।
हुए रुद्ध हैं, क्यों नहीं क्रुद्ध होंगे॥
दबेंगे नहीं दानवों के दबाये।
भगेंगे नहीं काल भी क्यों न आये॥

(५)

धनी सत्य के सत्त्व के स्वत्व के हैं।
सुधी धर्म के कर्म के तत्त्व के हैं॥
खलों के बलों से छलों से जले हैं।
टलें क्यों भली नीति-पैंड़ी चले हैं॥

(६)

नहीं श्रान्त हैं शान्त हैं दान्त भी हैं।
दुराचारियों से दुराक्रान्त भी हैं॥
न भूले अभी किन्तु स्वाधीनता को।
दिखाते नहीं हैं कभी दीनता को॥

(७)

सदा धर्म की नीति को मानते हैं।
सदा कर्म की रीति को जानते हैं॥
किसी भाँति हो देश की हो भलाई।
मुरें क्यों, न चाहें किसी की बुराई॥

(८)

न दो तीन हैं आर्य मुस्लिम् इसाई।
सभी एक हैं मित्र हैं धर्म-भाई॥
मिले मेल से एक हो के रहेंगे।
हरेंगे मही-दुःख, सच्ची कहेंगे॥

(९)

न अन्याय के नाम लेते, न लेंगे।
स्वयं स्वत्व को भी न देते, न देंगे॥
चलेंगे सदा धर्म से नीति से ही।
बढ़ेंगे सदा कर्म से प्रीति से ही॥

(१०)

दुखी हैं दुखा ले हमें जो बली हो।
हमें लूट ले छद्म से जो छली हो॥
हटेंगे नहीं किन्तु पीछे कभी भी।
गई शक्ति है क्या हमारी अभी भी?॥

(११)

हमारा हमें देश प्यारा रहेगा।
सदा ईश का ही सहारा रहेगा॥
भला नीच को उच्च क्यों मान लेंगे?
न मानी कभी मान को छोड़ देंगे॥

(१२)

नहीं इष्ट है जो उसे क्यों कहेंगे?
सहें क्यों अवज्ञा, न मौनी रहेंगे॥
करेंगे उसे ही कहेंगे जिसी को।
सुधी मान लें क्यों वनैले किसी को?॥

रामचरित उपाध्याय

अरबी-भाषा का सर्वश्रेष्ठ कवि ।

अरबी-साहित्य में सबसे ऊँचा पद कविवर मुतनब्बी को मिला है। मुतनब्बी का असली नाम अबू तैयब था। उसके पिता का नाम हसैन था। कुछ लोगों का कथन है कि वह एक साधारण भिश्ती था। कूफ़ा में लोगों को पानी पिलाया करता था जहाँ से वह अपने पुत्र को अपने साथ लेकर शाम-देश चला गया। मुतनब्बी ने शाम-देश में खूब भ्रमण किया। यहीं उसे शिक्षा दी गई। वह अपने समय का अद्वितीय विद्वान् हुआ। उसने कविता-रचना में भी निपुणता प्राप्त की।

अबू तैयब का नाम मुतनब्बी इस कारण हो गया था कि उसने नबी अर्थात् ईश्वरी-दूत होने का दावा किया था। तदनुसार बहुत से लोग उसके अनुयायी हो गये थे। परन्तु मुसलमान धर्म में इस प्रकार का दावा गुनाह समझा जाता है, अतएव नबी बनने के अपराध में मुतनब्बी पकड़ा जाकर कारागार में डाल दिया गया। जब उसने पश्चात्ताप किया तब वह मुक्त कर दिया गया। कुछ लोग मुतनब्बी शब्द की व्याख्या और प्रकार से करते हैं। एक लेखक का कथन है कि मुतनब्बी ने कविता में नबी होने का दावा किया था। पर सुप्रसिद्ध लेखक इब्न खालकान इस कथन को ठीक नहीं समझते। उनका मत यह है कि उसने ईश्वरी-दूत होने का दावा किया था।

कारागार से मुक्त होने के पश्चात् मुतनब्बी अमीर सैफ़ुद्दौलः के दरबार में आया। वह वहाँ पर्याप्त समय तक मौजूद रहा। उसने अमीर की प्रशंसा में अनेक पद्य कहे। अमीर बड़ा विद्याप्रेमी था। उसने मुतनब्बी को खूब पुरस्कार दिया। अमीर की परिषद् में प्रत्येक रात विद्वान् लोग उपस्थित होकर परस्पर विद्या की चर्चा किया करते थे। एक बार वैयाकरण इब्नखालबैह और मुतनब्बी में बातें हो रही थीं। इब्नखालबैह महोदय किसी बात पर बिगड़ गये। उन्होंने मुतनब्बी को एक तमाचा मारा। वैयाकरण महोदय के हाथ में कुञ्जी थी। वह मुतनब्बी के मुँह पर ऐसी लगी कि रक्त की धारा बह निकली। सारे कपड़े रक्त से भीग गये। तब मुतनब्बी रुष्ट होकर वहाँ से चला गया।

अमीर सैफ़ुद्दौलः का आश्रय त्याग कर मुतनब्बी ने मिस्र-देश की यात्रा की। उस समय वहाँ काफ़ूर नाम का बादशाह शासन करता था। काफ़ूर ने उसकी बड़ी इज़्ज़त की। उसने काफ़ूर की प्रशंसा में अच्छे अच्छे पद्य कहे हैं। कहा जाता है कि मुतनब्बी जब बादशाह काफ़ूर के सम्मुख खड़ा हुआ करता था तब उसके दोनों पैरों में मोज़े होते थे। कमर में तलवार लटकती थी और पटका बँधा रहता था। उसके दो दास भी पटके बाँधे और तलवारें लगाये उसके पीछे खड़े रहते थे। लोगों का यह भी कहना है कि मुतनब्बी किसी प्रान्त का प्रधान कर्मचारी बनना चाहता था। काफ़ूर ने उसे वचन भी दे दिया था, किन्तु जब उसने देखा कि मुतनब्बी बड़ा दिलचला और चतुर है तब उसका विचार बदल गया। क्योंकि उसको इस बात का भय हुआ कि कहीं बाद को यह महत्त्वाकांक्षी कवि विद्रोही न हो जाय और राज्य को हानि पहुँचावे। जब मुतनब्बी ने अपनी दाल गलती न देखी तब वह काफ़ूर से नाराज़ हो गया और उसने उसकी बड़ी निन्दा की। इसके बाद वह वहाँ से भी भागा। काफ़ूर ने उसको पकड़ने की कोशिश की पर वह उसके हाथ न आया।

काफ़ूर की असत्यता, उसकी निन्दा और अपने भागने का हाल मुतनब्बी ने पद्यों में कहा है। कुछ पद्यों का अनुवाद इस तरह है—

प्रत्येक मनुष्य अपने कथन को पूरा कर दिखानेवाला नहीं होता । और अत्याचार को सहनेवाला प्रत्येक पुरुष नहीं हुआ करता ।

प्रत्येक दिल के लिए एक शस्त्र होता है और एक ऐसा दृढ़ व्रत होता है जो कि सख़्त सख़्त पत्थर को भी चीर देता है ।

जिस मनुष्य का हृदय मेरे हृदय के समान होगा वह नाना प्रकार की आपदाओं को झेल कर भी प्रतिष्ठा का पद प्राप्त करेगा ।

मनुष्य चाहे जैसे मार्ग पर चले प्रत्येक अवसर पर उसके पैर के अनुसार ही उसका पग पड़ता है जिस रात को मैंने मिस्र छोड़ा उस रात वह तुच्छ दास काफ़ूर * सो गया । परन्तु मेरी ओर से वह पहले भी अन्धेपन की निद्रा में था ।

मैं उसके निकट अवश्यमेव था परन्तु मेरे और उसके बीच अज्ञानता और अन्धेपन के जङ्गल थे ।

इस ख़्वाजा को देखने से पहले मैं समझता था कि बुद्धि के रहने का स्थान सिर है । परन्तु अब मुझे मालूम हुआ है कि मैं भ्रम में था ।

मिस्र से भाग कर मुतनब्बी फ़ारस पहुँचा । वहाँ उसने अज़ुदुद्दौलः दैलमी की प्रशंसा में पद्य कहे । तदनुसार उसे पुरस्कार भी ख़ूब मिला । बाद को वह बग़दाद पहुँचा । परन्तु जब वह बग़दाद से कूफ़ा को वापस आ रहा था तब मार्ग में फ़ातिक ने मुतनब्बी और उसके साथियों पर आक्रमण किया । दोनों ओर से घोर युद्ध हुआ । मुतनब्बी और उसका पुत्र दोनों इस लड़ाई में मारे गये । इस तरह अरब देश का यह सर्वश्रेष्ठ कवि वीरगति को प्राप्त हुआ ।

मौलाना इब्न रशीक़ साहब अपनी पुस्तक 'अमदः' में लिखते हैं कि जब मुतनब्बी ने शत्रुओं का पलड़ा भारी देखा तब उसने भागने का विचार किया । परन्तु उसके एक दास ने कहा कि आपको युद्धभूमि का त्याग करना उचित नहीं है । लोग आपकी हँसी करेंगे क्योंकि आपही ने कहा है—

فالخيل والليل والبيداء تعرفني -
والسيف والزبح والقرطاس والقلم -

फ़िलख़ैल व लैल व बैदाव तार्रिफ़ोनी
वस्सैफ़ वज़्ज़ुबह व अलक़रतास व लक़लम् ।

भावार्थ—सवार, रात, जंगल, तलवार, भाले, काग़ज़ और क़लम सबके सब मुझे पहचानते हैं । यदि भाग कर छिपूँ तो कहाँ छिप सकता हूँ ।

यह सुन कर मुतनब्बी ने धैर्य्य धारण किया । उसने शत्रु पर फिर आक्रमण किया । परन्तु इस बार के धावे में वह मारा गया । इससे ज्ञात होता है कि मुतनब्बी की मृत्यु का कारण उसका पद्य ही हुआ । यदि उसको उस पद्य की याद न दिलाई जाती तो वह भाग कर बच जाता । यह दुर्घटना सन् ३५४ हिजरी के रमज़ान के महीने में हुई थी । वह लगभग ३०३ हिजरी में पैदा हुआ था । उसके शोक में विलाप करते हुए कविवर अबुल क़ासिम मुज़फ़्फ़र ने कहा है:—

लोगों ने मुतनब्बी के समान किसी को न देखा । जो संसार में एकही हो उसके समान भला दूसरा कहाँ मिल सकता है ।

अरबी के जो कवि ख़ास अरब के निवासी थे और जिन्होंने केवल अरब के ही जल-वायु में रह कर अपना जीवन व्यतीत किया है उनके विचार प्रायः बहुत ही सीधे-सादे हैं । पर अरबी-भाषा के जो कवि अरब के निवासी नहीं हैं उनके विचारों में सीधे-सादेपन के सिवा टेढ़ापन भी है । अरबी भाषा के प्रत्येक विदेशी कवि के सामने यह बड़ी कठिन समस्या आ खड़ी होती है कि वह अपने भावों को उसी प्रकार प्रकट करे जिस प्रकार शुद्ध अरबी-कवि प्रकट कर चुके हैं । परन्तु मुतनब्बी ने अपनी रचना में दोनों बातें अदा की हैं । मुख्यतः इसी

* काफ़ूर पहले एक तुच्छ दास था । बाद को बादशाह बन गया था ।

कारण अनेक लोग मुतनब्बी को सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं। मुतनब्बी के कुछ चुने हुए पद्यों का भावार्थ, पाठकों के मनोरञ्जनार्थ हम आगे देते हैं:—

जब कि प्रिय सुन्दरी अपनी प्रतिज्ञा को भङ्ग करती है तब यह समझ लेना चाहिए कि वास्तव में उसकी प्रतिज्ञाओं में ही एक प्रतिज्ञा यह भी रहती है कि उसकी कोई प्रतिज्ञा पूर्ण न हो ॥१॥

निस्सन्देह जब मैं कोई व्रत धारण करता हूँ तब दूर की भी वस्तु मेरे निकट हो जाती है और दुस्तर कार्य्य सुगम हो जाता है ॥२॥

किसी सुन्दरी की सुघर ग्रीवा तथा कटाक्षों का दास मैं तो था ही अब कालचक्र ने मेरे हृदय और देह में कुछ भी बाक़ी नहीं छोड़ा ॥ ३ ॥

यदि मृत्यु का संसर्ग न होता तो वीरता, पुण्य और धीरता का महत्त्व संसार में मालूम ही न हो सकता ॥ ४ ॥

मित्ररूप शत्रुओं के लिए तू मृत्यु के समान रह। मृत्यु उस पर भी दया नहीं करती जो उससे भयभीत रहता है इसके सिवा वह उसके रक्त से अपनी प्यास बुझाती है। और इतने पर भी सारे मनुष्यों के ख़ून की प्यासी ही रहती है ॥५॥

जब तू सिंह के दाँतों को खुला हुआ देखे तब यह न समझ ले कि वह हँस रहा है ॥६॥

मेरे मित्र का घर यद्यपि दूर था तथापि मैं जानबूझ कर उसके घर गया। क्योंकि मित्र वही है जो दूर होने पर भी मिलता रहता है ॥७॥

यदि कोई मनुष्य पूर्ण रीति से उपकार न करे तो उपकार का न करना ही उसके लिए अति उत्तम है ॥ ८ ॥

यदि मेरा कुछ नुक़सान हो जाय तो मैं इसे बुरा नहीं समझता। मैं तो बुरा उसे समझता हूँ कि कहीं नुक़सान के भय से मुझे किसी घमण्डी का मुँह न देखना पड़े ॥९॥

कल्पना करो। मैंने कहा कि यह सबेरा नहीं, रात्रि है। फिर क्या संसार के लोग प्रकाश से अन्धे हो जायँगे ? ॥१०॥

यदि किसी घाव के भीतर कोई ख़राबी रह जाय और वह ऊपर से भर जाय तो किसी दिन वह फिर सूज कर उभर आवेगा ॥११॥

सारे नगरों में अति निकृष्ट वह नगर है जिसमें कोई मित्र न हो। और मनुष्य की कमाई में से बुरी वह कमाई है जिसके कारण उस पर दोषारोपण हो ॥१२॥

उच्च कुलोत्पन्न की आत्मा यदि उसी के समान नहीं तो उसकी कुलीनता उसको कुछ भी लाभ नहीं पहुँचा सकती ॥१३॥

मैं चाहता था कि दो बातों को मैं मुतनब्बी से पहले कह जाऊँ। लेकिन मुतनब्बी ने उन दोनों बातों को भी न छोड़ा ॥१४॥

मुतनब्बी की सारी कविताएँ एक बड़े संग्रह में सङ्कलित हैं। उसमें उसकी सब विषयों की रचनाएँ हैं। उसका वह संग्रह अरबी की उच्च श्रेणियों में पढ़ाया जाता है। वह संग्रह दीवान मुतनब्बी के नाम से प्रसिद्ध है। जितनी टीकायें इस दीवान पर लिखी गई हैं उतनी और किसी अरबी-दीवान पर नहीं लिखी गई। एक विद्वान लेखक ने लिखा है कि दीवान मुतनब्बी की छोटी बड़ी सारी टीकाओं की संख्या चालीस से भी अधिक है।

अरबी-साहित्य में दीवान मुतनब्बी एक ही वस्तु है। मुतनब्बी का अरबी-साहित्य पर पूर्ण अधिकार था। इस बात का परिचय उसके दीवान से भलीभाँति मिल जाता है। अबू अली फ़ारसी का कथन है कि एक दिन मैंने मुतनब्बी से पूछा कि अमुक वज़न (ढङ्ग) पर अरबी में कितने बहुवचन आये हैं ? उसने उत्तर दिया कि केवल दो हैं। मैंने कोषों का निरन्तर तीन रात तक अवलोकन किया कि कोई तीसरा शब्द भी मिल जाय, परन्तु उन दो के सिवा कोई न मिला। मुतनब्बी के पाण्डित्य की सूचक ऐसी अनेक बातें बताई जा सकती हैं।

महेशप्रसाद मौलवी फ़ाज़िल

स्वीज़रलैंड की पञ्चायत।

स्वीज़रलैंड की यात्रा लोग प्रायः ग्रीष्म या शिशिर ऋतु में ही करते हैं। गर्मी के दिनों में वहाँ के पहाड़ों की तराइयाँ बर्फ़ के गल जाने के कारण यात्रियों को विशेष आनन्ददायक हो जाती हैं और जाड़े के दिनों में लोग वहाँ इसलिए जाते हैं कि सारा देश बर्फ़ से आवृत हो जाता है और लोगों को उस पर तरह तरह के खेल-तमाशों से अपना मनोरञ्जन करने की विशेष सुविधा मिलती है। अतएव वहाँ की उन पञ्चायतों का मनोरम दृश्य बहुत कम
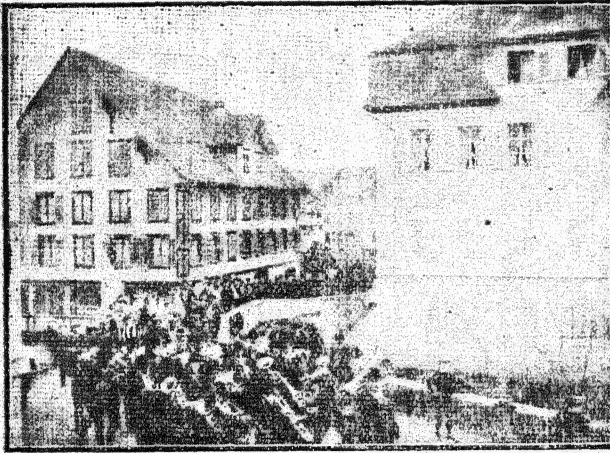
पंचायत का एक जलूस।

विदेशियों को देखने को मिला होगा जो प्रायः खुले मैदानों में होती हैं। इन पञ्चायतों का समारोह प्रति वर्ष अप्रैल के अन्तिम रविवार या मई के पहले रविवार को वहाँ के किसी किसी ज़िले में होता है। इस समय यात्रियों का आवागमन बन्द हो जाता है और यदि आते हैं तो बहुत कम। अतएव इन ज़िलों के निवासी आगामी वर्ष के अपने खानगी तथा राज्य-सम्बन्धी कार्य करने में लग जाते हैं। वे अपने अधिकारियों को चुनते हैं, अपना बजट जाँचते हैं और आवश्यक क़ानून बनाते हैं। ये सारे कार्य वे एक ही दिन में तय कर डालते हैं। इसके बाद वे उन तराइयों को चले जाते हैं जिनकी बर्फ़ ग्रीष्म-ऋतु के कारण गल जाती है और जो आमोद-प्रमोद के लिए साफ़ हो जाती हैं। वे वहाँ हफ़्तों या महीनों तक बने रहते हैं। उनका जीवन बहुत साधारण होता है। उन्हें क़ानून भी थोड़े ही बनाने पड़ते हैं। उनकी पञ्चायतें भी वैसी ही सादी होती हैं जैसे वे स्वयं होते हैं।

स्वीज़रलैंड के जिन पाँच, छः ज़िलों में ये पञ्चायतें बैठती हैं उनमें एक का नाम ग्लारस है। इस ज़िले का सदर इसी नाम के क़स्बे में है और वह स्थान ज़्यूरिच से पचास मील से भी दूर है। ग्लारस उन पहाड़ों के तल भाग में आबाद है जिनके शिखर सदैव हिम से आवृत रहते हैं। इस स्थान को जो मार्ग गया है वह भी बड़ा बेढब है। इस पहाड़ी ज़िले के मेम्बर चुननेवालों की संख्या दस हज़ार से भी कम है। इनमें से कोई दो या तीन हज़ार मतदाता प्रति वर्ष सार्वजनिक कार्य करने को एकत्र होते हैं। वे अपने उन राजकीय अधिकारों का उपयोग बड़े ही उत्साह के साथ करते हैं जो बहुत प्राचीन समय से उन्हें प्राप्त हैं। वे शहर के एक खुले मैदान में एकत्र होते हैं। वहाँ बेंचें लगी रहती हैं। इन्हीं पर बैठ कर वे लोग धैर्यपूर्वक अधिकारियों के विवरण तथा भविष्यद् कार्यवाही के विधान सुनते हैं। यह दृश्य बहुत ही मनोरम होता है। लोगों का कथन है कि इस प्रकार के समारोह की उत्पत्ति उन जर्मन जातियों से हुई है जो प्राचीनकाल में इसी प्रकार की सभाएँ रात में करके अपने नेता चुना करते थे। परन्तु इनकी उत्पत्ति वास्तव में कहाँ से है यह बात अभी तक रहस्यमय है। सम्भव है कि पहले इन सभाओं में

वादानुवाद उग्ररूप धारण करता रहा हो, परन्तु वर्तमान समय में इनकी कार्यवाही शान्तिपूर्वक समाप्त होती है। जो लोग वहाँ एकत्र होकर अपने ज़िले के सार्वजनिक कार्यों का निरूपण आगामी वर्ष के लिए करते हैं उनके ढङ्ग से गम्भीरता तथा स्वदेश के प्रति आदरभाव व्यक्त होता है।

प्रति वर्ष जनवरी के महीने में ग्लारस के निवासी शासक-सभा के सम्मुख उपस्थित होने के लिए बुलाये जाते हैं जहाँ वे उन क़ानूनों की व्यवस्थाएँ उपस्थित करते हैं जिनकी रचना उन्हें

जलूस का दूसरा दृश्य।

स्वीकृत होती है। इसके बाद मई महीने के दो एक सप्ताह पूर्व उन्हें एक व्यवस्थापत्र मिलता है जिस पर बनाये जानेवाले क़ानूनों की सूची दर्ज रहती है। इन्हीं काग़ज़-पत्रों को लेकर मतदाता ज़िले के प्रत्येक अञ्चल से मई के प्रथम रविवार के दिन ग्लारस में एकत्र होते हैं और वहाँ उन विधानों की रचना का निरूपण करते हैं। परन्तु इसके पूर्व पहले गिरजाघर में प्रार्थना होती जिसमें अधिकारी और मतदाता एक बड़ी संख्या में शामिल होते हैं। इसके बाद मजिस्ट्रेट, शासक-मण्डल के अधिकारी, सैनिक तथा दूसरे लोग दल बाँध कर सभास्थल को जाते हैं। इस समय तक नागरिक भारी संख्या में एकत्र होजाते हैं। स्त्रियों तथा बच्चों को, जो मुख्यतः निमन्त्रित किये जाते हैं, सम्मानपूर्वक सभा-भवन में सबसे आगे का स्थान दिया जाता है। लोग यहीं अपने बचपन से प्रजासत्ता के सरल सिद्धान्तों को सीखना प्रारम्भ करते हैं। वे यहाँ अपने ज़िले के शासन-सम्बन्धी कार्यों के वादानुवाद सुनते हैं और उस सादी तथा गम्भीर प्रथा का प्रेम करना सीखते हैं जिसमें उनके बड़े लोग भाग लेते हैं। जो लोग सभा की कार्यवाही में अधिक अनुरक्ति प्रकट करते हैं अर्थात् जो क़ानून के मस्विदे प्रस्तुत करते हैं और उनका समर्थन करने के लिए व्याख्यान देना चाहते हैं वे पञ्चायत के सम्मुख खड़े हो जाते हैं और तब सभा की कार्यवाही ईश-प्रार्थना करके और शपथ लेकर प्रारम्भ होती है। इसकी प्रत्येक कार्यवाही में सब कोई भाग ले सकता है। यहाँ किसी शर्त की पख नहीं लगी होती, प्रत्येक व्यक्ति को बोलने का स्वत्व है। इस सभा में हाथ उठा कर अपनी सम्मति प्रदर्शित की जाती है। यहाँ प्रजासत्ता की धारा निर्मल और असली रूप में बहती देख पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने राजनैतिक विचार स्वतन्त्रता-पूर्वक व्यक्त करता है जो कि सर्व-सम्मति से तुरन्त कार्य में परिणत हो जाता है। इस सभा का सिद्धान्त वहाँ की व्यवस्था में इन शब्दों में अङ्कित है:—न्याय और स्वदेश की मङ्गल-कामना। न स्वेच्छाचार और न सबलों का प्राधान्य।

इन सभाओं में ज़िले के सम्पूर्ण मतदाताओं के प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं। यही लोग ज़िले के प्रधान अधिकारी होते हैं। जो बात यहाँ सर्व-सम्मति से स्वीकृत होती है वह तुरन्त कार्य में

परिणत हो जाती है। क़ानूनों के विधान बहुत लम्बे नहीं उपस्थित किये जाते। इसी कारण सभा की सारी कार्यवाही घंटे भर के भीतर ही समाप्त हो जाती है। इतने ही भर में वर्ष भर की व्यवस्था स्वीकृत हो जाती है। इसके बाद ईश-प्रार्थना और जातीय गीत गाकर सभा का कार्य समाप्त किया जाता है। तब सारा उपस्थित समुदाय अपने घरों की राह लेता है।

जिन दूसरे पाँच ज़िलों में ऐसी ही पञ्चायतें होती हैं उनके नाम ये हैं; उरी, ओबवाड, निडवाड, और दोनों अपेनज़िल। उरी की पञ्चायत एक चरा-गाह में अल्टडार्फ के समीप होती है। इस स्थान
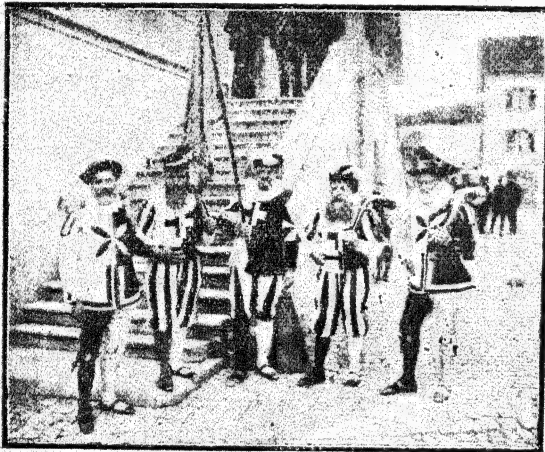
सारनेन की पञ्चायत के जलूस में मध्ययुग की पुरानी पोशाक में कुछ लोग।

और अल्टडार्फ के बीच से एक नदी बहती है। यहाँ ज़िले के अधिकारी गण घोड़ों पर सवार हो कर अल्टडार्फ से आते हैं। उनके आगे सैनिक और बाजेवाले तथा ज़िले का झण्डा चलता है और ये लोग वर्ष भर का अपना कार्य-क्रम घंटे भर के भीतर ही निपटा लेते हैं।

निडवाड की पञ्चायत स्टान्स में बैठती है। इस में साधारणतया कुछ उत्तेजना कभी कभी दिखाई देने लगती है। अपेनज़ेल में अपेनज़ेल-इनर-रोडेन की पञ्चायत के अधिवेशन होते हैं। ये भी किसी से कुछ कम मनोरम नहीं होते। दोपहर के समय ज़िले के नौ मुख्य अधिकारी अपने पारषदों के सहित कौन्सिल-भवन से पञ्चायत के स्थान को पयान करते हैं। इनके पीछे बाजेवाले और उनके कर्मचारियों का दल रहता है। सबके आगे प्रधान मजिस्ट्रेट चलता है। ये सब लोग इस दिन काली पोशाक में आते हैं। केवल 'बिबेल' की पोशाक भिन्न रहती है। यह व्यक्ति सफ़ेद और काली दो रङ्ग की पोशाक पहनता है। पञ्चायत के स्थान में जो चबूतरा बना है उसी पर अधिकारीगण जा बैठते हैं। उनके नीचे मतदाता-गण न्यायाधीशों और छोटे कर्मचारियों के सहित बैठते हैं।

इस पञ्चायत के सदस्य पचमेल होते हैं। कुछ पुरानी चाल की पोशाकें पहने तथा तलवार लगाये रहते हैं, कुछ रोज़मर्रा के लिबास में आते हैं और कुछ पादड़ियों की पोशाक में। इस तरह वहाँ एक अनोखा ही दृश्य देखने में आता है। इस पञ्चायत में १८०० अठारह सौ के लगभग मतदाता एकत्र होते हैं। वे वहाँ अपने प्रधान का व्याख्यान ध्यानपूर्वक सुनते हैं और यदि वही व्यक्ति दूसरे वर्ष के लिए भी चुन लिया जाता है तो उसे फिर शपथ लेनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में मतदाताओं को भी शपथ करनी पड़ती है।

इन ज़िलों में चोरों, दिवालियों एवं ऐसे ही दूसरे लोगों को राजनैतिक अधिकार नहीं प्राप्त है। अतएव पञ्चायतों में केवल भले आदमी ही भाग ले सकते हैं। यह अन्तर प्रकट करने के लिए इन्हें तलवार धारण करने की आज्ञा है। इसी कारण ये लोग पञ्चायतों में पुरानी चाल की तलवारें बाँध कर आते हैं। वहाँ यह राजनैतिक स्वतन्त्रता का चिह्न समझा जाता है। इन पञ्चायतों में एक यह भी विशेषता होती है कि जब कोई

बोलता है तब उसे कोई टोकता नहीं है। यह एक पुरानी प्रथा है। और इस प्रथा के उल्लङ्घन करनेवाले पर जुर्माना किया जाता है और वह सभा-स्थान से तुरन्त निकाल बाहर किया जाता है। इसी से कोई किसी को बाधा नहीं देता। इसके सिवा घूँस का भी प्रचार यहाँ नहीं है। हाँ, पहले
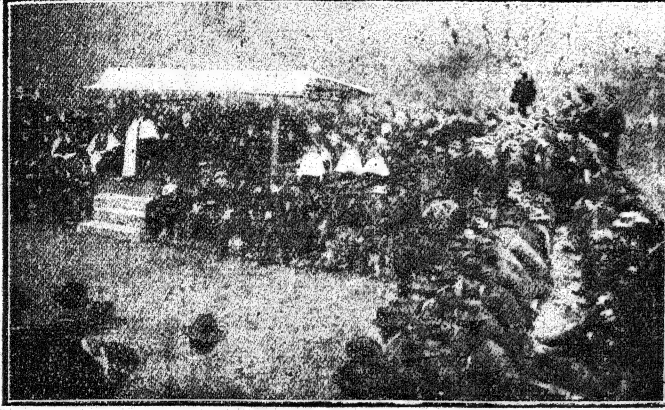
सारनेन में पञ्चायत की बैठक।

घूँस की प्रथा ज़ोरों पर थी, किन्तु बाद को क़ानून बना कर वह बन्द कर दी गई।

सम्भवतः सबसे अधिक अनूठी पञ्चायत सारनेन में बैठती है। यह स्थान आववाड़ ज़िले में है और लूसर्न से कुल तेरह मील दूर है। यहाँ का प्रधान लगभग तीन हज़ार मतदाताओं के समक्ष शपथ ग्रहण करता है। इस मध्य युग के नगर की टेढ़ी मेढ़ी गलियों से होकर जो जलूस सभा-स्थल को जाता है वह दूसरे स्थानों की पञ्चायतों के ऐसे ही जलूसों की अपेक्षा कई बातों में श्रेष्ठतर होता है। यहाँ की पञ्चायत नगर के बाहर समीपस्थ पहाड़ी के नीचे बैठती है। इस जलूस का पताकाधारी तथा उसके साथी मध्य युग की पोशाकें पहन कर आगे आगे चलते हैं। पाँच प्रसिद्ध नागरिक मूल्यवान् काले और सफ़ेद कपड़े पहन कर इस पञ्चायत में शामिल होते हैं। उनके वक्षःस्थल पर उनके देश का जो क्रास लगा रहता है वह उनके परिच्छद की शोभा को और अधिक बढ़ा देता है।

सभा-स्थल की पहाड़ी पर ख़ीमे की तरह की एक छोटी इमारत बनी है। इसी में अधिकारी आकर बैठते हैं। मतदाता गण उनके सामने चौकोर पङ्क्ति बना कर एकत्र होते हैं। इस खुले मैदान में स्वीज़रलैंड के इन नागरिकों को बेंचों पर बैठे अपना कर्तव्य पालन करते देखना निस्सन्देह एक आनन्दप्रद दृश्य है। ये लोग एक स्वाधीन जाति के प्रतिनिधि हैं। इन लोगों की यही धारणा है कि वास्तविक शासन वही है जो जनता द्वारा जनता के लिए निर्धारित हो।

शान्तिनारायण गुप्त

शक्ति और शाक्त-मत।

संस्कृत-साहित्य के भाण्डार में तान्त्रिक ग्रन्थों की विशाल राशि भी शामिल है। उसके भिन्न भिन्न विभागों का तुलनामूलक अध्ययन तो बहुत दिनों से जारी है, पर तान्त्रिक ग्रन्थों की ओर विद्वानों की जैसी चाहिए वैसी दृष्टि अभी तक नहीं पड़ी है। इसका विशेष कारण यह है कि लोग शाक्तों की पूजा को हीन समझते हैं। इसलिए शाक्तों और उनके ग्रन्थों का इस देश की विद्वन्मण्डली के बीच आदर नहीं है और सम्भवतः इसी कारण शाक्तों को भी अपने धार्मिक सिद्धान्तों एवं ग्रन्थों का प्रचार करने का साहस कभी न हुआ। कुछ समय से कलकत्ता-हाईकोर्ट के न्यायाधीश सर जान उडरफ़ तन्त्र-ग्रन्थों की आलोचना करने लगे हैं। नीचे आपके एक लेख का अनुवाद दिया जाता है। उससे पाठक जान सकेंगे कि शाक्त-मत का क्या तत्त्व है।

चिद्रूपिणी शक्ति प्रकृति की जननी है। वह अपनी ही माया से उत्पन्न होती है। मेरी समझ में शाक्त-मत या शक्ति-पूजा अपने कुछ प्रधान स्वरूपों में संसार के प्राचीनतम तथा अत्यधिक प्रचलित धर्मों में से एक है। यद्यपि यह बात बहुत ठीक है कि शाक्त-धर्म एक प्राचीन धर्म है, तो भी उसके वर्तमान स्वरूप में बहुत कुछ नूतनता आ गई है। समयानुसार उसका भी विकास हुआ और उसमें आधुनिक दार्शनिक तथा वैज्ञानिक सिद्धान्तों का समावेश हुआ है। इस स्थान में इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि पाश्चात्य देशों में, विशेषतया अमरीका और इँग्लेंड में, एक नवीन प्रकार के साहित्य की रचना हो रही है। इसका प्रधान उद्देश अलौकिक शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना है। इसके सिद्धान्त शक्ति-साधना से बहुत कुछ मेल खाते हैं। ऐसी भी पुस्तकें हैं जिनमें वशीकरण जैसे प्रयोगों की सिद्धि के उपाय बताये गये हैं। यद्यपि इनमें बहुत कुछ धूर्तता का भी समावेश है तो भी ये लगभग उसी ढङ्ग की पुस्तकें हैं जैसे कि तान्त्रिक शावर।

अनेक वर्ष हुए एडवर्ड सेलन ने मदरास प्रान्त की सिविल सर्विस के प्राच्यविद् विद्वानों की सहायता से तान्त्रिक साहित्य के अनुसन्धान का प्रयत्न किया था। कुछ कारणों से उन्होंने उसे सुदृष्टि से नहीं विचार किया। परन्तु उन्होंने शाक्तों की तुलना यूनानी टेलेस्टिका या डीनामीका (Greek Telestica or Dynamica) से, शक्तिपूजा की डैनीसियस की गुह्य बातों से (The mysteries of Dionysus) और शक्तिशोधन की उस संस्कार से की जो हनकर वीली के एन्टीक ग्रीक वेसेज़ नामक ग्रन्थ में दिखाया गया है। तदुपरान्त यहूदी तथा दूसरे प्राचीन ग्रन्थकारों की पुस्तकों के अनेक स्थानों में इस धर्म की क्रियाओं के उल्लेख की सूचना देकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह बात स्पष्ट है कि इस समय भी संसार की मन्त्र-विद्या का एक बहुत प्राचीन रूप शाक्त-धर्म के रूप में भारत में विद्यमान है। किसी ख़ास परिणाम को चाहे जो महत्त्व दिया जाय तो भी उनका निर्णय साधारणतया बहुत ठीक है। क्योंकि जब हम इस उपासना के भूतकालीन इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तब हम देखते हैं कि यह एक अत्यन्त प्राचीन उपासना है। सभी देशों में सर्वशक्तिशालिनी शक्ति की पूजा भिन्न भिन्न नामों से स्त्री के रूप में होती थी। यूनान में सिवेली और अफ्रोडाइट के नाम से, बैबिलान में मिलिट्टा मेक्सिको में इश, ओसिया आदि के नामों से और अफ़्रीका में सलम्बो के नाम से उसी मूल प्रकृति की पूजा होती थी। असीरियावाले सकथ बेनथ और रोमन लोग जूनो तथा बौद्ध लोग तारा के नाम से उसकी अर्चना करते थे। सारांश यह कि आदि शक्ति की उपासना अतीत काल से लेकर वर्तमान समय तक भिन्न भिन्न नामों से सारे भूमण्डल पर सदा होती रही है।

इतने पर भी ऐसे लोग मिलते ही हैं जो कहते हैं कि शाक्त-धर्म आधुनिक है। उनके इस कथन को अस्वीकार करते समय हम यह नहीं कहते कि इस धर्म में परिवर्तन नहीं किये गये हैं या इसका विकास नहीं हुआ है। जैसे जैसे मानव-स्वभाव में परिवर्तन होता गया वैसे ही वैसे उसके धार्मिक भावों में भी अन्तर होता रहा है। इस मत में तथा उसके प्राचीन स्वरूप में वही भेद है जो कि दीक्षित तथा अदीक्षित के बीच वर्तमान है। दीक्षित उसे कहते हैं जिसकी शक्ति प्रबुद्ध होती है और अदीक्षित को पशु कहते हैं। प्राकृतिक अर्थात् प्रकृति माता का रूप और आध्यात्मिक रूप अर्थात् स्वयं आदि जननी, ये दोनों एक ही वस्तु हैं। परन्तु इन दोनों का एकत्व केवल दीक्षित ही जान सकता है। वह अपने आपको चैतन्यरूप में बोध करता है चाहे वह मुक्त दशा में हो और चाहे अमुक्त दशा में। तान्त्रिक साधना का यह एक आवश्यक सिद्धान्त है कि साधक को अपना लक्ष्य प्रकृति के द्वारा ही प्राप्त करना चाहिए। उसे प्राप्त करने के लिए साधक को प्रकृति का त्याग करने का आदेश नहीं है। उसके कुछ उपयोगों के सम्बन्ध में चाहे जो कुछ कहा गया हो। किन्तु उसमें एक ही सत्य सिद्धान्त अन्तर्निहित है। इस विषय पर मैं अपने व्याख्यान में अधिक नहीं कह सकता हूँ, क्योंकि इसका सम्बन्ध केवल कुछ साधारण सिद्धान्तों तथा कर्मकाण्ड ही से है। परन्तु शक्ति-पूजा के गुप्त रहस्यों के सम्बन्ध में जो प्रमाण मिलते हैं वे अपरिमित हैं। इस धर्म की साधारण बाह्य पूजा एवं उसकी अन्तरङ्गी शिक्षाओं के रूप बहुत प्राचीन हैं। इस सम्बन्ध में भारत के बाहर तान्त्रिक शिक्षा तथा क्रिया के अस्तित्व का जो विचित्र उदाहरण

मिलता है वह आगे दिया जाता है। अमरीका के इंडियनों के पोपुलवु नाम के मायावादात्मक धर्म-ग्रन्थ में हुरकन अर्थात् बिजली का जो उल्लेख है वह तान्त्रिकों की कुण्डली शक्ति से मिलता जुलता है। यही क्यों, सुषम्ना नाड़ी तथा ईड़ा और पिङ्गला एवं अन्यान्य शरीरस्थ चक्रों का भी निर्देश उनके उस धर्म-ग्रन्थ में विद्यमान है।

सम्भवतः जिन मुख्य कारणों से तान्त्रिक ग्रन्थों का प्रमाण कुछ लोगों को स्वीकृत नहीं उनमें से एक पञ्चतत्त्व क्रिया का उपयोग है जिसे कुछ तान्त्रिकानुयायी अङ्गीकार किये हैं और सम्भवतः इसी कारण यह धर्म आधुनिक समझा जाता है। परन्तु इसके विपरीत मद्य, मांस इत्यादि का प्रचलन स्वयं अत्यन्त प्राचीन है। इन क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ लोग ऐसी बातें करते हैं मानों इन वस्तुओं का प्रचलन यहाँ बिलकुल ही नया हो। यही नहीं, वे इन्हें एक-मात्र तान्त्रिकों की गढ़न्त और प्राचीन समय के उद्देश्यों तथा व्यवहारों के सर्वथा विपरीत बतलाते हैं। यदि इस विषय का अनुसन्धान किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि जो उपासक इस प्रकार की क्रियाएँ करते हैं वे बहुत ही प्राचीन-काल की प्रथाओं का अवलम्बन किये हैं और ये प्रथाएँ अत्यन्त प्राचीन-काल में वैदिकाचार के समान ही प्रचलित रही हैं जो कि जैन तथा बौद्ध-धर्म के प्रबल होने पर सम्भवतः बाद को परित्याग कर दी गई। मैं उन प्रथाओं को 'समान' इसलिए कहता हूँ कि वे वैदिकाचार के अन्तर्भूत नहीं थीं। इन दोनों में भिन्नता रही है। इस तरह इस पञ्च-तत्त्व उपासना में वैदिक ढंग से मद्य, मांस के उपयोग में साम्यता है ही। अस्तु, वैदिक कर्मकाण्ड में मद्य के स्थान में सोम का उपयोग होता था; मासाष्टक श्राद्ध में मांस; अष्टका श्राद्ध तथा प्रेत श्राद्ध में मछली। और वाम-देव्य व्रत एवं महाव्रत में मैथुन का प्रचलन था। वैदिक-कर्म-काण्ड के ये विधान सर्व-स्वीकृत वैदिक ग्रन्थों के प्रमाणों से भी समर्थित हैं। अथर्ववेद के सौभाग्य खण्ड में ही इनका उल्लेख नहीं है जिसको लोग कहते हैं कि उससे कालि-कोपनिषद् तथा दूसरे तान्त्रिक उपनिषद् निकले हैं। प्रसिद्ध विद्वान् रामेन्द्रसुन्दर त्रिवेदी ने अपने 'विचित्र प्रसङ्ग' में बतलाया है कि पञ्चतत्त्वों का 'मुद्रा' सोम तथा दूसरे भागों के 'पुरोडाश' से मेल खाता है। मद्य तथा किसी किसी स्थिति में मांस के वर्जन का वर्तमान नियम बौद्ध-धर्म के कारण हुआ है। इन प्राचीन प्रथाओं का पालन केवल ये तान्त्रिक लोग (अपने कर्म-कांड में) करते हैं। यह सच है कि उषनः की संहिता में लिखा है—मद्य न तो पीना चाहिए और न देना या ग्रहण ही करना चाहिए। (मद्यमपेयम् अदेयम् अग्राह्यम्) तो भी मनु महाराज लिखते हैं—न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये··· । यद्यपि उन्होंने अपने इस आदेश में यह भी जोड़ दिया है जैसा कि अनेक लोग करते हैं कि—निवृत्तिस्तु महाफला। तान्त्रिक विधान भी इस बात की आज्ञा नहीं देता कि वृथा पान किया जाय।

दो भिन्न बातें एक में मिला देना एक साधारण भ्रम है। उदाहरण के लिए, मत, प्रथा और शास्त्रीय विधान एक में मिला देना ठीक नहीं है। शास्त्रीय विधान आधुनिक हो सकते हैं, पर जिन बातों की वे चर्चा करते हैं वे, सम्भव है, अत्यन्त प्राचीन हों। जब मैं इस धर्म की अत्यन्त प्राचीनता की बात कहता हूँ तब मेरा केवल यह मतलब नहीं है कि वे ग्रन्थ भी उतने ही प्राचीन हैं जो तन्त्र कहलाते हैं। तन्त्र-ग्रन्थ साधारणतया सरल संस्कृत में लिखे गये हैं और इस उद्देश से लिखे गये हैं कि सर्व-साधारण को उनका आशय समझने में सुगमता हो। इन ग्रन्थों के लिखने में लेखन-चातुर्य्य नहीं प्रकट किया गया है। इनकी यही सरलता प्राचीनता का भी द्योतक है। इसके साथ ही इन ग्रन्थों की संस्कृत लौकिक है, आर्ष नहीं है। इसके सिवा इनमें ऐसे विवरण भी हैं जिनसे इनका समय निर्दिष्ट हो जाता है। मैं यह बात इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में नहीं कहता, किन्तु मेरा मतलब उन वचनों या अंशों से है जिनका इनमें उल्लेख है। जिस धर्म की इनमें चर्चा है या कम से कम उस धर्म के प्राथमिक स्वरूप का अस्तित्व इनके कुलों द्वारा लेख-बद्ध किये जाने के बहुत पहले ही रहा होगा। कुलों को वे परम्परा से उसी तरह उपलब्ध हुए होंगे और उनको पुस्तक का रूप मिला होगा जैसे कि वैदिक गोत्रों ने किया है। अन्यान्य बातों के सदृश इस प्रकार के विचार तथा प्रथाएँ समय की गति के अनुसार विकसित होती रही हैं। यह भी एक प्रकार का सिद्धान्त ही है। ऐसा सदा ही से होता आया है।

तन्त्र-ग्रन्थों की एक विशाल राशि सदा के लिए लुप्त होगई है। जो बच रहे हैं उनमें भी सब उपलब्ध नहीं। जो उपलब्ध हैं वे अधूरे हैं। यदि दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा वे पीछे से प्रकट हुए तो भी भारतीय सिद्धान्त के अनुसार उनके प्रामाण्य में किसी प्रकार के सन्देह का प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस प्रकार के सिद्धान्त से किसी धर्म-ग्रन्थ का प्रमाण उसकी रचना के काल पर नहीं निर्भर करता। यह इस सिद्धान्त का आशय है। तब यह प्रश्न होता है कि जो बात आज से सौ वर्ष पहले कही गई है उसकी अपेक्षा वह बात अधिक सत्य क्यों मानी जाय जो कि उससे १००० वर्ष पहले कही गई हो। लोगों की यह धारणा है कि आगम की शिक्षाएँ सदा अस्तित्व में रहती हैं, परन्तु विशेष विशेष तान्त्रिक ग्रन्थ समयानुसार प्रकट और तिरोहित होते रहे हैं। किसी तन्त्र-ग्रन्थ के हाल में प्रकट होने के कारण कोई उसका विरोध नहीं करता। जब यह कहा जाता है कि शिव ने तन्त्र कहे या ब्रह्मा ने प्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थ ब्रह्मसंहिता की रचना की तब उसका यह मतलब नहीं है कि शिव और ब्रह्मा ने क़लम लेकर भोजपत्र या ताड़पत्रों पर उन्हें लिख डाला। परन्तु वास्तविक बात यह है कि दैवी आत्मज्ञान की स्फूर्ति से प्रेरित होकर किसी व्यक्तिविशेष ने अविनाशी सत्य सम्बन्धी उपदेश को लिख दिया या उसकी शिक्षा दी। इसी को लोगों ने ये तथा ऐसे ही दूसरे नाम दे दिये। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि उस ज्ञानी पुरुष के पास कोई बैठा था और वह उसके कान में कहता जाता था। किन्तु बात यह है कि उसने स्वयं उस सत्य को अपने आत्मज्ञान द्वारा साक्षात्कार किया जिसे उसने मानव-जाति की कल्याण दृष्टि से पुस्तक-बद्ध करके प्रचलित किया। जो कुछ इस संसार में किया गया है उसे मनुष्य ही ने किया है। ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता स्वयं कर लेता है, इस सर्व-स्वीकृत लोकोक्ति की अपेक्षा अधिक सत्य का भी अस्तित्व है। ईश्वरीय प्रेरणा कभी बन्द नहीं होती। लोग पूछ सकते हैं कि इस कथन की सत्यता का प्रमाण क्या है? इसका उत्तर यह है कि तुम उसके परिणाम से जान सकते हो। शास्त्र का प्रमाण इस प्रश्न द्वारा निश्चित किया जाता है कि क्या उसके विधानों द्वारा सिद्धि मिल सकती है? यह भी क्या कोई प्रमाण है कि उसमें 'शिवोवाच' लिखा है? इस बात की परीक्षा आयुर्वेद से हो सकती है। वही औषध ठीक है जो रोग का निवारण कर सकती है। भारतीय परीक्षा अनुभव पर निर्भर है। अद्वैतवाद की सत्यता समाधि द्वारा ही जाँची जा सकती है। कल्पों का अस्तित्व कैसे जाना गया है? कहा जाता है कि वे बुद्ध को याद रहे हैं। तदनुसार यह लिखा गया है कि बुद्ध को ९१ कल्पों की स्मृति हुई थी। पुनर्जन्म के पक्ष में दलीलें दी जाती हैं। परन्तु वास्तविक प्रमाण तो वही है जो साधारण दैनिक जीवन के अनुभव द्वारा सिद्ध होता है जिसका निर्णय पूर्व जीवन के अस्तित्व के सिद्धान्त पर ही किया जा सकता है तथा जिन विशिष्ट व्यक्तियों ने आत्मोन्नति की है और उस शक्ति के द्वारा जिनको अपने पूर्व जन्मों की स्मृति हो जाय। इस सम्बन्ध में यही दो वास्तविक प्रमाण हो सकते हैं। समय बिलकुल निरर्थक ही नहीं होता। क्योंकि जिस बात को जानने के लिए लोग शास्त्रों के पृष्ठ उलटते हैं वह यह है कि उनमें उक्त बात स्वीकृत हुई है या उस सम्बन्ध में प्रामाणिक ग्रन्थों के समर्थक वचन उद्धृत हुए हैं या नहीं। परन्तु सत्यता की इस प्रकार की परख केवल बहुत अधिक समय बीत जाने पर ही निर्धारित होती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी बात के हाल में प्रकट होने से इस प्रकार की परीक्षा से उसकी जाँच करना सम्भव नहीं है, अतएव उक्त बात अनर्गल है। भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार इसी ढङ्ग से समय और प्रमाण के प्रश्न का विचार किया जाता है।

यदि सनातनधर्म कहलानेवाले हिन्दू धर्म (उसकी उत्पत्ति चाहे जैसी हो) की विस्तृत जाँच पड़ताल की जाय तो निम्नलिखित परिणाम निकलेंगे—वेदान्त (उपनिषद् के अर्थ में। क्योंकि उसकी शिक्षाओं का आधार उपनिषद् ही है, यद्यपि उनका अर्थ विभिन्न प्रकार से किया जाता है) और वे बहुसंख्यक आचार जिनके द्वारा वेदान्त की शिक्षाएँ व्यवहारगत की जाती हैं। इन दोनों को हमें सावधानी से पहचानना चाहिए। अस्तु, वेदान्त का 'सोऽहं' तान्त्रिकों के 'हंसः' से मिलता है। एक ओर 'हंकार' है, दूसरी ओर 'सकार' है। इन दोनों को निकाल देने से केवल

काम-कला का चिह्न बच जाता है। आचार उन साधनों को प्रस्तुत करता है जिनके द्वारा विशिष्ट साधक 'सोऽहं' को व्यवहारगत कर लेता है। 'साधना' शब्द 'साधु' धातु से बनता है और यह धातु सिद्धि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। किस बात की सिद्धि के लिए साधना की जाती है? इसका उत्तर यह है कि इस जड़ जगत् की प्रत्येक योनियों से मुक्त हो जाने के लिए। इन योनियों के अस्तित्व का कारण चित् शक्ति को अपने आप समीप कर लेना है और इसी कारण वास्तविकता अन्धकार में छिप जाती है जिसका निराकरण 'सोऽहं' या 'शिवोऽहम्' से होता है। लोग अपने आपको इन जड़रूपों से मुक्त क्यों करते हैं? क्योंकि कहा जाता है कि परम सुख की प्राप्ति उसी मार्ग में है। यद्यपि वे लोग क्षणिक किन्तु फलदायक आनन्द इहलोक में भी प्राप्त कर सकते हैं जो चैतन्य ब्रह्म (शक्ति) को साक्षात्कार कर लेते हैं। सोऽहम् का यही वास्तविक अनुभव है और वेद ही ज्ञान (विद्) या सच्चा आध्यात्मिक अनुभव का असली रूप है। क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से किसी वस्तु को यथार्थ में जानना स्वयं वही वस्तु हो जाना है। यह वेद या अनुभव केवल महद् आकाश का ध्यान करने ही से नहीं प्राप्त हो जाता है। उसे अपना स्वरूप भी बदलना चाहिए अर्थात् ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे वह उसका अनुभव प्राप्त कर सके। अतएव तन्त्रों का प्रधान लक्ष्य कर्म है।

तब दूसरा प्रश्न यह होता है कि उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए कौन से कर्म का ग्रहण करना चाहिए। तन्त्रशब्द की व्युत्पत्ति 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्' है। इसके अनुसार तन्त्र शब्द 'तन्' धातु से बनता है। अतएव तन्त्र उस शास्त्र को कहते हैं जो ज्ञान का प्रचार करता है। यहाँ ज्ञान शब्द ध्यान देने योग्य है। ये शास्त्र जिन क्रियाओं का निर्देश करते हैं उनसे वेदान्तीय ज्ञान का प्रचार होता है। यहीं हमें वह विभिन्नता-दृष्टि देख पड़ती है जिससे वे लोग संशय में पड़ जाते हैं जो भारत के धार्म्मिक जीवन के मूल तक नहीं पहुँच सके हैं। वास्तव में अन्तिम ध्येय एक है। उस ध्येय तक पहुँचने के लिए जो साधन हैं उनमें ज्ञान, योग्यता और स्वभाव के अनुसार अवश्य ही विभिन्नता होगी। परन्तु यहाँ हम उन साधनों को दो भागों में बाँट सकते हैं अर्थात् वैदिक और तान्त्रिक। एक भाग और भी किया जा सकता है। इसे हम मिश्र कह सकते हैं। क्योंकि हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत एक ऐसा समुदाय है जिसके कुछ आचार वैदिक हैं तो कुछ तान्त्रिक हैं अर्थात् उनके कर्मकाण्ड में उन दोनों आचारों का संमिश्रण है।

स्वयं तन्त्र शब्द साधारणतया शास्त्र के अर्थ में लिया जाता है। उससे किसी विशेष धार्मिक ग्रन्थ का निर्देश नहीं होता। परन्तु जब हम उसे धार्मिक ग्रन्थ के रूप में ग्रहण करते हैं तब हम उन्हें कई प्रकार के उपासकों के धर्म-ग्रन्थ के रूप में पाते हैं। इन उपासकों का आचार तथा इनकी उपासना विभिन्न होती है। इस तरह हम शैव, वैष्णव और शाक्त एवं इनके भी उपभेद पाते हैं। जैसे शैवों में शैव सिद्धान्त के विशिष्टाद्वैत शैव, काश्मीरीय अद्वैत वादी शैव, पाशुपत और इसी प्रकार के दूसरे उपभेद भी हैं। इन लोगों के तंत्र अलग अलग हैं। यदि तान्त्रिक शब्द का अर्थ तन्त्र-शास्त्र का अनुयायी लिया जाय तब तो यह एक अनिश्चित ही अर्थ माना जायगा। जिस आदमी के सम्बन्ध में इस शब्द का प्रयोग हो वह पञ्च देवताओं में से किसी एक देवता का उपासक हो सकता है तथा विभिन्न सम्प्रदायों में से किसी एक के भी अन्तर्गत रहता हुआ उन्हीं की निर्दिष्ट उपासना तथा क्रिया से अपने इष्ट देवता की आराधना कर सकता है। इस तरह तन्त्र शब्द के अर्थों में बड़ी गड़बड़ी होती है। परन्तु जो बात चल गई सो चल गई। उसके विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता। जहाँ तक मैं जानता हूँ, जो लोग तान्त्रिक कहलाते हैं वे अपने को शाक्त, शैव इत्यादि नामों से अभिहित करते हैं। वे चाहे जिस सम्प्रदाय के हों, पर अपने को तान्त्रिक नहीं कहते।

इसके सिवा तन्त्र शब्द का उपयोग एक जातिविशेष के धर्म-ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होता है जिन्हें तान्त्रिक मानते हैं। उनके दूसरे भी ग्रन्थ होते हैं जो निगम, आगम, यामल, डामर उड्डीश, कक्षपुट इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं। जहाँ तक मुझे मालूम है इन धर्म-ग्रन्थों को माननेवाले इन नामों से अभिहत नहीं होते। हाँ, आगमान्त शैव आगमवादी तथा आगमान्त अवश्य कहलाते हैं।

यदि हम धर्म-ग्रन्थों के केवल एक नाम दें और उन्हें तन्त्र या आगम कहें तो, संक्षेप में, वे चार भागों में बँट जाते हैं जैसे वेद (संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्), आगम या तन्त्र-शास्त्र, पुराण और स्मृति। इस विभाग में आगम या तन्त्र-शास्त्र का प्रमाण आधुनिक काल में नहीं माना जाता है। परन्तु प्रामाणिक उल्लेख दिखला कर यह मत भ्रामक सिद्ध किया जा सकता है। मनु का प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट लिखता है—श्रुति दो प्रकार की है। एक वैदिक और दूसरी तान्त्रिक (वैदिकतान्त्रिका चैव द्विविधा श्रुतिः कीर्तिता) इसका सङ्केत आगम के मन्त्र-भाग से है। वैष्णव ग्रन्थ श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं—मेरी उपासना तीन प्रकार की है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। और कलियुग में केशव की आराधना तन्त्रों के अनुसार करनी चाहिए। देवी-भागवत में तन्त्र-शास्त्र वेदाङ्ग बताया गया है। रघुनन्दन के अष्टविंशतितत्त्व में तन्त्रों का प्रमाण दिया गया है। वह उन्हें दुर्गा की पूजा में नियत करता है जैसा कि उसके पूर्ववर्ती श्रीदत्त, हरिनाथ और विद्याधर एवं दूसरे आचार्यों ने किया है। आश्विन १३१७ की साहित्य-संहिता में महामहोपाध्याय यादवेश्वर तर्करत्न के 'तन्त्रेर प्राचीनत्व' नामक लेख में इनमें से कुछ तथा दूसरों का उल्लेख हुआ है। ताराप्रदीप तथा दूसरे ग्रन्थों में लिखा है कि कलियुग में तान्त्रिक धर्म का ही अवलम्बन करना चाहिए, वैदिक का नहीं। साधारणतया तन्त्रों की आधुनिकता एवं उनके अप्रामाणिक होने की धारणा भारतीयों ने अपने योरपीय गुरुओं से प्राप्त की है। यहाँ किसी विशेष प्रकार की उपासना की ओर मेरा संकेत नहीं है।

शाक्त-धर्म-ग्रन्थों में वेद के अन्तर्गत केवल ऋक्, यजुः, साम और अथर्व को ही नहीं लेते, किन्तु इनके साथ ही अथर्ववेद का उत्तरकाण्ड भी गिना जाता है। इस उत्तर-काण्ड का नाम इसके उपनिषदों के सहित सौभाग्य-काण्ड है। सायण ने केवल पूर्वकाण्ड पर ही अपना भाष्य लिखा है। ये सब संख्या में चौंसठ हैं। अभी तक मैंने इस बात का निश्चय नहीं किया है कि वास्तव में बात क्या है। इनमें से कुछ जैसे कि अद्वैतभाव, कौल, कालिका, उपनिषद् तथा और दूसरे एवं ईशोपनिषद् पर कौलाचार्य सदानन्द की टीका मैं शीघ्र ही प्रकाशित करनेवाला हूँ। इसी मत के अनुसार निगम, आगम, यामल और तन्त्रों की भी वेद में गणना है। जो दूसरे शास्त्र वेद का अर्थ खोलते हैं, जैसे पुराण, स्मृति एवं इतिहास इत्यादि वे सब इन्हीं से निकले हैं। यही सब शास्त्र मिल कर शत-कोटि संहिता नाम को चरितार्थ करते हैं जो कि एक दूसरे के आधार से निकल कर इस प्रकार विकसित हुए हैं। सर्वविद्यासिद्ध सर्वानन्दनाथ अपने तान्त्रिक संग्रह में नारायणी-तन्त्र का प्रमाण देकर यह प्रकट करते हैं कि निगम से आगम निकला है। यहाँ मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि सम्मोहन तन्त्र में लिखा है कि केरल सम्प्रदाय दक्षिण है और वह वेदानुयायी (वेदमार्गस्थ) है और गौड़ (जिसके सर्वानन्दनाथ हैं) वाम है और वह निगम का अनुयायी है। इसी कारण उसने निगम को महत्त्व दिया है। वही सर्वतत्त्व विद्यासिद्ध आचार्य आगे लिखता है कि आगम से यामल निकला और यामल से चारों वेद। फिर वेदों से पुराण और पुराणों से स्मृतियाँ; एवं स्मृतियों से अन्यान्य शास्त्र। उसका कथन है कि पाँच निगम और चौंसठ आगम हैं। चार यामलों का भी उल्लेख है। कुछ लोग यह जान कर आश्चर्य करेंगे कि वेदों की उत्पत्ति यामलों से हुई अर्थात् वे इनके अन्तर्गत थे। इस सम्बन्ध में मैं नारायणी-तन्त्र का एक श्लोक उद्धृत किये देता हूँ।

ब्रह्मयामलसम्भूतं सामवेदमतं शिवे।
रुद्रयामलसंजातः ऋग्वेदो परमो महान्॥
विष्णुयामलसम्भूतः यजुर्वेदकुलेश्वरि।
शक्तियामलसम्भूतं अथर्वपरमं महत्॥

विरोधी सम्प्रदायों के लोग कुछ तन्त्रों को वेद-विरोधी बताते हैं। परन्तु इनके माननेवाले इस अभियोग का तिरस्कार करते हैं। उदाहरण के लिए जैसे कि नित्य षोडशिकाऽर्णव की टीका में पञ्चरात्र वेद-भ्रष्ट कहा गया है। इस बात में सन्देह नहीं है कि कुछ सम्प्रदाय वास्तव में अवैदिक थे, परन्तु समय की गति के अनुसार धार्मिक ग्रन्थों के प्रमाण, विश्वास तथा क्रियाओं का विभिन्न प्रकार का सम्मिश्रण हो ही गया है।

जिस सिद्धान्त के अनुसार आगम एवं तत्सम्बन्धी दूसरे शास्त्र चारों (विकार) वेदों के साथ केवल तुल्य प्रामाणिक ही नहीं माने जाते, किन्तु उनसे पहले के भी

वे ग्रहीत होते हैं, उस सिद्धान्त को हम स्वीकार करें या न करें, पर हमें वास्तविक बातें माननी ही पड़ेंगी। वे कौन सी बातें हैं ?

जैसा कि मैं कह चुका हूँ हिन्दू-धर्म के एक सम्प्रदाय का ऐसा रूप है जो परीक्षा करने पर मिश्रित मालूम पड़ता है। अब मैं इस बात का विचार शाक्तों की दृष्टि से नहीं, किन्तु निरपेक्ष की दृष्टि से करता हूँ। हमें यदि एक ओर अपनी संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के सहित चार वेद मिलते हैं तो दूसरी ओर वह ग्रन्थ-समुदाय है जो पाँचवाँ वेद कहलाता है और जिसके अन्तर्गत निगम, आगम तथा तत्सम्बन्धी दूसरे शास्त्र एवं कुछ मुख्य तान्त्रिक उपनिषद् हैं। ये तान्त्रिक उपनिषद् अथर्ववेद के सौभाग्य-काण्ड में शामिल हैं। वैदिक और तान्त्रिक कल्पसूत्र और सूक्त भी विद्यमान हैं जैसे कि तान्त्रिका देवी और मत्स्य-सूक्त। ब्रह्मसूत्र की जोड़ का अगस्त्यकृत शाक्तसूत्र है। जैसे, वैदिक संस्कारों की व्यवस्था है वैसे ही तान्त्रिक संस्कार भी होते हैं। वैदिक दस संस्कारों की तुलना तान्त्रिक अभि-षेकों से होती है। इसी तरह वैदिक और तान्त्रिक दीक्षा (उपनयन और दीक्षा); वैदिक और तान्त्रिक गायत्री; वैदिक ॐ और तान्त्रिक बीज जैसे ह्रीं; वैदिक गुरु और देशिक गुरु इत्यादि जैसी बातों का जोड़ मिलता चला जाता है। ऐसा ही जोड़ का सादृश्य ओषधि, विधान और लेखन में भी विद्यमान है। वैदिक आयुर्वेद वनस्पतियों का उपयोग करता है तो तान्त्रिक धातुओं की भस्मों का। वैदिक धर्मपत्नी का जोड़ शैव स्त्री से मिलता है। वेदों में पञ्चतत्त्वों का मिलान तो पहले ही बतलाया जा चुका है। कोई कोई यह भी कहते हैं कि गौड़ इत्यादि देशों में एक विशेष प्रकार की तान्त्रिक लिपि का भी प्रचार था।

इन सब बातों का क्या अर्थ है ? इस समय उनका निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। क्योंकि यह विषय ही भुला सा दिया गया है। अतएव लोगों को उसका ज्ञान बहुत ही कम है। किसी प्रकार के परिणाम, इस निश्चय के साथ कि वे सत्य हैं, उपस्थित करने के पहले हमें उन तान्त्रिक ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए जो उपलब्ध हैं। परन्तु यह बात तुरन्त ज्ञात हो जायगी कि यदि, जैसा मैंने बताया है, इस प्रकार का मिश्रित क्रम रहा है तो उससे यह सूचित होता है कि वास्तव में धर्म के दो मार्ग थे जिनमें एक ने (सम्भवतः कुछ बातों में प्राचीनतर धर्म ने) दूसरे के कुछ अंश अपने में शामिल कर लिये एवं समय की गति के अनुसार उसे दबा भी दिया। वेदों और आगमों के सम्बन्ध में तान्त्रिकों के कथन का यही सार है। यदि ये दोनों प्रामाणिक नहीं हैं तो फिर देशिक गुरुओं एवं तान्त्रिक दीक्षा की ओर इतनी श्रद्धा क्यों प्रदर्शित की जाती है ?

सम्भवतः प्राचीन काल में कई एक अवैदिक सम्प्र-दायों का अस्तित्व था। वे वेदबाह्य थे। परन्तु समयानुसार उनमें कई एक वैदिक क्रियाएँ मिल गईं जैसे कि होम। उसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड में उनकी भी कुछ बातें आगईं। यह भी हो सकता है कि कुछ ब्राह्मणों ने इन अनार्य सम्प्रदायों को स्वीकार कर लिया हो जैसा कि आज-कल हम ब्राह्मणों को नीच जातियों के धार्मिक कृत्यों का सम्पादन करते देखते हैं और जो उन्हीं के नाम से पुकारे जाते हैं। ये दोनों शास्त्र कम से कम बराबर बराबर प्रामा-णिक माने जाते थे। अन्त में वैदिक कर्मकाण्ड का लोप हो गया और स्मार्त धर्म एवं आगमों की क्रियाओं में उसकी छाप रह गई। जो विचार यहाँ प्रकट किये गये हैं इन्हें मैं निश्चयपूर्वक ठीक नहीं कह सकता। इनको केवल सूचना के रूप में ग्रहण करना चाहिए और ये इस उद्देश से व्यक्त किये गये हैं कि जब आगमों की उत्पत्ति की खोज की जाय तब इन पर विचार करना ही पड़ेगा। यदि ये विचार ठीक हों, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि वैदिक धर्मानुयायी आर्यों का प्रभाव दूसरे सम्प्रदायों पर ज़रूर पड़ा तो भी एतद्देशीय निवासियों के विश्वास तथा प्रक्रियाएँ ज्यों की त्यों आज तक बनी रहीं।

आज-कल के स्मार्त अपने को श्रौत बतलाते हैं यद्यपि श्रौत-कर्म-काण्ड में अनेक पौराणिक बातें शामिल हो गई हैं। प्राचीन वैदिक आचार का प्रतिपादक आर्यसमाज नाम की एक दूसरी संस्था भी वर्तमान समय में उठ खड़ी हुई है। मुझे ऐसा जान पड़ता है इसमें भी आधुनिकता आगई है। तान्त्रिक सम्प्रदाय का निदर्शक स्वयं वर्तमान समय का हिन्दू-धर्म है जो कि शैव, शाक्त, वैष्णव एवं अन्यान्य सम्प्रदायों में विभक्त है। [अपूर्ण]

देवीदत्त शुक्ल

——

प्रेमाकर्षण।

स्वाति वारि का चातक प्यासा
कभी नहीं तजता निज आशा
कितना भी दुख क्यों न पड़े पर होता नहीं हताश।
धैर्य्य सहित सब कुछ सहलेता
अन्य वारि पर दृष्टि न देता
निज प्रण पर वह है दृढ़ रहता, बुझे न चाहे प्यास॥

(२)

समुद कुमुदिनी है खिल जाती
जब रजनीपति दर्शन पाती
सूर्य्यदेव के कठिन ताप के दुख को जाती भूल
बहुत सुखद प्रेमी का मिलना
स्वाभाविक है उसका खिलना
अपने प्रेमी से मिलने पर सब जाते हैं फूल॥

(३)

शलभ दीप-दर्शन-सुख लेता
प्राण उसी पर गिर दे देता
पर न उसे मरने की कुछ भी होती है परवाह।
नहीं कभी जलने से डरता
बड़ी खुशी से है वह मरता
प्रेम-पन्थ के पथिकों को है जीवन की क्या चाह॥

(४)

शफरी क्या जीवित रह सकती
प्रिय-वियोग-दुख कब सह सकती
विना वारि के उसे कहाँ है क्षण भर भी विश्राम ?
जुड़ा हुआ है जिससे नाता
प्राणी उससे मिल सुख पाता
स्वजन-वियोग सदा है दुखकर, किसे मिला आराम ?

मणिराम गुप्त

जीवाणु।

सृष्टि के दृश्य पदार्थों के अतिरिक्त कुछ अदृश्य पदार्थ भी होते हैं। इन सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का हमारे दैनिक जीवन से बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है। हम इन्हें केवल सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा ही अवलोकन कर सकते हैं। जब हम इन्हें देखते हैं तब हमें मालूम पड़ता है कि इस दृश्य जगत् के अतिरिक्त एक अदृश्य जगत् भी है। इस जगत् के निवासी छोटे छोटे जीव हैं जो अपने स्वभावानुसार रात-दिन कार्य करते रहते हैं। यद्यपि हम इन जीवों को खुर्दबीन की मदद के विना नहीं देखते तो भी उनके कार्यों का ज्ञान प्राप्त करने में सब लोगों को उतनी कठिनाई नहीं होती। इनके कार्यों के फल का विचार भी लोग करते हैं, परन्तु बुद्धि का पूर्ण विकास न होने के कारण वे यह कह कर उस ओर अधिक ध्यान नहीं देते कि पदार्थों में जो विकार उत्पन्न हो जाते हैं वे स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु यथार्थ में बात ऐसी नहीं है। पदार्थों में विकार एक प्रकार के इन्हीं अदृश्य सूक्ष्मजीवों के ही कारण उत्पन्न होता है जिन्हें जीवाणु कहते हैं।

ये जीवाणु वृक्षवर्ग के हैं। वृक्षवर्ग में भी इनकी गणना निम्न श्रेणी में की जाती है। इन जीवाणुओं का हमारे दैनिक कार्यों से गहरा सम्बन्ध रहता है। अतएव इनका पूरा पूरा हाल जानना परमावश्यक है। जीवाणु शास्त्र का ज्ञान न होने के कारण हमें बहुत हानि सहनी पड़ती है, क्योंकि जीवाणुओं की बदौलत हमारे रुचि-पदार्थ नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। कैसा भी मूल्यवान् पदार्थ क्यों न हो ये ज़रा भी दया नहीं करते। ये उसे शीघ्र ही मिट्टी में मिला देते हैं। इन्हीं के कारण हम बहुत से पदार्थ बाहर नहीं भेज सकते। बड़ी बड़ी बीमारियों के कारण भी यही हैं। हाँ, इनमें से कुछ ऐसे भी जीवाणु होते हैं जिनसे हमें व्यापारिक लाभ भी हो जाता है।

उदाहरणार्थ, जब दूध दुहा जाता है तब उसमें एक भी जीवाणु नहीं रहता। उस समय उसका स्वादु भी बहुत मधुर रहता है। परन्तु पाँच घण्टे बाद

उसी दूध के स्वादु में बहुत कुछ अन्तर हो जाता है। क्योंकि उतने ही समय में दूध जीवाणुओं से भर जाता है। फिर १४ घण्टे बाद वही दूध दही हो जाता है, दूध के स्वादु में अन्तर पड़ना और उसका दही के रूप में परिवर्तन होना जीवाणुओं ही के आक्रमण का फल है। दूध का दही हो जाना कुछ अधिक हानिकर नहीं है। क्योंकि उससे घी बनाया जा सकता है और तब कुछ हानि सह कर उसका मूल्य मिल सकता है। इसमें केवल एक दोष यही है, हम दूध को एक जगह से दूसरी जगह नहीं भेज सकते। इसके सिवा कभी कभी दूध इतना अधिक कड़वा हो जाता है कि वह खाने पीने के काम का नहीं रह जाता। यही क्यों, इसी दूध के द्वारा अनेक असाध्य बीमारियाँ पैदा होती हैं।

दूध से दही, मक्खन, घी, पनीर आदि जो आवश्यक वस्तुएँ बनती हैं उन सबको जीवाणुओं की अद्भुत सहायता का फल ही समझना चाहिए। अतएव इनके हानिकर तथा लाभदायक कार्यों को देख कर हमें इनकी जीवनी का ज्ञान प्राप्त करना परमावश्यक है जिससे हम हानि से बचें और लाभ उठावें।
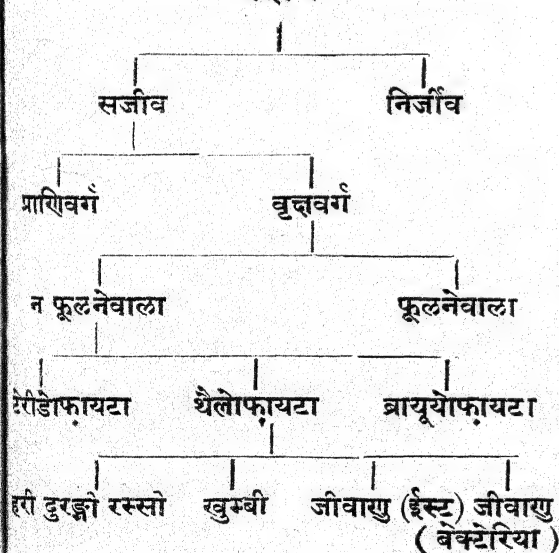
ऊपर के नक़शे से यह विदित होगा कि सृष्टि के सारे पदार्थ दो भागों में विभक्त हैं:—(१) सजीव और (२) निर्जीव। सजीव पदार्थों का विभाग पुनः दो भागों में होता है:—(१) प्राणिवर्ग और (२) वृक्षवर्ग। वृक्षवर्ग भी दो भागों में विभाजित हैं:—(१) फूलनेवाले वृक्ष अर्थात् वे वृक्ष जो फूलते फलते हैं और (२) न फूलनेवाले वृक्ष। इसके बाद न फूलनेवाले वृक्ष तीन भागों में बँटे हैं:—

(१) टेरीडोफ़ायटा अर्थात् वे वृक्ष जिनके सब अवयव तथा जड़, पींड़, पत्ती आदि फूलनेवाले वृक्ष के समान होते हैं, परन्तु वे फूलते फलते नहीं हैं, जैसे फर्न, राजहंस इत्यादि।

(२) ब्राइयोफ़ायटा—अर्थात् इस वर्ग के वृक्षों के पत्ते और पींड़ तो होती हैं, परन्तु ये जड़हीन होते हैं। जड़ों के स्थान में नलियाँ ही होती हैं जो रिज़ायड कहलाती हैं। जैसे मौस, इलोडिया इत्यादि॥

(३) थैलोफ़ायटा—इस वर्ग के वृक्षों में जड़, पींड़ और पत्ती अलग अलग नहीं होतीं, परन्तु ये सब मिली हुई सिर्फ़ एक रस्सी के समान होती हैं। जड़, पींड़ और पत्ती का काम इसी रस्सी से होता है। थैलोफ़ायटा के भी चार विभाग हैं:—

(१) अलगी—यह अन्य तीन भागों से सहज में पहचाना जा सकता है, क्योंकि इसका रङ्ग हरा होता है। जैसे, काई इत्यादि।

(२) खुम्बी—ये बड़े और छोटे दो प्रकार के होते हैं। बड़े तो अन्य दो भागों से सहज ही में अपने बड़े आकार के कारण पहचाने जा सकते हैं, परन्तु छोटे के पहचानने में कुछ कठिनता होती है। प्राणियों और वृक्षों में छोटे छोटे खुम्बियों के कारण जो कई प्रकार की बीमारियाँ पैदा होती हैं वे इस तरह हैं:—

प्राणिवर्ग में	वृक्षवर्ग में
दाद	स्मट
खुजली	रेडरॉट
छिलटे	रस्ट
छाले इत्यादि	

छोटे खुम्बी को अन्य दो भागों से पहचानने के लिए जो चित्र नं० १ यहाँ दिया गया है उसमें दिखाया गया है कि इसमें शाखाएँ निकलती हैं।
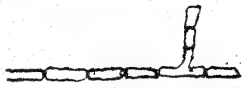
चित्र नं० १

(३) ईस्ट Yeast—इनका आकार प्रायः गोलाकार होता है और स्थानान्तर विशेषरूप से होता है जिसे Ameboid Movement कहते हैं।
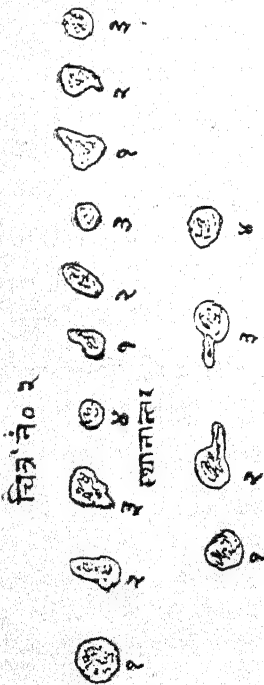
(४) जीवाणु (Bacterium)

(१) बहुत छोटे होते हैं।
(२) इनमें स्थानान्तर करने की शक्ति होती है।
(३) ये बहुधा प्राणियों में बीमारियाँ उत्पन्न करते हैं।
(४) इनमें शाखाएँ नहीं फूटतीं, किन्तु बढ़ने पर प्रत्येक अलग अलग हो जाता है, जैसे—

चित्र नं० २

जीवाणु विषुवत्‌रेखा, ऊँचे ऊँचे पहाड़ों के शिखर तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं। जिन पदार्थों में इनकी वृद्धि बहुत शीघ्र होती है वे दूध, गोबर, मैला इत्यादि हैं।

यदि हमें किसी प्रकार के जीवाणुओं की वृद्धि करना हो तो ऐसे ही पदार्थों का उपयोग करना चाहिए। वैज्ञानिक लोग आरगाल (Argol) का उपयोग करते हैं।

जीवाणु पाँच प्रकार के होते हैं :—

भिन्न भिन्न आकार के कारण ये जीवाणु सरलतापूर्वक एक दूसरे से विभिन्न किये जा सकते हैं। चित्रों को देखने से मालूम पड़ता है कि किसी किसी जीवाणु में बाल हैं और किसी किसी में नहीं हैं। ये बाल फ्लैजेला कहलाते हैं। इन्हीं के द्वारा जीवाणु स्थानान्तर करते हैं। जिस जीवाणु में फ्लैजेला नहीं होता वह स्थानान्तरित नहीं होता।

जीवाणु की सुषुप्त अवस्था—इस अवस्था में कोई कोई जीवाणु पाये जाते हैं, जैसे अंडाकार अर्धधनुषाकार और सर्पाकार। इस अवस्था के कारण असह्य घटनाओं के सहने में जीवाणु अपनी स्वाभाविक क्षमता की अपेक्षा अधिक समर्थ होते हैं। यदि इस अवस्था में प्राप्त कोई एक जीवाणु ६०° अंश सेन्टीग्रेड में नष्ट हो जाता है तो उसकी सुषुप्त अवस्था ६०° अंश में नष्ट होगी।

जीवाणुओं पर स्वाभाविक कारणों का प्रभाव

शीतलता और उष्णता सहने की शक्ति भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणु में भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। किसी किसी में उष्णता सहने की शक्ति अधिक होती है तो किसी किसी में शीतलता। जीवाणु की सुषुप्त अवस्था में यह शक्ति अधिक होती है। अगर हमें अमुक प्रकार के जीवाणु की वृद्धि के लिए शीत या उष्ण की स्थिति देखना हो तो हमें यह विचार करना चाहिए कि अमुक प्रकार का जीवाणु कहाँ स्वाभाविक रीति से वृद्धिगत था। उस स्थान की गर्मी या ठंडक उस जीवाणु के अस्तित्व के लिए अनुकूल है, यह जान लेने के बाद हमें भी उतनी ही गर्मी या ठंडक उस समय, जहाँ वह रक्खा जाय, पहुँचाना चाहिए।

(२) प्रकाश—यह एक दूसरी समस्या है जिससे जीवाणु का बहुत सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार का प्रकाश इनका नाशक है। जहाँ जीवाणु की वृद्धि की जाय वहाँ प्रकाश का बिलकुल ही अभाव होना चाहिए।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि बहुत सी बीमारियाँ इन्हीं से उत्पन्न होती हैं, अतएव बीमारी रोकने के लिए यह परमावश्यक है कि हमारे निवासस्थान में पूर्ण प्रकाश हो। यही कारण है कि प्रकाशित मकानों में रहनेवालों की अपेक्षा अँधेरी झोपड़ियों में रहनेवाले गरीब प्लेग का भक्ष्य अधिक बनते हैं।

(३) जल—अन्य जीवधारियों के सदृश जीवाणुओं को भी जल की ज़रूरत होती है। विषुवत्‌रेखा सरीखे स्थानों में, जहाँ पानी का अभाव होता है, ये भी नहीं पाये जाते। भिन्न भिन्न प्रकार के जीवाणुओं में पानी का अभाव सहने की शक्ति अलग अलग होती है। जीवाणु की सुषुप्त अवस्था बिना पानी के कई दिनों तक रह सकती है, पर सर्पाकार जीवाणु एक घण्टा भी नहीं रह सकता।

(४) हवा—पानी के समान हवा की भी इन्हें विशेष ज़रूरत है। परन्तु किसी किसी जीवाणु में ऐसी विचित्र शक्ति होती है कि वायु रहित स्थान में भी उनकी वृद्धि होती रहती है और उनके लिए हवा हानिकारक प्रतीत होती है। इसी कारण इनका विभाग वायु के प्रभाव के अनुसार भी किया गया है।

(१) हवाई—इनकी वृद्धि हवा में होती है और उसके अभाव में इनका विनाश होता है।

(२) अहवाई—जो वायु शून्य स्थान में रहते हैं और वायु उनके लिए नाशक है।

(३) आवश्यकतानुसार हवाई—कुछ ऐसे अहवाई जीवाणु होते हैं जो आवश्यकता पड़ने पर हवाई के तुल्य भी रह सकते हैं।

(४) आवश्यकतानुसार अहवाई—ये हवाई जीवाणु हैं, परन्तु ज़रूरत पड़ने पर अहवाइयों के सदृश भी रह सकते हैं।

पूर्वोक्त कारणों के अनुकूल या प्रतिकूल होने से जीवाणुओं की वृद्धि तथा उनका विनाश होता है।

जीवाणु के कार्य—जीवाणुओं का मुख्य कार्य संयुक्त पदार्थों का खण्ड खण्ड कर सरल पदार्थों में परिवर्तित करना है। इस कार्य को ख़मीर कहते हैं।

उदाहरणार्थ—(१) ज्वार की माड़ी पर जब डायसटेस नाम का ख़मीर (Ferment) आक्रमण करता है तब जो विकार होता है वह इस तरह है।

इस ख़मीर के आक्रमण से माड़ी और पानी मिलकर माल्ट शक्कर और डेक्सट्रिन बना। यह कार्य डायसटेस नाम के ख़मीर से हुआ इसलिए इसे डायसटेटिक ख़मीर कहते हैं। माल्ट नाम की मिश्रित शक्कर पर जब ईस्ट (Yeast) नामक जीवाणु कार्य करता है तब माल्ट पानी से मिल कर (१) डेक्सट्रोज़ तथा (२) फ़्रकटोज़ नाम की सरल शक्कर में परिवर्तित हो जाता है। सरल शक्कर पर जब जाइमेर नाम का ख़मीर आक्रमण करता है तब उसकी शराब और कार्बन डाइ-आक्साइड गैस बनती हैं। इसी से व्यापारिक दृष्टि से शराब बनाई जाती है। दूध पर लैकिटसी पेसीडी नामक जीवाणु के आक्रमण करने से दूध की शक्कर पानी के परमाणु के सहारे लैकिटक नाम का तेज़ाब बन जाता है। इसी तरह जीवाणुओं द्वारा अनेक पदार्थों के तरह तरह के हेर फेर हुआ करते हैं।

जीवाणु कभी कभी स्वतः इस कार्य को करता है और कभी कभी कार्यसिद्धि के लिए ये एक दूसरी ही चीज़ पैदा करते हैं जिसे निर्जीव ख़मीर कहते हैं। अतएव ख़मीर के कार्यकर्त्ता दो प्रकार के हैं:—

(१) ईस्ट नामक जीवाणु एक प्रकार के जीवित ख़मीर हैं।

(क) ये जीवाणु विषैले पदार्थ से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

(ख) अपने जीवस्तम्भन पदार्थों के रहने तक ये जीवाणु ख़मीर का कार्य अपरिमित समय तक चला सकते हैं। अर्थात् इनकी शक्ति अपरिमित है।

(ग) बहुत से जीवाणुओं में निर्जीव ख़मीर पैदा करने की शक्ति होती है।

(२) जीवाणु, ईस्ट, या किसी जीवधारिक कण तथा वानस्पतिक कण से निर्जीव ख़मीर उत्पन्न होता है। निर्जीव होने के कारण इनका कार्य जीवित ख़मीर के समान अपरिमित नहीं, किन्तु परिमित है। इस पर विषैले पदार्थ का कुछ भी असर नहीं होता।

अनन्दधर दीवान

मातृगुप्ताचार्य।

प्राचीन-काल में काश्मीर संस्कृत-विद्या का पीठ था। महाभाष्य पर प्रदीप लिखनेवाले कैयट, शैवागम लिखनेवाले प्रसिद्ध दार्शनिक वसुगुप्त, राजतरङ्गिणीकार कल्हण आदि विद्वानों की जननी काश्मीर-भूमि ही है। कविता के विषय में भी यह भूमि किसी अन्य प्रदेश से न्यून नहीं थी। महाकवि बिल्हण ने दावे के साथ लिखा है कि कविता-प्ररोह काश्मीर को छोड़ अन्य भूमि में नहीं उगता। क्यों न हो, जब हरविजय के कर्ता रत्नाकर, भल्लटशतक के कर्ता कवि भल्लट, दामोदर गुप्त, बिल्हण, क्षेमेन्द्र आदि कवियों ने यहीं जन्म लिया। आनन्दवर्धन, भामह, उद्भट, अभिनव गुप्त, मम्मट आदि साहित्य-मर्मज्ञों की उत्पत्ति भी इसी पवित्र भूमि में हुई है। अतएव बिल्हण की उक्ति सार्थक है। यहाँ हम काश्मीर के एक प्रसिद्ध

कवि का परिचय देना चाहते हैं। उनका नाम मातृगुप्ताचार्य है।

मातृगुप्त के जीवन-काल के विषय में राजतरङ्गिणी ही हमारा एक-मात्र आश्रय है। उससे ज्ञात होता है कि मातृगुप्त जन्म से ही बड़े निर्धन थे, परन्तु उनके हृदय में कविता का अङ्कुर बाल्यावस्था से ही उग चुका था। किसी प्रकार का आश्रय न पाकर मातृगुप्त ने उज्जैन के प्रसिद्ध गुणग्राही विक्रमादित्य की सभा में अपनी कविता सुना कर द्रव्यप्राप्ति करने के विचार से प्रस्थान किया। परन्तु निर्धन की पूछ कहाँ, कवि होने पर भी निर्धनता के कारण महाराज के पास वे नहीं जा सके। द्वारपाल इन्हें भीतर जाने ही नहीं देते थे। कवि को बड़ा दुःख हुआ, जायँ तो कहाँ जायँ। तब राजा के द्वार ही पर वे टिक गये। जाड़े के दिन थे। बिना वस्त्र के कवि को रात में नींद भी नहीं आती थी, बैठे बैठे आग तापा करते थे। अकस्मात् आधी रात को राजा ने द्वारपाल को पुकारा, परन्तु वे पड़े खर्राटे ले रहे थे। अवसर पाकर कवि ने निम्नलिखित पद्य में अपनी शोचनीय दशा का परिचय दिया:—

> शीतेनोद्धृषितस्य माषशिमिवच्चिन्तार्णवे मज्जतः,
> शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
> निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता संत्यज्य दूरं गता,
> सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी॥

पद्य का भाव यह है उड़द की फली की भाँति मैं पाले से घिसा जाता हूँ, होठ मेरे फट गये हैं, भूख के मारे मेरा कण्ठ कृश हो गया। मेरी यह दुरवस्था देख अपमानित भार्या की तरह नींद मुझे छोड़ कर कहीं चली गई है और सुपात्र को दी हुई पृथ्वी की तरह रात का नाश नहीं हो रहा है।

महाराज विक्रमादित्य बड़े गुणग्राहक थे, कविता सुन कर बड़े प्रसन्न हुए। उसी समय काश्मीर का राजा हिरण्य निस्सन्तान मर गया था, गद्दी ख़ाली थी। अतएव कवि काश्मीर के राजा बनाये गये। जब हिरण्य का भतीजा प्रवरसेन द्वितीय, जो तीर्थयात्रा करने गया था, लौट कर आया, तब मातृगुप्त ने चार वर्ष राज्य करने के बाद सिंहासन ख़ाली कर दिया और संन्यासी बन काशी में जाकर रहने लगा।

बस, मातृगुप्त के विषय में इतना ही ज्ञात है। डाक्टर भाऊदाजी की राय है कि यही मातृगुप्त कविवर कालिदास हैं। उनके सिद्धान्त के पोषक प्रमाण नीचे दिये जाते हैं:—

(१) यह प्रसिद्ध दन्तकथा है कि विक्रम ने प्रसन्न होकर कालिदास को अपना आधा राज्य दे डाला।

(२) 'मातृगुप्त' कोई व्यक्तिवाचक नाम नहीं है। यह विशेषण सा दीख पड़ता है। कालिदास तथा मातृगुप्त समानार्थक ही हैं।

(३) राजतरङ्गिणी में बड़े बड़े कवियों का उल्लेख उनके समुचित ऐतिहासिक क्रम में किया गया है। इसमें लिखा है कि महाकवि भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मन के आश्रित थे, परन्तु कालिदास का नामोल्लेख कहीं भी नहीं मिलता।

(४) राजा प्रवरसेन की प्रार्थना पर कालिदास ने प्राकृत में सेतुकाव्य लिखा है। यह सेतुकाव्य के टीकाकर ने लिखा है। विद्यानाथकृत प्रतापरुद्र नामक आलङ्कारिक ग्रन्थ में, जो १२ वीं शताब्दी के अन्त में लिखा गया था, सेतुकाव्य से एक आर्या उद्धृत की गई है और वह काव्य 'महाप्रबन्ध' कहा गया है। दण्डी ने भी इसकी बड़ी प्रशंसा की है। राजतरङ्गिणी में लिखा है कि राजा प्रवरसेन ने वितस्ता नदी पर, जहाँ काश्मीर की राजधानी थी, एक पुल बनवाया था। बस, इसी सेतुबन्धन का वृत्तान्त सेतुकाव्य में दिया गया है।

महाकवि बाण ने भी प्रवरसेन तथा सेतुकाव्य की प्रशंसा अपने हर्षचरित्र के प्रारम्भ में की है—

कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

भाव यह है, जिस प्रकार वानरों की सेना ने सेतु के द्वारा सागर को पार किया था उसी प्रकार प्रवरसेन की निर्मल कीर्त्ति सेतुकाव्य के द्वारा समुद्र के पार पहुँच गई। इससे ज्ञात होता है कि राजा की प्रार्थना पर इस काव्य के लिखे जाने की बात सही है।

परन्तु मातृगुप्त को कालिदास कहना नितान्त अशुद्ध है। इसके विरोध में बहुत प्रमाण हैं। पहली बात यह है कि कालिदास के नाटकों के नान्दीपाठ से ज्ञात होता है कि वे शिव पार्वती के अनन्यभक्त थे; परन्तु राजतरङ्गिणी के कथनानुसार काश्मीर के राजा मातृगुप्त ने पशुहिंसा-निषेध से बौद्धों तथा जैनों को शान्त किया; विष्णु का मन्दिर बना कर वैष्णवों को प्रसन्न किया और सेतुकाव्य में पहले विष्णु का मंगलाचरण है, फिर शिव का। सबसे बड़ी बात यह है कि संस्कृत-साहित्य के इतिहास के ज्ञाता कल्हण ने कहीं पर भी एक साधारण सूचना तक नहीं दी है कि मातृगुप्त शकुन्तला के प्रसिद्ध लेखक थे। क्षेमेन्द्र की औचित्य-विचारचर्चा से ज्ञात होता है कि मातृगुप्त नाम के कोई महाकवि थे, परन्तु क्षेमेन्द्र ने कालिदास के श्लोकों को उद्धृत करते हुए दोनों के एक होने के विषय में कुछ भी इशारा नहीं किया है। राघवभट्ट ने शकुन्तला की टीका में मातृगुप्त के कई एक उद्धरण दिये हैं जिससे ज्ञात होता है कि यह महाकवि अलङ्कार-शास्त्र का लेखक था, परन्तु उसकी पुस्तक के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। अतः यह निश्चय है कि मातृगुप्त तथा कालिदास भिन्न भिन्न कवि थे। औफ़्रेक् ने ४३० ईसवी में इनका राज्यकाल बताया है।

क्षेमेन्द्र द्वारा उद्धृत पद्य यह है—

नायं निशामुखसरोरुहराजहंसः
कीरी कपोलतलकांततनुः शशाङ्कः।
आभाति नाथ! तदिदं दिवि दुग्धसिन्धु-
हिण्डीरपिण्डपरिपाण्डु यशस्त्वदीयम्॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन्! कपोल के समान सुन्दर चन्द्रमा प्रदोष-काल-रूपी कमलों का राजहंस नहीं है—कमलों में घूमता हुआ हंस नहीं है। यह तो आकाश में विचरण करनेवाला आपका यश है जो क्षीरसागर के फेन-समूह जैसा शुभ्र ज्ञात होता है। यदि हमारे कवि ने अलङ्कार-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखा है तो अवश्य ही यह पद्य अपह्नुति अलङ्कार के उदाहरण में आया होगा।

उपर्युक्त दो पद्यों को छोड़ कर मातृगुप्त के नाम से वल्लभदेव की सुभाषितावलि में एक पद्य और दिया गया है—

नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि।
निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राजन्।
संलक्ष्यते फलत एव तव प्रसादः॥

कवि राजा की स्तुति कर रहा है—हे राजन्! न तो तुम अपनी प्रशंसा करना पसन्द करते हो, न बनावटी वेशभूषा धारण करते हो। देने की इच्छा प्रकट नहीं करते, परन्तु अच्छे अच्छे फल देते हो। हे नृप! बिना गरजे मेघ की वृष्टि के समान तुम्हारी प्रसन्नता फल से ही ज्ञात होती है। फल के पहले कोई नहीं जानता!

कविवर के यही तीन पद्य मुझे ज्ञात हैं। इनसे ज्ञात होता है कि कविता में प्रसाद गुण का बाहुल्य है तथा अलङ्कारों की भी अच्छी छटा है। कविवर के जीवन को जान कर कौन ऐसा होगा जो महाराज विक्रमादित्य की गुण-ग्राहिता तथा दानशीलता की प्रशंसा शतमुख से न करेगा। यदि

मातृगुप्त स्वयं कालिदास नहीं थे तो भी उनकी रचना सूचित कर रही है कि वे सुकवि थे।

संस्कृत-साहित्य में मातृगुप्त का नाम केवल सुकवि होने ही से प्रसिद्ध नहीं है और न कविता के पुरस्कार में विशाल राज्य पाने के लिए है। बल्कि वे हयग्रीववध महाकाव्य के लेखक और वक्रोक्ति के आचार्य महाकवि भर्तृमेण्ठ के आश्रयदाता होने से अधिक विख्यात हैं। धन्य है वह कवि जो न केवल अपने ही कविता-मन्दिर में प्रविष्ट है बल्कि दूसरे सरस्वती-सेवकों का प्रोत्साहक तथा आश्रय देनेवाला भी है।

बलदेव उपाध्याय

आधुनिक नृत्य-कला।

हिन्दू-शास्त्रकारों ने कला के चौंसठ भेद बतलाये हैं। उनमें एक नृत्य-कला भी है। नृत्य-कला की उत्पत्ति का मुख्य कारण है मनुष्यों की सुख-लिप्सा। अङ्ग-सञ्चालन से सभी जीवधारियों को स्वाभाविक आनन्द होता है। कहा जाता है कि मेघों की ध्वनि सुन कर मयूर नाचने लगते हैं। परन्तु यह विशेषता सिर्फ़ मयूरों में ही नहीं है। सभी जीवधारियों को उछल-कूद करने और दौड़ने-भागने में सुख होता है। जीवधारियों के शरीर में जो प्राण-शक्ति है वह सदैव बाहर उद्गत होने की चेष्टा करती है। जब यह शक्ति क्षीण हो जाती है तब शरीर निस्तेज हो जाता है और फिर उछलने-कूदने में आनन्द नहीं आता। बालकों में क्रीड़ा करने की जो चाह रहती है उसका कारण यही है। उनके अङ्ग-अङ्ग फड़कते रहते हैं। चुपचाप तो उनसे बैठा ही नहीं जाता। इससे साफ़ प्रकट होता है कि मनुष्यों को अङ्ग-सञ्चालन में एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है और उसी सुख की वृद्धि के लिए नृत्य-कला की सृष्टि हुई है।

हिन्दू-जाति ने कला-कौशल में जो उन्नति की है वह धार्मिक भाव की प्रेरणा से। नृत्य-कला की उत्पत्ति भले ही स्वाभाविक सुख-लिप्सा के कारण हुई हो परन्तु उसकी उन्नति का कारण धार्मिक भाव है। आज-कल असभ्य जातियों में भी नृत्य धार्मिक उत्सवों में ही होते हैं। हिन्दू-जाति में नृत्य के प्रचार के विषय में जो कथा प्रचलित है उससे उसकी धार्मिकता सिद्ध होती है। कहा जाता है कि ब्रह्माजी ने एक बार स्वरचित एक नाटक का अभिनय कराया। उसमें महादेवजी भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय देख कर महादेवजी बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु आपने नृत्य का समावेश कराना चाहा। ब्रह्माजी भी इससे सहमत हुए। तब महादेवजी की आज्ञा से तण्डु ने भरत-मुनि को नृत्य के सब भेद बतलाये। ये नृत्य तण्डु से प्राप्त हुए थे, अतः इनका नाम ताण्डव पड़ा।

प्राचीन काल में भारतवर्ष अपने कला-कौशल के लिए विख्यात था। यहाँ सभी कलायें उन्नति की चरमावस्था को पहुँच गई थीं। नृत्य-कला की भी अच्छी उन्नति हुई थी। बड़े बड़े राजे-महाराजे इस कला के पृष्ठ-पोषक थे। इतना ही नहीं, उनके अन्तःपुर में भी नृत्य-कला का अच्छा मान था। महाभारत में लिखा है कि अर्जुन राजकुमारी उत्तरा को नृत्य-कला की शिक्षा देते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में मालविका का नृत्य-कला-कौशल बतलाया गया है। क्रमशः इस कला का अधःपतन होने लगा। आज-कल तो यह कला उन लोगों के पास रह गई है जिनका स्थान समाज में ऊँचा नहीं है। यही कारण है कि अब नृत्य-कला का आदर नहीं है। पाश्चात्य देशों में नृत्य-कला का अच्छा प्रचार है। वहाँ छोटे बड़े सभी लोग

नृत्य में सम्मिलित होते हैं। इससे उसकी बराबर उन्नति होती जा रही है।

आधुनिक पाश्चात्य नृत्य-कला का जन्मदाता फ्रांस है। फ्रांस में सभी देशों के नृत्यों का प्रदर्शन होता था और फिर नृत्य-कला-विशारद उनकी त्रुटियों की अच्छी तरह परीक्षा करते थे। तब उनका संशोधन किया जाता था। इसके बाद उसका प्रचार होता था। फ्रांस के नृत्यों में Minuet मिन्यूएट नामक नृत्य की बड़ी प्रसिद्धि हुई। यह सन् १६५० में फ्रांस देश में लाया गया। फिर इसको विशुद्ध रूप दिया गया और जब यह कला-कोविदों की दृष्टि में निर्दोष होगई तब इसका प्रचार बढ़ने लगा। चार्ल्स द्वितीय के समय में इसका प्रचार इँगलैंड में हुआ। पाश्चात्य देशों में पचीसों तरह के नृत्य प्रचलित हैं। उन सबका इतिहास है। नृत्य-कला पर सैकड़ों ग्रन्थ हैं। उसकी शिक्षा देने के लिए कितने ही आचार्य हैं। वहाँ नृत्य सामाजिक विधियों में सम्मिलित है। इसी लिए सभी लोगों को नृत्य का थोड़ा बहुत ज्ञान होता है। हम लोगों के लिए यह नृत्य-शास्त्र बड़ा जटिल है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि कभी हमारे देश में भी नृत्य-शास्त्र था जिसमें नृत्यों की सूक्ष्म विवेचना की गई थी। उसकी सूक्ष्मता का आभास पाठक निम्नलिखित अवतरण से पा सकते हैं।

"भिन्न भिन्न भावों का प्रकाशन करने के लिए, हाथ और पैर के संयोग से, विविध प्रकार के नृत्य होते हैं। चरण-हस्तादिकों को एकत्र करना नृत्यों का करण कहाता है। दो करणों की एक नृत्य-मातृका होती है। दो, तीन अथवा चार मातृकाओं का एक अङ्ग-हार होता है। भरतमुनि ने स्थिरहस्त, अपविद्ध, विष्कम्भ-पर्यन्तिक, मत्ताक्रीड, आक्षिप्त, अपराजित, स्वस्तिक, सूचीविद्ध, उद्योतित इत्यादि ३२ प्रकार के अङ्गहारों की गणना की है। करण भी १०८ प्रकार के होते हैं, जैसे पुष्पपुट, चलितोरु, विक्षिप्ताक्षिप्त इत्यादि। सुन्दर भावों द्वारा नृत्य के विराम दिखलाने को रेचक कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है—अर्थात् पाद-रेचक, कटि-रेचक, तृतीय और चतुर्थ रेचक।"

भारतीय नृत्य-शास्त्र की सूक्ष्मता इसी से प्रकट हो जाती है।

सलोमी का नृत्य।

सरस्वती में कुछ वर्ष पहले पण्डित गिरिधारीलाल तिवारी नामक एक नर्त्तकाचार्य का संक्षिप्त परिचय निकला था। उसमें नर्त्तकाचार्यजी के विलक्षण नृत्यों का वर्णन था। नर्त्तकाचार्यजी की

कला की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि आप लोगों के हृदय में अलौकिकता का भाव ला देते थे। आप तलवारों पर, आरों की धारों पर, पहिये पर लगी हुई कीलों की नोकों पर सुगमतापूर्वक नाचते थे। अपने शरीर का हलकापन दिखाने के लिए आप फ़र्श पर शकर के बताशे बिछवा कर उन पर नाचते थे। बताशा एक भी नहीं फूटता था। आपके नृत्यों से दर्शक विस्मय-विमुग्ध अवश्य हो जाते रहे होंगे। पर क्या उनके चित्त पर नृत्यों का प्रभाव चिरस्थायी होता था? कला के दो उद्देश हैं, एक तो यह कि उससे मनोरञ्जन हो और दूसरा यह कि उससे हृदय उन्नत हो। तिवारीजी की असाधारण नृत्य-कला से मनोरञ्जन अवश्य होता था, परन्तु उसमें कौतूहलोद्दीपन के सिवा अन्य भावों के उद्रेक करने की शक्ति नहीं थी। जो बात असाधारण होती है उस पर मनुष्यों का चित्त आकृष्ट होता है। इसी लिए कला का पहला गुण असाधारणता है। कला-कोविद की कृति ऐसी होती है कि वह अन्य लोगों के लिए अगम्य हो। परन्तु असाधारणता के साथ ही वह बात होनी चाहिए जो सभी लोगों के हृदय में हो। जब चित्रकार कोई चित्र अङ्कित कर देता है तब लोग उसकी असाधारणता पर मुग्ध हो जाते हैं, परन्तु जब वे देखते हैं कि चित्र उनके ही हृदय का प्रतिबिम्ब है तब वे उसमें तन्मय हो जाते हैं। किसी भी कला की उत्कृष्टता का सबसे अच्छा प्रमाण यह तन्मयता ही है। असाधारणता से विस्मय प्रकट होता है, परन्तु साधारणता से तन्मयता होती है। बाजीगरों का तमाशा देख कर कोई तन्मय नहीं होता, क्योंकि उसमें सिर्फ़ विलक्षणता रहती है। उससे दर्शकों के चित्त में कौतूहल-मात्र होता है। पर समान भावों की उत्पत्ति से अर्थात् सहानुभूति के उद्रेक से तन्मयता होती है।

आधुनिक नृत्य-कला में अब भावों की अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। मन में जो भाव उदित होता है वह शरीर के द्वारा प्रकट किया जाता है। जो अलक्षित है वह दृग्गोचर होता है। जो इन्द्रियातीत है वह इन्द्रिय-ग्राह्य बनाया जाता है। कल्पना मूर्तिमती हो जाती है। नृत्य-कला में मिस ऐलन की अच्छी प्रसिद्धि है।

क्लियोपाट्रा का नृत्य।

वह अपने अङ्ग-सञ्चालन से मनोगत भाव को प्रत्यक्ष कर देती है। उसका कथन है कि जितना ही विलक्षण भाव होगा उतना ही विलक्षण शरीर के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होगी। नृत्य को हम नीरव सङ्गीत कह सकते हैं। मिस ऐलन के कई नृत्य

प्रसिद्ध हैं। पर उसका सर्वश्रेष्ठ नृत्य है Vision of Salome बाइबिल में एक कथा है। सलोमी नाम की एक युवती हेरोद के पास नाचने गई। अपने नृत्य से राजा को प्रसन्न कर उसने जान नामक धर्म-गुरु को प्राण-दण्ड दिलाया। इसके बाद अचानक उसने देखा कि उसका पाप कितना भीषण है। इसी कथा को मिस ऐलन ने अपने नृत्य से प्रत्यक्ष कर दिया है। यहाँ जो पहला चित्र दिया जाता है उसमें इसी नृत्य का दृश्य अङ्कित किया गया है। सलोमी का यह नृत्य अब खूब प्रसिद्ध हो गया। मिस ऐलन ने इससे धन और यश दोनों प्राप्त किये। अमरीका और योरप के सभी देशों में यह नृत्य लोक-प्रिय हो गया है। बड़े बड़े कला-कोविदों ने इसकी प्रशंसा की। एक समालोचक की यह सम्मति है; Its originality of conception, its intensity, its realism, and the horror of its story are things not easily to be forgotten अर्थात् इसमें भाव की मौलिकता है, तीव्रता है, यथार्थता है और कथा की भयोत्पादकता है। ये सब बातें मन में अङ्कित हो जाती हैं। एक बार देखने से फिर वे चिरस्मरणीय हो जाती हैं।

अब एक दूसरी नर्तकी का कला-नैपुण्य सुनिए। इस नर्तकी का नाम है आडेट वेलेरी। इसकी राय है कि नृत्य सर्वश्रेष्ठ सङ्गीत का मूर्तिमान् रूप है। इसकी नृत्य-कला का नमूना है क्लियोपाट्रा नामक नृत्य। इस नृत्य में क्लियोपाट्रा की समस्त जीवन-कथा अङ्ग-सञ्चालन द्वारा व्यक्त की जाती है। जिन्होंने शेक्सपियर के अन्टोनी और क्लियोपाट्रा नामक नाटक एक बार भी पढ़ा है वे क्लियोपाट्रा को भूल नहीं सकते। क्लियोपाट्रा की कथा कल्पित नहीं है यद्यपि शेक्सपियर ने उसे कल्पना के रङ्ग में रँग दिया है। क्लियोपाट्रा मिस्र देश की रानी थी। उसकी मृत्यु के विषय में एक कथा प्रचलित है। कहा जाता है अन्टोनी ने उसके पास फूल भेजे। उन फूलों में सर्प छिपा हुआ था। जब क्लियोपाट्रा ने उन फूलों को ग्रहण किया तब सर्प उससे लिपट गया। क्लियोपाट्रा ने सर्प को वशीभूत करने की चेष्टा की। वह उसके साथ कुछ देर तक खेलती रही। अन्त में सर्प ने उसे

तितली का नाच।

काट खाया। वेलेरी अपने नृत्य में यह भाव बड़े कौशल से प्रकट करती है। उसने तीन सर्प पाल रक्खे हैं और इन्हीं सर्पों को गले में डाल कर वह नाचती है। कहना नहीं होगा कि ये विषधर सर्प नहीं हैं। यहाँ जो दूसरा चित्र दिया गया उसमें यही दृश्य अङ्कित है।

एक और विलक्षण नृत्य है The Dancr of the Butterfly अर्थात् तितली का नाच। इसका भी चित्र यहाँ दिया गया है। जो नर्तकी इस नृत्य में निपुण है उसका नाम है फिलिस मांकमैन। इसमें तितली का जीवन प्रदर्शित किया जाता है। इसके लिए बड़े परिश्रम से पोशाक तैयार की जाती है।

जो देश ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न हैं वे नृत्य-कला को उन्नत कर आमोद-प्रमोद में निरत हो सकते हैं। पर जो देश दुःख-दारिद्रय से पीड़ित हैं, रोग-शोक से जर्जर हैं, उसके लिए नृत्य-कला का यह भव्य दृश्य किस काम का?

हरिनारायणलाल श्रीवास्तव

डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार।

बङ्गाल के सुपुत्रों में डाकृर महेन्द्रलाल सरकार की गणना है। यद्यपि उनके नश्वर शरीर को नष्ट हुए कई वर्ष हो गये तथापि उनकी कीर्ति अभी तक सुरक्षित है। उनका नाम बङ्गाल में छोटे बड़े सभी लोग जानते हैं। अपने ही उद्योग से उन्होंने यह उच्च पद प्राप्त किया था। दरिद्र-वंश में उनका जन्म हुआ था। बाल्यकाल में ही वे मातृ-पितृ-हीन होगये थे। तो भी उन्होंने अपने जीवन-काल में स्पृहणीय कीर्ति और अलभ्य प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। स्वावलम्बन और पुरुषार्थ के ऐसे उदाहरण हमारे देश में कम हैं। हमें आशा है कि सरकार महोदय के संक्षिप्त जीवनचरित से भी पाठकों को कुछ न कुछ शिक्षा अवश्य मिलेगी। इसी लिए हम यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय देना चाहते हैं।

सन् १८३३, २ नवम्बर, को हबड़ा नगर के पास पाइपाड़ा नामक गाँव में महेन्द्रलाल सरकार का जन्म हुआ। आपके पिता की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, पर वे सच्चरित्र थे। जब महेन्द्रलाल पाँच वर्ष के हुए तब उनकी माता उन्हें और उनके छोटे भाई को लेकर बहूबाज़ार में आगई। यहीं, थोड़े ही दिनों के बाद, उनके पिता का शरीरान्त होगया। तब महेन्द्रलाल के पालन-पोषण और शिक्षा का भार उनके छोटे मामा, महेन्द्रचन्द्र घोष, पर पड़ा। इसके चार वर्ष बाद उनकी माता की भी अचानक मृत्यु होगई। इस प्रकार नौ ही वर्ष की उम्र में महेन्द्रलाल मातृ-पितृ-हीन होगये। बाल्य-काल में ही माता-पिता के स्नेह और आश्रय से वञ्चित होने पर वे अपने पुरुषार्थ से संसार-यात्रा में जीवन-साफल्य प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हुए।

छोटी उम्र में ही महेन्द्रलाल का विद्यारम्भ हो गया। पहले उन्होंने अपने गुरु की पाठशाला में कुछ समय तक शिक्षा प्राप्त की। फिर उन्होंने हेअर स्कूल में अपना नाम लिखाया। वहाँ से उत्तीर्ण होकर और वज़ीफ़ा पाकर वे हिन्दू-कालेज में भर्ती हुए। यहाँ उन्हें प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् अध्यापकों से शिक्षा पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इससे उनकी विद्याभिरुचि खूब बढ़ी। इसी समय उनके हृदय में विज्ञान की चाह उत्पन्न हुई। विज्ञान-शास्त्र में पारङ्गत होने के लिए उनकी इच्छा क्रमशः बलवती होती गई और अन्त में आप इसी अभिप्राय से कलकत्ता के मेडिकल कालेज में प्रविष्ट हुए। सन् १८५५ में उनका विवाह हुआ। १८६० में ६ वर्ष तक अध्ययन करने के बाद महेन्द्रलाल मेडिकल कालेज से डाकृर होकर निकले। अध्ययन-काल में उनकी विलक्षण बुद्धि और अध्यवसाय से कालेज के सभी अध्यापक उनसे प्रसन्न थे। वे अपने पाठ्य विषय को इतने मनोयोग से पढ़ते थे कि चिकित्सा-शास्त्र के कुछ विषयों में वे अपने अध्यापकों के समकक्ष होने की योग्यता रखते थे। कुछ अध्यापकों ने उन्हें सलाह दी कि वे चिकित्सा-शास्त्र की सर्वोच्च परीक्षा एम० डी० के लिए तैयारी करें। उनकी सलाह मान

कर महेन्द्रलाल ने एम० डी० की परीक्षा दे डाली और फिर एम० डी० की उपाधि प्राप्त कर उन्होंने कलकत्ता में ही चिकित्सा का कार्य आरम्भ किया।

थोड़े ही दिनों में अच्छी चिकित्सा करने के कारण उनका यश चारों ओर फैल गया। यदि वे इसी चिकित्सा-पद्धति का अनुसरण करते रहते तो वे कुछ ही दिनों में ख़ासा धन पैदा कर लेते। परन्तु अर्थ-प्राप्ति के मार्ग में उन्हें एक विघ्न का सामना करना पड़ा। वह विघ्न था अन्तःकरण की निर्मलता। एलोपेथी की चिकित्सा-प्रणाली में उन्हें सन्देह होने लगा। इसी समय कलकत्ता में उदारचेता बाबू राजेन्द्रदत्त होमियोपैथी की चिकित्सा-पद्धति का अवलम्बन कर रोगियों की चिकित्सा करते थे। उन्हीं के कहने से महेन्द्रलाल ने भी होमियोपैथी का अध्ययन किया और उन्हें इस चिकित्सा-प्रणाली की उपयुक्तता पर दृढ़ विश्वास होगया। महेन्द्रलाल बड़े स्थिर-चित्त थे। जब उन्होंने देख लिया कि होमियोपैथी की चिकित्सा-प्रणाली फल-प्रद है और ऐलेपैथी हानिप्रद, तब उन्होंने ऐलोपैथी को छोड़ दिया और होमियोपैथी को स्वीकार कर लिया। इससे उनकी बड़ी आर्थिक हानि हुई, क्योंकि सर्व-साधारण में होमियोपैथी का प्रचार नहीं था। परन्तु डाकृर सरकार को इस आर्थिक हानि से ज़रा भी दुःख नहीं हुआ। उन्हें विश्वास था कि वे उचित मार्ग पर चल रहे हैं। अतएव कर्तव्य-निष्ठा से जो प्रसन्नता का भाव होता है उससे उनके चित्त को

डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार।

बड़ी शान्ति मिलती थी। नवीन चिकित्सा-प्रणाली का अनुसरण करने के कारण उनकी कीर्ति-वृद्धि

होने लगी। उनके पास कितने ही रोगी आये और सभी रोग-निर्मुक्त होकर लौटे।

डाक्टर सरकार की यह बड़ी इच्छा थी कि भारतवर्ष में वैज्ञानिक शिक्षा का ख़ूब प्रचार हो। यह तो सभी जानते हैं कि योरप और अमरीका ने विज्ञान का ही आश्रय ग्रहण कर इतनी उन्नति की है। डाक्टर महोदय जानते थे कि जब तक भारतवर्ष विज्ञान के पथ पर अग्रसर नहीं होगा तब तक उसकी उन्नति होने की नहीं। अतएव महेन्द्रलाल जीवन भर यही प्रयत्न करते रहे कि भारत में विज्ञान की उन्नति हो। सन् १८७६ में उन्होंने एक विज्ञान-सभा स्थापित की। इस सभा की उन्नति के लिए उन्होंने ख़ूब परिश्रम किया। सच तो यह है कि इस विज्ञान-सभा के द्वारा आपने स्वदेश की भविष्य उन्नति का द्वार उन्मुक्त कर दिया। उनके जीवन का यही एक व्रत था कि यह सभा वृक्षरूप में परिणत होकर सुफल दे। भारतवर्ष में आज-कल बङ्गाल विज्ञान का क्षेत्र हो रहा है। कौन नहीं कहेगा कि महेन्द्रलाल का जीवन-व्रत सफल हो गया। सन् १९०४ में उनकी मृत्यु होगई।

हरिप्रसन्न घोष

मृत्यु-द्वार।

क्या मृत्यु के समय किसी प्रकार की दारुण वेदना सहन करनी पड़ती है? ऊपर से देखते तो यही मालूम पड़ता है कि मृत्यु-काल बड़ा भयङ्कर होता है। साधारणतया जब लोग किसी को मरते देखते हैं तब उनका कलेजा काँपने लगता है। कभी कभी ऐसा भी देखा गया है कि मरणोन्मुख प्राणी के प्राण बड़ी कठिनाई से निकलते हैं और वह अपनी उस दशा में इस प्रकार छटपटाने लगता है कि देखनेवाले तक घबड़ा जाते हैं। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि उस अवस्था में आत्मा को किसी प्रकार की शारीरिक पीड़ा का अनुभव होता है। निश्चय-पूर्वक यह बात वही कह सकता है जो मर कर एक बार फिर जी उठा हो। ऐसी घटनाएँ कभी कभी यहाँ भी सुनी गई हैं कि अमुक व्यक्ति मर कर फिर जीवित हुआ है। परन्तु लोगों का ध्यान इस ओर कभी नहीं गया कि उनके अनुभव की जांच की जाय। हां, जर्मनी के एक विद्वान् डाक्टर ने एक पुस्तक लिख कर इस विषय पर प्रकाश डाला है। इनका नाम बर्न्ट है। बर्न्ट साहब का कथन है कि मृत्यु से किसी प्रकार की शारीरिक वेदना का अनुभव होता है, यह समझना एक भारी भ्रम है। अपने इस कथन के समर्थन के लिए उन्होंने जो पुस्तक लिखी है उसमें उन्होंने उन लोगों के बयान संग्रह किये हैं जिनके सम्बन्ध में डाक्टरों ने कह दिया था कि वे मर जायँगे। ये बयान उन्हीं लोगों के हैं जो संयोग-वश मरते मरते बचे थे अथवा यह कहना चाहिए कि जिनका पुनर्जन्म हुआ था। उक्त डाक्टर महोदय द्वारा संग्रहीत बयानों से यही निष्कर्ष निकलता है कि मृत्यु कष्टकारक घटना नहीं है, किन्तु वह अत्यन्त आनन्ददायक है। ये बयान बुद्धिमान् व्यक्तियों के हैं जो उस समय की अपनी मानसिक दशा का याथातथ्य वर्णन करने में सब प्रकार समर्थ थे। उनके बयानों से यह प्रतीत होता है कि वास्तव में मर्माहत करनेवाली बात केवल मृत्यु का भय है। और जब कोई व्यक्ति मृत्यु-मार्ग के एक विशेष भाग का अतिक्रमण कर जाता है तब उक्त भयजनित पीड़ा भी अपने आप ही लोप हो जाती है। अनेक लोगों ने अपने बयान में यह बात स्वीकार की है कि जब हम से यह कह दिया गया कि अब तुम्हारा अवसान होता है उस समय हमें असीम प्रसन्नता का अनुभव हो रहा था। पाठकों के मनोरञ्जन के लिए इन्हीं बयानों में से कुछ का उल्लेख आगे किया जाता है।

आल्प्स् पहाड़ की कारपेस्टाक नामक शिखर से गिरनेवाले अर्नाल्ड सीग्रिट का बयान पहले दिया जाता है। वह कहता है—

"जो लोग अल्पाइन—अवरोहण के सम्बन्ध में अनुराग रखते हैं उन्हें कारपेस्टाक शिखर से मेरे गिरने की बात भले प्रकार ज्ञात होगी। यह दुर्घटना अपने ढङ्ग की एक ही है। जहाँ तक जाना जा सका है उतनी अधिक ऊँचाई से कभी कोई नहीं गिरा। इतने अधिक ऊँचे स्थान से

पहले पहल में ही गिरा हूँ और संयोगवश उस दुर्घटना का हाल कहने को बच गया हूँ।

इस दुर्घटना के संघटित होने के समय हमारे दल में दो निपुण फ़ोटोग्राफ़र भी थे। जब दूसरे लोग मुझे गिरते देख मेरी लाश ढूँढ़ने को रवाना हुए थे उस समय वे दोनों फ़ोटोग्राफ़र मेरे गिरते समय के चित्र लेने में व्यस्त थे! इस तरह उन्होंने मेरे गिरने के समय से लेकर ज़मीन तक पहुँचने के कई चित्र ले लिये थे। ये चित्र इस समय 'स्वीस अल्पाइन क्लब' में सुरक्षित रक्खे हैं।

जिस दिन यह घटना हुई थी उसी दिन कारपेस्टाक की दुर्गम चढ़ाई में हम लोगों ने सफलता प्राप्त की थी। हम लोग सबसे अधिक ऊँचे शिखर पर चढ़ गये थे। वह शिखर उक्त पहाड़ पर स्तम्भ की भाँति स्थित था। वह दो हज़ार फुट ऊँचा था। उस शिखर और पहाड़ के बीच एक बहुत गहरा और तङ्ग गड्ढा था। हम इसे रस्से की सीढ़ी से पार करके उस शिखर पर चढ़ने के मार्ग तक पहुँच सके थे। यह बड़ी भारी जोखिम का काम था। तो भी हमने साहस करके उसे पार कर लिया। इसके बाद हम उस दुर्गम शिखर पर चढ़ने लगे। जब हम लोग उसकी चोटी पर जा पहुँचे तब सब लोग थक गये थे, किसी में ज़रा भी हिम्मत न रह गई थी।

दूसरों की अपेक्षा मुझमें कुछ उत्साह बाक़ी था, अतएव इस सफलता की उमङ्ग में मेरी यह इच्छा हुई कि मैं कुछ और चढ़ कर ठीक चोटी पर जा बैठूँ और वहाँ के सारे प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करूँ। मैंने झट वह रस्सी खोल डाली जिससे हम सब लोग एक दूसरे से बँधे थे। मैं अकेला ही चोटी पर जा चढ़ने को रवाना हुआ। कोई आध घंटा तक चढ़ते रहने के बाद मैं एक स्थान पर बैठ गया। मैं वहाँ का दृश्य बड़े ध्यान से देखने लगा। मेरा मन उच्च और श्रेष्ठ विचारों से परिपूर्ण था। इसी बीच में मुझे सहसा यह मालूम हुआ कि मेरे पैरों के नीचे की भूमि अपना स्थान छोड़ रही है और मैं भी उसी के साथ सामने के खड्डे में पहुँचना चाहता हूँ। उस चोटी का यह किनारा जिस पर मैं बैठा था, सम्भवतः बर्फ़ के कारण फट गया था और मेरे बोझ से वह अपने भाग से बिलकुल अलग हो गया था। इसी से वह खिसकने के लिए एका-एक डगमगा उठा। पीछे की ओर पलटा खाकर मैंने अपने बचाव की चेष्टा की, परन्तु इसमें सफल होने के लिए अवसर नहीं था। क्षण ही भर में मैं हवा में कला-बाज़ियाँ खाने लगा।

उस समय आँधी चल रही थी। अतएव मैं उतनी शीघ्रता से नीचे न आसका जितना कि मुझे आना चाहिए था। यह बात प्रत्यक्ष देख पड़ती है कि आकाश में उड़ती हुई चिड़िया बिना अपने बाज़ुओं को डुलाये उड़ती जाती है। यह बात तभी हो सकती है जब वायु की गति वेगवती होती है। अस्तु, नीचे पहुँचने में इस गति का अनुभव मैंने बड़े आनन्द के साथ किया। अपने आस-पास की वस्तुओं पर विचार करने के लिए मुझे काफ़ी समय मिल गया था। यह बात तो मुझे मालूम ही हो गई कि अब मैं मरा, परन्तु इससे न तो मुझे डर ही लगा और न किसी तरह की व्यथा ही हुई। मैं कह सकता हूँ कि यदि मुझे अपनी जान बचाने के लिए व्यर्थ प्रयत्न करने का भी अवसर मिल जाता तो मैं भय से अवश्य उद्विग्न हो जाता। परन्तु जब मैं अपनी सहायता अपने आप करने को सर्वथा असमर्थ था तब मुझे किसी तरह की चिन्ता करने के लिए कोई गुञ्जायश ही नहीं थी।

क्षण भर के लिए मुझे अपने सोने की घड़ी के लिए बड़ा रञ्ज हुआ। मैं उसे लगाये था और वह शीघ्र ही चूर चूर हो जाने को थी। परन्तु वह विचार जैसे उठा, वैसे ही जाता रहा। मेरी मानसिक दशा स्पष्ट रीति से प्रियकारक थी। मेरी वैसी ही दशा थी जैसी किसी बहुत ही शीघ्र चलनेवाले मोटर के सवार की हो। मेरी निगाह अपने साथियों पर जा पड़ी जो घबड़ाये जैसे मेरी ओर देख रहे थे। फ़ोटोग्राफ़र अपने केमेरा मुझ पर लगाये हुए थे, यह भी मुझे दिखाई पड़ा। आँधी मुझे पहाड़ से उड़ा लाई थी और सम्भवतः इसी से मेरे प्राण बच गये। इसके कारण मुझे ज़मीन तक पहुँचने में कुछ विलम्ब हो गया और इस तरह मैं खुली चट्टान पर गिरने से बचा। जब मैं पहाड़ से कुछ दूरी पर था तब मुझे उसका नक़्शा स्पष्ट दिखाई दिया। वह मुझे वैसा ही दिखाई दिया जैसे रेल के यात्री को दूरस्थ स्थान दिखाई देते हैं।

मेरा मस्तिष्क खूब तेज़ी के साथ काम कर रहा था।

मुझे समय का ज्ञान कुछ भी न था। यद्यपि मैं वायु-मण्डल में एक ही दो क्षण रहा हूँगा तो भी मुझे ऐसा समझ पड़ा कि मैं बहुत देर तक रहा हूँ। मुझे अपनी स्त्री और बाल-बच्चों का स्मरण हुआ! जब यह बात मेरे ध्यान में आई कि वे मुझसे छूट रहे हैं तब मुझे बहुत ही भारी दुःख हुआ। परन्तु इस बात का स्मरण होते ही कि उन्हें मेरी मृत्यु के बाद बीमा कम्पनी से एक अच्छी रक़म प्राप्त होगी, मुझे हँसी आगई। क्योंकि कम्पनी को बीमा किये अभी एक ही महीना हुआ था और उसे पहली ही किश्त मिली थी।

इसके बाद मुझे परम सुख का अनुभव होने लगा। इस हाड़-मांस के शरीर का परित्याग करके मैं अमरत्व के जगत् में प्रविष्ट हो गया था। अब मुझे मनुष्य के अस्तित्व की प्रत्येक बात स्पष्ट दिखाई देने लगी। झगड़ा, रञ्ज और दरिद्रता से बचने के लिए मनुष्य को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए यह बात मेरी समझ में अच्छी तरह आगई। परम सुख का रहस्य मुझे मालूम हो गया।

मैंने अपने मन में कहा—यदि मैं पृथ्वी पर फिर लौट सकता तो मैं संसार का कल्याण किसी दार्शनिक की अपेक्षा अधिक करता। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों मेरे कानों में आनन्दपूर्ण शान्ति गुञ्जायमान हो रही है और सूर्य, पहाड़ तथा जङ्गल सबके सब गा रहे हों। मेरी देह किसी वस्तु से रगड़ कर छिल गई है, इसकी कुछ भी ख़बर मुझे नहीं थी। परन्तु वास्तव में मैं कई बार टकराया था। जैसी घटना सङ्घटित हुई थी और जो मुझे बाद को मालूम हुई, केवल वही मैं बयान कर सकता हूँ। जब मैं एक हज़ार फुट की ऊँचाई से गिरा तब मेरी देह लगभग पहाड़ के सीधे ढलुए भाग पर जा गिरी जो घने वृक्षों से आवृत था। यदि मैं किसी सफाचट स्थान पर गिरा होता तो मेरी हड्डियाँ चूर चूर होगई होतीं। पर संयोगवश मैं एक नये वृक्ष की पतली डालियों पर गिरा और शीघ्रता से लड़खड़ा कर उनके बीच से निकल गया। तब दूसरे वृक्ष पर जा गिरा, फिर तीसरे पर। इस तरह मैं रुक रुक कर गिरा। जब मैं आख़िरी वृक्ष पर गिरा तब वहाँ से ज़मीन पर एक गढ़े में जा पहुँचा।

जब मेरे साथियों ने मुझे खोज लिया तब उन्हें विश्वास हो गया कि मैं मर गया हूँ। वे मुझे एक मकान में उठा ले गये जहाँ उन्होंने मुझे एक नर्म बिछौने पर लिटा दिया था। मेरे कपड़े टूक टूक उड़ गये थे। साँस का चलना भी नहीं मालूम देता था। मैं जीवित हूँ, इसका प्रमाण-स्वरूप एक भी चिह्न मुझमें नहीं था। परन्तु मैं स्वयं अच्छी तरह होश में था और परमानन्द का उपभोग कर रहा था।

मेरे पुराने मित्र डाक्टर हीम ने अच्छी तरह मेरी परीक्षा करके कहा—हा! एक भी ऐसा लक्षण नहीं देख पड़ता है जिससे इसके बच जाने की आशा की जाय। परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इतनी ऊँचाई से गिरने पर भी इसकी देह भयङ्कर रीति से क्षत-विक्षत होने से बच गई है। उस क्लब के सदस्यों की कई एक स्त्रियाँ ज़ार ज़ार रोने लगीं। इससे निस्सन्देह मुझे कष्ट हुआ। मेरी इच्छा हुई थी कि मैं उन्हें बता दूँ कि मरना कितना अधिक सुखद है, परन्तु मैं असमर्थ था।

डाक्टर मेरे ऊपर झुक कर देखने लगा। उसने नाड़ी की परीक्षा की। हड्डियाँ टटोलीं। मेरी दशा देख कर वह बहुत ही अधिक घबड़ा गया था। वह नहीं बता सका कि मैं मर गया हूँ या जीवित हूँ। बात यह थी कि मेरी रीढ़ और सिर में सख़्त चोट लगी थी। अतएव मुझे एक प्रकार का लक़वा सा हो गया था और मेरी शारीरिक गति-विधि बिलकुल बन्द होगई थी।

कई दिनों तक मेरा अब तब होता रहा। परन्तु मैं पूर्ण सुख में था। मुझे ज़रा भी कष्ट न मालूम पड़ता था। मैं निश्चिन्त होकर आराम और स्वतंत्रता के उद्वेग का उपभोग करता रहा। मेरा मस्तिष्क उतनी शीघ्रता से काम नहीं कर रहा था जितनी उसने गिरते समय दिखाई थी। परन्तु मैं उस नवीन जीवन-सम्बन्धी लम्बे लम्बे विचारों में लीन था जिसमें मैं प्रविष्ट हो रहा था। अधिक समय तक उसी प्रकार की उधेड़-बुन में पड़े रहने के बाद मुझमें फिर जान आने लगी और इस दशा में मुझे एक बार पीड़ा और बेचैनी का अनुभव हुआ। जब मैं पुनर्जीवित हुआ तब मुझे घोर कष्ट हुआ। अपने मृत्यु-कालीन सुखदावस्था के लिए मुझे प्रायः रञ्ज होता था।"

अब लंदन की मेट्रोपोलिटन फ़ायर ब्रीगेड के एक आग बुझानेवाले का हाल सुनिए। इसका नाम जेम्स

बर्टन है। एक बार लन्दन की अल्सगेट स्ट्रीट के एक मकान में आग लग गई। उसको बुझाते समय जेम्स बर्टन गिर कर मकान के नीचे दब गया था। उस मकान में आग ने ऐसा प्रचण्ड रूप धारण किया था कि सारा मकान जल कर गिर गया था। उसी के नीचे बर्टन कोई आठ घण्टे तक दबा पड़ा रहा।

जब उस मकान की ईंटें, लकड़ी आदि निकाली गईं तब बर्टन उसके नीचे दबा मिला। वह जलती ईंटों और धरनियों के नीचे दबा हुआ था। अतएव लोगों ने समझा कि वह मर गया होगा। उसकी लाश अलग उठा कर रख दी गई। डाक्टर लोग उन दूसरे लोगों की देखभाल में लग गये जो अभी तक मरे नहीं थे। तीन घंटे के बाद अवकाश मिलने पर एक डाक्टर ने बर्टन की लाश की भी परीक्षा की। सौभाग्यवश उसमें अभी तक कुछ साँस चल रही थी। डाक्टर को मालूम हुआ कि अभी कुछ जान है। अतएव सावधानी के साथ उसकी शुश्रूषा होने लगी और अन्त में वह चङ्गा हो गया। जिस डाक्टर ने उसकी चिकित्सा की थी उसने बर्टन के आरोग्य-लाभ करने पर उसका बयान लिया था। उस बयान को उसने डाक्टर बर्न्ट के पास भेज दिया था। उसी का सारांश आगे दिया जाता है।

बर्टन ने कहा—"मुझे मृत्यु आनन्दप्रद ज्ञात हुई। यदि स्त्री-बच्चों का मोह न होता तो मुझे आरोग्य-लाभ करने के लिए निस्सन्देह खेद होता। रुग्णावस्था में मुझे ज़रा भी कष्ट नहीं हुआ। इस कथन से मेरा यह मतलब नहीं कि जल जाना तथा धुएँ से दम घुटना कष्टप्रद नहीं है, किन्तु भाग्यवश मुझे इन दोनों प्रकार के कष्टों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर ही न मिला।

आग बुझाने के लिए जब मैं पहली छत के ऊपर से जा रहा था उसी समय वह जल कर फट पड़ी। उसके साथ ही मैं भी नीचे चला गया। अपनी दशा पर मैं कुछ सोचूँ कि इतने ही में एक शहतीर ठीक मेरे सिर पर आ गिरा। उसकी चोट से मैं मूर्छित हो गया। जब मुझे कुछ चेत हुआ तब मैंने अपने को अस्पताल की चारपाई पर पड़ा हुआ पाया, पर यह नहीं जानता था कि मैं किस स्थान में हूँ। मैं अपने को पृथ्वी पर नहीं समझता था। मैं अत्यन्त प्रसन्न और आराम में था। वास्तव में अपने जीवन में मैं पहले कभी इतना सुखी नहीं था। मुझे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं थी। यद्यपि मैं अपने शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों को हिलाने-डुलाने में बिलकुल असमर्थ था तो भी मेरा मस्तिष्क अच्छी तरह काम दे रहा था। मुझे इतने अधिक सुख का अनुभव होता था मानों मैं गुलाब के फूलों की सेज पर लेटा हुआ हूँ और मेरी शुश्रूषा अप्सराएँ कर रही हों।"

स्वीज़रलेंड के रेवरेंड हरमन स्टाकलर एक बार माउन्ट सेन्ट बरनार्ड पर बर्फ़ के तूफ़ान में भटक गया था। खोजने पर वह संज्ञाहीन अवस्था में मिला था। डाक्टर बर्न्ट को, जो अपना अनुभव उसने बताया था, उसका सारांश इस तरह है।

"बर्फ़ के गिरने के कारण जब मुझे राह न सूझने लगी तब मैं बहुत ही भयभीत हो गया था। मैं मार्ग की खोज में घंटों भटकता रहा, परन्तु अन्त में मुझे अपने प्रयत्न से विरत होना पड़ा और मैं थक कर वहीं बर्फ़ में गिर गया। जिस समय मैं अपनी रक्षा के उद्योग के प्रयत्न से विरत हुआ था उस समय से मुझे अत्यन्त अधिक सुख मिलने लगा। मेरे हाथ और पैर बर्फ़ से ठिठुर गये थे। मैं हिल-डुल नहीं सकता था, पर मेरी दृष्टि ज्यों की त्यों बनी रही। मैं बड़ी देर तक पड़े पड़े देखता रहा। बर्फ़ का गिरना मुझे बहुत ही आनन्ददायक लगता था। मुझे अपने जीवन में ऐसा आनन्ददायक अवसर कभी नहीं प्राप्त हुआ था। मैंने कहा—मुझे आशा है, मेरे पास आकर कोई मेरे इस सुख में बाधा नहीं देगा। अन्त में मेरी दृष्टि भी मन्द होने लगी और मैं आनन्ददायक निद्रित अवस्था में प्राप्त हो गया।"

परन्तु सबसे अधिक असाधारण ढङ्ग का अनुभव पर्सी विलियम्स को हुआ था। उसके खोपड़े पर गहरी चोट लगने से उसका सिर फूट गया था। जब वह अपनी चोट के कारण शय्यागत हो गया था और अस्पताल में उसके सिर में नश्तर दिया जा रहा था उस समय भी उसका मन आनन्द-सागर में मग्न हो रहा था। उसने अपने बयान में कहा है—मैंने समझा था कि मैं स्वर्ग में पहुँच गया हूँ।

डाक्टर बर्न्ट ने इस प्रकार के सैकड़ों बयान संग्रह किये हैं। उनके मित्र डाक्टरों ने अपने मृत्यु-प्राप्त रोगियों

के आरोग्य-लाभ करने पर जो उनके बयान लिये थे उन्हें उन लोगों ने बर्न्ट साहब को देकर इस कार्य में ख़ूब सहायता की है। ऐसे ही बयानों में से आगे एक और बयान दिया जाता है। प्रोफ़ेसर मेचनीकाफ़ पेरिस के पास्टियर इन्स्टिट्यूट Pastuer Institute के प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। इन्होंने आयुष्य-वृद्धि के उपायों की खोज की है। इन्हें इस सम्बन्ध का अपना अनुभव है। उसी का सारांश सुनिए।

"अनेक रोग और दुर्घटनाएँ ऐसी उपस्थित हो जाती हैं जिनसे मृत्यु का सान्निद्धय पीड़ा-जनक नहीं प्रतीत होता। एक बार मैं ज्वर से बहुत ही अधिक पीड़ित हुआ। यहाँ तक कि मेरी स्थिति बुरी होगई। एक दिन शरीर की गरमी ११० डिग्री से एकाएक नार्मल हालत को उतर आई। उस समय मुझे असाधारण ढङ्ग की निर्बलता मालूम होने लगी। वह उसी प्रकार की थी जैसी मृत्यु के समय हो जाती है। आश्चर्य तो यह है कि वह मुझे कष्ट-दायक नहीं, वरन् आनन्ददायक प्रतीत हुई।"

निस्सन्देह यह बात बहुत सम्भव है कि अनेक उदाहरणों में मृत्युकाल की दशा अत्यन्त ही सुखदायक प्रतीत हुई हो और सम्भवतः उस दशा की अपेक्षा इहलोक में सुखकारी और दूसरा समय न भी होता हो।

म्यूनिच की मिसवर्था कुलमैन ने अपने अनुभव का जो विवरण समाचारपत्रों में छपवाया था उसका कुछ अंश आगे उद्धृत किया जाता है:—

"मैं एक बार भयङ्कर निमोनिया से आक्रान्त हुई। रोग की प्रारम्भिक स्थिति में मुझे घोर कष्ट सहन करना पड़ा, पर ज्यों ज्यों रोग उग्र होता गया त्यों त्यों मेरा क्लेश कम पड़ता गया। अन्त में मुझे बहुत ही अधिक सुख मिलने लगा। मेरी मृत्यु बिलकुल समीप आ पहुँचने पर मैं संज्ञा-शून्य हो गई। यहाँ तक कि मैं अँगुली तक न हिला सकती थी। जब मेरे सम्बन्धियों को इस बात का विश्वास हो गया कि मैं अब बचने की नहीं तब उन लोगों ने एक पादड़ी को बुलवाया। पादड़ी ने देख कर कहा कि मुझे सन्देह है कि यह कुछ भी समझ सकेगी, तो भी मैं अपना काम करता हूँ। परन्तु मैं सब कुछ समझ बूझ रही थी और जो क्रिया पादड़ी ने की थी उससे मुझे और भी अधिक शान्ति प्राप्त हुई।"

डाक्टर बर्न्ट साहब लिखते हैं, एक बार जाड़े के दिनों में मैं बर्फ़ पर स्केट कर रहा था। यह बात एडिनबरा के समीप सेन्ट मेरीज़ लाच की है। सहसा मौसम दिन ही में गर्म हो गया इस कारण कई स्थानों में बर्फ़ की तह पिघल कर पतली होगई। अँधेरा हो गया था तो भी मैं अपने खेल में मस्त होकर व्यायाम के सुख का उपयोग कर रहा था। न मुझे समय ही का ध्यान था और न इसी बात का कि मैं कहाँ हूँ। मैं उस समय झील के उस भाग पर स्केट कर रहा था जहाँ और कोई नहीं था। मैं उस स्थान से दूर निकल आया जहाँ लोगों की भीड़ मेरी ही तरह स्केटिंग कर रही थी। मेरी स्केटिंग की गति बहुत ही शीघ्र थी। मैं झील के किनारे कुछ झाड़ियों के पास पहुँचा ही था कि सहसा मैंने कुछ फटने की आवाज़ सुनी। मेरे पैर नीचे को धँसने लगे, मैं तुरन्त समझ गया कि बर्फ़ की पतली सतह पर आ गया हूँ। अतएव मैंने अगल-बग़ल की बर्फ़ पकड़ने के लिए अपने हाथ बढ़ाये। परन्तु वह छिद्र बड़ा था और मैं उसके भीतर शीघ्रता से जा रहा। मैं उस अथजमे पानी के भीतर समा गया और जब मैं ऊपर को उठा तब मैंने अपने को बर्फ़ की सतह के नीचे पाया, जहाँ से मैं भीतर चला गया था। वह स्थान मुझसे गज़ों के फ़ासले पर था। तैर कर उस स्थान तक पहुँचने का प्रयत्न मैं बार बार करने लगा, परन्तु मैं अपने प्रयत्न में निष्फल हुआ। कपड़ों से लदे रहने के कारण एवं जल की ठंढक से भी मैं अधिक देर तक न तैर सका। मेरी शक्ति जवाब दे गई। मैं संज्ञाशून्य होगया। यहाँ तक कि मेरी साँस भी बन्द होगई और मेरे पेट तथा फेफड़ों में पानी भर गया।

जिस समय से मैंने अपनी रक्षा करने का प्रयत्न बन्द कर दिया, मुझे किसी प्रकार का कष्ट भी न मालूम पड़ने लगा। मैं जानता था कि अब मैं मर रहा हूँ, परन्तु मुझे इस बात का बड़ा आश्चर्य हुआ कि मेरा मरना मुझे आनन्दप्रद प्रतीत हो रहा था। मुझे उस समय न तो ठंढ ही मालूम पड़ रही थी और न मेरा दम ही घुट रहा था। मुझे तो ऐसा समझ पड़ता था, मानों मैं एक बहुत ही नर्म कोच पर लेटा उतरा रहा हूँ। इसके सिवा अत्यन्त ही मधुर सङ्गीत की ध्वनि मेरे कानों में सुनाई पड़ रही थी।

ऐसी असाधारण ध्वनि मैंने अपने जीवन में पहले कभी नहीं सुनी थी। कुछ देर बाद मुझे ऐसा मालूम होने लगा कि मुझे कोई धीरे धीरे ऊपर को उठा सा रहा है और अदृश्य देवदूत तथा मृतात्माएँ मुझे मधुर सङ्गीत सुना रही हैं। उस समय मेरी आँखें सुघर और श्वेत प्रकाश से पूर्ण हो गई। यही नहीं, वह प्रकाश मेरे चारों ओर आकाश में भी व्याप्त था। मैं नहीं समझ सका कि वह कहां से आ गया था। वहां न तो सूर्य था और न कोई दीपक ही था। वह प्रकाश अलौकिक सा मालूम पड़ता था, पर था वह आनन्दप्रद और सन्तोषदायक। वैसा प्रकाश मुझे और पहले कभी नहीं देख पड़ा था।

सङ्गीत की ध्वनि मन्द पड़ने लगी, किन्तु वह बिलकुल ही बन्द न होगई, कुछ न कुछ ज़रूर बनी रही। नाटक के दृश्यों की भाँति मेरे गत जीवन की घटनाएँ मेरी आँखों के सामने दौड़ने लगीं। आश्चर्य तो यह था कि मुझे वही घटनायें देख पड़ीं जो आनन्ददायक थीं। उस समय मेरी ऐसी स्थिति थी कि मैं केवल आनन्दप्रद बातें ही स्मरण कर सका। मेरी इच्छा हुई कि मैं अपने मित्रों को देखूं। तुरन्त ही वे मुझे दिखाई देने लगे और मैं उनसे बातें करने लगा। मैं वाचाल नहीं हूँ। परन्तु अपनी मृत्यु-दशा में मैं प्रगल्भ हो गया था और मैंने ख़ूब ही बातचीत की। मैं एक दार्शनिक तथा कवि की भाँति अपने विचारों को व्यक्त करने में समर्थ हो गया। मैंने वे बुद्धि-संयुत तथा श्रेष्ठ विचार व्यक्त किये जो पहले मेरे मानस-पटल ही पर अङ्कित रहा करते थे और जिन्हें मैं कभी शब्दरूप में प्रकट न कर सकता था। मेरे मित्र लोग भी मुझे वैसी ही बातचीत में चतुर तथा प्रगल्भ मालूम हुए, यद्यपि पहले उनमें वैसी प्रतिभा नहीं थी।

कुछ समय के बाद मेरे मित्र अन्तर्धान होगये। केवल मेरी प्रेयसी ही मेरे पास रह गई। उसके मुखारविन्द से चिन्ता का भाव झलकता था। उससे व्यक्त होता था, मानों मुझ पर कोई आपदा आ पड़ी हो। मैंने उससे कहा कि मैं मर रहा हूँ, पर आशा है कि हम फिर मिलेंगे। मैंने कहा, "अभी थोड़ा समय है जिसमें हम लोग एक साथ रह सकते हैं। आओ अब उसका उपभोग कर लें।" उसने कहा—"मैं सब तरह से राज़ी हू" यह कह कर उसने मुसकरा दिया और वह मेरे पास आकर बैठ गई। जब हम दोनों एकत्र बैठे थे, एक अत्यन्त आश्चर्यजनक तमाशा हो गया। हमने संसार के सम्पूर्ण सुन्दर स्थान, जिनकी देखने की मेरी बड़ी लालसा थी और जिन्हें समय और धन के होने पर देखने का विचार मैंने पहले कर रक्खा था, देख लिये। हम लन्दन जा पहुँचे और स्ट्रेंड की दूकानें देखीं। इसके बाद हमने वहां का 'टावर' और बकिंघम पैलस देखा। राजमहल में हमने राजा-रानी के दर्शन किये। इस के बाद हम योरप जा पहुँचे। वहां हमने पेरिस की सैर की। अरकाड़ी ट्रिओम्फ़ी की चोटी पर चढ़ कर हमने नेपोलियन का मक़बरा देखा। हमने वहां का सबसे बड़े नाटकघर का थियेटर भी देखा। इसके बाद हमने मेडीटिरैनियन समुद्र की यात्रा की और फ्लोरेंस, रोम, नेपल्स तथा वेनिस में ठहरे, फिर आराम के साथ स्वीज़रलेंड गये। वहां से उत्तर ओर यात्रा करते हुए राइन नदी पर आये। इसके बाद हम फिर अपने प्यारे स्काटलेंड में वापस आ गये।

मुझे इस बात की पूर्व सूचना मिल गई थी कि मेरी प्रेयसी के बिदा होने का समय आ गया है। मुझे इस समय भी किसी प्रकार के कष्ट तथा थकावट का अनुभव नहीं था। बिना किसी प्रकार का दुःख प्रकट किये हमने एक दूसरे के मुख का चुम्बन किया और वह चली गई।

इसके बाद मेरी मृत-माता का दर्शन हुआ। वह मेरे ऊपर झुकी सी थी। उसने मेरे कान में कहा कि आराम कर और प्रसन्न हो। मैं तेरी रक्षा करूँगी। तब मुझे अत्यन्त अधिक सुख और शान्ति का अनुभव होने लगा। वह एक ऐसे प्रकार का सुख और शान्ति थी जिसकी न तो मैं कल्पना ही कर सकता हूँ और न मुझे कभी इस संसार में नसीब ही हुआ। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों मैं स्वर्ग में हूँ और यह वही स्थान था जिसका चित्र प्रायः मैं धर्म-ग्रन्थों तथा अपने पादड़ियों के उपदेशों को पढ़ कर अपने मन में खींचा करता था। ऐसी आनन्ददायक अवस्था में मैं बड़ी देर तक रहा। मैं समझता हूँ कि वह समय हज़ारों वर्षों का रहा होगा।

इसके बाद मैं बिलकुल अचेत हो गया। मुझे उस दशा की ज़रा भी ख़बर नहीं रही। उस अवस्था से मैं सहसा अत्यन्त ही घोर वेदना के कारण जाग पड़ा। बात यह हुई,

जैसा कि मुझे बाद को मालूम हुआ कि मैं खोज निकाला गया और जल में डूबे हुए आदमी को पुनरुज्जीवित करने के लिए जो उपचार किये जाते हैं वे सब मुझ पर किये गये। मुझे उस समय घोर कष्ट का अनुभव हुआ जब मुझमें फिर प्राण का सञ्चार हुआ था। मेरे मुँह से उस समय यही निकला था, "मुझे क्यों नहीं निर्जीव पड़ा रहने देते। मुझे इसी दशा में परमानन्द है।"

अपने इस अनुभव का विचार करके मुझे विश्वास हुआ है कि जब मैं पानी के नीचे था तब मेरे शरीर का सम्बन्ध मस्तिष्क से टूट गया था। मेरा मस्तिष्क बराबर क्रियाशील बना रहा और शारीरिक कष्टों से निर्विकल्प हो जाने के कारण वह केवल आनन्ददायक विचारों ही की कल्पना करता रहा।

यहाँ एक और ऐसा ही विवरण देने के बाद यह लेख समाप्त किया जाता है। यह विवरण उस दुर्घटना का है जो मोटर-दौड़ का अभ्यास करने के समय सङ्घटित हुई थी। सीसे साहब सार्थे की मोटर-दौड़ में भाग लेना चाहते थे अतएव वे भी दौड़ का अभ्यास कर रहे थे। यह दुर्घटना नारमंडी में इवरू (Evreux) के समीप सङ्घटित हुई थी। साहब लिखते हैं:—

"६० घोड़ों की ताक़त की रिनाल्ट नाम्नी दौड़ की मोटर-गाड़ी पर मैं सवार था। एक बहुत ही सम और चौड़ी सड़क पर मेरा मोटर अत्यन्त ही द्रुतगति से दौड़ रहा था। अन्त में मैंने उसकी गति ६४ मील प्रति घंटे की कर दी। मोटर की गति इतनी तेज़ होगई थी कि मैं नहीं समझ सकता था कि वह ज़मीन पर चल रहा है या हवा में। मुझे तो ऐसा मालूम देता था कि मैं हवा में उड़ सा रहा हूँ। दूर की चीज़ों की झलक भर देख पड़ती थी और सो भी एक ही बार।

जिस सड़क पर मेरा मोटर जा रहा था वह दस मील तक लगभग ५० फुट चौड़ी और बिलकुल सीधी थी। एकाएक मुझे मालूम हुआ कि कुछ कम दो मील के अन्तर पर सड़क की बाईं ओर, जहाँ उसे चाहिए था, एक दूसरा मोटर खड़ा है। मैं अपने मार्ग पर सीधा चला गया, क्योंकि मेरी राह में कोई दूसरा मोटर नहीं था। मैं मुश्किल से ४५० फुट दूर रहा हूँगा कि सहसा मुझे एक दूसरा मोटर अपनी ओर आता हुआ दिखाई दिया। जब कोई मोटर ६४ मील प्रति घंटे की चाल से जा रहा हो तब उसके लिए इतना फ़ासिला कुछ भी नहीं है। दो ही सेकेंड में मैं उस मोटर के पास जा पहुँचा। मैंने अपनी शक्ति भर टक्कर बचाने की कोशिश की और अपना मोटर मार्ग पर ही रखना चाहा मैं सर्र से उस मोटर के पास से निकल गया। एक या दो ही इंच का अन्तर मेरे और उस मोटर के बीच रहा होगा। मैंने अपने मन में सोचा कि मैं बड़ी भारी जोखिम से बच गया हूँ। जिस मोटर की टक्कर से मेरा मोटर बाल बाल बचा था उसके पीछे जो मेरी निगाह पहुँची तो मैंने दो सैनिकों को मोटर साइकिलें लिये जाते देखा। मेरे मोटर के एक चाक से संयोगवश पिछली मोटर साइकिल टकरा गई। मैंने पास ही के खेत में उस साइकिल के टुकड़े उछलते देखे। वह टूट गई, पर सैनिक के कुछ भी चोट न लगी।

आगे बढ़ने पर मुझे एक दूसरे मोटर का सामना हुआ। अतएव मैंने उससे बचने के लिए अपने मार्ग से ज़रा ही सा दाहनी ओर को अपना मोटर झुकाया। परन्तु दुर्भाग्य से मैं एक-दम रास्ते से अलग हो गया और मेरा मोटर पास के खेत में जा रहा। मैं ऐसी आफ़त में जा पड़ा जैसी आफ़त का सामना शायद ही कभी किसी मोटर के सवार को करना पड़ा हो। उस खेत को सींचने के लिए उसमें बड़ी बड़ी नालियाँ एक दूसरे के बराबर बराबर बनी हुई थीं। प्रत्येक नाली चार फुट चौड़ी और लगभग सौ फुट के अन्तर पर थी। ये नालियाँ संख्या में कुल बारह थीं।

पलक मारते ही मेरा मोटर उस जुते हुए खेत का १०० फुट रक़बा पार कर गया। जब वह उन नालियों से टकराता तब वह हवा में ऊपर उछल कर नीचे आ गिरता। इस तरह वह प्रत्येक नाली से टकराता और उछलता उड़ा चला जाता था। अन्तिम नाली के पास सड़क के रक्षक की झोपड़ी थी। जब मैं वहाँ पहुँचा तब वे दोनों स्त्री-पुरुष भोजन कर रहे थे। मकान की टक्कर से मेरा मोटर बाल बाल बच गया, नहीं तो मैं तथा वे दोनों स्त्री-पुरुष तुरन्त परमधाम को पहुँच जाते।

मैं अपने आपको मृतक समझने लगा। मेरी साँस बन्द होगई थी। मैं ब्रेक को घुमा कर गाड़ी को रोकने

में असमर्थ हो गया था। मैंने समझा कि आगे अब एक दो सेकेंड में किसी ऐसी वस्तु से टकरा जाऊँगा जिससे मेरी मृत्यु अवश्यम्भावी है। तो भी मुझे भय नहीं मालूम हुआ। मैं उस समय एक विशेष ही प्रकार के आनन्द से अभिभूत हो रहा था।

एक मील या उससे ऊपर मैं उस बीहड़ भूमि में नालियाँ और झाड़ियाँ नाँघता हुआ चला गया। उसके बाद मुझे कुछ सम भूमि मिली तब मैं ब्रेक का उपयोग करने में समर्थ हुआ। मोटर के रुकने के पहले ही धक्के से उछल कर मैं एक पेड़ पर जा गिरा, परन्तु उसकी चाल इतनी कम पड़ गई थी कि मुझे उसके धक्के से उतनी अधिक साङ्घातिक चोट पहुँचने की सम्भावना नहीं रह गई थी। हाँ, यदि दो एक मिनट पहले मैं गिरा होता तो उसका परिणाम अवश्य ही भयङ्कर होता। जब मैं ऊपर हवा में उछल गया था तब मैं भयभीत नहीं हुआ था। मुझे उस समय आनन्द के शीघ्र उठनेवाले भाव अवश्य अनुभव होने लगे थे।

मैं कई घंटों तक बेहोश पड़ा रहा। मुश्किल से मेरी देह में एक भी हड्डी मज़बूत रह गई होगी। मुझे बहुत ही गहरी भीतरी चोट लगी थी। उदाहरण के लिए मेरा हृदय अपने स्थान से चार इञ्च हट गया था। जब मुझे होश हुआ उस समय भी मैं न तो हिल सकता था और न कुछ बोल ही सकता था। मैं केवल अपनी आँखें खोले हुए अपने चारों ओर देख भर रहा था कि क्या हो रहा है। डाक्टर लोग अपना सिर हिला हिला कर कह रहे थे कि मेरे बचने की कोई आशा नहीं है। उन्होंने यह जानने को कि मुझको कहाँ कहाँ चोट लगी है मुझे खूब हिलाया-डुलाया, पर उससे मुझे कुछ कष्ट न हुआ। उन्होंने यह कहा कि यदि मैं मर जाता तो बहुत अच्छा होता। मुझे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं मालूम पड़ती थी। उनकी इस बात से भी कि मैं नहीं बचूँगा, मुझे ज़रा भी क्षोभ या खेद नहीं हुआ। मुझे इस बात का भय नहीं मालूम हुआ कि वे मुझे मर जाने देंगे, क्योंकि मुझे मरना अत्यन्त ही आनन्ददायक प्रतीत हो रहा था।

जो भाव मेरे हृदय में उठ रहे थे वे अत्यन्त ही शान्ति-दायी और आनन्द-व्यञ्जक थे। जब मैं जीवितावस्था में था तब कभी मुझे ऐसे आनन्द का उपभोग नहीं प्राप्त हुआ था। जो चोट मुझे लगी थी उसका मुझे ज़रा भी अनुभव नहीं हो रहा था। मेरा मन बिलकुल स्वच्छ था। मैंने सोचा कि यदि मेरा मन इसी प्रकार पहले भी स्थिर रहा होता तो यह दुर्घटना कदापि न होने पाती। इसके बाद मैंने यह गणना की कि मैं किसी मोटर को बेच कर एक महीने के भीतर ही १,००,००० फ्रैंक किस तरह पैदा कर सकता हूँ। मैं मर रहा था। अतएव मैंने सोचा कि अब मैं अपनी यह व्यवस्था कार्य में परिणत नहीं कर सकता।

मैं पूर्ण आनन्द में पड़ा था और विचित्र प्रकार के भाव मेरे मन में उठ रहे थे। मैंने सोचा कि मैं एक बहुत ही शीघ्रगामी मोटर पर सवार हूँ। यह उस मोटर से भी शीघ्रगामी था जिस पर मैं अभी सवार था और जिससे मैं इस सङ्कट में पड़ गया था। वह उड़ सी रही थी। उसके मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट भी नहीं थी। परन्तु जब मैंने अपने चारों ओर निगाह डाली तब पूर्वोक्त विचार जाता रहा और मैंने समझा कि मैं एक रबड़ की सड़क पर चल रहा हूँ। मोटर विचार ही के द्वारा चल रहा था। जब जैसी चाल मैं चाहता तभी वह उस चाल में चलने लगता था। जिस स्थान में पहुँचने की इच्छा मैं करता, तुरन्त वहाँ पहुँच जाता। कभी कभी उसकी चाल का हिसाब लगा कर मैं अपने मन को प्रसन्न करता। मैंने अपनी घड़ी निकाल ली और पहाड़ी पर के एक बड़े भारी महल की ओर निगाह डाली। वह वहाँ से बीस मील के लगभग रहा होगा। मैंने वहाँ जाने की इच्छा की। बात की बात में मेरा मोटर उस महल के आँगन में जा खड़ा हुआ। मैंने घड़ी को देखा दो ही सेकेंड में मैं उस महल में जा पहुँचा था। मेरे मोटर की चाल साठ मील प्रति मिनट की थी। परन्तु इतना ही नहीं, मैं उसे इससे भी तेज़ दौड़ा सकता था।

मैं सदा अपना मोटर दौड़ाता ही नहीं रहा। कभी कभी मैं उसे अपनी कल्पित चिकनी सड़क पर धीरे धीरे चला कर मनमोहक दृश्यों का आनन्द भी उपभोग करता था।

इसके बाद मैं स्वप्नावस्था में प्राप्त होगया। उस समय मैं अपने मित्रों तथा कुटुम्बियों से बातचीत करने लगा या उनके साथ रह कर अपना समय चुपचाप बिताने लगा। ऐसा भी समय आता था जब मैं कुछ भी विचार

नहीं करता था। मेरा मन बिलकुल स्थिर हो जाता था। यह बात तभी होती जब मुझे इस बात का बोध होता कि मोटर की दुर्घटना के कारण अब मैं मर रहा हूँ। मुझे विश्वास होता है कि यह वही समय रहा होगा जब मैं मृत्यु के बिलकुल ही निकट था। मैं उस समय संसार के आनेवाले लोक से तुलना करता। उस समय भी मुझे किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता था। मैं मर रहा हूँ, यह जान कर मुझे उसकी भयङ्करता का अनुभव कुछ भी न हुआ, जैसा कि जीवितावस्था में उसके आगमन की सूचना से प्रायः बोध हुआ करता है। मुझे मालूम हुआ कि कष्ट, श्रम, चिन्ता और दुःख सदा के लिए लुप्त हो गये थे। जब मैं चङ्गा होने लगा तब यह देख कर कि पीड़ा और दुःख से मैं व्यथित हो रहा हूँ देखनेवालों को आश्चर्य-जनक हुआ। मैं उस समय को सदा स्मरण करूँगा जब मैं मृत्यु-मुख में पतित समझा गया था, क्योंकि मैं उसे अपने जीवन का सबसे बढ़कर आनन्दप्रद अवकाशकाल समझता हूँ।

गणेशप्रसाद चौबे

हमारी स्थिति ।

लड़कपन तो मुकाम खूब रहा।
दुःख थे; पाप का पर नाम न था ॥
नीचता से या दुराचारों से,
झूठ से, बद से कोई काम न था ॥
पैर दुनिया में पहला रखते ही।
पाप का सामना हुआ हम से ॥
जीत उसकी हुई, तब नीचता का।
काम वह कौन, जो रहा हम से ॥
सो रही थीं कुवासनायें सब।
नींद से मानों एक साथ जगीं ॥
हर क़दम पूरी उन्हें करने लगे।
लालसायें जो दिल के हाथ लगीं ॥
हो गये दूर यों मुकाम से हम।
दूर तुमसे भी होते जाते हैं ॥
फिर भी लोगों का यही कहना है—
ख़ूब ! हम आगे बढ़ते जाते हैं ॥
उतर पाये न झाड़ से जो इधर।
उधर फल तक न जब पहुँच पाये ॥
फ़ायदा कौन सा है चढ़ने में ?
जब न दोनों में कोई हाथ आये ॥
लौट सकते नहीं मुकाम पर अब।
युक्तियाँ सैकड़ों भी गढ़ने से ॥
न आगे होती पहुँच मंज़िल तक।
बाज़ आये हम ऐसे बढ़ने से ॥

रामानुज

विविध विषय ।

१—हिन्दी की सामयिक कविता।

कहा जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। समाज की जैसी अवस्था होती है तदनुकूल साहित्य का निर्माण होता है। यदि हम किसी देश की यथार्थ अवस्था जानना चाहते हैं तो हमें उसका तत्कालीन साहित्य देखना चाहिए। परन्तु क्या साहित्य समाज का अनुगामी ही होता है? यदि साहित्य केवल समाज का अनुगमन ही करे तो उससे विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं है। साहित्य समाज के भविष्य-पथ का प्रदर्शक होता है। वह समाज की गति को निर्दिष्ट कर देता है। अतएव हम साहित्य के दो विभाग कर सकते हैं, एक तो सामयिक साहित्य जो समाज का अनुसरण करता है और दूसरा स्थायी साहित्य जो समाज के भविष्य भाग्य का विधाता है। सामयिक साहित्य समाज की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह उसकी रुचि के अनुकूल ही चलता है, पर स्थायी साहित्य को समाज के विरुद्ध भी चलना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे पहले पहल उसकी उपेक्षा की जाती है, फिर उपहास किया जाता है और अन्त में उस पर घोर आघात भी किये जाते हैं। यदि वह इन सबका सामना कर सका तो समझना चाहिए कि वह चिर-काल तक जीवित रहेगा।

हिन्दी में आज-कल सामयिक कविताओं ही की धूम

है। देश के सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो आन्दोलन हो रहे हैं उन्हीं का अनुसरण कर कविताओं की रचना की जाती है। जिधर समाज की आकृष्टि होती है उधर कवियों की भी दृष्टि जाती है। ऐसी रचनायें निरर्थक नहीं होतीं। इनसे तत्कालीन भावों का अच्छा प्रचार हो जाता है। पर यहीं उनकी उपयोगिता का अन्त हो जाता है। अब हम हिन्दी-साहित्य की आधुनिक कविताओं पर विचार करना चाहते हैं।

वर्तमान हिन्दी-काव्यों की तीन विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता यह है कि अब कविताओं के लिए खड़ी बोली ही प्रयुक्त की जाती है। खड़ी बोली के पक्षपाती उसका पक्ष-समर्थन इसी लिए करते हैं कि उसके द्वारा गद्य और पद्य की भाषा कभी एक हो जायगी। व्रज-भाषा की प्रान्तीयता को हटा कर वे हिन्दी में राष्ट्रीयता का समावेश करना चाहते हैं। दूसरी बात यह है कि कविता प्रासादिक होने के कारण जनता के लिए बोध-गम्य हो जायगी और तब उसके द्वारा लोगों में सुरुचि फैलेगी। यह सच है कि हिन्दी के प्राचीन काव्यों में भाव और माधुर्य की प्रचुरता है। परन्तु भाव और माधुर्य का ठेका न तो व्रज-भाषा ने लिया है और न खड़ी बोली ने ही। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि गद्य और पद्य की भाषा कभी एक नहीं हो सकती। कोई कितना भी कवित्व-पूर्ण गद्य क्यों न लिखे, वह भाषा पद्य के लिए उपयुक्त हो ही नहीं सकती। गद्य को पद्य में परिणत करते ही उसका स्वरूप बदल जाता है। न तो गद्य की मधुरता पद्य में आ सकती है और न पद्य की मधुरता गद्य में ही। हिन्दी-साहित्य में खड़ी बोली की कविताओं की जो वृद्धि हो रही है उसका कारण ढूँढ़ने के लिए हमें वर्तमान समाज की ओर ध्यान देना चाहिए। भारतवर्ष के लिए यह युग परिवर्तन-काल है। अँगरेज़ी शिक्षा का प्रभाव भारत पर खूब पड़ा। अँगरेज़ी शिक्षा की बदौलत भिन्न भिन्न प्रान्तों का पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ रहा है। वर्तमान युग की नवीनता ने समाज को अस्थिर कर दिया। सभी लोग आत्मोन्नति के लिए कटि-बद्ध होगये हैं। इन्हें अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तोष है। असन्तोष का यह भाव इतना तीव्र होगया है कि लोगों को भूतकाल का बन्धन असह्य है। अतएव जब कोई यह कहता है कि तुम्हारे भावों की अभिव्यक्ति के लिए इतना ही स्थान है, इससे अधिक तुम नहीं जा सकते, तब लोग उस निर्धारित सीमा को भङ्ग कर डालते हैं। सभी देशों में यही भाव कभी न कभी जागृत होता ही है। समाज में जब किसी नवीन भाव का विशेष प्राबल्य होता है तब वह उस भाव को व्यक्त करने के लिए नवीन पथ ढूँढ़ निकालता है। बौद्ध-काल में प्राचीन संस्कृत का स्थान प्राकृत ने ले लिया। इसका कारण यह नहीं है कि संस्कृत-भाषा अनुपयुक्त है। बात यह है कि बौद्ध-धर्म के सार्वजनिक भावों के लिए सार्वजनिक भाषा की ज़रूरत थी। इसी लिए प्राकृत का प्राबल्य हुआ। बौद्ध-धर्म का पतन होने पर संस्कृत-साहित्य का पुनरुद्भव हुआ परन्तु शीघ्र ही उसका प्रचार अत्यन्त परिमित हो गया। हिन्दी में जब तक भक्तिवाद का प्राबल्य था तब तक व्रज-भाषा का आदर था। परन्तु जब व्रज-भाषा के साहित्य ने काव्य-कला के चमत्कार पर अपनी शक्ति लगा दी तब वह सार्वजनिक न होकर परिमित हो गया और अब राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति के लिए खड़ी बोली उपयुक्त समझी जाती है। खड़ी बोली की प्रचार-वृद्धि से भारत की वर्तमान अवस्था सूचित होती है।

खड़ी बोली के काव्यों में अभी कला का चमत्कार नहीं देखा जाता। हमारे कविगण स्पष्ट शब्दों में स्पष्ट बातें कहते हैं। उन्होंने अपनी कविता-कामिनी का मुख किसी अवगुण्ठन से नहीं ढका है। दो एक को छोड़ कर प्रायः सभी कवि आचार्य के आसन पर बैठ कर लोगों को कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा देते हैं। उनकी सम्मति है कि कवियों का काम मनोरञ्जन नहीं, शिक्षा-दान है। अतएव शिक्षा के नाम से वे स्कूलों की दीवालों पर चिपकाने योग्य उपदेशों के गट्ठे हिन्दी के पाठकों पर लाद रहे हैं। कोई कवि करुणा-व्यञ्जक स्वर से उपदेश देता है तो कोई निदेश-सूचक वाक्यों में शिक्षा प्रदान करता है। अब कुछ समय से राष्ट्रीय गानों की गर्जना सुनाई दे रही है। राष्ट्रीय भावों की पोषक जो कवितायें हिन्दी के पत्रों में छपती हैं उनमें से अधिकांश 'खूँ' और 'कलेजे' से लदफद रहती हैं। उनमें उर्दू-हिन्दी का संमिश्रण देख कर यह कोई भी कह सकता है कि अब हिन्दू-मुसलमान की एकता स्थापित हो गई है।

हिन्दी कविताओं में धर्म-शास्त्र की शिक्षा देखकर यह प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दू-समाज की इतनी दुरवस्था हो गई है कि कवि उपदेशक का काम करे। क्या शिक्षा देने का काम गद्य-लेखकों से नहीं लिया जा सकता? कविता-कामिनी को राजनीति के दलदल में फँसाने की अपेक्षा क्या यह उचित नहीं है कि कीचड़ उलचने का यह काम हिन्दी के गद्य-लेखक ही करें? जो बात गद्य में अच्छी तरह कही जा सकती है उसके लिए पद्य का आश्रय क्यों लिया जाय?

राष्ट्रीय गानों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कुछ समय से एक उदारचेता सज्जन यह चेष्टा कर रहे हैं कि हिन्दी में एक उत्कृष्ट राष्ट्रीय गान बन जाय। उसके लिए वे एक हज़ार रुपये तक देने के लिए तैयार थे। कई कवियों ने उनके पास कवितायें भेजीं भी। परीक्षकों ने यह निर्णय किया कि कोई भी कविता राष्ट्रीय गान का स्थान नहीं ले सकती। यह बात सच है कि एक हज़ार रुपये के ज़ोर से कोई भी श्रीमान् हिन्दी में बङ्किम बाबू उत्पन्न नहीं कर सकता। कविता के स्रोत में अनन्त छोटे छोटे कवि बह कर काल के गर्भ में लीन हो जाते हैं। तब किसी प्रतिभाशाली कवि का आविर्भाव होता है। यदि कभी हिन्दी में कोई कवि ऐसा राष्ट्रीय गान लिखेगा, जिसका प्रचार भारत के गाँव गाँव और घर घर में हो, तो कुबेर की विपुल धन-राशि भी उसका सम्मान नहीं कर सकेगी। उसके लिए भारतवासी अपने हृदय में अक्षय मन्दिर निर्माण करेंगे। उस कविता की परीक्षा करने का अधिकार छः सात विद्वानों की किसी समिति को न होगा। उसकी परीक्षा राष्ट्र करेगा और तभी वह राष्ट्रीय गान होगा।

२—भारतीय नाटकों का अभिनय।

जिन्होंने दूसरे देशों में नाटकों का अभिनय देखा है वे जब भारतीय नाट्यशालाओं में प्रवेश करते हैं तब यहां की भद्दी सजावट देख कर विस्मित हो जाते हैं। श्रीयुत जिनराजदासजी ने इस विषय में एक छोटा सा उपादेय लेख लिखा है। आप कहते हैं कि यहाँ विदेशी दृश्यों की नक़ल तो ज़रूर की जाती है, पर सारा सामान इतना बेढङ्गा रहता है कि योरप की छोटी छोटी नाट्यशालाओं में भी इतनी बेढङ्गी चीज़ें नहीं रहतीं। जो लोग भारतवर्ष में नाटकों के लिए पर्दे रँगते हैं वे विदेशी नाटकों का अनुसरण करते हैं, परन्तु विदेशी समाज से अनभिज्ञ रहने के कारण वे उनका रूप बिलकुल विकृत कर डालते हैं। अपनी अज्ञानता के कारण जनता उन्हीं से सन्तुष्ट हो जाती है। इनसे भी भद्दी होती है भारतीय नटों की वेश-भूषा। जो लोग राजा, सामन्त, राज-सेवक आदि का अभिनय करते हैं उनकी पोशाक विलक्षण होती है। हम नहीं समझते कि भारतीयों में कभी वैसे परिच्छद काम में लाये गये हैं, और हमें आशा है कि भविष्य में कोई वैसी भद्दी पोशाक पहनेगा भी नहीं। ग़नीमत यही है कि स्त्री-पात्रों में भारतीयता की रक्षा की जाती है। अपना वेष बदलने के लिए भारतीय नट चेहरे पर पलास्तर लगा कर निकलते हैं। हम नहीं समझ सकते कि अपने चेहरे में सफ़ेदी लाने की यह विफल चेष्टा क्यों की जाती है।

भारतीय रङ्गमञ्च के ये दोष बिलकुल स्पष्ट हैं। इनसे नाटकों का महत्त्व घट जाता है और उनका उद्देश निष्फल हो जाता है। इन दोषों को दूर करने की चेष्टा की जानी चाहिए। नाटकों में जिस युग का वर्णन है उसी के अनुरूप दृश्य दिखलाये जायँ। भारतीय रङ्गभूमि में जब किसी सड़क अथवा महल का दृश्य दिखाया जाय तब वेनिस के स्थान में जयपुर का दृश्य दिखलाना अधिक समुचित होगा। भारतवर्ष के नाटककार भी अपने नाटकों के दृश्यों की बिलकुल उपेक्षा करते हैं। कैसा भी दृश्य हो, काम निकल जाता है। हमारी समझ में, इससे तो बेहतर यही होगा कि पर्दों का कोई झमेला ही न रहे, दर्शक कथा-भाग सुन कर अपने मन में ही दृश्यों की कल्पनायें कर लें। प्राचीन-काल में जब पर्दों का प्रचार नहीं था तब ऐसा होता भी था।

भारतीय नाटकों में पात्रों के लिए उचित वेश-भूषा तैयार करने के लिए विशेष योग्यता की ज़रूरत नहीं है। ज़रा भी बुद्धि से काम लेने से यह बात समझ में आ सकती है कि किसके लिए कौन सा परिच्छद उपयुक्त है। परन्तु आज-कल तो सभी नाटक-मण्डलियाँ अपने नटों को घुटने तक ब्रीचेस पहना कर और भड़कीला कोट डटा कर निकालना चाहती हैं। नक़ली दाढ़ी और

मूँछ से चेहरे को विकृत करना इसलिए आवश्यक समझा जाता है कि दर्शक नटों को पहचान न सकें। परन्तु सर स्क्वायर बैन क्राफ्ट के समान प्रसिद्ध नट भी अपने यथार्थ रूप में रङ्ग-मञ्च पर आने से नहीं हिचकते।

भारतीय नाटकों की कई विशेषताएँ हैं। यदि नाटककार और नट उनके अभिनय में भारतीयता का ख़याल रक्खें तो उससे बड़ा लाभ हो। रवीन्द्रनाथ का एक नाटक, 'डाकघर' कलकत्ते में खेला गया था। उसमें भारतीयता का ख़याल किया गया था। इससे उसे सफलता भी अच्छी हुई।

जिनराजदासजी की उपर्युक्त बातें सचमुच ध्यान देने योग्य हैं। हिन्दी के कुछ नाटककार सङ्गीत के ऐसे प्रेमी हैं कि वे मौक़े बे मौक़े अपने पात्रों से गाना ही गवाया करते हैं। राजा की कौन कहे, राजमहिषी तक अपने पद का गौरव भूल कर नाचने गाने लग जाती हैं। राज-सभा तो बिलकुल सङ्गीतालय हो जाती है। यह भी आक्षेप-योग्य है।

३—जापान के युवराज हिरोहितो।

जापान के युवराज राजकुमार हिरोहितो ने अभी हाल ही में इँग्लेंड की यात्रा की है। आपने ८ वीं मार्च को कटोरी नाम के जङ्गी जहाज़ पर सवार होकर अपने देश से प्रस्थान किया था। आपकी इस यात्रा का एक-मात्र उद्देश हमारे सम्राट् पञ्चम जार्ज की भेंट ही रहा है। हांगकांग से लेकर जिब्राल्टर तक अँगरेज़ों के जो उपनिवेश मार्ग में आपको मिले हैं उनकी भी सैर आपने की। राज-कुमार के साथ उच्च राजकर्मचारियों का एक दल है। आपके साथ राजकुमार कान-इन भी हैं। ये राजघराने ही के हैं। इनका वंश चौदहवीं सदी के सम्राट् सुई-को से चला है। ये घुड़सवार सैन्य के एक उच्च सेनानायक हैं और इन्होंने चीन तथा रूस-युद्ध में भाग लिया था। जापान के इतिहास में यही पहला अवसर है जब उसके राजपरिवार के किसी विशिष्ट व्यक्ति ने अपने देश के बाहर पैर रक्खा हो।

युवराज हिरोहितो जापान के वर्तमान सम्राट् योशी-हितो के ज्येष्ठ पुत्र हैं। आपका जन्म सन् १९०१ की २९ वीं अप्रेल को हुआ था। इस हिसाब से आप अब बीस वर्ष के हो गये। प्रचलित प्रथा के अनुसार सन् १९१२ की ९ वीं सितम्बर को आप युवराज पद पर अभिषिक्त किये गये थे। टोकियो के पियर्स स्कूल में आपको प्रारम्भिक शिक्षा दी गई है। और सकाशू-इन के प्रसिद्ध-विद्यालय में अपनी उम्र के अठारहवें वर्ष तक आप शिक्षा पाते रहे। इसके बाद आपकी शिक्षा का भार कुछ चुने हुए विशिष्ट अध्यापकों को सौंपा गया, जिसकी निगरानी करने को प्रसिद्ध जल-सेनानायक काउन्ट टोगो प्रधान शिक्षक बनाये गये। ऐसे ही नर-पुङ्गवों

जापान के युवराज हिरोहितो।

के निरीक्षण में युवराज को शिक्षा दी जा रही है। सन् १९१६ में आपको जल तथा स्थल सेनाओं में कमीशन मिला और इस समय आप मेजर तथा नायब सेनापति के पद पर नियुक्त हैं। सैनिक कार्यों में आप बड़ी दिलचस्पी के साथ कार्य करते हैं। क्यूश्यू नाम के टापू में जो नक़ली लड़ाई अभी हाल में हुई थी उसमें आप भी शामिल हुए थे।

जापान-सम्राट् के प्रायः रुग्ण रहने के कारण युवराज ने उनके डिप्टी की हैसियत से कई बार राज्य-सम्बन्धी कार्यों

में भी योग दिया है। आपने अपने यहाँ की पार्लियामेंट का सेशन भी खोला है और सिंहासन पर से व्याख्यान भी दिया है। इसके सिवा पिछले वर्ष आपने राज्य-सम्बन्धी सारे कार्यों में सभापतित्व के आसन को सुशोभित किया और उनके सञ्चालन में अपनी प्रतिभा का ख़ासा परिचय दिया। इसके सिवा आपने अपने राज्य के कारख़ानों, अस्पतालों तथा दूसरी संस्थाओं का निरीक्षण करके उनकी आर्थिक दशा से अपनी सहानुभूति भी प्रकट की है। आप फ़्रेञ्च अच्छी तरह जानते हैं और अँगरेज़ी में भी थोड़ी बहुत बातचीत कर लेते हैं। मतलब यह कि आपने अपनी इसी बीस वर्ष की उम्र में वह योग्यता प्राप्त कर ली है जो आपके उच्च पद के लिए सब प्रकार से उपयुक्त है।

युवराज का शील-स्वभाव भी सब प्रकार से प्रशंसनीय है। अपने शिक्षा-काल के सहपाठियों से आपकी मित्रता पूर्ववत् बनी है। यद्यपि आपका स्वभाव गम्भीर है, तो भी सरलता और हास्य के प्रेम का अभाव नहीं है। जब आप लोगों से मिलते हैं तब आपकी स्वाभाविक विनम्रता और सज्जनता का पूरा परिचय मिल जाता है। आप अपने परामर्शदाताओं पर पूर्ण विश्वास करते हैं। आपका यह गुण वंश-परम्परागत है। आपके पितामह का भी ऐसा ही स्वभाव था। वे भी अपने मन्त्रियों और परामर्शदाताओं का पूर्ण विश्वास करते थे। राजकुमार आमोद-प्रिय भी हैं। घोड़े की सवारी में आप बहुत ही कुशल हैं। तलवार चलाने में आप सिद्धहस्त हैं। यह तो जापान की एक प्रसिद्ध कला ही है। मल्ल-विद्या का जापान में बहुत अधिक प्रचार और आदर है। इस कला से भी राजकुमार को प्रेम ही नहीं है किन्तु आप उसके विशेषज्ञ समझे जाते हैं। टोकियो के क्यूगी क्वान नामक प्रसिद्ध अखाड़े में आप प्रायः आया जाया करते हैं।

जापान का राजवंश संसार में सबसे अधिक प्राचीन राजवंश है। योरप के हैप्सबर्ग आदि प्राचीन राजघराने उसके सामने कल के मालूम पड़ते हैं। जैसे यह प्राचीन है वैसे ही भगवान् करे भविष्य में भी चिरस्थायी रहे। न तो साम्राज्य का ही कोई राष्ट्र-विप्लव उसे ध्वंस कर सका और न बाहरी कोई शक्ति ही उसे पदच्युत कर सकी। जापानी लोग अपने सम्राट् को केवल संसारी सम्राट् ही नहीं मानते, किन्तु वे उसे ईश्वर के तुल्य पूजते हैं। उनका विश्वास है कि उनके सम्राट् के वंश का उद्भव स्वयं जगत्कर्ता से हुआ है। यह राजवंश बिना उच्छेद हुए आज तक ज्यों का त्यों चला आ रहा है। उसकी अधीनता में राष्ट्र का पराभव कभी नहीं होगा। वहाँ के लोगों की यही धारणा है। अतएव वे अपने सम्राट् के पार्थिव शरीर को पवित्र मानते हैं, उसका अस्तित्व अनन्त शक्ति पर निर्भर समझते हैं और उसकी मर्यादा की रक्षा करना वे अपना एक-मात्र कर्तव्य जानते हैं। यह जापान का राष्ट्रीय मत है। इसकी शिक्षा वहाँ के लोगों को बचपन ही से दी जाती है। अपने सम्राट् का आज्ञा-पालन तथा उसकी शुभ कामना ही जापानियों के जीवन का एक उत्कृष्ट सिद्धान्त है। उसकी ५,७०,००,००० प्रजा, जो संसार की किसी भी समुन्नत राष्ट्र के समकक्ष है, अपने सम्राट् की भक्ति करना अपना एक-मात्र धर्म मानती है।

४—विज्ञान की उन्नति।

रस्किन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है, 'विज्ञान की उन्नति का यही फल हुआ है कि उससे प्राण-संहारक यन्त्रों के आविष्कार हुए।' एक दूसरे विद्वान्, जार्ज गिसिंग, ने कहा है, 'मैं विज्ञान से डरता हूँ और उससे मेरी घृणा भी , क्योंकि मेरा यह विश्वास है कि अभी दीर्घकाल तक वही मानव-जाति का सबसे प्रबल शत्रु रहेगा।' इसी तरह अन्य कई विद्वानों ने भी विज्ञान को मनुष्यों का संहारक ही माना है। उनका कथन है कि उसी से हमारा जीवन अव्यवस्थित हो रहा है। परन्तु अब विज्ञान की गति रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। लोग चाहे उसकी निन्दा करें या प्रशंसा, उसकी उत्तरोत्तर उन्नति ही होती जायगी। गत पचास वर्षों में विज्ञान की आश्चर्य-जनक उन्नति हुई। इस काल में जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए। सच तो यह है कि हम विज्ञान के द्वार तक पहुँच चुके हैं और अब शीघ्र ही हम उन शक्तियों का पता पा लेंगे जो अभी मनुष्यों के लिए कल्पनातीत हैं। इन शक्तियों का उपयोग मानव-समाज की कल्याण-वृद्धि में किया जायगा या नहीं, यह समाज के नेता सोचें। विज्ञान का इस प्रश्न से सम्बन्ध नहीं है। हमारा तो यह कर्तव्य है कि हम अपने को उन शक्तियों के उपभोग करने

के योग्य बनावें जिन्हें वैज्ञानिक प्रकृति के अनन्त राज्य से ला रहे हैं। यदि हम योग्य होंगे तो विज्ञान मानव-जाति के लिए अवश्य श्रेयस्कर होगा। यदि युद्धों में वैज्ञानिक सिद्धान्तों का दुरुपयोग किया जाता है तो उसका उत्तरदायित्व विज्ञान पर नहीं है। उसी तरह यदि प्रकृति के समस्त सौन्दर्य से युक्त गांव के स्थान में तङ्ग सड़क, दुर्गन्धपूर्ण नाली और गन्दे मकानों से युक्त और दरिद्रता-ग्रस्त नगर बस जाय तो उसे हम विज्ञान की उन्नति नहीं कहेंगे। यह तो मनुष्यों की स्वार्थपरायणता और लोभ का फल है। इसलिए विज्ञान की निन्दा करने के स्थान में हमें मनुष्यों में सद्धर्म का प्रचार करना चाहिए। धर्म ही से मानव-जाति ठहर सकेगी। धर्माधर्म का ज्ञान लुप्त हो जाने से मनुष्यों का शीघ्र ही संहार हो जायगा। वह समय दूर नहीं है जब एक ही मनुष्य के पास इतनी शक्ति हो जायगी कि वह सिर्फ़ एक बटन दबा कर एक समूचे नगर को नष्ट कर देगा। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग होने लगेगा तो सचमुच प्रलय-काल उपस्थित हो जायगा।

इँगलेंड के एक विज्ञान-विशारद की यह सम्मति है।

५—नक़ली रेशम।

अभी हाल में जापानियों ने ऐसे नक़ली मोती तैयार किये हैं जिनके आगे असली मोती भी नहीं ठहर सकते। ये वैसे ही टिकाऊ, सुन्दर और पानीदार होते हैं जैसे असली मोती होते हैं। इन नक़ली मोतियों को देख कर इँगलेंड के असली मोतियों के व्यवसायी घबड़ा गये हैं। यद्यपि नक़ली मोती बहुत दिन से बन रहे हैं, पर जैसे नक़ली मोती जापानियों ने तैयार किये हैं वे असली मोतियों से किसी बात में कम नहीं हैं। कम हैं तो केवल मूल्य में। वे असली मोतियों की अपेक्षा मूल्य में बहुत सस्ते पड़ते हैं।

इसी तरह अब नक़ली या कृत्रिम रेशम तैयार करने की चेष्टा की जा रही है। युद्ध के पहले जर्मनों ने इस बात का प्रयत्न किया था और अपने उद्योग में वे लोग अब बहुत कुछ सफल भी हो गये हैं। कृत्रिम रेशम पशुओं के मांस का बनता है।

पहले मांस को एक प्रकार के तरल पदार्थ में भिगोते हैं, इससे उसके रेशे अलग हो जाते हैं। इसके बाद वे एक दूसरे प्रकार के तरल पदार्थ में डाले जाते हैं जिससे उनमें तनाव और रेशमी जिलौ आ जाती है। इस तरह वे रेशे ४ सेन्टीमीटर के लम्बे हो जाते हैं। यद्यपि वे कुछ कड़े होते हैं और जङ्गली रेशम के सदृश मालूम पड़ते हैं तो भी ऐसी आशा की जाती है कि अधिक अनुभव के बाद उनकी ये त्रुटियाँ भी दूर हो जायँगी और यह कृत्रिम रेशम असली रेशम से टक्कर लेने लगेगा।

योरप में सस्ता मांस भी पर्याप्त परिमाण में मिल सकता है। जिन पशुओं का मांस खाने के अयोग्य समझा जाता है वह वहाँ सस्ता मिलता है। अतएव इस मांस से कृत्रिम रेशम अधिक परिमाण में तैयार हो सकता है और लागत निकाल कर उसके व्यवसाय में भी लाभ हो सकता है। इसके सिवा उस मांस के बचे हुए अंश को दूसरी बातों के उपयोग में लगाया जा सकता है। ऐसी दशा में कोई आश्चर्य नहीं है कि उद्योग-प्रेमी योरप के व्यवसायी कृत्रिम रेशम बनाना प्रारम्भ करके अपने प्रयत्न में लग जायँ और इस तरह जापानियों की भाँति वे असली रेशम के व्यवसायियों के प्रतिद्वंद्वी बनें।

६—साहित्य और स्वास्थ्य-रक्षा।

हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कुछ समय से एक नया आयोजन हो रहा है। हिन्दी के दो तीन साहित्य-सेवियों ने साहित्य को स्वास्थ्य-रक्षा के साथ मिला दिया है। आजकल हिन्दू-आयुर्वेदशास्त्र की बड़ी दुर्दशा है। कुछ विद्वान् उसके पुनरुद्धार के लिए बड़ी चेष्टा कर रहे हैं। जगह जगह पाठशालायें खोली जाती हैं। समय समय पर आयुर्वेद-सम्मेलन कराये जाते हैं। वहाँ अच्छे अच्छे विद्वान् उपस्थित होकर आयुर्वेद-शास्त्र की महिमा बतलाते हैं। यद्यपि शिक्षित भारतवासी पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली पर अनुरक्त हैं तथापि अशिक्षितों में शायद एक भी ऐसा न निकलेगा जो आयुर्वेद-शास्त्र पर अचल श्रद्धा न रखता हो। यदि यह बात न होती तो जो चिकित्सक-चूड़ामणि आठ-दस आने की दवा में संसार के सभी रोगों का निवारण करने का दावा करते हैं उनका विज्ञापन देना बिलकुल निष्फल होता। परन्तु ऐसे विज्ञापन-दाताओं की संख्या बेतरह बढ़ रही है। इसके साथ ही वैद्यविद्या का गुप्त रहस्य समझानेवाले विद्वानों का भी अभाव नहीं है।

कोई विद्वान् अपने भाई-बहनों को गुप्त सन्देश देने के लिए व्यग्र हो उठा है तो कोई हिन्दी-साहित्य में काम-शास्त्र का अभाव देख उसकी पूर्ति के लिए चिन्तित हो रहा है। जो प्राचीनता के पक्षपाती हैं वे संस्कृत-साहित्य के लुप्त ग्रन्थों का उद्धार करते हैं और जो अँगरेज़ीदाँ हैं वे अँगरेज़ी ग्रन्थों के आधार पर नवजीवन और दीर्घायु प्राप्त करने का उपाय बतलाते हैं। अब स्त्री-शिक्षा के दो एक प्रेमियों ने स्त्रियों के गुप्त रोगों को दूर करने का बीड़ा उठाया है। एक ओर तो वे स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए मासिक पत्र के प्रकाशन में दत्तचित्त हैं, दूसरी ओर उनके गुप्त रोगों के निवारणार्थ आयुर्वेदशाला और रसायन-शाला स्थापित कर अक्षय पुण्य-सञ्चय कर रहे हैं। हमें विश्वास है कि स्त्री-शिक्षा के ये प्रेमी विद्वान् आयुर्वेद-शास्त्र में बड़ा दख़ल रखते होंगे, वैद्य-विद्या के ज्ञानोपार्जन में इन्होंने दो चार साल किसी सद्वैद्य के पास ज़रूर ही शिक्षा ली होगी। तभी तो वे रसायन-शाला खोल रहे हैं। हमने तो यह सुना है कि एकाध विद्वान् अपनी स्त्री की आड़ में बैठ कर भारतीय स्त्रियों की शारीरिक और मानसिक उन्नति का स्तुत्य कार्य कर रहे हैं। ऐसे पर्दानशीन वैद्यों का हाल हमने तीर्थराज में ही आकर सुना। हम उन्हें इस कार्य की सफलता पर बधाई देते हैं।

७—एक ईसाई भक्त।

साधु सुन्दरसिंह संन्यासी हैं। आपकी जन्म-भूमि पञ्जाब है। जब आप सोलह वर्ष के थे तभी आप ईसाई मत में दीक्षित होगये। ईसाई हो जाने पर भी आपने अपना भारतीय वेश परित्याग नहीं किया। ईसा-धर्म का प्रचार करने के लिए आपने संसार का परित्याग कर संन्यास-व्रत धारण किया। आप भारतीय संन्यासियों के समान गेरुवा वस्त्र पहनते हैं। आपकी उम्र ३१ वर्ष की है। योरप में आज-कल सभी अपने को ईसाई कहते हैं, परन्तु यदि सच पूछा जाय तो वहाँ ईसाई-धर्म की पूरी अवहेलना की जाती है। साधु सुन्दरसिंह पदस्खलित ईसाई-जाति को धर्म-विहित सत्य का पथ बतलाने के लिए, उसे भगवान् ईसामसीह का उपदेश स्मरण कराने के लिए, योरप गये। इसके पहले आप समग्र भारतवर्ष घूम चुके थे। नेपाल, तिब्बत और अफ़ग़ानिस्तान में भी ईसाई-धर्म का प्रचार करने के लिए आप गये थे। यह काम यों ही नहीं होगया। आपको बड़ी बड़ी विपत्तियाँ झेलनी पड़ीं। तिब्बत में एक बार आप मृत्यु के द्वार तक पहुँच गये थे। एक अलौकिक उपाय से आपकी जीवन-रक्षा हुई। जब तिब्बती लोगों को यह मालूम हुआ कि आप ईसाई हैं तब उन्होंने आपको एक बड़े भारी गढ़े में डाल दिया। वहाँ जब किसी को प्राण-दण्ड की सज़ा होती थी तब वह उसी गढ़े में डाल दिया जाता था। गढ़े के मुख पर लोहे का दरवाज़ा लगा था और उसकी चाबी एक लामा के पास रहती थी। वहाँ से छुटकारा पाना बिलकुल असम्भव था। ऐसे अन्ध-कूप में फेंके जाने पर भी आप नहीं घबड़ाये। नीचे गिरने से आपके हाथ भी टूट गये, आप बिलकुल निस्सहाय होगये। पर आप ईश्वर की ही प्रार्थना में निरत रहे। दो दिन तक आप उसी अवस्था में पड़े रहे। तीसरे दिन, रात्रि के समय, किसी ने आपको एक लकड़ी के सहारे से ऊपर खींच लिया। अँधेरे में आप उसे देख नहीं सके, पर उसके स्पर्श-मात्र से आपका दुःख दूर होगया और हाथ भी ठीक होगये। दूसरे दिन गाँव में फिर आप ईसाई-धर्म का उपदेश देने लगे। यह देख कर सब लोग चकित होगये। लोगों ने लामा को ख़बर दी। लामा ने आकर देखा कि मृत्यु-कूप का दरवाज़ा बिलकुल बन्द है। उस दिन से लोग आप पर श्रद्धा करने लगे। आप तिब्बत में निरापद घूमने लगे।

साधु सुन्दरसिंहजी कहा करते हैं कि भक्ति, विश्वास और भगवदुपासना से मनुष्य नीरोग और निरापद रहेगा। भगवान् उस पर सदैव सदय रहते हैं और उसका कल्याण ही करते हैं। मनुष्य मोहान्ध होने से उन्हें पहचान नहीं सकता। परमेश्वर के अनन्त प्रेम-स्रोत से यह समस्त संसार उद्भासित है, परन्तु जिस प्रकार नदीतल में रह कर भी पत्थर का हृदय सूखा ही रहता है उसी प्रकार मनुष्य का हृदय भी भगवान् की करुणा-धारा से वञ्चित रहता है।*

---

*सङ्कलित।

८—नागार्जुन का स्थिति-काल।

पूने के प्राच्य-विद्या-विशारदों के सम्मेलन में डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणजी ने नागार्जुन के विषय में एक महत्त्व-पूर्ण लेख पढ़ा था। नीचे उसी का सारांश दिया जाता है।

कुशानवंश का आधिपत्य ईसा के ५० वर्ष पहले सन् ३५० ईसवी तक रहा। उसी समय आन्ध्रों का भी प्रभुत्व बढ़ा। उनका यह प्रभुत्व ईसा की चतुर्थ शताब्दी तक रहा। तिब्बती और चीनी ग्रन्थों से विदित होता है कि कनिष्क (अथवा कणिक) कुशानवंश के सभी राजाओं के लिए व्यवहृत होता था जिस प्रकार, सर रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर की राय में, सातवाहन आन्ध्रवंश के सभी राजाओं का नाम था। संस्कृत में त्रिपिटक को क्रम-बद्ध करने के लिए बौद्ध विद्वानों की चौथी समिति जालन्धर में बैठी थी। इस समिति के संरक्षक कुशानवंश के एक कनिष्क थे। जान पड़ता है कि इसी कनिष्क के पुत्र के लिए प्रसिद्ध बौद्ध-विद्वान् अश्वघोष ने 'महाराज कणिक-लेख' लिखा था। इसका अनुवाद तिब्बत के एक बौद्ध-विश्व-कोश में अभी तक सुरक्षित है। उसमें कनिष्क-सुत सूर्यवंशोद्भव कहा गया है और उसे देव का अनुसरण करने के लिए उपदेश दिया गया है। यह देव शब्द देवता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है और इससे आर्यदेव की ओर भी इशारा किया गया है। कनिष्क-सुत आर्यदेव का सम-सामयिक था और उसके पूर्वजों को भारतवर्ष में राज्यशासन करते कितने ही वर्ष बीत चुके होंगे, तभी तो वह सूर्यवंशोद्भव कहा गया।

नागार्जुन अश्वघोष का समकालीन था। उसने आन्ध्र-वंश के किसी सातवाहन नरपति को एक पत्र लिखा था। इसका भी अनुवाद तिब्बती भाषा में विद्यमान है। उसमें नरपति के नाम का स्पष्टोल्लेख है। वह नाम है उदयिभद्र। आज तक आन्ध्र-वंश के जितने नरेशों का पता लगा है उनमें उदयिभद्र नाम का कोई राजा नहीं है। सम्भव है, यह कोई स्वतन्त्र अधिपति न रहा हो, कोई क्षमताशाली सामन्त राजा ही रहा हो।

कुमार जीव के एक चीनी शिष्य ने लिखा है कि आर्य-देव का आविर्भाव बुद्ध-देव के निर्वाण-पद प्राप्त करने के ८०० वर्ष बाद हुआ था। ईसा के ४८० वर्ष पूर्व बुद्ध का निर्वाण-काल माना जाता है। इस हिसाब से आर्यदेव और उसका समकालीन कवि अश्वघोष सन् ३२० ईसवी के लगभग हुए होंगे। तब नागार्जुन का स्थितिकाल सन् ३०० में माना जा सकता है और कनिष्क का शासन-काल भी इसी समय में होना चाहिए, क्योंकि उसी के संरक्षण में बौद्धों की चतुर्थ समिति सम्मिलित हुई थी। यह समय मान लेने पर राजतरङ्गिणी का यह कथन भी सार्थक हो जाता है कि कनिष्क और मिहिरकुल (सन् ५१५ ईसवी) के मध्यवर्ती बारह नरेश हुए। लामा तारानाथ ने लिखा है कि नागार्जुन नेमिचन्द्र नामक अपरान्तक के अधिपति के शासन-काल में हुए थे। उसकी मृत्यु के बाद मगध देश में दो और छोटे छोटे राजाओं की प्रभुता रही। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने सन् ३१९ ईसवी में गुप्त-साम्राज्य स्थापित किया।

कनिष्क की बौद्ध-समिति ने बौद्धों में संस्कृत-साहित्य का प्रचार किया। आन्ध्र-वंश के पिछले राजाओं ने भी संस्कृत-साहित्य की उन्नति के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। गुप्तवंश के राजाओं के शासन-काल में ब्राह्मणों ने भी संस्कृत-साहित्य की उन्नति की। संस्कृत-साहित्य के इस पुनरुद्भव-युग को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं। पहले काल में नागार्जुन (सन् ३०० ईसवी,) आर्य्यदेव सन् (३२० ईसवी) और अश्वघोष (सन् ३२० ईसवी) हुए। दूसरे काल में प्रशस्तपाद, वात्स्यायन (सन् ४०० ईसवी) और शबर स्वामी हुए। तीसरे काल में दिङ्नाग (सन् ५०० ईसवी), कालिदास (५३० ईसवी) और वराहमिहिर (५०५–५८५ ईसवी) हुए। पुराणों की रचना इसी काल में हुई।

संस्कृत-साहित्य के पुनरुद्भव-काल का पहला ग्रन्थ-कार नागार्जुन था। नागार्जुन का नाम वैद्यक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र में जितना प्रसिद्ध है उतना ही दर्शन-शास्त्र में है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ में हुआ था। उस समय आन्ध्र-वंश का सातवाहन राज्य कर रहा था। कृष्णा नदी के तीर पर त्रिपर्वत की एक गुहा में नागार्जुन ने कुछ समय तक चिन्तन किया। अमरावती-स्तूप के पास एक बुद्ध-

मूर्ति पर जो लेख खुदा है उससे यह विदित होता है कि नागार्जुन विदर्भ देश में अवश्य रहते थे। इस लेख की लिपि सातवीं शताब्दी की है। सन् ४०१ के परवर्ती तो नागार्जुन हो ही नहीं सकते, क्योंकि इसी समय कुमारजीव ने चीनी भाषा में उनका जीवन-चरित लिखा था। अतएव यही मानना अधिक समुचित होगा कि नागार्जुन सन् ३०० ईसवी में हुए।

नागार्जुन ने न्याय-शास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। जान पड़ता है, वात्स्यायन ने उनके ही एक ग्रन्थ—विग्रह-व्यावर्तनी कारिका—से अपने न्याय-भाषा में कुछ अवतरण उद्धृत किये हैं। नागार्जुन का कीर्ति-स्तम्भ है उनका माध्यमिक दर्शन। पक्षपात-रहित विद्वानों की राय है कि शङ्कराचार्य का मायावाद उसी से मिल गया है। सच तो यह है कि नागार्जुन भारतवर्ष का अरिस्टाटिल था।

पुस्तक-परिचय।

१—भारत में दुर्भिक्ष—बम्बई में एक गाँधी हिन्दी-पुस्तक-भंडार खुला है। वहाँ से हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमाला का प्रकाशन होता है। अभी तक इस ग्रन्थ-माला में तेईस, चौबीस ग्रन्थ गूँथे जा चुके हैं। 'भारत में दुर्भिक्ष' उसका बीसवाँ ग्रन्थ है। श्रीयुत पण्डित गणेशदत्त शर्मा ने इसकी रचना की है। पुस्तकारम्भ में पटना-कालेज के प्रोफ़ेसर पण्डित राधाकृष्ण झा, एम० ए०, ने एक छोटी सी भूमिका लिखी है। आपकी राय है कि 'लेखक ने इसमें देश-दशा का सच्चा चित्र दिखाया है, और बड़ी सफलता से दिखाया है। समूची किताब प्रौढ़ विचारों और गवेषणा-पूर्ण सिद्धान्तों से भरी पड़ी है। व्यर्थ अतिरञ्जित बातें न लिख कर पण्डितजी ने शुद्ध, सरल भाषा में सर्व-सम्मति से स्थिर सिद्धान्तों का वर्णन किया है। मैंने अब तक देशी भाषा में कोई ऐसी पुस्तक नहीं देखी है।' अतएव पुस्तक की उत्तमता में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए। पुस्तक २१२ पृष्ठों में समाप्त हुई है। छपाई और कागज़ साधारण है। जिल्द मनोरम है। मूल्य जिल्द बँधी हुई पुस्तक का २।) है।

२—पथिक—यह एक खण्ड-काव्य है। श्रीयुत रामनरेश त्रिपाठी ने इसकी रचना की है। इसका पहला संस्करण शीघ्र ही बिक गया। इससे जान पड़ता है कि लोगों ने इसे पसन्द किया। पुस्तक के अन्त में हिन्दी के बड़े बड़े विद्वानों की सम्मतियाँ दी हुई हैं। सभी ने इसकी प्रशंसा की है। अँगरेज़ी-काव्यों के मर्मज्ञ एक विद्वान् ने लिखा है कि इसकी मौलिकता के सम्मुख सहृदय पाठक को अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि शैली का रिवोल्ट आव् इस्लाम स्मरण हो आता है। शायद आप ही की यह राय है कि यह ग्रन्थ एम० ए० और बी० ए० में पढ़ाये जाने योग्य है। जिस काव्य के विषय में विद्वानों की यह धारणा है उसकी उत्तमता का निर्णय करना हमारे समान अल्पज्ञों के लिए असम्भव है। कदाचित् यही कारण है कि हम इसका पाठ कर मुग्ध नहीं होगये। जो कला-कोविद होते हैं वे जीर्ण-शीर्ण कुटीर में भी सौन्दर्य का दर्शन कर लेते हैं। परन्तु मूढ़ रत्नाकर में भी सिर्फ़ खारापन देखता है। हमारी पहुँच इसके रत्नों तक नहीं है।

३—संसारनां सुख—यह अहमदाबाद के सस्तुं साहित्यवर्धक कार्य्यालय की प्रकाशित पुस्तक । वहीं से मिलती है। जिल्ददार है। कागज़ पतला और छपाई साधारण है। पृष्ठ-संख्या ३२० से भी अधिक होने पर मूल्य इसका केवल ।।) है। अँगरेज़ी भाषा के नामी ग्रन्थकार सर जान लबक के प्लेज़र्स आफ़ लाइफ़ नामक पुस्तक के आधार पर गुजराती भाषा में इसकी रचना की गई है। लेखक हैं—डाक्टर हरिप्रसाद व्रजराज देसाई। जीवन को सुखकर बनाने के कोई दो दर्जन साधनों का वर्णन इस पुस्तक में हैं। इस देश के अधिकांश निवासियों का जीवन दुःख में ही कटता है। अतएव ऐसे देशवालों के लिए इस प्रकार की पुस्तक पढ़ना और उसमें वर्णन किये गये साधनों की सिद्धि की योजना करना विशेष लाभदायक है। यह कोरा अनुवाद नहीं, अपेक्षित अंशों का अनुवाद करके लेखक ने उदाहरण इत्यादि अपने निज के कल्पित—अपने देश की दशा के अनुरूप—दिये हैं। जो अंश अपने लिए अनुपयोगी समझा है उसे छोड़ दिया है। आवश्यकता होने पर, प्रसङ्ग

के अनुसार, नया मज़मून जोड़ा भी है। इस कारण इस पुस्तक का महत्त्व और भी बढ़ गया है।

४—वैज्ञानिक अद्वैतवाद—यह काशी की ज्ञान-मण्डल ग्रन्थमाला का दसवाँ ग्रन्थ है। बाबू रामदास गौड़, एम० ए० ने इसकी रचना की है। पुस्तक नौ प्रकरणों में विभक्त है। पहले में देश की कल्पना है, दूसरे में काल की कल्पना है। तीसरे में जगत् की सृष्टि और लय का वर्णन है। चौथे में वस्तु की सत्ता पर विचार किया गया है। पाँचवें में आत्म और अनात्म का निर्णय है। छठे में अनात्म की एकता पर आधिभौतिक विचार दिये गये हैं। सातवें में व्यावहारिक वेदान्त है। आठवें में उपासना की विवेचना है। अन्तिम प्रकरण में अद्वैत के विषय में अनुभवी पुरुषों के वचन उद्धृत किये गये हैं। यही पुस्तक का संक्षिप्त परिचय है। पृष्ठ-संख्या २०७। मूल्य सजिल्द पुस्तक का १।॥=) है।

५—हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी की कुछ पुस्तकें—कलकत्ते की हिन्दी-पुस्तक-एजेन्सी ने कुछ किताबें भेजी हैं। (१) आरोग्य-साधन—यह १२६ पृष्ठों की पुस्तक है। इसमें महात्मा गांधी के बीस वर्षों का अनुभव सञ्चित है। यह उन्हीं की एक गुजराती पुस्तक का अनुवाद है। मूल्य ।-) है। (२) मैं नीरोग हूँ या रोगी?—यह जर्मनी के प्रसिद्ध जल-चिकित्सक लुई कूने की एक पुस्तक का स्वतन्त्र अनुवाद है। यह ४८ पृष्ठों में समाप्त हुई है। मूल्य ।) है। (३) हिन्द स्वराज्य—यह महात्मा गांधीजी की उस पुस्तक का अनुवाद है जिसकी चर्चा आज-कल खूब हो रही है। पुस्तक में दिव्य विचार सन्निहित हैं। ६० पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य ।-) है। (४) लाल-फीता—यह श्रीयुत प्रेमचन्दजी की एक छोटी कहानी है। मूल्य -) है। कहने की ज़रूरत नहीं कि कहानी अच्छी है। (५) पहली पोथी—इसको बाबू रामदास गौड़ ने लिखा है। यह पुस्तक इसी लिए लिखी गई है कि इससे मज़दूरों और किसानों में अक्षर-ज्ञान बढ़े। ७ पृष्ठों की पुस्तिका का दाम)॥ पैसा है। इस पुस्तक में दो चार ऐसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनका अर्थ समझने के लिए शायद लोगों को कोश देखने की ज़रूरत पड़े।

इन पुस्तकों के सिवा असहयोगमाला की कुछ छोटी छोटी पुस्तकें भी आई हैं।

६—योग-भक्ति-सार—इसे माहेश्वरी श्रीकृष्णदास धूत इन्दौर निवासी ने बना कर प्रकाशित किया है। यह १४० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल्य ।=) है। यह काव्य है, कम से कम इसकी भाषा पद्यात्मक है। भूमिका भी पद्यों में लिखी गई है। पुस्तकारम्भ में कहा गया है:—

सभी जीव संसार के भोगन चाहत सुक्ख।
श्रीकृष्ण नहीं चाहते मृत्यु संकट दुःख॥

लेखक का कथन है कि जो इस पुस्तक का उपयोग करेगा वह रोग-निर्मुक्त हो जायगा।

चित्र-परिचय।

सरस्वती के इस अङ्क में वर-दान नामक चित्र दिया जाता है। यह चित्र हमें टेहरी (गढ़वाल) के कुँवर विचित्र-शाह के अनुग्रह से प्राप्त हुआ है। इस चित्र में यह दिखाया गया है कि ब्रह्मा हंस पर सवार होकर अपने भक्तों के पास आये हैं और उन्हें वर-प्रदान कर रहे हैं।

भ्रम-संशोधन।

'सम्राट् खारवेल' शीर्षक जो लेख अप्रेल के अङ्क में निकला है उसके लेखक श्रीयुत रामरखसिंह सहगल नहीं हैं, किन्तु श्रीयुत द्वारकाप्रसाद मिश्र हैं। कृपा कर पाठक सुधार लें।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at The Indian Press Ltd., Allahabad.

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

भाग २२, खण्ड २] अगस्त १९२१—श्रावण १९७८ [संख्या २, पूर्ण संख्या २६०

अमरीका की मातायें।

क्या अमरीका और भारतीय माताओं में कुछ अन्तर है? क्या वे भारतीय स्त्रियों से उत्तम होती हैं? क्या वे भारतीय माताओं की भाँति स्वार्थहीन पतिव्रता तथा परिश्रमी होती हैं? क्या वे सभी निःस्वार्थ-भाव से अपनी सन्तान का लालन-पालन करती हैं और विपत्ति में उसकी रक्षा करती हैं? क्या वे आदर्श मातायें हैं?

भारत की भाँति अमरीका में भी बुरी और भली दोनों प्रकार की मातायें हैं। सभी मातायें ऐसी नहीं हैं जो अपनी सन्तान को शिक्षित, सुचरित्र और आज्ञाकारी बनाने में समर्थ होती हैं। कुछ ऐसी भी हैं जो विलास-प्रिय, आलसी तथा दुर्बल होती हैं। उनको अपने बच्चों को आज्ञा-पालन की शिक्षा देना नहीं आता। जब उनको क्रोध आता है तब वे उन बेचारों पर थप्पड़ों की बौछार करती हैं और जब वे रोते हैं तब उनको मिठाई देकर मनाती हैं। लड़के चाहे बाहर कहीं फिरते रहें उनको इस बात का पता तक नहीं रहता। जब वे लौट कर घर आते हैं तब उनके लिए थप्पड़ और मिठाई तैयार रहती है। इस प्रकार के व्यवहार से बच्चे धृष्ट हो जाते हैं। अमरीका की कुछ स्त्रियों में और भी कई अवगुण होते हैं। कुछ ऐसी युवतियाँ भी हैं जो इस प्रकार अप्राकृत रूप से अपना जीवन व्यतीत करती हैं कि उनका शरीर अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के अयोग्य हो जाता है। इनमें अधिकांश सन्तान ही उत्पन्न करना नहीं चाहतीं। बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी हैं जो अनेक सन्तान उत्पन्न करके अपना परिवार बढ़ाना नहीं चाहतीं। ये शृङ्गार करने, नाटक देखने

और देश भ्रमण करने में ही मग्न रहती हैं। इनको अपनी सन्तानों का निरीक्षण करने के लिए समय ही नहीं रहता। फल यह होता है कि इनकी सन्तान धृष्ट, आलस्यप्रिय तथा अयोग्य होती है। पर ये सारे अवगुण विशेषतः नगर की स्त्रियों में पाये जाते हैं, क्योंकि उनका जीवन अप्राकृतिक होता है। उनका भोजन उचित तथा नियमानुकूल नहीं होता। वे वस्त्र इस प्रकार का पहनती हैं कि उनका शरीर उचित प्रकार से स्वस्थ नहीं रहता। सायंकाल होते ही उनके भुण्ड के भुण्ड होटलों और नृत्यालयों में जाते हैं और वे वहाँ बहुत रात बीते तक खाती-पीती और नाचती रहती हैं। उनकी इस प्रकार की विलासिता का प्रभाव उनकी सन्तान पर बहुत बुरा पड़ता है। वे अपने बच्चों की कुछ भी देख-भाल नहीं करतीं। यहाँ तक कि उनको अपना दूध तक नहीं पिलातीं। उनको शीशियों द्वारा अप्राकृत रीति से दूध पिलाया जाता है। इसलिए मा का दूध पीनेवाले बच्चों की अपेक्षा उनकी मृत्यु-संख्या का परिमाण अधिक होता है। दूसरे गाय आदि का दूध पीने से बच्चों को कई प्रकार के रोग हो जाने का भी डर रहता है। माताओं की विलास-मग्नता का एक परिणाम यह होता है कि बच्चों के पालन-पोषण का भार दूसरे के हाथ सौंपा जाता है। तब स्वभावतः इनके पालन-पोषण तथा शिक्षण में बहुत सी त्रुटियाँ रह जाती हैं।

परन्तु अमरीका में अधिक संख्या अच्छी माताओं ही की है। अमरीका के पुरुष विवाह के पश्चात् नगर के पास बाहर ऐसे स्थान में रहते हैं जहाँ उनको खूब स्वच्छ वायु और धूप मिल सके। शहर के शोर-गुल तथा भीड़-भाड़ से बचने के लिए वे सपरिवार अलग रहते हैं। अच्छी मातायें सन्तानों के प्रति अपने दायित्व को भले प्रकार समझती हैं। उनके पालन-पोषण में वे लोक-प्रथा की नहीं, किन्तु वैज्ञानिक नियमों की सहायता लेती हैं। सन्तान होने के बाद वे अपनी आजीविका का व्यवसाय भी बहुत सोच विचार कर चुनती हैं। उनको अपनी सन्तानों की भलाई का विचार सर्वप्रथम होता है। वे स्वास्थ्य पर बहुत ही ध्यान रखती हैं। यदि अमरीका के किसी नगर या ग्राम के सार्वजनिक उद्यान में जाकर देखा जाय तो वहाँ हृष्ट-पुष्ट छोटे छोटे बच्चे हँसते खेलते ही दिखलाई पड़ेंगे। उनकी मातायें उनके खाने, पीने, वस्त्र आदि का बहुत ही उचित रूप से प्रबन्ध करती हैं। धनी परिवारों को छोड़ कर सभी घरों की मातायें अपनी सन्तानों के साथ खाती, पीती और सोती हैं। वे उनका भार नौकरों पर नहीं छोड़ देतीं, सारा काम खुद करती हैं। वे उनको सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करती हैं, उनको हवा खिलाने के लिए अपने साथ घुमाती हैं, सायंकाल चित्रनाटक (वायस्कोप) दिखाने को ले जाती हैं, उनकी स्वास्थ्य-रक्षा के ज्ञान के लिए पुस्तकें पढ़ती हैं, उन्हें व्याख्यान सुनाने ले जाती हैं, स्वास्थ्य के नियमों पर स्वयं भी चलती हैं और डाक्टरों तथा शिक्षित दाइयों की सम्मतियाँ लेती रहती हैं। वे अपने भोजन को शुद्ध तथा वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल बनाने का पूरा ध्यान रखती हैं। अमरीका में शुद्ध दूध का प्रचार खूब है। जैसा शुद्ध और ताज़ा दूध अमरीका में मिलता है वैसा संसार के किसी दूसरे देश में शायद ही मिलता हो। वहाँ के बालक-बालिकाओं के बलवान् और हृष्ट-पुष्ट होने का यह भी एक कारण है।

सन्तानों के स्वास्थ्य की देख-भाल जितनी अमरीका की मातायें करती हैं उतनी और किसी देश की मातायें नहीं करतीं। वहाँ की माताओं ने मातृविज्ञान में जितनी उन्नति की है उतनी शायद ही कहीं की माताओं ने की हो। इसका फल यह हुआ है कि अमरीका के सब प्रान्तों

में स्वस्थ, सुन्दर और प्रसन्नमुख बालक पाये जाते हैं। यह बात वहाँ की माताओं की योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

सन्तानोत्पत्ति का समय स्त्रियों के लिए बड़ा विपत्तिपूर्ण होता है। प्रसव-काल में शिक्षित दाइयों और औषध के प्रबन्ध के अभाव के कारण सहस्रों माताओं और शिशुओं को काल के गाल में जाना पड़ता है। अमरीका की स्त्रियों ने मताधिकार पाने के बाद ही अपने देश में मदिरा और अन्य मादक पदार्थों का विक्रय पिछले साल से बन्द करा दिया है। माताओं और बच्चों की रक्षा के लिए क़ानून बनाने का अब वे बड़े ज़ोर शोर से आन्दोलन कर रही हैं। सरकार की ओर से माताओं और शिशुओं की स्वास्थ्य-रक्षा के प्रबन्ध के लिए अमरीका की व्यवस्थापिका सभा में एक क़ानून पेश किया गया है। इस क़ानून के अनुसार अमरीका की सरकार डेढ़ करोड़ रुपये प्रति वर्ष व्यय करेगी। इसके सिवा अमरीका के प्रत्येक प्रान्त की ओर से चालीस हज़ार रुपये ख़र्च किये जायँगे। इस धन से अमरीका के प्रत्येक प्रान्त के प्रत्येक भाग में, ग्राम ग्राम प्रसूतिका-गृह बनवाये जायँगे और स्त्रियाँ प्रसव-काल के कुछ पूर्व उनमें आकर रहेंगी। वे वहीं बच्चे प्रसव करेंगी। वहाँ उनके लिए डाक्टरों और शिक्षित दाइयों का पूरा प्रबन्ध रहेगा। इस क़ानून के कारण प्रत्येक स्थान में ऐसी संस्थाओं की संख्या क्रमशः इतनी हो जायगी कि अमरीका की स्त्रियों को प्रसव के समय, उसके पूर्व या पश्चात्, उचित सावधानतापूर्वक रहने का अवसर प्राप्त होगा और डाक्टरों और दाइयों के अभाववश उन्हें किसी प्रकार की विपत्ति या कष्ट न भोगना पड़ेगा।

मातृ-विज्ञान के विद्वानों का मत है कि गर्भावस्था में यदि शिक्षित दाई की सहायता स्त्रियों को मिल जाय तो शिशुओं की मृत्यु-संख्या पहले की संख्या से आधी से भी कम हो जाय। ग्रामों में प्रसूति-गृहों की विशेष आवश्यकता रहती है, क्योंकि वहाँ न तो डाक्टर मिलते हैं न शिक्षित दाइयाँ ही। अमरीका में सरकारी "बाल-रक्षा-विभाग" के एक कार्यकर्त्ता ने इस नये क़ानून के लाभों के विषय में कहा हैः—

"हर ज़िले के मध्यवर्त्ती स्थानों में, जहाँ लोग सहज में जा सकें, चिकित्सालयों का स्थापन करना इस क़ानून का पहला काम होगा। वहाँ स्त्रियाँ डाक्टरों से सम्मति और औषध लेने आ सकेंगी और असमर्थ रोगियों को देखने के लिए डाक्टर और दाइयाँ उनके घर भी जा सकेंगी। यद्यपि बहुत से स्थानों में अब भी माताओं और शिशुओं के स्वास्थ्य-रक्षा-भवन हैं, परन्तु केवल कुछ ही स्थानों में इनके होने से काम नहीं चलेगा। इनको देश में सर्वत्र स्थापित करने ही से मातृ-रक्षा और शिशु-रक्षा पूर्ण प्रकार से हो सकेगी"।

सरकारी "बाल-रक्षा-विभाग" ने अमरीका की ग्राम्य सार्वजनिक संस्थाओं से चार बातों के प्रबन्ध के लिए कुछ साल पहले प्रस्ताव किया था। वे ये हैंः—

(१) प्रत्येक ज़िले के मुख्य ग्राम में शिक्षित दाइयों द्वारा सञ्चालित एक प्रसूतिका-गृह की स्थापना। क्रमशः नये स्थानों में भी इनको स्थापित करना, जिससे देश में सर्वत्र माताओं और शिशुओं के सहज और कठिन रोगों की चिकित्सा हो सके। (२) इन चिकित्सालयों में माताओं को गर्भावस्था के समय जिन बातों की सावधानी रखनी चाहिए उनके बताने का प्रबन्ध हो। (३) प्रत्येक ज़िले के अस्पताल में एक भाग गर्भवती स्त्रियों के लिए नियत हो। यदि हो सके तो उनके लिए एक विशेष चिकित्सालय बनवाया जाय। साङ्घातिक रोगों से पीड़ित स्त्रियों के लिए वहाँ पूर्ण प्रबन्ध होना चाहिए। (४) प्रसव के समय

प्रत्येक स्त्री को शिक्षित दाई मिल सके, इसका भी प्रबन्ध हो।

ऊपर कहा गया है कि अमरीका में कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो सन्तान उत्पन्न करना ही नहीं चाहतीं। जिसमें उनके सन्तान न हो इसके लिए वे वैज्ञानिक उपाय भी बहुत करती रहती हैं। परन्तु साधारणतः अमरीका की स्त्रियाँ एक-दम निःसन्तान तो नहीं, पर हाँ बहुत सन्तानवाली नहीं होना चाहतीं। इसका कारण यह नहीं कि वे लालन-पालन के परिश्रम से घबड़ाती हैं, या वे नृत्य-गान, भोज आदि को सन्तानोत्पत्ति तथा उनके पालन-पोषण से अधिक महत्त्व देती हैं। परन्तु इसका कारण यह है कि वे इस बात को जान गई हैं कि बड़े परिवार की अपेक्षा छोटे परिवार में ही अधिक सुख है। वे इस बात को नहीं मानतीं कि सन्तानोत्पत्ति ही विवाहिता स्त्री के आत्मिक गुण-प्रकाश का एक प्रधान चिह्न है। वे जानती हैं कि अधिक पुत्र-पुत्रियों का पालन-पोषण तथा शिक्षण उतनी अच्छी तरह नहीं हो सकता जितनी कि उनके कम होने से होता है। केवल बालकों के होने ही से माता-पिता सुखी नहीं होते। उनके हृष्ट-पुष्ट, सुन्दर, प्रसन्न-चित्त तथा गुणवान् होने ही से माता-पिता को वास्तविक आनन्द होता है। जितना समय, शक्ति, सावधानता और धन पाँच छः पुत्र-पुत्रियों के पोषण तथा शिक्षण में व्यय किया जाता है यदि उतना ही एक दो सन्तान पर किया जाय तो ये एक दो उन पाँच छः की अपेक्षा सब प्रकार से श्रेष्ठ होंगे और इसलिए अपने माता-पिता के विशेष आनन्द के कारण होंगे। यह उनका सिद्धान्त है। सन्तान उत्पन्न करना जितना सहज है उनका पालन-पोषण उतना ही कठिन है। अमरीका की स्त्रियाँ सन्तान के प्रति अपने दायित्व को अच्छी तरह समझती हैं, इसलिए वे इतनी ही सन्तान चाहती हैं जिसका वे भली भाँति पोषण तथा जिसको शिक्षित कर सकें। वहाँ का साधारण स्थिति का परिवार बहु-संख्यक सन्तान को शिक्षादान भली भाँति नहीं दे सकता, क्योंकि ज्यों ज्यों वे बड़े होने लगते हैं त्यों त्यों उनका खर्च भी अधिक होता जाता है। इस कारण उनको १५ या १६ वर्ष की उम्र ही में परिवार के काम में सहायता देने के लिए स्कूल से हटा लेना पड़ता है। इससे उनकी शिक्षा अधूरी ही रह जाती है और इसी कारण अमरीका के साधारण स्थिति के लोग बहुत बालकों का होना पसन्द नहीं करते और आवश्यकता से अधिक सन्तान उत्पन्न न हो, इसका वे वैज्ञानिक रीति से प्रबन्ध भी करते हैं।

बालकों की शिक्षा।

मातृ-विज्ञान नया शास्त्र है। इसके लेखकों में अभी अनेक विषयों में मत-भेद है। परन्तु सब का लक्ष्य है एक ही। सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि शिक्षा-प्रणाली चाहे कैसी हो, परन्तु उससे बालक की मानसिक, नैतिक और शारीरिक शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास होना चाहिए। बालक यथासम्भव मिथ्या भाषण न करे, स्वस्थ रहे और काम की बातों की शिक्षा पावे—इन बातों का ध्यान उसकी माता को रखना पड़ता है। बालकों को उत्तम विचार और उच्च आदर्श सिखाना माता का काम है।

बालक का सारा दिन खेलने में व्यतीत होता है। ढोल पीटना, खिलौने के हाथी, घोड़ों पर चढ़ना, परियों और तिलस्मातों की कहानियाँ पढ़ना, बाइसिकल पर चढ़ना आदि उसको बहुत अच्छा लगता है। अमरीका में खेलों ही के द्वारा बालकों की कल्पना-शक्ति और बाहु-बल की वृद्धि की जाती है और भाषा, ज्ञान तथा नई वस्तुओं का बनाना सिखाया जाता है।

बालक के लिए संसार की सब बातें नई हैं। बालक जन्म ही से पूर्वजों के अनेक गुणों का उत्तराधिकारी होता है। ज्यों ज्यों उसकी अवस्था बढ़ती है, उन गुणों का उसमें क्रमशः विकास होता है। जब तक बालक के ध्यान में कोई बात न बैठ जाय तब तक किसी आज्ञा अथवा आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। माता को उसे प्रत्येक बात का कारण बताना और उसके प्रत्येक प्रश्न का उचित उत्तर देना चाहिए।

बालकों की शिक्षा में तीन बातें बड़ी उपयोगी होती हैं जिनका उनके जीवन के प्रत्येक कार्य्य में काम पड़ता है। वे ये हैं:—(१) उनकी इच्छा-शक्ति (२) शारीरिक शक्ति और (३) साहस। माता को इनका प्रयोग प्रति दिन की साधारण बातों में समझाना चाहिए। बालक अपनी इच्छा-शक्ति का ज्यों ज्यों व्यवहार करेगा त्यों त्यों उसकी शक्ति बढ़ेगी। माता को स्वास्थ्य-रक्षा, स्वच्छता, व्यायाम आदि की शिक्षा उसको देनी चाहिए। अपनी शक्ति में भरोसा रखना, प्रत्येक काम के करने का साहस करना और आत्म-निर्भरता की शिक्षा उसके लिए बहुत आवश्यक है। नित्य की प्रत्येक बात में उसको इसकी शिक्षा दी जानी चाहिए। उदाहरणतः, यदि बालक को कड़वी दवा देनी हो तो उससे कहा जाय, "औषध और तुममें देखें किस की जीत होती है? तुम इस दवा को जीत कर पी सकते हो। यह दवा तुमसे जीत जायगी और तुम इससे हार कर भाग जाओगे"। यदि बालक अधिक मिठाई माँगता हो तो उससे यह कहा जाय, "तुमको आज मिठाई बहुत मिल चुकी है। यदि और चाहते हो तो और भी मिल सकती है, पर यदि अधिक खाओगे तो तुम बीमार पड़ जाओगे। यदि आज खाकर कल पछताना हो तो भले ही और ले लो"। डर जाने पर उसे साहस दिलाने के लिए "वह लड़का केवल तुमको डराता है। तुमको उससे कभी नहीं डरना चाहिए। यदि वह तुम्हें मारने आवे तो तुम भी उसे मारो। तुम तो उससे अधिक बलवान् हो" इत्यादि।

इन्हीं छोटी छोटी बातों से बालक का चरित्र-गठन किया जाता है। उसको बातों ही से हम साहसी और वीर बना सकते हैं। बातों से ही वह कायर बन जाता है। माता का काम उसको मनुष्य बनाना है। माता का धर्म है कि वह उसके प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार पर ध्यान रक्खे।

बालकों की शिक्षा में और एक बड़ी ध्यान देने योग्य बात यह है कि बालकों की रुचि देख कर उनको उसी प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। यदि किसी की रुचि कल-काँटे में हो तो उसको यन्त्र-विद्या (Engineering) में अधिक सफलता होगी। यदि किसी को गाने-बजाने की अधिक इच्छा रहती हो तो वह गान-विद्या में शीघ्र पारङ्गत हो सकता है। इसी भाँति दूसरी बातें भी समझ लेनी चाहिए।

माता बालक को सुचरित्र, बलवान् और आदर्शवान् बना कर उसकी बाकी शिक्षा का काम विद्यालय के हाथ समर्पण करती है। विद्यालय में और बालकों के मिलने से उसको मनुष्यत्व की, नेतृत्व की, मिलनसार बनने की तथा सामाजिक बातों की शिक्षायें मिलती हैं। विद्यालय में उसकी प्रत्येक शक्ति तथा गुण की परीक्षा होती है और वह अपने प्रश्नों को आप हल करना सीख जाता है। युवावस्था का स्वाभाविक लक्षण विद्रोह है। नवयुवक सामाजिक नियमों को और माता-पिता की आज्ञाओं को न मानने में अपना गुण समझते हैं। उनके शिक्षक उनकी इस स्वतन्त्रता की इच्छा का विचार कर उनके लिए नियम बनाते हैं और उनको समझाते हैं।

घर पर लड़के-लड़कियों को अनेक प्रकार के कामों का भार देकर उनको अपनी ज़िम्मेदारी से काम करने की शिक्षा दी जाती है। प्रत्येक विषय में

उनकी सलाह ली जाती है। इससे उनकी विचार-शक्ति बढ़ती है। धनोपार्जन करने में वे उत्साहित किये जाते हैं। इससे वे स्वावलम्बी होना सीखते हैं। उनको स्कूल तथा पड़ोस के लड़कों से मिलने का पूरा अवसर दिया जाता है। नाई, मोची, बढ़ई आदि के लड़कों से मिल कर उनको समता की एक नई प्रकार की शिक्षा मिलती है। घर पर उनके माता-पिता के उपदेशों, शिक्षा की पुस्तकों और नियमित आदर्शों से उनका चरित्र-गठन होता है।

अमरीका की माताओं ने अपनी सन्तान की शिक्षा के लिए ऐसी सात बातें निश्चित करली हैं जिनसे यदि उनको आदर्श मातायें कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। वे सात बातें ये हैं:—

(१) अमरीका की मातायें अपनी सन्तान की क्रीड़ा, अध्ययन आदि में संगिनी बनती हैं, न कि शासिका।

(२) बालकों को खेलने में किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है। चाहे खेल में उनके कपड़े फट जायँ या मैले हो जायँ या उनको चोट ही लग जाय तो भी वे धमकाये नहीं जाते या उन्हें किसी तरह की ताड़ना नहीं दी जाती। उनको सब विषयों में आत्म-विकास के लिए मौक़ा दिया जाता है। उनके किसी कार्य्य में कोई हस्तक्षेप या बाधा नहीं देता। उनको अपने इच्छानुसार काम करने की स्वतन्त्रता रहती है।

(३) बालकों को देश-भक्त होना, सत्य बोलना, आत्म-सम्मान रखना, साहसी बनना, दूसरों के अधिकारों का मान करना, धन का मूल्य समझना आदि बातों की घर पर शिक्षा दी जाती है।

(४) कष्ट में अत्यन्त हताश न होना और गिर पड़ने से चोट लग जाने पर भी हँसते रहने की शिक्षा।

(५) घर के बाहर संसार की बातें जानना; प्रकृति के सौन्दर्य का बोध: पशु, पक्षी, पुष्पलता, वृक्ष आदि से परिचय; ऐतिहासिक गाथाओं का पाठ; इतिहास और साहित्य का ज्ञान आदि।

(६) शरीर को पुष्ट और बलवान् बनानेवाले खेलों का जानना; यथा तैरना, घोड़े पर चढ़ना, तीर-कमान और बन्दूक चलाना, मल्ल-युद्ध और गेंद का खेल आदि।

(७) छुट्टी के समय ख़ूब जी भर कर खेलना, धूम मचाना और ताण्डवनृत्य करना, परन्तु काम के समय काम करना; नियम उल्लङ्घन के दण्ड को सहर्ष स्वीकार करना, न्यायपरता और पितृ-मातृ-प्रेम (भक्ति नहीं प्रेम)।

बालकों को समुचित और पूर्ण प्रकार की शिक्षा के नियम इनसे उत्तम और कौन हो सकते हैं?

अमरीका में बालक-बालिकाओं की शिक्षा पर सरकार भी अधिक ध्यान देती है। वहाँ के बालकों की शिक्षा की तुलना यदि उसी उम्र के भारतीय बालकों की शिक्षा के साथ की जाय तो ज़मीन आसमान का अन्तर मालूम होगा। बच्चों का मस्तिष्क कोमल पल्लव के समान होता है। जब तक वे दोनों छोटे और हरे हैं, जिधर चाहें घुमाये जा सकते हैं। जिस प्रकार माली फुलवाड़ी की झाड़ियों को काट-छाँट कर उनको स्वेच्छानुसार सुन्दर बना सकता है उसी प्रकार अच्छा शिक्षक अच्छी शिक्षा के द्वारा बालक के मस्तिष्क को सुधार सकता है। बालकों को शिक्षा बहुत ही सावधानी और सुचारु रूप से दी जाती है, क्योंकि जैसे पौधा बड़ा होने पर इधर-उधर नहीं किया जा सकता उसी प्रकार बालक भी बड़ा होने पर कुछ नहीं सीख सकता। इसलिए बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा पर बहुत ध्यान दिया जाता है। इस विषय में माता-पिता भी ख़ूब सचेत रहते हैं। यह शिक्षा उनको कई प्रकार से दी जाती है।

भिन्न भिन्न खेल इस प्रकार से बनाये गये हैं कि उनसे बालकों की नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक उन्नति हो। अमरीका के बालक घर ही पर स्कूलों से कहीं अधिक कई प्रकार की शिक्षा पा लेते हैं। घर पर उनके माता, पिता उनको बहुत सी बातों की शिक्षा देते हैं। वे स्वयं उनके साथ खेलते हैं। उनके पिता उनको बचपन में ही नाव खेना, घोड़े पर चढ़ना, तैरना आदि सिखा देते हैं। खेलने के बहाने वे उनको स्वस्थ, साहसी तथा शक्तिवान् बना देते हैं। अमरीका की मातायें तो अपने बालकों के साथ बालक के समान खेलती हैं। इन खेलों में उनका यही ध्यान रहता है कि बालक की मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक उन्नति हो। वे इस प्रकार की शिक्षा से उनकी शोभा बढ़ाती हैं, सुन्दर और बहुमूल्य आभूषणों से नहीं। वे उनको अपने साथ अजायब-घर, मैदान, सङ्गीतालय, नाटक, बायस्कोप आदि में ले जाती हैं और इस तरह उनको बिना अध्ययन ही अनेक प्रकार का ज्ञान प्राप्त करा देती हैं। वैज्ञानिकों ने बहुत सोच-विचार कर ऐसे अनेक खेल निकाले हैं जिनसे बालक आपही आप व्याकरण, भूगोल, ज्योतिष-शास्त्र, रेखा-गणित, अङ्क-गणित आदि सीख जाते हैं।

बालकों के मनोरञ्जन के लिए छोटी छोटी कहानियाँ कही जाती हैं। वे इन कहानियों को बड़े चाव से अपनी माता से कहते हैं। इस तरह उनको बोलने की शिक्षा दी जाती है और इससे स्मरण-शक्ति भी बढ़ती है। बालकों को टाइप राइटर चलाना बताया जाता है, जिससे उनको अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान और शुद्ध लिखना आदि शीघ्र ही आ जाता है।

उनकी शिक्षा की उन्नति का एक कारण यह है कि उन्हें शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता। दण्ड के बदले उन्हें अच्छे आचरण की शिक्षा दी जाती है और सुचरित्रता के लिए पुरस्कार दिया जाता है। इन रीतियों से उनकी शिक्षा की उन्नति बड़ी शीघ्रता से होती है। जो बातें बालक अपनी छोटी अवस्था में सीखते हैं उनको वे बहुत दिनों तक याद रखते हैं।

बालक-बालिकाओं को अपने देश अमरीका की भक्ति करने और उसके गौरव के जानने की शिक्षा भी उनकी मातायें देती हैं। वे उनको अपने देश का इतिहास और देश के वीरों की कहानियाँ पढ़ाती हैं, राष्ट्रीय गीत सिखाती हैं, जातीय उत्सवों में भाग लेने के लिए उत्साहित करती हैं और अमरीका के महापुरुषों ने अपने देश के लिए जो आदर्श बनाये हैं उन आदर्शों को चिर-जीवित तथा चिर-उन्नत रखने का उपदेश देती हैं। फल यह होता है कि बाल्य-काल ही से देश-प्रेम की शिक्षा पाकर बड़े होने पर अमरीका का प्रत्येक स्त्री-पुरुष अपने देश का स्वार्थ पहले देखता है। आवश्यकता पड़ने पर वह तन, मन, धन से देश-सेवा करता है। ऐसी वीर-प्रसविनी वीर मातायें भारत में भी हुआ करती थीं। अब वह समय शीघ्र आ रहा है जब हमको स्त्री-शिक्षा अनिवार्य करके आदर्श मातायें और आदर्श स्त्रियाँ बनाने के लिए प्रबन्ध करना पड़ेगा। तभी भारत का गौरवरूपी सूर्य्य उदय होकर भारत की प्राचीन कीर्ति संसार में फिर फैलावेगा।

रामकुमार खेमका

शिक्षा-सम्बन्धिनी सरकारी समालोचना।

उँटी बहुत ही छोटा प्राणी है। वह भी सुरक्षित जगह में अण्डे देता है, और अण्डों से निकल कर जब तक बच्चे बड़े और इस योग्य नहीं हो जाते कि वे अपना खाद्य आप ही प्राप्त कर सकें तब तक वह उनके लिए दाने चारे का भी प्रबन्ध कर रखता

है। चिउँटियों के बिलों में सेरों अनाज पाया जाता है—विशेष कर उन बिलों में जिनमें चिउँटियाँ अण्डे देती हैं। शहद की मक्खियों का भी यही हाल है। वे भी अपने बच्चों की जीवन-रक्षा और उदर-पूर्ति का बहुत ही अच्छा प्रबन्ध कर रखती हैं। पुस्तकों में पढ़ा है कि वे एक प्रकार की गायें तक पालती हैं। ये गायें मक्खियों के बच्चों को एक बहुत ही मधुर रस अपने मुँह से निकाल निकाल कर पिलाती हैं। जब तक बच्चे समर्थ नहीं हो जाते तब तक उनकी खूब देख-भाल होती है।

पशुओं का भी प्रायः यही हाल है। वे भी अपनी सन्तान की रक्षा करते हैं और सर्वथा निःस्वार्थ-भाव से करते हैं। मनुष्य को तो यह आशा भी रहती है कि हमें अपनी सन्तति से किसी समय सहायता मिलेगी। पर शेरनी और बिल्ली इत्यादि हिंस्र पशुओं को इस तरह की कोई आशा नहीं रहती; उन्हें इतना ज्ञान ही नहीं कि वे सहायता के भाव को समझ सकें। फिर भी, ये प्राणी शिकार के लिए निकल जाते हैं और पहले अपने बच्चों को खाना देकर तब खुद खाते हैं। बात यह कि, ईश्वरी निर्देश के अनुसार, वे अपनी सन्तति को सर्वथा इस योग्य कर देते हैं कि वे अपना पेट आप ही पाल सकें और अपनी रक्षा भी आप ही कर सकें।

मनुष्य ऊँचे दरजे का प्राणी है। उसमें बुद्धि है; सारासार विचार की शक्ति है। किसी में कम है, किसी में अधिक। अफ़्रीका के, तथा कुछ और देशों और टापुओं के, अधिकांश निवासी असभ्य हैं। पशुओं में और उनमें थोड़ा ही अन्तर है। तथापि वे भी अपनी सन्तति को तीर चलाना, शिकार खेलना, मछली मारना आदि सिखा कर उसे अपने सदृश बना देते हैं। जो देश सभ्य हैं उनकी ज़िम्मेदारी बढ़ी हुई है। अपनी सन्तान को अपने योग्य शिक्षा देना उनका कर्तव्य है। वे असभ्य नहीं जो खेत जोतने या हिरन का शिकार करके पेट भर लेने से ही कृतार्थ समझे जा सकें। उनकी पहुँच जहाँ तक है—उनमें ज्ञान का जितना अधिक अंश है—उसके अनुसार ही उनका धर्म्म है कि वे अपने बाल-बच्चों को शिक्षित करें।

शिक्षा से ही मनुष्य में मनुष्यत्व आता है। जो शिक्षित नहीं—शिक्षा न पाने से जिनकी बुद्धि का विकास नहीं हुआ—उनमें और पशुओं में थोड़ा ही अन्तर है। इस कारण प्रत्येक सभ्य मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तान को शिक्षा देकर या दिला कर उसे मनुष्यत्व की प्राप्ति का पात्र बनावे। सच तो यह है कि जब तक मनुष्य में अपनी सन्तति को समुचित शिक्षा देने की योग्यता या सामर्थ्य न हो तब तक विवाह करके सन्तानोत्पादन करने का उसे अधिकार ही नहीं। सन्तान को जन्म देकर उसे भेड़-बकरियों की तरह संसार में अशिक्षित छोड़ देना गुरुतर अपराध है। इसी से पश्चिमी देशों के अधिकांश निवासी तब तक विवाह नहीं करते जब तक पत्नी का अच्छी तरह पालन करने और सन्तति को समुचित शिक्षा देने का सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर लेते।

सन्तान को समुचित शिक्षा देने का महत्त्व इस देश के प्राचीन निवासी भी अच्छी तरह समझते थे। आठ दस वर्ष की ही उम्र में वे अपने लड़कों को गुरुगृह भेज देते थे। विद्यारम्भ-सम्बन्धी संस्कार को वे एक बड़ी बात समझते थे। उस समय वे अपने बच्चों का दूसरा जन्म हुआ समझते थे। इसी से उन्हें वे "द्विज" की पदवी देते थे। दस दस बीस बीस वर्ष तक वे उन्हें घर से बाहर कर देते थे। जब द्विजन्मा बालक वयस्क और विद्वान् होकर गुरुगृह से लौटते थे तब समावर्तन नामक एक और संस्कार होता था। विद्याध्ययन को इतना महत्त्व देनेवाला संस्कार क्या कभी किसी और प्राचीन देश में भी प्रचलित था ? राजाओं को भी इस बात का बहुत ख़याल रहता था कि उनकी प्रजा मूर्ख न रह जाय। पुरानी पोथियों में किये गये उल्लेखों से इस बात के प्रमाण मिलते हैं। राजा इस बात का गर्व करता था कि उसके राज्य में कोई अपढ़ नहीं। सुनते हैं, भोज ने यह घोषणा करा दी थी कि उसके राज्य में अपढ़ आदमी अपने मस्तक पर चन्दन का खौर या टीका न लगावे।

समय के फेर से विद्या का महत्त्व लोग भूलने लगे। पुरानी प्रथायें विस्मृत होने लगीं। विद्याध्ययन-विषयक संस्कार खेल हो गये। विदेशी राजाओं—और स्वदेशियों ने भी—अपना इतिकर्तव्य भुला दिया। वे प्रजा के हित की ओर कम, अपने स्वार्थ की ओर अधिक ध्यान देने लगे। गुरुगृह और बड़ी बड़ी पाठशालायें धीरे धीरे टूट गईं। फल यह हुआ कि इस देश में अविद्यान्धकार का दौर-दौरा दिन पर दिन बढ़ता ही गया।

अपनी सन्तति को शिक्षा देना यद्यपि माता-पिता का ही प्रधान कर्तव्य है, तथापि अलग अलग शिक्षा-दान का प्रबन्ध करना प्रत्येक कुटुम्ब के लिए सुभीते की बात नहीं। यह प्रबन्ध जन-समुदाय के लिए होने से ही सुभीता हो सकता है। इसी से इस काम को सभ्य देश के राजा या शासक अपने हाथ में लेते हैं। प्रजा उन्हें अपने सुभीते के लिए ही अपना राजा या शासक बनाती है। इसके लिए वह ख़र्च भी करती है। वह जिसे अपना राजा, शासक या प्रतिनिधि चुनती है उससे कहती है—हम लोग तुम्हें इसलिए यह पद देते हैं कि तुम हमारी रक्षा का प्रबन्ध करो; हमारे बाल-बच्चों की शिक्षा के लिए शिक्षालय खोलो; बीमारों के इलाज के लिए शफ़ाख़ाने खोलो; उद्योग-धन्धों और व्यापार की वृद्धि करो—इत्यादि। इसके लिए कर के रूप में तुम्हें हम काफ़ी धन देंगे। देखना, इसमें त्रुटि न होने पावे। विद्या और शिक्षा से ही मनुष्य में मनुष्यता आती है। अतएव, देखो, विद्यादान के काम को ख़ूब सावधानी से करना।

ऊपर, राजाओं के कर्तव्य के विषय में जो कुछ लिखा गया वह केवल कल्पना-प्रसूत है। पर इस शिक्षोन्नति के समय में सभ्य जनसमुदाय उस कर्तव्य को वैसा ही समझता है। राजा को वह देवता नहीं समझता। वह उसे अपने दिये हुए धन की बदौलत भोग-विलास में लिप्त रहनेवाला कुँवर-कन्हैया नहीं जानता। उसे वह अपना रक्षक, सुपथदर्शक, हितचिन्तक समझता है। जन-समुदाय अपने राजा या अपने प्रतिनिधि को कर्तव्य-च्युत होने पर स्थानच्युत भी कर सकता है; उसे दण्ड तक देने का अधिकार उसे प्राप्त रहता है। इसी से कितने ही नये नये राजा बना और कितने ही बिगड़ा करते हैं।

हिन्दुस्तान में अँगरेज़ी राज्य का आरम्भ हुए सौ वर्ष से भी अधिक हुआ। इस राज्य के अधिकारियों ने, आरम्भ में, शिक्षादान की ओर ध्यान तो दिया, पर बहुत ही कम। पहले की शिक्षा-सम्बन्धिनी रिपोर्टें भी अब प्राप्य नहीं। पर इधर चालीस पचास साल से शिक्षा देने का काम कुछ विशेष व्यवस्थित विधि से होता है। इसका भी हिसाब रक्खा जाता है कि किस साल कितने स्कूल और कालेज थे, उनमें कितने छात्र शिक्षा पाते थे, इस काम में सरकार ने कितना ख़र्च किया था।

इस देश में, हर सूबे में, शिक्षा-विभाग का एक एक अध्यक्ष रहता है। वह डाइरेक्टर आव् पबलिक इन्सट्रक्शन कहाता है। वह हर साल अपने महकमे की एक रिपोर्ट तैयार करता है। उसमें शिक्षा-विषयक सभी बातों की समालोचना रहती है। उस रिपोर्ट पर विचार करके प्रान्तिक गवर्नमेंट अपना मन्तव्य प्रकट करती है और सर्व-साधारण की अवगति के लिए उसे प्रकाशित करती है। अब, कई साल से, भारतीय प्रधान गवर्नमेंट ने "बेरू आफ् एजुकेशन" नाम की एक संस्था अपनी अधीनता में संस्थापित की है। यह संस्था समस्त देश की शिक्षा की देख-भाल रखती है। इसके अध्यक्ष, या बड़े साहब, एजुकेशनल कमिश्नर कहाते हैं। ये साहब पूर्वोक्त प्रान्तिक डाइरेक्टरों की रिपोर्टें पढ़ कर, उनके आधार पर, अपनी ओर से भी नमक मिर्च लगा कर, एक और रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं। उसमें सारे देश की शिक्षा की समालोचना रहती है। इस तरह की १९१९-२० (मार्च १९२० तक) की एक रिपोर्ट, १९२१ ईसवी के जून महीने में, अब, जाकर प्रकाशित हुई है। गवर्नमेंट का कहना है कि देश में पढ़े-लिखे और काफ़ी समझ रखनेवाले आदमी कम हैं। अधिकांश अपढ़ हैं। वे अपने हित-अनहित को ख़ुद नहीं समझ सकते। गवर्नमेंट ऐसे भोले-भाले और अपढ़ आदमियों की माँ-बाप बनती है और कहती है कि इन लोगों की बेहतरी और बेहबूदी का ख़याल उसी को सबसे अधिक है। अतएव, देखिए, माँ-बाप की स्थानापन्न गवर्नमेंट अपनी भोली-भाली रिआया के लिए कितनी और किस प्रकार की शिक्षा देती है और ख़र्च कितना करती है। ये बातें, थोड़े में, हम "बेरू आफ़ एजुकेशन" की पूर्वोक्त, १९१९-२० वाली रिपोर्ट, से ही देते हैं—

कोई ६० वर्ष हुए जब, अर्थात् सन् १८६० ईसवी के लगभग, सारे भारत में केवल १० लाख छात्र शिक्षा पाते थे। १८८० में उनकी संख्या २० लाख, १९०० में ४०

लाख, १९१० में ६० लाख और १९२० में कहीं जाकर ८० लाख हुई। देखिए, कितनी मन्थर गति से—कछुवे की गति से भी धीमी गति से—छात्रों की संख्या बढ़ी अर्थात् शिक्षा-प्रचार की गति के वेग ने वृद्धि पाई। कोई ६० वर्ष में १० लाख के ८० लाख छात्र स्कूलों और कालेजों में पहुँचे! जानते हैं आप आबादी के हिसाब से यह औसत कितना पड़ा। यह पड़ा फ़ी सदी ३ से कुछ ही अधिक! अर्थात् १०० मनुष्यों में से कुछ अधिक तीन ही मनुष्यों की शिक्षा का प्रबन्ध हो सका। अच्छा इनकी पढ़ाई में ख़र्च? जनाबे वाला, सन् १८७० के लगभग सरकार एक ही करोड़ रुपया शिक्षा-विभाग के लिए ख़र्च करती थी। पर कोई ५० वर्ष में उसने उसे बढ़ा कर चौदह करोड़ से भी कुछ अधिक कर दिया है! माँ-बाप इससे ज़ियादह और क्या करते?

यह हम लोगों के लिए बड़े अफ़सोस की बात है और सुसभ्य अँगरेज़ी गवर्नमेंट के लिए बड़ी लज्जा की। कारण यह कि शिक्षा-दान का समुचित प्रबन्ध करना गवर्नमेंट का बहुत बड़ा कर्तव्य है। उसे चाहिए कि प्रजा से प्राप्त धन का काफ़ी अंश वह इस काम के लिए ख़र्च करे, क्योंकि शिक्षा ही की बदौलत प्रजा अपने सुख के साधनों की विशेष प्राप्ति और वृद्धि कर सकती है। पर गवर्नमेंट ने अपने इस कर्तव्य की अब तक बहुत कुछ अवहेलना की है। प्रजा से कर के रूप में अनन्त धन लेकर उसका बहुत ही थोड़ा अंश उसने उसे शिक्षित बनाने के लिए ख़र्च किया है। सन्तोष की बात है कि उसने अब कहीं अपना ध्यान इस त्रुटि की ओर जाने दिया है और प्रजा के प्रतिनिधियों के बहुत कुछ कहने सुनने और बहुत कुछ हो-हल्ला मचाने से शिक्षा के प्रचार और तदर्थ व्यय के विस्तार की योजना कर देने की कृपा की है। प्रान्तीय शिक्षा-विभागों को उसने अब प्रजा के प्रतिनिधि-स्वरूप मन्त्रियों के अधीन कर दिया है। इस दशा में यदि यथेष्ट शिक्षा-प्रचार न हो तो गवर्नमेंट कम, मन्त्रिवर्ग ही अधिक उत्तरदाता समझा जायगा।

युद्ध के कारण १९१८-१९ में ११ हज़ार छात्र कम हो गये थे। पर १९१९-२० में उनकी संख्या में २½ लाख से भी अधिक की वृद्धि होगई। अर्थात् ३१ मार्च १९२० को ८२,०६,२२५ छात्र शिक्षा पाते थे। इसका मतलब यह हुआ कि पिछले साल से २,६१,६४८ छात्र बढ़ गये। यह वृद्धि फ़ी सदी ३⅙ के बराबर हुई। पर आबादी के हिसाब फ़ी सदी ३·३६ से अधिक बच्चों को फिर भी शिक्षा नसीब न हुई!

इस संख्या-वृद्धि का ब्योरा लीजिए—

(१) कालेजों में ६३,८३० से ६५,९१६ छात्र हो गये

(२) माध्यमिक स्कूलों में १२,१२,१३३ से १२,८१,८१० छात्र हो गये

(३) प्रारम्भिक मदरसों में ५९,४१,४८२से ६१, ३३,५२१ छात्र हो गये

शिक्षालय भी बढ़े, पर विशेष नहीं। शिक्षालयों की वृद्धि का फ़ी सदी औसत २·८ ही पड़ा; पर छात्रों की वृद्धि का फ़ी सदी औसत पड़ा ३·८ का। सब मिला कर शिक्षालयों—अर्थात् स्कूलों, कालेजों और मदरसों—की संख्या थी २,०२,९८१। उनमें से पुरुषों (बच्चों और युवकों) के शिक्षालय थे १,७८,२४३ और लड़कियों तथा स्त्रियों के २४,७३८। किस तरह के शिक्षालय कितने थे और उनकी संख्या में वृद्धि कितनी हुई, यह नीचे देखिए—

	वर्तमान संख्या	वृद्धि की संख्या
(१) कालेज	२१६	७
(२) हाई स्कूल	२,११३	१२७
(३) अँगरेज़ी और देशी भाषाओं के मिडिल स्कूल	३,२९५	१७
(४) देशी भाषाओं के मिडिल स्कूल	३,३००	४१५
(५) प्रारम्भिक स्कूल	१,५५,३७४	५,०७३
(६) विशेष प्रकार के स्कूल	४,०६०	३८९

सो संख्या तो ज़रूर सब प्रकार के स्कूलों की बढ़ी, पर अधिक वृद्धि हुई प्रारम्भिक ही स्कूलों की। इससे सिद्ध हुआ कि शिक्षा-विषयक बदली हुई अपनी अधिक उदार नीति के कारण गवर्नमेंट ने देहात में जो नये नये मदरसे और मकतब अधिक खोले हैं उसी से यह संख्या इतनी बढ़ गई है। अतएव इससे यह नहीं सूचित होता कि विद्या या शिक्षा की विशेष वृद्धि हुई है। जो नये मदरसे बढ़े हैं उनमें तो अभी अधिकतर इक्का एक और अलिफ़-

वे या कक्का-किक्की ही पढ़नेवाले छात्र होंगे। ख़ैर, सरकार ने अपनी मन्थर गति को तेज़ तो कर दिया। यह गति यदि अधिक न बढ़ी, इतनी ही रही, तो भी, सम्भव है, ट, फ, करनेवाले ये छात्र ऊँचे दरजों में पहुँच कर कुछ पढ़-लिख जायँ।

शिक्षा के सम्बन्ध में अपना प्रान्त बड़ाही अभागा है। सीमाप्रान्त को छोड़ कर और सभी प्रान्त उसके आगे हैं; सभी में आबादी के हिसाब से फ़ी सदी अधिक छात्र शिक्षा पाते हैं। कुछ सूबों का हिसाब नीचे देखिए—

मदरास	फ़ी सदी	४·१८
बम्बई	,,	४·४८
बङ्गाल	,,	४·२८
ब्रह्मदेश	,,	४·७५
विहार और उड़ीसा	,,	२·४५
मध्यप्रदेश और बरार	,,	२·५७
आसाम	,,	३·४७
पञ्जाब	,,	२·१५
संयुक्त-प्रदेश	,,	२·१५

देखिए, बिहार, मध्यप्रदेश और आसाम तक अपने प्रान्त से आगे हैं। पञ्जाब और अपने प्रान्त की दशा एक सी है। हाँ, अपने प्रान्त के गवर्नर साहब ने अब अपनी कृपादृष्टि का पात कुछ अधिक विस्तृत कर दिया है। इसी से १९१९-२० में उसके पिछले साल से फ़ी सदी ८३/४ छात्र अधिक शिक्षा पाने लगे हैं। यदि उन्नति का यह क्रम बराबर जारी रहा तो, आशा है, कुछ बरसों में साक्षरता की विशेष वृद्धि हो जाय। अपने प्रान्त में छात्रों की विशेष वृद्धि प्रारम्भिक मदरसों ही में हुई है। माध्यमिक स्कूलों में तो उनकी संख्या उलटी कम होगई है। इसका कारण डाइरेक्टर साहब ने बीमारी और महँगी आदि बताया है। यह कारण ठीक हो सकता है। पर क्या शिक्षा की महर्घता भी इस कमी का कारण नहीं ?

शिक्षा-दान में, रिपोर्ट के साल, सब मिला कर १४,८८,६६,९६० रुपया ख़र्च हुआ। वह इस प्रकार—

	रुपये
(१) प्रान्तिक गवर्नमेंट का दिया हुआ	६,३१,६२,२३३
(२) म्यूनीसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों का दिया हुआ	२,१३,०१,२३९
(३) फ़ीस से प्राप्त हुआ	३,६८,८०,४५९
(४) और ज़रियों से प्राप्त हुआ	२,७५,२३,०२९

सो, कोई १५ करोड़ रुपये में से सरकार ने अपने ख़ज़ाने से केवल ६ करोड़ ३१ लाख रुपया ख़र्च किया। बाक़ी रुपया अन्य द्वार से प्राप्त हुआ। अतएव यदि सरकार या और कोई यह समझे कि शिक्षा-विस्तार का सारा श्रेय सरकार को ही है तो उसकी यह समझ भ्रमात्मक होगी। ३१/२ करोड़ रुपये से भी अधिक रुपया तो केवल फ़ीस से वसूल हो जाता है। २३/४ करोड़ से भी अधिक चन्दे या ख़ैरात वग़ैरह से मिलता है। हाँ, गवर्नमेंट आफ़ इंडिया भी अब कुछ कुछ देने लगी है। परन्तु कोई कोई प्रान्त ऐसे हैं कि वे उस रुपये से यथेष्ट लाभ नहीं उठाते। उदाहरण के लिए अपने प्रान्त को बड़ी गवर्नमेंट ने पहले २ करोड़ १४ लाख रुपया दिया था। पर उसके बाद और रुपया उसने शायद इसी कारण नहीं मञ्जूर किया, क्योंकि पहले दिया हुआ रुपया ही नहीं ख़र्च किया गया।

वर्तमान विश्वविद्यालयों की पढ़ाई आदि में परिवर्तन करने की ख़ूब योजनायें हो रही हैं। इन योजनाओं का कारण कलकत्ता-विश्वविद्यालय के सम्बन्ध में नियत किये गये कमिशन की रिपोर्ट है। लखनऊ में एक नया विश्वविद्यालय खुल रहा है। ढाके का विश्वविद्यालय शायद अब तक खुल भी गया होगा। इधर इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में भी बहुत कुछ उथल-पुथल किये जाने का प्रबन्ध हो रहा है। रङ्गून और नागपुर में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना होनेवाली है।

माध्यमिक शिक्षा देनेवाले स्कूलों की संख्या में ५५९ की वृद्धि हुई। सब मिला कर वे ८,७०८ हो गये। उनमें शिक्षा पानेवाले छात्रों की संख्या भी बढ़ कर १२,८१,८१० होगई—अर्थात् ६९,६७७ छात्र अधिक शिक्षा पाने लगे। पिछले साल इन स्कूलों के लिए ३३,६५,८३१ रुपये कम ख़र्च किये गये थे; रिपोर्ट के साल ख़र्च की रक़म बढ़ कर

४,००,३७,७१४ होगई। सो इस प्रकार की शिक्षा के लिए कोई ३३½ लाख रुपया अधिक ख़र्च हुआ।

धनी या मध्यवित्त लोग चाहते हैं कि देहात में जो मिडिल स्कूल हैं उनमें अँगरेज़ी भी पढ़ाई जाय। पर अन्य लोग इसके ख़िलाफ़ हैं। वे कहते हैं कि ज़रा सी अँगरेज़ी पढ़ कर हमारे लड़के क्या करेंगे। उससे हमें कुछ भी लाभ नहीं। आप हमारे लड़कों को देशी भाषाओं में ही शिक्षा दीजिए। इस झगड़े को सरकार अब तक हल नहीं कर पाई। तथापि उसने परीक्षा के तौर पर संयुक्त-प्रान्त, बम्बई, ब्रह्मदेश, पञ्जाब और सीमा-प्रान्त के कुछ मिडिल-स्कूलों में ऐच्छिक रूप से अँगरेज़ी की पढ़ाई का भी प्रबन्ध कर दिया है। वहाँ जिसका जी चाहे अपने लड़कों, लड़कियों को थोड़ी सी अँगरेज़ी भी पढ़ लेने दे। यह प्रबन्ध बहुत अच्छा हुआ। इससे सब प्रकार के लोगों को सुभीता रहेगा। सम्भव है, धीरे धीरे ऐसे स्कूल ही लोगों को अधिक पसन्द आवें। यदि ऐसा हुआ तो केवल अँगरेज़ी या केवल देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा देनेवाले मिडिल-स्कूलों की ख़ैर न समझिए। वे बिलकुल ही न टूट जायँगे तो बहुत कम तो अवश्य ही हो जायँगे।

माध्यमिक स्कूलों के अध्यापकों के वेतन में विशेष वृद्धि कर दी गई। कहीं कहीं तो कुछ अध्यापकों के वेतन दूने तक हो गये। जिन प्रान्तों में इन लोगों के वेतन अब तक नहीं बढ़े वहाँ भी बढ़ाने की तजवीज़ हो रही है। बड़ी बात है—

भूखे भगति न होहि गुपाला

१९१८-१९ में प्रारम्भिक मदरसों की संख्या १,९०,२७१ थी। १९१९-२० में बढ़ कर वह १,९५,३४४ होगई। अर्थात् ५,०७३ मदरसे बढ़े। इसी तरह इन मदरसों में पढ़नेवाले छात्रों की संख्या में भी १,६२,०३९ की वृद्धि हो गई। पिछले साल कुल छात्रों की संख्या ५९,४१,४८२ थी। रिपोर्ट के साल वह ६१,३३,४८२ हो गई। ख़ुशी की बात है, सबसे अधिक वृद्धि अपने ही प्रान्त में हुई। यहाँ इस प्रकार के मदरसों में २,१७७ की वृद्धि हुई और छात्रों में ७६,०९७ की। यह सर हरकर्ट बटलर की कृपा का प्रभाव है। जब से आप इस प्रान्त के कर्णधार हुए हैं तभी से आपका ध्यान शिक्षा-प्रचार की ओर है। यही कारण है जो शिक्षा-दान के सम्बन्ध में तरह तरह के परिवर्तन हो रहे हैं; नये नये विश्वविद्यालयों की सृष्टि हो रही है; हर प्रकार की शिक्षा की समुन्नति की योजनायें की जा रही हैं। अपना प्रान्त शिक्षा-प्रचार में बहुत पिछड़ा हुआ भी है। यदि बटलर साहब की इतनी कृपा न होती तो निरक्षरता का घोर अन्धकार पूर्ववत् ही बना रहता।

रिपोर्ट के साल एक बात नई हुई। वह है ज़बरदस्ती शिक्षा देने के सम्बन्ध में क़ानून बनना। इस तरह के क़ानून प्रायः सभी बड़े बड़े प्रान्तों में "पास" हो गये हैं। कहीं कहीं तो ये क़ानून म्यूनीसिपैलिटियों ही की हद के भीतर कारगर होने के लिए बनाये गये हैं, पर कहीं कहीं—उदाहरणार्थ बङ्गाल में—इनकी दौड़ म्यूनीसिपैलिटियों की हद के बाहर तक भी है। कुछ निर्दिष्ट शर्तें पूरी होने पर, इन क़ानूनों के अनुसार, माँ-बाप को अपने बच्चे ज़बरदस्ती स्कूल भेजने पड़ते हैं। यदि इस तरह के क़ानून सभी प्रान्तों में "पास" हो जायँ और उनकी व्याप्ति सार्वत्रिक हो जाय तो निरक्षरता का बन्धन ढीला हो जाने की बहुत कुछ सम्भावना है।

कहीं कहीं प्रारम्भिक शिक्षा-दान मुफ़्त भी कर दिया गया है, यह भी सन्तोष की बात है। ख़ैर, सैकड़ों वर्ष बाद, गवर्नमेंट ने बलवत् शिक्षा देने और यत्र तत्र प्रारम्भिक शिक्षा को मुफ़्त कर देने की ओर क़दम तो बढ़ाया।

कृषि, व्यापार-व्यवसाय, कला-कौशल और यञ्जीनियरी की शिक्षा के प्रचार के विस्तार की ओर भी सरकार का ध्यान कुछ अधिक गया है। इस प्रकार के शिक्षा-दान की प्रणालियों में कहीं कहीं नूतनता भी उत्पन्न की गई है, शिक्षालय भी बढ़ाये गये हैं और विशेष उपयोगिनी योजनाओं से भी काम लिया गया है।

लड़कियों के मदरसों में १,३२९ की वृद्धि होकर उनकी संख्या २२,८६२ होगई। साल के अन्त में १३,०६,११७ लड़कियाँ उनमें पढ़ती थीं। अर्थात् पिछले साल की अपेक्षा उनकी संख्या में ६३,५९३ की वृद्धि हुई। पर इस वृद्धि से किसे सन्तोष हो सकता है? ब्रिटिश भारत की १२ करोड़ स्त्रियों में सिर्फ़ १३ लाख स्त्रियों या लड़कियों ही को शिक्षा मिलना सन्तोष की तो नहीं, सन्ताप की बात अवश्य है।

सौ स्त्रियों में केवल एक लड़की का स्कूल जाना हम लोगों के और सभ्यशिरोमणि सरकार के भी कर्तव्य-पालन का प्रखर प्रमाण है। यदि हम लोग अपनी लड़कियों को शिक्षा देना चाहते और गवर्नमेंट उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध करती तो स्त्रियों में इतनी अविद्या कदापि न पाई जाती।

हमारे मुसलमान भाइयों की शिक्षा के विषय में सरकार कुछ विशेष दत्तचित्त रहती है। यह इसलिए कि उनमें शिक्षा की बहुत कमी है। मूर्ख और कमज़ोर सन्तति पर माँ-बाप की अधिक कृपा का होना अस्वाभाविक भी नहीं। इसी से मुसलमानों की शिक्षा के लिए गवर्नमेंट ने विशेष विशेष नियम बना दिये हैं, जगह जगह मकतब खोलने का प्रबन्ध कर दिया है, नई नई योजनायें करके शिक्षा-प्राप्ति के साधनों की वृद्धि कर दी है। फल भी इसका अच्छा हुआ है। १९१८-१९ में १६,९६,४३९ ही मुसलमान-छात्र शिक्षा पाते थे। पर अगले साल—१९१९-२० में—उनकी संख्या बढ़ कर १७,६४,८६८ होगई।

यह है एक साल की सरकारी रिपोर्ट का सारांश। इसमें सन्देह नहीं कि पहले की अपेक्षा सरकार अब शिक्षा-दान की ओर अधिक ध्यान दे रही है, पर विषय के महत्त्व को देखते, उसका यह प्रवर्द्धित प्रयत्न भी काफ़ी नहीं—काफ़ी क्या नहीं, काफ़ी की हद से योजनों दूर है। सरकार को चाहिए कि वह अपने देश—अपने टापू—को देखे; योरप के अन्यान्य देशों की ओर भी आँख उठावे; अमेरिका और जापान के शिक्षा-प्रचार का अवलोकन करे। जब इन सब देशों में फ़ी सदी दो चार निरक्षर आदमी मुश्किल से मिल सकते हैं, तब भारत में फ़ी सदी तीन ही चार शिक्षितों का मिलना सरकार की सुनीति के विस्तृत भाल पर बहुत बड़े कलङ्क के टीके का परिचायक है। क्या कारण है जो १०० वर्ष से भी अधिक शासन करने पर भी अँगरेज़ी गवर्नमेंट यहाँ यथेष्ट शिक्षा-प्रचार नहीं कर सकी? कारण है, केवल उसकी नीति। यदि वह अपने कर्तव्य का समुचित पालन करती तो निरक्षरता का यहाँ इतना अखण्ड राज्य न रहता। जब और और कम महत्त्व के कामों के लिए सरकार को पचास पचास, साठ साठ करोड़ रुपये हर साल ख़र्च करने को मिल जाते हैं तब शिक्षा के सदृश परमोपयोगी काम के लिए यह कहना कि रुपये की कमी के कारण इसकी उन्नति नहीं हो सकती, ऐसी बात है जो किसी भी समझदार की समझ में नहीं आ सकती।

अस्तु। अब अनेक कारणों से समय ने पलटा खाया है। सरकार की नीति भी अब कुछ उदार हो चली है। शिक्षा-प्रचार का काम भी अब प्रजा के प्रतिनिधियों ही के ऊपर छोड़ दिया गया है। इससे आशा होती है कि यदि बाधक नीति की कर्कश कशा भीतर ही भीतर न चली तो दो ही चार साल में अशिक्षा का अन्धकार धीरे धीरे विरल हो जायगा। ईश्वर करे ऐसा ही हो!

महावीरप्रसाद द्विवेदी

बाजीराव पेशवा।

अपने पिता की मृत्यु के बाद बाजीराव सन् १७२० में पेशवा के पद पर नियुक्त हुआ। शिवाजी के स्वाधीन राज्य पर छत्रपति शाहू का आधिपत्य प्रथम पेशवा ने ही अपने अनवरत परिश्रम से जमा दिया था। शाहू का विरोधी दल ताराबाई की अधीनता में गृह-युद्ध जारी किये रहा, परन्तु विजय-लक्ष्मी शाहू ही को वरण किये रही। यद्यपि प्रथम पेशवा ने शाहू के विरोधियों को परास्त कर दिया था और वे इतने बल-सम्पन्न नहीं थे कि अपनी ओर से युद्ध छेड़ कर शाहू का सामना करते, तो भी मरहटा-राज्य के सिंहासन का स्वत्व उन्होंने अभी तक नहीं परित्याग किया था। शाहू को मरहटा-राज्य से निकाल बाहर करने का उनका भाव अभी ज्यों का त्यों बना था। अर्थात् बाजीराव की नियुक्ति के समय शाहू का प्रतिद्वन्दी अपनी घात में तैयार खड़ा था। वह बिलकुल निस्तेज नहीं हो गया था। इसके सिवा पड़ोस में आसफ़जाह ने दिल्लीश्वर से राजविद्रोह करके अपने स्वाधीन राज्य की नीव रक्खी थी। पेशवा के लिए यह

दूसरी भय की बात थी। परन्तु बाजीराव ऐसा-वैसा आदमी नहीं था। वह अपने समय का अद्धितीय राजनीतिज्ञ और रण-कला-कुशल था। उसके जीवन की घटनाओं की ओर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट विदित हो जाती है कि शिवाजी को छोड़ कर मरहटों में उसके समान योग्य पुरुष दूसरा नहीं हुआ है। पूना से लेकर दिल्ली तक उसकी विजय-वैजयन्ती उड़ती रही।

जिस समय बाजीराव ने पेशवाई का पद ग्रहण किया था उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मद शाह आसीन थे। सैयदों का प्राधान्य इसके कुछ ही पहले विनष्ट हुआ था। शाही दरबार में कोई भी ऐसा प्रत्युत्पन्नमति राजपुरुष नहीं था जो शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित करता। स्वयं बादशाह इतना क्षमताहीन हो गया था कि वह भी कुछ कर-धर न सकता था। दरबार के अमीर-उमरा अपने अपने प्राधान्य के लिए परस्पर द्वन्द्व मचाये हुए थे। उधर प्रान्तिक सूबेदार शाही दरबार की इस परिस्थिति से स्वाधीन भाव व्यक्त करने लगे थे। मालवा और गुजरात का सूबेदार आसफ़जाह तो इतना शक्ति-सम्पन्न हो गया था कि उसने दक्षिण में जाकर मुग़ली सूबों पर स्वतन्त्र भाव से अपना अधिकार जमा लिया था। मुग़ल-दरबार की यह स्थिति बाजीराव की निगाह से न छिप सकी और उसने उससे तुरन्त लाभ उठाने का निश्चय किया।

परन्तु बाजीराव अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करे तो कैसे करे। उसे तो अभी वे अधिकार भी न प्राप्त हुए थे जो उसके पिता को प्राप्त थे। इसके सिवा मरहटा-शासन में प्रतिनिधि का दरजा सबसे ऊँचा था और वह पेशवा से ईर्ष्या रखता था। परन्तु मनस्वी अपने निश्चय से कभी नहीं डिगता। अतएव बाजीराव के मुग़ल-साम्राज्य पर आक्रमण करने का प्रस्ताव उपस्थित करने पर प्रतिनिधि ने घर की तथा बाहर की कठिनाइयाँ बतला कर उसका विरोध दृढ़ता के साथ किया, परन्तु पेशवा ने छत्रपति को अपने प्रस्ताव की उपयोगिता तथा उसका महत्त्व इस प्रकार से समझाया कि उसने मुग़ल-साम्राज्य पर आक्रमण करने का आदेश उसको दे दिया। अपने इस पहले ही कार्य से पेशवा ने छत्रपति को अपनी ओर कर लिया। यही नहीं उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को पहले ही बार में नीचा दिखा कर अपना प्राधान्य भी क़ायम कर लिया।

जब आसफ़जाह साम्राज्य का वज़ीर-पद परित्याग कर दक्षिण चला गया था और वहाँ के मुग़ल-राज्य को अपने क़ब्ज़े में करके स्वतन्त्र हो बैठा था तब बादशाह ने मालवा की सूबेदारी राजा गिरधर और गुजरात की सर बुलन्दख़ाँ को प्रदान की। इन नव-नियुक्त सूबेदारों ने अपने अपने प्रान्तों से आसफ़जाह के कर्मचारियों को बलपूर्वक हटाना शुरू कर दिया और उनके स्थान पर ये अपना प्राधान्य क़ायम करने लगे। इसी गड़बड़ी में बाजीराव ने मालवे पर चढ़ाई कर दी। मालवे में आसफ़जाह की उतनी सेना नहीं रह गई थी जो राजा गिरधर का सामना कर सके, अतएव उसने अपने प्रान्त पर सरलता से अधिकार कर लिया। परन्तु मरहटों के आक्रमण की कठिनाइयाँ उसे बहुत समय तक झेलनी पड़ीं। उधर गुजरात में आसफ़जाह के चाचा हामिदख़ाँ के पास कुछ सेना थी और उसने सर बुलन्दख़ाँ का सामना भी किया। इसके सिवा अपनी सहायता के लिए उसने पेशवा से मदद माँगी जो कि चौथ और सरदेशमुखी के वादे पर तुरन्त दी गई। परन्तु सर बुलन्दख़ाँ ने हामिदख़ाँ को परास्त करके गुजरात पर अपना अधिकार जमा लिया। पर यहाँ भी मरहटे अपने कार्य-क्षेत्र से न हटे। वे नव-नियुक्त सूबेदार

से लड़ते ही रहे। इस प्रकार पेशवा ने जो आक्रमण मुग़ल-साम्राज्य के इन प्रान्तों पर किया था उसका वेग नव-नियुक्त सूबेदार न सँभाल सके और युद्ध-भूमि में विजय-लक्ष्मी मरहटों ही को बराबर मिलती रही।

बादशाह से विद्रोह करके आसफ़जाह ने हैदराबाद को अपनी राजधानी बना कर दक्षिण का सम्पूर्ण मुग़ल-राज्य अपने क़ब्ज़े में कर लिया था। वह वहाँ अपना अधिकार मज़बूत करने में लगा था। अतएव मालवे और गुजरात के मामले में हस्तक्षेप करने की हिम्मत उसे न हुई। परन्तु वह यह नहीं चाहता था कि मरहटे शक्ति-सम्पन्न और प्रभावशाली हो जायँ। वह औरंगज़ेब का ज़माना देखे हुए था, अतएव मरहटों की इस शक्ति-वृद्धि से वह विशेषरूप से चिन्तित हुआ। वह उन्हें भेद-नीति-द्वारा शक्तिहीन करने का उपाय सोचने लगा। तदनुसार उसने प्रतिनिधि को लिखा कि जो चौथ तथा सरदेशमुखी मरहटों को दक्षिण के प्रान्तों से मिलती है उसके बदले में मैं देश तथा वार्षिक नक़द रक़म देने को तैयार हूँ। यह प्रस्ताव उसने पेशवा का प्रभाव विनष्ट करने के मतलब से किया था। परन्तु मरहटों में उस समय बाजीराव का प्राधान्य था। अतएव उसके विरोध करने पर आसफ़जाह का प्रस्ताव अस्वीकृत हुआ, परन्तु फल यह ज़रूर हुआ कि पेशवा और प्रतिनिधि का मनोमालिन्य बढ़ गया।

जब आसफ़जाह को अपनी इस चाल से विशेष लाभ न हुआ और उसने देखा कि मालवे में पेशवा दिन प्रति दिन प्रबल पड़ता जा रहा है तब उसने दूसरा कुचक्र चलाया। उसने मरहटा-राज्य के दूसरे दावीदार शम्भा और शाहू में युद्ध करा देने का प्रयत्न किया। उसने शाहू और शम्भा दोनों को लिखा कि जो चौथ तथा सरदेशमुखी दक्षिण के प्रान्तों से मरहटों को मिलनी चाहिए वह किसको दी जाय। अतएव तुम लोग अपना अपना हक़ प्रमाणित करो। इस चाल का अर्थ शाहू और बाजीराव दोनों ने समझ लिया और वर्षा-ऋतु की समाप्ति के बाद ही पेशवा ने तुरन्त आसफ़जाह पर चढ़ाई कर दी। उसने उसके राज्य में प्रवेश करके बुरहानपुर को जा घेरा। पेशवा के आक्रमण करने से आसफ़जाह ने प्रकट-रूप से शम्भा का पक्ष ले लिया और बुरहानपुर की रक्षा के लिए वह स्वयं रवाना हुआ। इसी बीच में पेशवा बुरहानपुर का घेरा उठा कर द्रुतगति से गुजरात पर चढ़ गया, क्योंकि वहाँ के सूबेदार सर बुलन्दख़ाँ ने चौथ देना अभी तक स्वीकार न किया था। गुजरात में लूट-खसोट करके वह फिर दक्षिण को तुरन्त लौट पड़ा और आसफ़जाह से आ भिड़ा। उसने शत्रु-सेना के आस पास के देश को ऐसा उजाड़ दिया कि उसे रसद तथा अन्यान्य आवश्यक सामग्री मिलना दुर्लभ हो गया। मरहटों की इस प्रकार की युद्ध-शैली से व्याकुल होकर आसफ़जाह ने बाजीराव से सन्धि का प्रस्ताव किया। उसने शम्भा का पक्ष परित्याग कर दिया और मरहटों के लाभ की दूसरी सुविधायें कर देने का भी वचन दिया। युद्ध-भूमि में आसफ़जाह को इस प्रकार पराभूत करके पेशवा ने सन् १७२६ में नर्मदा पार की और मालवा में अपने स्वत्व क़ायम करने के लिए वह फिर पूर्ववत् डट गया।

इधर पेशवा की अनुपस्थिति में प्रतिनिधि ने शम्भा पर आक्रमण कर दिया और युद्ध में परास्त कर उसको सन्धि करने के लिए बाध्य किया। हार जाने पर शम्भा ने मरहटा-राज्य के सिंहासन के अपने दावे को छोड़ दिया। उसे कोल्हापुर का राज्य मिल गया। इसके सिवा राजा की पदवी और शाहू का दर्जा भी उसे प्राप्त रहा। यद्यपि शम्भा को इस प्रकार वशवर्ती करने का सारा

श्रेय प्रतिनिधि ही को मिला, पर उसका प्राधान्य पेशवा के प्रताप के आगे न जम सका।

मालवा में जो सफलता बाजीराव ने प्राप्त की थी उसके कारण मरहटा-शासन में वह सर्व-प्रधान हो गया था। उसकी इस उन्नति को देख कर मरहटा-शासन के दूसरे प्रधान प्रधान सूत्रधार उससे मन ही मन जलने लगे थे। प्रतिनिधि तो खुल्लमखुल्ला उसका विरोधी हो गया था, परन्तु वह उसका कुछ बना बिगाड़ न सकता था। इसके सिवा भोंसला और सेनापति भी उससे ईर्ष्या करते थे। भोंसला दक्षिण के प्रान्तों की चौथ वसूल करने को नियुक्त था और सेनापति गुजरात में सैन्य सञ्चालन का कार्य कर रहा था। गुजरात में जो सफलता प्राप्त हुई थी उसकी भी कीर्ति पेशवा ही को मिली। इसी से सेनापति पेशवा से रुष्ट हो गया था। पेशवा भी इस समय इतना प्रभावशाली हो गया था कि राज्य का सारा कार्य उसी ने अपने हाथ में ले लिया था। छत्रपति शाहू उसी का कहना मानते थे। इसी कारण दूसरे लोग पेशवा से असन्तुष्ट थे।

अपनी नीति में असफल होने से तथा युद्ध में पराजित होकर भी आसफ़जाह हतोत्साह न हुआ। बाजीराव का पराभव करने के लिए आसफ़जाह ने मरहटों के सेनापति को फाँसा। मरहटों के सेनापति का पद दवारी-वंश के हाथ में ही सदा से रहा है और उक्त वंश का सरदार उस समय गुजरात में मरहटों की सेनाओं का सञ्चालन कर रहा था। सेनापति भी बाजीराव की समुन्नति से मन ही मन जलता था। अतएव वह आसफ़जाह के चकमे में आ गया। उसने सेनापति से वादा किया था कि यदि तुम बाजीराव को पदच्युत करने के लिए उस पर आक्रमण करोगे तो हम तुम्हारी मदद करेंगे। तदनुसार सेनापति ने इस बात की घोषणा कर दी कि मैं बाजीराव के अधिकार से छत्रपति को मुक्त करने के लिए उस पर आक्रमण करूँगा। वह इस कार्य के लिए सैन्य-सङ्ग्रह भी करने लगा। इस समाचार को सुन कर पेशवा बहुत ही चिन्तित हुआ। उस समय उसके पास इतनी सेना नहीं थी कि वह सेनापति को दमन कर सके। इसके सिवा सैन्य सङ्ग्रह करने का अवसर भी नहीं था। अतएव जितनी सेना उसके पास थी उसी को लेकर उसने तुरन्त गुजरात को प्रस्थान किया। बड़ौदा के समीप ही दोनों सेनाओं का मुक़ाबला हुआ। युद्ध में पेशवा की जीत हुई और सेनापति मारा गया। इसके बाद उसने स्वयम् उसके अल्पवयस्क पुत्र को शाहू की ओर से सेनापति के पद पर प्रतिष्ठित किया। उसकी ओर से यह प्रतिज्ञा की गई कि गुजरात की आय में से आधा भाग वह छत्रपति को पेशवा के द्वारा सदा अदा करता रहेगा। इस विद्रोह-दमन में पेशवा ने अपनी स्वाभाविक स्फूर्ति से काम लिया था। उसने केवल अपनी वीरता ही पर भरोसा करके थोड़ी सेना से सेनापति पर आक्रमण किया था। उस समय सेनापति के पास ३५,००० सैन्य-दल था। पेशवा ने अधिक सैन्य सङ्ग्रह करने में अपना समय नष्ट न किया। इस कारण आसफ़जाह को सेनापति की सहायता करने का अवसर ही न मिला।

बाजीराव चाहता तो आसफ़जाह को उसके कुचक्रों के लिए अच्छी तरह दण्ड दे सकता था। परन्तु उसका कार्य-क्षेत्र इतना विस्तीर्ण हो गया था कि उसने किसी स्थानिक युद्ध में अपने को फँसाना उचित नहीं समझा। मालवा में उसके तीन प्रधान कर्मचारी ऊदाजी पवाँर, मल्हारराव होल्कर और रानोजी सेंधिया मरहटी सेनाओं का सञ्चालन कर रहे थे। गुजरात में सेनापति की नाबालिग़ी के कारण मरहटी सेना का सञ्चालन पिलकाजी गायकवाड़ के हाथों में था और इधर

बरार तथा उसके आगे के देशों की चौथ वसूल करने का काम भोंसला कर रहा था। मरहटी सेना के इन वीर सञ्चालकों को लेकर पेशवा आसफ़-जाह को मिट्टी में मिला सकता था, परन्तु उसने ऐसा करना उचित नहीं समझा। उसने आसफ़जाह से समझौता कर लेने ही में लाभ समझा। आसफ़-जाह भी इस बात से भयभीत हो गया था कि कहीं ऐसा न हो कि बाजीराव बादशाह से, जो उसके विरुद्धाचरण से उस पर रुष्ट था, दक्षिण की सूबे-दारी प्राप्त करले। अतएव उन दोनों नीतिज्ञों में सन्धि होगई। यह गुप्त सन्धि थी। आसफ़जाह ने वादा किया था कि पेशवा के मालवा तथा और आगे मुग़ल-राज्य पर आक्रमण करने पर वह किसी तरह की छेड़-छाड़ न करेगा, उलटा यदि कोई मरहटा सरदार पेशवा के विरुद्ध अस्त्र धारण करेगा तो वह पेशवा के स्वार्थों की रक्षा करेगा। इस प्रकार का समझौता कर चुकने के बाद पेशवा ने नर्मदा पार करने की फिर तैयारी की।

मालवा और गुजरात में जो युद्ध मरहटी सेनायें वहाँ के सूबेदारों से कर रही थीं उनमें उन्हीं की विजय होती रही। जब गुजरात के सूबेदार सर बुलन्दख़ाँ मरहटों के आक्रमणों से घबड़ा गया तब उसने चौथ तथा सरदेशमुखी देना स्वीकार कर लिया। परन्तु जब इस बात की सूचना बादशाह को मिली तब उसने उसके समझौते को अस्वीकृत ही न कर दिया, किन्तु उसको पदच्युत करके उस प्रान्त की सूबेदारी जोधपुर के स्वाधीन राजा अभयसिंह को प्रदान कर दी। अभयसिंह ने सर बुलन्दख़ाँ को गुजरात से निकाल बाहर किया। इसके बाद उसने मरहटों पर आक्रमण करके उनसे बड़ौदा ख़ाली करा लिया। परन्तु जब इतने पर भी मरहटों ने गुजरात को न छोड़ा तब उसने पिलकाजी का वध करवा दिया। इस पर उसके पुत्र तथा भाई ने अधिक सैन्य लेकर गुजरात में उत्पात मचाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने ऐसा ज़ोर बाँधा कि अभयसिंह को जोधपुर भाग जाना पड़ा। फलतः गुजरात पर मरहटों का अधिकार हो गया। इधर मालवे में राजा गिरधर सन् १७२९ में लड़ाई में मारा जा चुका था और उसका भाई दयाराम भी, जो उसका उत्तराधिकारी हुआ था और मरहटों से बराबर लड़ता रहा, सन् १७३२ में युद्ध में मारा गया। इस पर बादशाह ने इलाहाबाद के तत्कालीन सूबेदार मुहम्मदख़ाँ बंगस को मालवा की भी सूबेदारी प्रदान कर दी। उसने मालवे में आकर बुँदेलखण्ड के राजा छत्रसाल पर आक्रमण किया। इसी अवसर पर छत्रसाल ने बाजीराव को अपनी सहायता के लिए बुलाया था। तदनुसार पेशवा ने नर्मदा पार करके मालवा पर फिर चढ़ाई की।

बाजीराव ने मुहम्मदख़ाँ को युद्ध में परास्त करके उसे एक क़िले में आश्रय लेने को बाध्य किया। बादशाह अपने सूबेदार की सहायता कुछ भी न कर सका। उसकी स्त्री की प्रार्थना पर रुहेल-खण्ड से उसके पुत्र और सम्बन्धियों ने आकर सूबेदार की रक्षा की और वह वहाँ से इलाहाबाद भाग गया। इस सहायता के उपलक्ष्य में छत्रसाल ने झाँसी का राज्य पेशवा को दे दिया और अपनी मृत्यु के बाद अपने राज्य का तृतीयांश भी दे देने का वचन दिया।

मुहम्मदख़ाँ की इस पराजय पर बादशाह ने मालवे की सूबेदारी आमेर के राजा सवाई जयसिंह को प्रदान की, परन्तु यह भी मरहटों को मालवा से न निकाल सका। तब इसने बादशाह की स्वीकृति से सन् १७३४ में मालवे की सूबेदारी स्वयं पेशवा ही को अर्पण कर दी। इतने समय तक युद्ध जारी रखने के बाद जब मरहटों का अधिकार मालवा और गुजरात पर अच्छी तरह हो गया तब बाजीराव ने बादशाह से स्वीकृति प्राप्त करने के लिए उस पर

दबाव डालने की प्रक्रिया आरम्भ की। इसलिए अपने सरदारों को आगरे तक बढ़ कर आक्रमण करते रहने का आदेश देकर वह दक्षिण को लौट गया। इधर सेंधिया और होलकर ने मुग़ल-राज्य पर बढ़ बढ़ कर आक्रमण करना जारी रक्खा। जो बादशाही सेना उनका दमन करने को भेजी जाती थी वह उनका कुछ भी बना-बिगाड़ न सकती थी।

सन् १७३६ में बाजीराव फिर मालवे में आया और सन्धि की बातचीत उसने स्वयं अपने हाथों में ले ली। जब उसने देखा कि बादशाह बिलकुल ही क्षमता-रहित हो गया है तब उसने अपनी माँग भी बढ़ा दी। उसने चम्बल के दक्षिण का सारा देश जागीर के रूप में और मथुरा, इलाहाबाद और बनारस के तीर्थ-स्थान माँगे। परन्तु, यद्यपि बादशाह युद्ध में अपने शत्रुओं का सामना करने में असमर्थ था तो भी राजनैतिक चाल में वह चूकनेवाला नहीं था। बादशाह ने पेशवा को राजपूतों से चौथ लेने का अधिकार प्रदान कर दिया और इस मद की जो रक़म उसे आसफ़जाह से मिलती थी उसमें वृद्धि करने का भी अधिकार उसे दे दिया गया। पेशवा ने बादशाह की इन शर्तों को तो स्वीकार कर लिया, पर वह अपनी पहली माँगें ज्यों की त्यों बनाये रहा। बादशाह ने सोचा था कि उन अधिकारों के देने से मरहटों से राजपूतों तथा आसफ़जाह से युद्ध आरम्भ हो जायगा और इस प्रकार वह तथा उनका राज्य मरहटों के आक्रमणों से बचा रहेगा। बात भी वही हुई, परन्तु मरहटे भी अपने कार्य-क्षेत्र में डटे ही रहे। इधर बादशाह के राज-कर्मचारियों ने आसफ़जाह से लिखा-पढ़ी शुरू की। आसफ़जाह तुरन्त बादशाह के पक्ष में हो गया, क्योंकि वह स्वयं मरहटों की शक्ति-वृद्धि से भयभीत था। अतएव उसने बादशाह का पक्ष ग्रहण करने में ही विशेष लाभ समझा।

बाजीराव की गति-विधि के भयङ्कर परिणाम को समझ कर ही शाही दरबार के राजनीतिज्ञों ने विद्रोही आसफ़जाह को अपने पक्ष में कर लेना उचित समझा था। बादशाह की ये राजनैतिक चालें बाजीराव से छिपी नहीं थीं। अतएव वह अपनी सेना को आगे ही बढ़ाता गया। यहाँ तक कि उसकी सेना का अग्रभाग यमुना पार करके अन्तर्वेद के देश में होल्कर के नायकत्व में लूट-मार करने लगा और स्वयं पेशवा भी आगरे के समीप आ पहुँचा था। उसके शिविर से आगरा केवल ४० मील रह गया था। इस स्थिति को देख कर अवध के सूबेदार वज़ीर सआदतखाँ ने अपने प्रान्त से निकल कर होलकर पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर यमुना के पार खदेड़ दिया। इस विजय के कारण यह ख़बर उड़ा दी गई कि मरहटे हार कर दक्षिण को ससैन्य भाग रहे हैं। यह सुन कर पेशवा बहुत ही उत्तेजित हो गया और इस कलङ्क को धोने के लिए उसने अपनी स्वाभाविक द्रुत गति से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। जो सेना कमरुद्दीनख़ाँ की अधीनता में उसका सामना करने को आई थी वह उस समय मथुरा में पड़ी थी। उसे अपने दाहने १४ मील का अन्तर देकर पेशवा आगे को बढ़ गया और धावे पर धावे करता हुआ वह दिल्ली के सामने जा पहुँचा। उसकी उपस्थिति से राजधानी में खलबली मच गई, पर पेशवा ने दिल्ली पर आक्रमण न किया। वह तो केवल बादशाह को अपनी उपस्थिति से भयभीत भर करना तथा यह बताना चाहता था कि पेशवा भाग नहीं गया है। परन्तु जब उसने यह देखा कि उसकी सेना राजधानी में लूटमार मचा देगी तब उसने राजधानी से कुछ दूर हट कर मोर्चा बाँध दिया। इससे शाही सेना को उत्साह मिला और उसने राजधानी से निकल कर मरहटों पर आक्रमण किया। परन्तु मरहटों ने उस सेना का ऐसी वीरता से सामना किया कि शाही सेना भाग कर

राजधानी में फिर जा घुसी और उसकी भारी हानि हुई। इस समय तक सआदतखाँ भी अपनी सेना लेकर कमरुद्दीनखाँ से आ मिला और तब ये दोनों सरदार दिल्ली की रक्षा के लिए उधर को लौट पड़े। बाजीराव का उद्देश सिद्ध हो गया था। अतएव उसने वहाँ ठहरना अपने लिए लाभदायक न समझ कर अपनी फ़ौज को लौट पड़ने की आज्ञा दे दी।

पेशवा के दक्षिण वापस आजाने के पहले ही आसफ़जाह सन् १७३७ में दिल्ली जा पहुँचा। बादशाह ने उसे साम्राज्य के सम्पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये और उसके पुत्र ग़ाज़ीउद्दीन को मालवा तथा गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया। परन्तु साम्राज्य-सरकार इतनी शोचनीय स्थिति को पहुँच गई थी कि आसफ़जाह केवल ३४,००० सेना नियुक्त कर सका। परन्तु उसके पास एक बहुत ही अच्छा तोपख़ाना था। इसके सिवा सआदतखाँ के भतीजे सफ़दरजङ्ग के नायकत्व में सहायता के लिए एक दूसरा सैन्य-दल भी था। इस साज-सामान से मरहटों का सामना करने के लिए आसफ़जाह ने मालवा को प्रस्थान किया। उधर बाजीराव ने भी ८०,००० सैन्य-दल लेकर नर्मदा पार की। आसफ़जाह भूपाल के क़िले के समीप अपना मोर्चा बाँध कर मरहटों के आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा।

परन्तु मरहटे मोर्चा बाँध कर युद्ध करने में अभ्यस्त नहीं थे। अतएव उन्होंने सदा की भाँति शत्रु-सैन्य के आस-पास का देश उजाड़ना शुरू कर दिया। उन्होंने इस बात की भी सख़्त निगरानी रक्खी कि मुग़ल-सैन्य को बाहर से किसी प्रकार की सहायता न मिलने पावे। लगभग एक महीने तक चारों ओर से मरहटों से घिरे रहने के कारण और सफ़दरजङ्ग की सेना से सम्बन्ध टूट जाने से आसफ़जाह अपना मोर्चा त्याग करने को बाध्य हुआ। अतएव वह उत्तर की ओर लौट पड़ा। यद्यपि उसने अपना बहुत सा सामान भूपाल में ही छोड़ दिया था तो भी जो भारी तोपख़ाना उसके पास था उसके कारण वह शीघ्र-गति से भाग न सकता था। यद्यपि तोपों के भय से मरहटे मुग़ल-सेना पर सहसा आक्रमण करने का साहस न कर सकते थे तो भी वे अपनी घुड़सवार सेना लिये मुग़ल-सेना के अग़ल-बग़ल तथा आगे पीछे प्रतिक्षण उपस्थित रहते थे और अवसर पाते ही मार-काट मचा देते थे। अपनी इस दुर्दशा को देख कर आसफ़जाह ने बाजीराव से सुलह की प्रार्थना की। पेशवा और उसके बीच यह तय हुआ कि चम्बल और नर्मदा के बीच का सारा देश मरहटों को मिल जायगा। बादशाह से इसकी स्वीकृति तथा ५० लाख रुपये दिला देने का वचन देकर आसफ़जाह ने अपना पिण्ड मरहटों से छुड़ाया।

इस समझौते के हो जाने पर आसफ़जाह कुशलपूर्वक दिल्ली वापस चला गया और पेशवा ने मालवा और गुजरात पर अपना अधिकार फिर जमा लिया। परन्तु इसी बीच में नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण कर दिया। परन्तु जब लूट-मार करके नादिरशाह अपने देश को वापस चला गया तब पेशवा बादशाह की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए फिर सचेष्ट हुआ। अभी तक बादशाह ने अपनी स्वीकृति उस सन्धि पर न की थी जो सन् १७३६ में आसफ़जाह ने उसके साथ की थी। अतएव उसने युद्ध की फिर तैयारी की। परन्तु इस बार उसने उत्तर-भारत में युद्ध करने का विचार न किया। क्योंकि गायकवाड़ और भोंसला उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे थे और उसे अधिकार-च्युत करने के प्रयत्न में लगे थे। अतएव दक्षिण में ही रह कर उसने युद्ध करने का निश्चय किया। उसने भोंसला को करनाटक

पर चढ़ाई करने के लिए भेज दिया। इसके बाद उसने आसफ़जाह के पुत्र नासिरजंग पर चढ़ाई की जो बुरहानपुर में था। पहले तो पेशवा ने उसे घेर लिया, परन्तु सहायता मिल जाने के कारण नासिरजङ्ग ने मरहटों पर उलटा आक्रमण कर दिया और उनका व्यूह भेद करके वह निकल गया। यही नहीं वह पूना की ओर अग्रसर भी हुआ। अपनी स्थिति मज़बूत न देख बाजीराव ने उससे समझौता कर लिया। इस समय बाजीराव बड़ी कठिनाइयों में फँसा हुआ था। यही पहला अवसर उसके जीवन में उपस्थित हुआ था जब उसने स्वयं शत्रु से सन्धि का प्रस्ताव किया हो। नासिरजंग से मेल करके उसने फिर नर्मदा पार की। परन्तु सहसा वहीं उसकी मृत्यु सन् १७४० में होगई।

यह बात बिलकुल ठीक है कि मरहटे औरङ्गज़ेब से अपनी स्वतन्त्रता के लिए लगातार २५ वर्ष तक लड़ते रहे और बादशाह उनका दमन न कर सका। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके उत्तराधिकारियों ने मरहटों में गृह-युद्ध मचाये रखने की भेद-नीति से ही सदा काम लिया। जब बाजीराव पेशवा के पद पर नियुक्त हुआ तब उसने गृह-युद्ध ही में फँसा रहना ठीक न समझ मुग़ल-साम्राज्य के देशों पर आक्रमण करना शुरू कर दिया। उसकी नीति का केवल एक यही परिणाम न हुआ कि निरन्तर युद्ध करते रहने के कारण उसकी शक्ति बढ़ गई, किन्तु चम्बल से लेकर करनाटक तक मरहटों की धाक जम गई। उसका प्राधान्य यहाँ तक बढ़ गया था जैसा कुछ लोग कहते हैं कि बाजीराव ही वास्तव में मरहटा-राज्य का शासक बन गया था, शाहू तो उसके हाथ की कठपुतली था। परन्तु यह बात ज़रूर ठीक है कि पेशवा अपनी क्षमता और योग्यता के कारण मरहटा-शासन में सर्वश्रेष्ठ कर्मचारी बन गया था और भोंसला, सेनापति तथा प्रतिनिधि उसकी उन्नतावस्था देख कर मन ही मन जलते थे। परन्तु अपने इन शत्रुओं को पद-भ्रष्ट करने की हिम्मत कभी उसकी न हुई, क्योंकि छत्रपति का वरदहस्त जैसे पेशवा के ऊपर था वैसे ही उन पर भी था। अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध काम करने का औद्धत्य पेशवा ने कभी नहीं दिखाया। यह बात नहीं कि वह सेनापति और भोंसला का विनाश-साधन नहीं कर सकता था। जब उसकी विजय का डङ्का मुग़लों की दिल्ली के फाटक से लेकर दक्षिण में करनाटक तक बज रहा था तब वह क्या नहीं कर सकता था। परन्तु पेशवा अहर्निश मरहटा-शक्ति की समुन्नति में ही लगा रहा। यदि राज्य के दूसरे कर्मचारी पेशवा से द्वेष न रख कर उसकी सहायता में ही कटिबद्ध रहे होते तो पेशवा बहुत कुछ कर गुज़रता। निस्सन्देह बाजीराव के समान बुद्धिमान्, कर्तव्य-परायण और वीर मरहटों में दूसरा फिर कोई न हुआ और जो ईर्ष्या की आग उसके समय में सुलग उठी थी और जिसे वह अपनी सहनशीलता से सदा दबाये रहा वह उसकी मृत्यु के बाद दिन प्रति दिन उग्र ही पड़ती गई और अन्त में मरहटा-साम्राज्य उसी में भस्मसात् हो गया।

हरिनन्दन भट्ट

रस्किन।
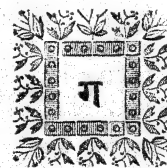
गत शताब्दी के अँगरेज़ी साहित्य के इतिहास में कारलाइल और रस्किन के नाम खूब प्रसिद्ध हैं। इन्होंने आधुनिक व्यापार-पद्धति और सम्पत्ति-शास्त्र पर जो विचार प्रकट किये हैं उनसे मनुष्यों का विचार-स्रोत ही बदल गया है। यह सच है कि पहले अपनी विलक्षणता

के कारण वे लोगों को ग्राह्य प्रतीत नहीं हुए। परन्तु अपनी असाधारणता ही से उन्होंने लोगों के चित्त को आकृष्ट कर लिया और अब सभी मननशील लोग यह समझ गये हैं कि उनके विचारों में सत्य का सूक्ष्म तत्त्व निहित है। सम्पत्ति-शास्त्र विज्ञान है, कम से कम उसका आदर्श ऐसा है कि वह विज्ञान के अन्तर्गत हो सकता है। रिकार्डो और जेम्स मिल सम्पत्ति-शास्त्र के आचार्य हैं। उन्होंने उसकी जैसी विवेचना की है उससे यही मालूम होता है कि सम्पत्ति-शास्त्र का उद्देश उन सिद्धान्तों और नियमों का क्रमबद्ध वर्णन करना है जिनके आधार पर आधुनिक व्यापार-पद्धति स्थित है। अर्थात् अर्थ की प्राप्ति के लिए भिन्न भिन्न व्यवसाय-शील जातियाँ जिन नियमों से मर्यादित होकर व्यावसायिक समर-क्षेत्र में अवतीर्ण होती हैं उनका स्पष्टीकरण ही सम्पत्ति-शास्त्र है। यह व्यवसाय के दाव-पेचों का वर्णन करता है, उनकी धार्मिकता अथवा अधार्मिकता का निर्णय नहीं करता। इस शास्त्र के सिद्धान्तों का थोड़ा बहुत ज्ञान सभी को है। मनुष्यों की सभी इच्छायें पार्थिव श्री के केन्द्रीभूत होती हैं। मनुष्य को तभी सन्तोष होता है जब कम परिश्रम से अधिक लाभ होता है। वह यही चाहता है कि सबसे सस्ता ख़रीदे और सबसे महँगा बेचे। भिन्न भिन्न वस्तुओं की जैसी माँग और पूर्ति होती है तदनुकूल उनका मूल्य निर्धारित होता है। सम्पत्ति-शास्त्र की दृष्टि में मनुष्य एक ख़रीदने और बेचनेवाली मशीन है जो इसी तरह की अन्य मशीनों से लड़ती-झगड़ती रहती है। सम्पत्ति-शास्त्र का मनुष्य केवल अपने स्वार्थ की सिद्धि और लोभ-वासना की पूर्ति के लिए यत्न करता है। उसका यथार्थ जीवन कितना ही पवित्र, निर्लोभ और निष्काम क्यों न हो, व्यवसाय के क्षेत्र में वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि ही के लिए सचेष्ट रहता है। सबसे सस्ता ख़रीदना और सबसे महँगा बेचना यही उसका एक-मात्र ध्येय होता है। यदि उसकी गति कभी अवरुद्ध होती है तो न्यायान्याय के विचार से नहीं, किन्तु पारस्परिक स्पर्धा, माँग और पूर्ति के नियम से। रस्किन ने इसी शास्त्र के विरुद्ध लेख लिख कर सत्य का प्रचार किया है। सच तो यह है कि सत्य की ही खोज में रस्किन को सम्पत्ति-शास्त्र का खण्डन करना पड़ा। सिर्फ़ सम्पत्ति-शास्त्र नहीं, किन्तु साहित्य-कला और धर्म की भी उन्होंने अच्छी तरह परीक्षा की। पहले पहल लोगों ने उनके सिद्धान्तों का उपहास किया, परन्तु आज साहित्य, धर्म, कला अथवा सम्पत्ति-शास्त्र का ऐसा कोई भी आचार्य नहीं है जो यह कहे कि उसका शास्त्र उसी रूप में आज तक विद्यमान है। यह सभी को स्वीकार करना पड़ेगा कि रस्किन ने विचार-स्रोत की गति बदल दी है।

जान रस्किन का जन्म सन् १८१६ में हुआ था। १८४२ में वे आक्सफ़र्ड विश्व-विद्यालय के बी० ए० हुए। १८४३ से १८५६ तक उन्होंने कला की समीक्षा की। उनका Modern Painters नामक ग्रन्थ इसी का परिणाम है। १८५७ में उनका ध्यान सम्पत्ति-शास्त्र की ओर आकृष्ट हुआ। उस समय सर्वश्रेष्ठ कला-कोविदों में उनकी गणना होने लगी थी। जब उनका सम्पत्ति-शास्त्र-विषयक लेख प्रकाशित हुआ तब लोगों ने यही समझा कि यह रस्किन की अनधिकार चेष्टा है। अभी तक कुछ ऐसे लोग हैं जिनका यही विश्वास है। परन्तु रस्किन का यह दृढ़ विश्वास था कि सत्य की अभिव्यक्ति में ही कला का महत्त्व है। उसका उद्देश यही है कि वह मानव-जीवन को उदार और उन्नत करे। जब मानव-समाज की सेवा ही कला का एक-मात्र लक्ष्य है तब यह सम्भव नहीं कि कला की परीक्षा करने के बाद रस्किन का चित्त मानव समाज की ओर न झुके। रस्किन ने देखा कि समाज के

अस्तित्व की रक्षा करना पहला कर्तव्य है। जब समाज ही नहीं रहेगा तब किसे उन्नत करने की चेष्टा की जायगी? अतएव रस्किन समाज-सुधार के लिए कटिबद्ध हुए। श्रमजीवियों की दुरवस्था देख कर उनकी सेवा में उसने अपनी विशाल सम्पत्ति अर्पण कर दी और उन्हीं के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया। इसी से जान पड़ता है कि रस्किन के विचार कितने उन्नत थे।

रस्किन पर दो मनुष्यों का प्रभाव खूब पड़ा, एक तो टर्नर का और दूसरा कारलाइल का। कारलाइल अँगरेज़ी का बड़ा ही क्षमता-शाली लेखक है। उसने अपने समकालीन विद्वानों के भी चित्तों को विक्षिप्त कर दिया था। इँग्लैंड के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक सभी क्षेत्रों में उसने उत्क्रान्ति पैदा कर दी थी। यदि कुछ लोग कारलाइल के विरोधी थे तो अधिकांश लोग उसके अनुयायी थे। रस्किन अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में ही कारलाइल की शक्ति पर मुग्ध हो गया था। परन्तु जब वह चालीस वर्ष का हुआ तब उस पर कारलाइल का प्रभाव पूर्ण-रूप से परिलक्षित होने लगा। चालीस वर्ष की अवस्था तक रस्किन कला की चर्चा में निरत रहा। परन्तु इसके बाद उसने सौन्दर्य-बोध को गौण स्थान देकर कर्तव्य-ज्ञान को ऊँचा किया। यह सम्भव नहीं था कि रस्किन का विचार कार्य-रूप में परिणत न हो। जब किसी विषय पर उसका दृढ़ विश्वास हो गया तब उसके छोटे छोटे कामों में भी उसका वही विश्वास दृग्गोचर होने लगा। रस्किन यह देख कर क्षुब्ध होता था कि लोग उसके भाषा-सौन्दर्य और शब्द-चित्रण पर मुग्ध होते हैं, परन्तु उसकी शिक्षा पर विचार नहीं करते। अतएव रस्किन ने अपने 'माडर्न पेंटर्स' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन बन्द कर दिया और 'अन टू दिस लास्ट' नामक लेख प्रकाशित किया। इसमें उसके विचार स्पष्ट रीति से प्रकट किये गये।

वर्तमान युग में धनवानों और दरिद्रों की जैसी अवस्था है उसे देख कर रस्किन को धन की लालसा कभी नहीं हुई। रस्किन के पिता की गणना धनियों में थी। उसकी मृत्यु के बाद रस्किन को १,५७,००० पौंड तो नक़द मिले और स्थावर सम्पत्ति अलग ही। परन्तु उसको सम्पत्ति से कुछ भी सुख नहीं हुआ। उसने एक जगह लिखा है—"मेरे पास जितना है उतने का मैं उप-योग ही नहीं कर सकता। परन्तु मेरे घर के बाहर कितने ही लोग भूखों मर रहे हैं। मेरे पास इतनी अधिक मलाई है कि मैं अपने दोस्तों को बाँटता फिरता हूँ, पर मेरे घर के बाहर कितने ही बच्चे दूध न पाने के कारण मर जाते हैं।" यही सोच कर रस्किन ने अपनी कुछ सम्पत्ति अपने सम्बन्धियों को दे डाली और कुछ को अच्छे काम में खर्च करने के लिए दान कर दिया। रस्किन का यह दृढ़ विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य को अपने ही परिश्रम का फल ग्रहण करना चाहिए। पूर्वजों की अर्जित सम्पत्ति को बिना प्रयास पाकर उसे अपने भोग-विलास में खर्च करना मनुष्यत्व की सीमा के बाहर है। श्रीमान् के पुत्र अपने हाथों से कोई काम करना अपने लिए अपमान-जनक समझते हैं। इतना ही नहीं, उनकी यह भी धारणा हो गई है कि ऐसे कामों में बुद्धि की ज़रूरत नहीं पड़ती। अतएव उन्हें कर लेना बड़ा सरल है। रस्किन ने उन्हें ऐसे कामों का महत्त्व बत-लाया। जब वह आक्सफ़ोर्ड में अध्यापक था तब उसने सड़क बनाने के लिए लड़कों को उत्साहित किया। इसका फल यह हुआ कि लड़कों ने अपनी छोटी टोलियाँ बना लीं और वे बड़े प्रेम से सड़कों की मरम्मत करते। इसके सिवा रस्किन ने नाली साफ़ करनेवालों की एक समिति खोली। इसमें

जो लड़के सम्मिलित होते थे वे अपने हाथों से नालियाँ तक साफ़ करते थे। रस्किन वाक्शूर नहीं था और न वह परोपदेश में पाण्डित्य ही प्रदर्शित करना चाहता था। जो कुछ वह कहता उसे स्वयं करता। अपनी शिक्षा का पहले वही अनुयायी होता। उसका यह भी कहना था, Half of my power of ascertaining facts of any kind connected with the arts is in my stern habit of doing the thing with my own hands till I know its difficulty अर्थात् जिस काम का मुझे अनुभव करना है उसे मैं स्वयं अपने हाथों से करके देख लेता हूँ कि वह कितना कठिन है। इसी लिए अपने शिष्यों से सड़क कुटवाने के पहले वह स्वयं जाकर पत्थर फोड़ने का काम करता रहा। उसने एक पत्थर फोड़नेवाले के पास जाकर इसकी शिक्षा ग्रहण की। इसी तरह एक झाड़ू देनेवाले ने उसे नाली साफ़ करना सिखलाया।

जब रस्किन इस तरह का काम करने लगा तब लोगों ने उसका उपहास किया। पर उसने लोगों की निन्दा की परवाह नहीं की। मज़दूरों की दुरवस्था का चित्र उसके चित्त-पटल पर अङ्कित हो गया था। अतएव जिससे उनकी दशा सुधर जाय वही काम वह करता था। उसने देखा कि मज़दूरों को रहने के लिए कम ख़र्च पर मकान नहीं मिलते। तब उसने एक गली में एक बड़ा भारी मकान लिया और मज़दूरों को कम किराये पर साफ़ कमरे देने लगा। इसी तरह उसने एक दूकान भी खोली, जहाँ मज़दूरों को सस्ते दाम पर अच्छी चीज़ें दी जाती थीं। पुतलीघरों में मज़दूरों की बड़ी दयनीय दशा है। अतएव रस्किन ने चर्खा चलवाना चाहा। उसने कुछ चर्खे और करघे ख़रीद कर कुछ लोगों को दिये। उससे लोगों ने ऊनी कपड़े तैयार किये। डेलीन्यूज़ ने लिखा था कि इन कपड़ों में ख़राबी यही है कि ये जल्दी नहीं फटते। यह कारख़ाना शायद अभी तक जारी हो तो कुछ आश्चर्य नहीं।

रस्किन ने जितने उपर्युक्त काम किये वे सब उसकी उदारता के फल थे। उनका प्रभाव चिर-स्थाई नहीं हो सकता था, परन्तु उनसे यह लाभ हुआ कि रस्किन को दरिद्रों की अवस्था का अच्छा अनुभव हो गया। उसने अर्थ-शास्त्र के तत्कालीन आचार्यों के ग्रन्थों का भी मनन किया। उसने अब कला की चर्चा करना बिलकुल ही छोड़ दिया और इँगलैंड के राजनैतिक, व्यावसायिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करना आरम्भ किया। अच्छी तरह विचार करने के बाद उसने यह निश्चय किया कि वर्तमान समाज की दुरवस्था का सबसे बड़ा कारण यह है कि लोग सम्पत्ति, मूल्य, सम्पत्ति-शास्त्र आदि शब्दों का यथार्थ मर्म नहीं समझ सके हैं। यदि लोग सम्पत्ति-शास्त्र के तत्त्वों को हृदयङ्गम कर लें तो आज समाज की स्थिति बदल जाय। धनियों और दरिद्रों के बीच में जो एक अप्राकृतिक व्यवधान है वह दूर हो जाय। यह समझ कर रस्किन ने सम्पत्ति-शास्त्र के तत्त्वों का प्रचार करने की चेष्टा की। "Unto this Last" नामक निबन्ध में उसने अपने सम्पत्ति-शास्त्र-विषयक विचार प्रकट किये। इस निबन्ध में चार अध्याय हैं। पहले पहल यह 'कार्नहिल मेगेज़ीन' नामक एक सामयिक पत्र में प्रकाशित हुआ। उस समय उक्त पत्र का सम्पादक थेकेरी था। जब उसके दो अध्याय प्रकाशित हुए तब पाठकों ने इतना हल्ला मचाया कि सम्पादक ने रस्किन से लेख बन्द कर देने की प्रार्थना की। अब रस्किन के विचार सुनिए।

अर्थ-शास्त्र का पहला सिद्धान्त यह है कि सब से सस्ता ख़रीदना और सबसे महँगा बेचना। सभी व्यापारी इसे उचित समझेंगे। परन्तु रस्किन ने लिखा है कि मनुष्य-जाति के इतिहास में इस

सिद्धान्त से अधिक निन्दनीय कोई भी बात नहीं है। जब बाज़ार का भाव ख़ूब सस्ता हो तब ख़रीदना चाहिए। पर यह तो सोचो, चीज़ें सस्ती कब होती हैं? अगर तुम्हारा घर टूट जाय और लकड़ियाँ बरबाद हो जायँ तो तुम्हें उनको सस्ते भाव से बेचना पड़ेगा। इसी तरह अगर भूकम्प हो जाय और सब मकान गिर पड़ें तो ईंटें सस्ती हो जायँगी। नाश के बाद अगर तुम चीज़ें सस्ती ख़रीद सके तो क्या तुम नाश को लाभदायक समझोगे? यह समझ रक्खो कि अगर कोई चीज़ कौड़ी मोल बिक रही है तो उसके पीछे विपत्ति का भूकम्प ज़रूर हुआ है। किसी का घर नष्ट हो गया होगा, किसी का जीवन बरबाद हो गया होगा। जब चीज़ें ख़ूब महँगी हों तभी बेचना चाहिए। पर तुम अपनी चीज़ों के लिए मनमाना दाम कब लोगे? अगर आदमी भूख के मारे मर रहा है तो वह दो पैसे की रोटी के लिए एक रुपया दे आवेगा। जब भीषण दुर्भिक्ष में हज़ारों मरने लगते हैं तब तुम अपने अन्न का भाव ख़ूब बढ़ा सकते हो। तुम कहते हो कि हम धनवान् हैं, हमने अपने परिश्रम से धन उपार्जन किया है। पर यह समझ रक्खो कि अगर रात न होती तो दिन न होता। सैकड़ों दरिद्र हैं, इसलिए तुम धनवान् हो। तुम्हारे पास दो रुपये हैं तो समझ लो कि तुम्हारे किसी पड़ोसी की जेब दो रुपये से ख़ाली है। उसे रुपयों की ज़रूरत है, इसी लिए तुम्हारे रुपयों का मूल्य है। बिना हज़ारों को दरिद्र बनाये तुम धनवान् नहीं हो सकते। अगर वे दरिद्र न हों तो तुम धनवान् हो ही नहीं सकते। अतएव किसी राष्ट्र का धन उसके करोड़पतियों से निश्चित नहीं किया जाना चाहिए। सम्भव है कि दस-पाँच धन-कुबेरों के रहने से राष्ट्र बिलकुल दरिद्र हो। सर्वसाधारण की अच्छी अथवा बुरी स्थिति देख कर हम किसी राष्ट्र को धनी अथवा दरिद्र कह सकते हैं। धन का अर्थ सुस्थिति है। अतएव वही राष्ट्र सम्पत्तिशाली है जिसमें अधिकांश लोगों की स्थिति अच्छी है। जिन पर राष्ट्र के शासन का भार है उनका यह कर्तव्य है कि वे अपनी जाति में उदार और उन्नत पुरुषों की वृद्धि करें। धन की उपयोगिता सिर्फ़ इतनी है कि उसके द्वारा मनुष्य अपने परिश्रम के लिए जीविका प्राप्त करता है। जीवन की हानि से धन का सङ्ग्रह होता है।

रस्किन के इन विचारों से बड़े बड़े विद्वान् चकित हो गये। उन्होंने रस्किन से पूछा कि आप करना क्या चाहते हैं। तब रस्किन ने एक व्यवस्था तैयार की और अपने एक ग्रन्थ में भूमिका के रूप में प्रकाशित किया। उसमें सबसे पहली बात यह थी कि सरकार अपने ख़र्च से जगह जगह ट्रेनिङ्ग स्कूल खोले। ये स्कूल सरकार ही के संरक्षण में रहें, पर इनमें सभी बालकों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार रहे। उनमें ऊँच-नीच का ख़याल न रक्खा जाय। इनमें तीन बातें सिखाई जायँ। पहला, स्वास्थ्य के नियम, दूसरा दया और न्याय; तीसरा, कोई उद्योग-धन्धा जिसे सीख कर बालक अपना जीवन-निर्वाह अच्छी तरह कर सके। रस्किन की व्यवस्था की दूसरी बात यह थी कि सरकार की ओर से कारख़ाने स्थापित हों, जहाँ सभी तरह की ज़रूरी चीज़ें तैयार की जायँ और मज़दूरों को उचित वेतन दिया जाय। तीसरी बात यह कि जो लोग निठल्ले हैं उनकी जाँच की जाय। अगर उन्हें कोई काम न मिलता हो तो उन्हें काम दिया जाय। अगर वे कोई काम करना न जानते हों तो उन्हें काम सिखाया जाय। जो जिस काम के लिए उपयुक्त हो उसे वही काम दिया जाय। अगर कोई रोगी हो तो उसकी चिकित्सा के लिए सुव्यवस्था की जाय। जो लोग शक्ति-हीन हैं, जिनसे किसी तरह का काम हो ही नहीं सकता, उनके लिए अच्छी सुविधा कर

दी जाय जिससे उनका जीवन और अधिक दुःख-कर न हो।

रस्किन की यह व्यवस्था कैसी है, इस पर हम अपनी सम्मति नहीं दे सकते। नीचे हम उसके कुछ वाक्य उद्धृत करते हैं। ये वाक्य उसने इँग्लेंड के मज़दूरों के लिए कहे थे, पर उसका यह कथन भारतीय मज़दूरों के लिए भी बिलकुल सार्थक है।

Meat! perhaps your right to that may be pleadable, but other rights have to be pleaded first. Claim your crumbs from the table if you will, but claim them as children, not as dogs, claim your right to be fed, but claim more loudly, your right to be holy, perfect and pure.

अर्थात् तुम्हें रोटी पाने का हक़ है, पर तुम्हारे दूसरे भी हक़ हैं, जिन पर तुम्हें पहले ध्यान देना चाहिए। अगर तुम चाहते हो तो रोटी के टुकड़े माँगो। पर कुत्ते की तरह मत माँगो। माँगो तो बच्चे की तरह। तुम अपने उदर-भरण के हक़ के लिए लड़ो पर उससे अधिक तुम इस बात के लिए लड़ो कि सच्चरित्र और पवित्र जीवन व्यतीत करने का भी अधिकार है।

नवीनचन्द

अरबी का आदि-कवि।

अरबी भाषा में कविता का जन्म कब हुआ था, इस बात में मत-भेद है। भिन्न भिन्न विद्वानों की भिन्न भिन्न रायें हैं। परन्तु इस बात में मत-भेद नहीं है कि वर्त्तमान ढँग की अरबी-कविता की नीव डालनेवाला मुहलहिल है। मुहलहिल के बाप का नाम रबीअः था। मुहलहिल के समय में अथवा उससे पहले जो अलङ्कृत भाषा बोली जाती थी और बेतुके ढँग की जो कविता होती थी उसका सुधार मुहलहिल ही ने किया था। यहाँ तक कि आज भी वही शैली प्रचलित है। इसी कारण उसका नाम भी मुहलहिल पड़ गया।

हज़रत मुहम्मद साहब के जन्म से लगभग ७० वर्ष पहले मुहलहिल का जन्म हुआ था। अरब में उसका कुल प्रतिष्ठित माना जाता था। उसका भाई कुलैब अरब का एक प्रसिद्ध सरदार था। वह बड़ा वीर था। उसने अपने जीवनकाल में अनेक युद्ध किये थे। यमन देश की फ़ौजों को हराने के कारण उसका बड़ा नाम हो गया था। लोगों पर उसकी धाक जम गई थी। अतएव अभिमान से अभिभूत होकर उसने सर्व-साधारण में यह मुनादी फिरवा दी कि मेरी चरी में किसी का पशु चरने को न आवे और न मेरे ऊँटों के साथ किसी के ऊँट चरने आवें। मेरे जङ्गल में मेरे सिवा कोई दूसरा आदमी किसी जीव का शिकार भी न करे। इसी तरह के और भी कई एक आदेश उसने लोगों को दिये थे।

एक दिन जरम समुदाय का एक मनुष्य जस्सास की फूफी के यहाँ आकर ठहरा। उसकी ऊँटनी चरती हुई कुलैब की चरी में जा पहुँची। कुलैब ने उसे बाणों से घायल करके उसके थन काट लिये। वह ऊँटनी खून से डूबी हुई अपने मालिक के पास आ खड़ी हुई। मेहमान की ऊँटनी का बुरा हाल देख कर जस्सास की बुआ बहुत ही शोकातुर हुई। जस्सास को भी बड़ा क्रोध हुआ। उसने अपने समुदाय के लोगों को एकत्र किया और कुलैब को जा घेरा। कुलैब अपने हाते ही में था। जस्सास ने उसको एक ऐसा नेज़ा मारा कि उसका काम वहीं तमाम हो गया।

अपने भ्राता कुलैब के शोक में मुहलहिल ने कुछ पद्य कहे हैं। कुछ लोगों का खयाल है कि सबसे पहले जो पद्य मुहलहिल ने कहे हैं वे वही शोक-सूचक पद्य हैं। उन पद्यों का भाव समझने के लिए पहले दो बातों का जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि अरब में जब किसी समुदाय के

लोग युद्ध के लिए तैयार होते थे और अपने दल के लोगों को एकत्र होने के लिए उस सम्बन्ध की सूचना देना चाहते थे तब वे किसी ऊँचे स्थान पर अग्नि प्रज्वलित किया करते थे। दूसरी बात यह कि किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की मृत्यु पर अमीर-ग़रीब और छोटी-बड़ी सभी स्त्रियाँ रुदन करके मृत-प्राणी के लिए शोक करती थीं।

अब हम मुहलहिल के उन पद्यों का भावानुवाद आगे देते हैं जो उसने अपने भाई की मृत्यु के शोक में कहे हैं:—

"ऐ मेरे भाई कुलैब, मुझे यह समाचार मिला कि तेरी मृत्यु के बाद वह अग्नि प्रज्वलित की गई जो लड़ाई के समय प्रज्वलित की जाती है और सभा में वाद-विवाद भी हुआ।

प्रत्येक बड़े मामिले में लोगों ने वार्त्तालाप किया और यदि तू उपस्थित होता तो वे न बोल सकते।

यदि तू चाहे तो उन स्त्रियों को देख सकता है जो शोक का वस्त्र धारण किये और सिर खोले तेरे शोक में छाती और मुँह पीट रही हैं।

"प्रत्येक रोनेवाली तेरे लिए विलाप कर रही है। जो कुलीन नारी तेरे शोक में सिसिक सिसिक कर रोती है मैं विवश होने के कारण उसको रोक नहीं सकता।

कुलैब के पश्चात् मुहलहिल ने अपने समुदाय-वालों को इकट्ठा किया और शत्रुओं को जा घेरा। मुहलहिल स्वयं अपने दल का सरदार था। शत्रुओं की ओर जस्सास का भाई सेनापति था। शत्रुओं के बहुत से लोग लड़ाई में मारे गये। मुहलहिल को विजय प्राप्त हुई। यद्यपि शत्रुओं के कई एक नामी योद्धा युद्ध में मारे गये तो भी निर्णय जल्दी न हो सका। लड़ाई जारी ही रही। जस्सास के भाई और भतीजे आदि सभी मारे गये। कई समुदाय के लोग खप गये। जस्सास को जान बचाना कठिन हो गया। अतएव लोगों ने उसे शाम देश को भाग जाने की सलाह दी। किसी जासूस ने यह बात मुहलहिल के कानों तक पहुँचा दी। इस पर उसने तीस जवान जस्सास को पकड़ने के लिए भेजे। उन जवानों को जस्सास के साथियों से घोर युद्ध करना पड़ा। मुहलहिल के केवल दो जवान जीवित बचे। जस्सास के साथियों में भी केवल दो ही बच सके। यद्यपि जस्सास पकड़ा न गया, तो भी युद्ध में वह सख़्त ज़ख़्मी हुआ और मैदान से भाग न सका।

जब जस्सास आहत होने से मर गया तब उसके पिता ने एक दूत मुहलहिल के पास भेज कर कहा कि तुम अपने ख़ून का बदला ले चुके, अब लड़ाई बन्द करो। परन्तु मुहलहिल ने एक न मानी। उसने युद्ध न बन्द किया। शत्रुओं तथा उनके साथियों को वह बराबर विध्वंस करता रहा। यह युद्ध बहुत दिनों तक चलता रहा और बहुत कुछ सर्वनाश हो चुकने के बाद बन्द हुआ। ऐतिहासिकों का कहना है कि यह लड़ाई ४० वर्ष तक जारी रही। अरब के इतिहास में यह लड़ाई 'युद्ध बसूस' के नाम से प्रसिद्ध है। बसूस जस्सास की बुआ का नाम था जिसके मेहमान की ऊँटनी को कुलैब ने घायल किया था। इतिहास में यह घटना बहुत विख्यात है।

मुहलहिल के पद्य बड़े ज़ोरदार हैं। वह स्वयं वीर पुरुष था। इस कारण उसके वीर-रस के पद्य बड़े मनोरञ्जक तथा उत्तेजक हैं। अपनी प्रभुता पर वह कहता है:—

हम उच्च कुल के हैं। हमारे कुल को कभी कोई कलङ्क नहीं लगा। हमारे मुख उस समय भी उज्ज्वल ही रहते हैं जब किसी दुर्घटना से सारे नगर में अशान्ति छा जाती है।

हमारी जाति के लोग जो व्रत धारण करते हैं उसे पूरा करके ही रहते हैं। यदि कोई किसी को वचन देता है तो वह उसका पालन भलीभाँति करता है। हमारी

जाति के लोग जब युद्ध में प्रवृत्त होते हैं तब वे मार-काट से मुँह नहीं मोड़ते ।

हमारी जाति के लोग यदि किसी शुभ कार्य्य के लिए बुलाये जायँ तो वे तुरन्त आ मौजूद होंगे । परन्तु दुष्कर्म में भाग लेना सर्वथा उनके स्वभाव के विरुद्ध है ।

यदि किसी की ओर से हमारी जाति के लोगों के हृदय में वैमनस्य हो तो वे उसको दूर किये बिना नहीं सोते । पर यदि शत्रुओं के हृदयों में हमारे लिए वैमनस्य हो तो हम ज़रा भी विषाद नहीं करते और सुख की नींद सोते हैं ।

मुहलहिल ने जो कविता का वृक्ष लगाया वह उसके बाद भी ख़ूब फूलता और फलता रहा । सारे अरब में कविता की धूम मच गई । यहाँ तक कि उस धूम की गूँज आज भी संसार में व्याप्त है । कविता की बदौलत वहाँ वे काम हुए जिनके होने की आशा नहीं की जा सकती थी । अरब का प्राचीन इतिहास भी कविता ही की बदौलत मालूम हुआ है । इसी कारण अरब कविता का पिटारा कहलाता है ।

महेशप्रसाद

वर्षा ।

('बाणासुर-पराभव काव्य' से उद्धृत)

मन्दाक्रान्ता छंद

धीरे धीरे समय निकला ग्रीष्म का दुःखदायी ।
आई वर्षा सुखद जग को व्योम में मेघ छाये ॥
यों ही सारे दिवस दुख के काल पा बीतते हैं ।
मर्यादा है सुख-दुख-मयी घूमती चक्र जैसी ॥१॥

दर्शाते हैं गगन-तल में मेघ भीमच्छटा को ।
मानों सेना अमरगण की युद्ध को आ रही हो ॥
नाना रङ्गी जलद नभ में दीखते हैं अनूठे ।
योद्धा मानों विविध रँग के वस्त्र धारे हुए हों ॥२॥

देती जैसी द्युति कटक में आयुधों की दिखाई ।
वैसी ही है झलक दिखती दामिनी की घनों में ॥
होता है ज्यों रव समर में घोर वाद्यादिकों का ।
त्यों ही भारी गरज नभ में मेघ भी हैं सुनाते ॥३॥

छाया ऐसा निविड़ तम है वारिदों से धरा पै ।
मानों पृथ्वी गगन मिल के एक ही हो गये हों ॥
हो जाता है उदित नभ में इन्द्र का चाप वैसे ।
योद्धा जैसे विजय पर हैं राष्ट्र-झण्डा उठाते ॥४॥

थी जो पृथ्वी तपित अति ही सूर्य के अंशुओं से ।
धीरे धीरे घन अब उसे आर्द्रता दे रहे हैं ॥
जैसे कोई विकल अति ही मोह की वृद्धि से हो ।
पावे ज्ञानी सहृद जन से शांति विज्ञान द्वारा ॥५॥

जैसे पाता तृषित जन है तृप्ति पानी पिये से ।
वैसे उर्वी मुदित घन के वारि से हो रही है ॥
शोभा पाती विविध रँग के शस्य से मेदिनी है ।
मानों कान्ता रुचिर तन पै वेष-भूषा किये हो ॥६॥

शोभाशाली तरुगण हुए वृद्धि से पल्लवों की ।
जैसे होते सुकृति जन हैं, धर्म की ओजवाले ॥
लोनी लोनी ललित लिपटी हैं लताएँ द्रुमों से ।
जेताओं को विजय पर हों हार मानों चढ़ाए ॥७॥

छाया शैलों पर तृण हरा दृष्टि को मोहता है ।
बाँधे होवें हरित रँग के शैल मानों दुपट्टे ॥
शोभा दीखे अवनि तल पै लाल इन्द्राणियों की ।
माणिक्यों से जटित महि हो चारु अत्यन्त मानों ॥८॥

खद्योतों की चमक दिखती यामिनी में अनूठी ।
मानों वृक्षों पर बहुत से दिव्य तारे उगे हों ॥
वापी, नाले, सरि, सर सभी को भरा नीरदों ने ।
जैसे पूरे वणिक् भरते कोष व्यापार द्वारा ॥९॥

मण्डूकों के विकट रव से पूरिता हैं दिशाएँ ।
मानों नीराशय स्तुति करें हर्ष से नीरदों की ॥
फूले चम्पा प्रियक सुमना सल्लता केतकी हैं ।
वर्षा मानों विभव अपनी सम्पदा को दिखाती ॥१०॥

भौंरे होते मुदित उनसे छोड़ के एक चंपा ।
जैसे छोड़े बुध जन सदा सङ्ग दोषी जनों का ।
गुंजारें वे मधुर स्वर से पुष्प का सार लेते ।
मानों अर्थी विशद यश हों गा रहे दानियों का ॥११॥

पीहू पीहू अविरत रटें मग्न हो हो पपीहे ।
ऊँची केका ध्वनि कर शिखी मोद से नाचते हैं ॥

ये वर्षा के परम सुख से मोद पा वारिदों को।
मानों मीठे निज निनद से आशिषें दे रहे हों॥१२॥
ठंडा ठंडा पवन बहता चित्त को शांति देता।
धीरे धीरे मधुर उसमें पुष्प की गंध आती॥
ऐसी वर्षा तृषित जग को हर्ष देती पधारी।
सारे प्राणी प्रमुदित हुए उष्णता के सताये॥१३॥
गोविन्ददास

जापान का गार्हस्थ्य जीवन।

अनेक लोगों की यह धारणा है कि जापान पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करके अपना जातीय सामाजिक जीवन गँवा बैठा है और वह पूर्ण रूप से पूर्व का एक योरपीय देश बन गया है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। निस्सन्देह जापान अब पहले का जापान नहीं है, उस पर पाश्चात्य सभ्यता का पूरा प्रभाव पड़ चुका है, परन्तु उसका जातीय जीवन अभी ज्यों का त्यों बना है। अपने जातीय जीवन को पवित्र बनाये रखने के लिए जिन साधनों की देश-काल के अनुसार आवश्यकता थी उन्हें उसने ज़रूर ग्रहण किया। योरप का विज्ञान और व्यापार-तत्त्व सीख जाने से यद्यपि जापान आज संसार की महा-शक्तियों में गिना जाता है और विदेशियों के संयोग में निरन्तर रहने के कारण उसने अनेक बातों में पाश्चात्यों का अनुकरण कर लिया है तो भी उसका गार्हस्थ्य जीवन उसी का है। उस पर पाश्चात्य सभ्यता की छाप नहीं पड़ने पाई। उसके इस प्रकार अपना जातीय जीवन अपनाये रहने के कारण उसकी शान के ख़िलाफ़ कोई पाश्चात्य जाति उसे असभ्य कहने का साहस नहीं कर सकती। क्योंकि वह सब प्रकार से बल-सम्पन्न है। उसका धर्म भी अभी तक वैसा ही अछूता बचा है। जापानी लोग अपने घर से साहब बन कर निकलते हैं। आफ़िस और यात्रा में वे योरपीय पोशाक धारण करते हैं और उसी ढँग से रहते भी हैं। परन्तु जहाँ घर आये कि वे फिर जापानी के जापानी। घर में वे अपनी पोशाक पहनते हैं, अपने ही ढङ्ग का भोजन करते हैं और उसी भाँति रहते हैं जैसे उनके बाप-दादे सदा रहते रहे हैं। जापान का बढ़ई जब आरी चलाने लगता है तब वह योरपीयों की भाँति उसे पहले आगे को नहीं झेलता, किन्तु अपनी ही ओर को खींचता है, मछलियाँ कटोरे जैसे बर्तन में ही परोस कर खाई जाती हैं, तश्तरियों का व्यवहार नहीं होता, कमरे में पहले पति प्रवेश करता है तब उसकी पत्नी, और चिट्ठी पर पता लिखने का अभी वही पुराना ढङ्ग प्रचलित है, पहले स्थान का नाम तब पानेवाले का नाम लिखा जाता है। मतलब यह कि जापान अभी जापान ही है। उसकी ऊपरी योरपीय तड़क-भड़क से यह अनुमान कर लेना कि जापान योरपीय सभ्यता का पक्का शिष्य हो गया है, ठीक नहीं।

जापान में भूकम्प बहुत आते हैं। इसलिए वहाँ वैसी ही इमारतें बनानी पड़ती हैं जो भूकम्प से विनष्ट न हों और यदि हो भी जायँ तो विशेष क्षति न उठानी पड़े। अधिकतर वहाँ के मकान एक ही मंज़िल के होते हैं। उनकी छतें भी नीची होती हैं और वे लकड़ी के बनाये जाते हैं। कमरों की दीवारें काग़ज़ से मढ़ी रहती हैं। उनमें सामान कुछ नहीं रहता। बिलकुल ख़ाली पड़े रहते हैं। जापानी लोग ज़मीन ही पर बैठते उठते और उसी पर बैठ कर खाते-पीते और सोते हैं। योरप की भाँति मेज़ और कुर्सियों का उपयोग जापानी घरों में अभी तक प्रचलित नहीं हुआ है। उनके घर काठ के होने तथा अपनी बनावट के कारण हवादार होते हैं। फ़्रांस में जब कोई आदमी आत्महत्या करना चाहता है तब वह एक

अँगेठी सुलगा कर और अपना कमरा अच्छी तरह बन्द करके सो रहता है, बस समाप्त! पर जापानी घरों में यह बात नहीं हो सकती। वहाँ अँगेठी सुलगा कर कोई भी शौक से सो सकता है। उनके हवादार होने की यह एक ख़ूबी है। उन्होंने अपने घरों को योरपीय घर नहीं बना डाला।

जहाँ जापानियों की अनेक बातों से योरप का प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट होता है वहाँ यह बात दर्शक को बहुत ही आश्चर्यजनक प्रतीत होगी कि जापानियों के ऐश-बाग़ अभी तक जापानी ढँग के ही लगते हैं। उन पर भी पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ने पाया। जापानी स्वभावतः आमोद-प्रिय होते हैं। पर उन्हें अपने ही ढँग के बाग़-बग़ीचे पसन्द हैं। वे योरपीय ढँग के पार्क वग़ैरह नहीं पसन्द करते। जापानी माली अपने बाग़ योरपीय ढँग से फूलों की क्यारियों तथा घास के मैदानों से नहीं सजाता। वह केवल प्रकृति की नक़ल करता है और अपने बाग़ की रचना में उसी का अनुसरण करता है।

जापानी भोजन-कृत्य।

जापान में किसी के घर एकाएक जा खड़ा होना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता है, यहाँ तक कि होटलों में भी इस नियम की रक्षा की जाती है। होटल में यात्रियों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है उसका कुछ वर्णन यहाँ किया जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी होटल में ठहरने को जाता है तब दरवाज़े के बाहर ही से उसे दो-एक बार ज़ोर से खखारना पड़ता है। इसके बाद 'क्षमा करना मैं आता हूँ' कह कर वह द्वार पर जा खड़ा होता है। इतने में उसका स्वागत करने को होटल के भीतर से तीन चार लड़कियाँ और स्त्रियाँ तुरन्त आ जाती हैं। जब आगन्तुक उन्हें देखता है तब वह उन्हें भूमिष्ठ हुए प्रणाम करते ही पाता है। अर्थात् किसी को द्वार पर आया जान कर जापानी तुरन्त ही उसके स्वागतार्थ दरवाज़े पर आ जाते हैं, आगन्तुक को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। शेकहेंड प्रणाली का प्रचार यद्यपि उन स्थानों में हो गया है जहाँ विदेशियों का आवागमन है, तो भी वहाँ की प्रचलित प्रणाली यही है जो ऊपर

बताई गई है। अभ्यर्थना के बाद आगन्तुक का जूता स्वागतार्थ उपस्थित लड़कियों या नौकरों में से कोई एक खोल देता है। क्योंकि जूता पहने हुए घर के भीतर जाने की रीति वहाँ नहीं है। इसके बाद नौकर यात्री को ले जाकर एक ख़ाली कमरे में बिठा देता है और फिर उसके लिए चाय रोटी लाई जाती है। यदि आगन्तुक वहाँ की रीति रवाज जानता होगा तो उसी अन्तर में वह काग़ज़ के दो छोटे छोटे पैकटों में कुछ रुपये बाँध कर अपने पास रख लेगा। इनमें से एक पर वह 'चाय का मूल्य' और दूसरे में 'नौकर को इनाम' लिख देगा। इसके सिवा 'कुछ नहीं है,' यह भी उनके ऊपर लिख देना पड़ेगा। देती है। वह बहुत ही विनम्र होकर कहती है कि आपने मुझे बहुत दे दिया। मेरा होटल तो बहुत ही छोटा है। आपको इसमें आराम ही क्या मिलेगा। गन्दा भी है और यहाँ के नौकर भी ठीक काम नहीं करते। उसके बाद एक जवान स्त्री एक टोकरी सी लेकर आती है। उसमें पंखे, नारंगियाँ, रुई के छोटे छोटे तौलिये और चावल की रङ्गीन रोटियों का एक बक्स रक्खा रहता है। यह सब सामान एक कपड़े के काग़ज़ से ढँका रहता है और जापानी अक्षरों में उस पर कुछ लिखा भी रहता है। यह सब कुछ आगन्तुक के दिये हुए रुपयों की रसीद है। इस भेंट को आगन्तुक स्वीकार कर लेता है,

जापानी घर का भीतरी दृश्य।

पर वह उसे उस समय खोल कर देख नहीं सकता। दाता के सामने ही भेंट को खोल कर देखना वहाँ के शिष्टाचार के विरुद्ध है। जब होटलों में इस प्रकार का सद्व्यवहार ठहरनेवालों के साथ किया जाता है तब गृहस्थ लोग अपने अतिथियों के साथ कैसा बर्ताव करते होंगे यह सहज में ही अनुमेय है।
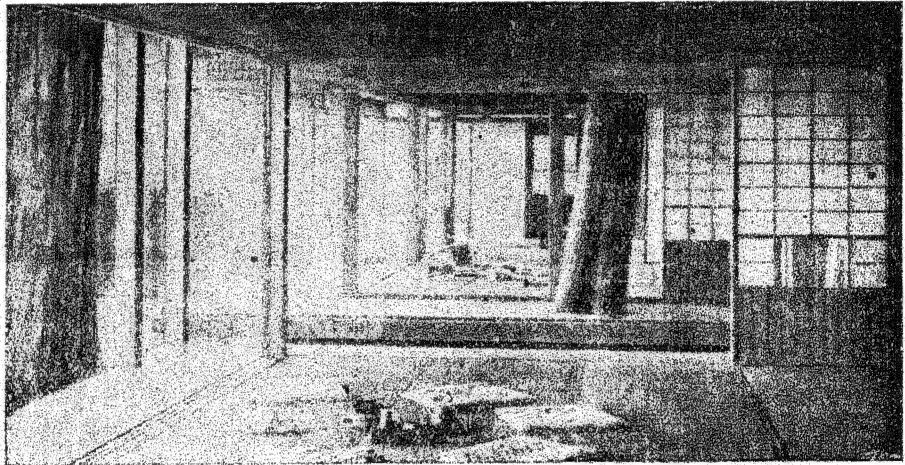
इतने ही में नौकरानी चाय-रोटी लेकर आ जाती है और आगन्तुक खाना शुरू कर देता है। जब नौकरानी चाय लेकर दूसरी बार आती है तब वह उन पैकटों की ओर विशेष ध्यान नहीं देती, पर जब वह वापस जाने लगती है तब वह उन्हें उठा ले जाती है। इसके बाद ही होटल-स्वामिनी आ पहुँचती है और जो कुछ रुपये उन पैकटों में रख दिये जाते हैं उनके लिए वह आगन्तुक को धन्यवाद

जापानी स्नान भी जापान की एक ख़ास बात है। इसका अनुभव वहाँ के होटलों में विदेशी को

भली भाँति हो सकता है। जब कोई विदेशी जापानी स्नान का आनन्द लेने की इच्छा प्रकट करता है तब होटल का नौकर स्नान के समय की जापानी पोशाक ले आता है और स्नानेच्छु को ख़ुद ही पहनाने भी लगता है। क्योंकि विदेशी लोग उस पोशाक को बिना बताये ख़ुद नहीं पहन सकते। परन्तु वह पोशाक इस ढङ्ग की बनी होती है कि उसके पहनते समय किसी प्रकार की बेपरदगी नहीं होती। जब वह पोशाक पहना दी जाती है तब उसके कपड़े तह लगा कर वहीं रख दिये जाते हैं जहाँ उसका बिस्तरा लगा होता है। इसके बाद नौकर उसे स्नानागार में ले जाता है। वहाँ वह अपनी नई पोशाक उतार देता है। दो घड़े गरम जल लिये नौकर उपस्थित रहता है। एक स्टूल पर बैठ कर वह नौकर की सहायता से अपनी देह पर साबुन लगाता है और फिर नौकर उसकी देह भले प्रकार मलता है। इसके बाद वह हम्माम में घुसता है। यह हम्माम फ़र्श के बीचोंबीच काठ का बना होता है। उसके नीचे उसका पानी गरम रखने को आग बराबर जला करती है। पानी मामूली से अधिक गरम रहता है। इच्छानुसार देर तक उसमें डुबकी लगाये रहने के बाद वह बाहर निकल आता है। बाहर आकर स्वच्छ जल से वह फिर स्नान करता है। इस बार भी नौकर उसकी देह मलता है। वह उसके कन्धे और गर्दन के ऊपर थपकियाँ भी लगाता है। इस तरह स्नान की प्रक्रिया समाप्त होती है। इस जापानी स्नान से शरीर की सारी थकावट दूर हो जाती है और आलस्य हट कर देह में फुर्ती आ जाती है।

जापानी होटलों में यात्री को अपने माल-असबाब के लिए विशेष चिन्तित नहीं रहना पड़ता। जब उसे बाहर जाना पड़ता है तभी वह अपने कपड़े पहन कर जाता है। नहीं तो होटलों में उसे सब आवश्यक चीज़ें प्रस्तुत रहती हैं। कपड़े पहनने को मिलते हैं—यहाँ तक कि स्लीपर और दाँत साफ़ करने का ब्रश भी मिलता है। ब्रश लकड़ी के होते हैं और वे एक ही बार उपयोग में लाये जाते हैं। इसके बाद वे बीच से तोड़ कर फेंक दिये जाते हैं। हाँ, यात्रियों को एक जोड़ा चादर और तकिया अपने साथ ज़रूर रखना चाहिए। जापानी लोग अपने बिस्तर पर चादर नहीं बिछाते। उनका तकिया तो विदेशियों के लिए एक तमाशा है। वहाँ बिस्तर तभी बिछाया जाता है जब उसकी आवश्यकता होती है। नहीं तो वह लपेटा हुआ अलग एक स्थान में रक्खा रहता है। बिछौना भी गद्दे का ही होता है। उनका तकिया

जापान में भेंट-प्रदान की प्रथा।

लकड़ी का होता है और विदेशियों को उसका उपयोग सीखना पड़ता है। परन्तु जापानी लोगों को अपना देशी तकिया पसन्द नहीं है, अतएव उसके स्थान में उन्होंने योरपीय ढँग के तकियों का व्यवहार शुरू कर दिया है। तो भी अपनी वस्तु का आदर करनेवाली जापानी स्त्रियाँ तकिया की लकड़ी का बहिष्कार नहीं किया चाहतीं। उन्होंने कुछ परिवर्तन करके उसे अपने मतलब का बना लिया है और इस तरह वे अपने लकड़ी के तकिये को योरपीय ढँग में परिणत करके अपने काम में लाती हैं।

जब यात्री किसी जापानी होटल से बिदा होने

जापानी स्त्री की शृङ्गार-प्रक्रिया।

लगता है तब उसे अपने बिल की साधारण रक़म देख कर उसे बड़ा आश्चर्य होता है। उस बिल पर केवल भोजन का ख़र्च लिखा रहता है और वह भी असली मूल्य से कुछ ही अधिक। उसमें कमरे का किराया, नौकरों का पारिश्रमिक आदि बातें नहीं लिखी रहतीं। पर बिल का काग़ज़ ख़ूब लम्बा रहना चाहिए, उस पर लिखी चाहे दो ही एक सतरें हों। यह बात आवश्यक समझी जाती है। होटल में दाख़िल होते समय जो उपर्युक्त रुपयों के पैकेट दिये जाते हैं उन्हीं में उन सब मदों का ख़र्च समझ लिया जाता है जो बिल पर नहीं लिखे रहते। जितना धन वह पहले दे देता है उसी के अनुसार उसके साथ व्यवहार किया जाता है और उसको सुख पहुँचाने के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर दी जाती है।

जापानी लोग भोजन भी विचित्र ढँग से करते हैं। चाहे भोजन होटल में किया जाय चाहे किसी गृहस्थ के घर में, परन्तु भोजन करने की जापानी ही रीति सर्वत्र प्रचलित है। चावल जापानियों का मुख्य खाद्य है। उनके भोजन में कई प्रकार से बनाई हुई मछलियाँ भी परोसी जाती हैं। दाल, अण्डे और मुर्ग़ी भी वे लोग खाते हैं। बाँस के किल्ले तथा समुद्री शाक की तरकारी उन्हें बहुत प्रिय है। चाय, चावल की शराब, लेमनेड और जौ की शराब वहाँ के जातीय पेय पदार्थ हैं। जापानी लोग भोजन करने के लिए अर्द्ध गोलाकार मण्डल बना कर बैठते हैं। भोजन करते समय वे लोग बीच बीच में अपने ओठों से एक प्रकार की आवाज़ कर देते हैं। अर्थात् वे ज़ायका लेकर खाते हैं। यद्यपि इस प्रकार की प्रक्रिया बाहरवालों को अच्छी नहीं लगती, पर वहाँ इसका प्रचार है। जब वे लोग भोजन कर चुकते हैं तब अन्त में फिर चावल माँगते हैं। इससे यह समझा जाता है कि लोग अब भले प्रकार खा पी चुके, किसी को किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है। तब दो एक प्याला खा लिये जाने की आशा से चावल फिर परोसा जाता है। जापानी लोग छुरी काँटे से भोजन नहीं करते। वहाँ उनका प्रचार ही नहीं। वे लोग दो छोटी छोटी लकड़ियों (Chopsticks) से भोजन करते हैं। इनका प्रयोग वे ऐसी कुशलता के साथ करते हैं कि देखनेवाले आश्चर्य करने लगते हैं। वे अपने खाने की चीज़ें अपनी इन लकड़ियों से इस प्रकार उठा कर खा लेते हैं कि क्या मजाल जो

एक भी वस्तु गिर जाय। भोजन-कार्य बड़ी देर तक होता रहता है। जब सब लोग भोजन कर चुकते हैं तब जो टुकड़े बच जाते हैं उन्हें नौकर उठा कर छोटे छोटे सुन्दर सन्दूकों में रख देते हैं। जब अभ्यागत अपने घर जाने लगते हैं तब एक एक बक्स प्रत्येक व्यक्ति को दे दिया जाता है।

घर की जापानी नौकरानी।

गृहस्थों में यह प्रथा है कि पहले मर्द भोजन करते हैं, उनके बाद स्त्रियाँ भोजन करती हैं। तम्बाकू देशी पाइपों में भर कर ही पीने का रवाज है, पर अब नई रोशनीवालों में सिगरेट का भी खूब प्रचार हो गया है।

जापानियों की रीति-रस्मों से बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है। जो कुछ वे लोग करते हैं सब विधि से करते हैं। एक कपड़ों ही की बात लीजिए। जापानियों के पहनने के कपड़े एक ही तर्ज़ के होते हैं। उनके कपड़ों में अधिक सिलाई की भी ज़रूरत नहीं रहती। उनका किमोनो १० पेन्स की ही सिलाई में तैयार हो जाता है, कपड़े का मूल्य भले ही १५०) रुपये हो। जैसे कपड़ों के सिलाने में वैसे ही मकान बनाने में भी वे उपयोगिता और मितव्ययता का ध्यान विशेष रीति से रखते हैं। वे अपने दालानों, कमरों आदि की लम्बाई चौड़ाई का हिसाब चटाइयों से ठीक करते हैं। ये चटाइयाँ लम्बी-चौड़ी एक-सा होती हैं। वे यह नहीं कहते हैं कि हमारा कमरा इतना लम्बा-चौड़ा है। वे उसकी लम्बाई-चौड़ाई चटाइयों से बताते हैं।

जापानियों में एक और भी विचित्रता है। वे अँगरेज़ी बड़े शौक से पढ़ते हैं। परन्तु जो लोग उनका ढँग नहीं जानते उन्हें उनकी अँगरेज़ी सुन कर बहुधा कठिनाई उठानी पड़ती है। क्योंकि वे अपनी ही भाषा के मुहाविरों का अनुवाद अपनी अँगरेज़ी में कर देते हैं, जिससे कभी कभी कुछ का कुछ हो जाता है। जैसे किसी ने पूछा—Shall I not have to wait a long time? यदि उत्तरदाता का यह मतलब होगा कि हाँ, आपको इन्तिज़ार करना होगा तो वह 'No' कहेगा। यह उत्तर जापानी ढँग का है। परन्तु ऐसी भूल केवल उन्हीं जापानियों से हो जाती है जिनका सम्पर्क विदेशियों से कभी नहीं होता। इस समय जापान में अँगरेज़ी का ख़ासा प्रचार है।

जापान में बालक-बालिकाओं की वर्षगाँठ के दिन बड़ा उत्सव किया जाता है। जिस दिन जापानी बच्चे जन्म ग्रहण करते हैं वही उनकी जन्म-तिथि नहीं मानी जाती। जापान में लड़कों की वर्षगाँठ का दिन ५ वीं मई और लड़कियों की ३ री मार्च नियत है। इन्हीं तारीख़ों में राष्ट्र के सारे बालक-बालिकाओं की वर्षगाँठ का महोत्सव मनाया जाता है, वे पैदा चाहे जब हुए हों जब कोई बच्चा जन्म लेता है तब वह उसी समय एक वर्ष की

उम्र का मान लिया जाता है। यदि उसका जन्म किसी साल की ३१ वीं दिसम्बर को हुआ हो तो दूसरे साल की जनवरी से उसकी उम्र दो वर्ष की बताई जायगी। अस्तु वर्ष-गाँठ के समय जापानी लोग बड़ा उत्सव करते हैं। बालकों की वर्षगाँठ के दिन प्रातःकाल होते ही बड़े शहरों में कागज़ की रङ्ग विरङ्गी छोटी बड़ी मछलियाँ बाँसों पर बाँधी हुई प्रत्येक घर में फहराने लगती हैं। लड़कों को रङ्ग विरङ्गे कपड़े पहना कर लोग गलियों में घूमने को निकलते हैं। उस दिन निस्सन्देह बहुत ही आनन्द-दायक दृश्य देख पड़ता है। लड़कियों की वर्ष-गाँठ में इसी प्रकार का उत्सव होता है, पर उस दिन गुड़ियों और खिलौनों की धूम मचती है।

जापान में विवाह की प्रथा भी पाश्चात्य सभ्यता से अछूती बची है। जापानी युवक एक समय एक ही स्त्री के साथ विवाह करने का अधिकारी है। वह अपनी स्त्री को विवाह के बाद अपने ही परिवार के साथ रखने को बाध्य है। वहाँ उसकी स्त्री को अपने से बड़े कुटुम्बियों का आज्ञा-पालन करना पड़ता है। यदि वर अकेला ही हुआ तो उसे अपनी ससुराल में आकर रहना पड़ता है। मतलब यह कि उनमें से किसी एक को किसी एक के कुटुम्ब में अवश्य रहना पड़ता है। इसके सिवा किसी का किसी के साथ विवाह करा देने के लिए एक मध्यस्थ अवश्य होना चाहिए। मध्यस्थ केवल उनको विवाह-बन्धन में बाँध कर तथा वैवाहिक क्रिया सम्पन्न कराके ही छुट्टी नहीं पा जाता, किन्तु उसे जीवन भर उनका पथ-प्रदर्शक, परामर्श-दाता और मित्र बन कर भी रहना पड़ता है।

गिरिजाशङ्कर वाजपेयी

भ्रष्ट तारा।

(१)
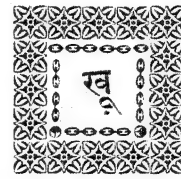
ब भीड़ है, अतएव गोलमाल अनिवार्य होना ही चाहिए। अर्थी और उसका कपड़ा भी बहुत ख़ूबसूरत तथा क़ीमती है। इत्र और गुलावजल की सुगन्धि से हवा भी कुछ भारी हो गई है। मुनीब गुमाश्ते और नौकर-चाकर सभी मौजूद हैं। ज़मींदार के दोनों पुत्र भी आज नङ्गे पाँव जा रहे हैं। पृथ्वी माता का इतना सम्मान उन्होंने अपने जीवन में शायद ही कभी किया हो। मुट्ठी भर भर बीच बीच में पैसे, दुअन्नी और चवन्नी भी लुटाई जा रही हैं। उन्मत्त भिखारी चिल्ला चिल्ला कर बाज़ की तरह उन पर टूटे पड़ते हैं। 'राम नाम सत्य है' की ध्वनि से आकाश फटा सा पड़ता है। सड़क के दोनों तरफ़ आदमियों का ताँता बँधा है।

यह ज़मींदार-गृहिणी की श्मशान यात्रा है। ग़रीब पिता के घर तुम्हारा जन्म हुआ। बालपन में माता-पिता और भाई-बहन के स्नेह के सिवा तुम्हारे पास कुछ भी सम्पत्ति न थी। विवाह के दिन भी ईश्वरदत्त रूप को छोड़ कर तुम्हारे अङ्ग में कोई आभूषण न था। फिर किस पुण्य के प्रभाव से तुम्हारी अन्तिम बिदा के दिन इतनी धूमधाम हुई? जिस ग़रीब घर में, तुम्हारा जन्म हुआ था, यदि वहीं तुम्हारे सब दिन कटते तो क्या इतनी धूमधाम होती? वहाँ तो घरवालों का रोना-चिल्लाना सुन कर लोगों का हृदय हिल जाता। न मालूम कितने मनुष्यों की सुख-शान्ति तुम्हारी चिता के साथ भस्म हो जाती। सब कुछ होता, पर ऐसी मृत्यु-शय्या न मिलती। क्या साथ में इतने आदमी जाते, शहर के आदमी क्या इस तरह आँखें फाड़ फाड़ कर तुम्हारी तरफ़ देखते? तुम्हारे चारों तरफ़ का भीषण कोलाहल आकाश में इस तरह व्याप्त होकर क्या मनुष्यों को तुम्हारी अन्तिम यात्रा का पता देता? तो क्या आज तुम सौभाग्यवती नहीं गिनी जाओगी? तुम विख्यात रायपरिवार की बहू हो, महामहिम ज़मींदार पार्वतीचरण राय की लाड़ली छोटी रानी हो! फिर तुम्हारी चिता की अग्नि के साथ ही हमारे मन की अग्नि भी क्यों नहीं शान्त

होती ? क्या हम जैसे दरिद्र आदमी का भाग्य तुम्हारे साथ ऐसी मज़बूत डोरी से बँधा है कि हम उसे खोल ही नहीं सकते ? तुम पार्वतीचरण राय की छोटी रानी, हम न जाने कहाँ के एक दरिद्र मास्टर। तुम्हारे लिए हमारे हृदय में आग भभक रही है—यह क्या कम स्पर्धा की बात है !

हज़ारों आदमी जा रहे हैं। उन्हीं में एक हम भी जा रहे हैं, किन्तु बहुत बच कर। रायपरिवार के लोगों के साथ हम चलने के योग्य नहीं।

हठात् सामने कुछ बाधा हुई और सब रुक गये। ट्राम-गाड़ी या उसी तरह की कोई चीज़ आगे खड़ी थी। दो मिनट के लिए रास्ता रुक गया। आस-पास के भी सब आदमी इसी भीड़ में मिल गये। हाथ में किताब और कापी लिये हुए दो चश्माधारी नवयुवक—सम्भवतः कालिज के छात्र—भी भीड़ को ठेल कर आगे जा रहे थे, किन्तु शव को देखते ही चौंक उठे। धीरे से एक ने दूसरे से कहा—अहा, मरने पर इतनी शोभा है तब पहले न मालूम कितनी रही होगी। इतनी रूपवती तो केवल चित्रों ही में देखी थी। मनुष्य भी इतना रूपवान् होता है यह बात मैं पहले नहीं जानता था। न मालूम किसके घर में अँधेरा किये जा रही है !"

एक दूसरे मनुष्य ने हमारी तरफ़ इशारा करके कहा—"चुपचाप जाइए, मालूम पड़ता है यही इनके पति हैं।" लड़के फ़ौरन भीड़ में मिल गये। ट्राम भी घंटी देकर चल दी। हम लोग फिर चलने लगे।

हम इनके स्वामी हैं ! तुम्हारी अवस्था कम है, इसी कारण तुम्हारे मन में यह ख़याल पैदा हुआ। यदि दो भले आदमी तुम्हारी बात सुन लेते तो क्या कहते। हमारी आँखें लाल हो रही हैं, बाल अस्तव्यस्त हो रहे हैं, पागल की तरह अर्थी के साथ जा रहे हैं, यह सब देख कर ही क्या तुमने यह समझ लिया कि हम इनके पति हैं। इस संसार में वास्तविक प्रेमी ही प्रेम का अधिकारी नहीं होता, यह बात तुमने अभी तक नहीं सीखी। रुपया, पैसा और कुल-मान के सामने प्रेम ? हम इनके कोई नहीं। ये राजरानी होगई और हम पचास रुपये महीने के स्कूल मास्टर !

देखते देखते श्मशान भी आगया। चन्दन की चिता तैयार थी। उसी पर शव रख दिया गया। मानों शापभ्रष्टा इन्द्राणी फिर नन्दन को वापस जा रही है। हमने उसको कई बार देखा है, किन्तु हँसते हुए कभी नहीं देखा मानों चिता-शय्या पर वह आज पहली ही बार हँस रही है। अधिक देर नहीं लगी। मुख की अग्नि के साथ ही उसके काले बालों से हज़ारों अग्नि-शिखायें काली नागनियों की तरह उड़ कर गरज उठीं। हम चले आये, और क्या देखते ! सब काम विधिसहित और कुलमर्यादा के अनुसार होता है या नहीं, यह अब रायपरिवार के बाबू लोग देखें।

(२)

जब प्रवेशिका परीक्षा के सिंहद्वार को पार करके हमने कालेज में प्रवेश किया तब हमने तथा हमारे घरवालों ने भूल कर भी मन में यह नहीं सोचा था कि हमें पचास रुपये महीने की स्कूलमास्टरी करके जीवन काटना पड़ेगा। हमारी माँ को अपने हाथ में सोने का गहना पहनने का भी कभी सुयोग नहीं मिला, किन्तु यह उनका दृढ़ विश्वास था कि उनकी पुत्रवधू हाथों में हीरे के कंगन अवश्य पहनेगी। क्योंकि जब उनके अमर को प्रथम परीक्षा ही में छात्र-वृत्ति मिली तब अधिक पढ़ कर क्या वह जज नहीं हो जायगा ? हमारी वह जजी किसके भाग्य में थी, मालूम नहीं। हीरे के कंगन एक स्त्री के हाथ में देखे ज़रूर थे, किन्तु वह हमारी पत्नी न थी। पर माँ ने अपना विश्वास उसी तरह दृढ़ रक्खा। उनके लाड़ले बेटे को उसका भाग्य इस तरह वञ्चित कर सकता है, यह बात आँखों से देख कर भी वे मानना नहीं चाहती थीं।

हमारे पिता को अपने पिता से एक पुराना मकान, एक तालाब और दो तीन निखट्टू आत्मीय ही उत्तराधिकार-स्वरूप मिले थे। उस मकान में रहने और अन्नध्वंस करने का पैतृक अधिकार उन्हें भी मिला था। इसी लिए उनके मन में हमारे प्रति ज़रा भी कृतज्ञता का भाव न था। हम भी उसकी प्राप्ति की बात मन में न ला सकते थे। प्राण-पण से चेष्टा करके जो थोड़ा-बहुत पिताजी कमाते थे उसी से माताजी किसी तरह घर का ख़र्च चलाती थीं। बाक़ी आदमी खाने और ख़ाली पड़े रहने ही से निश्चिन्त हो जाते थे। इस आमदनी से हमारी कलकत्ते की पढ़ाई का ख़र्च चलना कठिन था। किन्तु रुपये की कमी से हमारे जज

होने में बाधा पड़ेगी, माता को यह बात सह्य न हुई। उन्होंने अपनी भावी पुत्रवधू के उज्ज्वल अलङ्कारों का खयाल करके ख़ुशी ख़ुशी बक्स से अपने सब गहने निकाल कर हमारे हाथ में दे दिये। उन्हीं को बेच कर हम कलकत्ते के मनुष्य-सागर में तैरने लगे। हमें आशा थी कि भविष्य में मा के गहने सूद सहित वापस कर सकेंगे। अब माता को गहनों की आवश्यकता नहीं है, यह ख़याल करके ही हम उस ऋण से उद्धार हुए हैं। मन को यही समझा कर सन्तोष दे लेते हैं कि यदि माता को उनके गहने मिल भी जाते तो भी वे हमें ही वापस कर देतीं।

हमारी जवानी के प्रारम्भ के दिन एक गली के तङ्ग तिमंज़िले मकान में कटे थे। मेस के अनेक लड़कों को रुपये का ज़ोर था। वे ख़ूब आनन्द के साथ बाहर घूमते फिरते थे और हम जैसे ग़रीब लड़के परनिन्दा और दुनिया भर की वस्तुओं पर अपना मतामत प्रकट करके ही अपने मन का बोझ हलका कर लेते थे। बड़े आदमियों को कलकत्ते आकर अपने गाँव का घर भूल जाना अत्यन्त स्वाभाविक है, किन्तु पुस्तकों के बोझ से लदे हुए, प्रकाश-वायुहीन एक छोटे से कमरे में रह कर हमारा मन केवल अपनी जन्मभूमि के खुले विशाल हृदय पर जा पड़ने को व्याकुल हो उठता था। इसी लिए बहुत दिनों तक कलकत्ते में रहने पर भी हम अनेक विषयों में अमर ही बने रह कर अपने गाँव को वापस गये थे। राजधानी के इस निरानन्द छोटे कमरे में हम अपने मन को किसी तरह भी न लगा सके।

इसी तरह कई वर्ष बीत गये। आख़िर एक दिन परीक्षा देकर और एक कैनवस का बेग हाथ में लेकर हवड़ा स्टेशन में गाड़ी पर सवार हुए। माता की दी हुई पूँजी हमें बी० ए० तक तो पार लगा लाई, किन्तु अब कुछ भी पास नहीं रह गया था। पास हो जाने पर कहीं कोई नौकरी तलाश कर लेंगे और कलकत्ते आकर फिर एम० ए० क्लास में पढ़ने की कोशिश करेंगे—यही सोच कर घर को चले थे। ट्रेन में बैठे बैठे हम यही हिसाब लगा रहे थे कि परीक्षा के पर्चों में हम कुल कितने नम्बर पा सकेंगे। यदि अच्छे नम्बर में पास हो गये तो नौकरी की भी आवश्यकता न रहेगी, एक आध छात्रवृत्ति भी मिल सकती है।

शाम होते होते हम अपने गाँव पहुँच गये। स्टेशन से हमारा मकान नज़दीक था। अँधेरा हो जाने के कारण दूर से हमें अपना गाँव न दीख पड़ता था, किन्तु मन के नेत्रों से हमें अपने मकान का चित्र दीखने लगा। मकान पहुँचते ही सब घरवाले हमें घेर कर खड़े होगये। हमें देखते ही माता सदा प्रसन्नता से गद्गद हो जाया करती थीं, किन्तु आज वे हमें और भी अधिक प्रसन्न मालूम पड़ीं। सभी लोग किसी कारण से अधिक प्रसन्न हो रहे थे। बङ्गाल की निरानन्द देहात में ख़ुशी की घटना एकाध बार छोड़ कर कभी नहीं होती, इसी लिए हमें इस बात को मालूम करने में अधिक देर न लगी कि क्या मामला है। छोटे भाई-बहन भी उस बात को कहने के लिए उतावले हो रहे थे। हमारा विवाह पक्का हुआ है, लड़की तो ग़रीब की ही है, किन्तु सुन्दरी इतनी है कि आसपास कहीं किसी ने ऐसी सुन्दरी लड़की नहीं देखी। हमारी माता बिलकुल नहीं चाहती थीं कि रुपये के लोभ से किसी काली और कुरूप लड़की से हमारा विवाह किया जाय। केवल रूप के कारण ही वे ऐसे ग़रीब घर में विवाह करने को राज़ी होगई थीं। बातचीत क़रीब क़रीब पक्की होगई थी, केवल लड़की को देखना और पिता की स्वीकृति लेना बाक़ी था।

इतनी बातचीत हो जाने के बाद पिता की सम्मति लेने का एक विशेष कारण था। पिता कार्यवश बाहर ही रहते थे। केवल महीने में एक बार घर आते थे। माता चिट्ठी लिखना नहीं जानती थीं, कुशलक्षेम देने का काम भी प्रबोध ही करता था। किन्तु विवाह की बात माता ने प्रबोध से लिखवाना उचित न समझा। उन्होंने सोचा कि वह लड़का है, सब बातें ठीक ठीक समझा कर न लिख सकेगा और वे बीच ही में बिगड़ कर कार्य में बाधा डाल देंगे। माता को आशा थी कि पिता के घर आने पर सब बातें उन्हें स्वयं समझा कर वे राज़ी कर लेंगी। इस प्रस्ताव से पिता कुछ अधिक ख़ुश न होंगे, इस आशङ्का से ही मालूम पड़ता है कि वे माता की अपेक्षा अधिक समझदार थे। वे भविष्य में हमारे जज हो जाने की बात पर अधिक विश्वास न करते थे।

जो हो, पिता के आने में तब भी बहुत विलम्ब था। किन्तु उनके न आने से लड़की के देखने में तो कुछ बाधा न

थी। दिन निश्चित हो गया। हम, प्रबोध तथा गाँव के और दो एक लड़कों ने लड़की के पित्रालय की ओर प्रस्थान किया। हम आज-कल के पढ़े-लिखे नये लड़के ठहरे, अतएव माता ने वैसा ही प्रबन्ध कर दिया था।

लड़की के पिता ग़रीब हैं, यह बात उनके मकान को देखते ही मालूम होगई। बैठक के कमरे में दो तख्त पड़े थे। उन पर दो फटे क़ालीन और मैली चादरें बिछी थीं। इसके सिवा वहाँ और किसी असबाब का नामोनिशान तक न था। लड़की के पिता तथा दो एक अड़ोसी पड़ोसी विनय और अभ्यर्थना करके सब त्रुटियों के संशोधन करने की चेष्टा करने लगे। किन्तु जो वस्तु वास्तव में सब त्रुटियों का संशोधन करती वह तब भी न दिखाई पड़ी।

यथारीति कुछ जलपान किया। किन्तु हमारा मन चञ्चल हो उठा कि यह भूमिका कब तक बँधती रहेगी? अपने पाँव खड़े होने के पहले अपना विवाह न करेंगे—यह सङ्कल्प और नव-युवकों की तरह हमारा भी था, किन्तु जिस बात ने हमें अपने सङ्कल्प से गिराया था उस बात की सत्यता के प्रमाण में इतनी देर लगते देख कर हमारे धैर्य का बाँध टूटने लगा। किन्तु हमारे साथी बिलकुल निश्चिन्त थे।

एकाएक बराबर के कमरे में स्त्रियों के आने की आहट मालूम पड़ी। अनेक मीठे स्वर एक ही साथ सुनाई पड़े। जिस समय गोधूलि (सायङ्काल) का वसन्ती प्रकाश पृथ्वी पर एक विचित्र मायालोक फैला रहा था उसी समय किवाड़ खुले और एक लड़की हमारे सामने आकर खड़ी हो गई।

पिता की ग़रीबी और लड़की की ख़ूबसूरती—दोनों बातें एक साथ मालूम होगईं। मँगनी के दो चार आभूषण लड़की के अङ्ग पर थे, किन्तु उन सबको लड़की के सौन्दर्य्य ने इस तरह झेंपा दिया था कि उन पर नज़र ही न पड़ती थी। लड़की को देख कर यह विश्वास न होता था कि उसने इसी खँडहर में जन्म लिया है। किन्तु साथ ही यह भी ख़याल हुआ कि किसी धनी के महल में यह इतनी सुन्दरी भी न दिखाई पड़ती। जिस समय वह हमारे सामने आकर खड़ी हुई उस समय ऐसा मालूम हुआ कि मानों गोधूलि की समस्त सुनहली आभा सारी पृथ्वी को वञ्चित करके केवल इसी के शरीर में फूट पड़ी है और सायङ्काल के तारे भी आकाश छोड़ कर इसी लड़की के नेत्रों में जगमगा रहे हैं।

सुना था कि लड़की की अवस्था १२,१३ वर्ष है, किन्तु देखने पर मालूम हुआ कि यह समाजभीत माता-पिता की बात है, सच नहीं। हमारे एक साथी ने लड़की से पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है?'। उसने जवाब दिया—'सुरमा'। उसके इस उत्तर से साधारण मनुष्य तो यही समझते कि उसका नाम सुरमा है; किन्तु उसके गले की स्वरभङ्गी ने हमें यह भी बता दिया कि वह केवल बाहर से ही ज्योतिर्मयी नहीं है, बल्कि उसके अन्दर भी ज्योति की कमी नहीं है।

सुरमा चली गई, हम भी उठ खड़े हुए। कन्या के पिता को यह भी बतला दिया कि 'उनकी लड़की परीक्षा में पास होगई। घर पहुँचते पहुँचते ख़ूब अँधेरा हो गया, किन्तु तब भी हमारे मन से गोधूलि नहीं हटी थी।

लड़की पसन्द आगई, यह बात सुन कर माता बहुत प्रसन्न हुई। प्रबोध के मुँह से सुरमा के रूप का वर्णन सुनते सुनते घरवाले खाना-पीना तक भूल गये। हमसे भी पूछपाँछ हुई, किन्तु हम उन्हें सन्तुष्ट न कर सके। लड़की के नेत्र कैसे हैं, रङ्ग कैसा है, इन सब प्रश्नों का उत्तर हम ठीक ठीक न दे सके। हमारे हृदय में जिस सुनहली आभा की प्रतिमा का चित्र मुद्रित हो गया था, उसे हम शब्दों द्वारा न समझा सके।

घरवालों की बातचीत और हावभाव से मालूम पड़ता था कि विवाह की बात पक्की होगई है। हमारे हृदय में जो सुनहली आभा गोधूलि छोड़ गई थी उसमें हम इतने व्यस्त थे कि परीक्षाफल का उद्वेग भी जाता रहा।

हठात् पिता भी घर आगये। माता ने यथासाध्य नम्रता के साथ उनसे सब बातें कहीं, भावी पुत्रवधू के रूप-रङ्ग का भी यथासाध्य वर्णन किया, किन्तु वे पिता को मुग्ध न कर सकीं। वे रूप से रुपये को ज़ियादह मानते थे, इसलिए यह सम्बन्ध उन्हें बिलकुल नापसन्द हुआ। ख़ूब वाद-विवाद हुआ। हमारे मन की आनन्द-रागिनी इस कर्कश कोलाहल में मन ही मन मर कर चुप होगई।

माता ने रोने की शरण ली। वे एक प्रकार से ज़ुबान दे चुकी हैं। बात न रहने से क्या होगा? पिता कुछ कुछ

पसीजे भी, किन्तु पूरी तरह नहीं। आख़िरकार पिता के फुफेरे भाई राधारमण इस विपत्तिसागर में मल्लाहरूप से आ डटे। उन्होंने हँस कर माता को दिलासा देते हुए कहा—'भाभी, क्या चिन्ता है। देखो, मैं पाँच मिनट में सब ठीक किये देता हूँ। हमारे भाई साहब बड़े सीधे आदमी हैं, दुनियादारी क्या जानें। वैसे ही गोरखधन्धा कर रहे हैं'। पिता को उन्होंने किस तरह राज़ी किया, यह बात तब नहीं मालूम हुई, पीछे से पता लगा।

विवाह का दिन आ पहुँचा। माता ने बड़ी खुशी खुशी हमारा आरती करके हमें रवाना किया। घर में उस समय खूब चहल-पहल थी। सभी के कान सुरमा के सौन्दर्य का वर्णन सुनते सुनते थक गये थे, केवल नेत्रों की खूराक बाक़ी थी। आदमियों की इस उत्सुकता को देख कर हमारा मन विजयी की तरह आनन्द से भर गया।

गाँव कुछ ज़ियादह दूर न था, दिन छिपने से पहले ही पहुँच गये। पिता और चाचा गाड़ी में बैठे क्या परामर्श कर रहे हैं, उधर मन लगाते तो मालूम हो जाता, किन्तु हमारा मन तो उधर जाने को राज़ी ही न हुआ।

कन्यापक्ष के ग़रीब होने के कारण किसी को भी अधिक धूमधाम की आशा न थी। जितनी थी वह भी पूरी हुई या नहीं, सन्देह ही है। गाँव ही के दो चार रिश्तेदार मौजूद थे, इधर उधर दो एक मशालें तथा दीवालगीरें जल रही थीं। एक पुराना फटा हुआ शामियाना भी वहाँ की शोभा बढ़ा रहा था।

आदर-सत्कार की त्रुटि नहीं हुई। पिता और चाचा ने खूब गम्भीर भाव से आसन ग्रहण किया। कन्या के पिता हाथ जोड़ कर सबको चलने के लिए उठाने लगे।

स्त्रियों की रस्म के लिए हमें मकान के भीतर जाना पड़ा। वहाँ स्त्रियाँ खचाखच भरी हुई थीं। उत्साह और आनन्द का मानों समुद्र उमड़ रहा था। मालूम नहीं वरण (हाथ) किसने लिया। देखने में तो सुरमा की माता ही मालूम पड़ती थीं। अन्दर के कार्य से निवृत्त होकर हम सभा में आये।

सबके सामने कन्यादान होने से ही कृत्य पूर्ण होता है। जो एक मास पहले गोधूलि के समय चुपचाप हमारे हृदय में पहुँच गई थी उसी को आज कितना कोलाहल करके हमारे पास लाया जा रहा है!

सभा में सुरमा के आते ही पिता और चाचा आगे आकर खड़े हो गये। कन्या को सिर से पैर तक खूब ग़ौर से देख कर चाचा ने कहा, "कन्या के अङ्ग पर गहने दिखाई नहीं पड़ते, वे सब यहीं ले आइए। दस आदमियों के सामने ही देना अच्छा है।"

सुरमा के पिता ने क्षीण स्वर में कहा, "जितने देने की मुझ में शक्ति थी वे गहने तो कन्या पहने ही है।"

चाचाजी ने वज्र हँसी हँस कर कहा, "महाशय के साथ हँसी-दिल्लगी करने का सम्बन्ध तो है, किन्तु वह रिश्तेदारी क़ायम हो जाने के बाद कीजिएगा। अब गहने ले आइए जिससे यह शुभ कार्य निर्विघ्न समाप्त हो जाय।"

कन्या के पिता ने हाथ जोड़ कर कहा, "और अधिक देने की मुझ में शक्ति नहीं है। यह थोड़ा-बहुत जो कुछ है इसी को स्वीकार करके मेरा उद्धार कीजिए।"

चाचा की हँसी ओठों में ही लय होगई। उन्होंने कड़क कर कहा, "और कोई आदमी धोखा देने को नहीं मिला? एक तो बिना दहेज के ऐसा सुन्दर बी॰ ए॰ पास लड़का मिल गया। फिर भी सन्तोष नहीं। निराभरणा कन्या को सभा में लाते हुए तुम्हें लज्जा भी नहीं आई? वर की सोने की घड़ी-चेन कहाँ है? यदि आप अपनी ख़ैर चाहते हैं तो सब सामान निकाल कर ले आइए। आपकी यह ठगी हमसे नहीं चलेगी। वर अभी उठ कर चला जायगा।"

कन्या के पिता ने हमारे पिता के हाथ पकड़ लिये और गिड़गिड़ा कर कहा, "आपकी दोहाई है। इस तरह ग़रीब ब्राह्मण को न मारिए। मुझसे इसी तरह तय हुआ था।"

हमारे पिता तो पूर्ववत् चुप ही रहे। चाचा ने गरज कर कहा, "महाशय, बातचीत किससे हुई थी? हमें तो मालूम नहीं! दहेज नहीं मिलेगा, न सही। कन्या और वर के गहने तो सब मिलेंगे, यही सोच कर आये थे। नहीं तो क्या हमें और लड़की नसीब न होती! जाइए, देर न कीजिए।"

इसी समय कन्यापक्ष का कोई आदमी कह उठा, "कैसे

छोटे आदमी हैं, ज़ुबान देकर एक भले आदमी को इस तरह सताते हैं।"

मानों एक साथ दक्षयज्ञ भङ्ग होगया। "हैं! स्वयं धोखेबाज़ी करके और फिर इतना अपमान? चलो चलो, उठो उठो।" हड़बड़ा के सब आदमी उठ खड़े हुए। हमें भी दो आदमी वरासन से खींच कर बाहर ले आये। धक्कम-धक्का में दो चार दीवारगीरें भी झनझना कर गिर पड़ीं। अन्दर से स्त्रियों के रोने चिल्लाने की आवाज़ आकर पुरुषों के कोलाहल में मिल गई। दिन भर भूखे रहने और उत्तेजना से हमारा शरीर बेक़ाबू हो गया। तब भी हमने मुँह घुमा कर देखा कि सुरमा वेदी पर उसी तरह बैठी है। उसका घूँघट खिसक गया है और वह आँखें फाड़ फाड़ कर हमारी ही तरफ़ देख रही है। हमने उसे पल भर ही देखा होगा कि इतने में अँधेरे में जा पहुँचे।

हमारी गाड़ी घोड़े आदि सब दूर खड़े थे। इतनी जल्दी उनकी फिर ज़रूरत पड़ेगी, यह न जानने के कारण साईस वग़ैरह भी इधर-उधर चले गये थे। आदमी भेज कर उन्हें फिर बुलाने की कोशिश होने लगी। हमारे पिता और चाचा गरज गरज कर सैकड़ों गालियाँ देने लगे और इस तरह अपने तपे हुए मन को ठण्ढा करने लगे। केवल प्रबोध ही अकेला चुप था। शायद वह सुरमा का ख़याल करके दुःखित हो रहा था।

कुछ विश्राम मिलने के बाद हमारी खोई हुई बुद्धि और विवेचना फिर वापस आगई। हमने यह क्या किया? इन कठोर हृदयों की पाशविक लीला में हमने क्यों योग दिया? उसी अन्धकार में सुरमा की व्यथित दृष्टि हमें दिखाई पड़ने लगी। हमने अपने मन में कहा—निष्ठुर, बर्बर, क्या तुमने यह अच्छा किया?

सभी आदमी लौटने के प्रबन्ध में व्यस्त थे। हम उसी सुयोग में अपने दल से निकल आये। पिता और चाचा की नाराज़गी भी कोई वस्तु है, यह बात उस समय हम बिलकुल ही भूल गये। दौड़ते दौड़ते कुछ ही मिनटों में हम सुरमा के मकान के पास आ पहुँचे। दरवाज़े के पास आते ही हमने देखा कि अन्दर से दो आदमी आ रहे हैं और उनके मुख पर भोजन कर चुकने के चिह्न मौजूद हैं। उनमें से एक ने कहा, "कहाँ एक क्लर्क का लड़का और कहाँ राजा पार्वतीचरण राय! बी० ए० पास होने से क्या होता है? बहुत होता तो किसी स्कूल में मास्टर हो जाता। बस इतना ही न! और राजाबाबू, जिनके दरवाज़े पर दस हाथी बँधे हैं। एक दो गहनों के लिए ही तो इतनी गड़बड़ हुई न! अब लड़की का शरीर हीरे मोतियों ही से लदा रहेगा।"

एक और आदमी मुँह से चादर हटाता हुआ बोला, "राजाबाबू की अवस्था ज़रा अधिक है। सो बड़े आदमियों की अवस्था ही क्या? हमारा तो यह विश्वास है कि लड़की को देख कर बुड्ढे की राल टपक पड़ी। इसी लिए इसने सब बरातियों को धता बता दिया। उसी के नौकर की तो लड़की है, पहले ही ठीक कर लेता। लेकिन मालूम होता है कि पहले उसने लड़की को देखा नहीं था।"

बराती गाड़ी-घोड़े ठीक ही कर रहे थे कि हम भी लौट आये। घर पहुँचने में कुछ अधिक देर न लगी।

दो दिन बाद ही माता के रोने के स्रोत को बढ़ा कर हम कलकत्ते आगये। पास तो हो गये, पर अच्छे नम्बर में नहीं। एक नौकरी भी मिल गई, किन्तु एम० ए० होना भाग्य में नहीं था।

(३)

पिता के देहान्त के बाद कुछ दिनों तक माता मकान ही पर रहीं। हम स्कूल की नौकरी तथा प्राइवेट ट्यूशन करके किसी तरह दोनों जगह का ख़र्च चलाने लगे। किन्तु इस तरह बराबर डबल ख़र्च करना हमारी शक्ति के बाहर था और फिर ऊपर से प्रबोध की पढ़ाई का ख़र्च। इसी कारण अपने स्वामिगृह का मोह त्याग कर माता को कलकत्ते आना पड़ा। हमारे पोष्य कुटुम्बियों को भी बाध्य होकर दूसरी जगह अपना ठिकाना ढूँढ़ना पड़ा। क्योंकि अब हम उनका ख़र्च चलाने में असमर्थ थे।

गाँव का मकान यद्यपि टूटा-फूटा और पुराना था, लेकिन उसमें गुज़र के लिए काफ़ी जगह थी। प्रकृतिदत्त वायु और धूप की भी उसमें कमी न थी। किन्तु हम दोनों भाइयों ने प्राणपण से चेष्टा करके जो मकान कलकत्ते में लिया था उसमें सभी बातों का अभाव था। केवल मकान मालिक के लोभ का अभाव न था। इन सब बातों के होते हुए भी मेस के देखते वह अच्छा ही था। विधवा हो जाने

के कारण यद्यपि माता पहले की तरह अधिक हँसती बोलती न थीं तब भी वे कलकत्ते के इस अँधेरे मकान में कुछ न कुछ चाँदनी बनाये ही रखती थीं।

कलकत्ते में मनुष्यों का तो अभाव नहीं है, किन्तु बन्धुओं का अभाव है। हमारा मकान एक तङ्ग गली में है। गली के उस पार लाल रङ्ग से पुता हुआ एक बड़ा भारी मकान है और उसी के पास एक बड़ा बाग़ है। उस मकान का सदर दरवाज़ा तो सड़क पर है, किन्तु दास-दासियों के आने जाने के लिए गली की तरफ़ भी एक छोटा सा द्वार है। बाग़ में आने-जाने के लिए भी रास्ता है। हमारे छोटे भाई-बहनों ने बाग़ के मालियों के साथ खूब दोस्ती कर ली थी। वे प्रायः बाग़ से दो चार फल फूल ले आते थे। हम यह न जानते थे कि इस मकान में रहता कौन है। गली की तरफ़ की खिड़कियाँ बन्द रहती थीं।

एक दिन स्कूल से वापस आकर देखा कि तारा और मन्नू खूब मचल रहे हैं। सामनेवाले मकान में आज गाना और नाच है, वहाँ जाने के लिए वे ज़िद कर रहे थे। किन्तु माता उन्हें किसी तरह भी भेजने को राज़ी न थीं। प्रबोध के साथ दोनों लड़कों को चिड़ियाखाना दिखाने के लिए भेज कर हमने बड़ी मुश्किल से माता का पिण्ड छुड़ाया।

स्कूल से आकर आराम लेने का हमें ज़रा भी मौक़ा न मिलता था। कुछ जलपान करके और छड़ी चादर ले कर हम प्राइवेट ट्यूशन के लिए तुरन्त चल दिया करते थे। रोज़ की तरह हम आज भी ट्यूशन के लिए रवाना हुए। गली में आकर देखा कि बड़ी धूमधाम हो रही है। बाग़ के लहलहाते हुए हरे मैदान पर एक दरबारी खीमा खड़ा है। बिजली की चमक से सन्ध्या देश छोड़ कर भाग सी गई है। ख़ानसामों और दरबानों की दौड़धूप का कुछ ठिकाना ही नहीं है। कुर्सियाँ लगाने और खाने-पीने के सामान को ठीक करने का काम बड़ी सरगर्मी के साथ हो रहा है। हमें ज़ियादह रुकने का समय न था, अतएव हम अपने काम पर चले गये।

वापस आकर देखा कि मजलिस खूब ज़ोरों पर है। स्त्रियों का कण्ठ-स्वर बहुत ऊँचा उठा हुआ है। इत्र और गुलाबजल की सुगन्धि से रास्ता तक महक रहा है। तमाशाइयों की इतनी भीड़ है कि गली से होकर निकलना भी मुश्किल है। हमने देखा कि जो निमन्त्रित सज्जन दरवाज़े के सामने बैठे हैं उनमें से अनेक लोगों की अवस्था नाच और गान का उपभोग करने योग्य न थी। इन निमन्त्रित और अनिमन्त्रित सभी आदमियों ने वाह-वाह की आवाज़ से महल्ला भर सिर पर उठा रक्खा था।

जाने को रास्ता न मिलने के कारण हमें भी रुकना पड़ा। सारा मकान बिजली की रोशनी से जगमगा रहा था, अँधेरे का कहीं नाम-निशान तक न था। जो खिड़कियाँ कभी नहीं खुलती थीं वे भी आज खुली हुई थीं। अन्दर के प्रकाश से गली का अन्धकार भी ग़ायब हो गया था।

एकाएक एक स्थान पर हमारे नेत्र अटक गये। ऐं यह क्या! यह यहाँ कैसे? इस अजान पाषाणपुरी में यह हमारा चिरपरिचित प्रदीप कहाँ से चमक उठा? हमें यह मालूम ही न था कि यह हमारे इतने पास रहता है।

खिड़की का किवाड़ पकड़े जो इन्द्राणी मूर्ति खड़ी है वह निश्चय उस खँड़हर में देखी हुई सुरमा है, इस बात में हमें ज़रा भी सन्देह न हुआ। यद्यपि आज इसके सारे शरीर पर हीरे जवाहरात की अग्नि जल रही है, वह कोमल नवनीत-मुख सफ़ेद पत्थर की तरह कठिन हो गया है, उन्हीं काले काले नेत्रों से आज घृणारूपी बिजली गिरी पड़ती है, तब भी यह सुरमा ही है—इसमें हम भूल नहीं कर सके। गोधूलि की आभा में हमने उसे पहचाना था, किन्तु अँधेरे और उजियाले में हम उसे कहीं नहीं भूल सकते।

कुछ मिनट तक ज्वालामयी दृष्टि से बाग़ की तरफ़ देख कर सुरमा चली गई। उसके जाते ही खिड़की भी खट से बन्द होगई। पास ही खड़े एक आदमी से हमने पूछा—"महाशय, आज यहाँ क्या मामला है?" उसने कहा—"राजा पार्वतीचरण के बड़े पोते का आज अन्न-प्राशन है। इसी लिए इतनी ख़ुशी मनाई जा रही है। यह उन्हीं राजाबाबू के बड़े लड़के हैं।" हमने देखा कि राजाबाबू के बड़े पुत्र का रङ्ग-रूप-शरीर सभी ज़मींदार पुत्र के उपयुक्त है। सुरमा इनकी सौतेली मा है। उसी आदमी से हमने फिर पूछा, "और राजाबाबू कौन से हैं?"

"वे तो उठ बैठ भी नहीं सकते। यहाँ किसे दिखाऊँ? न मालूम वे किस तरह जीवित हैं। दो वर्ष हुए उन पर फ़ालिज गिरा था तभी से वे अपने दिन पूरे कर रहे हैं।"

सुरमा के नेत्रों में जो अग्नि देखी थी, मानों वह हमारे हृदय में लग गई। भीड़ को ठेलते ठेलते किसी तरह घर पहुँचे। इन उत्सव-मत्त अतिथियों का कोलाहल प्रेतों के चीत्कार की तरह हमें रात भर सुनाई पड़ता रहा।

पहले हमारा ख़याल था कि महल्ले की तरफ़ की खिड़कियाँ कभी खुलती ही नहीं। किन्तु अब उधर ध्यान रखने से कभी कभी वे खुली हुई दिखाई पड़ती थीं। लेकिन जिसको देखने के लिए दृष्टि रात दिन उसी तरफ़ लगी रहती थी वह केवल एक ही दिन दिखाई पड़ी। खिड़की खोल कर सिर्फ़ उसने हमारे मकान ही की ओर देखा था। तब क्या उसे भी पता लग गया है? पता लग भी गया तो क्या? वह राजरानी है और हम दिन भर खून पसीना एक करके महीने भर में कुल साठ रुपये कमानेवाले मास्टर हैं। किन्तु जितना मन को समझाते हैं उतना ही अपना अपराध मालूम पड़ता है—इ[illegible] रानीगिरी के अभिशाप के दायी—ज़िम्मेदार—हमीं हैं।

दिन किसी न किसी तरह कट ही जाते हैं, चाहे राजसी ठाठ से काटो चाहे उपवास करके। समय किसी के लिए नहीं रुकता। माता अब फिर पहले की तरह प्रसन्न रहती हैं। प्रबोध ने एम० ए० की परीक्षा दी है, उसके लिए एक सुन्दरी बहू की खोज है। बहुत सी कन्याओं की देख भाल की गई। किन्तु माता को कोई लड़की पसन्द आई तो प्रबोध को नापसन्द और कोई प्रबोध को पसन्द आई तो माता को नापसन्द। माता धन की भूखी न थी, वह चाहती थीं केवल सुन्दरी बहू।

आधा वैशाख बीत चुका है। हमारा स्कूल बन्द है, किन्तु प्राइवेट छात्र अभी नहीं गये हैं। उनके यहाँ कभी कभी हाज़िरी देनी पड़ती है। ज्वर-तप्त आकाश की ओर देख कर घर से बाहर निकलने को जी नहीं चाहता, किन्तु नौकरी की माया भी एक ही चीज़ है, जाना ही पड़ता है। आज हमारे पड़ोसी की काली लड़की का विवाह है। वर मिल गया है, किन्तु सुना है कि बेचारे को मकान गिरवी रखना पड़ा है। जब हम उधर होकर जा रहे थे तब हमने देखा कि बाहर का काठ का जीर्ण द्वार गेंदे के फूलों और केले के पत्तों से सजाया गया है। दरवाज़े पर नौबत भी बज रही है। हमारे भी घर भर का निमन्त्रण था। तारा और मन्नू तो सज-सजा कर चले गये थे, किन्तु हम दोनों भाइयों ने रात को जाने का निश्चय किया था। राजाबाबू के मकान से टसर का लँहगा पहने हुए एक दासी निकली। उसके हाथ में सामान की एक थाली थी और विचित्र तरह के कपड़े पहने हुए एक लड़की भी साथ थी। ग़रीब आदमी के निमन्त्रण की रक्षा करने के लिए इतना काफ़ी है। हमें ज़ियादह वक़्त न था, हमने अपना रास्ता लिया।

दो तीन लड़कों को पढ़ा कर जब घर को चले तब चिराग़ जल चुके थे। सीधे अपने पड़ोसी के यहाँ पहुँचे, घर तक न गये।

किन्तु यह क्या? एक मुहूर्त्त तक तो हमें यही ख़याल रहा कि हम सो रहे हैं और स्वप्नलोक के रास्ते से अपने जीवन की चिरस्मरणीय रात्रि में फिर गये हैं। बारातियों की वही पैशाचिक हड़ताल, लड़कीवाले की वही करुणापूर्ण विनती और स्त्रियों का वही करुण रुदन! किन्तु एक क्षण बाद ही बोध हुआ कि बङ्गाल में यह दृश्य दुर्लभ नहीं है। एक ही बार देख कर स्वप्न की शरण जाने की आवश्यकता नहीं।

जब हम वहाँ पहुँचे थे तब उस नाटक का पाँचवाँ अङ्क खेला जा रहा था। बाराती गोलमाल करके उठ गये। मालूम पड़ता है दहेज के रुपये कम पड़ जाने से ही यह नौबत पहुँची। भय के मारे लड़की वेदी पर औंधी पड़ी हुई है। उस तरफ़ किसी का ध्यान ही नहीं, सब आदमी इसी तलाश में हैं कि कोई वर मिल जाय। एक बार इच्छा हुई कि हम ही चले जायँ, ऐसा करने से हमारे पाप का प्रायश्चित्त हो जायगा। किन्तु जिसका उद्धार करने जा रहे हैं, उसके जीवन पर कितना भारी बोझ लद जायगा, यह सोच कर पाँव आगे को न उठे। उपकार करने के स्थान में कितना भारी अपकार होगा। पर हृदय को हिला देनेवाला यह रोना अधिक नहीं सुना जाता था।

इसी समय एक साँवले लड़के ने आगे बढ़कर कन्या के पिता से कहा, "आप इतने कातर न हों। यदि आप मुझे अपनी कन्या देना चाहें तो मैं तैयार हूँ।"

किस ऐन्द्रजालिक के मोहन स्पर्श से क्षण भर में ही सब रङ्ग बदल गया? मरे हुए आदमी के शरीर में मानों फिर प्राणों का सञ्चार हो गया। हम एक कोने में खड़े खड़े उस तरुण जादूगर की ओर देखने लगे। जी चाहा कि दौड़ कर उसे हृदय से लगालें। भाई, आज तक तुम्हारे लिए हमने जो कुछ कष्ट सहा वह आज सब सार्थक होगया। हमारे मन का एक बड़ा भारी बोझ आज तुमने हलका कर दिया।

सम्भव है इससे माता को दुःख हुआ हो—उनकी इसी एक आशा पर दो बार तुषारपात हुआ। विवाह करके बहू को साथ लेकर प्रबोध मकान पहुँचा। माता को उसने अपने सिवा किसी दूसरे से संवाद भेजना न चाहा। हम भी उसके पीछे ही आकर खड़े हो गये।

द्वार खोलते ही माता चौंक कर खड़ी होगईं। उन्हें मामले को समझने में देर न लगी। मुँह बना कर चुपचाप खड़ी रह गईं। प्रबोध भी नीचा मुँह करके चुपचाप खड़ा हो गया। उसकी निरपराधिनी बहू मानों नृशंस पुरुषों के सब अपराधों को अपने सिर लेकर ज़मीन से मिलने की कोशिश करने लगी।

इस तरह चुप खड़े खड़े साँस घुटने लगी। आख़िरकार हमीं ने आगे बढ़ कर कहा, "माँ, मेरे इस दीन मुख की ओर देख कर इसे क्षमा करो। ऐसा न करने से मेरे जीवन का अभिशाप दूर न होगा। मैंने एक गृहस्थ पुरुष के घर में आग लगाई थी। मेरे भाई ने आज उसका प्रायश्चित्त कर लिया। तुम्हारे छोटे लड़के ने आज तुम्हारे बड़े लड़के का उद्धार किया है, इसलिए तुम दुःख न करो।"

माता के नेत्रों से आँसू टपकने लगे। प्रबोध ने सस्त्रीक माता को प्रणाम किया। तारा और मन्नू भी हम लोगों को गम्भीर देख कर अब तक चुप थे। वे भी अब आकाश को बादलों से साफ़ देख कर फूले न समाये और नई बहू की अभ्यर्थना करके मकान के भीतर लिवा ले गये।

दूसरे दिन ही से बहू को देखने के लिए महल्ले भर की स्त्रियों ने आना जाना आरम्भ कर दिया। दिन भर मकान में स्त्रियों की भीड़ लगी रहती थी। इससे दिक्क़त हुई हमें। मकान छोटा होने के कारण आई हुई स्त्रियों से पर्दा हो नहीं सकता था, इसलिए हमें अधिकतर मकान के बाहर ही रहना पड़ता था।

रात होगई। अब बहू को देखने कौन आवेगा—इसी आशा से दिन भर घूम घाम कर मकान पहुँचे। दरवाज़े में घुसते ही हमने देखा कि हमारा ख़याल ग़लत था। हमारे सामने ही लाल साड़ी पहने एक मूर्त्ति खड़ी थी। साड़ी के अन्दर से सोने की आभा फूट फूट कर बाहर निकल रही थी। यद्यपि वह हमारी तरफ़ को पीठ किये खड़ी थी तो भी हमें उसे पहचानने में देर न लगी। हम उसी जगह खड़े रह गये। हमारी दीन कुटी में आज रानी ने पदार्पण क्यों किया?

सुरमा हमें न देख सकी। दरवाज़े के पास पहुँचते ही उसकी दासी ने आवाज़ देकर कहा, "अम्माजी कहाँ हैं? रानीजी बहू को देखने आई हैं।"

कहारी ने झटपट निकल कर कहा, "आइए रानीजी। बहू इसी घर में हैं। अम्माजी मन्दिर में आरती लेने गई हैं, आती ही होंगी। घर में चल कर बैठिए।" तारा भी बाहर आकर खड़ी होगई।

उन सबके घर में चले जाने के बाद हम भी दबे पाँव अपने कमरे में पहुँचे। प्रबोध के कमरे के पास ही हमारा कमरा है। बहू को देखने के लिए सुरमा के आने का मतलब हमारी समझ में कुछ न आया।

हमने सुना कि सुरमा अपनी दासी से कह रही है कि 'तू बाहर क्यों नहीं जाती?' उसके जाते ही हमारी कहारी भी उसके साथ चल दी। भोजनालय के बरामदे में बैठ कर दोनों बातें करने लगीं।

सुरमा का स्वर फिर सुनाई दिया। वह स्वर इतना तीव्र और ज्वालामय था कि उसे सुन कर हम चौंक पड़े। बहू को लक्ष्य करके वह बोली—"देखूँ देखूँ, घूँघट तो खोलो, तुम कितनी रूपवती हो—देखूँ? तुम इस घर में किस ज़ोर से चली आई? तुम क्या मुझसे भी अधिक सुन्दरी हो? जो मेरी अवहेला करके मुझे आग में ढकेल आये, वही अपने आप तुम्हें सिर पर चढ़ा कर ले आये?

किस गुण से ऐसा हुआ ? बहुत से रुपये दिये हैं या हीरे के गहने ? क्यों, कहाँ हैं ? निकालो, जल्दी निकालो। एक बार मैं देख तो लूँ कि तुम मुझसे किस बात में श्रेष्ठ हो।"

तारा तो डर कर रोने लगी। हम झटपट प्रबोध के कमरे के सामने पहुँचे। बहू गुड़िया मुड़िया हुई चौकी के एक कोने पर बैठी थी, भय के मारे उसका मुख सूख गया था। उसी के सामने सुरमा खड़ी थी उसके काले काले नेत्रों से मानों आग की चिनगारियाँ निकल रही थीं।

हमने अन्दर घुस कर आवाज़ दी—"सुरमा।" हमारी आवाज़ से चौंक कर उसने हमारी तरफ़ देखा। फ़ौरन ही झपट कर वह हमारे सामने आकर खड़ी होगई और गुर्रा कर बोली, "बोलो, तुम्हीं बोलो। तुम्हारी बहू तो बोलना ही नहीं जानती। किस बात में अच्छा देखा—रूप में या गुण में ?"

हमने कहा, "सुरमा, तुम भूल रही हो। हमने विवाह नहीं किया है, यह हमारे भाई प्रबोध की बहू है।"

सुरमा चीत्कार करके रो उठी, "तुमने विवाह नहीं किया तो इससे क्या ?"

रोने की आवाज़ सुन कर उसकी दासी दौड़ कर आगई। सुरमा का सिर ढकते ढकते उसने हम से कहा, "बाबूजी, कुछ ख़याल न कीजिएगा। रानीजी की तबीयत कई दिन से बहुत अच्छी थी, इसी लिए साहस करके यहाँ ले आई। यहाँ आकर यह कर बैठेंगी, यह नहीं मालूम था। मुझसे सिर्फ़ इन्होंने इतना ही कहा था—'बिधू, हमें बहू दिखाने के लिए ले चल।'" "मैंने सोचा क्या हर्ज है दिखा ही लाऊँ। सो यहाँ आकर इन्होंने यह गड़बड़ी मचा दी—दैया रे दैया।"

दासी सुरमा को पकड़ कर सदर दरवाज़े की तरफ़ ले चली। हमने दासी से पूछा, "इनकी कितने दिन से यह हालत है ?"

दासी ने दरवाज़े से निकलते निकलते कहा, "मुझे आये दो वर्ष हुए, मैं तो इन्हें इसी हालत में देख रही हूँ। राजाबाबू ने न मालूम कितनी दवादारू कराई, कोई भी कारगर न हुई।"

हम अपने कमरे में वापस आगये। आह! हमारे पाप का बोझ हलका होने वाला नहीं है। वह दिन प्रति-दिन बढ़ता ही जाता है। अब सतयुग नहीं है कि एक के पुण्य से दूसरे का उद्धार हो जाय। किन्तु प्रायश्चित्त का उपाय कौन बतावेगा ?

दिन उसी तरह कटते हैं। एकाएक एक दिन सामने के मकान में कुछ गोलमाल सुनाई दिया। थोड़ी ही देर में सामने के बड़े दरवाज़े पर आदमी जमा होने लगे। नीचे जाकर हमने एक आदमी से पूछा, "क्या हो गया ?" मालूम हुआ कि गत रात्रि में हैज़े से सुरमा का देहान्त होगया। उसकी श्मशानयात्रा के आयोजन के लिए यह जमाव है।

हम उसी जगह खड़े रहे। जीवन के रास्ते में एक साथ न चल सके। मरने के रास्ते में कुछ आगे पहुँचा कर आगये*।

'प्रवीण'

प्राचीन भारतीय नरेशों की जीवन-चर्या।

कालिदास के स्थिति-काल का निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। अधिकांश विद्वानों की यह सम्मति है कि कालिदास गुप्तवंश के राजत्व-काल में हुए, पर अभी हाल में कुछ विद्वानों ने यह प्रमाणित किया है कि ईसा के पहले प्रथम शताब्दी में कालिदास का आविर्भाव हुआ था। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि कालिदास के समय में भारतवर्ष खूब उन्नतावस्था में था। कला-कौशल और वाणिज्य-व्यवसाय में तो वह खूब बढ़ा-चढ़ा था ही, उसकी राज-शक्ति भी प्रचण्ड थी। सभ्यता में वह संसार के सभी देशों में अग्रगण्य था। कालिदास के काव्यों में उसी सभ्यता का विशद चित्र अङ्कित

---

* श्री सीता देवी, बी० ए० की एक बँगला कहानी का अनुवाद।

किया गया है। यहाँ हम उन्हीं के वर्णन के आधार पर प्राचीन भारतीय नरेशों की जीवन-चर्य्या का दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु-काल तक भारतीय नरेश अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करते थे, उनकी शासन-प्रणाली कैसी थी, उनके अन्तःपुर में किस प्रकार के आमोद-प्रमोद होते थे, प्रजा के साथ उनका कैसा व्यवहार था आदि बातों की चर्चा यहाँ की जायगी।

भारतीय नरेशों के लिए निस्सन्तान होना बड़ा ही क्लेशदायक था। उनका विश्वास था कि विशुद्ध सन्तति से इह-लोक और पर-लोक, दोनों में, सुख की प्राप्ति होती है। पितृ-ऋण से किसी मनुष्य का उद्धार तभी हो सकता है जब वह अपने पीछे कोई सन्तान छोड़ जाय, जो पितरों को पिण्ड-दान और तर्पण करे। पुत्र-प्राप्ति के लिए लोग तरह तरह के उपाय करते थे। उसके लिए यज्ञों तक का विधान था। यदि दैव की कृपा से राजमहिषी गर्भवती हुई तो उससे राजा और प्रजा दोनों को अपार आनन्द होता था। गर्भवती रानी की सेवा में बराबर नौ महीने तक कुशल और विश्वासपत्र राजवैद्य लगे रहते थे। उसकी सभी इच्छायें पूरी की जाती थीं। बालक के उत्पन्न होने पर कुलगुरु अथवा पुरोहित आकर उसका जात-कर्म आदि संस्कार कराता था। पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में खूब उत्सव किया जाता था। आमोद-प्रमोद में नृत्य और गान मुख्य था। राजे महाराजे अपने क़ैदियों को छोड़ कर हर्ष प्रकट करते थे। दान भी खूब दिया जाता था। बच्चे के लिए एक धाय रक्खी जाती थी। जब बालक कुछ बड़ा हो जाता तब उसका चूड़ा-कर्म होता। इसके बाद विद्यारम्भ कराया जाता था। पहले लिपि और संख्या-ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। ११ वर्ष की अवस्था में क्षत्रियों का उपनयन संस्कार होता था। तब तक शिक्षा घर ही पर दी जाती थी। नदी के द्वारा जैसे जलचर जीव समुद्र के भीतर घुस जाते हैं उसी प्रकार वर्णमाला की शिक्षा पाकर राजकुमार का प्रवेश शब्द-शास्त्र में हो जाता था। यज्ञोपवीत हो जाने के बाद राजकुमार को पढ़ाने के लिए बड़े बड़े विद्वान् नियुक्त होते थे। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति, इन चार विद्याओं की शिक्षा दी जाती थी। अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा देने के लिए एक दूसरा ही श्रेष्ठ योद्धा नियुक्त होता था। राजकुमार को ब्रह्मचारी बन कर शिक्षा-ग्रहण करनी पड़ती थी। शिक्षा-काल में उस को हिरन का चर्म पहनना पड़ता था। शिक्षा-काल समाप्त हो जाने पर गो-दान संस्कार होता था। तब विवाह होता था। पर राजकुमार की शिक्षा का अन्त यहीं न हो जाता था। सच पूछा जाय तो उसकी शिक्षा तभी प्रारम्भ होती थी जब राजकुमार युवराज के पद पर बैठाया जाता था। तब उसे राज्य के भिन्न भिन्न विभागों में, बड़े बड़े अधिकारियों की देख-रेख में, भिन्न भिन्न विषयों का अनुभव कराया जाता था। इसके बाद उसे सेना-नायक का पद सौंपा जाता था।

राजकुमार का विवाह खूब धूम-धाम से होता था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के समय में कन्या का पिता वर की खोज नहीं करता था, कम से कम वह वर की याचना तो नहीं करता था। बारात बड़ी धूम से जाती थी। गृह-प्रवेश करने के बाद वर को आसन दिया जाता था। फिर मधुपर्क और अर्घ्य आदि से उसकी पूजा की जाती थी। इसके बाद उसे रमणीय रत्न और रेशमी कपड़ों का एक जोड़ा दिया जाता था। वर को कपड़े पहना कर लोग वहाँ पहुँचाते थे जहाँ वधू बैठी रहती थी। वहाँ पुरोहित पहले हवन करता था। हवन समाप्त होने पर उसी अग्नि को विवाह का साक्षी करके वर और वधू का ग्रन्थि-बन्धन कर दिया जाता था। फिर पाणि-ग्रहण होता था। कन्या-दान हो जाने के

बाद वे दोनों प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे। प्रदक्षिणा ख़तम होने पर पुरोहित वधू को हवन करने की आज्ञा देता था। तब वधू अग्नि में धान की खीलें डालती। इसके बाद वर और वधू के सिर पर गीले अक्षत डाले जाते थे। पहले स्नातक गृहस्थ अक्षत डालते, फिर बन्धु-बान्धव, फिर सौभाग्यवती पुरवासिनी स्त्रियाँ। घर लौट आने पर विवाह का कङ्कण खोला जाता था।

राजा की मृत्यु हो जाने पर युवराज का राज्याभिषेक संस्कार होता था। अभिषेक के लिए चार स्तम्भ का एक मण्डप खड़ा किया जाता था। उसके बीच में एक ऊँची सी वेदी बनाई जाती थी। वहाँ पैतृक सिंहासन रक्खा जाता था। युवराज उसी पर जाकर बैठता था। तब तीर्थों के जल से भरे हुए सोने के कलश ले लेकर सब मन्त्री सामने खड़े होते। अभिषेक का आरम्भ होते ही तुरहियाँ बजाई जातीं। सबसे पहले दूब, जौ के अङ्कुर, बरगद की छाल और कोमल पल्लव थाली में रख कर बूढ़े बूढ़े सजातीय राजा की आरती उतारते। तदनन्तर वेदवेत्ता ब्राह्मण पुरोहित को आगे करके, अथर्ववेद का मन्त्र पढ़ कर, राजा के सिर पर जल की धारा छोड़ते। अभिषेक की क्रिया समाप्त हो जाने पर राजा ब्राह्मणों को अपार धन देता। क़ैदी और अपराधी बन्धन से उन्मुक्त किये जाते। गाय-बैल और तोते आदि पक्षी तक छोड़ दिये जाते थे।

कालिदास ने अपने रघुवंश में सभी राजाओं के दिग्विजय का उल्लेख किया है। इससे यह जान पड़ता है कि उस समय प्रत्येक हिन्दू राजा के चित्त में आसमुद्र क्षितीश बनने की अभिलाषा रहती थी। सारे देश को अपने आधिपत्य में लाकर उसे समृद्धिशाली और सुखी बनाना वह अपना कर्तव्य समझता था। जब राजा युद्ध के लिए प्रयाण करता तब पुरोहित आकर पवित्र मन्त्रोच्चारणपूर्वक राजा के शरीर पर जल छिड़कता। फिर वाजि-नीराजना की विधि की जाती थी और हवन किया जाता था। जब राजा जाने लगता तब उस पर पुरवासिनी स्त्रियाँ धान की खीलें बरसातीं। दिग्विजय कर लेने के बाद यज्ञ किया जाता था। इस प्रकार के यज्ञ हिन्दुओं के असीम राजनैतिक ज्ञान के परिचायक हैं। इस सम्बन्ध में वाजपेय और राजसूय यज्ञ ध्यान देने योग्य हैं। राजसूय यज्ञ करने से राज्य-पद मिलता था, पर वाजपेय करने से सम्राट्-पद मिलता था।

कालिदास ने यत्र तत्र राजाओं की भोग-विलासिता का वर्णन किया है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने राजा के अविश्रान्त परिश्रम का भी उल्लेख किया है। अभिज्ञान-शाकुन्तल में कञ्चुकी ने कहा है—'अथवाविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकारः। कुतः।

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव
रात्रिं दिवं गन्धवहः प्रयाति।
शेषः सदैवाहितभूमिभारः
षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥'

इससे यह जाना जाता है कि प्राचीन काल में भारतीय नरपति राज-काज में अपना कितना अधिक समय लगाते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय राजा यथाकाल प्रबोधी थे। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के अनुसार राजा को तीन बजे उठ जाना चाहिए। जब राजा के सो कर उठने का समय होता तब सूत-पुत्र आकर उसका स्तुति-गान करते। राज-सभा में जाने के पहले राजा शृङ्गार करता था। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय राजाओं को लम्बे केश रखने का बड़ा शौक था। उनका यह केश-कलाप मोतियों की माला से बाँध दिया जाता था। शरीर पर चन्दन का लेप करके उस पर गोरोचन से बेल-बूटे बनाये जाते थे। उनकी पोशाक में दो ही वस्त्र रहते थे, एक पहनने के लिए और दूसरा ओढ़ने के लिए। राजा रत्न-जटित मुकुट सिर पर धारण करते थे, कानों में कुण्डल पहनते थे। गले

में पहनने के लिए मोतियों और रत्नों के हार थे। भुजाओं में केयूर या अङ्गद पहने जाते थे। हुएन-सांग ने लिखा है कि राजाओं के सिंहासन ऊँचे और तङ्ग होते थे। उनमें मोतियों की झालरें लगी रहती थीं। सिंहासन के नीचे रत्नों से भूषित एक पाद-पीठ रक्खा रहता था। राजा उसी पर पैर रखता था। सामन्त और उच्चपदाधिकारी उसी पर सिर रख कर प्रणाम करते थे। राजा शासक था और न्यायाधीश भी। धर्म-शास्त्र में पारङ्गत पण्डितों के साथ बैठ कर प्रति दिन वह स्वयं ही वादियों और प्रतिवादियों के अभियोगों को सुनता और उनका फ़ैसला करता था। प्रति दिन मन्त्रियों के साथ गुप्त मन्त्रणायें करने के लिए एक सभा होती थी। उसमें पहले वाद-विवाद होता था और तब कोई विचार स्थिर किया जाता था। ये सब बातें बड़ी गुप्त रक्खी जाती थीं। गुप्त भेद लेने के लिए जासूस रक्खे जाते थे। उनका काम शत्रुओं ही की ख़बर रखना नहीं था, किन्तु मित्रों का भी हाल-चाल देखते रहने की उन्हें आज्ञा थी। राजा को प्रति दिन अपनी प्रजा को दर्शन देना पड़ता था। जान पड़ता है, इसके लिए एक झरोखा बना रहता था। जब अग्निवर्ण अन्तःपुर में ही रहने लगा तब मन्त्रियों से बाध्य किये जाने पर उसे अपना पैर एक खिड़की में लटकाना पड़ा। प्रजा ने उसके पैरों ही के दर्शन से सन्तोष कर लिया।

राजा प्रायः अपनी राजधानी में ही रहा करते थे। नगर ऋद्धि-सिद्धि-सम्पन्न होते थे। उसके चारों ओर एक परकोटा घिरा रहता था। वहाँ बड़ी बड़ी ऊँची अट्टालिकायें बनी रहती थीं। राज-मार्ग ख़ूब चौड़े और साफ़ होते थे। उन पर पानी का छिड़काव किया जाता था। बावलियों की संख्या अगण्य थी। घर के भीतर दीवालों पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी। भारतीयों को बाग़-बग़ीचे लगाने का बेहद शौक था। बाग़ों में स्त्री-पुरुष घूमने जाते थे। प्रत्येक नगर के आस-पास बाग़ बने रहते थे और उनमें वसन्तोत्सव के समय लोगों की ख़ूब भीड़ होती थी। इन बाग़ों के सिवा सभी श्रीमानों के घरों में पुष्पोद्यान होते थे। जब गरमी ख़ूब पड़ने लगती थी तब अमीर ऐसे मकानों में रहते थे जिनमें जल के फ़ौवारे चला करते थे। फ़र्श पर चन्दन का छिड़काव किया जाता था। फूलों की शय्या बनाई जाती थी। नगर में सैकड़ों बड़े बड़े मन्दिर थे। उनमें देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित थीं जिनकी पूजा-अर्चना बड़ी धूमधाम से की जाती थी।

राजाओं को शिकार खेलने का भी ख़ूब शौक था। राजा राजसी ठाठ के साथ शिकार खेलने के लिए निकलता था। उसके साथ कितने ही शिकारी और कर्मचारी जाते थे। शिकार खेलने के लिए शिकारी कुत्ते पाले जाते थे। कभी कभी राजा के साथ कुछ स्त्रियाँ भी जाती थीं। मेगास्थनीज़ ने भी लिखा है कि शिकार के समय चन्द्रगुप्त को सैकड़ों स्त्रियाँ घेरे रहती थीं। अभिज्ञान-शाकुन्तल में ऐसी स्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

राजाओं का अन्तःपुर सौन्दर्य और विलास का निवास-स्थान था। अन्तःपुर में द्वार-रक्षक का पद कञ्चुकी को दिया जाता था। जब राजा अन्तःपुर में हो तब उससे भेंट करने के लिए कञ्चुकी के द्वारा ख़बर भेजनी पड़ती थी। आवश्यक काम होने पर मन्त्री अन्तःपुर में जा सकता था। राजाओं में बहुपत्नी-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। सभी राजाओं की एकाधिक रानियाँ होती थीं। इनके सिवा दासियाँ भी वहीं रहा करती थीं। अन्तःपुर में सदैव आमोद-प्रमोद होते रहते थे। नृत्य और सङ्गीत की धूम मची रहती थी। इसकी शिक्षा देने के लिए बड़े बड़े कला-कोविद नियुक्त होते थे। वाद्यों में मृदङ्ग और

वीणा का प्रचार था। स्त्रियाँ वीणा ही बजाया करती थीं। चित्र-कला में भी वे दक्ष होती थीं। स्त्रियाँ साड़ी पहना करती थीं। चोली का भी प्रचार था। पर्दे का रवाज नहीं था। तो भी बाहर निकलने पर स्त्रियाँ मुँह पर घूँघट डाले रहती थीं। उनके अलङ्कारों में काञ्ची और नूपुर मुख्य थे। वे आँखों में कज्जल और पैरों में महावर लगाती थीं। केशों को फूलों की माला से बाँधा करती थीं। फूलों के गहने पहनना उन्हें खूब पसन्द था। मदिरा का प्रचार था। ऐसा जान पड़ता है कि कालिदास के समय में शराब पीने की आदत खूब बढ़ गई थी। स्त्री-पुरुष दोनों खुल्लमखुल्ला शराब पीते थे।

कालिदास के समय में सामाजिक व्यवस्था वैसी ही थी जैसी आज-कल है। हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मणों का बड़ा मान और आदर था। प्रत्येक वर्ण के मनुष्य अपने ही वर्ण में विवाह करते थे। सती की प्रथा का ज़ोर नहीं था। मिट्टी के बर्तन भी काम में लाये जाते थे। स्पर्शास्पर्श का विचार था।

राज्य-शासन का समस्त भार राजा ही पर था। वही अपने विस्तृत राज्य का निरीक्षण करता था। अपनी प्रजा के साथ राजा सदैव सद्व्यवहार करता था। शासन कठोरता से नहीं किया जाता था। राज्य की आमदनी का मुख्य द्वार भूमिकर था। उपज का छठा हिस्सा भूमिकर के रूप में लिया जाता था। प्रजा सन्तुष्ट और सुखी थी। वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नतावस्था थी। बड़े बड़े व्यापारी जहाज़ों पर चढ़ कर दूर दूर देश जाते और वहाँ व्यापार करते। चोरों और डाकुओं का कम भय था। चोरों को प्राण-दण्ड दिया जाता था। सोने के सिक्कों का प्रचार था। राज्य-कर्मचारी घूस लिया करते थे। सेना-विभाग की अच्छी व्यवस्था थी। सेना के चार भाग थे—पैदल, सवार, रथ और हाथी। शिक्षा का अच्छा प्रचार था। राजा विद्वानों का आदर करते थे।

भारतीय सभ्यता का यही चित्र कालिदास ने अङ्कित किया है। इस लेख के सङ्कलन करने में हमने द्विवेदीजी के हिन्दी-रघुवंश से सहायता ली है।

गङ्गाधरलाल श्रीवास्तव.

कवि-रहस्य।
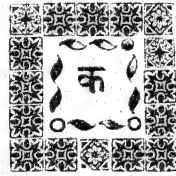
कवि होना बड़ा कठिन माना गया है। उसके लिए ईश्वर-प्रदत्त शक्ति चाहिए। कहावत प्रसिद्ध है कि कवि बनाया नहीं जाता, वह जन्म लेकर आता है। तो भी अभ्यास से लोग कवित्व-पूर्ण पद्यों की रचना कर सकते हैं। यह सच है कि ऐसी पद्य-रचना से कोई कवियों की पङ्क्ति में नहीं बैठ सकता। पर सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उसकी अच्छी क़द्र होती है। इसलिए वह सर्वथा निरर्थक नहीं कही जा सकती। हिन्दी के पत्रों में जो कवितायें छपती हैं उनके विषय में हम राय देने का साहस नहीं कर सकते। पर अँगरेज़ी पत्रों के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि वे ऐसी रचनाओं की क़द्र करते हैं जो चटपटी हों। वहाँ करुण-रस की अपेक्षा हास्य-रस का आदर अधिक है। यह उचित भी है। भला, यह बात कौन पसन्द करेगा कि हम पत्र तो उठावें मन बहलाने के लिए, पर पढ़ते ही रोने लगें। इँग्लैंड में एक स्त्री-कवि, मिस जेसी पोप की पद्य-रचना ऐसी होती है कि पढ़ने में तबीयत लग जाती है। अनोखी बातों को पद्य-बद्ध करने में वे बड़ी निपुण हैं। उन्होंने एक लेख में अपने कला-कौशल का रहस्योद्घाटन किया था। उन्होंने यह बात बतलाने की चेष्टा की थी कि जन्म-सिद्ध कवित्व-शक्ति के अभाव में भी

लोग चाहें तो कवि हो सकते हैं, कम से कम पद्य-रचना करके कुछ कमा सकते हैं। जब हमने यह लेख पढ़ा तब हमारी यह इच्छा हुई कि हम इसका मर्म पाठकों को सुना दें। सम्भव है, इससे किसी का कुछ उपकार हो जाय। पर अब हम सुनते हैं कि कलकत्ते में किसी उदारचेता सज्जन ने एक दूकान खोल दी है, जहाँ घर बैठे लोग कवि बना दिये जाते हैं। यह बड़ा अच्छा हुआ। कदाचित् यही कारण है जो अब हिन्दी के समाचार-पत्रों में कविताओं की खूब धूम रहती है।

पाश्चात्य देशों में पत्र-सम्पादकों का यह एक नियम हो गया है कि ज्यों ही किसी का कुछ नाम हुआ त्यों ही वे उसका रहस्य जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्यों के सभी कृत्यों में कुछ न कुछ रहस्य छिपा रहता है। यदि हम वह रहस्य जान लें तो उससे हम पूरा लाभ उठा लें। यह जानने की हमारी बड़ी इच्छा है कि हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि किस तरह कविता-रचना करते हैं। उनकी कविता-कामिनी का निवास-स्थान हृदय में है या मस्तिष्क में? वे भावों के उद्रेक से कविता लिखते हैं या मस्तिष्क की उत्तेजना से? अपनी रचना में उन्हें कभी अड़चन भी होती है कि नहीं? यदि कभी किसी तरह की अड़चन होती है तो वे उसे किस तरह पार करते हैं? किन्तु ये सब बातें जानने का कोई उपाय नहीं। अतएव वर्तमान हिन्दी-कविता का रहस्योद्घाटन करना सम्भव नहीं। एक बार हमें उसका आभास ज़रूर मिला था। हिन्दी के एक पत्र में कवि नाम का एक चित्र प्रकाशित हुआ था। उसमें दिखलाया गया था कि सरोवर के किनारे बैठ कर एक कवि कविता लिख रहा है। पर हम नहीं कह सकते कि हिन्दी के सभी कवि इस प्रथा का अनुकरण करते हैं। खैर, हिन्दी के कवि अपने कला-कौशल गुप्त ही रक्खें। यहाँ हम अपने पाठकों को मिस जेसी पोप के कला-कौशल का रहस्य बतलाते हैं। यह आप उन्हीं के मुख से सुनिए। पर उनके कथन में हमने जगह जगह पर अपनी ओर से कुछ लिख दिया है। उसका उत्तरदायित्व हम पर है।

"सम्पादक महोदय ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं पाठकों को बतलाऊँ कि मैं किस तरह कविता लिखा करती हूँ। भला, यह भी किसी तरह बतलाया जा सकता है। कवि तो ईश्वरीय शक्ति की प्रेरणा से भावोन्मेष में कविता की रचना करता है। यदि मुझमें भी ईश्वरीय शक्ति का कुछ अंश होता तो मैं सम्पादक की इस प्रार्थना को अपमान-जनक समझती। पर बात यह है कि मुझमें ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा नहीं है। मैं तो तुक्कड़ हूँ। इसलिए सम्पादक महोदय का आज्ञा-पालन करना मेरे लिए दुष्कर नहीं है। सच तो यह है कि मेरी कला बड़ी सरल है, मुझे आश्चर्य इसी बात का है कि सभी लोग कवि क्यों नहीं हो जाते। पद्य-रचना से सबसे बड़ा लाभ यह है कि समय अच्छी तरह कट जाता है। जहाँ तबीयत घबराने लगी वहाँ एक कोने में बैठ कर कविता लिखने लगे। बस, समय कट गया। दूसरी बात यह कि अपने मित्रों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने का सबसे सुगम उपाय यही है और, सामयिक पत्रों के सम्पादकों की दया से, इससे अर्थ की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार यह पद्य-रचना चतुर्वर्ग-प्राप्ति का साधन है।

कवियों के लिए दो चीज़ों की बड़ी ज़रूरत है, एक तो बढ़िया फ़ाउन्टेन पेन, दूसरा कोरा काग़ज़। जो अभी छोटे कवि हैं उन्हें चाहे एकाध चीज़ की और ज़रूरत पड़े (उदाहरण के लिए एक कोश और मस्तिष्क)। पर प्रायः ऐसा होता है कि कोरे काग़ज़ पर दीर्घ-काल तक दृष्टि जमाये रहने से कविता के रूप में कुछ न कुछ प्रकट हो ही जाता है। काग़ज़ और क़लम के बाद कवि के लिए एकान्त स्थान होना चाहिए, मात्रा और छन्द का

ज्ञान होना चाहिए और मस्तिष्क में शब्दों का भाण्डार होना चाहिए, जिससे बार बार कोश देखने की ज़रूरत न पड़े। इसके साथ उसमें अदम्य उत्साह भी होना चाहिए। कवियों को तरह तरह की अड़चनों से सामना करना पड़ता है। उनसे घबड़ा कर कविता करना छोड़ नहीं देना चाहिए।

सबसे पहले कवि को यही सोचना पड़ता है कि क्या लिखूँ। जिसको यह सोचने की ज़रूरत पड़े उसमें यह सोचने की भी योग्यता होनी चाहिए कि क्या न लिखूँ। अर्थ की सिद्धि तभी होती है जब सम्पादकों के बाज़ार में जिन विचारों की क़द्र नहीं उन्हें दूर करने की शक्ति हो। कवि सिर्फ़ उन्हीं विचारों को पद्य-बद्ध करे जिनकी बिक्री होती है। कभी कभी मस्तिष्क में बिजली की तरह कोई विलक्षण विचार चमक उठता है। परन्तु ज्यों ही उसे काग़ज़ में व्यक्त करो, उसकी चमक जाती रहती है। कभी कभी विचार इधर से आता है और उधर से निकल जाता है। विचार बड़े ही चपल होते हैं। मैं तो यह समझती हूँ कि इन मछलियों को फन्दे में फँसाना सहज नहीं है। एक बार मुझे एक कविता के अन्तिम दो चरण बनाने थे। मुझे एक विचार की ज़रूरत थी। मैं फन्दा लिये बैठी ताक रही थी, यह आया, आ गया, तुरन्त ही फन्दे में फसाना चाहा। इतने में किसी ने बाहर से दरवाज़े को खटखटाया। मछली भाग गई। मैंने विरक्त होकर दरवाज़ा खोल दिया। छोटे छोटे कवियों को ऐसी ही बाधाओं का सामना करना पड़ता है। इसके लिए एकान्त स्थान की बड़ी ज़रूरत है।"

छन्द और मात्रा के साथ ही शब्दों की गति का भी ज्ञान बड़ा आवश्यक है। कहानी प्रसिद्ध है कि किसी ने एक जाट से कहा, "जाट रे जाट, तेरे सिर पर खाट"; जाट ने उत्तर दिया 'तेरे सिर पर कोल्हू'। उस आदमी ने कहा, "भाई, तुक तो नहीं मिला।" जाट बोला, "न मिले। मुझे क्या परवा।" पर कवि को इसकी परवाह करनी पड़ती है। इसके लिए उसे अपने कानों को शिक्षा देनी चाहिए।

लोग कहा करते हैं कि 'बात अनोखी चाहिए भाषा चाहे जैसी होय।' पर यह बात ठीक नहीं है। विचारों के लिए कोई कवि नहीं रुकता, रुकता है तो भाषा के कारण। हमारा यह ख़याल है कि मनुष्य के मस्तिष्क के दो भाग हैं, एक गद्य-भाग और दूसरा पद्य-भाग। बात पहले गद्य-भाग में आती है, फिर वह पद्य-भाग में जाती है और तब उसका रूप दिव्य हो जाता है। 'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' गद्य-भाग का है और पद्य-भाग में उसका रूप हो जाता है 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः।' अच्छा, अब एक उदाहरण लीजिए।

गद्य-भाग—यह एक वृक्ष है। इसका नाम शाल है। देखो, यह कितना ऊँचा है, ज़मीन को फाड़ कर यह आकाश को छू रहा है। यहाँ चिड़ियाँ बसेरा करती हैं। यह खूब हरा-भरा है। इसे देख कर आँखें ठण्डी हो जाती हैं। इसके नीचे मुसाफ़िर ठहर कर विश्राम करते हैं। यह ख़ूब मज़बूत झाड़ है। हवा इसे गिरा नहीं सकती। इसकी सुगन्धि हवा में फैल रही है। आओ, इस झाड़ को हम प्रणाम करें।

यदि हम इसे किसी पत्र-सम्पादक के पास भेजें तो वह इसे कूड़ा-कचरा समझ कर फेंक देगा। परन्तु जब हम इसे अपने मस्तिष्क के पद्य-भाग में भेजते हैं तब देखिए, इसका रूप कितना दिव्य हो जाता है। जो पढ़ेगा वही मुग्ध हो जायगा।

पद्य-भाग—

बहु कलकण्ठ खगों के आश्रय, पोषक या प्रतिपाल प्रणाम।
भव-भूतल को भेद गगन में उठनेवाले शाल, प्रणाम।
हरे भरे, आँखों को शीतल करनेवाले, तुम्हें प्रणाम।
छाया देकर पथिकों का श्रम हरनेवाले तुम्हें प्रणाम।
अटल अचल, न किसी बाधा से डरनेवाले, तुम्हें प्रणाम।
शुद्ध सुमन-सौरभ समीर में भरनेवाले, तुम्हें प्रणाम।

यह एक उत्कृष्ट कविता है। कविता में जो जो गुण होने चाहिए वे सब इसमें हैं। इसमें माधुर्य है, भाषा-सौष्ठव है और वह भाव है जो पाठक को क्षण भर पृथ्वी से हटा कर ऊँचे ले जा सकता है।

कविता का प्रधान गुण है भाव और भाषा की सरलता। छोटे कवियों के लिए यह सबसे बड़ा आवश्यक गुण है। आपको जो कुछ कहना हो साफ़ साफ़ कह दीजिए। मिस जेसी पोप ने यह बिलकुल ठीक कहा है—"The public won't waste time in pondering over the meaning of a minor poet; they will only suffer unintelligibility from a genius." भला, लोग किसी क्षुद्र कवि का अर्थ समझने का प्रयास क्यों उठावेंगे। हाँ, किसी प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि का अर्थ-गौरव न समझने पर सभी उसकी विलक्षणता पर मुग्ध हो जायँगे। भाव और भाषा की सरलता का एक बड़ा अच्छा उदाहरण नीचे दिया जाता है—

प्यारी बहिन सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें ख़ज़ाना।
है इस पर अधिकार तुम्हारे बेटे का मनमाना॥

यह तो सभी जानते हैं कि कवि अपनी कल्पना के ज़ोर से कविता लिखता है। पर यह बात शायद ही किसी को मालूम हो कि अख़बारों से कल्पना की गति बड़ी तीव्र हो जाती है। मतलब यह कि अख़बारों से कविता के लिए बड़ा मसाला मिल जाता है। अँगरेज़ी में एक कविता खूब प्रसिद्ध है। उसका नाम है The Burial of Sir John Moore उसकी रचना उल्फ़ नामक एक कवि ने की है। इसी एक कविता से उल्फ़ का नाम अँगरेज़ी-साहित्य में अक्षय हो गया है। जब वह कविता पहले पहल प्रकाशित हुई तब कुछ लोगों ने समझा कि लार्ड बायरन ने उसकी रचना की है। बायरन ने कहा, "भाई, यह कविता मेरी नहीं है। यदि यह मेरी कविता होती तो मुझे इसका बड़ा गर्व होता।" जिस कविता की इतनी तारीफ़ है उसका मूलाधार अख़बार का एक कतरन था। लांगफ़ेलो नामक कवि ने अख़बार के एक कतरन पर एक बड़ी सरल कविता लिखी है। खोज करने से ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। हम हिन्दी के कवियों को सलाह देते हैं कि वे अख़बारों से मसाला सङ्ग्रह किया करें। तब उनके पास विचारों की इतनी विशाल-राशि खड़ी हो जायगी कि वे भी कहने लगेंगे, 'बादल से चले आते हैं मज़मूं मेरे आगे।'

हिन्दी के कवियों के लिए अलङ्कारों का एक बड़ा झमेला है। नवीन छन्दों की अब काफ़ी संख्या हो गई है। पर अलङ्कार पुराने ही हैं। इसी से मेल नहीं खाता। प्राचीन-काल के कवि प्राकृतिक दृश्यों से अलङ्कारों की सृष्टि करते थे। अब नगरों की वृद्धि होने के कारण कवि प्रकृति का आश्रय ग्रहण नहीं कर सकते। उन्हें एक छोटे कमरे में कुर्सी पर बैठ कर अनन्त प्रकृति का विलास कल्पना द्वारा देखना पड़ता है। इससे मस्तिष्क पर बड़ा ज़ोर पड़ता है। पाश्चात्य सभ्यता की वृद्धि से अब कवि अपनी कविता-कामिनी के पैरों में नूपुर के स्थान में बूट जकड़ देते हैं और कलाई में कङ्कण का स्थान रिस्टवाच के चमड़े के बन्द को दे डालते हैं। इससे कविता-कामिनी का रूप स्वाभाविक हो जाता है। उनका भाषा-परिच्छद भी अल्पात्यल्प हो रहा है। बङ्गाल में हरिप्रसाद शास्त्रीजी ने इन चुटकी कविताओं पर एक बार बड़ा रोष किया था। पर हमारी समझ में वर्तमान कविता का यह स्वाभाविक रूप है। अब उदाहरण लीजिए। हमें एक आधुनिक वियोगिनी का वर्णन करना है। वियोग-व्यथा के वर्णन में संस्कृत-शब्दों का अधिक प्रयोग करना चाहिए। इससे गम्भीरता आ जाती है। अतएव हम उसे यों कहेंगे 'नई भोली भाली बधू, जिसमें सुराग की लाली थी, अब ऐसी कुम्हलाई जैसी कैरवाली अथवा अस्त-चन्द्र की उजियाली।

यह मूर्छित पड़ी हुई है। बिलकुल चुप है, बोलती तक नहीं। हाय, हाय, इस कुमुद्वती को किसने जल से भिन्न किया, किसने अपने तीक्ष्ण करों से इसे छिन्न कर दिया। आँखें भर भर कर सखियाँ उसे जगा रही हैं। पर भयङ्कर, खरतर, शोक है। चैतन्य मोह से बढ़ कर है।" यह तो गद्य-भाग हुआ। अब इसे पद्य-भाग में ले जाइए। देखिए, कैसी अच्छी कविता बन कर निकलती है।

यह नई वधू भोली भाली,
जिसमें सुराग की थी लाली।
कुम्हलाई कि ज्यों कैरवाली—
या अस्त-चन्द्र की उजियाली।
किन तीक्ष्ण करों से छिन्न हुई—
यह कुमुद्वती जल-भिन्न हुई।
भर भर कर भीति भरी अँखियाँ,
करती थीं उसे सजग सखियाँ।
पर शोक भयङ्कर खरतर था—
चैतन्य मोह से बढ़ कर था।

आप अपनी कल्पना के द्वारा कुर्सी-टेबिल से सज्जित एक कमरे को देखिए। बीचोंबीच एक कोच पड़ा है। उस पर सुशिक्षिता नायिका मौन पड़ी हुई है। आँखें वियोग के दुःख से बन्द हैं। इतनी कल्पना कर लेने के बाद आप उपर्युक्त पद्यों को पढ़िए। देखिए, कितना मौज़ूँ है। रस का विपर्यय अवश्य हो जायगा। करुण-रस हास्य-रस हो जायगा और हास्य-रस करुण-रस में परिणत हो जायगा। यदि हिन्दी के कोई कवि हास्य-रस का आचार्य होना चाहते हैं तो उनके लिए यह एक अच्छी कुञ्जी है।

बस, अभी कवि का इतना ही रहस्य हम जान सके हैं।

मौजी

डपोर शंख।

श्वेत वर्ण है अंग हमारा, अलग सभी से ढंग हमारा।
कहते हैं करते हम नहीं, जग अपयश का है ग़म नहीं ॥ १ ॥
ऊपर उज्ज्वल भीतर काला, हमें मिला है काम निराला।
दो माँगे तो देते चार, वचन-मात्र का है सत्कार ॥ २ ॥
जलधि बीच से हम हैं आये, आकर अपना रंग जमाये।
हैं डपोर शंखों के भूप, हृदय कुटिल है सुन्दर रूप ॥ ३ ॥
वचन हमारा जिसको भाया, उसने निश्चित धोखा खाया।
पाप हमें है सच का कहना, सजग सभी से सब दिन रहना ॥४॥
भेद सभी के लेते हम, अपने भेद न देते हम।
मिल कर भी अनमिल रहते हैं, पग पग पर परिभव सहते हैं॥५॥
जहाँ जहाँ पर हम जाते हैं, सभी वहाँ पर दुख पाते हैं।
पूजा लेकर देते नाम, सभी हमारे अद्भुत काम ॥ ६ ॥
आशा के लासे से हम, किसको नहीं फँसाते हम।
निशिदिन करते यही तमाशा, किसे न हमसे हुई निराशा ॥७॥
थे अछूत हो गये पवित्र, दिव्य चित्र है चरित विचित्र।
ऊँचा आसन हमें मिला है, ज्यों जवास मणि-भूमि खिला है ॥८॥
चिन्तामणि है छोटा भाई, किन्तु चतुरता उसे न आई।
जो माँगे सो दे देता है, हमसे मन्त्र नहीं लेता है ॥ ९ ॥
बातों के हम देते दान, देते मूढ़ हमें सम्मान।
किसने कब क्या हमसे पाया, है दुर्ज्ञेय हमारी माया ॥१०॥
भड़कीला है ठाठ हमारा, "मतलब लेना" पाठ हमारा।
हमें दया का लेश नहीं है, अन्य दुःख से क्लेश नहीं है ॥११॥
धोखे का है धर्म हमारा, कठिन क्रूर है कर्म हमारा।
जिसका हमने पकड़ा हाथ, लगी विपत्ति उसी के साथ ॥१२॥

रामचरित उपाध्याय।

मोती।
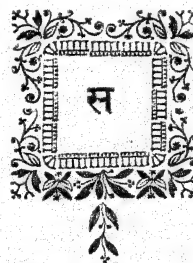
समाचार-पत्रों के पाठकों को मालूम होगा कि गत मई मास में विलायत में मोतियों के सम्बन्ध में एक बड़ी सनसनी फैल गई थी, लन्दन के बाज़ार में कुछ समय से एक ख़ास प्रकार के जापानी मोती बिकने लगे हैं। अफ़वाह

उड़ी है कि ये मोती कृत्रिम हैं, प्राकृतिक नहीं—बस मोती के मालिकों और व्यवसायियों के होश काफ़ूर हो गये; क्योंकि उनकी कृत्रिमता का न तो कोई प्रमाण था, न पहचान थी। क्षीर-नीर का विवेक हो तो कैसे हो? ख़ैर।

\+ \+ \+

मोतियों की पैदाइश विशेषतः कुछ ऐसी सीपियों से होती है जो नातिशीतोष्ण प्रदेश के समुद्रों में पाई जाती हैं। सीपी के शरीर के दो भाग होते हैं—एक कोमल, दूसरा कड़ा। वास्तव में कोमल भाग ही शरीर है—कड़ा भाग तो उसका आवरण-मात्र है। इस कोमल भाग में समुद्र जल से "कैलसियम कार्बोनेट" नामक रासायनिक पदार्थ अलग कर देने की क्षमता है। इसी पृथक्कृत पदार्थ से उसके कड़े आवरण की सृष्टि होती है, और यह बात प्रत्येक सीपी में पाई जाती है। सच पूछिए तो जब तक यह अवस्था जारी रहती है तब तक 'मोती' नहीं बनता—मोती का निर्म्माण सीपी के जीवन में एक असाधारण घटना है। सीपी के पेट में स्वाति-नक्षत्र की जल-बूँद पहुँचने से मोती बनता है—यह बात हममें से बहुतों ने सुनी होगी। समीक्षा और परीक्षा से मालूम होता है कि तीस-चालीस सीपियों के बीच एक के ही पेट में मोती मिलता है। तो बात क्या है? स्वाति-नक्षत्रवाली बात में प्रकारान्तर से बहुत कुछ सत्यता है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सीपी के पेट में किसी बाहरी वस्तु के प्रवेश होने या उसमें किसी प्रकार की उत्तेजना पहुँचने या विकार उत्पन्न होने से ही वहाँ मोती की सृष्टि शुरू होती है। हो सकता है उसके पेट में बालू का एक कण पहुँच गया हो, सम्भव है कोई कीटाणु वहाँ जाकर उसे पीड़ा पहुँचा रहा हो। मोटी बात यह है कि सीपी उस दर्द को दूर करने के लिए उस स्थान को एक पदार्थ-विशेष से घेरना शुरू कर देती है। यह पदार्थ क्रमशः गोल रूप धारण करता जाता है और अन्त में यही मोती कहाता है। रासायनिक दृष्टि से यह मुख्यतः "कैलसियम कार्बोनेट" है और पदार्थों में सीप की श्रेणी का है। सीपी के पेट में जितने विकार उत्पन्न होंगे उतने ही मोती भी बनेंगे। भारत महासागर की एक सीपी से ८७ मोती निकले थे। सीलोन की एक सीपी के पेट में ६७ मोती थे।

समुद्र के एक अच्छे मोती का विशिष्ट गुरुत्व २.६५० और २.६८६ होता है। 'एसिड' में मोती गल जाते हैं। क़िस्सा है कि मिश्र देश की रानी क्लियोपैट्रा एक बड़े मोती को (Vinegar) सिरके में गला कर पी गई थी।

मोती विभिन्न आकार के होते हैं—कोई गोल, कोई अण्डाकार और कोई नाशपाती की सी शकल का। उनके रङ्ग भी तरह तरह के होते हैं। पर उनका सबसे बड़ा गुण उनकी दमक है। मेक्सिको के मुहाने में काले मोती मिलते हैं। धनी लोग उन्हें श्राद्ध-काल में पहनते हैं। पर यदि उनकी दमक ठीक हो तो वे भी उतने ही महँगे बिकते हैं जितने कि सफ़ेद मोती। अच्छे मोती में दाग़-दरार न होनी चाहिए। और जवाहरात की अपेक्षा मोती जल्द नष्ट हो जाते हैं। हीरा खरादने से दीप्तिमान् बनाया जा सकता है, मोती नहीं। पुराने मोतियों में चमक-दमक लाने के लिए कुछ लोग उन्हें समुद्र-जल में डुबो देते हैं, कोई उन्हें मुर्गियों और बतकों से निगलवाते हैं, पर सच पूछा जाय तो ऐसे प्रयत्न आज तक सफल नहीं हुए। अतएव मोतियों को बड़े यत्न से रखना चाहिए, पसीने और सङ्घर्षण से जहाँ तक हो सके उनकी रक्षा करनी चाहिए।

मोतियों का साइज़ एक नहीं होता, हाँ बड़े साइज़ के मोती कम मिलते हैं। १६०३ में ईरान के शाह के पास एक मोती था जिसकी लंबाई थी ३५ मिलिमेटर और मुटाई २५ मिलिमेटर। लड़ाई के पहले आस्ट्रिया के बादशाह के ताज में एक मोती

३०० कराट वज़न का था। मास्को के अजायबघर में २८ कराट वज़न का एक बिलकुल गोल, सफ़ेद मोती है। यह हिन्दुस्तान में मिला था। आस्ट्रेलिया के पास १८८६ में नौ बड़े और सफ़ेद मोती एक 'क्रास' के रूप में जुड़े हुए मिले थे। इनकी क़ीमत कूती गई थी १०,००० पौंड। हेनरी फिलिप होप नामक एक साहब के पास एक मोती ४५४ कराट वज़न का था।

आभूषणों के अलावा मोती दवा के काम भी आते हैं। सुश्रुत में इनका ज़िक्र है। आयुर्वेद के अनुसार यह पहले जयन्ती के पत्रों या बकपुष्पों के साथ उबाल कर शुद्ध किये जाते हैं। फिर इनका चूर्ण बनाया जाता है। मोती की भस्म, मूँगे की भस्म के साथ विशेषतः मूत्र रोग और क्षय-रोग में दी जाती है। यूनानी हकीम भी इसे कई बीमारियों में देते हैं। उनका विश्वास है कि यदि मोती की अपरिपक्वावस्था में उसका लेप किया जाय तो कुष्ठ रोग दूर हो सकता है। कुछ लक्ष्मी के लाल मोती भस्म का, पान में चूने की जगह, व्यवहार करते हैं।

अति प्राचीन काल से ईरान की खाड़ी में मोती-वाली सीपियाँ मिलती हैं। इस व्यवसाय का प्रधान केन्द्र लङ्का है। यहाँ के मोती कुछ पीलापन लिये होते हैं। उनकी खपत विशेषतः बम्बई में होती है।

पर व्यवसाय-दृष्टि से सीपी-संग्रह का मुख्य स्थान है मनार की खाड़ी—भारतमहासागर में, भारत और लङ्का-द्वीप के बीच। वहाँ समुद्र में—तटभूमि से ६ और १२ मील के फ़ासले पर—बहुत सी रेतियाँ पड़ गई हैं और उनका सिलसिला लम्बाई में ६० मील तक चला गया है। यही रेतियाँ सीपियों की निवास-भूमि हैं। सीपियाँ कुछ लम्बे तन्तुओं के सहारे उनसे लटकी रहती हैं। साधार-

जिन सीपियों में कृत्रिम मोती तैयार हो गये हैं उन्हें ये जापानी बालिकायें निकाल कर ऊपर ले जारही हैं।
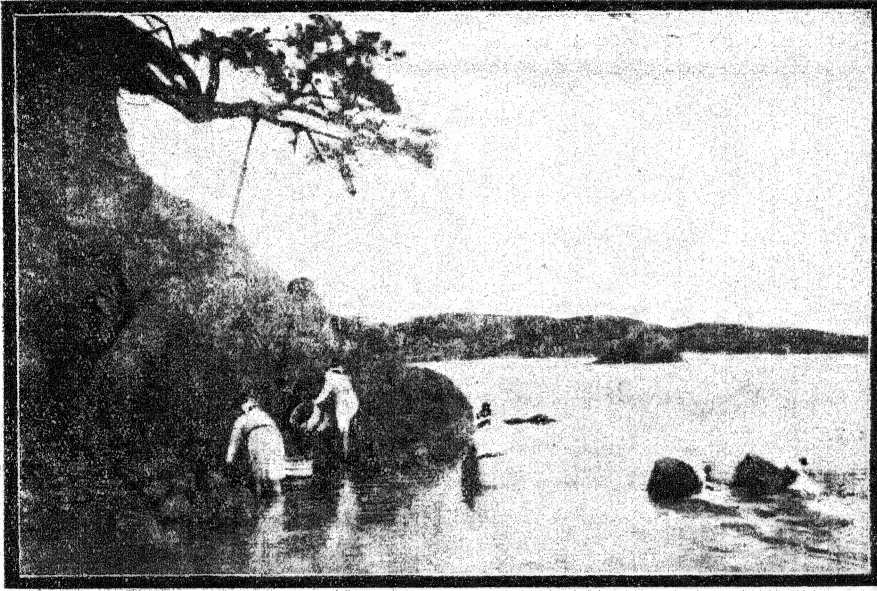
गतः वे जल की सतह से ३० और ६० फुट के बीच नीचे रहती हैं। पर वे सदा एक ही जगह नहीं रहतीं और यही कारण है कि कभी कभी उनका पता लगाना असम्भव हो जाता है।

इस प्रदेश में सीपी-सङ्ग्रह का काम कब शुरू हुआ, यह कोई नहीं जानता। १३३० ईसवी में यहाँ इस व्यवसाय में ८ हज़ार नौकायें लगी थीं। १६ वीं

एक जापानी विशेषज्ञ रंगरूप, आकार-प्रकार के अनुसार कृत्रिम मोतियों को अलग कर रहा है।

ऊपर के कोने के चित्र में दिखाया गया है कि सीपी के पेट में विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु किस प्रकार रक्खी जाती है।

सदी में इस प्रदेश पर पोर्टुगीज़ों का अधिकार था। फिर डचों का अधिकार हुआ। ब्रिटिश आधिपत्य १७६४ से प्रारम्भ होता है। सरकार को इस समय इस व्यवसाय में ख़ासा लाभ है।

सीपी-संग्रह की जो रीति इस समय प्रचलित है वह बहुत—बहुत—पुरानी है। काम मार्च-मास में शुरू होता है और क़रीब ६ हफ़्ते तक जारी रहता है। ६० से ७० नावें एक साथ काम करती हैं। सभी आधी रात को तट से रवाना होती हैं और सुबह होते होते सीपियों की रेतियों के पास पहुँच जाती हैं। नाव पर एक व्यक्ति ऐसा अवश्य रहता है जो मगरों को मन्त्र-मुग्ध करना जानता है। कम से कम डुबकी लगानेवालों का उसमें अन्धविश्वास होता है और बिना उसे नाव पर लिये वे जल में डुबकी लगाने का साहस नहीं कर सकते। कार्य्य-समय होने पर एक धड़ाके की आवाज़ होती है और डुबकी लगानेवाले अपना काम शुरू कर देते हैं। एक मोटे रस्से में क़रीब

आधे मन का एक पत्थर बँधा रहता है। उसी को पकड़ कर गोताख़ोर नीचे जाता है। दूसरा नाव पर रस्से की निगरानी करता है। हद से हद गोताख़ोर नीचे ८० सेकंड तक रहते हैं, यद्यपि कोई कोई ६ मिनट तक भी रह गये हैं। एक मनुष्य दिन भर में ४० से ५० डुबकियाँ लगाता है और एक नाव रोज़ क़रीब बीस हज़ार सीपियाँ सङ्ग्रह करती है। दोपहर को फिर एक धड़ाका होता है और काम बन्द हो जाता है। नावें लौटती हैं। किनारे पर आकर सीपियाँ भूमि पर फैला दी जाती हैं। चतुर्थांश गोताख़ोरों को दे दिया जाता है। जब सीपियाँ ख़ूब सड़ जाती हैं तब उनके भीतर से खोज खोज कर मोती निकाले जाते हैं। फिर वे रूप रङ्ग, आकार-प्रकार के अनुसार अलग किये जाते हैं और नीलाम कर दिये जाते हैं।

मनार की खाड़ी के अलावा सीपियाँ और स्थानों में भी मिलती हैं। जर्मनी, इँग्लैंड और चीन में एक ख़ास तरह की मछली के पेट से भी छोटे मोती निकलते हैं। १६१६ में लिवरपुल में पता लगा था कि कुछ जानवरों के सड़े मांस में भी बहुत छोटे छोटे मोती पाये जाते हैं।

बर्मा-तट पर मर्गुई द्वीप-पुञ्ज के पास भी सीपी-संग्रह का काम होता है। आज-कल यह व्यवसाय विशेषतः जापानियों के हाथ में है। १६१२ और १६१७ के बीच वहाँ क़रीब ढाई लाख के मोती निकले थे। भारतवर्ष में मोतियों के व्यवसाय का प्रधान स्थान बम्बई है।

अब जापान के "कृत्रिम" मोतियों के सम्बन्ध में दो चार बातें लिखी जाती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि सीपी के पेट में विकार की उत्पत्ति ही मोती के निर्म्माण का एक-मात्र कारण है। कई सौ बरस पहले चीन-निवासियों ने सोचा कि यदि मोती की मा के पेट में यह विकार प्रकृति उत्पन्न कर सकती है तो मनुष्य क्यों नहीं कर सकता। तब से वे बराबर अपने यहाँ के मत्स्यविशेष के पेट में प्रयोग विशेष द्वारा विकार उत्पन्न कर उससे छोटे छोटे मोती प्राप्त करते आ रहे हैं। १८७६ में मिस्टर कोकीची मिकिमोटो नामक एक जापानी व्यवसायी और वैज्ञानिक का ध्यान इस ओर गया। १८६० में उन्होंने इस प्रक्रिया से कुछ मोती तैयार भी किये और टोकियो की प्रदर्शिनी में उन्हें दिखाया। पर पूर्ण सफलता उन्हें अभी न हुई थी, इसलिए आप परीक्षा करते ही गये। बहुत समय और धन ख़र्च करने के बाद आज से ६-७ बरस पहले उनका अभीष्ट सिद्ध हुआ। और तब से बाज़ार में ऐसे "कृत्रिम" मोती चलने लगे। इँग्लैंड में उन्होंने पारसाल अपना माल बेंचना शुरू किया।

जापान के कई द्वीपों के पास मिस्टर मिकिमोटो ने जल और स्थल का बहुत सा भाग ले रक्खा है। वहाँ सीपी-सङ्ग्रह का काम बालिकायें करती हैं। जुलाई और अगस्त में वे सीपियों की रेतियों पर पत्थर के छोटे-बड़े टुकड़े रख देती हैं। कुछ काल में उनके चारों ओर सीपियाँ लग जाती हैं। फिर वे टुकड़े हटा कर गहरे पानी में रक्खे जाते हैं और वहाँ तीन बरस तक रहते हैं। बाद को वे वैज्ञानिक प्रयोगशाला में लाये जाते हैं। वैज्ञानिक, सूक्ष्म-प्रयोग द्वारा, प्रत्येक सीपी के पेट में 'सीप' नामक पदार्थ का एक छोटा सा कण रख देता है। बस बाक़ी काम सीपी आपही कर लेती है, और चार बरस के बाद मोती तैयार हो जाता है। इस बीच में ये सीपियाँ समुद्र में ही रहती हैं। काम अच्छे मुनाफ़े का है, पर झञ्झट भी बहुत हैं। कई दफ़े सीपियाँ समुद्र से निकाली और उसमें रक्खी जाती हैं। सात बरस तक मोती की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस बीच में कितनी ही सीपियाँ मर जाती हैं, कितनी ही लापता हो जाती हैं। मिस्टर मिकिमोटो ने अपने सारे प्रयोगों का हाल गुप्त रक्खा है। सीलोन की

एक विलायती कम्पनी ने उनसे कुछ सीखने की चेष्टा की थी, पर उन्होंने कुछ सिखाया नहीं। आज तक संसार में यह किसी को नहीं मालूम कि मिस्टर मिकिमोटो रङ्गीन मोती कैसे तैयार करते हैं। उनकी प्रयोग-शाला के रहस्यों का पता कोई भी न पा सका।

इधर विलायत में कृत्रिम और प्राकृतिक मोतियों की पहचान निकालने की बड़ी चेष्टाएँ हो रही हैं। पहले कहा गया था कि "एक्स" किरणों की सहायता से कृत्रिम मोती पहचाने जा सकते हैं, पर बात झूठी साबित हुई। वास्तव में दोनों का सादृश्य विलक्षण है। और क्यों न हो? सीपी के पेट में विकार उत्पन्न होने से प्राकृतिक मोती निकलते हैं और कृत्रिम भी। फ़र्क यही है कि पहले में विकार प्रकृति उत्पन्न करती है और दूसरे में मनुष्य। और यही कारण है कि बहुत से लोग कृत्रिम को नक़ली कहना भी नहीं चाहते।

हृदय में रत्न धारण करने के कारण सीपी को कालकवलित होना पड़ता है। बहुत पहले एक अँगरेज़ कवि ने दर्द भरे दिल के साथ यह पूछा था कि—

इटली! इटली! इतनी छबि क्यों
धारण की तुमने, हा हन्त!

हाल में एक ईरानी कवि को इस चिन्ता से मर्म्मान्तक पीड़ा हुई है कि—

धूल जहाँ की कस्तूरी से
अधिक सुगन्धित होती
जिसके स्थल-जल में मिलते हैं
ढेर ढेर मणि-मोती
उसी देश का आज विदेशी
आपस में बटवारा
करने आते—खड़ा देखता
मुल्क तमाशा सारा!

पर सीपी सा अभागा संसार में न तो कोई जीव है, न देश है। मोती के प्रसङ्ग में "प्रियप्रवास" की यह बात विना याद आये नहीं रहती:—

ऊधो! सीपी सदृश न कभी—
भाग्य फूटे किसी का;
मोती जैसा रतन अपना
आह! कोई न खोवे,

पारसनाथसिंह

दलित कुसुम।

(१)

हो पड़े भूमि पर फूल आज, वह गया तुम्हारा कहाँ नाज़?
जो रङ्ग-रूप था गर्व-मूल, उस पर यह कैसी पड़ी धूल॥

(२)

पहले करते सब लोग चाह, अब पड़े पड़े भर रहे आह।
जो लखते थे छबि बार बार, वे करते हैं पाद-प्रहार॥

(३)

जो अलि करते थे सुरसपान, तजते न तुम्हें थे एक आन।
वे आते हैं अब कहाँ पास, करते थे जिनसे नित्य रास॥

(४)

हो मस्त हँस रहे और फूल, करते न तुम्हारी याद भूल।
अब पछताते तुम यदपि ख़ूब, तब गये किन्तु अघकूप डूब॥

(५)

रक्खी न जातिवालों से प्रीति, उन पर सदैव हँस की अनीति।
उन काँटों के थे हाय! काल, थे बने तुम्हारे लिए ढाल॥

(६)

सब सोच छोड़ अब करो ध्यान, उनका जो है करुणा-निधान।
वे देंगे तुमको शान्ति-दान, सर्वोपरि उनका कीर्ति-गान॥

स्वामीदयाल श्रीवास्तव 'मधुव्रत'

विविध विषय ।

१—भारतवर्ष में विज्ञान-मन्दिर ।

विज्ञानाचार्य वसु महोदय के विज्ञान-मन्दिर को कलकत्ते में प्रतिष्ठित हुए चार वर्ष भी नहीं बीत पाये कि इसी बीच में इसने संसार के नामी नामी विज्ञानाचार्यों की सहानुभूति अर्जन करली। हमारे कथन की सत्यता इस संस्था के सदस्यों की सूची देखने से सिद्ध हो जाती है। 'रायल सोसाइटी आव् लन्डन' और पेरिस की 'अकेडेमी आव् साइन्सेज़' के सभापति, प्रसिद्ध पदार्थ-विद्याविद् लार्ड रेले, स्वीडेन के अध्यापक अरहीनिअस (Arrhenius), बर्लिन के अध्यापक हैबरलांट (Haberlandt), वायना के अध्यापक मोलिस (Molisch), और संयुक्त-राज्य अमरीका के अध्यापक मिलीकेन तथा स्टेन्ले हाल जैसे संसार-प्रसिद्ध विज्ञान-शास्त्री इस संस्था के सदस्य हैं। यही नहीं योरप और अमरीका की विज्ञान-सम्बन्धिनी विद्यापीठों से इस विज्ञान-मन्दिर की कार्य-वाही की माँग दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है और वसु महोदय के लेख के फ्रेंच, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं में अनुवाद देखने के लिए पाश्चात्य देशों के विज्ञान-प्रेमी आतुर हो रहे हैं। मतलब यह कि विज्ञानाचार्य वसु ने अपने अद्भुत पाण्डित्य से आज संसार के नामी नामी विद्वानों को चकित कर दिया है और अपनी जन्म-भूमि भारत का मस्तक ऊँचा किया है।

भारतीय सरकार ने भी वसु महोदय का समादर किया है और उन्हें आर्थिक साहाय्य पहले ही से देती आई है। अब तो उसे भारत-मन्त्री से इस बात की अनुमति मिल गई है कि जो राजकीय दान इस विज्ञान-मन्दिर को सहायतार्थ मिलता है वह उसे अब सदा मिलता रहेगा। यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इस सरकारी सहायता का परिमाण सर्वसाधारण की सहायता से द्विगुण रहा करेगा। ऐसा सुना जाता है कि जो रक़म स्वयं वसु महोदय अपनी ओर से इस मन्दिर को अर्पित करनेवाले हैं उसे मिला देने से इसकी आय दस लाख रुपये हो जायगी। यद्यपि इस विराट् संस्था के लिए इतनी आय पर्याप्त नहीं तो भी इतने ही अर्थ-साहाय्य से इस मन्दिर के अद्भुत आविष्कारों से संसार को बहुत अधिक लाभ पहुँचने की आशा है।

अध्यापक वसु को योरप से लौटे अभी केवल छः महीने हुए हैं, परन्तु आपने इतने ही अल्प समय में कई एक नये आविष्कार कर डाले। अभी तक आपने अपने यन्त्रों के द्वारा वनस्पतियों की परिवेदना-शक्ति ही का ज्ञान प्राप्त किया था, किन्तु अब आपको उनके ज्ञान-तन्तुओं का भी पता लग गया है। इसी तरह के जो दूसरे सूक्ष्म अनुसन्धान आपने हाल ही में किये हैं उन सबका विस्तृत विवरण मन्दिर की सामयिक पुस्तिका में शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

आपके विज्ञान-मन्दिर की संसार में ऐसी ख्याति होगई है कि योरप और अमरीका के पोस्ट ग्रेजुएटों ने खोज के नये विधान सीखने के लिए इस विज्ञान-मन्दिर में प्रविष्ट होने के लिए आवेदन-पत्र भेजे हैं। इसके सिवा अभी तक एक प्रसिद्ध फ़रासीसी विज्ञान-शास्त्री इस मन्दिर में रह कर अपनी ज्ञान-वृद्धि करते रहे हैं।

अध्यापक वसु ने अपना कार्य-क्षेत्र बढ़ा दिया है। कलकत्ते के विज्ञान-मन्दिर में उच्चश्रेणी की वैज्ञानिक खोज का काम होगा। गङ्गाजी के तट पर स्थित सिजबेरिया के विज्ञान-मन्दिर में कृषि-विज्ञान के अनुसन्धान का कार्य होगा। इस कार्य के लिए बङ्गाल सरकार का विशेष आग्रह है। और जो विज्ञान-मन्दिर आपने दार्जिलिंग में स्थापित किया है उसमें इस बात की परीक्षा की जायगी कि वहाँ के जलवायु में वनस्पतियों के जीवन की कैसी स्थिति है। इस अनुसन्धान के लिए पाश्चात्य देश के विज्ञानाचार्यों का आग्रह है। दार्जिलिंग की प्रकृति योरप की दशा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। अतएव इस सम्बन्ध की जाँच अध्यापक वसु महोदय दार्जिलिंग के अपने मायापुरी के विज्ञान-मन्दिर में करेंगे। भगवान् करे आप अपने प्रयत्नों में आशातीत सफलता लाभ करें जिससे संसार का विशेष लाभ हो और भारत का गौरव बढ़े।

२—मुसलमान नरेशों के शासन-काल में शिक्षा-प्रचार।

एक अँगरेज़ी पत्र में इस विषय पर एक बड़ा अच्छा

लेख प्रकाशित हुआ है। उसी की कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं।

इस्लाम-धर्म के आविर्भाव होने के कुछ ही समय के बाद शिक्षा की उन्नति होने लगी। सौ दो सौ वर्ष में वहाँ कितने ही अध्यात्म और शिक्षा-शास्त्र के विद्वान् हुए। सभी अपने अपने विषयों में निष्णात थे। इस्लाम-धर्म के आविर्भाव-काल में भी वहाँ शिक्षा की प्रचार-वृद्धि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यतियों के आश्रमों और गृहस्थ के घरों में भी शिक्षा दी जाती थी। मसजिदों में कितने ही छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। चैम्बर की इनसाइक्लोपीडिया में लिखा है कि बग़दाद, बसरा, कूफ़ा और बुख़ारा में, बड़ी बड़ी पाठशालायें स्थापित की गई थीं। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में बतलाया गया है कि मामूँ ने ख़ुरासान में एक बड़े भारी विद्यालय की स्थापना की थी। इसमें अच्छी योग्यता के ही अध्यापकों की नियुक्ति होती थी। अध्यापकों का धार्मिक विश्वास उनकी नियुक्ति में बाधक नहीं था। इसी लिए उस संस्था का प्रधानाध्यापक एक ईसाई विद्वान् था। इससे ख़लीफ़ा की धार्मिक सहिष्णुता भी प्रकट होती है। शिक्षा का एक दूसरा केन्द्र निशापुर नामक नगर में था। सुलतान महमूद के भ्राता अमीर नसर ने भी एक विद्यालय स्थापित किया था। भारत से सुलतान महमूद जो अनन्त धन-राशि लूट कर ले गया था उसका अधिकांश गज़नी के एक विद्यालय की स्थापना में ख़र्च हुआ। अबूबक्र फ़ुरुक नामक एक विद्वान् के स्मारक रूप में एक और विद्यालय स्थापित हुआ था। इस विद्वान् की मृत्यु ४०६ हिजरी में हुई थी। निशापुर में विद्या का कितना प्रचार था, इसका अनुमान हम इसी से कर सकते हैं कि जब ५६६ हिजरी में उक्त नगर का नाश हुआ तब उसके साथ २५ विद्यालय और १२ पुस्तकालय नष्ट कर दिये गये।

निज़ाम-उल-मुल्क तूसी ने एक बड़े भारी विद्यालय की नींव डाली। इस संस्था को हम बग़दाद का आक्सफ़ोर्ड कह सकते हैं। यहाँ विदेश से भी कितने ही मुसलमान-छात्र आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। सादी और हाफ़िज़ की भी ज्ञान-पिपासा यहीं शान्त हुई। निज़ाम-उल-मुल्क ने इस विद्यालय के लिए लाखों रुपये ख़र्च किये। उसी ने मुसलमान-साम्राज्य में उदार शिक्षा के प्रचार के लिए ख़ूब प्रयत्न किया। उसी के उद्योग से कितने ही छोटे बड़े विद्यालय खोले गये। गिबन नामक एक विद्वान् का कथन है कि ६००० विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबन्ध उसी संस्था में होता था। उसमें ऊँच-नीच का विचार नहीं किया जाता था। श्रीमानों के पुत्रों की शिक्षा के लिए वहाँ उतनी ही सुविधा थी जितनी मज़दूरों के पुत्रों के लिए। अध्यापकों को अच्छा वेतन दिया जाता था। विद्यालय के साथ एक बड़ा भारी पुस्तकालय भी था।

६२५ हिजरी में एक ख़लीफ़ा ने अपने नाम से एक विद्यालय स्थापित किया। ६ वर्षों में विद्यालय का भवन बन कर तैयार हुआ। इसका ध्वंसावशेष अभी तक विद्यमान है। कहा जाता है कि इस विद्यालय के लिए जो किताबें ख़रीदी गई थीं वे १६० ऊँटों में लाद कर लाई गई थीं। २४६ विद्यार्थी वहीं रह कर शिक्षा पाते थे। उनके लिए स्नानागार बनाये गये। उनमें गरम पानी का भी प्रबन्ध था। एक अस्पताल भी था।

छठी शताब्दी में विद्या की अच्छी उन्नति हुई। शिक्षा-प्रचार के लिए तरह तरह की योजनायें की गईं। दो ख़लीफ़ों का नाम ख़ूब प्रसिद्ध है, एक तो नूरुद्दीन मुहम्मद और दूसरा सलाउद्दीन। सलाउद्दीन ने अलेक्ज़ेंड्रिया, केरो, यरूसलेम, दमस्कस आदि नगरों में विद्यालय स्थापित किये और उनका ख़र्च चलाने के लिए लाखों की सम्पत्ति दान दे डाली। एक विद्वान् का कथन है कि इन विद्यालयों के छात्रावासों में छात्रों को खाने-पीने आदि का सामान भी मुफ़्त दिया जाता था। अध्यापकों के वेतन आदि में १५ लाख रुपये ख़र्च हो जाते थे।

मुसलमानों में तुर्की नरेशों ने विद्या को ख़ूब प्रोत्साहन दिया। यों तो सभी राजाओं ने शिक्षा का प्रचार किया, पर सबसे अधिक काम मुहम्मद द्वितीय ने किया। उसने गाँव गाँव मकतब खोले। इससे प्रारम्भिक शिक्षा का प्रचार हुआ। फिर उसने इतिहास, काव्य, तर्क-शास्त्र, व्याकरण-शास्त्र आदि विषयों की उच्च शिक्षा देने के लिए विद्यालय स्थापित किये। उसने एक विश्वविद्यालय भी खोला। इसका भवन ८७५ हिजरी में बन कर तैयार हुआ।

मुहम्मद के शासन-काल से बग़दाद के पतन-काल तक शिक्षा की बराबर उन्नति ही होती गई। दसवीं शताब्दी तक योरप में अविद्या का अन्धकार ही था। अरबों ने ही वहाँ ज्ञान-ज्योति का प्रसार किया। स्पेन में विद्यालयों की कीर्ति शीघ्र ही फैल गई।

फ़ान्स तथा अन्य देशों से भी सैकड़ों विद्यार्थी गणित और चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए स्पेन जाया करते थे। अरबों ने वहाँ १४ बड़े बड़े विद्यालय स्थापित किये। पाँच पुस्तकालय भी थे। उस समय यदि किसी मठ में ६०० पुस्तकों का भी सङ्ग्रह होगया तो वह बड़ी बात समझी जाती थी। परन्तु स्पेन में ख़लीफ़ा हकीम के पुस्तकालय में ६,००,००० से अधिक किताबें थीं। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि मुसलमान अधिपतियों को विद्या से कितनी अभिरुचि थी।

३—हिन्दी में अँगरेज़ी उपन्यास।

हिन्दी-साहित्य में उपन्यासों के तीन युग व्यतीत हो चुके हैं। पहले युग में काशी के उपन्यासों की धूम थी। दूसरे युग में कलकत्ता के उपन्यासों का प्रचार हुआ। तीसरे युग में बम्बई के उपन्यासों की अच्छी चर्चा हुई। इसका मतलब यह नहीं है कि जब काशी में उपन्यासों की रचना हो रही थी तब बम्बई से कोई उपन्यास प्रकाशित हुआ ही नहीं। सच पूछा जाय तो हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों के प्रकाशन का श्रेय इन्हीं तीन नगरों को है। जब से हिन्दी के वर्तमान साहित्य का उद्भव हुआ है तब से आज तक हिन्दी-साहित्य की श्री-वृद्धि इन्हीं तीन नगरों में हुई है। हमने केवल अपनी सुविधा के लिए हिन्दी के औपन्यासिक साहित्य को तीन युगों में विभक्त किया है। इन तीनों युगों में सदृशता है और विभिन्नता है। सदृशता है अँगरेज़ी उपन्यासों के अनुवाद में और विभिन्नता है उपन्यासों की शैली में। काशी के उपन्यासकारों में बाबू देवकीनन्दन खन्नी और पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी के नाम खूब प्रसिद्ध हैं। कलकत्ता के उपन्यासों में अधिकांश बँगला उपन्यासों के अनुवाद हैं। बम्बई में लज्जारामजी की रचनायें प्रसिद्ध हैं। इसके सिवा बँगला के कई अच्छे अच्छे उपन्यासों के अनुवाद भी वहीं से प्रकाशित हुए। यहाँ हम केवल हिन्दी के अँगरेज़ी उपन्यासों पर विचार करना चाहते हैं।

हिन्दी में अँगरेज़ी के निम्नलिखित उपन्यासकारों के ग्रन्थ विद्यमान हैं:—(१) रेनाल्ड (२) कनन डायल (३) मेरी कुरेली (४) कालिन्स (५) गोल्डस्मिथ (६) शेरीडन (७) विक्टरह्यूगो (८) डूमा (९) जार्ज ईलियट (१०) हेगर्ड और (११) स्विफ़्ट। इनमें ह्यूगो और डूमा इँग्लेंड के लेखक नहीं हैं। इनके सिवा अँगरेज़ी की दो दो आने में बिकनेवाली पचीसों किताबें हिन्दी में अज्ञात रूप से विद्यमान हैं। कलकत्ते के जासूसी उपन्यासों में ऐसे ही ग्रन्थों की भरमार है।

हिन्दी के अधिकांश लेखक अँगरेज़ी उपन्यासों को हिन्दू-समाज के अनुकूल बना डालते हैं। हम इसे बुरा नहीं समझते, पर है यह काम टेढ़ा। यदि इस काम में हम ज़रा भी चूके तो उपन्यास का रूप बड़ा विकृत हो जाता है। The woman in white नामक अँगरेज़ी उपन्यास का अनुवाद हिन्दी में है। उसका नाम है शुक्ल-वसना सुन्दरी। उसमें अनुवादक ने बड़ी सफलता से अँगरेज़ी समाज को ब्राह्मसमाज में परिणत कर दिया है। एक दूसरा उपन्यास है प्रेमकान्त। यह गोल्डस्मिथ के विकार आव् वेकफील्ड का रूपान्तर है। इसमें अनुवादक को सफलता नहीं हुई है। परिच्छद भारतीय होने से क्या हुआ, काया तो अँगरेज़ी ही है। मेरी कुरेली की इन्नोसेन्ट भी 'हृदय की परख' नामक उपन्यास में 'सरला' के रूप में अनुकूल नहीं जँचती। चित्रकार के साथ सरला का कोर्टशिप तो बहुत ही भद्दा है। जार्ज इलियट का सिलास मार्नर प्रेमचन्दजी के सुखदेव के रूप में भी अच्छा है। कनन डायल के शर्लाक होम्स गोपालरामजी के गोविन्द-राम बन गये हैं और अच्छे बन गये हैं। बात यह है कि जिन अँगरेज़ी उपन्यासों में अतिरञ्जित घटनाओं ही की प्रधानता है उनमें तो अनुवादक को सफलता हुई है, पर जिन उपन्यासों में कथा का गौरव समाज के आदर्श पर स्थित है उनके अनुवाद भद्दे होगये हैं। किसी भी देश के आदर्श को समझने के लिए पाठक को उदार-हृदय होना चाहिए। हिन्दू-समाज की दृष्टि में विधवा-विवाह गर्हित है और बहुपत्नी-विवाह दूषित नहीं है। पर अँगरेज़ी समाज का आदर्श इसके बिलकुल विपरीत है। अतएव जो अनुवादक अँगरेज़ी उपन्यासों को भारतीय समाज के आदर्श के अनुकूल बनाना चाहते हैं उनकी चेष्टा विफल होनी ही चाहिए।

हिन्दी में अभी तक जितने अँगरेज़ी उपन्यास के अनुवाद हुए हैं उनमें अधिकांश की शोभा अँगरेज़ी साहित्य में हो तो भले ही हो। पर हिन्दी में तो उनकी ज़रूरत है ही नहीं। जो दो चार अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद हुए हैं उनके भी अनुवादकों ने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय नहीं दिया। यदि ऐसी पुस्तकों का प्रचार है तो उससे यही सूचित होता है कि अभी समाज की रुचि परिमार्जित नहीं हुई है। हमें स्मरण है कि एक बार किसी विद्वान् लेखक ने इसी लोक-रुचि के बल पर यह लिखा था कि लोक-प्रियता किसी ग्रन्थ की उत्तमता की कसौटी है। हम नहीं समझते कि हिन्दी के लेखकों ने अभी लोक-रुचि को इतना परिमार्जित कर दिया है कि वे अपनी लोक-प्रियता का गर्व कर सकें। अभी हिन्दी में ऐसे लेखकों का अभाव नहीं है जो अँगरेज़ी की भ्रष्ट किताबों का अनुवाद न करते हों। उनके लेखक-पद प्राप्त करने ही से यह बात सिद्ध हो जाती है कि अभी हिन्दी में लोक-प्रियता सफलता का चिह्न नहीं है।

जो लोग हिन्दी में अँगरेज़ी उपन्यासों का अनुवाद कर रहे हैं उन्हें एक बार समाज की आवश्यकता पर ध्यान देना चाहिए। अनुवादों से लाभ अवश्य है। उपन्यासों के भी अनुवाद अनावश्यक नहीं हैं। अँगरेज़ी में संसार के सभी श्रेष्ठ उपन्यासकारों के ग्रन्थ विद्यमान हैं। हिन्दी के अनुवादकों को भी केवल ऐसे ही ग्रन्थों का अनुवाद करना चाहिए जिनसे हिन्दी-साहित्य की सचमुच श्री-वृद्धि हो।

४—दिल्ली के युद्ध का स्मृति-स्तम्भ।

भारत के इतिहास में १८०३ का साल बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसी साल जेनरेल जेरार्ड लेक ने अँगरेज़ों की विजयपताका दिल्ली में उड़ाई थी। इसके पहले वहाँ सेंधिया का अधिकार था और मुग़ल-सम्राट् शाह-आलम उसके हाथों की कठपुतली बन गया था। परन्तु जब अँगरेज़ों और मरहटों में युद्ध छिड़ गया तब लार्ड वेल्ज़ली ने उत्तर भारत में सेंधिया से लड़ने के लिए अँगरेज़ी सेना भेजी। इसी सेना के नायक जेनरल लेक थे। इन्होंने सेंधिया की सेना को दिल्ली के युद्ध में पराजित करके मुग़ल राजधानी में अँगरेज़ी झण्डा गाड़ दिया। यही नहीं किन्तु विपन्न मुग़ल-सम्राट् भी कम्पनी के आश्रय में आने को बाध्य हुआ और उसके लिए कम्पनी की ओर से वार्षिक पेंशन नियत हो गई। इस तरह मुग़ल-सम्राट् का जो थोड़ा बहुत प्रभाव रह गया था वह भी सदा के लिए जाता रहा और भारत पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्राधान्य निर्विवादरूप से स्थापित हो गया। इस दृष्टि से दिल्ली का यह युद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

दिल्ली के युद्ध का स्मृति-स्तम्भ।

इस युद्ध की स्मृति-स्थापना की ओर पहले पहल भूत-पूर्व वाइसराय लार्ड हार्डिञ्ज का ध्यान आकृष्ट हुआ। अतएव उन्होंने इसके निर्माण की आज्ञा दे दी। तदनुसार युद्धभूमि का स्थान खोजा गया और वहाँ स्मृति-स्तम्भ स्थापित किया गया।

पूर्वोक्त युद्धभूमि दिल्ली से दक्षिण-पूर्व सात मील के
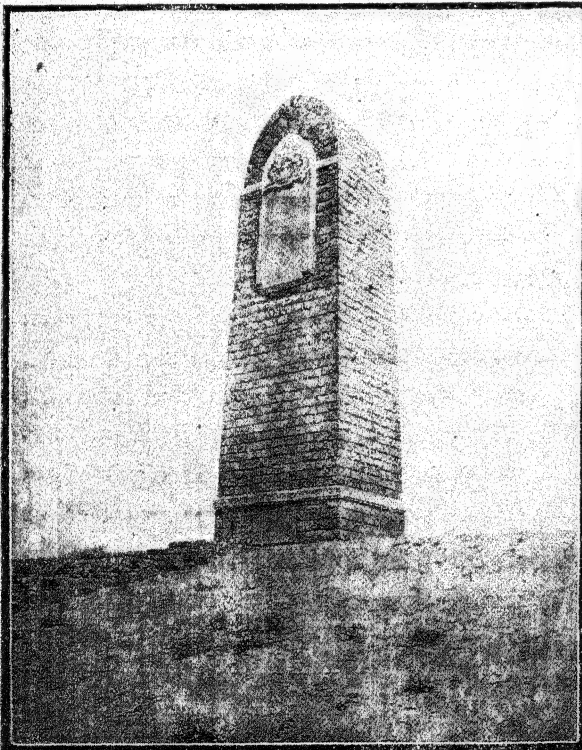
अन्तर पर 'परिपन' के मैदान में है। यह मैदान यमुना के बायें किनारे से तीन मील दूर है। जिस स्थान पर युद्ध हुआ था वहाँ २० फ़ुट ऊँचा एक बड़ा भारी धुस्स है। इसी धुस्स पर स्मृति-स्तम्भ स्थापित किया गया है। स्तम्भ पत्थर का बनाया गया है और उसकी ऊँचाई ४० फ़ुट है। नींव के पास वह १३ फ़ुट लम्बा और १० फ़ुट चौड़ा है। धुस्स की ऊँचाई मिला देने से वह मैदान से ६० फ़ुट ऊँचा हो जाता है। स्तम्भ के शिरोभाग में तथा उसकी नींव के पास स्मृति-सम्बन्धी बातें उत्कीर्ण की गई हैं। नीचे का विवरण उर्दू लिपि में है। दोनों शिलालेखों के अक्षर बड़े बड़े और स्पष्ट हैं। जिस धुस्स पर यह स्तम्भ स्थित है वह भी बहुत कुछ दुरुस्त कर दिया गया है। इस कारण इस स्थान की शोभा और भी बढ़ गई है। इसके पास ही छलेरा बांगर नाम का एक पुराना गांव भी है। यह स्तम्भ दिल्ली की जुम्मा मसजिद की चहारदीवारी से स्पष्ट देख पड़ता है। राजधानी की बड़ी बड़ी इमारतों के गुम्बज़ तथा मीनार यहाँ से भी उसी प्रकार दिखाईदेते हैं।

५—मीमांसा-दर्शन के प्राचीन भाष्यकार।

महामहोपाध्याय पण्डित गङ्गानाथ झा ने मीमांसा-दर्शन के भाष्यकारों के विषय में निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे।

जैमिनि के मीमांसा-सूत्रों पर श्रीशबरस्वामी का भाष्य सबसे प्राचीन है। पण्डितों में यह बात प्रसिद्ध है कि शबरस्वामी विक्रमादित्य के समकालीन थे। उनके विषय में जो श्लोक प्रचलित है उससे यह मालूम होता है कि विक्रमादित्य शबरस्वामी के पुत्र थे। यह बात कहां तक सच है, हम कह नहीं सकते। शबरस्वामी का नाम पहले आदित्य था। जैनों के भय से उन्होंने शबर का भेष धारण कर अर्बुदाचल पर तपस्या की। तब से उनका नाम शबर पड़ गया। आज-कल जो मीमांसा-शास्त्र प्रसिद्ध है उसका मूल शबरस्वामी का ही भाष्य है।

जैमिनि-सूत्रों के उपवर्ष आदि अन्य कई व्याख्याता थे। यह बात भली भांति प्रकट होती है। शबर-भाष्य में भगवान् उपवर्ष का नाम सम्मानपूर्वक लिया गया है, अन्य वृत्तिकार भी थे। श्लोक-वार्तिक में भवदास नामक प्राचीन वृत्तिकार का उल्लेख किया गया है। काशिका, न्यायरत्नाकर के देखने से भी इसकी पुष्टि होती है कि जैमिनि-सूत्रों की कई प्राचीन व्याख्यायें थीं। उनमें भर्तृमित्र का लिखा हुआ ग्रन्थ सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। उससे अर्वाचीन भवदास है। उपवर्ष उससे भी नवीन है।

मीमांसा-दर्शन की टीका कुमारिल भट्ट ने लिखी है। वह प्राचीन ग्रन्थों में 'भट्टपाद', 'भट्ट' इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है। इस टीका के तीन खण्ड हैं, प्रथम खण्ड श्लोक-वार्तिक, द्वितीय खण्ड तन्त्रवार्तिक, तृतीय खण्ड टुपटीका। श्रीभट्टपाद-द्वारा प्रवर्तित मीमांसा के अनुगमन करनेवाले अनेक ग्रन्थकर्ता हुए। उनमें ये प्रसिद्ध हैं:—

विधिविवेक, मीमांसानुक्रमणी ग्रन्थों के प्रणेता मण्डन मिश्र; शास्त्रदीपिका, तन्त्ररत्न, न्यायरत्नमाला आदि अनेक निबन्धों के प्रणेता पार्थ सारथि मिश्र; काशिकाकार सुचरित मिश्र; न्यायसुधाकार सोमेश्वर भट्ट।

इस शास्त्र के मतान्तर प्रवर्तन करनेवाले अन्य कई वार्तिककार थे, यह ऋजुविमला के वाक्यों से प्रकट होता है। इसके बाद प्रभाकर ने शबर-भाष्य पर बृहती नामक व्याख्या की रचना की। इस बृहती व्याख्या पर भी शालिकनाथ की ऋजुविमला नामक व्याख्या प्रसिद्ध है।

प्रभाकर कहां और कब हुए, इसका कुछ निश्चय नहीं हुआ है। कहा जाता है कि वे कुमारिल भट्ट के शिष्य थे, मण्डन मिश्र के साथ पढ़ा करते थे। उनकी बुद्धि विलक्षण थी। पण्डितों में उनके विषय में एक कथा खूब प्रसिद्ध है। कहते हैं कि किसी समय उन्होंने श्राद्धीय विषय में अपने गुरु से भिन्न मत प्रदर्शित किया। गुरुजी ने खूब प्रयत्न किया, पर वे उस मत का अनौचित्य नहीं बतला सके। कुछ दिनों के बाद छात्रों में ख़बर उड़ी कि गुरुजी का देहावसान हो गया। तब यह विचार उपस्थित हुआ कि किस मत से उनका और्ध्व दैहिक होना चाहिए। तब प्रभाकर ने कहा, "गुरुजी का ही मत ठीक है। मैंने तो सिर्फ़ विचार के लिए भिन्न मत उपस्थित किया था।" यह सुनते ही गुरुजी वहाँ आ गये और प्रभाकर के अपना मत परित्याग करने पर हर्ष प्रकट करने लगे। तब प्रभाकर ने कहा, "यह सच है कि आपने अपना मत मुझसे स्वीकार करा लिया, पर जीवित दशा में वह आपसे नहीं हुआ।" कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि प्रभाकर मीमांसा-दर्शन के बड़े भारी आचार्य हैं।

६—योरपीय महायुद्ध का भीषण परिणाम।

गत योरपीय महायुद्ध का परिणाम सभी को मालूम है। सैकड़ों वर्षों के प्राचीन आस्ट्रिया और तुर्क साम्राज्य

लुप्त हो गये। जर्मनी और रूस के दुर्दान्त नये साम्राज्य भी विनष्ट हो गये। परन्तु इस महायुद्ध में जितना नर-संहार हुआ है उसका अनुमान करने-मात्र से कलेजा काँप उठता है। इस महायुद्ध के हताहतों की पूर्ण संख्या का पता लगना तो असम्भव सा है, पर अभी फ़्रान्स में जो मनुष्य-गणना हुई है उसे देखने से इस महायुद्ध के भीषण परिणाम की स्मृति फिर जागृत हो जाती है। सन् १६११ में जो मनुष्य-गणना फ़्रान्स में हुई थी उसके अनुसार इस साल की गणना में ३,६०,००,००० की कमी है। यद्यपि यह बात ठीक है कि इन सबका संहार युद्ध ही में न हुआ होगा। इसके सिवा यह भी कहा जा सकता है कि फ़्रान्स में प्रति वर्ष उतने आदमी नहीं पैदा होते जितने मरते हैं अर्थात् वहाँ मृत्यु-संख्या अधिक है। परन्तु इन दलीलों से यह बात बुद्धि में नहीं बैठती कि केवल १० वर्ष बाद ही सहसा तीन करोड़ साठ लाख मनुष्यों की कमी इस प्रकार हो जाय। निस्सन्देह इस कमी का कारण गत योरपीय युद्ध ही हो सकता है। सन् १६१६ में फ़्रान्स की जन-संख्या का अन्दाज़ा किया गया था। उसके अनुसार लोगों ने समझा था कि फ़्रान्स की आबादी ४,१५,००,००० होगी। परन्तु जब विधिसहित मनुष्य-गणना की गई तब उपर्युक्त अटकल अटकल ही निकली, उससे भी कम जन-संख्या पाई गई। जब अकेले फ़्रान्स के जन-समुदाय का इस प्रकार संहार हुआ है तब दूसरे युद्ध-लिप्त राष्ट्रों की कितनी जन-हानि हुई होगी, यह सहज में ही अनुमेय है। निस्सन्देह गत महायुद्ध से योरप ध्वंस हो गया है, इस कथन में बहुत कुछ तथ्य है।

७—निखिल भारत अनाथाश्रम की अपील।

कालीघाट, कलकत्ते में उपर्युक्त नाम की एक संस्था तीन वर्ष से स्थापित है। इसके सभापति देशबन्धु चित्तरञ्जनदास हैं। आप ही के उद्योग से इस संस्था का कार्य सुचारु रूप से सम्पादित हो रहा है। परन्तु धनाभाव के कारण इसका काम चलता नहीं दीखता, क्योंकि न तो इसका कोई स्थायी कोष है और न वैसी सहायता ही मिल रही है कि इसका कार्य-क्षेत्र और बढ़ाया जाय। इसलिए उदार-चेताओं से यथाशक्ति सहायता प्रदान करने के लिए इस संस्था की ओर से एक अपील प्रकाशित हुई है।

इस समय इस आश्रम में २०० अनाथ बालक हैं। उनके भरण-पोषण तथा शिक्षण में लगभग २,५००) मासिक खर्च होते हैं। इसके सिवा इस आश्रम की ओर से विधवाओं और लँगड़े-लूलों को भी आश्रय देने की व्यवस्था है। संस्था उपयोगिनी है। आशा है, पुण्यात्मा जन इस आश्रम की सहायता करने के लिए प्रस्तुत होंगे। जो महाशय इसे सहायता देना चाहें वे उपर्युक्त आश्रम के अध्यक्ष के नाम से कालीघाट, कलकत्ते के पते पर लिखा-पढ़ी करें।

पुस्तक-परिचय।

१—महाराजा रणजीतसिंह—लेखक, श्रीयुत पण्डित नन्दकुमारदेव शर्मा, आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या ७+२४१ और मूल्य १॥) तथा जिल्द बँधी का २) है। प्रकाशक गाँधी-हिन्दी-पुस्तक-भंडार कालबादेवी, बम्बई। पुस्तक प्रकाशक को लिखने से मिल सकती है।

अभी तक हिन्दी में एक भी अच्छा जीवन-चरित नहीं लिखा गया है। अन्यान्य देशी भाषाओं में अच्छे जीवन-चरितों का अभाव नहीं। अच्छे जीवन-चरित कैसे होते हैं इसका नमूना हिन्दी में बँगला से अनुवादित 'ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' मौजूद है। काशी की मनोरञ्जक ग्रन्थ-माला में दो एक जीवन-चरित अच्छे प्रकाशित हुए हैं, पर वे 'ईश्वरचन्द्र विद्यासागर' की टक्कर के नहीं हैं। तो भी वास्तविक वस्तु के अभाव में वही पर्याप्त हैं। समालोच्य पुस्तक भी ऐसी ही निकली है। पण्डित नन्दकुमारदेव शर्मा संक्षिप्त जीवनियाँ लिखने में सिद्ध-हस्त हैं। आपकी लिखी हुई कई एक छोटी छोटी जीवनियाँ ओंकार-ग्रन्थमाला तथा अन्यत्र भी प्रकाशित हुई हैं। वे मनोरञ्जक ही नहीं, किन्तु उपादेय भी हैं। अब आपका ध्यान बड़े आकार में तथा अच्छे ढँग से जीवन-चरित लिखने की ओर झुका है। आपका 'लोकमान्य तिलक' अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है और समालोच्य पुस्तक आपकी दूसरी रचना है। 'लोकमान्य तिलक' की भाँति आपकी यह रचना भी सुन्दर हुई है। इसके लिखने में जितनी सामग्री उपलब्ध हो सकती है उसका उपयोग आपने पूर्णरूप से किया है।

शर्माजी ने अपनी इस पुस्तक में अनेक बातें सूत्र रूप में उल्लेख की हैं। इस कारण कहीं कहीं रचना में शिथिलता और फीकापन आगया है। उदाहरण के लिए मिसलों का विवरण ले लीजिए। इस प्रकरण में यह दोष विशेष रूप से परिलक्षित होता है। इसके सिवा यदि महा-

राज रणजीतसिंह की शासन व्यवस्था पर एक अध्याय अलग लिख कर तथा उपसंहार में उनकी मृत्यु के समय की राज्य-स्थिति का उल्लेख करके ग्रन्थ समाप्त होता तो यह पुस्तक आपकी रचनाओं में अग्रस्थान पाती। ऐसा होते हुए भी हमें यह कहने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं कि 'महाराजा रणजीतसिंह' की रचना अच्छी ही नहीं हुई है, किन्तु इसके पढ़ने से उन अनेक बातों का ज्ञान भी हो जाता है जिनको जानने के लिए लोग अनेक अँगरेज़ी ग्रन्थों का अनुसन्धान किया करते हैं। इसके सिवा पुस्तक मनोरञ्जक है और इसकी भाषा परिमार्जित है।

❀

२—राज्य-सम्बन्धी-सिद्धान्त—यह हिन्दी राष्ट्रीय लता का प्रथम गुच्छा है। पण्डित मातासेवक पाठक ने इसकी रचना की है। पुस्तक २०२ पृष्ठों में समाप्त हुई है। काग़ज़ और छपाई अच्छी है। सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। मूल्य १॥) है। "भारतीय पुस्तक एजेंसी" नारायणप्रसाद बाबू-लेन, कलकत्ता ने इसका प्रकाशन किया है।

पुस्तक के नाम ही से सूचित होता है कि इसमें राज-सम्बन्धी सिद्धांतों की विवेचना है। इसमें आठ अध्याय हैं। अन्त में एक परिशिष्ट है। उसमें सोविट (बोल्शेविक) शासन-प्रणाली की चर्चा की गई है। पुस्तक के आरम्भ में लेखक महोदय का चित्र और चरित्र दोनों दे दिये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी में अभी ऐसे ग्रन्थों का अभाव है। हमें आशा है कि हिन्दी-भाषाभाषी प्रकाशक का उत्साह बढ़ावेंगे। इसका सुफल यह होगा कि इस ग्रन्थ में अभी जो बातें सूत्र रूप से दी गई हैं उनका विस्तृत विवेचन इसके दूसरे संस्करण में किया जायगा। भाषा सरल और सुन्दर है। विवेचना भी स्पष्ट है। पुस्तक सर्वथा सङ्ग्रहणीय है।

❀

३—पार्वती—आकार मँझोला, पृष्ठ-संख्या १६१, और मूल्य सादी का २), रङ्गीन जिल्द का २।) तथा रेशमी जिल्द का २॥), रुपये हैं। लेखक, श्रीयुत नवजादिक-लाल श्रीवास्तव। प्रकाशक, श्रीयुत रिखबदास वाहिनी, 'दुर्गाप्रेस', ७४ बड़तल्ली स्ट्रीट, कलकत्ता।

यह एक शिक्षाप्रद पौराणिक उपाख्यान है। पार्वतीजी की जैसी कथा शिवपुराण में लिखी है उसके आधार पर इसकी रचना तो की ही गई है, पर कालिदास के कुमारसम्भव से भी सहायता ली गई है। मतलब यह कि पुराण और काव्य के संमिश्रण से इस 'पार्वती' की अवतारणा हुई है। सम्भवतः इसी कारण पार्वती का पौराणिक महत्त्व इस रचना में प्रकट नहीं होने पाया। इस रचना में पार्वती का जैसा चरित्र वर्णित है उससे उनके संसारी रूप का भव्य-दर्शन होता है। लेखक महोदय ने 'विलायती-सभ्यता-संकुल भारतीय स्त्रीसमाज' का लिहाज़ करके ही इस प्रकार की 'पार्वती' लिखी है। आप अपने प्रयत्न में ख़ूब सफल हुए हैं। इस रचना के पहले भी आपके दो एक ऐसे ही पौराणिक उपाख्यान प्रकाशित हुए हैं, पर वे और ही प्रकार के थे। उनमें साधारण मनुष्यों की जीवन-घटनाओं ही का वर्णन करना था। पर इसमें जिसका चरित लिखा गया है वह हिन्दूसमाज में भगवती मानी जाकर पूजित है। इस बात से बचे रहने का जो प्रयत्न लेखक ने अपनी पुस्तक में किया है उससे पार्वती के उपाख्यान का महत्त्व जाता रहा, पर एक साधारण नारी के रूप में उनका चरित अवश्यमेव शिक्षाप्रद अङ्कित हुआ है। पुस्तक बहुत अच्छे ढँग से लिखी गई है और स्त्रियों के मतलब की है, पर विशेष करके उनके जो विलायती-सभ्यता-संकुल हैं। पुस्तक की भाषा सरल और सुन्दर है। काग़ज़ और छपाई भी अच्छी है, पर जो रङ्गीन या सादे चित्र इस पुस्तक में शोभा-वृद्धि के लिए लगाये गये हैं वे अच्छे नहीं हैं। न तो वे सुन्दर हैं और न स्वाभाविक ही हैं। इन्हीं के कारण पुस्तक भी मूल्यवान् होगई है।

❀

४—सम्राट् हर्षवर्द्धन—लेखक, सम्पूर्णानन्द बी० एस-सी०, एल० टी०। प्रकाशक, गान्धी हिन्दी-पुस्तक भाण्डार, कालबादेवी, बम्बई। आकार छोटा, पृष्ठ-संख्या ८७ और मूल्य आठ आने हैं। प्रकाशक से प्राप्य।

सम्राट् हर्षवर्द्धन भारत के अन्तिम हिन्दू सम्राट् हैं। इनके बाद फिर कोई ऐसा हिन्दू राजा नहीं हुआ जो भारत या उसके अधिकांश भाग पर अधिकार जमा कर देश के स्वातन्त्र्य की रक्षा करता। ऐसे ही सम्राट् के जीवन की चर्चा इस पुस्तक में संक्षेप के साथ दी गई है। पुस्तक सङ्ग्रह करने योग्य है। छपाई, काग़ज़ भी अच्छा है। यह हिन्दी-गौरव-ग्रन्थमाला की २३ वीं किताब है।

५—असहयोग—कुछ समय हुआ असहयोग आन्दोलन की हँसी उड़ाने की दृष्टि से मदरास के मिस्टर एस० एम० माइकल ने नाटक के ढँग पर एक निबन्ध लिखा था उसी का अनुवाद तथा उसका उत्तर भी—हिन्दी भाषा में इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुआ है। पहले ये निबन्ध जबलपुर के कर्मवीर में प्रकाशित हुए थे। वही अब पुस्तकाकार छापे गये हैं। पुस्तक अच्छी है और पढ़ने लायक है। लेखक का नाम नहीं लिखा है। मूल्य ।) हैं। पता—ठाकुर उमरावसिंह चौहान, भारत-पुस्तक-एजेन्सी, दीक्षितपुरा, जबलपुर (सी० पी०)

६—हिन्दी-गौरव-नाटक—लेखक, पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी। प्रकाशक, लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद। मूल्य ~) है। प्रकाशक से प्राप्य।

पहले यह नाटक पूर्वोक्त नाम के प्रेस से निकलनेवाली 'प्रतिभा' मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। अब यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। इस नाटक में न तो कोई नूतनता है और न यह ऐसा है कि नाटक कहा जाय। अँगरेज़ी के शब्दोच्चारण की त्रुटियाँ बता कर तथा हिन्दी-साहित्य से अपरिचित किसी व्यक्तिविशेष का उपहास करके इस नाटक में हिन्दी की गौरव-वृद्धि का व्यर्थ प्रयास चतुर्वेदीजी ने किया है। हिन्दी के अभिमानी भक्तों से उसकी रक्षा सदा वाञ्छनीय है।

७—आर्य्यमहिला—(सचित्र त्रयमासिक पत्रिका) सम्पादिका, खैरीगढ़ राजेश्वरी भारतधर्म लक्ष्मी महाराज्ञी श्रीमती सुरथकुमारी देवी (O. B. E., K. H. Gold Medalist).

इस पत्रिका का प्रकाशन भारतधर्ममहामण्डल, काशी से होता है। इसके तीसरे वर्ष की चौथी संख्या हमारे सामने है। पृष्ठ-संख्या ९६ है और लेख बीस हैं। पत्रिका का मुखपृष्ठ बहुत ही सुन्दर है। भगवती का रङ्गीन चित्र उसकी शोभा बढ़ा रहा है। भीतर भी पुरानी चाल का एक रङ्गीन चित्र है। इसके सिवा तीन और भी चित्र हैं। इसके लेख पढ़ कर हमें बड़ी निराशा हुई। हमारी समझ में यह बात न आ सकी कि इस पत्रिका का क्या उद्देश है। स्त्रियों के लिए ही इस पत्रिका का प्रकाशन हुआ है, यह बात इसके लेख पढ़ने से नहीं मालूम होती। इस अङ्क में कई एक लेख बहुत अच्छे निकले हैं, परन्तु उनका सम्बन्ध स्त्रियों से ज़रा भी नहीं है। इसकी भाषा भी इतनी परिमार्जित है कि साधारण शिक्षा-प्राप्त स्त्रियाँ इस पत्रिका के उच्च विचार हृदयङ्गम ही नहीं कर सकतीं। अपनी बात की पुष्टि के लिए यहाँ हम एक वाक्य उद्धृत करते हैं :—

"उसमें सजीव, निर्जीव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी के प्रति प्रेम-विस्तार करते हुए मनुष्य के ऊपर ऋषि, देवता, पितृगण पर्यन्त में प्रेम विस्तारपूर्वक अन्त में सजीव निर्जीव सर्वत्र विराजमान परब्रह्म परमात्मा में आत्मनिमज्जन करके स्वरूप-प्रतिष्ठा है"।

इन प्रान्तों में स्त्रियों के लिए उपयोगी एक उच्च कोटि के मासिक पत्र की बड़ी भारी ज़रूरत है। रानी साहबा की ज़रा सी इच्छा करने पर इस अभाव की पूर्ति 'आर्यमहिला' से हो सकती है। सम्पादकीय टिप्पणियों में महामण्डल के कार्यों की घोषणा पढ़ कर और भी निराशा हुई। इस कार्य के लिए महा-मण्डल की निज की पत्रिका है। तब इसका अमूल्य स्थान इस कार्य में लगाया जाना उचित नहीं जँचता। इसका वार्षिक मूल्य कितना है तथा यह कब प्रकाशित होती है इसका पता प्रयत्न करने पर भी हमें नहीं लगा। ये थोड़े से शब्द इस उद्देश से लिखे गये हैं कि आर्यमहिला जैसी सुन्दर और श्रेष्ठ पत्रिका प्रकृत रूप धारण करके स्त्री-समाज का कल्याण साधन करे।

चित्र-परिचय।

शिव-प्रतिज्ञा।

सरस्वती के इस अङ्क में शिव-प्रतिज्ञा नाम का चित्र दिया जाता है। जब त्रिपुरासुर के अत्याचारों से संसार के प्राणी घोर कष्ट पाने लगे तब देवराज इन्द्र ब्रह्मा और विष्णु को लेकर शिव के पास गये। शिव ने इन्द्र की विनय सुन कर त्रिपुरासुर का संहार करने की प्रतिज्ञा की। इसी भाव को लेकर चित्रकार ने इस चित्र को अङ्कित किया है। यह चित्र हमें कुँवर विचित्रशाह, टिहरी (गढ़वाल), से प्राप्त हुआ है, एतदर्थ हम आपके कृतज्ञ हैं।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at The Indian Press, Ld., Allahabad.

लेख-सूची।

चित्र-सूची।

प्रतीक्षा।

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

भाग २२, खण्ड २] सितम्बर १९२१—भाद्रपद १९७८ [संख्या ३, पूर्ण संख्या २६१

वाजिदअलीशाह।

आज हम एक ऐसे व्यसनी और कर्तव्य-पराङ्मुख बादशाह का संक्षिप्त चरित लिखते हैं जिसने अपने दुर्गुणों के कारण अपने पूर्वजों के उपार्जित राज्य को हमेशा के लिए खो दिया।

वाजिदअलीशाह का जन्म २२ जुलाई १८२२ को हुआ था। उनके पिता अमजदअलीशाह की मृत्यु होने पर, १३ फ़रवरी १८४७ को, उन्हें लखनऊ का तख़्त मिला। उस समय उनकी उम्र २५ वर्ष की थी। वाजिदअलीशाह को राजोचित शिक्षा नहीं मिली। उनका लालन-पालन विशेष करके स्त्रियों ही के बीच में हुआ। इसलिए उन्हें महलों के भीतर स्त्रियों, पुरुषत्वहीन पुरुषों, वेश्याओं और गाने-बजानेवालों के साथ रहने ही में अधिक आनन्द मिलता था। जिस समय वाजिदअली को गद्दी मिली कप्तान शेक्सपियर लखनऊ के रेज़िडेंट थे। उन्होंने वाजिदअली की गुणावली का कीर्तन अच्छी तरह करके गवर्नर जनरल को भेजा। उनके बाद कर्नल रिचमण्ड रेज़िडेंट हुए। उन्होंने भी अपनी रिपोर्ट में कप्तान शेक्सपियर के कथन का समर्थन किया और लिखा—"बादशाह की हालत अच्छी नहीं। वह दुर्व्यसनों में लिप्त है; उसे नीच आदमियों की ही सङ्गति अच्छी लगती है; उसे बहुत कम शिक्षा मिली है; वह समझता है कि सांसारिक सुखों का सबसे अधिक अनुभव करना ही मेरा परम कर्तव्य है। वह प्रजा के हानि-लाभ की कुछ भी परवा न करके अपने चाटुकार—खुशामदी—आदमियों को बड़े बड़े अधिकार देता है। उनकी योग्यता का वह ज़रा भी ख़याल नहीं करता।" कर्नल रिचमण्ड के बाद, १८४९ ईसवी में, मेजर जनरल स्लीमन लखनऊ के रेज़िडेंट हुए। स्लीमन साहब न्यायप्रिय, योग्य, उदार, तजरिबेकार और हिन्दुस्तान के हितचिन्तक थे। अवध की दुर्व्यवस्था देख कर गवर्नर जनरल ने उनको यहाँ भेजा था। उन्होंने तीन महीने अवध में दौरा करके देश की दशा प्रत्यक्ष देखी और दिनचर्या के रूप में उन्होंने सब बातें लिख लीं। यह दिनचर्या

दो जिल्दों में पीछे से प्रकाशित हुई। इसे पढ़ कर अवध की दुर्दशा का मूर्त्तिमान् रूप आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। हाकिमों और लुटेरों की निर्दयता, और प्रजा पर किये गये दारुण अत्याचारों, का वर्णन पढ़ कर दुःख, शोक, दया, करुणा और क्रोध आदि मनोविकारों से चित्त विकल हो उठता है।

१८०१ ईसवी में अँगरेज़ों और लखनऊ के बादशाह सआदतअलीख़ाँ ने, परस्पर, एक सन्धिपत्र लिखा। उसके अनुसार सआदतअली ने अवध का प्रायः आधा राज्य अँगरेज़ों को दे डाला। उस दस्तावेज़ में बहुत सी शर्तें हुईं। उनमें से एक शर्त यह भी थी कि बादशाह अपनी प्रजा पर न्यायपूर्वक राज्य करे—किसी पर अन्याय न होने पावे—और अँगरेज़ भीतरी और बाहरी दुश्मनों से अवध की रक्षा करें। १८३७ ईसवी में, मुहम्मदअली के समय में, यह सन्धिपत्र फिर से नया किया गया। इस दस्तावेज़ की कुछ शर्तें विलायत में बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स ने मंज़ूर न कीं। बादशाह से कई लाख रुपये और अधिक लेने की जो शर्त थी वह भी इन्हीं में से थी। पर और सब शर्तें पूर्ववत् बनी रहीं। "तुम्हें अपनी प्रजा का अच्छी तरह पालन करना चाहिए"—यह शर्त वैसी ही रही। मुल्क बादशाह का, पर प्रजा-पालन की फ़िक्र अँगरेज़ों को! क्यों? हम हिन्दुस्तान के सार्वभौम राजा हैं, इसलिए। किसी के राज्य में प्रजा-पीड़न होने से हमारी भी बदनामी है।

जब कभी अँगरेज़ों को अवध में दुर्व्यवस्था देख पड़ी तभी उन्होंने यहाँ के बादशाहों को इस शर्त की याद दिलाई। एक दफ़े नहीं, कई दफ़े उन्हें इसकी याद दिलानी पड़ी। याद ही नहीं, समझाना, बुझाना और धमकाना तक पड़ा। परन्तु विशेष फ़ायदा न हुआ। वाजिदअली के गद्दी पर बैठने पर, नवम्बर १८४७ ईसवी में, हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल लार्ड हार्डिञ्ज लखनऊ आये। उन्होंने वाजिदअली से कहा कि रेज़िडेंट की सलाह से आप काम कीजिए। आपको दो वर्ष की मुहलत दी जाती है। इतने समय में आपको अपनी राज्य-प्रणाली में सुधार करना चाहिए। वाजिदअलीशाह ने गवर्नर जनरल के इस उपदेश के उत्तर में "जो हुक्म" कह कर लाट साहब को किसी तरह टाला। उनके चले जाने के बाद, कुछ दिनों तक, बादशाह ने अपने अधिकारियों को बुला कर दरबार में बैठना शुरू किया।

इस तरह महीने दो महीने यह दिखला कर कि मैं लाट साहब की आज्ञा के अनुसार काम करता हूँ वाजिदअलीशाह ने दरबार में आना बन्द कर दिया। अन्तःपुर से बाहर निकलने में उन्हें तकलीफ़ होने लगी। वे अपने रङ्गमहल में अपनी अनेक नई पुरानी बेगमों, और गानेबजानेवालों तथा मसख़रों की सङ्गति में पूर्ववत् निमग्न हो गये। इसके सिवा उन्हें और किसी भी तरह चैन न आती थी। उनके शुभचिन्तकों और एक के बाद दूसरे रेज़िडेंटों ने उन्हें बहुत समझाया, पर सब व्यर्थ हुआ। धीरे धीरे वाजिदअलीशाह की विलासिता यहाँ तक बढ़ गई कि उन्होंने अपने अधिकारियों, शहर के अमीरों और राजघराने के आदमियों तक से मिलना और दरबार में आकर राज्य के काग़ज़-पत्र देखना बिलकुल ही बन्द कर दिया। रज़ोउद्दौला नामक एक नीच जाति का गायक था। उसने बादशाह को यहाँ तक अपने वश में कर लिया कि उसके सिवा और किसी को अपने पास भेंट के लिए आने की सख़्त मनाई वाजिदअली ने करदी। दुर्व्यसन-सेवा और दुःशील लोगों की सङ्गति से जो बुरे परिणाम होते हैं वे होने लगे और लखनऊ के अन्तिम "बादशाह सलामत" नीच से भी नीच और निन्द्य से भी निन्द्य दशा को जा पहुँचे!

अगस्त १८४६ में स्लीमन साहब ने लार्ड डलहौसी को एक पत्र लिखा। उसमें एक जगह आप लिखते हैं—

> "राज्य का काम-काज देखने के लिए मैंने बादशाह को कई पत्र लिखे, पर उनका कुछ भी असर बादशाह पर न हुआ। बादशाह अपना सारा वक़्त गाने-बजानेवालों की सङ्गति में, या उन औरतों की सङ्गति में जो वे लोग लाते हैं, खोता है। उसके मनोरञ्जन का एक-मात्र साधन यही लोग हैं। रज़ोउद्दौला सब गवैयों का सरदार है। पूरे आठ घण्टे बादशाह उसके मकान पर रहता है। यह मनुष्य अभी कुछ दिन पहले चार रुपये महीने पर एक वेश्या के यहाँ तबलची था। ये गवैये बहुत ही नीच जाति के हैं—इनमें से कुछ डोम भी हैं। अब यही लोग

मुल्क के मालिक बन गये हैं। बादशाह किसी से नहीं मिलता। वह राज्य से सम्बन्ध रखनेवाली बातें नहीं जानता और जानने की परवा भी नहीं करता। प्रजा उससे घृणा करती है।"

एक और जगह आप लिखते हैं—

"यदि बादशाह के साथी तबलची और हीजड़े चाहें तो बादशाह आज ही अपने वज़ीर को निकाल दे। और यदि कोई दूसरा आदमी वर्तमान वज़ीर से अधिक घूस देने पर राज़ी हो तो वे उसे निकाल कर कल करें। बादशाह दरबार में नहीं आता और अपना काम नहीं करता। इस कारण सब कहीं लूट-मार मची हुई है। वज़ीर और दरबार के आउरदे ही नहीं लूट मचा रहे, रिश्वत का बाज़ार सभी कहीं गरम है। महाराजा बालकृष्ण दीवान के पद पर है। वह सबसे अधिक घूसख़ोर है। बादशाही रुपया जो ठेकेदारों के नाम बक़ाये में रहता है उसका बहुत सा हिस्सा वह खा जाता है और जो कुछ रह जाता है उसे वह छोड़ देता है। लखनऊ में एक भी शाही दफ़्तर ऐसा नहीं है जहाँ रिश्वत न ली जाती हो।"

× × × ×

"हैदरी नाम का एक इतिहास है। वह गद्य में है। आज-कल 'बादशाह सलामत' उसका अनुवाद पद्य में करने लगे हैं। इसलिए लखनऊ के जितने कवि, कुकवि और सुकवि हैं सब बादशाह को रात के ९ बजे से ३ बजे तक घेरे रहते हैं। वज़ीर, स्त्रियाँ, गायक और दुश्चरित्र नपुंसकों को छोड़ कर यही लोग ऐसे हैं जिनकी पहुँच आज-कल बादशाह तक है। गत जनवरी में जब से मैं यहाँ आया हूँ तब से यही तमाशा हो रहा है"।

× × × ×

"बादशाह को यह डर लगा रहता है कि कहीं उसकी सबसे बड़ी बेगम उसे ज़हर न दे दे। वह उसे मार कर अपने बेटे को गद्दी पर बिठाना और अपने एक प्रेमपात्र को कानपुर से अपने पास बुला लेना चाहती है। बादशाह की दूसरी बेगम गवैयों के सरदार रज़ीउद्दौला से मैत्री रखती है। उसे ऐसा करने से रोकते बादशाह डरता है। वह समझता है कि कहीं वह भी न मुझे ज़हर देकर अपने मित्र के साथ रामपुर चली जाय"!

स्लीमन साहब ने एक ख़ानगी चिट्ठी इलियट साहब को लिखी थी। वह उनकी दिनचर्या में छपी है। उसमें आप कहते हैं कि मुझको यहाँ से निकालने के लिए १५ लाख रुपये ख़र्च किये जाने का विचार हो रहा है। लोग नहीं चाहते कि मैं किसी तरह के सुधार की कोशिश करूँ। इसी लिए अनेक षड्यन्त्र रचे जा रहे हैं। मैंने सरकारी तौर पर जो चिट्ठी भेजी है उसमें लिखा है कि वज़ीर की सालाना नज़रों का टोटल औसत सात लाख रुपया है। पर अब वह बढ़ कर १२ लाख हो गया है।

११ सितम्बर १८५४ को, लखनऊ से बदली होने के समय, जो पत्र स्लीमन साहब ने लार्ड डलहौसी को लिखा था उसमें एक जगह आप कहते हैं—

"फ़ारिस के शाह की तरफ़ से वाजिदअली के नाम कुछ बनावटी चिट्ठियाँ पकड़ी गई हैं। उनमें हिन्दुस्तान जीत कर आपस में बाँट लेने की बात है। मैंने बादशाह से इस विषय में चर्चा की; पर बादशाह ने कहा कि मैं इन चिट्ठियों की बात बिलकुल नहीं जानता। कुछ भी हो, बादशाह का चित्त स्थिर नहीं; वह बहुत ही अव्यवस्थित हो रहा है। कुछ दिनों में, बात यहाँ तक बिगड़ जानेवाली है कि फिर उसका बनना असम्भव हो जायगा। वज़ीर और उसके आउरदों ने बम्बई और कलकत्ते में अपने एजंट रक्खे हैं। उनकी सहायता से वे सैकड़ों तरह के बहाने बतला कर बादशाह को लूट रहे हैं।"

अवध का गैज़ेटियर, अवध से सम्बन्ध रखनेवाले पारलियामेंट के काग़ज़-पत्र, इरविन, लारेन्स और स्लीमन आदि के लेख और शबाबे लखनऊ नामक अवध के नव्वाब वज़ीरों के समय के इतिवृत्त से वाजिदअलीशाह के समय का बहुत कुछ हाल मिलता है। पर जहाँ देखो वहाँ उनके दुर्व्यसनों ही का ज़िक्र है। इन सब पुस्तकों और लेखों से यह साबित होता है कि बादशाह न कभी किसी की शिकायत सुनता था, न किसी की नालिश फ़रियाद सुनता था और न किसी की रिपोर्ट ही को कभी आँख

उठा कर पढ़ता था। वह सिर्फ़ अपनी विषयवासनाओं की सेवा में रत रहता था। उसे न अपने कर्तव्य की परवा थी और न अपने को वह किसी बात के लिए ज़िम्मेदार ही समझता था। गाने-बजानेवालों, मसख़रों और स्त्रियों ही की सुहबत उसे पसन्द थी। वह अपने घर के ही काम-काज की देख-भाल न कर सकता था; मुल्क के कारोबार देखने की उसे कहाँ फ़ुरसत थी? कभी कभी वह अपने वज़ीर, अलीनक़ीख़ाँ, को अपने पास आने देता था। पर जब वज़ीर साहब बादशाह से मिलते थे तब इस तरह की बात-चीत करते थे जिससे यह साबित होता था कि जो कुछ बादशाह को करना चाहिए वह सब वह कर रहा था; और अधिक करने की उसे कोई ज़रूरत न थी। वह अपने भाई, चचा और शहर के रईसों और अमीरों से कभी न मिलता था। बादशाह की बनाई हुई कविता की तारीफ़ करने के लिए सिर्फ़ दो चार महाकवि उसके पास जाने पाते थे। जब कभी वह घोड़े या गाड़ी पर सवार होकर बाहर निकलता था तब यदि कोई साहस करके उसे कुछ लिख कर देना चाहता था तो वह पकड़ लिया जाता था। जिन लोगों पर सख़्ती होती थी; जिनकी रियासतें छिन जाती थीं; जिनके कुटुम्बी मार डाले जाते थे—वे कभी कभी अर्ज़ियाँ लेकर, बादशाह के बाहर निकलने पर, रोते चिल्लाते हुए उन्हें देने दौड़ते थे। पर वे लोग या तो क़ैद कर लिये जाते थे, या उन्हें और किसी तरह की सख़्त सज़ा दी जाती थी! लिखा लोगों ने ऐसा ही है। झूठ सच की राम जाने। बादशाह के बाप और दादे इत्यादि दरबार में आते थे। शाही ख़ानदान के आदमियों और अमीर-उमरा लोगों से वे मिलते थे। अर्ज़ियाँ और रिपोर्टें वग़ैरह वे या तो स्वयं पढ़ते थे या दूसरों से पढ़ा कर उन्हें सुनते थे। इसके बाद वे हुक्म लिखाते थे और अपने सामने ही सब काग़ज़-पत्रों पर अपनी मुहर करते थे। तख़्त मिलने पर कुछ दिनों तक वाजिदअलीशाह ने भी ऐसा ही क्रम जारी रक्खा। पर उन्होंने बहुत जल्द दरबार में आना बन्द कर दिया और मुहर वग़ैरह सब अपने वज़ीर को दे दिया। धीरे धीरे वज़ीरे-आज़म की भी हालत बादशाह ही की जैसी हो गई। लोगों की पहुँच उस तक भी मुश्किल से होने लगी। फल हुआ कि देश में अराजकता फैल गई और घूसख़ोर और लुटेरों की बन आई।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफ़सरों ने वाजिदअलीशाह को दो वर्ष की मुहलत दी थी। पर सुधार होना तो दूर रहा, राज्यप्रबन्ध में और भी अधिक अबतरी होती गई। एक साहब लिखते हैं कि बादशाह का सबसे बड़ा हौसला यह है कि "दुनिया भर में जितने आदमी बहुत ही अच्छा तबला बजाते हों, बहुत ही अच्छा नाचते हों, बहुत ही अच्छी कविता करते हों उनसे भी मेरा नम्बर बढ़ जाय। राज्य करने के वह बिलकुल योग्य नहीं। पर वह अपने मन में यह समझता है कि चाहे जो काम हो उसे और कोई आदमी उससे अच्छा नहीं कर सकता। इसी से वह राज़ी ख़ुशी अपना तख़्त किसी दूसरे को नहीं देना चाहता।"

एक और साहब लिखते हैं—"वह राज्य करने की अपनी परम अयोग्यता के नये नये उदाहरण हर रोज़ दिखाता है। अभी इसी मुहर्रम में, कई दफ़े, अपने गले में एक ताशा लटका कर वह गली गली उसे पीटता फिरा। इससे उसके कुटुम्बियों ने अपनी बड़ी बेइज़्ज़ती समझी। और लोगों को क्या? उन्होंने तो ख़ूब ही तमाशा देखा! दो तीन वर्ष से बादशाह के कुटुम्बवालों को जो मासिक मिलता था वह नहीं मिला। इससे बहुतों को अपने कपड़े-लत्ते तक बेच कर पेट पालना पड़ा।"*

कप्तान बर्ड लखनऊ के रेज़िडेंट के नायब थे। उन्होंने बादशाह से कई दफ़े कहा कि आप इन स्वार्थी, नीच और तुच्छ गाने-बजानेवालों को निकाल दीजिए; इनको अपने पास न आने दीजिए; इनके पास बैठने उठने से आप भी इन्हीं के स्वभाव के हो जायँगे; आपका सबसे बड़ा कृपापात्र रज़ीउद्दौला विश्वास के लायक़ नहीं—वह आपकी बेगम, सरफ़राजमहल, के यहाँ आता जाता है। पहले तो इस उपदेश का कुछ असर नहीं हुआ। पर जब ये लोग तरह तरह के जाल फैलाने और फ़रेब करने लगे तब

*The King every day manifests his utter unfitness to reign in some new shape. He, on several occasions, during the Moharram Ceremonies, which took place lately, went along the streets beating a drum tied round his neck, to the great scandal of his family and the amusement of his people. The members of his family have not been paid their stipends for from two to three years, and many of them have been reduced to the necessity of selling their clothes to purchase food. Sleeman's journey through Oudh, Vol 2, page 389

बादशाह ने उन्हें क़ैद करके, जून १८५० में, गङ्गा-पार भेज दिया। जो कुछ माल-मत्ता उनके पास था वह भी छीन लिया। पर वे लोग पहले ही लाखों रुपये अपने अपने घर भेज चुके थे। नवम्बर में वाजिदअलीशाह ने सरफ़राजमहल से विवाह-बन्धन तोड़ दिया और उसे मक्के की हज के लिए भेज दिया। यह स्त्री सदाचारिणी न थी। उसके विषय में लखनऊ के रेज़िडेंट के अँगरेज़ी लेख का कुछ अंश नीचे, पादटीका में, यथावत् दिया जाता है।*

रज़ीउद्दौला, उर्फ़ गुलामरज़ा, रामपुर का रहनेवाला था। उसके साथी जितने तबलची, सारङ्गीवाले और गवैये वग़ैरह थे सब उसी तरफ़ के थे। गुलामरज़ा की एक बहन भी लखनऊ में थी। इन लोगों ने अजीब तरह के धोखे दे देकर बादशाह से रुपया वसूल किया। इसी धोखेबाज़ी के कारण बादशाह ने उन्हें निकाला। एक आदमी का नाम था सादिक़अली। वह फ़क़ीर के वेश में सुफ़ीगञ्ज (लखनऊ) में आकर रहने लगा। उस समय वाजिदअलीशाह की तबीयत अच्छी न थी। आपका दिल धड़कता था। रज़ीउद्दौला ने बादशाह से कहा कि यहाँ एक परियों का राजा (आमिले-जिन्नत) आया है। आप उससे मिलिए; वह आपको ज़रूर अच्छा कर देगा। बादशाह कई दफ़े उससे मिला। अपने यहाँ नहीं, उसके घर पर। उसने बादशाह को बेतरह ठगा। एक कमरे में दो छतें लगा कर और दोनों छतों के बीच बैठ कर उसने अद्भुत अद्भुत तरह की बोलियाँ सुनाईं। परियों के मान-दान में बादशाह से उसने लाखों रुपये ऐंठे। रज़ीउद्दौला से बादशाह की बीमारी का सब हाल उसे मालूम ही हो गया था। इससे उसने रोग का कारण और उसकी सब व्यवस्था पूरी पूरी कह सुनाई। एक अद्भुत लिपि में उसने बादशाह को कई बार पत्र भी भेजे। बादशाह को यह सुझाया गया कि वे पत्र सब जिन्नती भाषा में हैं, क्योंकि जिनों के शाहंशाह (सादिक़अली) और लिपि में पत्र नहीं लिखते। महीनों तक ये तमाशे होते रहे और वाजिदअलीशाह को बेवकूफ़ बना कर ये लोग उसे लूटते रहे। इसकी ख़बर कहीं उमराव या अमरू बेगम को लग गई। उसने भण्डाफोड़ कर दिया। बादशाह ने सादिक़अली को पकड़ बुलाया। २ दिसम्बर १८४६ को जिनराज पकड़ आये। आकर आपने अपने सारे जाल का हाल साफ़ साफ़ कह सुनाया। उसने कहा कि सिर्फ़ रुपया कमाने के इरादे से मैंने यह सब किया है। इस फ़रेब में आपके कृपापात्र रज़ीउद्दौला और उसके साथी भी शामिल हैं। तब, रात को बादशाह ने वज़ीर और रज़ीउद्दौला दोनों को बुला भेजा और सादिक़अली से कहा कि जिस तरह तुम अपने घर पर आ मिले—जिन्नत बनते थे उसी तरह यहाँ भी बनो। एक कमरा इसके लिए तैयार किया गया। जब सब ठीक ठाक हो गया तब बादशाह उसके भीतर घुसा। घुसते ही एक ख़ौफ़नाक आवाज़ ऊपर से आई। पर छत में कहीं दर्ज न थी। ज़रा देर में "सलाम आलेकुम" सुनाई दिया और छतों के बीच परीराज प्रकट हो गये। उन्होंने दो एक आभूषण और प्रसाद वग़ैरह बादशाह को वहीं से बाँटे और बाँट कर फिर ग़ायब हो गये। तब बादशाह ने रज़ीउद्दौला की ख़ूब ख़बर ली और कहा कि तुम लोग पहले दरजे के नमकहराम हो। इसी तरह तुम सब मुझे ठगते रहे हो। रज़ीउद्दौला और उसके साथी सआदतअलीख़ाँ के रौज़े में रहते थे। वहाँ पहरा बिठा दिया गया और बिना तलाशी के किसी को आने जाने की सख़्त मनाई हो गई। पर रज़ीउद्दौला की बहन इसके पहले ही वहाँ से निकल भागी थी। इस घटना के बाद भी ये गन्धर्वराज, रज़ीउद्दौला, वहाँ बहुत दिनों तक रहे। बादशाह उसे निकालना चाहता था, पर उसकी इस इच्छा में अनेक व्याघात पैदा होते थे। अन्त में रेज़िडेंट के बहुत ज़ोर लगाने पर वाजिदअलीशाह को उससे नजात मिली।

बादशाह की मूर्खता की कौन कौन सी बात कही जाय। कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको सुन कर बेहद घृणा होती है; पर आप उन्हीं में मग्न थे। उनके बिना आपको चैन ही न था। उन सबका लिखना

*She had long been co-habiting with the Chief singer, Ghulam Raza, and was known to be a very profligate woman. She is said to have given his Majesty to understand that she would not consent to remain in the palace with him without the privilege of choosing her own lovers, a privilege which she had freely enjoyed before she came into it, and could not possibly forego.

यहाँ मुनासिब न होगा। हां, एक छोटी सी बात यहाँ पर लिखी जाती है। वाजिदअलीशाह की मां के पास एक परिचारिका थी। उस पर लखनऊ के बादशाह सलामत लुब्ध हो गये। आपने उस लौंडी से शादी करना चाहा। माँ ने बहुत समझाया, पर उसकी दाल न गली। जब बादशाह की बेक़रारी बहुत ही बढ़ गई तब एक माया रची गई। आपकी मां ने कहा कि इस लड़की की गरदन के पीछे सांपिन का चिह्न है। मनुष्य तो क्या, इस निशानवाला घोड़ा तक कोई नहीं रखता। मैं डरती हूँ कि यदि आप इसे अपनी बेगम बनावेंगे तो कहीं आप और आपकी औलाद दोनों पर आफ़त न आ जाय। पर असल मतलब बेगम का यह था कि वह उस लड़की को देना न चाहती थी और न वह लड़की ही बादशाह की बेगम बनना चाहती थी। माँ की बात सुन कर वाजिदअली ने कहा कि मेरे अनेक बेगमें हैं; सम्भव है, उनमें से भी बहुतों के सांपिन हो; और इसी सबब से मैं बीमार रहता होऊँ। बेगम ने कहा—"बेशक, हम लोगों का भी यही ख़याल है। पर आपके डर से हमने यह बात आपसे आज तक नहीं कही"। इस पर प्रधान हीजड़े बशीर को हुक्म हुआ कि तुम सब बेगमों की गरदनों की परीक्षा करो। परीक्षा का फल भयङ्कर हुआ। आठ बेगमों की गरदनों में यह सर्वनाशी निशान पाया गया। उनके नाम—निशात-महल, ख़ुरशेद-महल, सुलेमां-महल, हज़रत-महल, दारा बेगम, बड़ी बेगम, छोटी बेगम और हज़रत बेगम। फ़ौरन ही इनसे विवाह-बन्धन तोड़ दिया गया और हुक्म हुआ कि जो कुछ इनके पास हो लेकर ये महलों से चली जायँ! कुछ लोगों ने कहा कि मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू लोग सामुद्रिक-शास्त्र अच्छा जानते हैं। इस पर हिन्दू-पण्डित बुलाये गये। उन्होंने कहा कि गरम लोहे से सांपिन का सिर दाग़ देने से विपत्ति की सम्भावना दूर हो जायगी। पर बड़ी और छोटी बेगम को छोड़ कर और किसी ने अपना बदन जलाया जाना और विवाह-बन्धन तोड़ने के बाद रहना मञ्जूर न किया। अतः वे क्रोध में आकर फ़ौरन ही महलों से बाहर हो गईं!

सआदतअली के मरने पर लखनऊ के शाही ख़ज़ाने में १४ करोड़ रुपया ख़र्च होने से बच रहा था। उसके बेटे ग़ाज़ीउद्दीन ने उसमें से ४ करोड़ ख़र्च कर दिया और मुल्क से जो वसूल हुआ वह भी ख़र्च कर दिया। उसके बाद उसके बेटे ने बचे हुए १० करोड़ में से ९ करोड़ ३० लाख उड़ाया। रहा ७० लाख। इसमें से महम्मदअली ने ३५ लाख ख़र्च किया। अमजदअली ने बचे हुए ३५ लाख को बढ़ा कर ९२ लाख कर दिया। इसके सिवा कई लाख अशरफ़ियां भी ख़ज़ाने में थीं और बहुत सा रुपया गवर्नमेंन्ट के प्रामिसरी नोटस के रूप में भी था। वह सब वाजिदअलीशाह को मिला। आप १८४७ ईसवी में तख़्त पर विराजे। १८५१ तक आपने सारी अशरफ़ियां गला डालीं। शायद बेगमों के लिए उनके ज़ेवर बन गये। प्रामिसरी नोटस भी सब आपने उड़ा डाले। और रुपया जो ख़ज़ाने में था वह भी सब आपने ख़र्च कर डाला। आपका ख़र्च आमदनी की अपेक्षा कोई २० लाख अधिक था! पाँच वर्ष में ५५ लाख रुपया आप पर, अपने नौकरों और शाही घराने के आदमियों का देना हो गया। उन लोगों को दो दो तीन तीन वर्ष की तनख़्वाह ही न दी जा सकी।

वाजिदअली के वज़ीरे-आज़म का नाम था अलीनक़ी ख़ां। वज़ीर साहब ने वाजिदअली और वाजिदअली के राज्य को ख़ूब ही मटियामेट किया। वज़ीर के विषय में स्लीमन साहब की राय सुनिए—"वज़ीर विश्वासपात्र आदमी नहीं है। इतना अयोग्य आदमी मैंने कभी नहीं देखा। क़ायदे से काम-काज करना क्या चीज़ है, वह जानता ही नहीं। गाने-बजानेवालों, वेश्याओं, हीजड़ों और ऐसे ही और नीच आदमियों को वह राज्य का रुपया बांट रहा है। क्योंकि बादशाह के यहाँ ऐसे ही लोगों का अधिक आदर है। यही लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में राज्य के बड़े बड़े ओहदों का उपभोग कर रहे हैं। कहीं भी आप जाइए, इन लोगों की प्रभुता का पता आपको अवश्य लगेगा। प्रजा को ये लोग उलटे छुरे से मूड़ रहे हैं। न ऐसा घृणित राज्य मैंने कभी देखा और न ऐसा अयोग्य बादशाह।"

वज़ीर ने अपनी लड़की बादशाह को ब्याह दी थी। अपनी विज़ारत मज़बूत करने के लिए मानों उसने इस ब्याहरूपी जाल में बादशाह को फँसा लिया था।

वह हमेशा बादशाह की तारीफ़ किया करता था। जो कुछ बादशाह करता था वज़ीर उसको अच्छा कहता था। वह अपनी बातों से बादशाह को सुझाता था कि न आपके समान लायक़ और कोई बादशाह ही हुआ और न आपका ऐसा अच्छा राज्य-प्रबन्ध ही कभी किसी ने किया। आपकी राज्य-प्रणाली सर्वथा निर्दोष है। इसे ऐसा ही जारी रखिए। वज़ीर साहब की यही पवित्र मन्त्रणा थी। इसी में उसका और उसके आउरदों का भला भी था।

वाजिदअलीशाह हमेशा अपने रङ्ग में मस्त रहते थे। उन्हें राज्य के काग़ज़ात देखने की फ़ुरसत ही न थी। रेज़िडेंट के भेजे हुए पत्र भी आप अकसर न देखते थे। उनके जवाब बहुधा और ही लोग, बिना उनसे पूछे, भेज दिया करते थे। एक दफ़े बादशाह अपने ख़वास से नाराज़ हो गया। उसका नाम था हसनख़ाँ। उसके घर की तलाशी ली गई। वहाँ काग़ज़ों के कई बंडल मिले। उनमें रेज़िडेंट के भेजे हुए भी कई लिफ़ाफ़े थे! उन पर "ज़रूरी" लिखा था। पर वे खोले तक न गये थे! यह हालत बादशाह की थी। वज़ीर साहब को भी राजकाज करने की कम फ़ुरसत रहती थी। जो काग़ज़ वह देखता था उस पर न अपने हाथ से हुक्म लिखता था और न दस्तख़त ही करता था। वह सिर्फ़ देखने की तारीख़ लिख देता था। महीना, साल और हुक्म उसके नायब, मुहर्रिर, दोस्त और मेहरबान इत्यादि लिखा करते थे। जब कोई त्योहार वग़ैरह आ जाता था तब काग़ज़ों के ढेर लग जाते थे। वज़ीर साहब हर मिसल के ऊपर सिर्फ़ २,३,१०,२१ इत्यादि देखने की तारीख़ के सूचक अङ्क लिख कर सबकी गठरी बना कर, उसे अपने सहायक मुलाज़िमों को भेज कर, निश्चिन्त हो जाते थे। उन काग़ज़ों में चाहे जैसी ज़रूरी बातें हों, वज़ीर साहब को कुछ परवा न थी। आपके नायब और विश्वासपात्र मुलाज़िम ही आपके लिए नज़रानों की फ़िक्र करते थे। जो कुछ वज़ीर को इस तरह मिलता था उसका हिस्सा वे लोग भी पाते थे। वे वज़ीर की नमकहलाली का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। इसलिए, वज़ीर उनको दण्ड भी न दे सकता था। प्रजापीडन-सम्बन्धी उनके बड़े बड़े अपराधों पर उसे धूल डालनी पड़ती थी। प्रजा भी ऐसों के ख़िलाफ़ शिकायत करने से डरती थी। राज्य से मालगुज़ारी का जो रुपया वसूल होता था उसका सिर्फ़ आधा तिहाई मुश्किल से ख़ज़ाने तक पहुँचता था। बाक़ी बीच ही में उड़ जाता था। क्योंकि पियादे से लेकर वज़ीर तक को उसमें से हिस्सा मिलता था।

जब देश में अराजकता की सीमा बहुत ही बढ़ गई तब लखनऊ के रेज़िडेंट स्लीमन साहब सब बातों को अपनी आँखों से देखने के लिए दौरे पर निकले। उन्होंने तीन महीने में अपना दौरा ख़तम किया। जो कुछ उन्होंने देखा उससे उन्हें बड़ा दुःख हुआ। देश में चोरों, डाकुओं और लुटेरों की इतनी अधिकता थी और उन लोगों का साहस यहाँ तक बढ़ गया था कि ख़ुद रेज़िडेंट साहब का ख़ेमा उन्होंने कई बार लूट लिया! साहब कहते हैं कि शाम के वक़्त, अपने तम्बू के भीतर से मेरा निकलना मुश्किल हो गया है। मैं निकला कि सैकड़ों आदमियों ने मुझे घेर लिया। कोई रोता है, कोई चीख़ता है, कोई दुहाई देता है, कोई अरज़ी हाथ में लिये दिखा रहा है। पर मुझे खेद है, मैं इन लोगों की फ़रियादें नहीं सुन सकता। मेरा काम इतना ही है कि मैं इनकी शिकायतें दरबार तक पहुँचाऊँ। पर वहाँ कोई सुननेवाला भी तो हो। इन लोगों में से कितनी ही स्त्रियाँ हैं। इन स्त्री-पुरुषों के प्यारे से प्यारे कुटुम्बी और रिश्तेदार मार डाले गये हैं; इनके मकान जला दिये गये हैं; इनका माल, असबाब, रुपया, पैसा लूट लिया गया है; इनकी ज़मीन छिन गई है; इनके पके पकाये खेत काट लिये गये हैं। यह सब एक ही गाँव, या पास के गाँवों, में रहनेवाले बदमाशों ने किया है। यही नहीं, किन्तु आमिल के ख़ीमे के साथ के आदमियों तक ने इन बेचारों को लूट कर इन्हें भिखारी बना दिया है। इस तरह के ज़ुल्म करते ये लोग ज़रा भी नहीं डरते। न इनको कोई सज़ा देनेवाला है, और न पता लगाने पर भी इनके पास से लूट का माल छीन कर उसके मालिक तक पहुँचानेवाला है।

शाही अफ़सरों में इतनी भी शक्ति नहीं कि वे शाही रुपया तो वसूल कर सकें। यदि बदमाश और ज़ालिम लुटेरों को वे पकड़ना भी चाहें तो पकड़ नहीं सकते। उनके पास पकड़ने के साधन ही नहीं। जो फ़ौज उनके पास है वह निकम्मी है; जो तोपें हैं वे भी निकम्मी हैं; जो जानवर हैं

वे भी अधमरे हो रहे हैं। कहीं कहीं तो शाही अफ़सर इन बदमाशों के मुखियों से मिले हुए हैं। उनकी सहायता से वे बाग़ी और बिगड़ैल तअल्लुक़ेदारों से शाही मालगुज़ारी वसूल करते हैं। ये बदमाश, तअल्लुक़ेदारों और मालगुज़ारों को मार डालते हैं। इस निर्दयता के लिए इन्हें इनाम मिलता है। और, शाही नाज़िम या आमिल मारे गये तअल्लुक़ेदारों की ज़मीन औरों को दे देते हैं!

स्लीमन साहब ने देश में अराजकता का जो हाल लिखा है वह बड़ा ही करुणाजनक और साथ ही कोपकारक है। उसकी सचाई पर विश्वास नहीं आता। पर जिस पुस्तक में देखिए सब कहीं वही प्राणहानि, वही लूट-खसोट, वही अग्निदाह, वही सर्वस्वापहरण! इससे यह कोई नहीं कह सकता कि जिस स्थिति का वर्णन किया गया है वह बिलकुल ही कपोलकल्पित है। उसमें अतिशयोक्ति हो सकती है, उसमें अतिरञ्जना हो सकती है; पर निर्मूलता नहीं। स्लीमन साहब कहते हैं—

"मुझे कोड़ियों अर्ज़ियाँ रोज़ लेनी पड़ती हैं। मैं देखता हूँ कि अर्ज़ी देनेवालों के होठ कँप रहे हैं और आँखों से आँसू टपक रहे हैं। क्यों? जो कुछ उनके पास था, लूट लिया गया है; उनके अज़ीज़ों का सिर काट लिया गया है या अत्यन्त ही दुःखदायक रीति से मारते मारते उनके प्राण निकाल लिये गये हैं; उनके घर समूल खोद डाले या जला दिये गये हैं। यह सब किया किसने? बदमाश लुटेरों ने। इन लुटेरों ने ये लोमहर्षण अत्याचार, अपने को कुलीन और इज़्ज़तदार माननेवाले राजाओं और तअल्लुक़ेदारों की सहायता से किये हैं! जिन पर अत्याचार हुए हैं उन्होंने अत्याचारियों को कभी तकलीफ़ नहीं पहुँचाई; उनकी मरज़ी के ख़िलाफ़ कभी कोई काम नहीं किया; उनका कभी कोई अपराध नहीं किया। फिर भी इन पर यह ज़ुल्म क्यों? इसलिए कि उनके पास कुछ सम्पत्ति थी, जिसकी ज़रूरत उन अत्याचारी मनुष्यरूप राक्षसों को थी। इसलिए कि वे ऐसी ज़मीन को जोत बोकर अपना गुज़रान करते थे जिसे वे हत्यारे लुटेरे छीन लेना चाहते थे; या जिसे वे छोड़ कर भाग गये थे, या जिसे वे बेजोती बोई पड़ी रखने में अपना लाभ समझते थे। इन हमलों में स्त्री-पुरुष, बालक-बूढ़े किसी पर दया न दिखाई जाती थी। इन सर्वापहारी लुटेरों के दल के नायक बहुधा वे लोग थे जो अपने को पृथ्वीपति समझते हैं और जो इस बात का दावा करते हैं कि हम सूर्य और चन्द्रमा के वंशज हैं। मुसल्मान भी ऐसे दलों के मुखिया हैं। शाही अमलों से जिस तअल्लुक़ेदार की नहीं बनती—फिर चाहे वह अनबन जिस कारण से हो—वह समझता है कि बादशाह उसका शत्रु है; अतएव उसके प्रतिकूल हथियार उठाना और उसकी प्रजा का सर्वनाश करना उसका कर्तव्य है। जो लोग अँगरेज़ी फ़ौज में सिपाही या उहदेदार हैं वे अपनी शिकायतें रेज़िडेंट की मारफ़त कर सकते हैं। उनके सिवा और लोगों से यह कहना कि तुम किसी शाही अफ़सर के पास जाकर फ़रियाद करो मानों उसकी दिल्लगी करना है; मानों उसके ताज़े घावों पर नमक छिड़कना है। कोई आमिल, नाज़िर, चकलेदार या और कोई अफ़सर यह नहीं समझता कि बदमाशों और अत्याचारियों को पकड़ना और दण्ड देना उसका काम है। और, यदि वे पकड़ें भी तो उनको अपनी तरफ़ से खिलाना पड़ता है और अपनी तरफ़ से उनके रहने का प्रबन्ध भी करना पड़ता है। यदि वे इन्हें लखनऊ भेज देते हैं तो कुछ दिनों में वे अपनी रिहाई मोल लेकर फिर वापस आजाते हैं! फिर उनके ख़िलाफ़ सिर काटने, डाके डालने, आदमियों का अङ्ग भङ्ग कर डालने, स्त्रियों को बेइज़्ज़त करने और बड़े बड़े मकानों को जला कर ख़ाक कर देने इत्यादि के चाहे जितने और जैसे पक्के सबूत मिलें उनकी कोई परवा नहीं करता। एक अफ़सर की दी हुई सज़ा के हुक्म की इज़्ज़त दूसरा अफ़सर एक तिनके के बराबर भी नहीं करता"।

१२ जनवरी १८५० ईसवी को रेज़िडेंट साहब का एक पड़ाव नवाबगञ्ज में था। पानी बरसने के कारण साहब को दो एक दिन वहाँ रहना पड़ा। वज़ीरे-आज़म, अलीनक़ी ख़ाँ, भी उस समय वहीं दौरे पर थे। पर आपका प्रबन्ध ऐसा ख़राब था कि आपकी छोलदारियाँ वक़्त पर न आईं। इसलिए रेज़िडेंट साहब को लाचार होकर अपनी दो तीन छोलदारियाँ देनी पड़ीं। यदि वे इतनी कृपा न करते तो वज़ीर साहब को बरसते में पड़ा रहना पड़ता। तीन दिन के बाद वज़ीरे-आज़म तशरीफ़ ले गये। उनके आदमियों ने साहब की कृपा का बदला इस तरह दिया कि तम्बुओं

के प्रायः सभी रस्से वे काट ले गये। बाहर की कुछ क़नातें भी उठा ले गये; और भीतर के दो चार क़ालीन भी ग़ायब करते गये! उनके आदमियों ने जब रेज़िडेंट तक के माल पर हाथ मारा तब दूसरों के माल की तो बात ही न कीजिए। वे लोग जहाँ जहाँ ठहरे वहाँ वहाँ पास-पड़ोस के गाँवों को उन्होंने बड़ी ही निर्दयता से लूटा। रेज़िडेंट के आदमी उनका मुँह ताकते रह गये। लूटने से वे उनको मना न कर सके। वे डरे कि कहीं लुटेरों में वे भी न शामिल समझे जायँ। आमिलों और चकलेदारों के आदमी इन लोगों से भी बदतर थे। जितने शाही अफ़सर थे प्रायः सभी इसी तरह लूट खसोट करते थे। न उनको प्रजा पर दया आती थी, न बादशाह के बदनाम होने ही की परवा उन्हें थी। इस ज़ुल्म को रोकने की कोई ज़रा भी चेष्टा न करता था। यदि कोई अफ़सर देखता कि किसी ग़रीब आदमी का छप्पर उसके आदमियों के सिर पर, तापने के लिए उठाया जा रहा है, या गन्ने, गेहूँ, ज्वार या धान से लहराता हुआ किसी का खेत चारे के लिए काटा जा रहा है, तो भी वह कुछ न कहता। मानों ये बातें इतनी तुच्छ थीं कि ध्यान देने योग्य ही न थीं।

जब कोई शाही पैदल फ़ौज या रिसाला "मार्च" करता था, या जब कोई शाही अफ़सर दौरे पर होते थे, तब वे चारा कभी मोल न लेते थे। उनको शाही हुक्म था कि वे जितना चारा चाहें प्रजा से मुफ़्त ले लें। यदि रिसाले में एक हज़ार घोड़े हों तो उन सबके लिए प्रजा ही चारा दे। लकड़ी भी मुफ़्त में देने का हुक्म उन्हें था। इन चीज़ों के लिए प्रति दिन आदमियों का एक दल बाहर निकलता था और जहाँ जो चीज़ मिलती थी ज़बरदस्ती ले आता था। ऐसे दलों के आदमी घास, भूसा और ईंधन ही न लेते थे, किन्तु और जो कुछ उनके हाथ लगता था वह भी छीन लाते थे। इस कारण जहाँ से फ़ौज निकलती थी, या जहाँ किसी अफ़सर का पड़ाव पड़ता था, वहाँ आस पास के गाँवों में शायद ही किसी के दरवाज़े छप्पर रहने पाता हो। चारे की भी इतनी लूट होती थी कि बेचारे ग़रीब किसानों के जानवरों को भूखों मरने की नौबत आती थी।

शाही ज़माने में कोई सात सौ अख़बारनवीस थे। उनका काम था कि जितनी बातें जानने लायक हों उनकी रिपोर्ट वे दरबार को करें। बहुधा ऐसी वारदातें होती थीं कि सैकड़ों आदमी मारे जाते थे; कितने ही गाँव जला कर ख़ाक कर दिये जाते थे; लाखों रुपये का माल असबाब लुट जाता था—पर ये लोग ज़बान तक न हिलाते थे—एक हुरूफ़ तक काग़ज़ पर लिखने की मिहनत न उठाते थे। विद्रोही लोग उनका मुँह रुपये से बन्द कर देते थे। भारी भारी वारदातों का जब पता लगता था तब अख़बार-नवीसों की रिपोर्टें ढूँढ़ ढूँढ़ कर पढ़ी जाती थीं, पर उनमें ऐसी वारदातों का नामोनिशान तक न मिलता था। इन लोगों की तनख़्वाह में बादशाह का तीन हज़ार रुपया महीने में उठता था, अर्थात् साल भर में छत्तीस हज़ार। पर ये लोग इतना माल मारते थे कि कोई डेढ़ लाख रुपया ये दरबार के अफ़सरों और उनके आउरदों को उलटा हर साल नज़रों में दे डालते थे! जब इनकी रिपोर्टों में किसी घटना का उल्लेख न मिलता था तब इनसे कैफ़ियत माँगी जाती थी। पर डेढ़ लाख रुपया लेनेवालों की बदौलत उनका बाल न बाँका होने पाता था। ये वैसे ही शेर बने रहते थे और विद्रोहियों के अत्याचारों को छिपाते चले जाते थे। ये अख़बारनवीस यदि रिपोर्ट करते भी थे तो कुछ फल न होता था। अवध-सम्बन्धी एक किताब में ऐसी १७ रिपोर्टों का हवाला है। उन सब पर वज़ीर के नाम दरबार का हुक्म हुआ कि रिपोर्ट की गई बातों की वह जाँच करें और अत्याचारियों को दण्ड दें। परन्तु वज़ीर ने उन हुक्मों की रत्ती भर भी परवा न की; और चोर, बदमाश, लुटेरे पूर्ववत् लूट मार करते, आदमियों को मारते और गाँवों को जलाते रहे।

बादशाह के नाज़िमों अर्थात् गवर्नरों को बहुत सी फ़ौज रखनी पड़ती थी। जहाँ जहाँ वे जाते थे फ़ौज उनके साथ रहती थी। कुछ तो लोगों को अपना प्रभुत्व दिखलाने के लिए वे फ़ौज लिये हुए घूमते थे और कुछ इसलिए कि बिना फ़ौज के बाहर निकलते वे डरते थे। पृथ्वी-पति लोग अकसर अपनी मालगुज़ारी न देते थे। अतएव नाज़िमों के वे शत्रु हो जाते थे और यदि उन्हें कमज़ोर पाते थे तो रास्तों में लूट लेते थे और मार तक डालते थे।

शाही फ़ौज बुरी दशा में थी। फ़ौज के कमांडर लखनऊ

में मौज किया करते थे और जिनकी बदौलत उनको यह पद मिलता था उनकी ख़ुशामद में लगे रहते थे। यहाँ तक कि फ़ौज यदि लड़ाई पर जाती थी तो भी वे बहुधा अपने विलासमन्दिर से बाहर न निकलते थे। जिस पलटन में ६०० जवानों का नाम था उसमें गिनने पर चार पाँच सौ आदमी मुश्किल से निकलते थे। फ़ौज के हथियार पुराने और बेकाम थे। गोली, बारूद अकसर बाज़ार से मोल लेनी पड़ती थी। तोपें इतनी पुरानी और मरम्मत-तलब थीं कि किसी बड़े अफ़सर की सलामी के समय वे अकसर फट जाती थीं। जिन बैलों और घोड़ों के लिए रोज़ दो दो सेर दाने के दाम दिये जाते थे उन्हें दो छटाँक भी न मिलता था! सिपाही की तनख़्वाह चार रुपये थी। उसमें से भी कुछ कट जाता था। उसको अपने ही पैसे से वरदी और हथियार वग़ैरह मोल लेना पड़ता था। सिपाहियों को दस दस बारह बारह महीने तक तनख़्वाह ही न मिलती थी। कभी कभी फ़ौजी अफ़सर उनके हथियार बेच दिया करते थे और जो कुछ उनसे वसूल होता था उसे सरकारी काम में लगा देते थे! इस दशा में भी फ़ौज से यह आशा की जाती थी कि वह बादशाह के लिए लड़े! लड़ाई के समय फ़ौज के सिपाही बहुधा ढूँढ़े ही न मिलते थे और यदि मिलते भी थे तो लड़ाई छिड़ते ही वे भाग खड़े होते थे।

शाही नाज़िम और उनके मुलाज़िम इतने अन्यायी और प्रजापीड़क थे कि वे तअल्लुक़ेदारों से अधिक माल-गुज़ारी ज़बरदस्ती वसूल कर लेते थे। मालगुज़ारी वसूल करने के दो तरीक़े थे—इजारा और अमानी। इजारा एक तरह का ठेका था। जहाँ इजारे के द्वारा लगान या मालगुज़ारी वसूल होती थी वहाँ ठेकेदार ज़ुल्म करते थे और जहाँ अमानी के द्वारा वहाँ शाही मुलाज़िम प्रजा को लूटते थे। फिर इन मामलों की सुनवाई न होती थी। मामूली आदमियों की तो बात ही नहीं, बड़े बड़े राजा बरसों लखनऊ में पड़े रहते थे और फिर मूड़ मार कर अपने घर लौट आते थे। इसी कारण से जितने राजा, महाराजा, तअल्लुक़ेदार और ज़मींदार थे सबने फ़ौज रक्खी थी। सबने क़िले बना रक्खे थे। क़िले की बुर्जों पर सबने तोपें चढ़ा रक्खी थीं। जिनको अपनी इज़्ज़त का कुछ ख़याल था, जो अपना तअल्लुक़ा छीने जाने से बचाना चाहते थे, जो अपने असामियों की रक्षा शाही मुलाज़िमों से करना चाहते थे—वे बाग़ी हो जाते थे; नाज़िमों से लड़ते रहते थे; मालगुज़ारी देना बन्द कर देते थे और यदि वे अपने को कमज़ोर पाते थे तो कभी जंगल में, कभी ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य में, भाग जाते थे। यदि उनकी रियासत किसी और को मिल जाती थी तो मौक़ा पाकर वे उस पर हमला करते थे। ऐसे हमलों में सैकड़ों आदमी काम आ जाते थे। ऐसे दङ्गे-फ़िसाद बराबर हुआ ही करते थे और बादशाही फ़ौज विद्रोहियों का पारिपत्य न कर सकती थी। अवध के वर्तमान तअल्लुक़ेदारों में से, सम्भव है, कुछ लोग इन्हीं पुराने—वाजिदअलीशाह के ज़माने के—तअल्लुक़ेदारों के वंशज हों। इस दशा में उनका यह कहना कि जङ्गलों को साफ़ करके हमने अपनी अपनी रियासतें पैदा की हैं, इस कारण हमीं इनके पुश्तैनी मालिक हैं, बड़ा ही कौतूहलजनक दावा है।

शाही मुलाज़िम ऐसे मक्कार, झूठे, धोखेबाज़ और अन्यायी थे कि उनका हाल सुन कर जी जल उठता है और आन्तरिक घृणा पैदा होती है। छोटे छोटे मुलाज़िमों ही की यह दशा न थी। नाज़िम, अर्थात् गवर्नर या कमिश्नर, तक बड़े बड़े घृणित काम करते थे। जिसके पास वे कुछ देखते थे उसे पकड़ लेते थे; उसे बड़ा ही भयङ्कर शरीर-दण्ड देते थे; किसी किसी को जान तक से मार डालते थे; उनके बाल-बच्चों की दुर्दशा करते थे; उनकी स्त्रियों को अपने घर में डाल लेते थे। जो कोई अपना घर द्वार बेच कर उनको ख़ातिरख़्वाह रुपया देता था या तो वह बचता था, या जो उनका मुक़ाबला करके अपने बाहुबल से अपनी रक्षा कर सकता था वह बच सकता था।

बाराबङ्की के ज़िले में रामदत्त पाँडे नाम का एक महाजन था। उसके पास कुछ इलाक़ा भी था। इलाक़े की मालगुज़ारी उसने पाई पाई चुका दी थी। उसने अस्सी हज़ार रुपया गोंडा के नाज़िम, महम्मद हुसैन, को क़र्ज़ भी दिया था। एक बार वह अयोध्या जाने के लिए निकला। राह में उसने नाज़िम साहब से भी मिलना मुनासिब समझा। ८ नवम्बर १८५० को वह, तुलसीपुर के राजा के साथ, नाज़िम से मिला। वहाँ नाज़िम साहब ने उसे एकान्त में बुलाया। उसे विश्वास

दिखाया गया कि अलग मिलने में कोई डर नहीं । नाज़िम साहब के सामने उसका बाल भी न बाँका होगा । जब रामदत्त पाँडे नाज़िम से मिला तब उससे नाज़िम ने और रुपया कर्ज़ माँगा । रामदत्त ने देने से इनकार किया । बस वहीं उसका सिर उतार लिया गया । उसका डेरा लूट लिया गया । उसके साथी मार डाले गये । इतने ही से नाज़िम को सन्तोष न हुआ । उसने रामदत्त की रियासत पर हमला किया; कई गाँव और क़सबे लूट लिये; कई जला दिये; सैकड़ों आदमियों को मार डाला और कोई १२ लाख रुपये का माल असबाब लूट ले गया । दरबार को उसने इसकी रिपोर्ट इस तरह की कि रामदत्त ने कई साल से सरकारी मालगुज़ारी न दी थी; जिन लोगों की उसने ज़मानत दी थी उनकी भी मालगुज़ारी अदा करने की उसने कोई चेष्टा नहीं की; बार बार माँगने पर उलटा उसने गुस्ताख़ी से भरे हुए जवाब दिये और २०० हथियारबन्द आदमी ले कर वह मुझ पर चढ़ आया । मैंने उसका मुक़ाबला किया और बड़ी मुश्किलों में उसे मैंने मारा । इस बहादुरी पर ख़ुश हो कर वाजिदअलीशाह ने अपने इस वीर और स्वामिभक्त नाज़िर को ख़िलत भेजी । पर गोरखपुर के अँगरेज़ मैजिस्ट्रेट, चेस्टर, साहब को सच्ची बात मालूम हो गई । उन्होंने रेज़िडेंट को लिखा । रेज़िडेंट की रिपोर्ट पर नाज़िम साहब निकाले गये । उन पर मुक़द्दमा चला । पहले तो वे भागे, पर पीछे से लाचार होकर वे लखनऊ में हाज़िर हुए । मालूम नहीं उनका क्या हुआ । पर बहुत सम्भव है कि उन्होंने अपनी रिहाई मोल लेली हो और वे बेदाग़ छूट गये हों ।

गोंडा ज़िले में रघुवरसिंह नाम का एक ठेकेदार था । उसके और उसके मुलाज़िमों के अत्याचार का वर्णन, स्लीमन साहब की किताब में पढ़ कर, रोंगटे खड़े हो जाते हैं । अनेक इज़्ज़तदार आदमियों की इज़्ज़त उन्होंने बिगाड़ दी । अनेकों को उन्होंने जान से मार डाला । घर फूँक देना, औरतों को उठा ले जाना; गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं को बेंच लेना तो उनके लिए कोई बात ही न थी । ये लोग जिनको क़ैद कर लेते थे उनको भयानक दण्ड देते थे । जब तक वे ख़ातिरख़्वाह रुपया न देते थे तब तक उनको प्रति दिन बहुत ही हृदयद्रावक दण्ड मिलता था । स्त्रियाँ और पुरुष दोनों वस्त्रहीन करके बाँध कर पीटे जाते थे; माघ-पूस के जाड़ों में वे वैसे ही विवस्त्र बाहर डाल दिये जाते थे; उनके नाख़ूनों के भीतर जलती हुई लोहे की कीलें गाड़ दी जाती थीं; तेल से भीगा हुआ कपड़ा बांध कर मशाल की तरह उनके हाथ जलाये जाते थे; गीली बारूद लगा कर सूख जाने पर उनकी दाढ़ी में आग लगा दी जाती थी; अङ्गारे की तरह लाल दस्तपनाह से उनकी जीभें बाहर खींच ली जाती थीं और फिर उनमें छेद किये जाते थे !!! एक दो के नहीं, सैकड़ों की ऐसी ही दुर्दशा की जाती थी—स्त्रियों और बच्चों तक के ऊपर दया नहीं दिखाई जाती थी । जो लोग इस तरह मारते मारते मर जाते थे उनकी लाशें कहीं कीचड़ में, कहीं पुराने सूखे हुए कूवों में, कहीं कांटों में फेंक दी जाती थीं और उनके कुटुम्बी और रिश्तेदार उन्हें उठा कर ले जाने तक न पाते थे ! इस तरह के घोर दण्ड और उपद्रव होने पर भी उनके शमन करने का कोई ठीक प्रबन्ध न होता था । बादशाह सलामत को अपने गाने, बजाने, और हीजड़ों बेगमों से ही फ़ुरसत न थी । आपके अफ़सर या तो इतने कमज़ोर थे कि ऐसे ऐसे ज़ालिम आदमियों का पारिपत्य ही न कर सकते थे, या वे ख़ुद ऐसे लोगों से मिले हुए थे । वे ख़ुद ही क्या कम निर्दयी, अन्यायी और प्रजापीडक थे !

जिस देश की ऐसी दुर्व्यवस्था हो उसमें चोरों, लुटेरों और डाकुओं का साम्राज्य होना सर्वथा स्वाभाविक है । वाजिदअलीशाह के ज़माने में इन लोगों का बेतरह प्राबल्य था । उनके डर से राह चलना लोगों को मुश्किल हो गया था । किसी का जान-माल सुरक्षित न था । जिसके पास बदमाशों ने चार पैसे देखे उसे ही लूट लिया । गाँव के गाँव जला देना सहज सी बात थी । औरतों और जवान लड़कियों को उठा ले जाना और उनको बेइज़्ज़त करना रोज़ की घटनायें थीं । कुछ ज़मींदार तक बाग़ी हो गये थे । उन्होंने अपने पड़ोसियों की ज़मींदारी छीन ली थी । इन लोगों के ज़ुल्म की कहानी सुन कर बदन कँप उठता है । ऐसे ज़ालिम ज़मींदारों में देवा का ज़मींदार भूरेख़ाँ और भवानीगढ़ का ज़मींदार महीपतिसिंह प्रमुख थे । इन लोगों के अघोर कर्म्मों की तालिका बहुत बड़ी है । ये आदमियों को जीता जला देते थे; उनके हाथ तोड़ डालते थे; पैर काट डालते थे और इस दुर्गति के बाद उन्हें रास्ते

में फेंक देते थे जहाँ मांसखोर पक्षी उनका काम, धीरे धीरे, मर्म्मकृन्तक वेदना देकर, तमाम करते थे। जब तक लोग इनको मनमाना धन न देते थे तब तक उनके साथ ये बड़ी ही निर्दयता और निष्ठुरता से पेश आते थे। किसी किसी की ये नाक काट लेते थे। फिर गधे पर चढ़ा कर गरदन से सुअर का बच्चा लटका देते थे। इस अवस्था में उसे ये गाँव भर में घुमाते थे। गङ्गा, महादेव की मूर्त्ति और कुरान को उठा कर ये लोग प्राणदान का अभयवचन देते थे। पर उसके थोड़ी ही देर बाद निःसङ्कोच होकर निरपराध आदमियों का सिर धड़ से जुदा करने में ज़रा भी धर्म्महानि या भय न मानते थे। लोगों की बहू-बेटियाँ उनके घरवालों के सामने बे-इज़्ज़त करना और काफ़ी रुपया मिलने तक उन्हें अपने पास रखना इनका रोज़ का काम था। ब्राह्मणों के मुँह में थूक देना, उनके मुँह पर मैले का तोबड़ा चढ़ा देना, काँटों पर लिटा कर उन्हें बेदरदी से पीटना इनकी दृष्टि में बहुत छोटी सज़ा थी। जहाँ किसी के घर अच्छी स्त्री इन्होंने देखी तहाँ उसे छीना; जहाँ किसी की अच्छी फ़सल देखी तहाँ उसे काटा। जहाँ किसी के अच्छे जानवर देखे तहाँ उन्हें उड़ाया; जहाँ किसी के कब्ज़े में अच्छी ज़मीन देखी तहाँ उसे छीना। इनका इतना आतङ्क था कि लोग इनका नाम सुनते ही काँपते थे।

ज़मींदारों और तअल्लुक़ेदारों को यह वर्णन पढ़ कर लेखक पर कोप न करना चाहिए। लेखक तो सिर्फ़ स्लीमन साहब की किताब से महीपतिसिंह वग़ैरह के कारनामों के कुछ अंश की नक़ल-मात्र कर रहा है।

ऐसे ऐसे पाषाण-हृदय राक्षस दो चार नहीं, अनेक थे। कोई गाँव या क़सबा ऐसा न था जहाँ लूटमार न होती हो। इसलिए हर गाँव में गाँववालों ने पासियों का एक एक दल नौकर कर रक्खा था। ये लोग धनुर्बाण रखते थे और अपने गाँव की फ़सल वग़ैरह की रक्षा दूसरे गाँववालों के आक्रमण से करते थे। इस काम के लिए हर आदमी से, फ़सल कटने पर, उन्हें अनाज मिलता था।

इस दुर्व्यवस्था और प्रजापीडन का हृदयभेदक दृश्य मेजर जनरल स्लीमन ने प्रत्यक्ष देखा। उन्होंने गवर्नमेंट को इसकी रिपोर्ट की और लिखा कि सार्वभौम राजा होने के कारण अवध की इस दुर्दशा को देखते रहना ईश्वर और प्रजा, दोनों, की दृष्टि में पाप करना है। और, सुलहनामे या सन्धिपत्र की शर्तों के अनुसार ऐसे समय में अवध की राज्य-व्यवस्था में दस्तन्दाज़ी करना न्याय ही होगा। उन्होंने सिफ़ारिश की कि अवध के सूबे का राज्य-प्रबन्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने हाथ में ले ले; बादशाह की निकम्मी फ़ौज को जवाब दे दे; बादशाह की मान-मर्यादा के अनुकूल उसकी पेंशन नियत कर दे; और प्रजा की विपत्ति दूर करने की यथासाध्य चेष्टा करे। पर कम्पनी अवध को अपने राज्य में न मिलावे*; अवध की प्रजा के हित के लिए देश का प्रबन्ध वह अपने अफ़सरों द्वारा करावे; और ख़र्च से जो बचत हो उसे प्रजा के ही लाभ के लिए कम्पनी काम में लावे। उन्होंने यह भी लिखा कि—"यद्यपि अवध की प्रजा को अराजकता के कारण अनेक मर्मकृन्तक कष्ट सहन करने पड़ते हैं, तथापि वह कम्पनी के शासित देश में रहने की अपेक्षा बादशाह के अधीन रहना ही अधिक पसन्द करती है। इसका कारण यह है कि अँगरेज़ी राज्य में दीवानी कचहरियों में मुक़द्दमे लड़ लड़ कर दोनों पक्षवाले उजड़ जाते हैं; लाभ केवल वकीलों और मुख़्तारों को होता है। एक रुपये के दावे के लिए चालीस चालीस पचास पचास कोस दूर कचहरियों को दौड़ना पड़ता है। फिर, हमारा क़ानून अनिश्चित ठहरा। वह कई तरह का है; उसी बात के कई अर्थ लगाये जाते हैं। कभी कभी कुछ का कुछ हो जाता है। जज लोग बेपरवाह और घमण्डी हैं।"

स्लीमन साहब यह रिपोर्ट भेज कर बीमार पड़ गये और छुट्टी पर चले गये। उनके बाद जनरल औट्रम लखनऊ के रेज़िडेंट हुए। १८५४ ईसवी में लार्ड डलहौज़ी ने जनरल औट्रम से भी एक रिपोर्ट माँगी। उन्होंने लिखा कि यहाँ की दुर्व्यवस्था पूर्ववत् बनी हुई है। सिर्फ़ वज़ीर को नज़रें वग़ैरह मिला कर, सालाना, ८ लाख १४ हज़ार रुपया मिलता है। १८५३-५४ ईसवी में प्रजा से १ करोड़

* Were we to take advantage of the occasion to annex or confiscate Oudh, or any part of it, our good name in India would inevitably suffer; and that good name is more valuable to us than a dozen of Oudhs.
—Major General Sleeman's Diary.

२० लाख रुपया, कर और मालगुज़ारी इत्यादि के रूप में, वसूल हुआ था। उसमें से सिर्फ़ ३० या ४० लाख रुपया लखनऊ पहुँचा! बाक़ी सबका सब शाही मुलाज़िमों ने बीच ही में हड़प कर लिया। जहाँ इतनी आमदनी और इतना ख़र्च वहाँ न्याय-विभाग के लिए, एक साल में, सिर्फ़ १६ सौ रुपया दिया गया! वज़ीर और दीवान से लगा कर पियादों तक को जनरल औट्रम ने घूसख़ोर बताया।

इस रिपोर्ट को पढ़ कर, १८ जून १८५५ को, लार्ड डलहौज़ी ने अपना कर्तव्य स्थिर किया। उन्होंने निश्चय किया कि अवध का सूबा अँगरेज़ी राज्य में मिला दिया जाय और वाजिदअलीशाह को १२ लाख रुपया साल पेंशन दी जाय।

४ फ़रवरी १८५६ को रेज़िडेंट साहब लाट साहब का ख़रीता लेकर वाजिदअलीशाह से मिले। ख़रीते को पढ़ कर वाजिदअलीशाह को अनिवार्य्य दुःख हुआ। उन्होंने कहा—"मैंने ऐसा क्या अपराध किया जो मुझ पर ऐसा प्रसङ्ग आया"! इसका उत्तर ख़रीते में दे ही दिया गया था। वह यह था कि तुमने १८०१ ईसवी के सन्धि-पत्र के अनुसार काम नहीं किया; अपने देश का सुप्रबन्ध न करने से तुमने सब कहीं अराजकता फैला दी; इससे कम्पनी को तुम्हारा राज्यसूत्र अपने हाथ में लेना पड़ा। तीन दिन में बादशाह को अवध का सूबा कम्पनी के सिपुर्द कर देने का हुक्म हुआ। इस बात को वाजिदअलीशाह ने मंज़ूर न किया। इससे अँगरेज़ों ने उन्हें जबरन कलकत्ते भेज दिया। वे बहुत रोये धोये; उनके पूर्वजों ने अँगरेज़ों पर जो उपकार किये थे, उनका उन्होंने बार बार स्मरण दिलाया; पर सब व्यर्थ हुआ। अवध अँगरेज़ों का हो गया। १८५६-५७ ईसवी में जब लखनऊ में सिपाही-विद्रोह हुआ तब वाजिदअलीशाह पर यह इलज़ाम लगाया गया कि वे भी उसमें शामिल रहे हैं। इस कारण कलकत्ते के मटिया बुर्ज़ से हटा कर वे वहाँ के क़िले, फ़ोर्ट विलियम, में रक्खे गये। पर ६ जूलाई १८५६ को लार्ड केनिंग ने उन्हें इस प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया। तब से, १२ लाख रुपये साल पर, उन्हें वैभवहीन और परतन्त्रदशा में अपने दिन काटने पड़े। २१ सितम्बर १८८७ ईसवी को उनकी मृत्यु हुई।

वाजिदअलीशाह ने कलकत्ते में भी लखनऊ की एक छोटी सी नक़ल बना दी थी। अपने लिए मनोहर महल और अपनी बेगमों, बालबच्चों और परिचारों इत्यादि के लिए अच्छे अच्छे मकान तैयार करा दिये थे। वहीं आप सदा रहते थे। शायद ही कभी बाहर निकलते रहे हों। जानवरों और चिड़ियों का आपको बड़ा शौक़ था। उन्हीं से, और कविता से भी, आपका मनोरञ्जन होता था। चिड़ियों और ख़ास ख़ास जानवरों की मुँहमाँगी क़ीमत आप देते थे। एक दफ़े एक बाज़ पक्षी की क़ीमत कई हज़ार रुपये—शायद एक लाख—आपने दिये थे। पास काफ़ी रुपया न था। इस कारण आपने सोने के एक पलँग का सोना गला कर बक़ाया क़ीमत अदा की। दया की मात्रा आप में, सुनते हैं, बहुत अधिक थी। आप अपने सारे ख़ानगी मुलाज़िमों और नौकरों को लखनऊ से कलकत्ते ले गये थे। किसी को बरख़ास्त नहीं किया।

वाजिदअलीशाह के वंशज अभी तक कलकत्ते में हैं और गवर्नमेंट की प्रदत्त पेंशन पाते हैं। १८५७ में उनका पुत्र बाग़ियों से मिल गया था। वह राना बेनीमाधवसिंह आदि से मिल कर, ग़दर के समय, अँगरेज़ों से लड़ा था। पर पीछे उसे हार कर नेपाल भाग जाना पड़ा।

इस तरह अपनी विलासप्रियता के वशीभूत होकर वाजिदअलीशाह ने अपने पूर्वजों का राज्य सदा के लिए खो दिया। वाजिदअली के जैसे कुछ कुलक्षण आज-कल इस प्रान्त—इस प्रान्त ही के क्यों, इस देश के भी—कुछ नर-राजों और महीपमानियों में भी पाये जाते हैं। उनको अपने मान, सम्मान, धन, जन और प्रजा की बहुत ही कम परवा रहती है। क्या वे अवध के इस अन्तिम बादशाह के चरित से कुछ उपदेश ग्रहण करेंगे?

महावीरप्रसाद द्विवेदी

हिन्दी में सम्पादन-कला की शिक्षा।

हिन्दी-संसार में भी अब यह बात मान ली गई दीखती है कि अच्छे सम्पादक तैयार करने के लिए सम्पादन-कला की शिक्षा की आवश्यकता है। कहीं कहीं ऐसी शिक्षा के लिए कुछ मानसिक अथवा मौखिक आयोजन भी होता सा सुनाई देता है। पेश्तर इसके कि यह आयोजन वास्तविक कार्य के रूप में परिणत किया जाय कुछ ऐसी बातें भी हैं जिन पर, इस विषय के पाठ्य-क्रम या प्रणाली का निर्णय करते समय, निर्णायकों को ख़ूब ध्यान रखना चाहिए।

सम्पादन-कला में निपुण होने के लिए न तो केवल पुस्तकों का अवलोकन ही काफ़ी होगा, और न एक-आध पत्र का सहकारी-सम्पादक होना ही। दोनों ही बातों का मिश्रण होना चाहिए—पुस्तकों में पढ़ी हुई बातों को वास्तविक रूप देने का पूरा अवसर प्राप्त होना चाहिए। योरप और अमरीका के विद्यालयों में इस बात की पूरी सहूलियत रहती है, इसीलिए वहाँ के छात्र सुदक्ष होकर निकलते हैं और अपने काम में फिट होने के लिए उन्हें दुबारा अनुभव की कुञ्ज-गलियों में नहीं घूमना पड़ता।

हर-एक कला को सीखने के लिए पूरी लगन होनी चाहिए। मगर अकेली लगन से भी काम नहीं चलता। लगन के साथ ही, उस विषय-विशेष की सूक्ष्मताओं, उसके दाँव-पेचों, उसकी उलझनों और सुलझनों को समझने, ग्रहण करने और उन्हें सुरक्षित रखने के लिए—यहाँ तक कि उन्हें अपने साँचे में ढालने के लिए—मस्तिष्क भी चाहिए; अपनी रोशनी डालने के लिए प्रतिभा भी चाहिए, सूझ भी चाहिए—अकेली बूझ से काम नहीं चल सकता। हिन्दी में सम्पादन-कला की जो दुर्दशा है वह किसी से छिपी नहीं है। फिर भी, एक-दम यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी में उच्च कोटि के सम्पादक हैं ही नहीं; हैं अवश्य, मगर उनकी संख्या इतनी कम है कि जब गिनने बैठिए तब यही जी में आता है कि ईश्वर ने हमारे हाथ में इतनी सारी अँगुलियाँ क्यों बना दीं! ऐसा होने पर भी अगर आप उन विद्वानों की संख्या जानना चाहें जो स्वार्थत्यागपूर्वक, बग़ैर वेतन लिये, आपके विद्यालय में सम्पादन-कला की शिक्षा घंटे दो घंटे देकर पुण्य और यश के भागी बनने में आनाकानी नहीं करना चाहते तो आपको कोड़ियों ऐसे सज्जन मिल जायँगे! हिन्दी-संसार में दिल्लगी है तो यही कि सिखाना सब चाहते हैं, सीखना कोई नहीं चाहता। अन्त में ऐसे सज्जनों के सम्पर्क से आपके विद्यालय अथवा विद्यार्थियों को कुछ भी वास्तविक लाभ पहुँच सकेगा या नहीं इस विषय में मत-भेद हो सकता है। लेखक की राय में ऐसे सज्जनों से, जो केवल अपनी ही अनुभव-गुदड़िया में से निकाल निकाल कर सम्पादन-कला के कुल अङ्गरूपी लाल दे डालना चाहते हैं, विद्यार्थियों को अधिक लाभ न हो सकेगा—बल्कि सौभाग्य की बात होगी अगर उनकी कुछ हानि न हुई तो। हाँ, ऐसे सज्जनों की त्याग-बुद्धि तथा उनके साहस की प्रशंसा करने को जी ज़रूर चाहता है। विद्यालय खोला जाय तो अच्छा खोला जाय जिसका सिक्का हिन्दुस्तान भर में जम जाय, और जिसमें शिक्षा प्राप्त करने के

लिए दूर दूर के प्रान्तों से विद्यार्थी आवें। काम चाहे छोटे ही पैमाने पर शुरू किया जाय—शिक्षक चाहे एक ही रक्खा जाय--विद्यार्थी पहले पहल चाहे पाँच ही लिये जायँ तो कोई हानि नहीं, मगर ओछी पूँजी से भानुमती का स्वाँग इकट्ठा करके सम्पादन-कला की अधूरी या बेढङ्गी शिक्षा को पैसे सेर या मुफ़् लुटाना न सिर्फ़ अपने को उपहास का पात्र बनाना है, बल्कि दूसरे लोगों की निगाह में हिन्दी की क़द्र घटाना है। कुछ फ़ीस लेकर अच्छी शिक्षा देना अच्छा, मुफ़् के सड़ियल शिक्षा का धकापेल प्रचार करना अच्छा नहीं। अभी तक भारतवर्ष में तो क्या शायद एशिया भर में सम्पादन-कला के एक भी शिक्षालय की नीव नहीं पड़ी, इसलिए, पहले ही पहल खोले गये शिक्षालय में होशयार और सुदक्ष अध्यापक रख कर अगर सुचारु-रूप से काम चलाया गया तो उसकी कीर्ति दिगन्तव्यापिनी हो जायगी इसमें सन्देह नहीं। इसलिए, इस काम को शुरू करने से पहले इसके महत्त्व को खूब समझ लेना चाहिए।

पश्चिम में इस कला का जो विकास हुआ है उससे हमें पूरा लाभ उठाना चाहिए। वहाँ के कार्यक्रम और पाठ्य-क्रम का शिक्षा द्वारा तथा प्रत्यक्ष अनुभव करने पर हम पाश्चात्यता तथा प्राच्यता का एक अद्भुत सम्मिश्रण कर सकेंगे और इस कला को वह रूप दे सकेंगे जो इसे संसार में अभी तक कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ, और न कहीं दूसरी जगह हो सकेगा। लेकिन यह तभी हो सकता है जब इस विषय के योग्य शिक्षक तैयार किये जायँ और उन्हीं के हाथ में इसका दारमदार सौंपा जाय। ऐसा न करके अनगढ़ योगियों द्वारा सम्पादन-कला को दुबारा गढ़वाना और यहाँ फिर उसे क्रम-विकास के चक्कर में डालना सामने रक्खी हुई परसी परसाई थाली को लात मार कर अपने भोजन के लिए गेहूँ बोने जाना है। ऐसा करना कार्यतत्परता तथा बुद्धि की विचक्षणता का नहीं, मूढ़ता तथा अदूरदर्शिता का ही द्योतक है। क्योंकि जब सम्पादन-कला का क्रम-विकास या उसका व्यवहार-विज्ञान न जाननेवाले लोग ऐसे महत्त्व तथा उत्तरदायित्वपूर्ण विषय की शिक्षा देने बैठेंगे तब सचमुच ही सम्पादकों की वह अष्टावक्री सृष्टि उत्पन्न होगी कि जिसकी हरकतों से दुनिया कानों में उँगली देने लगेगी। केवल गद्य या पद्य, या दोनों के लेख लिख लेने या उनको दुरुस्त कर देने में ही सम्पादन-कुशलता की इतिश्री नहीं हो जाती। किस विषय पर, किस अवसर पर, किन शब्दों में कितना लिखा जाय, प्रत्येक परिस्थिति का विचार कैसे रक्खा जाय—वग़ैरह कितनी ही भीतरी बातें ऐसी हैं जिन पर ध्यान न रखने से, हिन्दी-संसार में रोज़ ही सब गुड़ गोबर हो जाता देखा जाता है। सब प्रकार की शिक्षा बराबर एक सी प्राप्त करने पर भी सभी एक से नहीं निकलते। भवभूति ने भी कहा है :—

> वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े
> न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
> भवति च तयोर्भूयाद् भेदः फलं प्रति तद्यथा
> प्रभवति हि बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदाञ्चयः॥

इस नियम के अनुसार सभी एक सी योग्यतावाले सम्पादक नहीं हो सकते। मुख्य लेख, टिप्पणियाँ, व्यंग्य आदि सभी कुछ लिखने में सभी एक सी

कुशलता प्राप्त नहीं कर सकते—किसी की कुछ विशेषता होती है किसी की कुछ। जिसे जितने अधिक विषयों पर क़लम चलाने का शऊर होता है वह उतना ही अधिक सफल सम्पादक समझा जाता है। मुख्य सम्पादक की कुरसी पर बैठने के लिए आदमी को 'आठों गाँठ कुम्मैद' होना चाहिए। और बातें जाने दीजिए, जिन्हें न अपने भावों पर अधिकार है और न भाषा पर, वे ऊँची कुरसी पर बैठ कर भी किस मर्ज़ की दवा हो सकते हैं सिवा बात बात पर लबड़धोंधों मचाने के? खेद है हिन्दी-संसार में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं।

हिन्दीवालों के लिए तो काशी का हिन्दू-विश्वविद्यालय, प्रयाग का हिन्दी-सम्मेलन कार्यालय और जबलपुर का हिन्दी-मन्दिर—ये तीन संस्थायें ऐसी हैं जो सम्पादन-कला की शिक्षा का प्रबन्ध कर सकती हैं। सबसे अच्छा तो तभी हो जब हिन्दू-विश्वविद्यालय ही इस काम को शुरू करे, मगर हाल में ऐसा होता नहीं दीखता, क्योंकि रुपये की बेतरह कमी है। हाँ, अगर कोई सेठ महाजन या राजा महाराजा इस निमित्त अच्छी रक़म दान कर दें तो यह असम्भव सम्भव भी हो सकता है। बाक़ी की दोनों संस्थाओं की ओर जब दृष्टि डालते हैं तो कुढंगी शिक्षा के झावड़झल्ले वस्त्र पहने श्रीमती ओछी पूँजीजी सामने खड़ी खड़ी स्वार्थत्याग, परोपकार और अवैतनिकता की अपील करती हुई दिखाई देती हैं। अगर अनुभवी और उच्च कक्षा के सम्पादक महोदय (यानी सम्पादन-कला-कुशल सज्जन) सहायता दें तो काम शुरू कर देना बुरा भी नहीं। मगर यह बात बड़ी कठिन है। सम्भव है ऐसे सज्जनों को समय ही न मिलता हो, या और ही कोई कारण बाधक हो। इनके अभाव में चाहे जिसकी धर-पकड़ करके 'सम्पादन-कला क्या है', 'सम्पादकों का कर्त्तव्य क्या है' आदि विस्तृत विषयों पर लेक्चर दिलवा देने से वास्तविक लाभ बहुत कम होगा। आपको आवश्यकता है शिक्षकों की जो इस विषय में ख़ूब तैरे हुए हों—व्याख्याताओं, या व्याख्यान-दाताओं से आपका काम नहीं चल सकता।

सम्पादन-कला के शिक्षकों में कम से कम दो एक सज्जन तो ऐसे हों जिन्होंने अमरीका या इँग्लेंड में रह कर इस विषय की बाक़ायद शिक्षा प्राप्त की हो, और जिन्हें हिन्दी-अख़बारा-नवीसी की विशेषताओं तथा आवश्यकताओं का भी ज्ञान हो। मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक, अर्धसाप्ताहिक, दैनिक और अर्धदैनिक का सम्पादन एक ही बात नहीं—इनके बीच में बड़े बड़े नदी-नाले, पहाड़ और ऊबड़-खाबड़ भूमि-खण्ड हैं जिनको, जाननेवाले ही जान सकते हैं। मगर सवाल यह है कि ऐसे योग्य पुरुष मिलें कहाँ से? हमारी राय तो यह है कि जो संस्था इस विषय का शिक्षालय खोलना चाहे वह पहले दो एक सुयोग्य लेखकों को—जिनको वह इस लायक़ समझे—चुन कर केवल इसी विषय की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अमरीका रवाना करे, और रवाना करने से पहले उनसे हर तरह की ज़रूरी शर्तें तय कर ले। जो सज्जन चुन कर भेजे जायँ उनको भी चाहिए कि परिश्रम और अध्यवसाय-पूर्वक इस कला में पूरी दक्षता प्राप्त करके अपने अनुभव का पूरा लाभ अपने देशवासियों को दें, और अपने विद्यालय को एशिया में इस विषय का आदर्श विद्यालय बना कर छोड़ें। अगर इस

विषय की शिक्षा की धूम इस देश में मच जाय तो चालीस चालीस या पचास पचास रुपये पर रोज़ा खोलते फिरनेवाले डिग्री-धारियों का भी कचहरियों और महकमे बेकारी से पीछा छूट जाय और उन्हें, अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार, स्वतन्त्रता तथा सुख से जीवन व्यतीत करने का मौक़ा मिल जाय। वक्त पर न अच्छे और शऊरदार लेखक ही मिलते हैं और न सम्पादक ही। क्या अच्छा हो अगर सम्पादन-कला की शिक्षा की बदौलत इनका अभाव दूर हो जाय। पर यह बात न भूलनी चाहिए कि ज़बर्दस्ती जोश में आकर मौजी अध्यापकों के बल पर कोई विद्यालय खोल बैठने से चुपके रहना कहीं अच्छा है।

बदरीनाथ भट्ट

भारत का इम्पीरियल बेंक।

इसी वर्ष की गत २७ जनवरी को बङ्गाल, बम्बई और मदरास के बेंकों के एकीकरण से इम्पीरियल बेंक आव् इंडिया का जन्म हुआ। इन तीनों बेंकों के एकीकरण करने का प्रस्ताव कई वर्षों से किया जा रहा था। सन् १९१३-१४ के करंसी-कमीशन के एक सदस्य मि० जे० एम० कीन्स ने तो भारतीय स्टेट बेंक के सम्बन्ध में एक बड़ी लम्बी-चौड़ी योजना तक लिख डाली थी। कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के कुछ दिन बाद ही महायुद्ध आरम्भ हो गया। अतएव भारत

सरकार उस योजना पर कुछ विचार न कर सकी। महायुद्ध के समय भारत में एक प्रधान बेंक का अभाव सरकार और जनता दोनों को खटकने लगा। युद्ध का अन्त होने पर भारत सरकार ने तीनों बेंकों के डायरेक्टरों से लिखा-पढ़ी आरम्भ करदी। फल यह हुआ कि गत वर्ष के सितम्बर में बड़ी व्यवस्थापिका सभा में एक एक्ट पास हुआ और इम्पीरियल बेंक की स्थापना हुई।

इम्पीरियल बेंक का काम-काज और उसकी उपयोगिता को भले प्रकार से समझने के लिए बम्बई, बङ्गाल और मदरास के बेंकों के सम्बन्ध में कुछ जानना बहुत आवश्यक है। सन् १८०६ में कलकत्ते में बेंक आव् कलकत्ता नामक एक बेंक खुला। तीन वर्ष बाद सन् १८०९ में सरकार से उसे चारटर मिला और उसी वर्ष उसका नाम बदल कर बेंक आव् बङ्गाल रक्खा गया। यह भारत में सबसे पुराना बेंक है। गत वर्ष बङ्गाल, पञ्जाब और युक्तप्रान्त में इसकी शाखाओं की संख्या २६ थी।

बम्बई और मदरास बेंक क्रमशः १८४० और १८४३ में स्थापित हुए। १८६८ में बम्बई बेंक को कपास के सट्टे में बहुत हानि उठानी पड़ी। फलतः उसका दिवाला निकल गया। उसी वर्ष एक करोड़ की पूँजी से उसी नाम के दूसरे बेंक की स्थापना हुई। गत वर्ष मदरास बेंक की २६ शाखाएँ और बम्बई बेंक की १८ शाखाएँ थीं। एकीकरण के पहले तीनों बेंकों की दशा नीचे के कोष्टक से आसानी से समझ में आजायगी।

[लाख रुपयों में]

	पूँजी	रिज़र्व पुरानी बचत	सरकारी जमा	अन्य व्यक्तियों की जमा	मीज़ान जमा	नक़द रुपया
बङ्गाल बेंक	२००	२१०	३८८	२४३९	३८२७	१२४४
बम्बई बेंक	१००	१२५	१८७	२६५०	२८३७	९८०
मदरास बेंक	७५	४५	१२४	१५२९	१६५३	४५५
मीज़ान	३७५	३८०	६९९	७६१८	८३१७	२६७९

बम्बई, बङ्गाल और मदरास बेंक प्रेसीडेंसी बेंक कहलाते थे। भारत के सब बेंकों में इन तीन बेंकों का स्थान पहले से ही सबसे ऊँचा रहा है। इसका कारण यह है कि इनके पास सरकार का बहुत सा रुपया हमेशा जमा रहता था और इनको जोखिम का लेन-देन करने की आज्ञा नहीं थी। सन् १८६२ तक इनको नोट निकालने का भी अधिकार रहा। इसके सिवा सन् १८७६ तक भारत सरकार इन बेंकों की साझीदार थी। उसने इनके शेयर ख़रीदे थे और उनके डायरेक्टरों के चुनाव में भी वह भाग लेती थी। आवश्यकता पड़ने पर बम्बई बेंक से काफ़ी रुपये वापस न मिलने पर सन् १८७६ में सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी। उसी वर्ष से भारत-सरकार ने इन तीनों बेंकों के पास कम से कम एक निश्चित परिमाण तक अपना रुपया बिना व्याज जमा रखने की ज़िम्मेदारी ली और यदि उतना रुपया जमा न रक्खा गया तो उसकी न्यूनता पर व्याज देने का वचन दिया। इसके बदले में उनको सरकार के बहुत काम करने पड़ते थे। सरकारी ऋण-सम्बन्धी सब हिसाब भी यही रखते थे। जिन शहरों में इनकी शाखाएँ थीं उनका सरकारी लेन-देन भी इन्हीं के द्वारा होता था। वहाँ अलग सरकारी ख़ज़ाना नहीं रहता था। इम्पीरियल बेंक को भी सरकार के ये काम करने पड़ेंगे।

सन् १८७६ में सरकार ने इन बेंकों के सब शेयर भी बेच दिये, क्योंकि उसने इनका साझीदार रहना उचित न समझा। उसी वर्ष से बम्बई, कलकत्ता और मदरास में उसने अपने बड़े बड़े ख़ज़ाने खोले। उनमें उसका बचा हुआ कोष रक्खा जाने लगा। नीचे के कोष्टक में यह बतलाया जाता है कि भिन्न भिन्न वर्षों में सरकार का कितना रुपया रिज़र्व ट्रेज़रियों में (बम्बई, कलकत्ता और मदरास के बड़े ख़ज़ानों में), अन्य ख़ज़ानों में और इन बेंकों के पास जमा किया गया।

लाख रुपयों में

वर्ष	रिज़र्व ट्रेज़री में जमा	अन्य ख़ज़ानों में जमा	प्रेसीडेंसी बेंकों में जमा	मीज़ान (कुल सरकारी बेलेंस)
१९११-१२	५५२	८२८	४१४	१७९४
१९१२-१३	१०७१	८३०	४५१	२३५२
१९१३-१४	९९१	९१८	५६०	२४६९
१९१७-१८	४२५	८१७	१२८२	२५२४
१९१८-१९	१९९	६५०	१०३१	१८८०
१९१९-२०	१४६	६७६	११५७	१९७९

उपर्युक्त कोष्टक से यह मालूम होता है कि अपनी बचत का बहुत थोड़ा भाग पहले सरकार इन बेंकों में जमा रखती थी, परन्तु गत तीन वर्षों से उसकी बचत का अधिकांश भाग इन्हीं बेंकों में जमा रहा है। तिस पर भी औसत से नौ दस करोड़ की रक़म अब भी सरकारी ख़ज़ानों ही में जमा रहती है। भारत कृषि-प्रधान देश है; और यहाँ के निर्यात का अधिकांश भाग कच्चा माल

है। अतएव निर्यात का व्यापार वर्ष के ख़ास ख़ास महीनों में ख़ास ख़ास स्थलों में तेज़ हो जाता है। इसके बाद वह मंद पड़ जाता है। जैसे गेहूँ, चावल या कपास की फ़सल तैयार होने पर जहाँ वे बोये जाते हैं वहाँ उनका व्यापार कुछ समय के लिए तेज़ हो जाता है। व्यापार की तेज़ी के समय व्यापारियों और रोज़गारियों को द्रव्य की बहुत आवश्यकता रहती है और वे बैंकों से रुपया उधार माँगते हैं। इन प्रेसीडेंसी बैंकों के पास भी रुपया उस समय कम होने लगता है और इसलिए वे बैंक रेट को—याने बैंक द्वारा रुपये उधार दिये जाने की दर को बढ़ा देते हैं। गत वर्षों में व्यापार की तेज़ी के समय बैंक रेट आठ या नौ प्रति सैकड़ा रहता था जब कि अन्य समय वह पाँच या छः प्रति सैकड़ा रहता था। ख़ास उसी समय सरकारी ख़ज़ानों में बहुत रुपया भरा रहता था, क्योंकि उसी समय मालगुज़ारी वसूल की जाती थी। यह रुपया अन्त में बम्बई, कलकत्ता और मदरास के रिज़र्व ट्रेज़रियों में पहुँच कर व्यर्थ पड़ा रहता था। अब ये रिज़र्व ट्रेज़री टूट जायँगे और उनका सब रुपया इम्पीरियल बैंक में ही रक्खा जायगा। इससे यह बैंक उन रुपयों को व्यापार की तेज़ी के समय आसानी से उपयोग में ला सकेगा और बैंक रेट में पहले के समान अधिक बढ़ती न होगी। इससे देश के व्यापार को बड़ा लाभ पहुँचेगा।

भारत में बैंकों की बहुत कमी है। पचास हज़ार से अधिक जन-संख्यावाले १४ शहर ऐसे हैं जहाँ किसी भी बैंक की एक भी शाखा नहीं है। छोटे छोटे शहरों की तो फिर बात ही अलग है। इम्पीरियल बैंक एक्ट के अनुसार इस बैंक को पाँच वर्ष के भीतर कम से कम १०० नवीन शाखायें खोलनी पड़ेंगी और उनमें से कम से कम २५ भारत-सरकार द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर खोली जायँगी। आज-कल इम्पीरियल बैंक की कुल ६८ शाखायें हैं। पाँच वर्ष में उनकी संख्या कम से कम १६८ हो जायगी। इससे भारत के व्यापार और व्यवसाय को बहुत लाभ पहुँचने की सम्भावना है।

प्रत्येक बैंक का प्रधान कर्त्तव्य यह रहता है कि वह एक व्यक्ति का रुपया उधार लेकर दूसरे व्यक्ति को अधिक व्याज पर उधार दे दे। यह बात सबको विदित ही है कि इससे देश के रोज़गार और व्यापार को बहुत लाभ पहुँचता है। बैंकों द्वारा ही देश का अनुपयोगी धन देश के व्यापार और रोज़गारों के बढ़ाने के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। परन्तु लेन-देन भी कई प्रकार के हैं। उनमें से कई में जोखिम भी बहुत है। कई लेन-देनों में सबके सब रुपये डूब जाने की सम्भावना रहती है। प्रेसीडेंसी बैंकों के पास सरकारी रुपया जमा रक्खा जाता था, इसलिए यह बहुत आवश्यक समझा गया कि वे जोखिमवाले लेन-देनों में अपना हाथ न डालें। इसी कारण सन् १८७६ के क़ानून के अनुसार उनका कार्यक्षेत्र कुछ सङ्कीर्ण कर दिया गया था। वे उन्हीं हुंडियों को ख़रीद, बेंच या सिकार सकते थे जो भारत या सीलोन के किसी व्यक्ति के नाम पर की गई हों और वह भी इस शर्त के साथ कि जिसके नाम पर वे की गई हों उसने उनको उनकी मियाद पूरी होने पर सिकारना स्वीकार कर लिया हो। वे भारत में रहनेवाले व्यक्तियों की रक़म ही जमा रख सकते थे और भारत के बाहर अन्य किसी देश से वे रुपया उधार नहीं ले सकते थे। वे अपना

रुपया ब्रिटिश और भारतसरकार की सिक्योरिटीज़ में, रेलवे के शेयरों में और भारत की म्यूनिसीपालटी तथा पोर्ट ट्रस्ट के डिबेंचरों में ही लगा सकते थे और इन्हीं की ज़मानत पर रुपया भी उधार दे सकते थे। ज़मीन और अचल वस्तुओं की ज़मानत पर रुपया उधार देने की उनको आज्ञा नहीं थी। वे छः महीने से अधिक के लिए रुपये उधार भी नहीं दे सकते थे और बिना दो मातबर आदमियों की ज़मानत के किसी को अपनी ख़ानगी साख पर रुपया उधार नहीं दे सकते थे। चाँदी सोना बेंचने और ख़रीदने की उनको पूरी स्वतन्त्रता थी।

इम्पीरियल बेंक का कार्यक्षेत्र भी बहुत कुछ वैसा ही रक्खा गया है। अन्तर केवल इतना है कि इम्पीरियल बेंक को लन्दन में एक शाखा खोलने की इज़ाजत दे दी गई है और वह ऐसी हुंडियों को भी बेंच, ख़रीद और सिकार सकती है जो भारत से बाहर अदा की जानेवाली हों। परन्तु लन्दन की शाखा के द्वारा बेंक उन्हीं व्यक्तियों से लेन-देन कर सकेगा जो गत तीन वर्षों से भारत में उसके साथ लेन-देन करते रहे हों। विदेशी हुंडियों का बेंचना, ख़रीदना और सिकारना गवर्नर जनरल के आदेशानुसार ही हो सकेगा। उपर्युक्त बन्धनों के कारण प्रेसीडेंसी बेंकों की आर्थिक दशा सदा ही बहुत अच्छी रही और वे १२) से १८) प्रति सैकड़ा प्रति वर्ष डिविडेंड देते रहे। उनके ५००) के शेयर प्रायः १२००) से २०००) तक बिकते थे। आशा है इम्पीरियल बेंक की दशा भी वैसेही सन्तोषप्रद रहेगी।

एकीकरण के पहले तीनों बेंकों का मूल-धन सब मिला कर ३ करोड़ ७५ लाख रुपये था। अब इम्पीरियल बेंक का मूल-धन ११ करोड़ २५ लाख रक्खा गया है। इम्पीरियल बेंक के शेयर प्रेसीडेंसी बेंकों के शेयर-होल्डरों को नीचे लिखी शर्तों पर दिये गये थे। बङ्गाल और बम्बई बेंकों के शेयर-होल्डरों को उनके पाँच सौ रुपये के एक शेयर और नक़दी २५०) के बदले इम्पीरियल बेंक के ५००) के तीन शेयर दिये गये। उन तीन शेयरों में से एक शेयर पर यह लिखा था कि उसकी पूरी रक़म [५००) रुपया] अदा की जा चुकी है, इसलिए बेंक को अधिक रुपया माँगने का अधिकार नहीं है। परन्तु अन्य दो शेयरों पर यह लिखा रहता था कि प्रत्येक शेयर पर केवल १२५) ही बेंक को दिया गया है इसलिए बाक़ी रुपया [३७५) प्रति शेयर] एक या तीन पृथक् किश्तों में माँगने का अधिकार बेंक को है। मदरास बेंक के शेयर-होल्डरों को भी अपने ५००) के एक शेयर के बदले इम्पीरियल बेंक के वैसे ही तीन शेयर मिले थे, परन्तु उनको २५०) नक़द के बदले ४५०) नक़द देने पड़े थे। इसका कारण यह था कि मदरास बेंक के शेयर बाज़ार में कम भाव पर बिकते थे।

क़ानून के अनुसार इम्पीरियल बेंक अपना बेलेंस-शीट प्रति सप्ताह प्रकाशित करता है। इससे यह लाभ होता है कि जनता बेंक की स्थिति को जानती रहती है और बेंक के काम-काज में गोल-माल होने की कम सम्भावना रहती है। इम्पीरियल बेंक का २२ जुलाई १९२१ का बेलेंसशीट ४ अगस्त के 'केपिटल' नामक अँगरेज़ी साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित हुआ है। वह नीचे उद्धृत किया जाता है।

पूँजी और देनी

	रुपये
पूँजी जिसके शेयर बिक चुके हैं :—	१०,७९,००,०००
पूँजी जो वसूल की जा चुकी है :—	५,५१,००,०००
रिज़र्व (पुरानी बचत):—	३,७१,६३,०००
सरकारी जमा :—	१८,६०,२१,०००
अन्य व्यक्तियों की जमा :—	६९,५२,४६,०००
फुटकर :—	१,४९,०६,०००
	१८,८४,३६,०००

नक़द माल और लेनी

	रुपये
सरकारी सिक्योरिटीज़:—	१३,१८,५८,०००
अन्य प्रकार की सिक्योरिटीज़ :—	१,३५, ५९,०००
उधारी :—	३५,४१,३९,०००
देशी हुंडियाँ जो सिकार कर ख़रीदी गई हैं :—	११,२८,०१,०००
विदेशी हुंडियाँ जो सिकार कर ख़रीदी गई हैं :—	४,७९,०००
सोना-चाँदी :—	१३,०००
इमारतें व सामान वग़ैरह की क़ीमत :—	२,०९,९९,०००
फुटकर :—	२८,३१,०००
अन्य बेंकों के पास जमा :—	१५,२४,०००
	६३,८२,०३,०००
बेंक के पास नक़द रुपया	३५,०२,३३,०००
	९८,८४,३६,०००

इस बेलेंस-शीट में लन्दन का निम्नलिखित लेन-देन भी शामिल है।

लन्दन में अमानत जमा	५४,६००	पौंड
लन्दन में उधारी	५,७५,३००	पौंड
लन्दन के बेंकों में जमा	९१,९०३	पौंड

बेलेंस-शीट से बेंक की आर्थिक दशा का पता लगता है। बेंक रुपया जमा करनेवाले को माँगने पर रुपया वापस देने की ज़िम्मेवारी लेता है, इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि उसके पास पर्याप्त परिमाण में नक़द रुपया हमेशा बना रहे। इसलिए प्रत्येक बेंक के पास रोज़मर्रा जमा की रक़म का कम से कम पाँचवाँ हिस्सा (२० प्रति सैकड़ा) नक़द रुपयों में मौजूद रहना चाहिए। यदि नक़द रुपया २० प्रति सैकड़ा से कम हो जाय तो बेंक की आर्थिक दशा असन्तोषप्रद समझनी चाहिए। गत २२ जुलाई को इम्पीरियल बेंक में सरकारी और अन्य व्यक्तियों की कुल जमा ८८,१२,६७,००० रुपये थी और उसके पास उस दिन ३५,०२,३३,००० रुपये नक़द मौजूद थे। अर्थात् प्रत्येक १०० रुपये की जमा के बदले उसके पास प्रायः ४० रुपये नक़द मौजूद थे। इससे पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं कि बेंक की आर्थिक दशा कितनी अधिक सन्तोषप्रद है।

तीनों प्रेसीडेंसी बेंकों के डायरेक्टरों के बोर्ड अब इम्पीरियल बेंक के लोकल बोर्डों में परिणत होगये हैं। अर्थात् बम्बई बेंक के डायरेक्टरों का बोर्ड अब इम्पीरियल बेंक के बम्बई अहाते का लोकल बोर्ड हो गया है।

इम्पीरियल बेंक के कार्य को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए एक सेंट्रलबोर्ड की स्थापना हुई है। इस बोर्ड का दफ़्तर किसी एक ख़ास जगह पर नहीं रहेगा। इसकी मीटिङ्ग पारी पारी से कलकत्ता, बम्बई या मदरास में हुआ करेंगी। इस बोर्ड के सभासद् प्रति वर्ष नीचे लिखे अनुसार नियुक्त किये जायँगे।

प्रत्येक लोकल बोर्ड के सभापति और उपसभापति	६	सभासद्
सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए	४	,,
भारतसरकार द्वारा सेंट्रल बोर्ड की सिफ़ारिश पर नियुक्त किये हुए दो मेनेजिङ्ग गवर्नर	२	,,
प्रत्येक लोकल बोर्ड के सेक्रेटरी	३	,,
कन्ट्रोलर आव् करेंसी	१	,,
	१६	,,

इन १६ सभासदों में से कंट्रोलर आव् करेंसी और लोकल बोर्ड के सेक्रेटरियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। वे मीटिङ्ग में केवल अपनी राय दे सकते हैं। इसलिए सेन्ट्रल बोर्ड में आज-कल वोट देनेवाले १२ सभासद् ही हैं। भारतवासियों के हितों की रक्षा करने के लिए भारतसरकार द्वारा चार सभासदों की नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गई है और इस वर्ष के लिए सर डी० ई० वाचा, सर एम० बी० दादाभाई, सर आर० एन० मुकर्जी और राव बहादुर अन्नामल चेटी नियुक्त किये गये हैं। यह कहना बहुत कठिन है कि ये सज्जन भारतवासियों के हितों की कहाँ तक रक्षा कर सकेंगे। अभी जो दो मेनेजिङ्ग गवर्नरों की नियुक्ति सेन्ट्रल बोर्ड की सिफ़ारिश पर भारत सरकार द्वारा की गई है उससे तो कुछ अधिक आशा नहीं दिखाई पड़ती। मेनेजिङ्ग गवर्नर का वेतन क़रीब ४०००) मासिक है। बेंक का काम-काज इन दो गवर्नरों और लोकल-बोर्डों के सेक्रेटरियों द्वारा ही चलाया जायगा। ऐसी दशा में क्या यह आवश्यक नहीं था कि दो में से कम से कम एक गवर्नर तो भारतीय होता? क्या सेन्ट्रल बोर्ड को एक भी भारतीय सज्जन इस काम के योग्य नहीं मिला? सम्भव है कि सेन्ट्रल-बोर्ड के भारतीय मेम्बरों की संख्या अन्य मेम्बरों से कम होने के कारण उनकी सलाह न मानी गई हो और यह भी सम्भव है कि शायद इन सज्जनों ने इस प्रश्न को अधिक महत्त्व का न समझा हो।

जोखिम के लेन-देन में हाथ न डालने से इम्पीरियल बेंक की आर्थिक दशा हमेशा सन्तोषप्रद रहने की बहुत सम्भावना है। पाँच वर्ष में इसकी १०० नई शाखाओं के खुल जाने पर देश के व्यापारियों को बहुत सुभीता हो जायगा और भारत-सरकार का सब कोष उसी में रक्खे जाने के कारण व्यापार की तेज़ी के समय बेंक-रेट भी अब पहले के समान अधिक न बढ़ेगा। इससे भी व्यापारियों को बहुत लाभ होगा। परन्तु अभी यह निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भारतवासियों के हितों की रक्षा वह कहाँ तक कर सकेगा और भारत के देशी व्यापारियों और रोज़गारियों को उससे कहाँ तक लाभ होगा।

दयाशङ्कर दुबे

लक्ष्य।

(१)

चित्त में चाह जो वित्त की है बड़ी
सत्व की लालसा स्वत्व की है कड़ी।
रक्ष्य हो तो स्वयं लक्ष्य को मारिए
कर्म के मर्म को धर्म से धारिए॥

(२)

काल को टाल दो बाल बाँका न हो
हाथ का साथ क्या जो लड़ाँका न हो?
वीर क्यों धीर क्यों हारते नीच से
भीरु भू-भार हो भागते मीच से॥

(३)

प्राण का त्राण जो चाहते आप हैं
शाप-सपन्न हैं, ग्रस्त-सन्ताप हैं।
शास्त्रवित्! सत्य के शस्त्र सन्धानिए
मानिए, मान की बान को आनिए॥

(४)

जो बचा चाहते लोक में शोक से
तो खलों की बचो रोक से झोंक से।
अन्य को वन्य को मान्य जानो नहीं
हानि है, हन्य को धन्य मानो नहीं॥

(५)

धैर्य से स्थैर्य से कीजिए कार्य को
शौर्य से वीर्य भी धार्य है आर्य को।
साधिए साध्य हैं बाधकों को अभी
साधु हैं साधको! साधनायें सभी॥

(६)

क्यों न भागें अभागे अभी आप से?
आप के ताप से आत्म के पाप से।
जो जगा के जगत् जाग जाते स्वयम्
धीर हो वीर-बाना बनाते स्वयम्॥

(७)

दासता दीनता दूर हो आज ही
लाज में हो पड़े हाय बे काज ही।
दुर्मुखों के मुखों को लखो जो नहीं
स्पष्ट है कष्ट हो तो न कोई कहीं॥

(८)

लीजिए ऋद्धि को सिद्धि को शान्ति से
जागिए, भागिए क्रूर की क्रान्ति से।
क्यों बुरे हो भलों की बुराई करें
क्यों भले हो बुरों की भलाई करें॥

(९)

ज्ञान से दान से मान को लीजिए
स्फूर्ति से हानि की पूर्ति को कीजिए।
बात हे तात जावे न ख़ाली कभी
शेष है देश-लाली निराली अभी॥

(१०)

दुष्ट हों रुष्ट या तुष्ट हों, हो रहें,
जो चहें सो कहें मौन हो या सहें।
मोह में जो हमें डालने छद्म में
वे सड़ेंगे पड़े ही पड़े सद्म में॥

रामचरित उपाध्याय।

भारतवासियों के नाम मिस्टर जानसन का सन्देश।

संयुक्त राज्य अमरीका के अनेक पादरी भारत में हैं, परन्तु उनमें से एक भी मेरे मित्र मिस्टर विलियम यूज़ेन जानसन के सदृश नहीं है। आप अमरीका में मद्य का प्रचार बन्द करवानेवाले लोगों के नेता हैं और इस समय हम लोगों के बीच यहाँ लन्दन में कई हफ़्तों से ठहरे हुए हैं। आप शीघ्र ही भारत को जानेवाले हैं। आपकी इस यात्रा का यह उद्देश नहीं है कि आप वहाँ जाकर लोगों को ईसाई बनावेंगे या किसी दूसरे धर्म का ही उपदेश करेंगे। मद्य-पान का दुर्व्यसन छोड़ने में अमरीका में आपके देशभाइयों ने केवल

वही किया है जो हिन्दुस्तान के मुख्य मुख्य धर्मों का सदा से आदेश रहा है। यही बात भारतीयों को बताने के लिए आपने इस लम्बी यात्रा के कष्ट को स्वीकार किया है। आप वहाँ हम लोगों को इस बात की याद दिलावेंगे कि हम लोगों का जन-समुदाय व्यवहारत: मद्यपायी नहीं है।

विलियम राजिन जानसन।

पूर्वोक्त विचार की दृष्टि से जो सन्देश मिस्टर जानसन भारत में पहुँच कर हम लोगों को सुनावेंगे उसका सम्मान हमें उत्साहपूर्वक करना चाहिए। हम लोग यहाँ उस कहानी को बड़े चाव से सुनते हैं जिसे सुनाने के लिए आप भारत जा रहे हैं। उसमें उस लम्बी लड़ाई की कथा है जो अभी हाल ही में सफलतापूर्वक जीती गई है और जिसके कारण किसी प्रकार की मादक शराब के बनाने, उसे देश में बाहर से लाने, बेचने या देश के बाहर भेजने का निषेध क़ानून के द्वारा कर दिया गया है। इसके सिवा उसमें उन लाभों का भी वर्णन आता है जो शराब के व्यवसाय के लोप से इस समय अमरीका उपभोग कर रहा है।

भारतीय यात्रा का उद्देश—बात-चीत करते समय एक दिन मिस्टर जानसन ने मुझसे कहा:—

"मैं तुम्हारे भाई-बन्धुओं के घरेलू मामलों में दख़ल देने के लिए भारत नहीं जा रहा हूँ। मेरा यह विचार नहीं है कि मैं उनसे कहूँगा कि तुम्हें क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए, यहाँ तक कि मद्य-त्याग के सम्बन्ध में भी मैं उनसे कुछ न कहूँगा।

"मद्य को अपने देश से हटा बाहर करने के सम्बन्ध में भारतीयों से कुछ कहना मेरे—किसी भी अमरीकावासी के—लिए गुस्ताख़ी की बात होगी। भारतीय या हिन्दू, जैसा कि हम उन्हें अमरीका में कहते हैं अपनी बुद्धि और परम्परा से मद्य-पान के त्याग के

पक्षपाती हैं। हज़ारों वर्ष से वे—या कम से कम अधिकांश जन-समुदाय—मद्य-पान का त्याग किये हैं।

"बहुत सम्भव है कि मद्य-पान के त्याग का भाव अमरीका में हम लोगों ने भारत ही से लिया हो। भारत में इसके त्याग का उपदेश हज़ारों वर्ष से हो

संयुक्त-राज्य अमरीका की ओकलाहामा रियासत का तुलसा नामक नगर का दृश्य।

रहा है। यही नहीं वहाँ मद्य का विरोध उसके भी पहले से अस्तित्व में था जब कि दुनिया को अमरीका का पता लगा था। चाहे हम लोगों ने ऐसा किया हो या न किया हो, पर इस सम्बन्ध की हमारी कार्यवाही तुम्हारी विचार-सरणी तथा विस्तृत प्रक्रिया के ही अनुसार है।

"अस्तु, मैं समझता हूँ कि भारतीयों को उस लड़ाई का हाल मनोरञ्जक प्रतीत होगा जिसे हमने शराब का व्यवसाय अपने देश में बन्द करा देने के लिए छेड़ा था और हम लोगों ने ऐसा क्यों किया था यह भी जान कर वे लोग ख़ुश होंगे। अतएव मैं यह भी समझता हूँ कि वे उन परिणामों को भी जान कर प्रसन्न होंगे जो इसको रोक देने के कारण हमारे देश में हो रहे हैं।

"मेरी यात्रा का एक और भी उद्देश यह है। कुछ भारतीय जातियों में शराब पीने का दुर्व्यसन फैल गया है। उसका कारण मैं जानना चाहता हूँ। अतएव इस यात्रा द्वारा प्राप्त अवसर का उपयोग मैं इस सम्बन्ध में भी करूँगा। अपनी

यात्रा प्रारम्भ करने के पहले जो सूचनायें प्राप्त करने में मैं समर्थ हुआ हूँ उनसे मुझे आशा हुई है कि आपके देश का प्रश्न उतना जटिल नहीं है जितना हमें अपने देश में हल करना पड़ा है। जिन अङ्कों की जाँच मैंने की है उनसे मुझे पता लगा है कि मद्य-निषेधक क़ानून की रचना के पहले स्वयं भी बहुत बढ़ गई है, इतने पर भी अधिकांश जनता शराब नहीं पीती।''

अमरीका के संयुक्त-राज्यों में मद्य-निवारण-सम्बन्धी आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण तथा तज्जनित लाभों का उल्लेख करने के पहले मैं यहाँ मिस्टर जानसन के जीवन की कुछ बातें लिख देना उचित
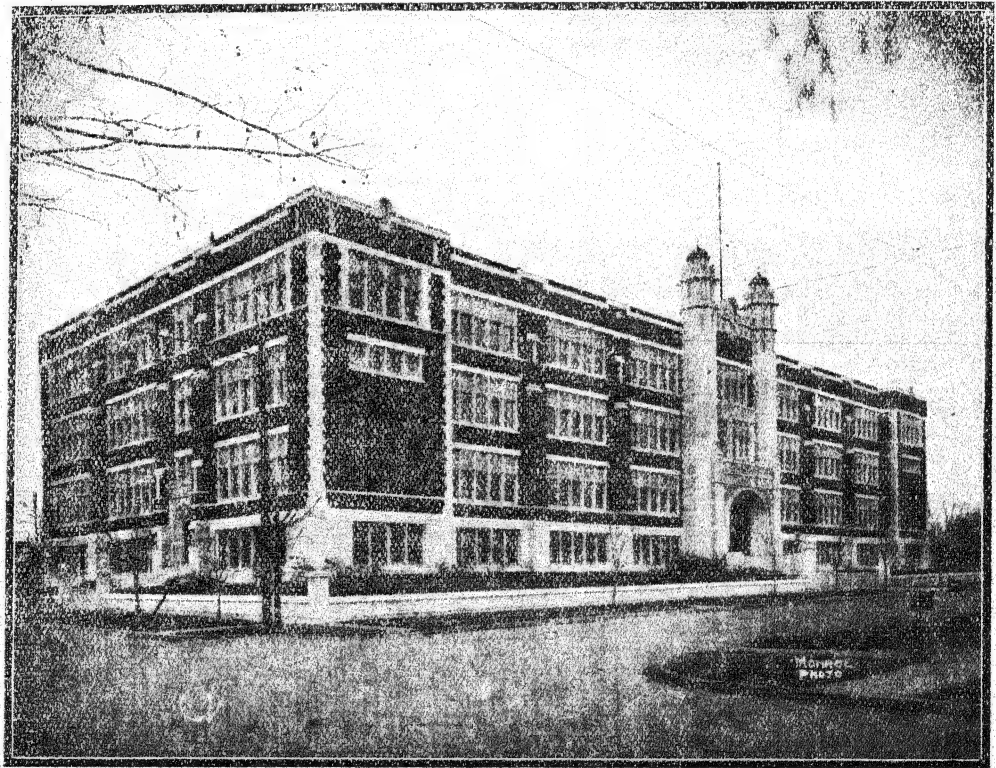
तुलसा का पबलिक हाई स्कूल।

हमारे देश के मद्यपों की अपेक्षा आबादी के लिहाज़ से भारत में मद्यपों की संख्या बहुत ही अधिक न्यून है। इसके साथ यह बात भी ध्यान में रखने के योग्य है कि इधर पिछले वर्षों में जितने परिमाण में शराब की खपत भारत में हुई है उसकी बिक्री से केवल राजस्व ही की वृद्धि नहीं हुई, किन्तु वह समझता हूँ। साठ वर्ष बीते आप न्यूयार्क की रियासत में उत्पन्न हुए थे। समाज-सेवा आपका पैत्रिक व्रत है। स्कूल छोड़ने पर आप स्कूल मास्टर हो गये, परन्तु अपनी शिक्षा में वृद्धि करने के विचार से आपने शिक्षा देने का काम छोड़ दिया और निब्रस्का-विश्व-विद्यालय में भर्ती हो गये। परन्तु

जब आपको मालूम हुआ कि वहाँ आपका अभीष्ट न सिद्ध होगा तब आप चले आये और सम्पादकीय पेशे को उठा लिया। तब से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आपका सम्बन्ध अब तक इसी कार्य से रहा है।

अपनी तीस वर्ष की उम्र ही में मिस्टर जानसन ने निब्रस्का में तहलका मचा दिया था। आपने शराबवालों के उन प्रयत्नों का भण्डा-फोड़ कर दिया जिनसे वे संवादपत्रों और राजनीतिज्ञों को अपने पक्ष में किये रहते थे। उन लोगों के समझौते का भेद आपको बड़ी हिकमत से लगा था। 'जानसन्स् पेल एल' शीर्षक देकर आपने मद्य के व्यवसायियों को पत्र लिखे और जो मद्य-निवारक आन्दोलन उस रियासत में उस समय उग्ररूप धारण करता जाता था उसको प्रभावहीन करने के लिए संवादपत्रों के सञ्चालकों तथा राजनीतिज्ञों को अपनी मुट्ठी में करने का उपाय पूछा। वे लोग आपके चकमे में आगये और तद्विषयक जो सूचना आपको उन्होंने दी उससे यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध होगई कि अमरीकावालों के जीवन पर शराब की दूकानों का बहुत ही अधिक विनाशकारी प्रभाव है।

सन् १९०६ में संयुक्तराज्यों की सरकार ने मिस्टर जानसन को एक विशेष अधिकारी की हैसियत से इंडियन लोगों के देश (आज-कल की ओकलाहोमा की रियासत) में नियुक्त किया। मद्य का बनाना और उसका बेचना बन्द करने के लिए कुछ क़ानून बनाये गये थे। ये क़ानून उत्तरी अमरीका के इंडियनों के लाभ की दृष्टि से विशेष करके रचे गये थे। परन्तु वहाँ के पतित निवासियों ने उनकी खुल्लमखुल्ला अवहेलना की थी। इन्हीं क़ानूनों को कार्य में परिणत करने का भार आपको सौंपा गया।

निम्नलिखित घटना से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मिस्टर जानसन को कैसे कठिन कार्य का सामना करना पड़ा था:—

एक दिन मिस्टर जानसन को मालूम हुआ कि अमुक शराब-विक्रेता गली गली डींग मारता है कि जिस दिन मैं उसकी निगाह पड़ गया उसी दिन मैं अपने को मरा हुआ समझूँ। अतएव आपने उससे भिड़ने का तुरन्त निश्चय कर लिया। आपने सोचा कि यदि मैं इस समय ज़रा भी कमज़ोरी दिखाता हूँ तो मैं अपना कार्य कुछ भी न कर सकूँगा। अतएव सतर्कता के साथ भेष बदल कर आप सीधा उसी बिलियर्ड रूम (Pool hall) में गये जहाँ आपका जानी दुश्मन उस समय सभापति का कार्य कर रहा था। मतवाले होने के बहाने से आप भीतर घुस गये और उससे पीने के लिए शराब माँगी। सार्सापरीला—एक प्रकार का हलका मादक द्रव्य--की एक बोतल आपको दी गई, परन्तु आपने क्रोध में आकर उसे वहीं पटक कर तोड़ डाला और तेज़ शराब लाने को उससे कहा। गाहक ठीक समझ कर मद्य-विक्रेता ने फ़र्श का चोर-द्वार खोला और शराब की एक बोतल निकाल कर आपके सामने रख दी! अच्छी तरह एक प्याला शराब उड़ेल चुकने के बाद आपने तम्बाकू माँगी। आपने समझ लिया था कि जिस बर्तन में तम्बाकू है उससे निकालने के लिए लानेवाले को घूमना पड़ेगा। ज्योंही वह तम्बाकू निकालने को घूमा त्योंही आप उसका पिस्तौल अपने क़ब्ज़े में करने

के लिए उस पर जा पहुँचे। क्या हो रहा है, यह जानने के पहले उसे अपने कान के पास पिस्तौल के लोहे की शीतलता का अनुभव हुआ। अब क्या था। आपने उसका पिस्तौल लेकर उसे वहीं क़ैद कर लिया। तब से आपका नाम Pussy foot पड़ गया। इस नाम का मतलब यह है कि जिसके सम्बन्ध में इसका प्रयोग होता है वह बिल्ली के सदृश चुपचाप चल लेता है।

इस कार्य से अवकाश लेकर मिस्टर जानसन शीघ्र ही Anti Saloon League में शामिल हो गये। इस संस्था ने अमरीकावालों को शराब के व्यवसाय की बुराइयाँ हृदयङ्गम कराने और उसके बन्द करने में उनकी सहायता प्राप्त करने में बहुत ही अधिक कार्य किया है। इस संस्था के सङ्गठन तथा उसके प्रचार-कार्य में आपने अमूल्य सहायता की है।

एक दिन मिस्टर जानसन मेरे घर आये। मैंने उनसे पूछा, "क्यों भाई, आपने अपने देश के शराब के मसले को हल किया तो कैसे किया?" आपने कहा, "अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए हम लोगों ने मद्य के व्यवसाय पर चारों ओर से आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था। अमरीका के व्यवसाय-प्रेमी व्यापारियों से भिड़ने के लिए, केवल आध्यात्मिक तथा नैतिक दृष्टि से मद्य के दूषण बतलाना किसी काम का नहीं। कारबारियों की सहायता प्राप्त करने के लिए हमें उनके मन में यह बात बैठा देना पड़ी कि मद्य-पान से कार्य करने की निपुणता का ह्रास हो गया है, फलतः वे घाटे में रहते हैं। और उस व्यवसाय में मज़दूर पेशा-वालों को अपने पक्ष में लाने के लिए उन्हें हमको यह सुझाना पड़ा कि मद्य के दुर्व्यसन से प्राण-हानि और अङ्ग-नाश अनिवार्य है।

मद्य-व्यवसाय के मज़दूरों की स्त्रियों को उतना समझाना बुझाना नहीं पड़ा! उन्हें इस बात का पहले ही से अनुभव था कि उनका मारा-पीटा जाना, अपव्यय, बाल-बच्चों के प्रति उदासीनता और अनेक अवसरों पर उनके तलाक़ की घटनाओं का एक-मात्र कारण मद्य का दुर्व्यसन है। पुलिस और न्यायाधीशों को तो यह बात ज्ञात ही थी कि अप-राधों का प्रधान जन्मदाता मद्य-पान ही है। समाज के हितचिन्तकों तथा उसकी बुराइयाँ दूर करने-वालों को ज्ञात ही था कि उनकी कठिनाइयों की वृद्धि का मुख्य कारण मद्य का दुर्व्यसन है। अतएव स्वभावतः वे लोग उसको निर्मूल करने के लिए प्रवृत्त हो गये।

सिनेमा, थियेटर और दूकानदारों की सहा-यता इस प्रलोभन से प्राप्त की गई कि मद्य के व्यवसाय के बन्द हो जाने से उनके लाभ में वृद्धि होगी। रेड इंडियन और हबशी नेताओं की समझ में यह बात तुरन्त आगई कि उनकी जाति में मद्य के दुर्व्यसन से पाशविक प्रवृत्ति पैदा होगई है, अत-एव मद्य के नशे में वे लोग तरह तरह के अत्याचार कर बैठते हैं जिससे उनकी जाति कलङ्कित होगई है। जो गोरे उनके सम्पर्क में रहते थे उन लोगों ने इस आन्दोलन में इन लोगों की मदद इस कारण की कि शराबी इंडियन और हबशी उनकी सामाजिक और घरेलू शान्ति के बाधक हैं।

भलमनसी तथा सामाजिक एवं व्यक्तिगत लाभों को दृष्टि में रख कर यह आन्दोलन लोकप्रिय बनाया गया और अन्त में देश के एक छोर से

दूसरे छोर तक फैल गया। संयुक्त-राज्यों की कांग्रेस के दोनों परिषदों में मद्य के निषेध के सम्बन्ध में जो सम्मिलित प्रस्ताव उपस्थित किया गया था उस सम्बन्ध में सदस्यों का बहुमत तथा जिस उत्साह के साथ तत्सम्बन्धी क़ानून सारी रियासतों में उपयोग में लाया गया उससे इस आन्दोलन की सर्वप्रियता का अनुभव प्रत्यक्ष हुआ था। मद्य के निषेध-सम्बन्धी क़ानून को क़ानूनी रूप देने के लिए विधान के अनुसार यद्यपि केवल छत्तीस ही रियासतों की मञ्ज़ूरी आवश्यक थी, परन्तु अड़तालीस रियासतों में से ४५ रियासतों ने उसे अपने यहाँ की क़ानून-सभाओं में पास किया। शेष तीन रियासतों—कनेक्टीकट, न्यूजर्सी और रोड आइलेंड—का क्षेत्र-फल २६,८०२ वर्ग-मील है। संयुक्त-राज्यों का क्षेत्र-फल २९,७३,८९० वर्ग-मील है। सन् १९१७ की मनुष्य-गणना के अनुसार पूर्वोक्त तीनों रियासतों की आबादी ४१,९४,५३३ है और संयुक्त-राज्यों की ९,१९,७२,२६६ है। इन अङ्कों से पता लगता है कि ४५ रियासतों ने क़ानून पास करके वहाँ से शराब का पूर्णरूप से बहिष्कार कर दिया। इनका क्षेत्र-फल ९९·७ प्रति सैकड़ा तथा आबादी ९५ प्रति सैकड़ा हो जाने से इस सम्बन्ध में वहाँ का भाव स्पष्ट व्यक्त हो जाता है।

मिस्टर जानसन यह अस्वीकार करने की चेष्टा नहीं करते कि मद्य के निषेधात्मक क़ानून के प्रचलित हो जाने पर वह भङ्ग नहीं किया गया, किन्तु आप यह कहते हैं कि उस क़ानून की इतनी अवहेलना नहीं की गई जैसा कि बढ़ा कर कहा जाता है। इतने पर भी मद्यपान के निषेध से संयुक्त-राज्य को बहुत लाभ होने लगा है।

संयुक्त-राज्य के ५४ नगरों के पुलिस अधिकारियों से जो अनुसन्धान किया गया है उसका फल आगे दिया जाता है:—

सन्	मतवाले गिरिफ़्तार किये गये	कुल गिरिफ़्तार किये गये
१९१७	३,७२,४९७	११,०९,५६१
१९१८	२,९४,००६	१०,४९,९६३
१९१९	२,०५,३९१	९,५६,२१५
१९२०	१,४१,०७१	९,३५,३१८

इन अङ्कों को पढ़ते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मतवाले शराबियों और अपराधियों की संख्या कितनी अधिक वृद्धि पर थी। जब मद्य-निषेधात्मक क़ानून का प्रयोग पूर्णरूप से हो जायगा तब मतवाले शराबियों की संख्या का लोप हो जायगा और अपराधियों की संख्या और भी न्यून हो जायगी।

न्यूयार्क के स्वास्थ्य-विभाग से जो अङ्क संग्रह किये गये हैं उनकी संक्षिप्त तालिका आगे दी गई है। इससे यह बात प्रकट होती है कि मद्य-पान से मरनेवालों की संख्या भी बहुत घट गई है।

१९१६	६८०
१९१७	५५९
१९१८	२४३
१९१९	१८६
१९२०	६९

देश के भिन्न भिन्न भागों के जेलों और ग़रीबख़ानों से जो रिपोर्टें आ रही हैं उनसे पता लगता है कि अपराधियों और ग़रीबों के अभाव से वे बन्द होते जा रहे हैं। यह सब मद्य-पान के त्याग करने का ही परिणाम है।

मद्य के बहिष्कार का प्रभाव आर्थिक स्थिति पर पड़ा है। आबकारी विभाग की आय बन्द ही सी होगई, पर अधिकारि-वर्ग राजस्व की इस हानि की कुछ परवा नहीं करता। मोन्टना रियासत के कोषाध्यक्ष ने मिस्टर जानसन को लिखा था, "रियासत के ज़िलों को आबकारी के ठेके से जो आय पहले होती थी वह अब नहीं रह गई। परन्तु अपने जेल और ग़रीबख़ानों को अपराधियों और मद्य के दुर्व्यसन से अपराध करनेवाले लोगों से न भर कर वास्तविक रूप में बहुत कुछ व्यय भी कम पड़ गया है। इन ठेकों से होनेवाली आय में यद्यपि बहुत कमी आ गई है, तो भी व्यय भी उसी प्रकार बहुत कुछ घट गया है। अतएव हम यह नहीं समझते कि शराब की आय बन्द हो जाने से हमारे कर बढ़ गये हैं।"

संयुक्त-राज्य में माल के मूल्य पर कर लगता है। जब सैलून उठा दिये गये तब माल का मूल्य बढ़ गया। अतएव अनेक स्थानों में अधिकारि-वर्ग लाभ ही में रहा। उदाहरण के लिए, जे० बी० क्रूस रियल्टी कम्पनी के पास इंडिआनो पोलिस, इंडियाना, में एक घर था। यह घर सन् १९१६ में ४८,६६० डालर में ख़रीदा गया था। तब शराब का व्यवसाय बन्द नहीं किया गया था। अब इस समय इस मकान का मूल्य ६५,००० डालर लगाये गये हैं। मद्य के निषेध के इन्हीं दो वर्षों में अकेले इस एक मकान के कर लगाये जानेवाली मूल्य की रक़म में ३६,००० डालर की वृद्धि हुई। अतएव गृह-स्वामी की मिलकियत की इस भारी मूल्य-वृद्धि के साथ ही इंडिआना पोलिस के कर लगाये जानेवाले माल में से एक के मूल्य में ३६,००० डालर की वृद्धि हुई।

मद्य के निषेध का प्रभाव घरेलू भलमनसी और सामाजिक जीवन पर ख़ूब ही पड़ा। मद्य-वर्जन के पहले मज़दूर अपना चेक सैलून में ले जाकर भुनाया करता था, जहाँ उसका अधिकांश शराब के मूल्य में पहले ही काट लिया जाता था। अब वह उसे अपनी स्त्री को जाकर देता है। वह उससे अच्छा भोजन, कपड़े-लत्ते तथा अन्यान्य आमोद-प्रमोद की बातों का प्रबन्ध करने में समर्थ होती है। इसके सिवा वह उसमें से कुछ न कुछ बचा भी लेती है, जो पानी बरसने के दिन काम आता है; क्योंकि उस दिन काम बहुत कम मिलता है। सन् १९०९ की २० जून से १७ वीं सितम्बर तक वहाँ के जातीय बैंकों में ८,८०,००० नये लोगों के खाते खोले गये, जमा में १,४२,२८,८३,००० डालर हो गये और जातीय बैंकों की अपेक्षा स्टेट और प्राइवेट बैंकों में जमा करनेवालों तथा जमा-पूँजी की बहुत ही अधिक वृद्धि हुई।

परन्तु इस सम्बन्ध का जो प्रश्न भारत में हमारे सामने है वह अमरीका के समान जटिल नहीं है। अमरीका में मद्य त्यागियों का औसत नाम-मात्र भर था, पर यहाँ भारत में इसका उलटा है। यद्यपि इधर कुछ समय से हम लोगों में मद्य का प्रचार अधिक हो गया है तो भी हम लोग गम्भीर जाति के लोग हैं। सरकारी अङ्कों के देखने से मालूम पड़ता है कि हम लोगों में मद्य का दुर्व्यसन शीघ्रता से किस प्रकार बढ़ता जा रहा है। अतएव केवल आबकारी के आय के अङ्कों ही का जान लेना आवश्यक नहीं है, किन्तु मद्य के परिमाण के अङ्कों का भी। ये दोनों बातें आगे के अङ्कों से मालूम हो जायँगी।

सन्	आय	मद्य की खपत
	(पौंड)	(गैलन)
१६०४–५	५२,६५,८६३	७६,८०,०७०
१६०६–१०	६४,६२,२२६	८३,२०,७११
१६१४–१५	८७,४७,७४८	८५,२६,६३०
१६१५–१६	८४,६८,२७०	६२,६७,२५०
१६१६–१७	६१,०६,०८२	६२,६७,२५०
१६१७–१८	१,००,५७,३६५	६५,०५,३६५
१६१८–१६	१,१४,२१,५२४	६७,१०,०५६

भारत में मद्य-पान का दुर्व्यसन शिक्षितों और कल-कारख़ाने के मज़दूरों में शीघ्रता के साथ बढ़ रहा है और इसके प्रचार से वही बुराइयाँ इस देश में भी होने लगेंगी जिनसे बाध्य होकर संयुक्त राज्य, अमरीका, में मद्य का व्यवसाय क़ानून द्वारा बन्द कर देना पड़ा।

अतएव इस दुर्व्यसन की वृद्धि रोकने के लिए कार्य आरम्भ कर देने का यही समय है। यदि हम यह चाहते हों कि हम अपने प्रयत्नों में सफल हों तो हमें अपनी निज की आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें उनका स्वरूप देना चाहिए। मिस्टर जानसन के सदृश मित्र हमारी सहायता करेंगे, परन्तु हमें इस सम्बन्ध में हृदय से प्रोत्साहन मिलना चाहिए और इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए हमें विदेशियों पर नहीं, किन्तु अपने ऊपर निर्भर होना चाहिए।

सेंट निहालसिंह

मतिराम और बिहारी।

कविवर बिहारीलाल और मतिरामजी ने प्रायः एकही समय में कविता की है। दोनों ही प्रतिष्ठित राज-घरानों के आश्रित कवि थे। जयपुर और बूँदी राजपूताने के चिर-प्रसिद्ध राज्य हैं। यहाँ के शासक बड़े गुणी और गुणग्राही रहे हैं। हिन्दी-साहित्य दोनों ही दरबारों से लाभान्वित हुआ है। बिहारीलाल जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह के आश्रित थे और मतिरामजी बूँदी-नरेश महाराज भावसिंहजी के। दोनों कविवरों ने अपनी कविता का अधिकांश भाग शृङ्गार-रस के सत्कार में नियोजित किया है। दोनों ही कवि पक्के शृङ्गारी हैं। दोनों कवियों की रचना मधुर व्रजभाषा में है। बिहारीलाल ने अपनी समग्र कविता दोहा और सोरठा छन्द में निबद्ध की है, परन्तु मतिराम ने घनाक्षरी, सवैया, छप्पय, सोरठा एवं दोहा आदि छन्दों का उपयोग किया है। मतिराम ने नायिका-भेद और अलंकार एवं पिङ्गल-सम्बन्धी ग्रन्थ बनाये हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि बिहारीलाल के दोहे हिन्दी-साहित्य में अपना जोड़ नहीं रखते। हिन्दी-साहित्य में बिहारीसतसई सचमुच अद्वितीय ग्रन्थ है।

कविवर मतिराम ने भी अपने ग्रन्थों में अनेक दोहे कहे हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि यदि किसी के दोहे बिहारी के दोहों की समता को पहुँचते हैं तो वे मतिराम के ही दोहे हैं। हमारी राय में मतिराम के कोई कोई दोहे वास्तव में अनुपम हैं।

मतिराम और बिहारी के किसी किसी दोहे में भावसादृश्य पाया जाता है। यह सादृश्य भावापहरण के कारण से है अथवा इन दोनों कवियों को एक ही साथ समान भाव सूझे हैं—यह बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती। पर दोनों की कविता में भाव-सादृश्य है अवश्य। यहाँ इस प्रकार के कुछ उदाहरण उद्धृत किये जाते हैं।

(१) शरद का शुभागमन है। निर्मल जल की बहार है। खञ्जन पक्षी गृहस्थों के आँगन में नाच रहा है। सरोवरों में कमल फूले हैं। रात्रि में शशधर अपनी षोडश कला से उदित होता है। शृङ्गारी कवि बिहारीलाल और मतिराम दोनों ही इस प्रकृति-सौन्दर्य को देखते हैं। शरदागम का सुहावना समय, नायिका के अवयवों का प्रतिस्पर्धी बनता है!

बिहारी कहते हैं:—

अरुन सरोरुह कर चरन, दृग खञ्जन मुख इन्दु।
समय आय सुन्दर सरद, काहि न करत अनन्द?

इसी भाव का निर्वाह मतिराम इस तरह करते हैं:—

पिय आगम सरदागमन, विमल बाल मुख इन्दु।
अंग अमल पानिप भयो, फूले दृग अरविन्द॥

दोनों कवियों में किसका भाव विशेष मनोहर है, इसका भार सहृदय पाठकों की रुचि पर छोड़ कर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि मतिराम के दोहे में आगत पतिका नायिका एवं रूपक अलङ्कार का निर्वाह पूर्णरूप से किया गया है।

(२) बेचारे नेत्रों के भाग्य में सुख का अभाव ही समझ पड़ता है। जब प्रियतम से साक्षात् होता है तब लज्जा एवं आनन्दाश्रु के प्रवाह के कारण उनके दर्शन सम्यक् नहीं हो पाते। और वियोग में तो सदा रोना ही रोना रहता है। इस भाव को बिहारी ने अपने दोहे में यों अभिव्यक्त किया है:—

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाहिँ।
देखे बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिँ॥

मतिराम इसी भाव को यों दर्शित करते हैं:—

बिन देखे दुख के चलहिँ, देखे सुख के जाहिँ।
कहौ लाल इन दृगन के, अँसुआ क्यों ठहराहिँ॥

दोनों में किसका भाव उत्कृष्ट है इसका भार हम फिर सहृदय पाठकों की रुचि पर छोड़ते हैं।

(३) प्रौढ़ा धीरा नायिका नायक को सापराधी पाकर अपने क्रोध को प्रकट नहीं कर रही है, परन्तु उसकी रति-सम्बन्धिनी उदासीनता से नायिका का मान नायक को अवगत हो जाता है। इसी दशा का चित्र कविवर बिहारीलाल इस तरह खींचते हैं:—

चितवनि रूखे दृगनि की, हाँसी बिनु मुसकानि।
मान जनायो मानिनी, जानि लियो पिय जानि॥

इसी भाव को मतिरामजी ने 'रसराज' की एक घनाक्षरी में बहुत ही अच्छे ढँग से दिखलाया है। घनाक्षरी का अन्तिम पद यह है:—

कहा चतुराई ठानियत प्रानप्यारी तेरो,
मान जानियत रूखी मुख मुसकानि सों।

इसके अतिरिक्त एक अन्य दोहे में इस भाव को मतिरामजी ने और भी मार्मिकता से व्यक्त किया है—

ढीली बाँहनि सों मिली, बोली कछू न बोल।
सुन्दरि मान जनाय कै, लियो प्रा[illegible] मोल॥

अन्तिम दोहे की भावोत्कृष्टता का अन्दाज़ा पाठकगण इसी से कर सकते हैं कि 'दास' जैसे

उद्भट कवि भी इस भाव के अपहरण का लोभ संवरण न कर सके। यथा—

> याही ते हिय जानिगो, मान हिये को लाल।
> अरसीली ढीली मिलनि, मिली रसीली बाल॥
> ('दास'—रस-सारांश)

(४) आभूषण विशेष की झलक नायिका के अवयव-विशेष पर पड़ी है। नायिका इस बात को नहीं समझ पाती और उस झलक को दूर करने का उद्योग करती है। सखी उपहास करती हुई असली बात नायिका को समझा देती है। बिहारीलालजी कहते हैं:—

> बेसरि मोती दुति झलक, परी अधर पर आय।
> चूने होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय॥

कितना मार्मिकतामय वर्णन है! सखी की कैसी मृदु हँसी है!

मतिरामजी ने भी इसी भाव को एक दोहे में सम्पुटित किया है। पर वहाँ धोखा खानेवाली सखी है, नायिका नहीं। नायिका के कपोलों पर 'रदच्छद' बने हुए थे। लज्जावश वह कपड़े से ढँक कर उन्हें सखी से छिपाना चाहती थी, पर सखी इस भेद को यथार्थतया न समझ सकी। वह समझी कि 'लाल तर्योना' की आभा कपोलों पर पड़ रही है—उसको भ्रम होगया—या सम्भव है कि वह जान बूझ कर नायिका की लज्जा दूर करने को 'बन' गई हो। जो हो, उसने नायिका को गोपन-कार्य से विरत किया—

> प्रभा तरयोना लाल की, परी कपोलनि आनि।
> कहा छपावति चतुर तिय, कन्त-दन्त-छत जानि॥

इस दोहे को 'जसवन्त-जसो-भूषणकार कविराजा मुरारीदान ने अपने अलंकार-ग्रन्थ में 'भ्रम' के उदाहरण में उद्धृत किया है।

(५) लाज लगाम न मानहीं, नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं, ऐंचत हू चलि जाहिं॥
—बिहारी

> मानत लाज लगाम नहिं, नेकु न गहत मरोर।
> होत लाल लखि बाल के, दृगतुरङ्ग मुँहजोर॥
> —मतिराम

दृगतुरङ्गों पर अपना बस न रहने के कारण बिहारीलाल का यह कहना कि "नैना मो बस नाहिँ" बड़ा ही विदग्धतापूर्ण और सुकुमार भाव है। 'दृगतुरङ्ग' का रूपक बड़ी शान-बान से उठा था, पर 'लौं' वाचक के प्रयोग से बिहारीलाल ने उसे बिगाड़ दिया। मतिरामजी के दोहे में इतनी विशेषता अवश्य है कि उन्होंने रूपक नहीं बिगड़ने दिया।

(६) प्रिय और प्रियतमा का साक्षात्कार हुआ है। दोनों एक दूसरे को टकटकी लगा कर देख रहे हैं। सात्विक प्रभाव से अश्रु-प्रवाह हुआ है। इस दृश्य का फ़ोटो खींचना उभय कवियों को अभीष्ट है। एक कवि नायक नायिका दोनों के नेत्रों के अश्रु-प्रवाह को देख कर नेत्र-पिचकारी द्वारा एक दूसरे पर प्रेम-रङ्ग छिड़कवाता है तो दूसरा 'रीझ' के भार से थकी हुई आँखों में 'श्रमजल' का आना दिखलाता है। दोनों ही बड़े सुकुमार भाव हैं।

> रस भिजये दोऊ दुहुन, एकटक रहे टरै न।
> छवि सों छिरकत प्रेम-रँग, भरि पिचकारी नैन॥
> —बिहारी

> बाल रही इकटक निरखि, ललित लाल मुख इन्दु।
> रीझ भार अँखियाँ थकीं, झलके श्रम-जल-बिन्दु॥
> —मतिराम

'को बड़ छोट कहत अपराधू'-वाले गोस्वामीजी के कथन के अनुसार हम नहीं कह सकते कि इन दोनों में कौन भाव आगे निकल जाता है। सहृदय पाठक स्वयं इसका निर्णय करलें।

(७) 'मर्यादा' भाग ४ संख्या १ पृष्ठ ३ पर पण्डित शिवाधार पाण्डेय, एम० ए०, एल-एल० बी०, लिखते हैं—

"चढ़ी अटारी बाम वह, कियो प्रणाम निखोट।
तरनि किरनि ते दगन की, कर सरोज करि ओट॥
—मतिराम

यह क्रिया विदग्धा का उदाहरण है। पति को नीचे जाता हुआ देख कर कोई स्त्री सूर्य को प्रणाम करने के बहाने नेत्रों की ओट कर के नीचे पति की ओर देखती है × × × × × उधर प्रणाम का बहाना भी हो जाता है, इधर अपने लजीले नेत्रों के लिए सूर्य भगवान् से क्षमा भी माँगी जाती है। यह शृङ्गार में एक अद्भुत भक्ति और हास्यरस का प्रवेश है × × × × × बिहारी भी इसी तरह के एक दोहे को कहते हैं, पर कहना नहीं होगा कि मतिराम की मिठास को नहीं पाते।

रवि बन्दौं कर जोरि कै, सुनै स्याम के बैन।
भये हँसोहैं सबन के, अति अनखोहैं नैन॥
—बिहारी

यहाँ न वह भाव ही है, न वह अवस्था ही और न वह अद्भुत रस ही। कोरा हास्य-रस है।"

(८) शरीर में आभूषण नेत्रों में कज्जल और पैरों में महावर का व्यवहार करने से नायिका की शोभा नहीं बढ़ती। यह सब शृङ्गार कहने भर को है। इस आशय को बिहारी ने अपने छोटे से दोहे में बड़ी मार्मिकता से दिखलाया है। अपने सवैया में मतिराम का भी वही लक्ष्य है, पर लेखक को बिहारी के दोहे से विशेष सहानुभूति है—

तन भूषन अंजन दगन, पगन महावर-रंग।
नहिं शोभा को साज यह, कहिबेई के अंग॥
—बिहारी

जावक रङ्ग रँगे पद पङ्कज, नाह को चित्त रँग्यो रँग यातैं।
अञ्जन दै करि नैननि मैं, सुखमा बढ़ी स्याम सरोज प्रभातैं।
सोने के भूषन अङ्ग रच्यो 'मतिराम', सबै बस कीबे की घातैं।
योंहीं चलै न सिँगार सुभावहि, मैं सखि भूलि कही सब बातैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से पाठक निश्चय कर सकते हैं कि मतिराम बिहारी से बहुत पीछे नहीं रह जाते।

कृष्णबिहारी मिश्र

कला और भारतीय चित्र-निरूपण।
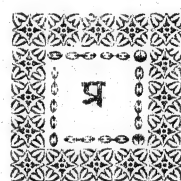
प्रकृति की शोभा के अनुकरण का नाम कला है। प्रकृति स्वाभाविक और अनियमित है। कला नियमबद्ध और कृत्रिम है। प्रकृति मनुष्यकृत सब नियमों का उल्लङ्घन कर अपनी निरङ्कुश शोभा में विलास करती है और उन सब अल्प सीमाओं के बन्धनों का उपहास करती है जिनसे मनुष्य उसे अपनी धृष्टता के कारण बाँधना चाहता है।

पर्वतों के सदैव स्वच्छ हिमाच्छादित उच्च शिखर, जो देवताओं के पावन आकाशमण्डल में अभिमान से अपना मस्तक उठाये हुए हैं; असीम विस्तृत गिरि-घाटियाँ, जो मनोहर हरयाली तथा नाना प्रकार की वृक्षावलियों से अलंकृत हैं, मनमोहक पक्षियों के मधुर और सुन्दर गान से गूँज रही हैं और जिनके भिन्न भिन्न भागों में मानवीय कृत्रिम विद्या के दुष्प्रभावों से मुक्त, मस्त तथा प्रफुल्लित नवयुवक गड़रिये भेड़ों के झुण्ड चराते हुए अपने ग्रामीण ढँग में चित्ताकर्षक गवाँरू गीत गा रहे हैं तथा कभी कभी वंशी की सुहावनी ध्वनि को भी छेड़ देते हैं; विशाल विस्तृत असीम जलाशय और झीलें तथा उनके

स्वच्छ वक्षस्थल पर इतस्ततः स्थित छोटे छोटे मनोहर द्वीप, जिनकी अक्षत भूमि पर मनुष्य का कभी पदार्पण भी नहीं हुआ है और जो प्रकृति की पवित्र निर्मल पवन का पान कर रहे हैं; अन्धकारमय निःसीम वन, जो वृक्षावलियों की लतामण्डपों से गाढ़ आच्छादित हैं, जिनकी भूमि प्रचण्ड मार्तण्ड की तीव्र किरणें चुम्बन करने को असमर्थ हैं और जो उन जङ्गली भयङ्कर और विविध रूपाकार पशुओं से परिपूर्ण हैं जिन्हें सभ्य मनुष्य ने कभी आँखों से भी नहीं देखे; गम्भीर भयानक विकराल काल मुख-सदृश गिरिगह्वर और विवर, जो माता वसुन्धरा के हृदय को विदीर्ण किये हुए खुले पड़े हैं और जिनकी कन्दराओं और गुफाओं में जङ्गली हिंसक जानवर अपने शिकार की टोह में घात लगाये बैठे रहते हैं; असीम अतुल, अनन्तसमुद्र जो कभी निश्चल शान्ति में ध्यानावस्थित रहता है, कभी प्रचण्ड प्रकोप में गर्जना करता है और कभी स्वाभाविक आनन्दोन्माद में पर्वतशिखर जैसी ऊँची कुलाँचे मारता है तथा उन विशालकाय जङ्गी जहाज़ों को जो उनके वक्षस्थल पर लात मार कर शत्रु-सेना का विध्वंस करने को जाते हैं, टुकड़ों टुकड़ों में चूर चूर कर डालता है—यह सब उसी प्रकृति का रूप है जो सदैव निर्बन्ध अकुण्ठित अदम्य अपराजित और असीम है।

यदि प्रकृति से उसकी निरङ्कुशता, भयानकता, विशालता, वैषम्यता, अकृत्रिम शोभा, मधुरसंगीत-रसिकता, भव्य दिव्य रमणीक दृश्यता और नेत्र-विस्मयकृत विविध रूप-रङ्ग-सम्पन्न शोभा निकाल दी जाय तो जो कुछ शेष रह जायगा वह कला है। वह प्रकृति का दीन हीन दुर्बल और निर्जीव प्रतिबिम्ब है।

कला शब्द ललित कलाओं का द्योतक है। इनमें मूर्त्ति-निर्माण-कला, चित्रण-कला, संगीत-कला, कविता, नृत्य-कला आदि मुख्य हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी और प्राकृतिक दृश्यों के रूपों की नक़ल करने का नाम मूर्त्ति-निर्माण-कला है। चैतन्य और जीवित वस्तु की मूर्त्ति को जड़-जीव-रहित पाषाण अथवा अन्य ऐसी चीज़ पर नक़ल कर दिखाना इस कला का उद्देश है। चित्रण-कला प्रकृति के जीते-जागते कृत्यों को काग़ज़ या अन्य पदार्थ पर नक़ल कर लेने की चेष्टा करती है, पर वह अपने कार्यों में चेतन का चमत्कार करने से असमर्थ है। सङ्गीत-कला पशु-पक्षियों की बोली तथा उनके स्वाभाविक गान के अनुकरण करने का प्रयत्न करती है और समस्त विश्व में व्याप्त ब्रह्मनाद को अपने वश कर व्यक्त करना चाहती है। जिस प्रकार मानव हृदय में आकाश तथा अरण्य-गान से भाव उत्पन्न होते हैं वैसे ही जीते-जागते भाव वह अपनी चेष्टाओं से जागृत करना चाहती है। कविता का उद्देश जीवन के आदर्श दृश्यों का चित्रण करना है। वह इस चित्रण को ऐसे वाक्यों और उद्गारों से ललित और सुन्दर बनाती है जो चित्ताकर्षक, आनन्दप्रद, उच्चभावोत्पादक, चमत्कार-युक्त, दिव्यभाव-वर्द्धक, उत्साहद्योतक और अध्यात्म जागृत-कृत होते हैं।

संसारान्तर्गत प्राकृतिक लय को अभिव्यक्त करना नृत्य-कला का उद्देश है। संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसमें लय न व्याप्त हो। चैतन्य पदार्थों में यह लय उसी परिमाण में व्याप्त है जितनी कि उनमें चैतन्य-शक्ति है। जड़ पदार्थों में लय व्याप्त अवश्य है, पर दृष्टिगोचर नहीं है। पक्षी नृत्य करते हैं, पशु नृत्य करते हैं, नर-नारी नृत्य करते हैं

और देवता नृत्य करते हैं। चेतन-विशिष्ट कोई प्राणी ऐसा नहीं जो अपने हार्दिक आनन्द को नृत्य द्वारा अभिव्यक्त न करता हो। प्रकृति में छिपे हुए लय को व्यक्त करना और चैतन्य रूपों में उसके प्रभाव की वृद्धि करना नृत्य-कला का उद्देश है।

यदि प्रत्येक कला का वर्णन अलग अलग किया जाय तो एक ग्रन्थ बन जाय। अतएव मैं इस लेख में केवल भारतीय चित्रण-कला ही का कुछ परिचय देता हूँ।

भारतीय चित्रकार नक़शा बनाने में बहुत चतुर नहीं हैं और न वे प्राकृतिक दृश्यों को ही आधुनिक नियमों से चित्रण करने में कुशल हैं। हाँ, वे रूप और आकार के चित्रण करने में अत्यन्त दक्ष हैं। उनका प्रेम जड़ पदार्थों से नहीं है। उनका मन चैतन्य पदार्थ और उनके जीते-जागते कार्यों के चित्रण करने में लगता है। इसी बात में उनकी प्रसिद्धि और ख्याति है। उनके चित्रों की जाँच करना प्रत्येक मनुष्य का काम नहीं। उनके चित्र अशिक्षित नेत्रवालों के लिए नहीं हैं। ये चित्र भारतीय धर्म, साहित्य और तत्त्वज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। जो इन विषयों से अपरिचित हैं वे इन चित्रों के गुण-दोष की जाँच नहीं कर सकते और न वे इनकी वास्तविक शोभा ही का अनुभव कर सकते हैं। भारतीय चित्र प्रायः निम्न प्रकार के होते हैं:—

१. देवी-देवताओं के चित्र।

२. इतिहास-पुराणान्तर्गत महान् पुरुषों और आदर्श महिलाओं के चित्र।

३. राग-रागनियों के रूप-सम्बन्धी चित्र।

४. नायक-नायिका-भेद-सम्बन्धी चित्र।

५. उपर्युक्त विषयों के अन्तर्गत अन्य वस्तुओं के चित्र।

इन चित्रों की जाँच वही कर सकता है जो इन विषयों का साहित्य जानता है। भारतीय चित्रकार की प्रधान चेष्टा चित्र-लिखित नर-नारी के हृदय-स्थित भावों को व्यक्त करने की रहती है। केवल बाहरी सुन्दर शरीर और रूप खींच देने से उसे संतोष नहीं होता। वह जिसका चित्र बनाता है उसके हृदय के गुप्त से गुप्त भावों की खोज कर बाहर चित्र में दिखाना चाहता है। अन्य देशों के चित्रकारों का उद्देश शारीरिक अङ्ग-प्रत्यङ्गों को आदर्श बनाना है, पर भारतीय चित्रकार भीतरी भावों की अभिव्यक्ति करने ही में कला-कौशल समझता है। जिस प्रकार यूनान और रोम के शिल्पकार और चित्रकार अवयवों को शास्त्रीय नियमानुकूल बनाने में भरपूर चेष्टा करते थे वैसे ही भारतीय चित्रकार भावों की अभिव्यक्ति करने में प्रयत्न करते हैं। वे जैसा मनुष्य या जैसी स्त्री वास्तव में है वैसा का वैसा ही मनुष्य या वैसी की वैसी ही स्त्री चित्र में भी बनाते हैं। अपने नायक या नायिका का शरीर अकृत्रिम नियमों से अधिक सुन्दर या मनोहर चित्रित करने की चेष्टा वे नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि ऐसा करने में उसकी वास्तविकता जाती रहती है। आप कोई भी भारतीय प्राचीन चित्र देखिए। उसमें पूर्वोक्त बातें अवश्य मिलेंगी।

चित्र में नाना प्रकार के रंगों का मेल करना भी भारतीय चित्रकारों की विशेषता है। इस प्रकार के रंग विदेशी चित्रकार नहीं भर सकते। प्राचीन चित्रों के सुनहरे रंगों को देख कर आज-कल

के चित्रकार हक्काबक्का हो जाते हैं। इस प्रकार के रंगों को कलों द्वारा छापना असम्भव है। मेरे कहने का यह अभिप्राय है कि यदि आप किसी प्राचीन चित्र को जिसमें सुनहरा रङ्ग भरा है छापना चाहें तो वह जैसा का तैसा कभी नहीं छपेगा। उसका सुनहरा रंग ज्यों का त्यों न उतरेगा। अभी तक ऐसी कोई प्रक्रिया नहीं मालूम हुई है जिससे अन्य रंगों की भाँति सुनहरा रङ्ग भी अच्छी तरह छापा जा सके। मुझे इस विषय का अधिक ज्ञान नहीं है। परन्तु जब कभी मैंने किसी सुनहरे प्राचीन चित्र को छपवाना चाहा है तब कारीगरों ने कह दिया है कि सुनहरा रङ्ग जैसा का तैसा नहीं उतर सकता। इसी अनुभव पर मैंने उपर्युक्त बात लिखने का साहस किया है।

जो बातें मैंने ऊपर बताई हैं उनको ध्यान में रखने से भारतीय प्राचीन चित्रों की शोभा हृदयङ्गम करने में बड़ी सहायता मिलती है। उन चित्रों का असली महत्त्व तो तभी मालूम होता है जब दर्शक उन चित्रों से सम्बन्ध रखनेवाले साहित्य से सुपरिचित हो।

कन्नोमल एम० ए०

अमेरिका की स्त्रियाँ और राजनीति।

पिछले साल से अमरीका के सब प्रान्तों की स्त्रियों को राज-कार्य्य में सम्मति (वोट) देने का अधिकार मिल गया है। देश के शासकों के निर्व्वाचन-विधान-रचना और प्रत्येक राजनैतिक कार्य में उनको अब पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त हैं।

इस समानाधिकार के नियम से अमरीका में दो करोड़ स्त्रियों को मत देने का अधिकार मिल गया है। यद्यपि इन स्त्रियों को अपने देश का राष्ट्रपति चुनने और अपने राजनैतिक जीवन के सब नियम बनाने की शक्ति मिल गई है, परन्तु इनमें से अधिकांश स्त्रियों को न तो अपनी शक्ति का ज्ञान है और न वे राजनैतिक कार्य्यों से ही पूर्णतया परिचित हैं। समाज के प्रश्न, देश की आवश्यकतायें, राष्ट्रपति होने की इच्छा रखनेवालों के गुण-दोष आदि बातों का प्रारम्भिक ज्ञान भी उनको नहीं है और न वे अर्थ-शास्त्र, राज-नीति और राजनीतिज्ञों की चालों ही को जानती हैं। यदि राज-कार्य्य में अन्याय, अविचार तथा दुष्टता हो तो उनके लिए किसको दण्ड देना चाहिए, किसको पद से किस प्रकार हटाना चाहिए—इन सब बातों से वे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इसलिए शासन-पद्धति के आदर्शों और राजकर्मचारियों के नियमित कार्यों के ज्ञान के लिए उनकी नेत्रियाँ उच्चशिक्षिता स्त्रियाँ स्थान स्थान पर स्त्रियों के लिए राजनैतिक शिक्षा के विद्यालय खोल रही हैं।

अमरीका के प्रत्येक प्रान्त के प्रायः सभी विश्वविद्यालय उन स्त्रियों को इस काम में सहायता दे रहे हैं और विश्वविद्यालय की श्रेणियों में करोड़पतियों तथा किसानों की स्त्रियाँ एक साथ बैठ कर अपने राजनैतिक धर्म के पालन के इस नये दायित्व-पूर्ण काम को आज-कल सीख रही हैं। खाते-पीते, उठते-बैठते वे निरन्तर अपने राजनैतिक सिद्धान्तों का विचार करती रहती हैं और अपनी नई राजनैतिक शक्ति से शीघ्र शीघ्र परिचित हो रही हैं।

वोट का अधिकार पाने के लिए अमरीका की

स्त्रियों ने बड़ा भारी आन्दोलन किया। उस समय वोट के आन्दोलन की जो संस्थायें थीं अब उनका "वोटाधिकारप्राप्त स्त्रियों की संस्था" नाम रख दिया गया है। इन्हीं सङ्गठनों के द्वारा अब स्त्रियों को राजनीति के गूढ़ तत्त्व और देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था समझाने की नाना रूप से चेष्टायें की जाती हैं। उनको समझाया जाता है कि राज्य उन्हीं का है। राज्य में और उनमें कुछ अन्तर नहीं है। वे जो कुछ करना चाहती हैं यदि दल-बद्ध होकर उसको करें तो वही राजनियम हो जायगा। यह बात तो सहज सी मालूम होती है, परन्तु इसको समझाना सहज नहीं है। स्त्रियों को बताया जाता है कि उनका राज-नियमों से दिन-रात सम्बन्ध है और यदि उनको कोई क़ानून अच्छा न लगे तो वे उसको बदल सकती हैं। उनको राजनीति के सिद्धान्त सिद्धान्त-रूप में नहीं बताये जाते। उनसे कहा जाता है कि उनकी शिक्षा, उनका दैनिक ख़र्च, उनका घर, उनकी आय,—सब बातों में उनका सरकार से सम्बन्ध है और जब तक वे राजकार्य्य में रुचि न लेंगी, उनको जीवन का सुख नहीं मिलेगा।

उनको सिखाया जाता है कि मिल कर काम करने ही को राजनीति कहते हैं। अपनी बुद्धि लगा कर समाज के हित के लिए वे मिल कर जो कार्य अपनी संस्थाओं द्वारा करेंगी वही कार्य्य देश का नियम हो जायगा—इस बात का उनको विश्वास दिलाया जाता है और इसके लिए अनेक पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं, अनेक व्याख्यान हुआ करते हैं और समाचारपत्रों में अनेक लेख छापे जाते हैं।

राजनैतिक क्षेत्र में अवतरण कर अब अमरीका की स्त्रियाँ क्या क्या काम करेंगी? दो करोड़ वोटों से वे जो चाहें कर सकती हैं। इस महान् शक्ति को लेकर वे अब किस शासन-प्रणाली का अवलम्बन करेंगी और किन नये सुधारों से समाज का क्या परिवर्तन करेंगी—यह प्रश्न अमरीका के नाना दल के राज-नीति-विशारदों के मन में आज-कल उठता है।

स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक अन्तर।

स्त्री और पुरुष में परमात्मा ने कई प्रकार के स्वाभाविक अन्तर बनाये हैं। पुरुष का स्वभाव अशान्तिप्रिय होता है। वह नाना देशों में, नाना स्थानों में विचरण करना पसन्द करता है। घर के, समाज के और अन्य सब प्रकार के बन्धनों से स्वतन्त्र रहना उसको बहुत अच्छा लगता है। प्रकृतिदेवी ने उसको स्वभाव से ही योद्धा, शिकारी और परिव्राजक बनाया है। वह अनियमित, अविचारशील, अविश्वासी और चरित्रहीन होता है। वह ऊँचे से ऊँचे काम को करने की हिम्मत कर तथा अपनी कमर कस उसमें लग जाता है और जब भ्रष्ट होता है तब पाप के महा घोर नरक में भी वही पड़ता है। वह स्वभाव से ही चञ्चल है। अपने बल की परीक्षा करना उसको अच्छा लगता है। सृष्टि को तोड़ ताड़ कर अपने इच्छानुसार उसको पुनः बनाने की उसकी इच्छा सदा रहती है।

स्त्रियाँ शान्ति की मूर्त्ति होती हैं। वे गृहिणी हैं। घर में रहना तथा घर का काम करना उन्हें अच्छा लगता है। वे घर के पुरुषों को घर की सीमा में बद्ध रखने की सदा चेष्टा करती हैं। उनको सदा पुत्र-कन्या-पालन, दाल रोटी और घर की अन्य बातों की चिन्ता लगी रहती है। जो बात स्त्रियाँ

सोच सकती हैं उसकी ओर पुरुष का ध्यान आना कठिन है। घर और समाज के सुधार की जितनी इच्छा स्त्रियों को रहती है उतनी पुरुषों को नहीं। स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र, पिता, भाई आदि सबके लिए सदा से सामाजिक नियम बनाती आई हैं। जीवन और समाज को पवित्र बनाये रखने के लिए वे सदैव सचेष्ट रही हैं। वर्त्तमान काल में शिक्षा के प्रचार के कारण पहले से अब उनकी भी शक्ति अधिक होगई है। पाश्चात्य देशों में बल, विद्या और बुद्धि में वे अब पुरुषों से कम नहीं हैं। इस-लिए समाज के सुधार की आशा पुरुषों की अपेक्षा उन्हीं से अधिक है।

अमरीका की स्त्रियों में एक और गुण है। अमरीका नया देश है। इसको बसे अभी कुछ ही शताब्दियाँ हुई हैं। जब यह देश बसा था तब वहाँ जो गये थे उनको नये देश की नई अवस्था के अनुसार अपने अनेक प्राचीन आचार-विचारों को त्याग करके अपने सुख और सुविधा के विचार से अनेक नई रीति-रवाज बनाने पड़े थे। नये देश के जङ्गलों को काट कर उनको घर-द्वार बनाने पड़े थे। उनकी स्त्रियों को भी उनके साथ कठिन परिश्रम करना पड़ा था। अपने परिवार का लालन-पालन और घर का सारा काम उनको अपने हाथों करना पड़ता था। आज-कल के अमरीकावासी उन्हीं कठिन परिश्रम करनेवालों की सन्तान हैं। इसलिए जन्म से ही इनमें विचार और कार्य्य की स्वतन्त्रता होती है। नये सिद्धान्तों और नये आदर्शों से ये डरते नहीं। इनके देश में नित्य नूतन पथों के आविष्कार होने के कारण नवीनता इनके जीवन का एक प्रधान अङ्ग सी हो गई है। यद्यपि अमरीका की स्त्रियों के लिए राजनैतिक काम नया है, परन्तु इसकी नवीनता में उनके लिए कोई विशेषता नहीं है।

अमरीका की वोट-प्राप्त स्त्रियों की अनेक योग्य नेत्रियाँ हैं। इनमें से अनेक धनवान् और पण्डिता स्त्रियाँ हैं। इस सम्बन्ध में मिसेज़ नारमन डी० आर० ह्वाइट हाउस, मिसेज़ पीटर ओल्सेन, मिसेज़ जान क्लेर, मिस एलिस डूअर मिलर, मिसेज़ ओ० एम० रीड, मिसेज़ एम० मैक कारमिक आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। इनमें से मिसेज़ रीड ने वोट के आन्दोलन के समय अपने पति के न्यूयार्क के प्रसिद्ध दैनिक पत्र ट्रिब्यून के सम्पादन और सञ्चालन का भार स्वयम् ले लिया और उसके द्वारा वोट-प्रार्थी स्त्रियों की बहुत अधिक सहायता की। वोट प्राप्त करने के बाद ये अमरीका के शक्तिशाली प्रजातन्त्रवादी दल की सिद्धान्त निश्चय करनेवाली कमेटी की सभ्य रह चुकी हैं। आपका सबसे महत्त्वपूर्ण काम स्त्रियों के राजनैतिक स्वत्व प्राप्ति के आन्दोलन के लिए बीस लाख रुपये एकत्र करना था। स्त्रियों के आन्दोलन के इतिहास में इनका कार्य्य सुवर्णाक्षरों में सदा अङ्कित रहेगा।

जो स्त्रियाँ राजनैतिक काम में भाग लेती हैं वे घर का काम छोड़ नहीं देतीं। वे अपने पुत्र, कन्या की शिक्षा, उनके लालन-पालन आदि का काम तथा घर के दूसरे कार्य भी करती हैं।

अमरीका की स्त्रियों के राजनैतिक आन्दोलन की कई बातें ऐसी हैं जिनको हमारे भारतीय नेता अपने कार्य में आदर्शरूप मान सकते हैं। जैसे:—

(१) अमरीका की स्त्रियों की नेत्रियों ने यथा-सम्भव अपने सिद्धान्तों का चुपचाप प्रचार किया। अपने लिए प्रसिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की

और न उन्होंने नाम, मान, प्रशंसा और करतल-ध्वनि ही की विशेष परवा की। यथाशक्ति अपनी बातों का प्रचार करती गईं; (२) अपने लेखों और अपनी वक्तृताओं में जितनी बातें उन्होंने कहीं वे सब यथार्थ और सत्य थीं। अपनी प्रत्येक युक्ति की सत्यता की परीक्षा करके वे उसको अपने कथन के काम में लाईं। फल यह हुआ कि उन स्त्रियों की बातों को कोई काट नहीं सकता था और न उनकी सत्य बातों पर किसी प्रकार का तर्क-वितर्क या वादविवाद हो सकता था। सबको उनकी बातें माननी पड़ती थीं; (३) आन्दोलन में प्रवृत्त सब स्त्रियाँ सर्व-साधारण के साथ बड़ी नम्रता मित्रता तथा यथोचित रूप से बर्त्ताव करती थीं; (४) वे जनता के भावों के विरुद्ध साधारणत: काम नहीं करती थीं। सबसे मिल-जुल कर अपने विचारों का प्रचार करती थीं। यथासम्भव किसी का विरोध नहीं करती थीं। उनको तो केवल वोट से मतलब ठहरा। इन उपायों द्वारा अपनी योग्यता के कारण जनता की सहानुभूति अपने आन्दोलन के प्रति कर के उन्होंने अपने काम में धीरे धीरे सफलता प्राप्त की।

स्त्री और पुरुष के स्वभाव में अन्तर होने के कारण देखा गया है कि पुरुष का ध्यान आर्थिक उन्नति की ओर अधिक रहता है, नैतिक भावों की ओर कम। पुरुष के बनाये हुए क़ानून अधिकतर व्यापार, कारख़ाने, उद्योग आदि के सम्बन्ध के हैं। अपने व्यापार और अपनी वृत्ति की स्वार्थ-रक्षा को वह पहले सोचता है, जनता के हित की पीछे। इसका फल यह होता है कि स्वतन्त्र देशों में भी राज्य-शासन-कार्य्य में प्रजा की उन्नति के नियम बनाने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। प्रभावशाली व्यापारियों का स्वार्थ और शिल्पकला-वाणिज्य का हित पहले देखा जाता है।

स्त्रियों की बात दूसरी है। राजनीति, अर्थशास्त्र और अन्तर्राष्ट्रीय दाव-पेचों के गूढ़ तत्त्व उनकी समझ में जल्दी नहीं आते। स्त्रियाँ सामाजिक और नैतिक विषयों को जल्दी समझती हैं—आर्थिक बातों को उतना नहीं। राजकार्य्य में मत देने का अधिकार पाते ही अमरीका की स्त्रियों का ध्यान पहले समाज-सुधार की बातों की ओर गया। अशिक्षा, निर्धन लोगों की दशा, कारख़ानों में निर्धन परिवार के बालकों के परिश्रम करने का कुफल, मज़दूरों के निवासस्थान का उचित प्रबंध न होने के कारण उनकी दुर्दशा और बसने के लिए आये हुए विदेशियों को अमरीका की रीति नीति तथा भाषा का ज्ञान न होने के कारण कष्ट आदि त्रुटियों को दूर करने की इच्छा उनकी हुई।

पुरुष स्वभाव से कठोर होता है और नारी स्वभावत: कोमलहृदया होती है। दूसरों का कष्ट देख इसके मन में मातृभाव और भगिनीभाव का सञ्चार होता है। राजनैतिक क्षेत्र में जाते ही उन्होंने व्यापार की प्रतिद्वन्दिता, युद्ध की अकारण हत्याओं आदि के स्थान में सत्य, दया, प्रेम आदि का प्रचार आरम्भ किया।

नये सुधार के काम।

अमरीका की स्त्रियों ने मत-दान का अधिकार पाते ही पहले तो मद्यपान का निषेध किया। अब अमरीका में रत्ती भर भी मद्य खुले-आम बिकने नहीं पाता। मद्य की सब दूकानें उठा दी गई हैं। मद्य के कारख़ाने भी बन्द कर दिये गये हैं।

उनका दूसरा काम जिसकी वे प्राण लगा कर चेष्टा कर रही हैं—उत्तम शिक्षा का नियमित रूप से प्रचार है। जातीय शिक्षा के लिए अमरीका में राज्य की ओर से करोड़ों रुपये प्रति वर्ष व्यय किये जाते हैं, परन्तु शिक्षा का भार अनेक सरकारी विभागों और उपविभागों के हाथ में होने के कारण प्रबन्ध-कार्य्य उचित प्रकार से नहीं होता। अमरीका की स्त्रियाँ अपने देश की वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली से सन्तुष्ट नहीं हैं। उनकी पाँच बड़ी बड़ी संस्थायें— League of Women Voters, the National Council of Jewish Women, the Association of College Alumnæ, the National Congress of Mothers और Parents-Teachers Association निम्नलिखित बिल पास कराने की चेष्टा कर रही हैं।

इस बिल के अनुसार राज्य की ओर से जातीय शिक्षा की उन्नति के लिए एक नया विभाग खोला जायगा और इस काम के लिए प्रति वर्ष दस करोड़ डालर (४५ करोड़ रुपये) इस प्रकार ख़र्च किये जायँगे :—

(१) अशिक्षा दूर करने के लिए ७५ लाख डालर।

(२) बसने के लिए आये हुए विदेशियों को अमरीका की रीति-नीति और वहाँ का आदर्श सिखा कर अमरीकावासी बनाने के लिए ७५ लाख डालर।

(३) नये स्कूलों की स्थापना, शिक्षकों की वेतनवृद्धि, स्कूलों में नये विषयों की शिक्षा आदि के लिए ५ करोड़ डालर।

(४) विद्यार्थियों की रोग-चिकित्सा, उनके व्यायाम के प्रबन्ध और उनकी स्वास्थ्य-रक्षा की शिक्षा के लिए २ करोड़ डालर।

(५) वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली की उन्नति के लिए १½ करोड़ डालर।

(६) अन्य देशों की शिक्षा-पद्धति के अध्ययन के लिए दूर दूर के देशों में अमरीका के पण्डितों को भेजने का भी भार इसी नये विभाग को होगा।

अमरीका के प्रत्येक प्रान्त में सरकार की ओर से जितना ख़र्च किया जायगा उतना ही प्रान्तीय शासन-विभागों को भी शिक्षा के लिए ख़र्च करना पड़ेगा। अर्थात् इस क़ानून के पास हो जाने के बाद प्रति वर्ष २० करोड़ डालर शिक्षा के लिए ख़र्च किये जायँगे।

भला जहाँ शिक्षा के लिए इतना धन ख़र्च किया जाय उस देश का संसार में सर्वोच्च स्थान हो तो आश्चर्य्य ही क्या? इस उन्नति का एक मुख्य कारण स्वतन्त्र देश की स्वतन्त्रता-प्रिय स्त्रियाँ हैं।

रामकुमार खेमका

शक्ति और शाक्त-मत।

(२)
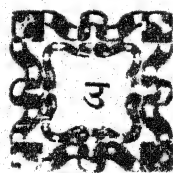
उपासकों के प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने अपने तन्त्र अलग होते हैं। पञ्चोपासना के अनुसार उपासक पांच प्राचीन विभागों में विभक्त थे। वे सौर, गाणपत्य, वैष्णव, शैव और शाक्त कहलाते थे। एवं इनके इष्ट देवता क्रमपूर्वक सूर्य, गणेश, विष्णु, शिव और शक्ति थी। वर्तमान समय में केवल वैष्णव, शैव, शाक्त इन्हीं तीन विभागों का प्राधान्य है। अन्य दो विभागों अर्थात् सौर और गाणपत्य का अस्तित्व बहुत ही परिमित हो गया है। पश्चिमी भारत के कुछ स्थानों में गणेश की उपासना अब भी लोकप्रिय है और मेरी धारणा है कि सौर या सौरों

के चिह्न यत्र तत्र विशेष करके सिन्ध देश में दृष्टिगोचर होते हैं।

तन्त्रों में छः आम्नायों का उल्लेख है। सम्मोहन-तन्त्र (अ० ५) में देश-पर्याय के अनुसार पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय और ऊर्द्ध्वाम्नाय की व्याख्या की गई है। अधोम्नाय छठा आम्नाय है। इससे विष टपकता है। मेरी समझ में साधारणतया अब इस आम्नाय से पूजा नहीं की जाती। परन्तु शदन्वय शाम्भव, जो उच्चकोटि का मुमुक्षु साधक होता है, मुँह छिपा कर इस आम्नाय से न्यास करता है। कहा जाता है कि पातालाम्नाय ही सम्भोगयोग है। शक्ति-क्रम में निष्कल स्वरूप पूर्व के लिए त्रिपुरा है; दक्षिण के लिए सौर, गाणपत्य और वैष्णव है; पश्चिम के लिए रौद्र भैरव है, उत्तर के लिए उग्रा, आपत्तारिणी है। शैव-क्रम में वही स्वरूप प्रथम के लिए सम्पत्प्रदा और महेश है; दूसरे के लिए अघोर कालिका और वैष्णव-दर्शन है; तृतीय के लिए रौद्र, भैरव, शैव है; चतुर्थ के लिए कुबेर, भैरव, सौद-र्शक है और ऊर्द्ध्वाम्नाय के लिए अर्द्धनारिश और प्रणव है।

सम्मोहन-तन्त्र में आम्नायानुसार तन्त्रों का भी विभाजन किया गया है। एवं विशेष विभाग भी दिये गये हैं, जैसे वटुकाम्नाय के अनुसार छः आम्नायों के तन्त्र। इस तन्त्र की केवल एक प्रति उपलब्ध हो सकी, अतएव यह बात ठीक ठीक नहीं कही जा सकती है कि जो विव-रण यहाँ दिया गया है वह कहाँ तक ठीक है।

उपासकों के इन प्रत्येक विभागों के लिए अपने अपने तन्त्र अलग अलग निर्दिष्ट हैं। जैसे जैनों और बौद्धों के अपने तन्त्र-ग्रन्थ अलग अलग हैं वैसे ही इनके भी हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के अपने ख़ास ख़ास उप-विभाग और तन्त्र होते हैं। क्रान्ता, देशपर्याय, कालपर्याय इत्यादि के अनुसार इनके भिन्न भिन्न विभाग अलग हैं।

सम्मोहन-तन्त्र में भिन्न भिन्न २२ आगमों का उल्ले-है। इनमें चीनागम (शाक्त), पाशुपत (सौर), पञ्चरात्र (वैष्णव), कापालिक, भैरव, अघोर, जैन, बौद्ध, आगम भी सम्मिलित हैं। इनमें से प्रत्येक के तन्त्र और उपतन्त्र भी होते हैं।

सम्मोहन-तन्त्र में लिखा है कि कालपर्यायानुसार ६४ शाक्त तन्त्र हैं। इनके सिवा ३२७ उपतन्त्र, ८ यामल, ४ डामर, २ कल्पलता और कई एक संहितायें (१००), चूड़ामणियाँ, आर्णव, पुराण, उपवेद, कक्षपुट, विमर्षिणी और चिन्तामणि-संज्ञक ग्रन्थ हैं। शैव-श्रेणी के ३२ तन्त्र हैं। यामल, डामर इत्यादि भी उसके अलग हैं। वैष्णव-श्रेणी के ७५ तन्त्र हैं। दूसरे ग्रन्थों के सिवा इसके अपने कल्प और उपबोध नामक ग्रन्थ भी हैं। सौर-श्रेणी के ३० तन्त्र हैं। यामल और उड्डीसादिक ग्रन्थ भी सौरों के अलग हैं। गाणपत्यों के पचास तन्त्र हैं। इनके उपतन्त्र, कल्प तथा दूसरे शास्त्रों के सिवा एक डामर और एक यामल भी है। बौद्ध-श्रेणी के अन्त-र्गत कल्पद्रुम, कामधेनु, सूक्त, क्रम, अम्बर, पुराण और इसी तरह के दूसरे शास्त्र परिगणित किये गये हैं।

कुलार्णव और ज्ञानदीप तन्त्रों के अनुसार आचारों की संख्या सात निर्दिष्ट की गई है। इनमें से वैदिक, वैष्णव, शैव और दक्षिण ये चार आचार पश्वाचार कहे गये हैं। इनके बाद वाम, फिर सिद्धान्त और तब कौलाचार का दर्जा आता है। ये तीनों आचार क्रम-पूर्वक एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। कहीं कहीं छः अथवा नौ आचारों का भी उल्लेख है। एवं भिन्न भिन्न प्रकार के भाव, सभाव, विभाव और देहभाव इत्यादि का भी वर्णन किया गया है। इन बातों का उल्लेख भावचूड़ामणि में हुआ है।

वेदाचार, दक्षिणाचार और वामाचार आदि मुख्य विभागों की चर्चा यहाँ की गई है। पर वेदाचार से वैदिका-चार का मतलब नहीं है। वैदिकाचार उपर्युक्त आचार-सप्तक की कोटि के बाहर है। वेदाचार तान्त्रिक उपा-सना के एक आचार विशेष का नाम है। इसमें वैदिक क्रियाओं और मन्त्रों का उपयोग होता है। इसका उपास्य अग्निदेवता है। हम कह सकते हैं कि यह आचार उन लोगों के लिए था जो श्रौतवैदिकाचार के अधिकार नहीं थे। मुझे लोगों ने बताया है कि इस आचार में दक्षिण और वाम जैसा विभाग नहीं है और जो इस प्रकार के नाम मिलते हैं वे बाद के आचार्यों के निर्दिष्ट किये हुए हैं। पूर्वोक्त दूसरे और तीसरे विभाग दक्षिणाचार कहलाते

हैं। परन्तु दक्षिणाचार पश्वाचार है। उपासना की दूसरी विधि का श्रीगणेश वामाचार से होता है। वामाचार की साधना करने पर साधक कौल पद को प्राप्त करता है। तदनन्तर वह कौलावधूत, अवधूत और तब दिव्य हो जाता है। दिव्य पद प्राप्त हो जाने के बाद आचारों का झंझट छूट जाता है। यह पद स्वेच्छाचार भी कहलाता है। जो साधक इस पद को प्राप्त कर लेता है वह जो कुछ काम करता है या जिस वस्तु का स्पर्श करता है वह सब पवित्र हो जाता है। वामाचार में तथा उसके आगे के दर्जों में मांस-भक्षण और मद्यपान विहित है। ये दोनों बातें उपासना का अङ्ग समझी जाती हैं। यही नहीं, उसमें मैथुन का भी समावेश है, पर यह बात इतनी आवश्यक नहीं समझी जाती। साधक पहले पशु रहता है। इसके बाद वह वीर होता है तदनन्तर वह दिव्य हो जाता है। इस तरह साधक के भी तीन दर्जे हैं। पशु आरम्भिक दर्जा है। मार्ग का अनुयायी हो जाने पर वीर का पद प्राप्त होता है और सिद्धि प्राप्त हो जाने पर दिव्य का दरजा मिलता है। प्रत्येक सम्प्रदाय दक्षिणमार्ग और वाममार्ग में विभाजित है। साधारणतया लोगों की यही धारणा है कि इस प्रकार का विभाग केवल शाक्त सम्प्रदाय में ही है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। गाणपत्य और वैष्णव तथा दूसरे भी वाममार्गी होते हैं। स्वयं वामाचार के भी दो भेद हैं। उनके भी नाम दक्षिण और वाम ही हैं। दक्षिण वामाचार में पत्थर या किसी दूसरी वस्तु के पात्र में मद्य-पान किया जाता है और पूजन स्वकीया शक्ति या अपनी स्त्री के साथ किया जाता है। वामाचार में मद्य-पान कपाल-पात्र में किया जाता है और पूजन पर-स्त्री के साथ होता है। परन्तु वामाचार ही के अन्तर्गत कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं जिनमें मद्य और मांस का संग्रह तो होता है, पर स्त्री का नहीं; क्योंकि इनके साधक ब्रह्मचारी होते हैं। परन्तु मेरे विचार में ये सम्प्रदाय शैव-श्रेणी के अन्तर्गत हैं। ये शाक्त-श्रेणी से भिन्न हैं।

ब्रह्मानन्द स्वामी की शाक्तानन्द-तरङ्गिणी (२ परिच्छेद) नाम के तान्त्रिक संग्रह में लिखा है कि आगम दो प्रकार के होते हैं। एक तो सदागम और दूसरे असदागम। शब्द के मूल अर्थ के अनुसार सदागम ही आगम है। (सदागम एव आगमशब्दस्य मुख्यत्वात्)। उसमें लिखा है कि आगम संहिता में शिव ने असदागम की इस प्रकार निन्दा की है—हे देवेशि, कलियुग में मनुष्य सामान्यतः राजसिक और तामसिक प्रकृति के होते हैं और वर्जित आचारों को ग्रहण करने के कारण दूसरों को धोखा देते हैं। हे सुरेश्वरि, जो लोग अपने वर्णाश्रम-धर्म का विचार न करके हमें मद्य, मांस और रक्त अर्पित करते हैं वे मृत्यु के बाद भूत, प्रेत और ब्रह्मराक्षस होते हैं। इस प्रमाण से वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध उपासना का ग्रहण निषिद्ध है। परन्तु वामाचारियों का कहना है कि उपर्युक्त वचन हमारी सम्प्रदाय के लिए नहीं है। वे यज्ञ के रूप में संस्कृत-मद्य और मांस को ग्रहण करते हैं।

साधारणतया लोग यह समझते हैं कि वामाचार उस आचार का नाम है जिसमें वामा अर्थात् स्त्रियाँ शामिल होती हैं। कुछ अंशों तक यह बात ठीक भी है। क्योंकि यह उन साधकों का लक्षण है जो शक्ति के सहित वामाचार की क्रियाओं के अनुसार पूजन करते हैं। परन्तु यह बात अपने दूसरे अर्थ में ग़लत है, क्योंकि वामाचारी उपासक ब्रह्मचारी भी होते हैं। वामाचार का अर्थ बायाँ मार्ग है। इसका अर्थ बुरा नहीं है। स्वयं साधक ही अपने को इसी नाम से अभिहित करते हैं। अतएव यह सम्भव नहीं है कि वे अपना नाम-करण ऐसा करेंगे जिससे उन्हीं की निन्दा हो। वे लोग इस शब्द के प्रयोग से यह अर्थ लेते हैं कि यह आचार दक्षिणाचार के प्रतिकूल है। कहा जाता है कि दक्षिणाचार का साधक चाहे जैसी सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर ले तो भी कोई न कोई उसके ऊपर बना ही रहता है, परन्तु वामाचार में यह बात नहीं है। उसके साधक की सर्वोच्च सिद्धि यही है कि वह स्वयं सम्राट् हो जाता है।

इसके सिवा यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस देवी की उपासना वाममार्गानुयायी करते हैं वह शिव के वामाङ्ग में स्थित है। कापालिक, कालमुख, पाशुपत, भांडिकेर, दिगम्बर, अघोर, चीनाचारी और साधारणतया कौल लोग ही वामाचारी होते हैं। इनमें से किसी किसी की विशेष करके कौलों की उच्च

श्रेणी के विभागों की उपासना पञ्चतत्त्वों के सहित होती है। कोई कोई ब्रह्मचर्य धारण करते हैं, जैसे कि अघोर और पाशुपत। परन्तु ये लोग मद्य-पान और मांस-भक्षण करते हैं। मुझे मालूम हुआ है कि कुछ वामाचारी ब्रह्मचर्य-व्रत कभी नहीं भङ्ग करते। औघड़ साधु, बटुक भैरव के उपासक, कन्थाधारी और गोरक्ष-नाथ, सीतानाथ, तथा मत्स्येन्द्रनाथ आदि नाथों के अनुयायी पूर्वोक्त कोटि में गिने जाते हैं। नीलक्रम में मैथुन सर्वथा वर्जित है। किसी किसी सम्प्रदाय में भिन्न भिन्न प्रकार की क्रियाओं का प्रचार है। मुझे ज्ञात हुआ है कि कालमुख लोगों में से कालवीर केवल नौ वर्ष तक की कुमारिका का पूजन करते हैं, पर काममोहन युवा शक्तियों के साथ पूजन करते हैं।

मुझे बतलाया गया है कि वामाचार सम्प्रदाय के कुछ उच्च कोटि के साधक मद्य-मांस नहीं ग्रहण करते। कहा जाता है कि नदिया के प्रसिद्ध वामाचारी साधक राजा कृष्णचन्द्र, जो छिन्नमस्ता मूर्ति के उपासक हैं, मद्य का संग्रह नहीं करते। इस प्रकार के साधक वामाचार की प्रारम्भिक कक्षा को अतिक्रम कर जाते हैं। साधारणतया साधकों के सम्बन्ध में जो बात मध्यस्थ कौलों के प्रसिद्ध ग्रन्थ महाकाल-संहिता में कही गई है उसे अच्छी तरह याद रखना चाहिए। इस ग्रन्थ के 'शरीरयोगकथनम्' नामक ११ वें उल्लास में लिखा है, "कुछ कौल ऐसे हैं जो इहलोक के सुख की ही कामना करते हैं (एहिकार्थं धनात्मनः)। इसी प्रकार वैदिक लोग भी इहलोक के सुख का उपभोग करते हैं। (एहिकार्थम् कामयन्ते)। परन्तु ये लोग मुक्ति की कामना नहीं करते। (अमृते रतिं न कुर्वन्ति)। मुक्ति केवल निष्काम कामना के द्वारा ही प्राप्त होती है।"

पञ्चतत्त्व भी तीन प्रकार के कहे गये हैं:—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुकल्प और (३) दिव्य। प्रत्यक्ष पञ्चतत्त्व से मतलब तो वास्तविक वस्तुओं से है, पर अनुकल्प और दिव्य का मतलब दूसरा ही है। अनुकल्प तत्त्वों से शाकभोजी तक न परहेज़ करेगा। क्योंकि उनमें मांस के स्थान में अदरख और मद्य के स्थान में नारिकेल-जल ग्रहण किया जाता है। दिव्य तत्त्वों की बात तो इन दोनों से भी भिन्न है। दिव्यतत्त्वयोग-सम्बन्धी क्रियाओं के चिह्न-मात्र हैं। इनसे वास्तविक वस्तुओं तथा क्रियाओं का ज़रा भी मतलब नहीं। इसके सिवा कुछ विचार तथा क्रियाएँ ऐसी भी हैं जो अधिक साधारण हैं, पर कुछ ऐसी भी हैं जो और भी अधिक उग्र हैं। भैरवी और तत्त्व-चक्रों का जो विवरण महानिर्वाण-तन्त्र में लिखा है उसकी तुलना किसी अधिक उच्छृङ्खल प्रथा ही से की जा सकती है। इनमें भैरवी चक्र का सादृश्य एक आधुनिक चक्र से प्रकट किया जा सकता है। इस चक्र का उल्लेख जगद्बन्धु मैत्र-रचित विजयकृष्ण गोस्वामी की जीवनी के १३ वें अध्याय में किया गया है। उसमें लिखा है कि एक तान्त्रिक सिद्ध ने एक चक्र किया था जिसमें गोस्वामीजी स्वयं उपस्थित थे। जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन्होंने शक्ति को उस माता के सदृश माना जिसने उन्हें तथा देवताओं को उत्पन्न किया है। जिन देवताओं का आवाहन चक्रेश्वर ने किया था उन्होंने चक्राकार पंक्ति में प्रकट होकर भोग को ग्रहण किया था। चाहे यह बात एक सच्ची घटना के रूप में मानी जाय या न मानी जाय, पर यह तो स्पष्ट है कि एक प्रकार के चक्र का वर्णन करने के उद्देश से इस बात का उल्लेख किया गया है। यह चक्र उन चक्रों से सर्वथा भिन्न है जिनके सम्बन्ध में हम प्रायः सुना करते हैं। तन्त्र-शास्त्र की कुछ क्रियाएँ ऐसी हैं जिन्हें हम ठीक ठीक नहीं समझते। उसके कुछ ऐसे सिद्धान्त भी हैं जो सर्व-साधारण की समझ में नहीं आ सकते। क्योंकि उनके याथातथ्य समझने के लिए ज्ञान के सिवा अवर्णनीय भाव के होने की भी आवश्यकता है। भाव के अस्तित्व से उनका अर्थ अपने आपही समझ में आ जाता है। पर भावना द्वारा प्राप्त इस प्रकार का अनुभव शब्दों द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता। तन्त्र-शास्त्र में कुछ ऐसे कथन भी हैं जिनका वैसा अर्थ नहीं है जैसा उनके शब्दों से झलकता है। उदाहरण के लिए गो-मांस-भक्षण का अर्थ गाय का मांस खाना नहीं है, किन्तु उसका अर्थ जिह्वा को गल द्वार पर टेकना है। विधवा के सहयोग का तात्पर्य कुण्डली योग से है। इसी तरह दूसरे कथनों के अर्थ समझने चाहिए। यदि सच पूछा जाय तो शास्त्रीय सिद्धान्त और उनकी

क्रियाओं में कोई भेद नहीं किया जाता और न क्रियाओं के उपकरणों के अभाव से ही उपासना में कोई न्यूनता मानी जाती है। यह बात समझ लेना सरल है कि यदि हिन्दू-धर्म का पतन हुआ तो ऐसी ही बात में। परन्तु यह अनुमान करना भूल है कि इन क्रियाओं का एक-मात्र उद्देश भोग-विलास है। और न यही बात है कि भोग-विलास ही के लिए लोगों को तान्त्रिक होना आवश्यक है। सारांश यह है कि भ्रम-पूर्ण विवेचना की अपेक्षा वास्तविक बातों को जानना कहीं श्रेष्ठतर है।

भारत तीन क्रान्तों या भौगोलिक विभागों में विभजित है। मोटे हिसाब से पूर्वोत्तरी भाग विष्णुक्रान्त, पश्चिमोत्तरी रथक्रान्त और अवशिष्ट तथा दक्षिणी भाग अश्वक्रान्त कहलाता है। शाक्त-मङ्गल और महासिद्धसार तन्त्रों के मत से विष्णुक्रान्त (जिसमें बङ्गाल शामिल है) विन्ध्य पर्वत से चट्टल या चटगाँव तक फैला हुआ है। विन्ध्याचल से तिब्बत और चीन तक का भू-भाग रथक्रान्त है। इन दोनों तन्त्रों में अश्वक्रान्त की स्थिति के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत मत-भेद है। शाक्त मङ्गल के मत से अश्वक्रान्त विन्ध्याचल से लेकर समुद्र तक है जिसमें अवशिष्ट सारा भारत और ईरान तक के सारे देश शामिल हैं। दूसरे तन्त्र के मत में अश्वक्रान्त करतोया नदी से लेकर एक ऐसे स्थान तक फैला हुआ है जिसका कुछ भी पता नहीं लगता। मूल में जो नाम दिया हुआ है उससे किसी आधुनिक नाम से तारतम्य नहीं मिलता, परन्तु हम उसे जावा कह सकते हैं। इन प्रत्येक क्रान्तों के लिए चौंसठ तन्त्र निर्दिष्ट किये गये हैं। जिन प्रश्नों का समाधान करना है उनमें एक यह है कि क्या इन तीन भौगोलिक विभागों के तन्त्र उपदेश तथा क्रिया-सम्बन्धी विशेषताओं से अङ्कित हैं और यदि ऐसा है तो वे कौन सी विशेषतायें हैं? इस विषय का उल्लेख 'तान्त्रिक सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ की पहली जिल्द में किया गया है। उसी में मैंने सारे तन्त्रों की एक सूची भी दे दी है।

शाक्त-विभाग में केरल, काश्मीर, गौड़ और विलास नाम के चार सम्प्रदाय हैं। इन प्रत्येक सम्प्रदायों में बाह्य और अन्तरङ्ग दोनों प्रकार की उपासनाओं का प्रचलन है। इन चारों सम्प्रदायों का उल्लेख सम्मोहन तन्त्र में हुआ है। उसमें केवल प्रथम तीन सम्प्रदायों ही के तन्त्रों के नाम नहीं दिये गये हैं, किन्तु चीन और द्राविड के भी। लोगों ने मुझे बताया है कि ५६ देशों में से (जिनमें हूण के सिवा भारत के बाहर के देश भी, जैसे चीन, महाचीन, भोट, सिंहल, शामिल हैं) अठारह गौड़ सम्प्रदाय में हैं जो नेपाल से लेकर कलिङ्ग तक फैले हुए हैं और उन्नीस केरल सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं जो विन्ध्याचल से दक्षिणी समुद्र तक फैले हैं। अवशिष्ट देश काश्मीर के अन्तर्गत हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय की पद्धतियाँ होती हैं। ये शुद्ध, गुप्त, उग्र कहलाती हैं। देवताओं और आचारों में भी भिन्नता है। इनमें कुछ का उल्लेख तारासूक्त और शक्तिसङ्गम तन्त्र में किया गया है।

तान्त्रिकों में विभिन्न मत भी होते हैं। उनमें से एक का नाम कादिमत है। यह विरादनुत्तर—कहलाता है। इसका देवता काली है। हादि-मत हंसराज कहलाता है। इसका देवता त्रिपुरसुन्दरी है। कहादि-मत इन दोनों के मिश्रण से बना है। इसका देवता तारा अर्थात् नील सरस्वती है। कुछ देश कादि, हादि, कहादि देश कहलाते हैं। प्रत्येक मत के कई एक आम्नाय होते हैं। लिखा है कि हंसतारा महाविद्या योगेश्वरी है। इसे जैन पद्मावती, शाक्त शक्ति, बौद्ध तारा, चीन साधक महोग्रा और कौल चक्रेश्वरी कहते हैं। कादि लोग इसे काली, हादि श्रीसुन्दरी और कादि-हादि हंसा कहते हैं। तान्त्रिक टेक्स्ट नाम की ग्रन्थमाला में तन्त्रराज का वह भाग प्रकाशित होनेवाला है जिसका सम्बन्ध कादि-मत से है।

गौड़-सम्प्रदाय कादि मत को सर्वोच्च समझता है। और काश्मीर तथा केरल सम्प्रदाय त्रिपुरा और तारा को पूजते हैं। सम्भव है पूर्वोक्त नामधारी देश वास्तव में कभी रहे हों और उनमें विशेष विशेष तन्त्रों ही की उपासना का प्रचार रहा हो। परन्तु पीछे की तथा आज-कल की उनकी स्थिति देख कर यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती। प्रत्येक देश में विभिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व हो सकता है। हाँ यह बात अवश्य हो सकती है कि किसी विशेष स्थान में, जैसे कि बङ्गाल में, किसी विशेष सम्प्रदाय का प्राधान्य हो।

[असमाप्त]

देवीदत्त शुक्ल

कौन कृती कहलाते हैं ?

जो जाति-जगत में जीवट के जीवन की ज्योति जगाते हैं ।
भगवान-भरोसे भय भ्रम की भीषण भावना भगाते हैं ॥

जो साहस से सबको सँभाल, सर्वथा सुपथ पर लाते हैं ।
गुरुओं का गौरव ग्रहण किये, गुणियों के गुणगण गाते हैं ॥

समदर्शी, सत्यासक्त, सतत सुख-मूल सुनीति सुनाते हैं ।
दुर्भाव दम्भ से दूर, दग़ा से दंगे से दब जाते हैं ॥

उर उन्नति का उत्साह उदित, उद्देश्य उदार उठाते हैं ।
उद्योग उसी का उपयोगी, न उपद्रव उन्हें उबाते हैं ॥

ख़ुश रहते ख़ूबी से, यद्यपि खल खलते ख़ूब खिझाते हैं ।
ख़ुद ख़ूनख़राबी खोते हैं, ख़तरे से ख़ता न खाते हैं ॥

हैं अहङ्कार से अलग, और आदर्श अमल अपनाते हैं ।
अपने अपहृत अधिकारों पर अविचल अधिकार जमाते हैं ॥

आलस्यहीन, आनंदी हैं, औरों का आदर करते हैं ।
अति अत्याचार मिटाने में मरते हैं, ज़रा न डरते हैं ॥

भरपूर भलाई से भरसक, हामी हैं सदा स्वदेशी के ।
मन पर है छाप स्वदेशी की, तन पर हैं कपड़े देशी के ॥

हिंसा से हरदम दूर रहें, विद्रोही नहीं विदेशी के ।
कर्तव्य-प्रतिष्ठा-निष्ठा से क़ायल हैं दूरन्देशी के ॥

रुचि राजनीति से रखते हैं, नर खोटा खरा परखते हैं ।
हैं लाभलोभ में लिप्त नहीं, लालच की लीला लखते हैं ॥

धर धीरज धर्मधुरन्धर जो धूर्तों को धता बताते हैं ।
नय-नदी-नीर में, निर्मत्सर, नेकी कर, नित्य नहाते हैं ॥

चल चाल चली आई चिर की चतुरों के चित्त चुराते हैं ।
तप, तत्परता से तृप्त, ताप तीनों ही नहीं तपाते हैं ॥

छल छन्द छुड़ा कर छोटों से, छूतों की छाप छिपाते हैं ।
सब ढंग ढोंग के, ढांचे से ढीले कर देते, ढाते हैं ॥

वे ही पृथ्वी पर पूर्ण प्रेम पहचान पूज्य पद पाते हैं ।
वे ही कुलदीपक, कर्मनिष्ठ, कृतकृत्य, कृती कहलाते हैं ॥

रूपनारायण पाण्डेय

पेशवाओं का शनिवार बाड़ा ।

पेशवाओं की बातें अब भूत की बातें होगईं । उनके लिए यह कम गौरव की बात नहीं कि भारत के इतिहास में उन्हें भी स्थान प्राप्त हुआ है । अतीत के गर्भ में स्थान मिल जाने से, वे भी इतिहास की वस्तु हो गये । पेशवाई का अवसान अल्पकाल ही में हो गया । वह केवल १०८ वर्ष तक जीती रह सकी । उसकी मृत्यु हुए अभी केवल १०३ वर्ष बीते हैं । सम्भव है कि इस समय उसके अन्त-काल का एक आध आदमी भी जीवित हो । परन्तु इससे क्या ?

अपने १०८ वर्ष के जीवन में पेशवाओं ने जो कुछ कर दिखाया वह इतिहास के पृष्ठों में अङ्कित है । इतिहास-प्रेमी उनके इस अल्पकालीन जीवन को गौरवपूर्ण समझ कर ही सन्तुष्ट नहीं हो गये, किन्तु उसके रहस्यों का अनुसन्धान करने में दत्त-चित्त से लगे हैं । यही नहीं, भारतीय पुरातत्त्व-विभाग भी इस ओर प्रवृत्त है । वह भी पूना के धुस्सों को खोद खोद कर पेशवाई के गौरव की खोज कर रहा है । पूना में शनिवार बाड़ा नाम का पेशवाओं का जो राजमहल था वह सन् १८२७ में आग लग जाने से गिर गया था । बाद को सरकार ने उसे बराबर करके पुलिस की क़वायद के लिए मैदान करवा दिया । पुरातत्त्व-विभाग की ओर से इसी स्थान में खुदाई का काम जारी है । पेशवाओं के प्रसिद्ध राज-प्रासाद के भूमिगत भग्नावशेष अब शीघ्र ही लोगों की दृष्टिपथ में आवेंगे ।

ऐतिहासिक दृष्टि से इस स्थान की स्मृति बनाये

रखना एक आवश्यक काम है। क्योंकि पेशवाओं का पूर्वोक्त राजमहल अपने समय के इतिहास में ख़ास स्थान रखता है। इसी के भीतर बैठ कर पेशवाओं ने निज़ाम, टीपू, ईस्ट इंडिया कम्पनी, सम्राट् नेपोलियन आदि तत्कालीन राजनैतिक शक्तियों से समय समय पर सुलहनामे किये थे। इसी दुर्गमय राजप्रासाद में पेशवा स्वतन्त्र शक्ति के रूप में मुग़ल सम्राट् द्वारा स्वीकार किया गया था। यहीं के दरबार-भवन से ऊदाजी पवाँर, रानोजी सेंधिया और मल्हारराव हुल्कर को मालवा आपस में बाँट लेने का आदेश मिला था। जिस खरदा-युद्ध में नाना फड़नवीस ने अपनी नीति के बल से गायकवाड़, होलकर, सेंधिया, भोंसला आदि अर्द्धस्वतन्त्र मरहटा सामन्तों को अन्तिम बार एकत्र करके प्रबल निज़ामुलमुल्क निज़ाम अली का पराभव-साधन किया था उसके सन्धिपत्र पर माधवराव प्रथम ने यहीं हस्ताक्षर किये थे। परन्तु इतना ही नहीं इसी दरबार-भवन में नारायणराव के घातक को पेशवा-पद से वञ्चित करने के लिए मन्त्रणायें हुई थीं। इसके सिवा ईस्ट इंडिया कम्पनी की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए महाराष्ट्र के राजनीतिज्ञों ने यहीं तरह तरह के उपाय सोचे थे। पेशवाओं का वही राजभवन शनिवार बाड़ा उनके पतन के ९ वर्ष बाद दैवी कोप से धराशायी हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्थान महत्त्वपूर्ण है। अतएव भारतीय पुरातत्त्व-विभाग उसके भग्नावशेषों का अनुसन्धान कर रहा है।

शनिवार बाड़ा के बाग़ का फ़ौवारा।

शनिवार बाड़ा का पिंड इस समय दस गज़ धरती के नीचे दबा पड़ा है। इसके कुल रक़बे में से अभी तक आधा ही हिस्सा खोद कर साफ़ किया जा सका है। इस खुदाई से उसका जो भाग प्रकाश में आया है उसमें एक वस्तु बहुत अद्भुत है। यह है पेशवाओं के बग़ीचे का फ़ौवारा। भारत में इसके मुक़ाबिले का दूसरा फ़ौवारा एक भी नहीं है। दुनिया के बड़े बड़े फ़ौवारों के बीच इसकी गणना होगी। यदि इससे बड़ा कोई दूसरा फ़ौवारा संसार में है तो वह रोम का है। इसका व्यास २५ फुट है और यह कमलाकार है। इस कमल में सोलह पँखुड़ियाँ हैं। इसमें

१९६ धारायें निकलने के छिद्र हैं। लगभग सौ वर्ष तक मिट्टी के नीचे दबे रहने के कारण यह बहुत कुछ नष्ट हो गया है तो भी इतना नहीं कि मरम्मत न हो सके। पर यह आशा नहीं है कि पूर्व की भाँति यह अपनी शोभा क़ायम रख सकने में समर्थ हो सकेगा। जो भू-भाग अब तक साफ़ किया गया है वह केवल प्रधान महल का बाहरी हिस्सा मालूम पड़ता है। यहाँ ऐश बाग़ लगे रहे हैं। अभी तक ऐसे तीन बाग़ निकले हैं। एक बाग़ से दूसरा ऊँचे स्थान पर और तीसरा दूसरे से भी ऊँचे स्थान पर है। इनका यह क्रम बहुत ही विचित्र है। इन बाग़ों में भी अनेक फ़ौवारों के भग्नावशेष निकले हैं। इनमें से कुछ में उन कुण्डों से जल पहुँचता रहा है जहाँ वह रँग दिया जाता था। अर्थात् उन फ़ौवारों से रंगीन जलधारायें निकला करती थीं। जब शनिवार बाड़ा के इतने ही अंश के प्रकाश में आने से उसकी विचित्रता और महत्ता का अनुभव होता है तब सम्पूर्ण भाग के खोदे जाने पर और भी अद्भुत बातों के प्रकाश में आने की पूरी सम्भावना है।
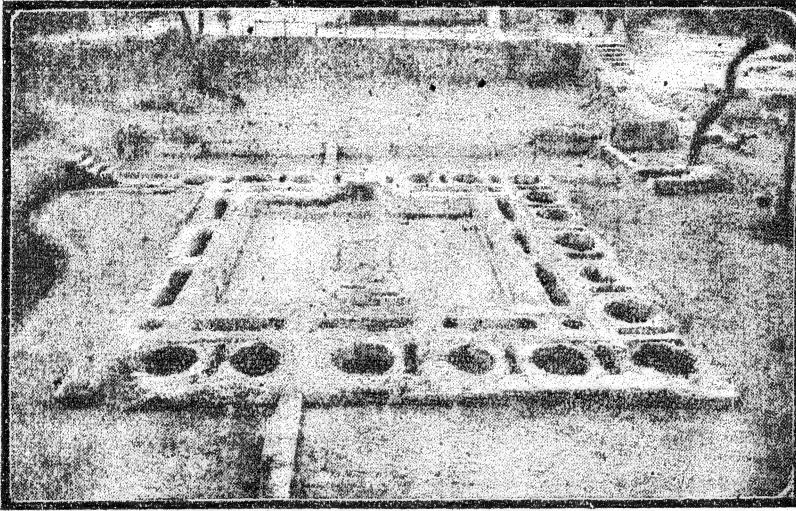
शनिवार बाड़ा के बाग़ के उन जल-कुण्डों की स्थिति जिनमें पहले पानी रँग लिया जाता था और तब वह फ़ौवारों में पहुँचाया जाता था।

पेशवाओं का राज-महल निस्सन्देह अद्भुत रहा होगा। उसका दिल्लीद्वार जो इस समय भी सुरक्षित है पूर्वोक्त कथन का समर्थन करता है। इसे बाजीराव ने सन् १७२१ में बनवाना प्रारम्भ किया था और वह उसके जीवन भर सन् १७४० तक लगातार बनता ही रहा। इसके चारों ओर तीस फुट गहरी खाईं थी और विशाल-काय नौ बुर्ज उसकी रक्षा करते थे। खाईं अब पूर दी गई है। उसकी स्मृति क़ायम रखने के लिए केवल दिल्लीद्वार, क़िले की दीवार और बुर्ज बचे रह गये हैं।

माधव गणेश खानवलकर

रेडियोएक्टिविटी या तेजोनिर्गमन।

विज्ञान-क्षेत्र में जितने महत्त्वपूर्ण आविष्कार आज तक हुए हैं उनमें तेजोनिर्गम की श्रेणी सर्वोच्च है। इस कौतुकमय आविष्कार से विज्ञान के इतिहास में एक नये युग

का आविर्भाव हुआ है। इसका प्रारम्भ-काल सन् १८९६ ईसवी है। पाठकों के मनोविनोदार्थ इस विषय का उल्लेख संक्षेप में यहाँ किया जाता है।

हेनरी बकरल (Henry Becquerel) साहब ने बड़ी सावधानता से परीक्षा करके यह सिद्ध किया है कि यूरेनियम (Uranium) और ऐसे ही दूसरे पदार्थ, जिनमें इसका कुछ अंश वर्तमान है, फ़ोटोग्राफ़ के प्लेट पर विकृति पैदा करते हैं। युरेनियम को कई वर्ष तक अन्धकार में रख कर जाँच की गई। परन्तु उसके विकृत्युत्पादक गुण में कुछ भी अन्तर नहीं पाया गया। लोगों ने अनुमान किया कि युरेनियम से एक प्रकार का तेज निकलता रहता है और उसी से फ़ोटोग्राफ़ के प्लेट पर विकृति पैदा होती है। युरेनियम में एक और भी विलक्षण बात पाई गई। जब हम किसी पदार्थ में विद्युत् प्रवाहित करके उसे युरेनियम के समीप रख देते हैं तब उसकी विद्युत् विलीन हो जाती है। उसके इन विलक्षण गुणों की चर्चा फैल ही रही थी कि दो वर्ष के पश्चात् पोलेंड-वासिनी मैडम क्युरी (Madame Curie) नामक एक स्त्री ने पिच-ब्लेंडि Pitch-Blende) नाम के एक खनिज पदार्थ से रासायनिक क्रिया द्वारा एक नये धातु का आविष्कार किया। इसका नाम भी उस स्त्री के गौरवार्थ पोलोनियम (Polonium) रक्खा गया। पोलोनियम में उपर्युक्त गुण विशेषरूप से पाये गये। थोड़े ही दिनों में उन्होंने एक दूसरे धातु की खोज की। इसका नाम रेडियम (Radium) पड़ा। रेडियम में युरेनियम के गुण प्रबल थे। इसके बाद उसी पिच-ब्लेंडि से एम० डीबीयर्न (M. Debierne) और प्रोफ़ेसर गाइसल (Giesel) नामक वैज्ञानिकों ने पृथक् पृथक् दो अन्य पदार्थ आविष्कृत किये। इनके नाम क्रमानुसार अक्टिनियम (Actinium) और इमेनियम (Emanium) हैं। जो तेजोनिर्गमन इन पदार्थों से होता है उसी को रेडियोएक्टिविटी (Radio activity) कहते हैं।

वैज्ञानिकों ने परीक्षा द्वारा सिद्ध किया है कि रेडियम, थोरियम (Thorium) और युरेनियम के मिश्रण से बननेवाले पदार्थों से सदैव एक प्रकार का गैस निकला करता है। पर पोलोनियम से कोई गैस नहीं निकलता। हम लोगों को जितने गैस विदित हैं उनसे यह उपर्युक्त गैस विलक्षण है। पदार्थ से पृथक् होते ही यह अपना स्वरूप बदल देता है, अर्थात् अन्य मौलिक गैसों में विभक्त हो जाता है। अभी तक इस प्रकार के गैसों के वास्तविक गुण नहीं ज्ञात हुए हैं। रेडियम से जो गैस निकलता है उसके विषय में अनेक सफलता-पूर्ण परीक्षाएँ हुई हैं। इस गैस को नाइटन (Niton) कहते हैं। सन् १९१० में प्रोफ़ेसर रामसे ने इसके गुरुत्व और आणविक गुरुत्व निकालने में साफल्य-लाभ किया। इसके बाद ह्विटलॉग्रे (Whytlaw Gray) की सहायता से उन्होंने इसे तरल एवं कठिन रूप में परिणत किया। कठिन रूप में नाइटन गैस एक देदीप्यमान बिन्दु की तरह दिखलाई पड़ता है।

परीक्षकों ने रेडियम निर्गत गैस का छत्र (Spectrum) निकालने का उद्योग किया। यह कार्य जिस यन्त्र के द्वारा सम्पादित होता है उसे आलोक-विश्लेषण यन्त्र (Spectroscope) कहते हैं। पहले तो सारी चेष्टाएँ विफल हुईं, किन्तु सतत परिश्रम से छत्र निकाल लिया गया। छत्र के हरे भाग में कई सूक्ष्म रेखाएँ पाई गईं। वाटसन साहब

ने बड़े यत्न से चित्र द्वारा उन रेखाओं के नियमित स्थान बतलायें हैं। कितने ही स्थिर ताराओं के छत्र निकाले गये हैं। छत्र के हरित भाग में तद्रूप रेखाएँ पाई गई हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उन स्थिर ताराओं में भी तेजोनिर्गमन की क्षमता है। थोरियम से गैस का निकलना प्रोफ़ेसर रुदर्फ़ोर्ड ने सिद्ध किया था। पर उस गैस के विषय में कुछ विशेष बात ज्ञात नहीं। रेडियम से जो गैस निकल कर शीघ्र ही विभक्त हो जाता है उसे हीलियम (Helium) कहते हैं। इस प्रकार यह हमें एक नया गैस मिलता है।

कभी कभी देखा गया है कि वायु में तेजोनिर्गमन की शक्ति आ जाती है। जब परीक्षक-गण विद्युन्मापक यन्त्र में विद्युत् प्रवाहित करते हैं तब वह उससे धीरे धीरे गायब हो जाती है। लोगों का पहले यह अनुमान था कि जो जलकण वायु में विद्यमान रहते हैं वे विद्युत् को हर लेते हैं। परन्तु पीछे से यह अनुमान भ्रम-मूलक सिद्ध हुआ। इसका आधुनिक सिद्धान्त यह है कि पृथिवी के अन्तर्गर्भ में रेडियम और थोरियम विद्यमान हैं। ये अपने तेजोनिर्गमन द्वारा वायु को विद्युत प्रदान करते हैं। अतएव वायु में भी विद्युत्सञ्चालन की शक्ति आ जाती है। उपर्युक्त यन्त्र से विद्युत् के लोप का यही कारण है।

तेजोनिर्गमन-गुण-विशिष्ट पदार्थों के आणविक गुरुत्व बहुत अधिक होते हैं। जैसे:—

	पदार्थ	आणविक गुरुत्व
१.	रेडियम	२२६.
२.	थोरियम	२३२.
३.	युरेनियम	२४०.

कतिपय साधारण द्रव्यों के आणविक गुरुत्व नीचे दिये जाते हैं:—

१.	लोहा	५६
२.	ताँबा	६३
३.	चाँदी	१०७
४.	सोना	१६६
५.	पारा	१६६
६.	सीसा	२०५

× × × × इत्यादि।

युरेनियम आदि पदार्थों से जो तेजोरश्मियाँ निकलती हैं वे तीन भागों में विभक्त की गई हैं:—

(१) अलफा रश्मि— (α—Rays)
(२) बीटा रश्मि— (β—Rays)
(३) गैमा रश्मि— (γ—Rays)

अलफा रश्मि:—ये रश्मियाँ प्रबल पारगामिनी नहीं होतीं। यदि इनके मार्ग में ·०१ सेण्टिमीटर मोटा अलुमीनियम का एक पत्तर रक्खें तो ये अवरुद्ध हो जाती हैं। एक प्रबल लोहचुम्बक के प्रभाव से भी ये अपने मार्ग से किञ्चित् आकृष्ट हो जाती हैं। ये सूक्ष्म कणों से बनी हैं। उनमें धनात्मक विद्युत् प्रवाहित रहता है। जब उन कणों से विद्युत् का लोप हो जाता है तब वे हीलियम गैस के अणु बन जाते हैं। इनकी गति प्रति सेकंड $१·५५ \times १०^९$ से $२·२५ \times १०^९$ सेंटिमीटर तक है। (१०० सेंटिमीटर = ३९· ३७ इञ्च)।

बीटा रश्मि:—इन रश्मियों को पूर्ण रूप से रोक लेने के लिए कम से कम ·५ सेंटिमीटर मोटा अलुमीनियम का पत्तर चाहिए। इनकी गति प्रति सेकेण्ड $१· ६ \times १०^{१०}$ से $२·८ \times १०^{१०}$ सेंटि-

मीटर है। आलोक की भी गति $२\cdot८ \times १०^{१०}$ सेंटिमीटर प्रति सेकण्ड है। इन गतियों की समानता का वर्णन करने के लिए पर्याप्त स्थान यहाँ नहीं है, अतएव हम उसे छोड़े देते हैं। बीटारश्मि ऐसे कणों से बनी है जिस पर ऋणात्मक विद्युत् वर्तमान रहती है।

गैमा रश्मिः—इन रश्मियों की पारगामिनी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। लोहे की एक फ़ुट की मुटाई को भी ये पार कर जाती हैं। प्लेटिनो सायनाइड (platinocy anide), ज़िङ्क सिलिकेट (zinc-silicate) आदि पदार्थों में जब ये प्रविष्ट होती हैं, तब वे दीप्तिमान हो जाते हैं। इसे फ़्ल्युयोरेसेन्स (fluorescence) कहते हैं। इन पर प्रबल से प्रबल लोहचुम्बक का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः ये विद्युन्मय सूक्ष्म कण नहीं कही जा सकतीं।

ऊपर क्रमशः अणुओं का व्यवहार आया है। ये अणु शक्ति की एक बृहत् राशि हैं। इनके भीतर परमाणु तीव्र गति से परिक्रमा करते रहते हैं। जब ये गतिशील परमाणु अपने अणु से पृथक् होते हैं तब महती शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। मैडम क्यूरी और लेबोर्डी ने बतलाया है कि अपने आस-पास की भूमि से रेडियम की गर्म्मी २ अंश अधिक होती है। एक ग्राम रेडियम से प्रति घंटा ११८ ग्राम-केलोरी गर्म्मी निकलती है। चट्टानों में प्रति ग्राम $१\cdot४ \times १०^{१२}$ ग्राम रेडियम मिला हुआ है। पृथिवी के भीतर ४० मील तक जितना रेडियम है उसका ताप पृथ्वी को समान रूप से तप्त रक्खेगा, यद्यपि ताप विकरण द्वारा अधिक गर्म्मी का बहिष्कार हो रहा है।

साधारण दशा में रेडियम से तीनों प्रकार की रश्मियाँ निकलती रहती हैं। एक ग्राम रेडियम से प्रति घंटा इतनी शक्ति निकलती है जो एक ग्राम जल को बर्फ़ की गर्म्मी से भाफ़ की गर्म्मी तक ला सकती है, अर्थात् वह शक्ति प्रति घंटा ११८ केलोरी गर्म्मी के तुल्य है। एक ग्राम कोयला जलाने से जितनी गर्म्मी निकलती है उसके २,५०,००० गुना ताप एक ग्राम रेडियम से निकलता है। आज-कल अमरीका इत्यादि देशों के वैज्ञानिक इस बात का विचार कर रहे हैं कि उपर्युक्त शक्ति को किस प्रकार उपयोग में लावें।

पहाड़ों और झरनों के जल में भी तेजोनिर्गमन पाया गया है। बाथ हरोगेट तथा जर्मनी के झरनों में रेडियम का पता लग चुका है। स्ट्रट साहब ने सिद्ध किया है कि बाथ झरने की पार्श्ववर्त्तिनी भूमि में न्यूनांश रेडियम मिला हुआ है। जे० जे० टामसन ने प्रमाणित किया है कि केम्ब्रिज के समीपवर्त्ती कूपों के जल में तेजोनिर्गम की क्षमता वर्त्तमान है।

रेडियमनिर्गत तेज के रासायनिक गुणः—हीरा, पन्ना इत्यादि मूल्यवान् पत्थर फ़्ल्युयोरेसेन्स द्वारा चमचमाने लगते हैं। बन्द आँखों के सामने रेडियम ब्रोमाइड की शीशी लाने से प्रकाश दीख पड़ता है। यदि रेडियम सहित कीड़ों को हम एक सन्दूक़ में बन्द करें तो वे मर जायँ। इसके प्रभाव से काग़ज़ और काँच के रङ्ग दूर हो जाते हैं और आक्सीजन गैस ओज़ोन में परिणत हो जाता है। पानी पर उस तेज का प्रभाव पड़ने से वह आक्सीजन और हैड्रोजन में विभक्त हो जाता है। इनके सिवा फ़ोटोग्राफ़ के प्लेट पर विकृति होती है, एलेक्ट्रोस्कोप यन्त्र से विद्युत् लुप्त हो जाती

है और आज-कल रेडियम डायल की जो घड़ियाँ प्रसिद्ध हैं वे अन्धकार में भी देखी जाती हैं ।

रामेश्वरप्रसाद गुप्त

—:०:—

निषिद्ध फल ।

[१]

बाग़ बाज़ार के दुर्गाचरण बाबू, वस्त्राभूषण से सुसज्जित अपनी द्वादश वर्षीया कन्या का हाथ पकड़े बैठक में प्रवेश करके बोले—राय बहादुर साहब, यही है मेरी मँझली बेटी। लड़की से कहा—बेटी, इन्हें प्रणाम करो ।

भवानीपुर के राय प्रसन्नकुमार मित्र बहादुर अपने मुसाहबों से घिर कर दरिद्र दुर्गाचरण के तख़्त पर बैठे फ़र्शी हुक़े के द्वारा धूम्र-पान कर रहे थे। उनके चरणों के समीप माथा झुका कर वह लड़की नीची नज़र किये खड़ी रही ।

राय बहादुर की उम्र पचास वर्ष के लगभग होगी। ख़ासा गोरा रङ्ग है, मोटे ताज़े हैं, बड़ी बड़ी आँखें हैं। दाढ़ी-मूछ मुड़ी हुई है। चौड़ी किनारे का क़ीमती दुशाला ओढ़े हैं। प्रसन्न दृष्टि से कुछ देर तक लड़की को देख कर उन्होंने कहा—वाह ! लड़की ते अच्छी है, बहुत सुन्दर है, भगवान् इसकी उम्र बड़ी करे, सुख से रहे। क्यों सुरेश, लड़की अच्छी है न ?

सुरेश नामक पारिषद ने कहा—जी हाँ, इसमें सन्देह नहीं ।

रा० ब०—बेटी, अपना नाम तो बताओ ।

लड़की के दोनों ओठ ज़रा सा हिले, किन्तु किसी शब्द का उच्चारण नहीं हुआ। दुर्गाचरण ने उसे उत्साहित करके कहा—बतला दो बेटी, नाम बतला दो ।

तब, उसने अर्धस्फुट स्वर में कहा—नन्दरानी दासी ।

रा० ब०—नन्दरानी ! बहुत अच्छा। नाम भी ख़ासा है। क्यों यतीन्द्र भाई ?

यतीन्द्र नामक मुसाहिब ने सिर हिला कर कहा—जी हाँ, बहुत अच्छा ।

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—नाम तो नन्दरानी है, परन्तु घर में सभी रानी ही कहते हैं ।

"रानी ? हाँ आपकी लड़की राजरानी होने लायक़ ही है। चेहरा कैसा साफ़, निर्दोष है। आँखों से भोलापन टपकता है। क्यों घोषाल महाशय ?"

घोषाल महाशय—यह लड़की ते आपकी ही पुत्र-वधू होने योग्य है ।

रा० ब०—हाँ बेटी, तुम खड़ी क्यों हो ? बैठो, यहीं बैठ जाओ। दुर्गाचरण बाबू, आप भी बैठिए। खड़े क्यों हैं ?

लड़की आनाकानी कर रही थी। तब "बैठ जाओ" बेटी कह कर दुर्गाचरण बाबू आप भी बैठ गये। नीचा सिर करके लड़की अपने पिता से सट कर बैठ गई ।

रा० ब०—बेटी, तुम पढ़ती क्या हो ?

"आख्यानमञ्जरी द्वितीय भाग, पद्यपाठ द्वितीय भाग और रामायण ।"

"पान लगाना जानती हो ?"

"जी हाँ ।"

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—हमारी बड़ी लड़की जब से ससुराल गई है तब से घर भर के लिए पान

यही लगाती है। आपने जो बीड़ा खाया है वह इसी का लगाया हुआ है।

राय बहादुर ने चाँदी के डिब्बे में से एक बीड़ा निकाल कर मुँह में रक्खा। उसे चबाते चबाते कहा—बीड़ा तो अच्छा है। हाँ, कुछ रोटी-पानी भी सीखा है?

रानी—सीखा है।

"यह भी सीख लिया? अच्छा किया। आलू की तरकारी, परवल की तरकारी और झोल बना लेती हो?"

लड़की ने ज़रा हँस कर उत्तर दिया—जी हाँ।

राय बहादुर ने लड़की के कन्धे पर हलका सा आघात करते करते कहा—इतनी सी उम्र में सीख लिया। बड़ी चतुर लड़की है।

दुर्गाचरण बाबू बोले—मैं तो इसका बाप हूँ, मैं क्या कहूँ। राय बहादुर साहब, यदि आप मेरी बेटी को ग्रहण करेंगे तो समझेंगे कि लड़की कैसी है। पिछले महीने मेरे घर में बाल-बच्चा हुआ था। बड़ी लड़की शिवपुर में अपनी ससुराल में थी। समधीजी से मैंने बहुत अनुरोध किया पर उन्होंने लड़की को दो दिन के लिए भी भेजना मंज़ूर न किया। तब, रानी ही ने सारी गृहस्थी सँभाली थी। यदि इसे आप स्वीकार करें तो इसके गुण जान सकेंगे।

सिर हिलाते हिलाते राय बहादुर ने मुसकुरा कर कहा—क्यों न स्वीकार करूँगा। मैं तो हर्ष से इसको अपनी पुत्रवधू बनाऊँगा। ऐसी लड़की को कोई छोड़ता है? भाग्य से मिलती है। सच है न सतीश?

सतीश—जी हाँ। इसमें रती भर भी सन्देह नहीं।

"अच्छा एक बात और पूछ लूँ, फिर इसे भीतर जाने दो।"—यह कह कर राय बहादुर ने नन्दरानी के कन्धे पर हाथ रक्खा और ज़रा सा उसकी ओर झुक कर कहा, "बेटी, मेरे सिर में जो पके बाल हैं उन्हें तुम चुन सकोगी? दोपहर को जब मैं खा-पीकर आराम किया करूँगा तब तुम, बिस्तरे पर अपने इस नवीन बूढ़े बाप के पास बैठ कर, एक एक सफ़ेद बाल खोज खोज कर निकाल बाहर कर सकोगी?—मालूम होता है, तुमने यह काम नहीं सीखा। क्यों?—अरे, तुम्हारे बाप के सिर में तो सफ़ेद बाल हैं ही नहीं!" यह कह कर वे ज़ोर से हँसने लगे।

नन्दरानी के मुखड़े पर भी ज़रा सी हँसी की झलक देख पड़ी। ऊपर नज़र करके उसने राय बहादुर के मस्तक को देखा। उसने देखा कि वहाँ बालों की संख्या उतनी ही है जितनी कि 'कलियुग में सुजनों' की। जो थोड़े बहुत बाल हैं भी वे एक दूसरे से दूर दूर पर हैं।

उसके चुप्पी साध जाने को ही राय बहादुर ने स्वीकृति मान कर कहा—अच्छा बेटी, वह परीक्षा भी होगी। देर हुई, अब तुम भीतर जा सकती हो।

बाहर नौकरनी खड़ी थी। तख़्त से नन्दरानी के उतरते ही वह पास आगई और आदर से उसका हाथ पकड़ कर अन्तःपुर में ले गई।

[२]

हुक्क़े को उठा कर कोई एक मिनिट तक राय बहादुर साहब चुपचाप धूम्र-पान करते रहे। फिर दुर्गाचरण बाबू को हुक्क़ा देकर बोले—तो अब तुम यह बताओ कि विवाह कब करोगे? अरे! मैं आपको तुम कह बैठा! माफ़ कीजिएगा।

दुर्गाचरण—मेरे लिए आप 'तुम' का ही प्रयोग किया करें। मेरे लिए 'आप' का प्रयोग करना मुझे लज्जित करना है। आपसे तो सभी बातों में छोटा हूँ। क्या उम्र में—क्या धन में—क्या मान में—

रा० ब०—हाँ हाँ, यह तो मैं मानता हूँ कि आपकी उम्र मेरी अपेक्षा कम है। लेकिन मेरे पके बालों पर भरोसा करके मुझे बिलकुल बुड्ढा न समझ लेना—हा हा हा। यह कह कर उन्होंने दुर्गाचरण बाबू की पीठ ठोक दी। मुसाहिब भी ख़ूब हँसने लगे।

दुर्गाचरण ने हँसते हँसते कहा—आपकी जब आज्ञा हो तभी विवाह हो सकता है। इसी फागुन में सही। लेकिन मैं बहुत ही साधारण आदमी—ग़रीब—

राय बहादुर कहने लगे—ग़रीब हो तो क्या हुआ? ग़रीब ही किस बात में हो? तुम क्या किसी के यहाँ भीख माँगने गये हो? और ग़रीब ही हुए तो क्या? क्या ग़रीब की बेटी का विवाह नहीं होता? हिन्दूशास्त्र की यह व्यवस्था नहीं है कि जो ग़रीब हो उसके बेटे-बेटियों का विवाह ही न हो। जान पड़ता है, आज-कल की कुप्रथा (दान-दहेज़, का ख़याल करके तुम यह बात कह रहे हो। किन्तु मैं उस प्रथा का विरोधी हूँ—भयङ्कर विरोधी।

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—जी हाँ, वह बात सुन कर ही तो—

"तो क्या सिर्फ़ सुना ही है? पढ़ा नहीं? तुमने हमारी पुस्तक 'सामाजिक-समस्या-समाधान' नहीं पढ़ी? उसमें ठहरौनी पर एक स्वतन्त्र अध्याय है। उस प्रथा की मैंने भरपूर निन्दा की है—ख़ूब निन्दा की है, उसके दोष दिखलाये हैं। तुमने पढ़ा नहीं?"

दुर्गाचरण बाबू—अवश्य। आपकी पुस्तक को कौन न पढ़ेगा? आप तो एक विख्यात ग्रन्थकार हैं।

रा० ब०—कहाँ विख्यात हैं? हाँ—बङ्किम अलबत्ता विख्यात ग्रन्थकार है। वह हमारा लड़कपन का मित्र है न। प्रेसिडेंसी कालिज में हम दोनों एक साथ क़ानून पढ़ते थे। और अब? अब तो बङ्किम का ख़ूब नाम होगया है। उसकी एक नई पुस्तक प्रकाशित हुई है—"राजसिंह"। तुमने देखी? धड़ा-धड़ बिक रही है। इधर हमारी पुस्तक—उसे कीड़े खाये जाते हैं। एक कापी तक नहीं बिकती। इसी से हमने उस दिन बङ्किम से कहा था।

एक ने उत्सुकता से पूछा—क्या बातचीत हुई थी?

राय बहादुर कहने लगे—हमने बङ्किम से कहा, भई तुम्हारा ख़ूब नाम हो गया है। अब तुम यह लव (प्रेम) और लड़ाई का पीछा छोड़ कर एक ऐसा उपन्यास लिखो जिससे देश का भी कुछ उपकार हो। हमारी बात तो कोई सुनता नहीं, तुम्हारी बातें सभी सुनेंगे। समाज में विवाह के लिए जो यह करार होने लगा है, सो इस वर-विक्रय से धीरे धीरे सर्वनाश हो जायगा। एक उपन्यास में इस दुष्प्रथा के दोष तो दिखलाओ। और, एक ऐसा उपन्यास लिखो जिसे पढ़ कर बङ्गालियों की विलासिता—ख़ास कर चाय पीने की लत—कुछ कम हो जाय। यौथ व्यवसाय के सम्बन्ध में एक लेख भी लिखो। उस लेख में भली भाँति समझा दो कि यौथ व्यवसाय करने में बङ्गालियों को सफ-

लता क्यों प्राप्त नहीं होती; और उसमें वैज्ञानिक तत्त्व समझा दो कि अमुक अमुक उपायों का अवलम्ब करने से सफलता हो सकती है। तुम्हें हम प्लाट भी बताये देते हैं। उस उपन्यास में दिखाइए कि कई बङ्गाली नवयुवक कालिज से निकलते ही, एक साथ मिल कर, यौथ व्यवसाय करने लगे। दिन पर दिन उनकी उन्नति भी ख़ूब होने लगी। धीरे धीरे वे लोग लखपती हो गये। सरकार से उन्हें उपाधियाँ मिलीं। ऐसी ऐसी बातें उस उपन्यास में होनी चाहिए। अपने उपन्यासों में आप ये बातें तो लिखते नहीं—लिखते हैं लव् और लड़ाई! बताइए तो सही, इन बातों से देश को क्या लाभ होगा?

घोषाल महाशय ने पूछा—बङ्किम बाबू ने क्या उत्तर दिया?

हुक्के को हाथ में लेकर राय बहादुर ने कहा—हँसने लगे। कहने लगे 'अच्छी बात है, यौथ व्यवसाय का उपन्यास ही लिखना आरम्भ करता हूँ। तो क्या परिशिष्ट में यह भी छाप दिया जाय कि कच्चे माल का क्या भाव है, और कौन चीज़ कहाँ पैदा होती है तथा कहाँ से कितना रेल-किराया लगता है?' दिल्लगी होगई! 'जैसा मन में आवे लिखो'—कह कर मैं नाराज़ होकर चला आया।

राय बहादुर के चेहरे से अप्रसन्नता व्यक्त होने लगी। कोई पाँच मिनिट तक तम्बाकू पीने के बाद उनका मिजाज़ कुछ ठिकाने पर आया।

दुर्गाचरण बाबू ने कहा—रुपये-पैसे के सम्बन्ध में यदि आप मुझ पर अनुग्रह करें तब तो फिर कोई कठिनाई ही नहीं। जिस दिन आपकी मर्ज़ी होगी उसी दिन विवाह हो सकेगा। इसी फागुन महीने में—

रा० ब०—ठहरिए—ठहरिए। और एक बात रह गई। असल बात तो भूल ही गया। विवाह के सम्बन्ध में मेरी एक और राय है। उसे तुम मंज़ूर करो, तभी तुम्हारे यहाँ मैं अपने लड़के को ब्याह सकता हूँ।

दुर्गाचरण बाबू ने ज़रा शङ्कित होकर कहा—क्या राय है, सुन लूँ। जो आज्ञा होगी मानूँगा।

राय बहादुर ज़रा हिल डुल करके, अच्छी तरह जम कर बैठे और बोले—सामाजिक-समस्या-समाधान नामक पुस्तक में बाल्यविवाह नामक एक परिच्छेद है। उसको पढ़ा है?

दुर्गाचरण बाबू ने ज़रा घबराहट के साथ कहा—जी हाँ—मालूम होता है—क्या जानें—ठीक स्मरण नहीं।

"हमने उस प्रबन्ध में दिखलाया है कि बाल्यविवाह बहुत अच्छा है। हमारे समाज में जब तक सम्मिलित-कुटुम्ब-प्रथा रहेगी तब तक बाल्यविवाह के बिना निस्तार नहीं है। अकेला स्वामी ही स्त्रियों का परिजन नहीं, सास-ससुर, देवर-जेठ, ननँद, देवरानी-जेठानी—सभी के साथ तो उसे गृहस्थी में रहना है। अतएव अल्पावस्था से ही बहू को उस परिवार में सम्मिलित हो जाना चाहिए। ठीक है न?"

दुर्गाचरण बाबू—जी हाँ, बहुत ठीक।

"अच्छा, तो सिद्ध हुआ कि हमारे समाज के लिए बाल्यविवाह अत्यन्त उपयोगी है। इसे बहुतेरे स्वीकार करते हैं। किन्तु—इसके भीतर एक और गुप्त बात है भाई। वह मेरी ईजाद है। बोलो, क्या कहते हो? किन्तु—क्या?"

दुर्गाचरण बाबू सिर खुजलाने लगे। कुछ भी कह न सके।

राय बहादुर ने कहना आरम्भ किया—बाल्य-विवाह होगा सही, किन्तु जब तक पूर्ण अवस्था न हो जायगी तब तक स्त्री-पुरुष की परस्पर भेंट न हो सकेगी। हमने अपनी पुस्तक में लड़की की उम्र सोलह वर्ष और लड़के की चौबीस वर्ष—इसके लिए निर्दिष्ट कर दी है। इससे प्रथम उन्हें एकत्र होने देना ठीक नहीं। डाक्टरों की पुस्तकें देखिए, आपको निश्चय हो जायगा कि हमारी राय कहाँ तक ठीक है।—यह कह कर राय बहादुर ने, गर्व की हँसी हँस कर, सिर ऊपर उठाया।

दुर्गाचरण बाबू ज़रा देर तक नीचे सिर किये सोचते रहे, फिर बोले—बात है तो ठीक, किन्तु एक मुश्किल है। मेरी लड़की 'रानी' इस समय बारह वर्ष की होगी। सावन में उसका तेरहवाँ वर्ष आरम्भ होगा। तो क्या अब घर पर मैं तीन चार वर्ष जमाई को न बुला सकूँगा? तब तो घर में—

राय बहादुर ने रोक कर कहा—क्यों, यहाँ जमाई के आने में क्या दिक़्क़त है? अवश्य ही आ सकेगा। जिस दिन कहोगे उसी दिन तुम्हारे जमाई को भेज देंगे। उसे खिलाओ-पिलाओ, उसका आदर करो—घर में औरतें भी उसका आदर-सत्कार करें—किन्तु हमारे नियम का पालन करना होगा।

दुर्गाचरण बाबू—बड़ी विकट समस्या है!

राय बहादुर उत्साह से फूल कर बोले—हाँ, समस्या तो ज़रूर है!—हमारी पुस्तक में ऐसी ऐसी सभी समस्याएँ हल की गई हैं, इसी से उसका नाम है 'सामाजिक-समस्या-समाधान'। हमने उसको हल करने का बढ़िया उपाय ढूँढ़ निकाला है। उपाय तो बहुत ही सहज है, परन्तु एकाएक उस पर किसी का ध्यान नहीं जाता।

"क्या उपाय है?"

"बहू मकान के भीतर रहेगी, लड़का बाहर-वाले कमरे में सोवेगा। बस, सब झगड़ा निबट गया।—कहो कैसा सहज उपाय है?"—यह कह कर राय बहादुर ज़ोर से हँसने लगे।

[असमाप्त]

लक्ष्मीप्रसाद पाण्डेय

कवीन्द्र रवीन्द्र का गान।

शैवाल-दल सम बन्धुवर, यह नव्य मेरा ज्ञान,
रहता नहीं यह जन्म-भू में अचल मेरु समान।
यद्यपि नहीं है मूल तो भी है मृदुल दल-फूल,
होता सुखी जल की तरङ्गों में सदा वह फूल।
सञ्चय न उसको प्रिय कहीं उसका न वास-स्थान,
कब वह अपरिचित अतिथि, पहुँचेगा कहाँ, क्या ज्ञान!
अविराम श्रावण-वृष्टि में जब डूबते युग-कूल,
वह बह निकलता चपल-गति सोद्वेग निज को भूल।
उद्दाम सरिता-स्रोत में कर मार्ग अपना लीन,
वह दिगदिगन्तर पहुँचता कर प्राप्त प्रगति नवीन॥

('बलाका' से)

मुकुटधर।

विविध विषय।

१—अवध का क़ानून लगान।

अवध के क़ानून लगान, ऐक्ट २२, को बने कोई २१ वर्ष हो चुके। इस क़ानून की कृपा से अवध के किसानों को बहुत बड़ी बड़ी तकलीफ़ें मिलती चली आ रही हैं; क्योंकि इसमें उनके सुभीते की बातें तो कम, तअल्लुक़ेदारों के ही सुभीते की अधिक हैं। इस ओर सरकार का ध्यान, कौंसिल में, कई दफ़े दिलाया गया; पर और ज़रूरी कामों में फँसे रहने के कारण वह इस

क़ानून में तरमीम करने का निश्चय न कर सकी। फ़ैज़ाबाद और रायबरेली में बलवे होने और गोलियाँ चलने की नौबत आने पर उसने अपने और ज़रूरी काम ताक़ पर रख कर इसमें तरमीम कर डालने का वादा किसानों से किया। तब इस प्रान्त के गवर्नर, सर हरकर्ट बटलर, ने तअल्लुक़ेदारों से सलाह-मशविरा करके आपस में समझौता किया और उसके फल-स्वरूप एक क़ानूनी मसविदा तैयार कराया। यह मसविदा ४ और ५ अगस्त १९२१ को कौंसिल में पेश हुआ और कुछ साधारण सी बहस के बाद, चुने हुए कोई १५ मेम्बरों की कमेटी के सिपुर्द किया गया। यह कमिटी इस मसविदे का संशोधन करेगी। तब इसका संशोधित रूप नवम्बर १९२१, में क़ानूनी कौंसिल में फिर पेश होगा। वहाँ अन्तिम विचार के अनन्तर उसे क़ानून का रूप देने की ठहरेगी।

यह क़ानूनी मसविदा यद्यपि किसानों ही की तकलीफ़ें दूर करने के लिए बनाया गया है, पर इसमें उनके सुभीते की बातें यों ही नाम-मात्र के लिए हैं। यदि यह ऐसा ही रहा तो तअल्लुक़ेदारों की प्रतिपत्ति और बढ़ जायगी और कुछ विशेष विषयों में किसानों के पीड़न की मात्रा अधिक हो जायगी।

मसविदे के अनुसार किसान अब ७ वर्ष तक नहीं, १० वर्ष तक, अपने पट्टे की ज़मीन पर क़ाबिज़ रह सकेंगे और यदि वे पट्टे की मीयाद बीतने पर मुनासिब लगान देना मंज़ूर करेंगे तो ज़िन्दगी भर अपनी आराजी को जोत-बो सकेंगे। वह छीनी न जा सकेगी। मुनासिब लगान की शरह सरकारी अफ़सर निश्चित करेंगे और हर दसवें साल उसमें रद्दोबदल किया करेंगे। यह तो है किसानों के फ़ायदे की बात। उनके नुक़सान की बातों में से कुछ बातें ये हैं। पट्टेदार किसान अब २ वर्ष से अधिक अपनी आराजी का एक इञ्च भी, बिला मालिक जमीन की तहरीरी इजाज़त के, शिकमी न उठा सकेंगे। हाँ, अपने कुछ निकटवर्ती सम्बन्धियों को वे चाहे उठा दें। पर शिकमी ज़मीन भाई-भतीजों और कुटुम्बियों को बहुत ही कम उठाई जाती है। पट्टेदार किसान की ज़मीन अगर तअल्लुक़ेदार अपने जोतने या अपने और सर्व-साधारण के किसी काम के लिए लेना चाहें, तो छीन ले सकेंगे। मुनासिब लगान देने पर राज़ी न होने पर भी दस साल बाद किसान बेदख़ल किया जा सकेगा। एक पाई भी बक़ाया लगान रह जाने पर भी वह बेदख़ल हो सकेगा। बहुत लोग मिल कर यदि लगान देने से इनकार करेंगे तो लगान गवर्नमेंट ख़ुद ही वसूल करके तअल्लुक़ेदारों को दे देगी। ताज़ीरात हिन्द में वर्णन किये गये कुछ जुर्म करनेवालों को उसके अनुसार तो सज़ा मिलेहीगी, वे अपनी आराजी से भी बेदख़ल किये जा सकेंगे।

यह है किसानों के लाभ और उनके असन्तोष को दूर करने के लिए तजवीज़ किये गये क़ानून का रूप। अगर यह ऐसा ही रहा तो असन्तोष घटेगा नहीं; उलटा बढ़ेगा। आशा है जिस कमिटी को इसके संशोधन का भार सौंपा गया है वह इसमें न्यायसङ्गत फेरफार करने की उदारता दिखावेगी। कौंसिल के मेम्बरों का भी धर्म्म है कि समय को देख कर अपने कर्तव्य का उचित पालन करें। क़ानून की दृष्टि में किसान और तअल्लुक़ेदार दोनों के हक़ समान होने चाहिए।

२—आख्यायिका-रहस्य।

आख्यायिकायें पढ़नेवालों की संख्या अधिक है, परन्तु इस विषय के सिद्धहस्त लेखक बहुत ही थोड़े—नहीं के बराबर—हैं। और इधर एक यह प्रथा चल निकली है कि हर पत्र-पत्रिका में एक आध कहानी प्रत्येक अङ्क में होनी ही चाहिए। इससे, ऐसे लोग भी कहानियाँ लिखने को दौड़ पड़े हैं जिनकी गति वास्तव में इस ओर नहीं है। अतएव, ऐसे लोगों की लिखी कहानियाँ पढ़ने में पढ़नेवाले को वह मज़ा नहीं आता जो कि आना चाहिए। एक तरह की सज़ा ज़रूर मिल जाती है।

जिस तरह कोई आदमी कवि नहीं हो सकता उसी तरह चाहे जो व्यक्ति आख्यायिका-लेखक नहीं बन सकता। जो नैसर्गिक कवि नहीं है, प्रकृति ने जिसे कविता लिखने का उपयुक्त मस्तिष्क प्रदान नहीं किया है वह जब ज़बर्दस्ती कविता लिखता है, अपनी तबीयत को ठोंक पीट कर इस तरफ़ झुकाता है और तुक जोड़ लेता है तब उसकी वह कविता अपना बयान आप ही सुनाने लगती है; उसमें वर्णित विषय पर तो शायद ही किसी की दृष्टि जाती हो, पर तुकड़शाह के हठीलेपन पर सबकी आँखें गड़ जाती

हैं। ऐसी तुकबन्दी को पढ़ कर मुँह से निकल पड़ता है कि इसने अपनी तबीअत से झगड़ा ठाना है, नाहक खींच-तान की है,—इसने अपना वक्त तो बर्बाद किया ही, पढ़नेवालों की भी जान को आ गया है। बस, यही हाल उस आख्यायिका-लेखक का होता है जिसे या तो कहानी लिखने का रहस्य नहीं मालूम या जो चित्त ठिकाने न रहने पर भी, तक़ाज़े से ऊब कर आख्यायिका लिखने बैठ गया है। इस प्रकार की दशा में लिखी गई कहानी या तो व्याख्यान का जामा पहन लेती है या ख़ासा लेख बन जाती है। ऐसी आख्यायिका के शीर्षक के साथ अगर यह छाप दिया जाया करे कि "यह लेख नहीं, कहानी है" तो बहुत अच्छा हो। क्योंकि जिन्हें उसमें कहानी का मसाला न मिले वे उसे झख मार कर कहानी ही मान लें।

कहानियाँ लिखने के लिए जो लोग प्रसिद्ध हैं उनकी सभी कहानियाँ उच्च कोटि की होती हों, सो बात नहीं है। यह तो उनकी शब्द-सृष्टि है। कोई बहुत ही अच्छी सध गई और किसी में कहीं कुछ कसर भी रह गई। लेखक के हृदय में विचार-धारा बहती है। किसी के हृदय में प्रायः निरन्तर और किसी के हृदय में अमावस-पूनो को यानी कभी कभी। जो पहले श्रेणी के हैं वे बड़े भाग्यवान् हैं। विधाता की सृष्टि के अनमोल रत्न हैं। वे जो कुछ लिखते हैं अधिकतया अच्छा ही होता है। किन्तु जो दूसरी श्रेणी के हैं उन्हें उस पर्व की प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब विचार-धारा उनके हृदय-स्थल में उमड़ने लगे। जब तक वे उस धारा के निकट न पहुँचेंगे तब तक उत्तम रचना न कर सकेंगे। अतएव उत्तम रचना के लिए उन्हें पर्व-काल की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। पर्व-काल निकट आने के प्रथम ही यदि तक़ाज़ों से ऊब कर वे कुछ लिख देंगे तो वह उनके अनुरूप न होगा। अतएव अपने नाम की रक्षा के लिए (क्योंकि प्रसिद्ध लेखक का नाम देख पाठक पहले उसी की रचना पढ़ना चाहता है और यदि हताश हुआ तो कुढ़ कर रह जाता है), उस कला की सम्मान-रक्षा के लिए और पाठकों के उपकार के लिए भी वे उतना ही लिखें जो कि सचमुच में वही हो जो समझ कर उन्होंने लिखा है। यह नहीं कि "विनायकं प्रकुर्वाणः रचयामास वानरम्।"

आख्यायिकायें पत्रों में इसलिए छापी जाती हैं कि गम्भीर लेख पढ़ने से जब पाठक ऊब जायँ, कठिन विषय पढ़ने में जब उनका मन न लगे तब चूरन-चटनी का काम आख्यायिकाएँ दे दें। फिर तबीअत बदले और नये लेख पढ़ने को उनका चित्त तैयार हो जाय। आख्यायिका में यदि यह विशेषता न हो, पढ़नेवाले का यदि उससे विनोद न हो, अन्यान्य विषयों के जटिल लेख पढ़ने में उसे जिस तरह सिर खपाना पड़ता है वही हाल यदि कहानी पढ़ने में हुआ तब तो कहानी का उद्देश ही विफल होगया। सङ्गीत यदि उचाटन का काम करने लग गया तब उसे सङ्गीत कैसे कहा जायगा। उसका काम तो थके हुए और उलझे हुए को विश्राम देना और ख़ुश करना होना चाहिए।

कुछ लोग समझते हैं कि "उँह, कहानी लिखना क्या बड़ी बात है। (Light-Literature) महत्त्व का विषय नहीं।" इस धारणा को हृदय में स्थान देने से जो आख्यायिका लिखने बैठेगा उसकी कृति को शायद ही यशःप्राप्ति हो। सुकुमार हर तरह से सुकुमार है। उसकी रक्षा के लिए बड़ी सावधानी चाहिए। हो सकता है कि कोई घटना नज़रों में जम जाने पर लिखी गई कहानी पूरे बाँवन तोले ठीक उतरे, पर ऐसा हर बार नहीं हो सकता। अधिकांश ऐसा होता है कि आख्यायिका का मसाला मिल गया, परन्तु कहानी नहीं जमती, उसको जमाने के लिए लेखक को कुछ अपनी ओर से मिलाना पड़ता है, घटना के किसी अंश को कहीं से कहीं हटा कर ले जाना पड़ता है और किसी अंश को बिलकुल निकाल कर उसके स्थान पर कोई नया अंश सन्निविष्ट कर देना पड़ता है। ऐसा करने पर ही आख्यायिका-महल बन कर तैयार होता है। जिस व्यक्ति को यह युक्ति सिद्ध है उसकी प्रायः सभी कहानियों में लोच रहता है और जिसे यह युक्ति सिद्ध नहीं, बल्कि उसके बिना जाने ही कभी कभी वह युक्ति सहायता दे देती है उसकी लिखी कोई कहानी मजेदार हो जाती है और कोई ऐसी हो जाती है कि पढ़नेवाला कोसने पर उतारू हो जाता है।

कुछ लोग आख्यायिका-लेखक से उपदेशक का काम लेना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि कहानी रोचक भी हो और कुछ नसीहत भी दे जाय। यह नहीं कि उसके पढ़ने से थोड़ी देर के लिए "ही ही हू हू" हो और पढ़नेवाले

को उसके पढ़ने का कुछ बदला न मिले। यह राय बिलकुल बुरी नहीं मानी जा सकती। पर ऐसे लोगों को यह भी सोचना चाहिए कि कहानी लिखनेवाले का आसन अन्यत्र है और उपदेशकजी का अन्यत्र। आख्यायिका-लेखक अपने जी में यह ठान कर कहानी लिखने न बैठे कि मैं कुछ उपदेश दिये बिना न रहूँगा। कहानी के सिलसिले में यदि स्वाभाविक रूप से कुछ उपदेश दे दिया जाय तो बहुत अच्छा, पर उसे अपने उद्देश का सर्वथा स्मरण रखना चाहिए, इससे चूका कि गया। फिर कहानी किरकिरी होने में रत्ती भर भी कसर न रह जायगी। यह काम बड़ा कठिन है। बँगला में बाबू प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की आख्यायिकाओं में यह बात पाई जाती है। वे इस ढँग से चुटकी लेते हैं, ऐसी अनोखी रीति से आक्षेप करते हैं कि तारीफ़ करते ही बनती है। स्वाभाविकता में रत्ती भर भी अन्तर नहीं पड़ता, लेखक अपना काम कर देते हैं और पाठक को अन्त में पता लगता है कि ओहो—यह बात कह गये। वास्तव में ऐसी कहानी बहुत दुर्लभ और मूल्यवान् है जो मनोरञ्जन करते करते हृदय पर अपना कुछ प्रभाव छोड़ जाय।

'ललन'

३—ख़ाँ बहादुर डाक्टर एन० एच० चोक्सी।

डाक्टर एन० एच० चोक्सी इस देश के उन कर्तव्य-परायण डाक्टरों में हैं जिनकी क़द्र अपने देश में कुछ भी नहीं हुई। इन्होंने सन् १८८४ में एल० एम० और एस की सनद प्राप्त की थी। परीक्षा में ये सर्व-प्रथम उत्तीर्ण हुए थे और इन्हें सर जमसेदजी जीजी भाई नाम का सुवर्ण-पदक भी मिला था। इसी साल ये Anatowmy, Materia Medica और Hotany के सहायक प्रोफ़ेसर नियुक्त किये गये। इस पद पर दो वर्ष तक रह कर इन्होंने अपना कार्य बड़ी योग्यता से सम्पन्न किया। संक्रामक रोगों में विशेष अनुभव रखने के कारण बम्बई सरकार ने इनको सन् १८८८ में ग्रान्ट रोड स्माल-पाक्स हास्पिटल में नियुक्त कर दिया। तदनन्तर ये सन् १८९० में मटुङ्गा के कुष्टाश्रम में बुला लिये गये। यहाँ इन्होंने सात वर्ष तक कुष्टरोगियों की चिकित्सा का कार्य बड़ी ख़ूबी के साथ किया।

जब सन् १८९६ में बम्बई में प्लेग का भीषण प्रकोप पहले पहल हुआ था उस समय वहाँ आर्थर रोड हास्पिटल नाम का एक-मात्र सार्वजनिक अस्पताल था। इस नई बला की चिकित्सा का ज्ञान भी किसी डाक्टर को नहीं था। जब इस नये रोग के आक्रमण से नित्य प्रति हज़ारों की संख्या में लोगों की मृत्यु होने लगी तब डाक्टर चोक्सी ही ने पूर्वोक्त अस्पताल में आकर इस नये रोग से आक्रान्त रोगियों की चिकित्सा का भार ग्रहण किया। रोग की वास्तविक चिकित्सा का ज्ञान न होने के कारण अस्पताल में भी रोगियों की मृत्यु निर्बाध रूप से होने लगी। इसके सिवा नगर में यह प्रवाद भी फैल गया कि स्वयं डाक्टर चोक्सी और उनके सहायक रोगियों को मार डालते हैं जिसमें उन्हें उनकी सेवा-सुश्रूषा न करनी पड़े। इस तरह के और भी कई एक प्रवादों के फैल जाने से बम्बई में दो एक जगह उपद्रव भी हो गये। चोक्सी साहब की जान भी ख़तरे में समझी जाने लगी, पर ये किसी प्रकार भयभीत न हुए। न तो प्लेग के रोगियों के संसर्ग से इन्हें अपने प्राणों की चिन्ता हुई और न दुष्टों के प्रवाद से ही ये ज़रा भी विचलित हुए। ये बराबर अपने काम पर डटे रहे। अपनी शक्ति भर रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करने में ज़रा भी कसर न होने दी। सरकार ने इनकी रक्षा के लिए सैनिक नियुक्त कर दिये थे जो इन्हें घर पहुँचा आते थे। इसके सिवा अस्पताल भी कुछ समय तक सैनिकों और बाद को जङ्गी पुलिस की संरक्षा में रक्खा गया। अपने प्राण जोखिम में डाल कर इन्होंने लगातार पाँच वर्ष तक प्लेग के रोगियों की चिकित्सा करके अपने कर्तव्य पालन और साहस ही का परिचय नहीं दिया, किन्तु भारी आत्म-त्याग का भी।

बम्बई के प्लेग की भीषणता की ख़बर जब देश-देशान्तरों में हुई तब फ्रान्स, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली, रूस, तुर्की और मिस्र के मिशन तथा प्रतिनिधि इस भयङ्कर महामारी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बम्बई आये। इन लोगों को इस रोग-सम्बन्धी ज्ञातव्य बातें डाक्टर चोक्सी ही से मालूम हो सकीं। इस तरह इनका परिचय देश-देशान्तरों से आये हुए अनेक ख्यातनामा डाक्टरों से हो गया। इन लोगों ने डाक्टर चोक्सी की कार्य-दक्षता तथा आत्म-त्याग की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की। सरकार ने भी

इनके काम से खुश होकर इन्हें असिस्टेन्ट हेल्थ आफ़िसर बना दिया और सन् १८९७ में ख़ाँ बहादुर की पदवी भी प्रदान की।

सन् १८९७ से लेकर अब तक डाक्टर चोक्सी को २९ बार प्लेग, १६ बार चेचक, १३ बार साङ्घातिक ज्वर, ६ बार हैज़ा और ३ बार इन्फ़्लुएन्ज़ा ज्वर के भयङ्कर प्रकोप का सामना करना पड़ा है। इन्होंने प्रत्येक समय अपने प्राणों की ममता छोड़ कर अपने कर्तव्य का पालन किया। यहाँ तक कि ये अपने कार्य-काल में एक दिन के लिए भी कभी ग़ैरहाज़िर नहीं हुए। युद्ध के समय इन्होंने संक्रामक रोगों से पीड़ित १६०० रोगियों की चिकित्सा की। इस तरह ३४ वर्ष तक लगातार चिकित्सा-विभाग में वीरता के साथ काम करके इन्होंने गत महीने में अवसर ग्रहण किया है।

डाक्टर चोक्सी की जितनी प्रसिद्धि पाश्चात्य देशों में है उतनी यहाँ नहीं। गुण की क़द्र अब इस देश में नहीं होती। वायना, म्यूनिच, फ़्लोरेंस और अमरीका की वैज्ञानिक सभाओं ने इन्हें अपना फेलो और सदस्य बनाया। फ़्रीब की यूनीवर्सिटी ने इन्हें एम० डी० (M. D. Honoris Causa) की पदवी प्रदान की। भारत में यह पदवी अभी तक किसी को नहीं प्राप्त हुई। फ़्रांस के प्रेसीडेन्ट और इटली के बादशाह ने भी इन्हें पदवियों से विभूषित किया। जब इटली के बादशाह ने इन्हें Chevalier of the Crowu of Ilary की पदवी प्रदान की थी तब उसके उपलक्ष्य में बम्बई की जनता की ओर से इन्हें एक सार्वजनिक भोज देने की उदारता दिखाई गई थी। जर्मनी, आस्ट्रिया और बवेरिया की सरकारों ने भी इन्हें पदवियाँ प्रदान करने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु उन्हें इस बात की सूचना दे दी गई कि उन पदवियों के ग्रहण करने के अधिकारी अँगरेज़ी प्रजा नहीं है।

४—रेलवे विभाग में चोरी।

रेल गाड़ियों में तीसरे दर्जे के यात्रियों को जो कष्ट झेलना पड़ता है और उनका माल-असबाब जिस तरह चोरी चला जाता है उसे कोई पूछनेवाला नहीं। पर जब उस माल-असबाब की चोरी अधिक परिमाण में होने लगी जिसके लिए रेलवे कम्पनी को हर्जाना देना पड़ता है तब इसके जाँच का विचार सूझा। तदनुसार एक जाँच-कमेटी क़ायम हुई। इसकी रिपोर्ट पढ़ने से पता लग जाता है कि इस विभाग में चोरों की कितनी वृद्धि होगई है। रिपोर्ट में लिखा है कि अवध एण्ड रुहेलखण्ड रेलवे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करती है कि जो ताज़े फलों के पारसल इस रेल-द्वारा भेजे जाते हैं उनमें से एक भी मिलनेवाले के पास ज्यों का त्यों नहीं पहुँच पाता। बीच ही में बनारस के लँगड़े आम, इलाहाबाद के अमरूद, लखनऊ के ख़रबूज़े इत्यादि फलों की पिटारियाँ ख़ाली हो जाती हैं। रिपोर्ट में बताया गया है कि पिछले दस वर्ष में हर्जाने के जो दावे रेल कम्पनियों के ऊपर किये गये हैं उनकी संख्या बे-तरह बढ़ी है। जहाँ पहले एक वर्ष में कुल रेलवे कम्पनियों को हर्जाने में १२ लाख रुपये देने पड़े थे वहाँ उन्हें अब ७० लाख रुपये देने पड़े हैं। इससे इस बात का बहुत कुछ अन्दाज़ लग सकता है कि रेलवे विभाग में कैसी अन्धाधुन्धी मची हुई है और सर्व-साधारण को कितनी हानि और कष्ट झेलने पड़ते हैं। जाँच से पता लगा है कि फल, तरकारी और मछलियों के पार्सल मुश्किल से एक फ़ी सदी के हिसाब से अपने ठिकाने पहुँच पाते हैं। लोग बीच ही में सबका सब ग़ायब कर देते हैं। मैसूर चैम्बर आव कामर्स की शिकायत है कि कोयले के प्रत्येक चलान का अधिकांश भाग स्त्रियाँ तक उड़ा ले जाती हैं। वे खुले-आम अपनी टोकरियों में कोयला भर ले जाती हैं, कोई कुछ कहता सुनता नहीं। इन्डियन टी असोशिएशन ने अपने कुलियों के लिए चावल मँगाये थे। २० प्रति सैकड़ा के हिसाब से चावल बीच ही में चोरी चले गये। आसनसोल में ६०० मन कोयला रोज़ चोरी जाता है। गत वर्ष केवल ईस्ट इन्डियन रेलवे से लगभग २॥ लाख गैलन मिट्टी का तेल ग़ायब हो गया। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे रेलवे की चोरी की भीषणता का पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है। कमेटी ने हिसाब लगा कर बताया है कि भारतीय रेलवे में माल की जो चोरी होती है वह लगभग एक करोड़ रुपये तक पहुँच जाती है। और जो लोग यह चोरी करते हैं उनकी संख्या भी लाखों की रहती है।

जाँच-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इन चोरियों का दोष रेलवे कम्पनियों पर थोपा है। उसने लिखा है कि माल की

रक्षा का न तो गुदामों में ही समुचित प्रबन्ध रहता है और न गाड़ियों ही में। इस सम्बन्ध में उसने अनेक बारीकियाँ खोज निकाली हैं और तदनुसार गाड़ियों और गुदामों में रक्षा का प्रबन्ध करने की सलाह भी दी है। उसने रेलवे के निम्न कर्मचारियों पर भी दोषारोपण किया है और कहा है कि इस ओर रेलवे पुलिस ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया है। जिन सुधारों के प्रयोग में लाने की शिफ़ारिश कमेटी ने की है उनको उपयोग में लाने से रेलवे कम्पनी को तो लाभ होवेहीगा, पर माल भेजनेवालों को भी विशेष लाभ होगा। उनके माल की चोरी कम होगी और वे रेलवे कम्पनी से हर्जाना वसूल करने की दिक्कत से भी बचेंगे।

५—एक हज़ार वर्ष की एक प्राचीन मूर्ति।

बम्बई सूबे में शोलापुर नाम का एक प्राचीन नगर है। जब यह स्थान आदिलशाही घराने के संस्थापक अली आदिल शाह प्रथम के क़ब्ज़े में आगया तब उसने वहाँ एक क़िला बनवाने की इजाज़त दी। क़िला बनाने के लिए जो स्थान चुना गया था उसमें संयोगवश एक प्राचीन मन्दिर पड़ गया। अतएव उसे नष्ट न कर क़िला उसी के ऊपर बना दिया गया और वह मन्दिर अभी तक उसी दशा में पड़ा रहा है। बम्बई के गवर्नर सर लायड जार्ज कुछ समय हुआ शोलापुर गये थे। क़िला देखने के बाद उन्होंने पुरातत्त्व-विभाग को पूर्वोक्त मन्दिर खोद निकालने का आदेश दिया। तदनुसार खुदाई का काम जारी हुआ।

शोलापुर के मल्लिकार्जुन मन्दिर में प्राप्त शिव-पारषद की मूर्ति।

खोदे जाने पर पूर्वोक्त मन्दिर ज्यों का त्यों निकला है। इसका द्वार पूर्व ओर है और देवता का मुख भी उसी दिशा को है। मन्दिर की कारीगरी का काम सब प्रकार से दर्शनीय है। इसकी बनावट चालूक्य राजाओं के समय की मालूम पड़ती है। यह मल्लिकार्जुन का मन्दिर है। मालूम होता है, यह लगभग १००० वर्ष पहले बना होगा। इसकी खुदाई के समय एक बड़ी भारी मूर्ति मिली है। किन्तु बीच से इसके दो खण्ड हो गये हैं। इसके सिवा और कोई अङ्ग भग्न नहीं है। यह ६ फ़ुट और ६ इञ्च ऊँची है। इसके चार भुजा हैं और यह ; दुभी, गदा और त्रिशूल धारण किये हुए है। जब यह मूर्त्ति मिली थी उस समय इसके गले में मनुष्य की खोपड़ियों की एक माला पड़ी हुई थी। इस मूर्ति की बनावट बहुत ही सुन्दर है। इसके आभूषण तथा अङ्ग खूब सफ़ाई और कारीगरी के साथ तराशे गये हैं।

६—आस्ट्रेलिया का व्यवसाई बेड़ा।

योरपीय महायुद्ध के समय आस्ट्रेलिया की सरकार ने व्यापारी जहाज़ों का एक बेड़ा बनाना शुरू किया

था। अपने इस उद्योग में पूर्वोक्त सरकार को सफलता प्राप्त हुई। उसने पाँच हज़ार से छः हज़ार टन वज़न तक के लोहे के नौ जहाज़ बना लिये हैं। अभी और ऐसे ही आठ जहाज़ बन रहे हैं। इनके बन जाने पर यह काम बन्द कर दिया जायगा। इस कार्य में लगभग १,८०,००० पौंड ख़र्च हुए हैं। इस तरह आस्ट्रेलिया सरकार के पास उसका एक निज का छोटा मोटा व्यापारी बेड़ा हो गया। राष्ट्रों की उन्नतिशीलता के यही शुभ लक्षण हैं। ग़रीब भारत में ऐसा सामर्थ्य कहाँ था जो वह भी इस अवसर से लाभ उठाता और उसके भी एक ऐसा ही छोटा-मोटा व्यापारी बेड़ा हो जाता। अभी मुग़लों के शासन-काल तक भारतीय जहाज़ बनाने की कला में भली भाँति निपुण थे। इसके पहले तो भारतीयों ही के हाथ में भारत महासागर और अरब सागर का सारा व्यापार था। यह स्मरण कर अपनी अवनति का अन्दाज़ हमें भली भाँति हो जाता है।

पुस्तक-परिचय।

१—सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय का महाभारत—हिन्दूधर्म्म में दान की बड़ी महिमा है। दान कहते हैं श्रद्धा-पूर्वक दे डालने को। अन्नदान, धनदान, भूमिदान, ज्ञानदान—इत्यादि अनेक वस्तुओं का दान दिया जा सकता है। जिसे जिस वस्तु की विशेष आवश्यकता है उसे उसका दान देना अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है। जिसके पास जिस चीज़ की कमी नहीं उसे उसको देना, कोई अच्छा दान नहीं। या जो जिस चीज़ की क़द्र न करे या उसका सदुपयोग न करे उसे भी उस चीज़ का दान देना व्यर्थ नहीं तो अनुचित अवश्य है। इसी से शास्त्रकारों ने दान के विधान में पात्र और कुपात्र के निर्णय पर बहुत ज़ोर दिया है। भूखे के लिए अन्न, निर्धन के लिए धन और अज्ञानी के लिए ज्ञान का दान ही प्रकृत दान है। ऐसे ही लोग दान के पात्र समझे जाते हैं। इसी से गीता में लिखा है—दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्। जो लोग पाठशालायें, मकतब, मदरसे, स्कूल, कालेज आदि खोलते और उन्हें अपने ख़र्च से चलाते हैं वे बहुत बड़ा ज्ञानदान करते हैं। इसी तरह मुनाफ़े की—स्वार्थ-साधन की—इच्छा से नहीं, किन्तु लोक-कल्याण की इच्छा से जो लोग पुस्तक-प्रणयन और पुस्तक-प्रकाशन करते हैं वे भी बहुत बड़ा ज्ञान-दान करते हैं। जिस सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय की कितनी ही गुजराती पुस्तकों की समालोचना सरस्वती में छप चुकी है वह भी, इस ज़माने में, ज्ञान का ख़ूब दान कर रहा है। उसकी प्रकाशित पुस्तकों के पाठ से हज़ारों आदमियों का मनोरञ्जन और ज्ञान-वर्धन हो रहा है। वह यद्यपि अपनी पुस्तकों का मूल्य लेता है तथापि वह मूल्य इतना कम होता है कि उसका यह काम दान की सीमा के भीतर आ जाता है। जिस पुस्तक का मूल्य और दुकानदार या प्रकाशक ६) लें उसे यदि कोई तीन ही रुपये पर बेच दे तो मानों उसने ३) पाठकों को दान कर दिये। ये तीन रुपये भी वह यदि सिर्फ़ इसलिए वसूल करे कि उनसे आगे और भी ज्ञानदान में वह समर्थ हो तो उसके दान की महिमा और भी अधिक हो जाय। पूर्वोक्त कार्य्यालय इसी प्रकार का सात्विक दानी है। उसके सूत्रधार भिक्षु अखण्डानन्द संसार-त्यागी संन्यासी हैं। उनके आश्रम-धर्म्म की आज्ञा है कि उनका शरीर लोकहित करने ही के लिए है। और लोकहित, गेरुए वस्त्र धारण करके, शरीर को परान्नपुष्ट करने से नहीं होता। जिनके अन्न से संन्यासियों के शरीर की रक्षा और उसकी पुष्टि होती है उनको सदुपदेश देने और उनकी ज्ञान-वृद्धि के साधन सुलभ करने से होता है। धन्य हैं स्वामी अखण्डानन्द को जो अपने इस आश्रम-धर्म्म का तत्त्व अच्छी तरह समझ कर, सुलभ-पुस्तक-प्रचार द्वारा, गुजराती भाषा जाननेवालों के ज्ञान की वृद्धि आज अनेक वर्षों से कर रहे हैं और कुछ स्वार्थ-परायण लोगों के कुटिल कटाक्ष-पात की परवा न करके अपने परार्थ-साधक कार्य्य में सतत लगे हुए हैं।

यह कार्य्यालय आज तक भिन्न भिन्न विषयों की दरजनों पुस्तकें प्रकाशित कर चुका है। इसकी बदौलत श्रीमद्भागवत, देवी भागवत, योगवाशिष्ठ आदि ग्रन्थों के गुजराती-अनुवाद कौड़ी मोल बिक रहे हैं। इसने महाभारत के सदृश महिमामय और ज्ञानगुरु ग्रन्थ के शान्ति-पर्व का अनुवाद बहुत पहले ही प्रकाशित किया था। अब दो और पर्वों का अनुवाद भी उसने छपा कर सुलभ कर दिया है। ये दो पर्व हैं आदि-पर्व और सभा-पर्व। दोनों एक ही जिल्द में हैं। आकार ख़ूब बड़ा, काग़ज़ मोटा और

टाइप स्थूल है। पृष्ठ-संख्या ६०० के लगभग है। पुस्तक पर मज़बूत जिल्द चढ़ी है। भीतर दो एक चित्र भी हैं। इतना सब होने पर भी मूल्य केवल २॥।) है। यह गुजराती-अनुवाद श्रीयुत करुणाशङ्कर भानुशङ्कर शास्त्री का किया हुआ है। हर पृष्ठ में दो कालम (स्तम्भ) हैं और हर अध्याय का प्रथम श्लोक, संस्कृत में, ज्यों का त्यों छाप दिया गया है। इन श्लोकों के प्रूफ़ देखने में ज़रा सी असावधानी होगई है। क्योंकि कहीं कहीं उनका ठीक ठीक पदच्छेद नहीं हुआ और यत्र तत्र भूलें भी रह गई हैं। यथा पृष्ठ २१७ में "वक्तु" का "वक्तं" और पृष्ठ २१९ में "विद्धि" का "विद्वि" छप गया है। पर इससे पाठकों की कुछ भी हानि नहीं। क्योंकि अनुवाद ठीक हुआ है और मूल का भाव बड़ी सुन्दर और सरल भाषा में व्यक्त किया गया है। कालबादेवी रोड, बम्बई, के पते पर इस कार्य्यालय के प्रबन्धकर्ता को लिखने से यह पुस्तक मिल सकती है।

जिन लोगों की मातृभाषा हिन्दी है उनमें अनेक लखपती और शायद कुछ करोड़पती भी होंगे। पर उनमें से किसी में भी एक भिखारी (भिक्षु) संन्यासी का जितना भी उद्योग, उत्साह, त्याग, परोपकार-साधन-भाव नहीं मालूम होता। होता तो ज्ञानदान की महिमा की प्रेरणा से, हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन के लिए भी, सस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्य्यालय के सदृश कोई कार्य्यालय भारत में कहीं अवश्य ही खुल जाता।

※

२—संवाद-गुच्छ, प्रथम पुष्प—इसकी भाषा गुजराती; आकार मँझोला; छपाई, काग़ज़ और जिल्द मनोमोहक; मूल्य २॥।) है। इसे गोविन्दभाई हरिभाई पटेल ने लिखा है और भाईलाल भाई खुशाल भाई पटेल ने कलकत्ते में छपा कर प्रकाशित किया है। मिलने का पता पुस्तक पर नहीं। पुस्तक की भाषा सरस और सालङ्कार है। लेखक ने इसकी रचना विशेष विचार-पूर्वक की है। इसमें २१ संवाद या अध्याय हैं। संवाद यद्यपि काल्पनिक हैं, तथापि बिलकुल ही निराधार नहीं। दो ऐतिहासिक अथवा पौराणिक व्यक्तियों के कथोपकथन का आश्रय लेकर वे लिखे गये हैं। यथा—कर्ण और कृष्ण, सुनीती और ध्रुव, कृष्ण और सुदामा, सिकन्दर और पोरस, राम और हनुमान्, रामदास और शिवाजी इत्यादि। इन संवादों में लेखक ने बड़े ही उदात्त विचारों का प्रकटीकरण किया है। विचारों का व्यक्तीकरण तद्विषयक पात्रों के सम्बन्ध के अनुरूप है। लेखक के कथन का सारांश है कि मानव-जीवन का केन्द्र उसी का हृदय है। उसका योग्य विकास होने से वही स्थूल विश्व के सूक्ष्म जीवन का केन्द्र हो जाता है। बात यह कि हृदय ही आत्मा का स्थान, सत्य का सिंहासन और प्रेम का आश्रम है। आश्रम के अनुसार उसी के भिन्न भिन्न सात्त्विक विकासों का वर्णन इस पुस्तक में है।

※

३—Political Gita or Philosophd of Life—इस छोटे आकार की पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २१६ है। इसे श्रीयुत यदीलाल मोतीलाल, घाटकोपर, बम्बई ने लिख कर अँगरेज़ी में प्रकाशित किया है। और शायद संसार के विचारशील विद्वानों को वितरण करने के ही लिए इसका प्रकाशन भी हुआ है। इसमें लेखक ने संसार की राजनीति पर साधारण रूप में प्रकाश डाला है, किन्तु भारत की राजनीति की चर्चा विशेष रूप से की है। लेखक ने लिखा है कि मैं किसी राजनैतिक संस्था का सदस्य न पहले ही कभी था और न इसी समय हूँ। एकान्तवास सेवन करके सतत आत्मचिन्तन द्वारा जो अनुभव मुझे हुआ है उसी को मैंने इस पुस्तक में व्यक्त किया है। पुस्तक दार्शनिक ढँग से लिखी गई है और लेखक के हृद्गत विचारों का वह चित्र है।

इस पुस्तक में शान्ति-पूर्ण असहयोग आन्दोलन और महात्मा गान्धी की ख़ूब प्रशंसा है। यही नहीं महात्मा गान्धी एक प्रकार से परमेश्वर के अवतार सिद्ध किये गये हैं और उनका असहयोग आन्दोलन अप्रतिम और अभूतपूर्व ठहराया गया है। लेखक ने अपने विचार ऐसे ढँग से व्यक्त किये हैं कि उनका प्रभाव मन पर ख़ूब पड़ता है। पुस्तक मनन करने लायक़ है। मूल्य नहीं लिखा है। शायद लेखक को ही लिखने से पुस्तक मिलती है।

※

४—राष्ट्र-सञ्जीवनी ग्रन्थमाला के तीन पुष्प—लेखक और प्रकाशक पण्डित प्राणनाथ विद्यालङ्कार, मानमन्दिर, बनारस।

(१) भारतीय किसान—इसमें यह बताया गया है कि भारत के निवासी भिन्न भिन्न पेशों को छोड़ कर किस प्रकार खेती द्वारा अपना भरण-पोषण करने को बाध्य हुए हैं। यह बात सिद्ध करने के लिए उपसंहार में 'अङ्कों' की जो आठ सूचियाँ दी गई हैं वे महत्त्वपूर्ण हैं। इसका मूल्य ≡)॥ है।

(२) किसानों पर अत्याचार—इस पुस्तिका में यह बताया गया है कि किसानों से लगान लेना पाप है। इसके सिवा तअल्लुक़ेदार तथा सरकारी कर्मचारी किसानों से जो तरह तरह के नज़राने और बेगार आदि लेते हैं उनका संक्षेप में पूरा विवरण इस ट्रैक्ट में लिख दिया गया है। मूल्य।-) है।

(३) किसानों का अधिकार—इस ट्रैक्ट में यह बताया गया है कि किसानों का भूमि पर स्वत्व है और उन्हें उसका लगान किस तरह देना चाहिए। इसके बाद योरप के भिन्न भिन्न देशों के कृषकों की दशा का संक्षेप में वर्णन किया गया है। मूल्य।)॥ है।

ये तीनों ट्रैक्ट बहुत अच्छे ढँग से लिखे गये हैं और देश-काल के अनुरूप हैं।

❁

५—भाषा-रत्नाकर पहला और दूसरा भाग—प्रकाशक, उत्तमचन्द कपूर एण्ड सन्स, (बुकसेलर्स, पबलिशर्स), अनारकली, लाहोर। दोनों भाग सजिल्द हैं। पहले भाग की पृष्ठ-संख्या १९३ है और दूसरे की २४४ है। मूल्य किसी पुस्तक पर नहीं लिखा है। शायद ये पुस्तकें प्रकाशक ही को लिखने से मिल सकेंगी।

उपर्युक्त पुस्तकें स्कूलों में पढ़ाई जाने के लिए तैयार की गई हैं। इनकी भूमिका में लिखा गया है कि जो पुस्तकें संयुक्त-प्रान्त, मध्य प्रदेश और बिहार में पढ़ाई जाती हैं उन सबमें कुछ न कुछ कमी ज़रूर रह गई है। अतएव ऐसी ही 'क्षतियों' को दूर करने के लिए ये पुस्तकें लिखी गई हैं। इनको लिख कर न मालूम किसने 'सरस्वती' तथा कतिपय अन्य पत्रों और विद्वानों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की है। क्योंकि इनकी रचना में यही काम आये हैं। अर्थात् इन पुस्तकों का अधिकांश भाग सङ्कलित है और जो लेख उद्धृत नहीं हैं वे भी सरस्वती या कतिपय पत्रों में प्रकाशित लेखों के रूपान्तर-मात्र हैं। परन्तु खेद है कि इस सम्बन्ध में भूमिका में कुछ भी नहीं लिखा गया। अस्तु।

भाषा रत्नाकर के पहले भाग में कुल ३१ लेख हैं। इनमें १८ लेख पद्य-भाग में हैं जिनमें ८ जीवन-चरित हैं और शेष १० लेखों में ३ वैज्ञानिक और ७ लेख विविध विषय-सम्बन्धी हैं। गम्भीर लेखों के चुनाव से मालूम होता है कि पुस्तक ऊँचे दर्जों के लिए लिखी गई है। परन्तु अनेक उपयोगी विषय-सम्बन्धी लेख रह गये हैं। ऐतिहासिक और भौगोलिक लेखों का अभाव बहुत खटकता है। सदाचार-सम्बन्धी लेखों की भी उपेक्षा की गई है। यदि जीवन-चरित कम कर दिये जाते और दूसरे विषयों के लेख बढ़ा दिये जाते तो पुस्तक और भी उपयोगी होती। इसका पद्य भाग भी बहुत सुन्दर है। यही हाल दूसरे भाग का भी है।

पुस्तक का कागज़ और छपाई सुन्दर है। प्रत्येक लेख सचित्र हैं। अनेक लेख रङ्गीन चित्रों से सुशोभित किये गये हैं। कई एक लेखों में दो दो तीन तीन चित्र तथा नक़्शे देकर पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने का ख़ासा प्रयत्न किया गया है। भाषा साफ़ और सुन्दर है। परन्तु छापे की भूलें इनमें बिलकुल न होनी चाहिए थीं। प्रूफ़ देखने में असावधानी हुई है परन्तु भूमिका की 'क्षतियों' की भाँति कहीं कहीं पञ्जाबीपन दिखाने की कोशिश जान-बूझ कर की गई है। एक जगह 'तार आये' छपा था। वहाँ 'तारें आईं' पीछे से काट कर बनाया गया है। यह सब कुछ होने पर भी पुस्तक उपयोगी है।

चित्र-परिचय।

प्रतीक्षा।

सरस्वती के इस अङ्क में 'प्रतीक्षा' नामक जो चित्र प्रकाशित हुआ है वह प्रोषितभर्तृका नायिका का है। चित्रकार ने इस नायिका का भाव व्यक्त करने में देश-काल का भी ध्यान रक्खा है।

Printed and Published by Apurva Krishna Bose, at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

इन्हें नाटक की अपेक्षा तमाशा ही कहना ठीक होगा। वहाँ नाट्य-कला को उच्च दिशा दिखानेवाले श्रीअण्णा साहब किर्लोस्कर थे। महाराष्ट्र के आदि-नाटककार विष्णुपन्त भावे माने जाते हैं, परन्तु उनके नाटक न तो खेले जाते हैं और न वे प्रसिद्ध ही हैं। श्रीअण्णा साहब किर्लोस्कर ने "किर्लोस्कर-सङ्गीत-मण्डली" की स्थापना की और 'शाकुन्तल' और 'सौभद्र' ये दो नाटक खेले। उनके सौभाग्य से या महाराष्ट्रीय रङ्ग-भूमि देवता की कृपा से उन्हें भाऊ राव कोल्हटकर सदृश कुशल तथा गान-पटु नट भी मिल गये। स्वर्गीय भाऊराव कोल्हटकर का स्वर्गवास हुए कई वर्ष बीत गये, परन्तु महाराष्ट्र अब तक उन्हें नहीं भूला। स्त्री की भूमिका आप बहुत सुन्दर रीति से करते थे। जब स्वर्गीय अण्णा साहब किर्लोस्कर सदृश नाटककार और स्वर्गीय भाऊराव कोल्हटकर सदृश अद्वितीय नट रङ्ग-भूमि पर चमकने लगे तब महाराष्ट्र के सुशिक्षित जनसमुदाय का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। बस तभी से महाराष्ट्र में नाट्यकला का विकाश आरम्भ हुआ। श्रीकृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर और श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर बी० ए०, एल०-एल० बी० सदृश विद्वान् नाटक लिखने लगे। इससे महाराष्ट्र का ध्यान और भी नाट्य-संस्था की ओर झुक गया।

श्रीकोल्हटकर महाराष्ट्र के प्रतिभा-सम्पन्न लेखक तथा टीकाकार हैं। इन्होंने सामाजिक विषय पर नाटक लिखे हैं। इस समय भी वे खेले जाते हैं। इनमें से मुख्य सङ्गीत मूकनायक, मतिविकार, गुप्तमञ्जूषा और जन्मरहस्य हैं। इनकी रचना में विनोद की पुट अधिक रहती है।

खाडिलकर भी महाराष्ट्र के प्रतिभाशाली लेखक हैं। इन्होंने पहले गद्यात्मक नाटक—जिनमें गाने नहीं होते—लिखना प्रारम्भ किया। पीछे से इन्होंने सङ्गीत नाटक भी लिखे। परन्तु आपके गद्य-नाटक सङ्गीत नाटकों की अपेक्षा अच्छे हैं। गद्य-नाटकों में 'कीचकवध,' 'मोहनी,' 'सवाई माधवराव की मृत्यु' और सङ्गीत नाटकों में 'मानापमान' तथा 'स्वयंवर' अच्छे नाटक हैं। 'कीचकवध' नाटक का खेला जाना सरकार ने बन्द कर दिया है। कोल्हटकर और खाडिलकर के समय में प्रसिद्ध नाटक-लेखक स्वर्गीय श्री-देवल भी थे। इनके नाटकों में स्वभाव का विकास ठीक तरह से होता है। इनके 'शारदा नाटक' ने महाराष्ट्र में बड़ा नाम कमाया।

महाराष्ट्र में नाटक के दो भेद हैं। एक सङ्गीत नाटक जिनमें गाने होते हैं और दूसरे गद्यात्मक नाटक। दो प्रकार की नाटक-कम्पनियाँ भी हैं। गद्यात्मक नाटक खेलनेवाली कम्पनियों में अभिनय विशेष अच्छी तरह से पाया जाता है। श्रीगणपतराव जोशी महाराष्ट्र के सर्वोत्तम नट हैं। ये गद्यात्मक नाटकों में ही अभिनय करते हैं। उनकी नाटक-मण्डली का नाम "शाहू नगरवासी नाटक-मण्डल" है। उनके अभिनय की प्रशंसा बड़े बड़े विद्वानों ने की है। वे आज-कल के नट-सम्राट् हैं। वे 'हेमलेट' की भूमिका बहुत अच्छी करते हैं। महाराष्ट्र के रजवाड़ों में से एक महाराज लन्दन गये थे। वहाँ उन्होंने 'हेमलेट' देखा। हेमलेट का काम वहाँ के सुप्रसिद्ध नट सर हर्बर्ट बीरवाम ट्री ने किया था। जब महाराज भारत लौटे तब उन्होंने गणपतराव को अपने घर बुला कर उनका अभिनय कराया। जोशीजी की 'हेमलेट' की भूमिका ट्री से उन्हें अधिक पसन्द आई।

बीसवीं सदी के प्रारम्भ से नाट्य-कला की वृद्धि शीघ्र होने लगी। अनेक नाटक-मण्डलियाँ स्थापित हुईं और अनेक नाटककार उत्पन्न हुए। स्वर्गीय भाऊराव कोल्हटकर की मृत्यु से इस सम्बन्ध में महाराष्ट्र की भारी हानि हुई, परन्तु सौभाग्य से इस समय महाराष्ट्र में उनकी बराबरी के दो नट नाट्य-रङ्ग-भूमि की शोभा बढ़ा रहे हैं।

इनमें से एक का नाम श्रीनारायण श्रीपाद राजहंस है। इन्हें बालगन्धर्व की पदवी मिली है। दूसरे का नाम श्री केशव विट्ठल भोंसले है। ये दोनों महाराष्ट्र के सङ्गीत-नट-रत्न हैं। बालगन्धर्व का स्वर अत्यन्त मधुर है और वे स्त्री की भूमिका अच्छी करते हैं। उनकी कम्पनी का नाम "गन्धर्व-नाटक-मण्डली" है।

श्री केशवराव भोंसले की कम्पनी का नाम "ललित-कलादर्श सङ्गीत नाटक-मण्डली है"। श्री भोंसले शास्त्र की रीति से गाते हैं। विशेषतः नाटक के गानेवाले ताल या गायन-शास्त्र की ओर नहीं देखते, परन्तु श्री भोंसले का गाना शास्त्र-सम्मत होता है। वे प्रतिभाशाली गायक हैं। वे स्त्री तथा पुरुष दोनों की भूमिका करते हैं। पहले वे 'शारदा नाटक' में 'शारदा' की भूमिका करते थे। उस समय वे एक "मूर्तिमंत

भीति उभी'—यह गाना गाते थे। इसे वे इतने मधुर स्वर में गाते थे कि लोग दस दस बार उसे फिर गाने के लिए आग्रह करते थे। लोग नाटक देखने नहीं, किन्तु वही गाना सुनने जाया करते थे। गत ७ जुलाई को बालगन्धर्व और भोंसले दोनों मिल कर 'मानापमान' नाटक खेलनेवाले थे। इसके पहले इन दोनों अद्वितीय नटों ने एक साथ मिल कर कभी अभिनय नहीं किया था, यह अपूर्व प्रसङ्ग था। सम्भवतः इस खेल की आमदनी पचीस तीस हज़ार से कम न हुई होगी।

नाटककार भी महाराष्ट्र में अनेक हुए। उनमें से मुख्य केलकर वाभणगाँवकर, जोशी, स्वर्गीय गडकरी कोल्हटकर विशेष उल्लेखयोग्य हैं।

केसरी के सम्पादक श्रीनरसिंह चिन्तामणि केलकर, बी० ए०, एल-एल० बी०, भी नाट्य-रङ्ग-देवता की उपासना करते हैं। इनका "तोतयाचें बंड" नाम का नाटक उत्तम है। वाभणगाँवकर कोल्हटकर के शिष्य हैं। इन्होंने 'धनुर्भङ्ग' और 'आत्मतेज' नामक दो सङ्गीत नाटक लिखे हैं।

वामनराव जोशी (जो आज-कल सरकार की क़ैद में हैं) ने अधिक नाटक नहीं लिखे। उनका एक ही नाटक प्रसिद्ध है और वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। वह नाटक "राक्षसी महत्त्वाकांक्षा" है। इसे श्री केशवराव भोंसले की 'ललित-कलादर्श नाटक-कम्पनी' खेलती है।

स्वर्गीय रामगणेश गडकरी महाराष्ट्र के प्रतिभासम्पन्न कवि, चतुर गद्य-लेखक तथा उच्च श्रेणी के नाटककार थे। इनकी मृत्यु सन् १९१९ में हुई। उस समय इनकी उम्र केवल पैंतीस वर्ष की थी। इनके नाटकों में काव्य-गङ्गा की विमल धारा बहती है और शुद्ध विनोद भी खूब रहता है। इनके चार नाटक—प्रेमसंन्यास, पुण्यप्रभाव, एकचप्याला और भावबन्धन—प्रसिद्ध हैं।

प्रेमसंन्यास गद्य है और उसे "महाराष्ट्र नाटक-मण्डली" खेलती है। उसमें हिन्दू-बाल-विधवाओं का करुणा-जनक चित्र चित्रित किया गया है। 'पुण्यप्रभाव' नाटक अनेक मण्डलियों में खेला जाता है। उसमें आर्य स्त्री के पातिव्रत का चित्र खींचा गया है। 'एकचप्याला' में मद्यपान के दुष्परिणाम का चित्र है। इस नाटक को बालगन्धर्व की "गन्धर्व-नाटक-मण्डली" खेलती है। बालगन्धर्व इस नाटक में 'सिन्धू' का काम अत्यन्त कुशलता के साथ करते हैं। श्री बोडस इस नाटक में "सुधाकर" का काम करते हैं। यह नाटक बहुत ही अच्छा है। भावबन्धन नाटक का कथानक एक अनोखे ढङ्ग का है। श्री० गडकरी के नाटक महाराष्ट्र में जितने लोकप्रिय हुए उतने और किसी के नहीं हुए। एकचप्याला नाटक की पाँच हज़ार पुस्तकें छः महीने में हाथों हाथ बिक गईं। श्री गडकरी की मृत्यु से महाराष्ट्र की रङ्गभूमि को भारी हानि हुई है।

महाराष्ट्र में सबसे पहली नाटक-कम्पनी "किर्लोस्कर सङ्गीत मण्डली" है। यह सन् १८८० में स्थापित हुई थी। इस नाटक-कम्पनी की पहले बड़ी ख्याति हुई, परन्तु अब वह वैसी नहीं रह गई है। श्री बालगन्धर्व जोगलेकर भाऊराव कोल्हटकर, बोडस, टेंबे सरीखे अद्वितीय नट उसी में थे। परन्तु इनमें से कुछ स्वर्गवासी हो गये, अतएव उस कम्पनी की वह स्थिति जाती रही। श्री बोडस भी एक उत्तम नट हैं। आज-कल वे बालगन्धर्व की कम्पनी में हैं।

इस समय महाराष्ट्र में कई एक सङ्गीत-नाटक-मण्डलियाँ और गद्यात्मक नाटक-मण्डलियाँ हैं। सङ्गीत में मुख्य मुख्य ये हैं:—"गन्धर्व-नाटक-मण्डली"—इसमें मुख्य नट बालगन्धर्व बोडस, और मास्टर कृष्णा हैं। ललित-कलादर्श नाटक-मण्डली—इसमें श्रीकेशवराव भोंसले हैं। इसके सिवा बलवन्त-सङ्गीत-मण्डल, यशवन्त-सङ्गीत-मण्डल, नूतन सङ्गीत-मण्डल इत्यादि नाटक-मण्डलियाँ भी प्रसिद्ध हैं।

गद्यात्मक नाटक-कम्पनी में मुख्य "शाहू नगरवासी नाटक-मण्डली" है। इसमें महाराष्ट्र के नट-रत्न श्री गणपतराव जोशी हैं। इसके सिवा 'महाराष्ट्र-नाटक-मण्डली' गणेश-नाटक-मण्डली, भारत-नाटक-मण्डली, लोकमान्य-नाटक-मण्डली इत्यादि गद्यात्मक नाटक-मण्डलियाँ महाराष्ट्र में हैं। यदि महाराष्ट्रीय नटों के दो विभाग किये जायँ तो पहले दर्जे के नटों में श्री जोशी, बालगन्धर्व, भोंसले, बोडस, पोतनीस हैं और दूसरे दर्जे के नट अनेक हैं। उनमें से नानबा गोखले, चिन्तोबा गांधी, कृष्णराव गोरे, कृष्णा, दीनानाथ, सवाई गन्धर्व, चिंतामणराव कोल्हटकर, टिपणीस प्रधान हैं। महाराष्ट्र में कई नट शिक्षा-प्राप्त हैं। इन्होंने मेट्रिक पास कर और कालेज छोड़ अपने अभिनय से

महाराष्ट्र रङ्ग-भूमि को उच्च पद प्राप्त कराया है। इनमें से मुख्य, श्री जोगलेकर, टेंबे, भागवत टिपणीस, कारखानिस हैं।

महाराष्ट्र रङ्ग-भूमि का अल्प परिचय करा देने की चेष्टा मैं कर चुका। विस्तारपूर्वक लिखा जाय तो उसके कई अङ्गों का विस्तारपूर्वक विवेचन हो सकता है। परन्तु केवल उसका संक्षेप में परिचय करा देना ही इस लेख का उद्देश है और वह पूर्ण हो चुका। महाराष्ट्र-नाट्य-भूमि की उन्नति अच्छी तरह हो रही है। रङ्ग-भूमि और नाट्य-साहित्य में महाराष्ट्र प्रान्त भारत के किसी भी प्रान्त से यदि बढ़ कर नहीं तो पीछे भी नहीं है। नाट्य-साहित्य भी हिन्दी में कम है और यहाँ की नाटक-कम्पनियाँ जो नाटक खेलती हैं उनसे समाज को बहुत कम लाभ पहुँचता है इस ओर हमारी राष्ट्र-भाषा के भक्तों का ध्यान नहीं जाता, यह शोक की बात है।

श्रीकृष्ण सदाशिव निगुडकर

जीवनी शक्ति।

क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा-
पञ्च रचित यह अधम शरीरा।

जिन महाशयों ने अक्टोबर १९२० ईसवी की संख्या में 'जीवन और जीवनी शक्ति' नामक लेख पढ़ने की कृपा की है उन्हें भली भाँति मालूम होगा कि मैंने रक्ताणुओं को एक में जुटे रखनेवाले जीवन-मूल (Protoplasm) के सूक्ष्म-तन्तुओं ही को जीवनी शक्ति माना है। उस लेख में यह बात दिखला दी गई है कि कमज़ोरी, बीमारी और मृत्यु इन्हीं तन्तुओं के कमज़ोर–अंशतः या बिलकुल नष्ट–हो जाने से होती है। शरीर-विज्ञान-रसायन (Physiological Chemistry) ने सिद्ध कर दिया है कि जीवन-मूल कुछ मूलतत्वों का रासायनिक सम्मेलन (Chemical Compound) है। जीवन-मूल के विभेदन (decomposition)—अर्थात् जीवधारियों की मृत्यु—के लिए ठीक वही नियम हैं जो अन्यान्य रासायनिक सम्मेलनों के लिए हैं। प्रायः सब प्रकार का रासायनिक विभेदन तापोत्पादक होता है, और ताप ही द्वारा उसका आरम्भ तथा वृद्धि होती है—ताप चाहे प्रकट हो या अप्रकट। प्रत्येक रासायनिक सम्मेलन के स्थायित्व के तापक्रम का मण्डल (Range of temperature) नियत होता है। इसी नियत तापक्रम में कम या अधिक ह्रास-वृद्धि हो जाने से रासायनिक सम्मेलन का अंशतः या पूर्णतः विभेदन हो जाता है। जीवन-मूल भी इसी सर्व-सृष्टि-व्यापी रासायनिक नियम के अधीन है। अस्तु, प्राणिमात्र की मृत्यु केवल दो ही कारणों से हो सकती है—असामान्य ताप से या असामान्य शीत से। मृत्यु से मेरा आशय जीवन-क्रियाओं का शिथिल या मन्द हो जाना है।

जीवन-मूल के कण सहज चञ्चल और कर्म्मशील हैं। इनमें दूसरे कणों से मिलने या उन्हें अपने में मिलाने की शक्ति रहती है। ये निर्जीव (खाद्य) पदार्थों में से अपने सदृश वस्तु चूस सकते हैं और विजातीय द्रव्य को अलग कर सकते हैं। इसी सहज क्रिया-शक्ति के कारण जीवन-मूल द्वारा निर्मित जीवधारी बढ़ते, बीमार पड़ते और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अपनी क्रियाशीलता के कारण जीवन-मूल के असंख्य कण जीवित शरीर में हरदम बरबाद होते और मलरूप में मलोत्सर्जक इन्द्रियों द्वारा शरीर से निकलते रहते हैं। पाचन और सदृशीकरण शक्ति इस हानि को पूरा करती है और जीवधारी की उत्तरोत्तर उन्नति और विकास में

सहायता देती है। मलोत्सर्जन का नियम यह है कि सबसे पहले पाचन और सदृशीकरण क्रियाओं का अवशेष शरीर से बाहर निकलता है और तत्पश्चात् क्रियाशीलता के कारण उत्पन्न हुआ मल। अतएव स्वस्थ और दीर्घजीवी बनने के लिए यह आवश्यक है कि पहले किये हुए भोजन का अनपच अवशेष ठीक तरह से बाहर हो जाने के कुछ देर बाद दूसरी बार भोजन किया जाय। इस नियम का उल्लङ्घन करने से पाचन और सदृशीकरण शक्ति क्षीण हो जाती है और शरीर का पोषक और मलोत्सर्जक प्रबन्ध बिगड़ जाता है। भूख और गन्दगी से सारा शरीर व्याकुल हो जाता है। शरीर में एकत्र मल और मृत्युदल दोनों एक बात हैं।

जीवाणुओं और मलकणों के परस्पर सङ्घर्षण से ताप और पीड़ा उत्पन्न होती है। ताप से रासायनिक प्रीति (Chemical affiinity) उत्तेजित होती है और मलकण जीवाणुओं में भिद भिद कर उनके आकार और सङ्गठन का सत्यानाश करने लगते हैं। जीवन-मूल में इस प्रकार रासायनिक परिवर्तन आरम्भ होते ही जीवनी शक्ति क्षीण होने लगती है, कमज़ोरी बढ़ने लगती है। और यदि ताप रोकने का उचित प्रबन्ध न किया गया तो मृत्यु हो जाती है। मैंने इसी बात का ध्यान रख कर कितने ही मनुष्यों को अकाल-मृत्यु से बचाया है और जीवन से रासायनिक सम्बन्ध रखनेवाली इसी ज़रा सी बात को भूल कर हमारे डाक्टर और वैद्य लोग लाखों रोगियों का प्रतिदिन संहार करते हैं—औषधों की गर्म्मी में रोग और रोगी दोनों ही भस्म हो जाते हैं।

इस लेख में मैं इस बात का उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ कि जो रोग औषधों द्वारा 'अच्छे' हो जाते हैं उनका वास्तव में क्या हो जाता है। किसी मात्रा तक ताप का प्रभाव उत्तेजक और तत्पश्चात् भस्मीकरण होता है। औषधें पहले जीवनी शक्ति को उत्तेजित करके रोगोत्पादक द्रव्य को जीवाणुओं में खपाने का प्रयत्न करती हैं। इसे वैद्य लोग 'रोग पचाना' कहते हैं। यदि जीवनी शक्ति अधिक हुई और रोगकारी द्रव्य थोड़े हुए तो वे रुधिर के साथ रासायनिक रीति से सम्मिलित हो जाते हैं। कहने को रोग 'अच्छा' हो जाता है, पर वास्तव में रुधिर की शक्ति क्षीण हो जाती है। ब्राह्मण और म्लेच्छ के बीच रोटी-बेटी का सा रिश्ता हो जाता है। रुधिर में नाना प्रकार के रासायनिक विभेदन आरम्भ हो जाते हैं। ग्रामीण कहावत है कि "वैद्य घुस कर घर जल्दी नहीं छोड़ता"। यदि औषधों द्वारा एक रोग अच्छा हुआ तो दूसरा उठ खड़ा होता है। मेरी सम्मति में रोग-जनक पदार्थ का केवल रूप बदल जाता है। वह शरीर से निकलता नहीं और न शरीर को स्वस्थ होने देता है। शरीर में रोग-जनक विजातीय द्रव्य के रूपान्तरों का हिसाब न अब तक हुआ है और न भविष्य में होने की सम्भावना है। रोगों के असंख्य नामों से आयुर्वेद भरा हुआ है। दिन दिन नये नये रोग सुनने में आते हैं। थोड़े दिनों में रोगों के नामों का एक अलग ही अमरकोष बनाना पड़ेगा, जिसे रटते रटते वैद्यजी की आयु समाप्त हो जाया करेगी। तब शायद मनुष्य-जाति का कुछ कल्याण हो!

परन्तु हज़ारों रोगी ऐसे भी होते हैं जिन्हें औषधों से कोई लाभ नहीं होता और उनका

रोग औषध-सेवन के साथ साथ बढ़ने लगता है। ऐसे रोगी केवल दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जिनकी जीवनी शक्ति थोड़ी और रोग अधिक होता है। दूसरे वे रोगी जिनकी जीवनी शक्ति असामान्यत: अधिक होती है—औषधों द्वारा उत्तेजित होने पर भी उनका स्वच्छ रुधिर अपनी सत्ता को नहीं छोड़ता और विजातीय द्रव्य को अपने में मिलाना पसन्द नहीं करता। पहले प्रकार के रोगी प्राणान्त तक औषध का सेवन बढ़ाते जाते हैं। इनसे इन्हें लाभ मालूम होता है। औषध की गर्मी में ये चल-फिर सकते हैं। दूसरे प्रकार के रोगी दो-चार बार दवाई खाकर दवाई बन्द कर देते हैं। इन लोगों को दवाइयों से हानि मालूम होने लगती है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि औषधें उत्तेजक होती हैं। वे जीवनी शक्ति को बढ़ाती नहीं, भड़काती हैं। उत्तेजक पदार्थों द्वारा जीवनी शक्ति को भड़का कर चलता-फिरता बनाना अपनी जड़ काटना है। लोग उस जुलाहे पर हँसते हैं जो वृक्ष पर चढ़कर उसी डाल को काटने लगा जिस पर वह खड़ा था, पर मुझे औषधों के सेवन करनेवालों पर उससे कहीं ज़ियादह हँसी आती है। क्योंकि वह ज्ञान-हीन जुलाहा था और औषध-पूजकों में बड़े बड़े ज्ञानी विद्वान् शामिल हैं। उत्तेजक पदार्थ दिवालिये होते हैं। वे जीवन-क्रियाओं को जारी रखने के लिए परिमित जीवनी शक्ति से चक्र-वृद्धि ऋण लेते हैं जिसे वे फिर कभी नहीं अदा कर सकते।

प्रकृति में की विभिन्नता की कोई हद नहीं। जहाँ तत्वों के परस्पर सङ्गठन के लिए रासायनिक और भौतिक बातें एकत्र हुईं वहीं एक नया जीवधारी बन कर तैयार हो गया। हमारे ऋषियों ने वेदों में 'एकोऽद्वितीयम्' का मण्डन किया, पर आयुर्वेद बिलकुल ही उलटा लिख गया। रोगों की भिन्नता में एकता पर विचार ही नहीं किया गया। इसका यह फल हुआ है कि हम उनकी सन्तान आज-कल स्वास्थ्य-सुधार के लिए इधर-उधर मारे मारे घूमते हैं। कोई झाड़-फूँक कराते हैं तो कोई दवाइयों के पीछे सिर खपी करते हैं।

सारी सृष्टि में रोगी होने का दुर्भाग्य मनुष्यों ही के हिस्से में पड़ा है और रोग को दवाइयों से दूर करने की तरकीब भी केवल इन्हीं ज्ञानियों को सूझी है। प्राकृतिक दशा में अन्य जीवधारी कभी बीमार दिखाई नहीं पड़ते। इनका स्वाद और घ्राणेन्द्रियाँ इतनी प्रबल होती हैं कि ये पहले तो रोग-जनक सामग्री शरीर में घुसने ही नहीं देतीं और यदि भूले भटके यह चोर कभी शरीर में एकत्र हो गया तो इन्हें उसका झट पता लग जाता है और रोगरूप धारण करने के पहले ही शरीर से प्राकृतिक नियमों द्वारा वह निकाल बाहर किया जाता है। आज-कल की झूठी सभ्यता की धार में पड़ कर मनुष्य का शरीर भ्रष्ट होगया है। उसकी ज्ञानेन्द्रियों में अब हिताहित परखने की नैसर्गिक शक्ति नहीं रह गई है। मिर्च मसाला लगा कर जैसा जी चाहे हलाहल विष कलेजे तक पहुँचा दो। जिह्वा और नासिका कोई रोक-टोक न करेंगी। मनुष्य ने उन्नति अवश्य की है, पर अधिकांश के व्यावहारिक सिद्धान्त झूठे हैं, जिनका फल आत्म-हत्या है।

हमारे देश में उन्नत पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रचार के साथ साथ कितने भीषण

रोग घुस आये हैं ? कुछ दिन पहले जब अस्पतालों और चेचक के टीके का रवाज कम था, इस देश की मृत्यु-संख्या केवल चौबीस प्रति सहस्र थी। आज-कल चौंतीस और छत्तीस तक का नम्बर पहुँच चुका है। यह इस देश के स्वास्थ्य का भयङ्कर रूप है। अँगरेज़ सरकार ने अस्पताल और टीका आदि का प्रचार हम लोगों की स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए किया है, पर इनसे हमारे स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुँची है। जीवनी शक्ति घट गई और मृत्यु-संख्या ऐसी बढ़ रही है जैसे रात में ककड़ी। टीका लगाने से चेचक या तो निकलती ही नहीं और यदि निकलती है तो बहुत हलकी। परन्तु शरीर में एकत्र मल, जिसे प्रकृति चेचक के रूप में निकाल देती, रुधिर में खप जाता है। यह मल या तो किसी दूसरे भीषण रोग के रूप में प्रकट होकर प्राण का हरण करता है या शरीर को तमाम उम्र निर्बल और रोगी रखता है। इसका असर हमारी भावी सन्तान पर भी पड़ता है। कौन्सिलों में हमारे प्रतिनिधियों को चाहिए कि सरकार से इसका हिसाब माँगें कि आरम्भ से अब तक कितने मनुष्यों को टीका लगाया गया है ? उनमें से कितने मर चुके हैं ? और जो जीवित हैं उनमें से कितने हृष्ट पुष्ट हैं ? मुझे पूर्ण आशा है कि इन सवालों के जवाबों से टीका की उपयोगिता पर ख़ासा प्रकाश पड़ेगा। साधारणतः, देखने में भी हमारे टीका लगे हुए युवक ही नूतन भीषण रोगों के शिकार होते हैं। वृद्ध लोग इन रोगों में कम मरते हैं। इस सम्बन्ध में मेरी यह राय है कि टीका-सम्बन्धी नियम मनसूख़ कर देना चाहिए। जिसकी इच्छा हो वह टीका लगवावे, जिसकी इच्छा न हो वह न लगवावे। टीका के सम्बन्ध में सरकार के सलाहकार डाक्टरों के सिद्धान्त ग़लत हैं। इस सम्बन्ध में इन महानुभावों ने प्राकृतिक दृश्य की जो निर्णायक परीक्षा की है उसका अनुमान और विवरण करते समय इनकी बुद्धि भ्रम में पड़ गई है। भ्रमजनित विचारों को व्यवहार में लाने का प्रत्यक्ष फल असफलता और दुःख है।

चेचक बिना टीका लगाये भी रोकी जा सकती है। यदि बच्चा पैदा होते ही उसे पहले माता ही का दूध पिलाया जाय और वह प्राकृतिक नियमों के अनुसार रक्खा जाय तो शायद मरते दम तक उसे चेचक न निकलेगी। स्वास्थ्य की कुञ्जी पाचन-क्रिया है। आयु की दीर्घता और स्वास्थ्य की कुशल-क्षेम पोषण-संस्थान की शक्ति पर निर्भर है। गर्भ-काल में बच्चे की आँतों में एक प्रकार का पित्त-मिश्रित मल इकट्ठा हो जाता है। इस मल को डाक्टरी भाषा में मिकोनियम (Meconium) और वैद्य लोग शायद कीट कहते हैं। बच्चे के भावी स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि यह कीट उसकी आँतों से निकल जाय। पोषण-संस्थान के अन्यान्य भागों को हानि पहुँचाये बिना कीट से आँतों को अच्छी तरह से साफ़ कर देने की शक्ति केवल माता के प्रथम दूध (फेवस) में होती है। अस्तु, बच्चा पैदा होने के बाद माता के दूध के सिवा और कुछ भी न देना चाहिए। गाय या बकरी का दूध पिलाना बहुत बुरा है। इससे नवजात शिशु के कोमल आमाशय में असामान्य गरमी उत्पन्न होती है। इस गरमी के प्रभाव से कीट का अंश विशेष आँतों में भिद जाता है और पाचन-क्रिया को बिगाड़ देता है। फल यह होता है कि आरम्भ ही से बच्चे के शरीर में रोगकारी सामग्री एकत्र होने लगती है। आँतों की तरह तरह

की बीमारियाँ आरम्भ हो जाती हैं। आज दस्त जारी तो कल पेचिश की बारी और परसों क़ब्र की तैयारी। लाखों बच्चे मा की गोद ही में भूखी भवानी का भोजन बनते हैं। जो बचते हैं उनके शरीर में मल का भार इतना असह्य हो जाता है कि प्रकृति उसे चेचक या किसी अन्य भीषण रोग के रूप में एकदम बाहर निकालने का प्रयत्न करती है। मेरे सिद्धान्तों के अनुसार चेचक का इलाज बहुत ही सरल है। मैंने लखनऊ में चेचक से पीड़ित एक ऐसे बच्चे को सहज ही में अच्छा कर दिया जिसकी तकलीफ़ को देख कर उसके माता-पिता मेरी चिकित्सा का आरम्भ होने के पहले रात रात भर रोते और अपना सिर पीटते थे। फुन्सियाँ सारे शरीर में गुँथी हुई थीं। कहीं उँगली तक रखने का स्थान न था। मैंने सबसे पहले रोगी की आँतें साफ़ करने की आज्ञा दी। तत्पश्चात् एक व्रत कराया और फिर अपना सशक्त दूध (Vilalized milk) पीने को दिया, जिसने आँतों की असामान्य गरमी को एकदम शिथिल कर दिया। रोग के हथियार छिन गये और रोगी अच्छा हो गया। बात केवल यह थी कि आँतों में असामान्य गरमी के कारण एकत्र मल सारे शरीर में उबल उबल कर निकल रहा था, जैसे चूल्हे पर चढ़ी चावल की बटलोई में बुलबुले। चूल्हे से आग खींच ली और बटलोई में थोड़ा ठंडा गंगाजल डाल दिया, बुलबुले निकलने बन्द हो गये।

इस बात को पाश्चात्य परिपाटी के डाक्टर लोग भी मानते हैं। चेचकादि भयङ्कर रोगों से अच्छा हो जाने के बाद फिर बहुत दिनों तक शरीर रोग-रहित रहता है। रहे क्यों न? शरीर से विजातीय द्रव्य तो निकल ही जाता है।

देश के बिगड़े हुए स्वास्थ्य को पुनः सुधारने के लिए यह आवश्यक है कि जन-साधारण की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय और नीरोगता से सम्बन्ध रखनेवाले सच्चे और असली सिद्धान्तों का प्रचार हो।

रघुवरदयालु गुप्त

अचल।

(अर्थात् पर्वत का मेघ के प्रति उपालम्भ)

(१)

अचला पर हम अचल अटल हैं विचल न सकते
तपन-ताप से तप्त रहें पर पिघल न सकते।
प्रलय काल के बिना निलय हम छोड़ न सकते
जन्म-धरा से ज़रा कभी मुख मोड़ न सकते॥

(२)

बहती रहे बयार सदा चौआई बल से
या आँधी उठ पड़े हमारे ऊपर छल से।
पर हिल सकते नहीं कभी हम अवनीतल से
साधुजनों की टेक न टल सकती है खल से॥

(३)

शुभ्र शरद के जलद यदपि जल-धार गिराते—
हम पर, हमको चमक दमक कर बहुत डराते।
कभी स्वप्न में भी न भीत हो सकते इससे
कहिए तो कम कड़े पड़े हैं हम कब किससे?॥

(४)

मत बरसाओ मेघ! व्यर्थ ओलों के गोले
भोले हैं हम नहीं, न ऐसे हैं हम पोले।
हो जाओगे नष्ट, नहीं स्थिर निज को जानो
स्थायी हम हैं अचल हमें अस्थिर मत मानो॥

(५)

आये हो तुम कुछी दिनों के लिए यहाँ पर
आगन्तुक भी अचल रूप हो रहा कहाँ पर?॥

तितर बितर हो इधर-उधर फिर कहीं रहोगे
सम्मानित थे, शीघ्र अमित अपमान सहोगे ॥

(६)

सच बोलो तुम मेघ ! बने क्या सदा यहाँ थे ?
कुछी दिनों के प्रथम न जाने छिपे कहाँ थे ?।
ऊँचों से भी उच्च बने हो सम्हल रहो तुम
जड़ घन ! हम हैं उच्च अचल मत नीच कहो तुम ॥

(७)

नभचारी हो गरज तरज कर वृष्टि करो तुम
भीति-हीन हो स्वयं भीति की सृष्टि करो तुम।
स्मरण रहे यश अयश जगत में रह जाता है
जो घन ! आता जहाँ वहाँ से बह जाता है ॥

(८)

दावानल लग जाय जले यदि अङ्ग हमारा
तो भी तिल भर धैर्य न होगा भङ्ग हमारा।
लाक्षा के या मोम कांच के बने नहीं हम
ऐन्द्र वज्र-आघात हमी सहने में हैं क्षम ॥

(९)

अगणित नर शार्दूल सिंह हैं पास हमारे
डरते मन में मनुज दनुज तक त्रास हमारे।
पर रहता है क्षमा-शस्त्र ही हाथ हमारे
सदा सत्य के सहित धर्म है साथ हमारे ॥

(१०)

वारिद ! अत्याचार तुम्हारा हम सहते हैं
कहते हैं कुछ नहीं किन्तु निर्भय रहते हैं।
शान्त रहो, उत्पात करो मत, तुम चंचल हो
टिक सकते हो नहीं अचल के साथ अचल हो ॥

(११)

मनमाना तुम मौज मना लो मेघो तब तक
जब तक चातुर्मास, देवगण जगे न जब तक।
फिर तो कुछ भी पता लगेगा नहीं तुम्हारा
नहीं लगेगा मूढ़ ! ठिकाना कहीं तुम्हारा ॥

(१२)

जैसे ऊष्मज जन्तु उपज कर मर जाते हैं
नहीं मही पर अधिक दिवस रहने पाते हैं।
वैसे तुम भी मेघ ! यहाँ से अब जाओगे
दुख देकर मत दुखी रहो, अपयश पाओगे ॥

रामचरित उपाध्याय

विश्व-वाटिका।

सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है और आवश्यकता आविष्कारों की। सभ्यता के आदि-काल में मनुष्यों की आवश्यकतायें परिमित होती थीं, अतएव उनकी पूर्ति के लिए उन्हें विशेष परिश्रम भी करना पड़ा। प्रकृति से ही उन्हें अपने जीवन की सभी सामग्री मिल जाती थी। तब प्रकृति के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। जब प्रकृति से उनका सम्पर्क छूट जाता है तब वे सभ्यता के पथ पर अग्रसर होते हैं। जब सभ्यता की उन्नति होती है तब मनुष्यों की आवश्यकतायें भी बढ़ती हैं और तभी उनकी पूर्ति में उनकी बुद्धि का विकास होता है। कला सभ्यता का निदर्शन है। कला कृत्रिम है। वह मनुष्यों की सृष्टि है। जब तक मनुष्य प्रकृति के वशीभूत होता है तब तक कला की ज़रूरत नहीं रहती और इसी लिए उसकी सृष्टि भी नहीं होती। जब मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है तब वह प्रकृति के विरुद्ध अपनी सृष्टि करता है। कला मानव-शक्ति की महत्ता सूचित करती है। वह मनुष्यों के प्रकृति-विजय का द्योतक है। कुछ लोगों का ख़याल है कि कला में मनुष्य प्रकृति का अनुकरण करता है। परन्तु यह भ्रम है। अनुकरण करने में सजीवता नहीं आ सकती। यदि कला प्रकृति का अनुकरण-मात्र है तो वह उसकी प्राण-हीन छाया है। उसका कुछ भी महत्त्व नहीं है। जब हम सजीव प्रकृति का दर्शन कर सकते हैं तब हम उसकी मृत छाया के लिए उद्योग क्यों करें। सच बात यह है कि कला प्रकृति का अनुकरण-मात्र नहीं है। वह मनुष्य की

सृष्टि है। जब हम किसी चित्र में वन का दृश्य देख कर मुग्ध होते हैं तब हम प्रकृति के कौशल पर ध्यान नहीं देते। उस समय हम चित्रकार के कला-नैपुण्य की प्रशंसा करते हैं। चित्र में चित्रकार की अन्तर्निहित शक्ति लीन रहती है। मनुष्यों के हृदय में बाह्य-जगत् प्रविष्ट होकर नवीन रूप धारण कर लेता है। चित्र मनुष्य के अन्तर्जगत् का दृश्य है, बाह्य जगत् की प्रतिच्छाया नहीं है।

मानव-जाति भिन्न भिन्न खण्डों में विभक्त हो गई है। देश और काल ने उनमें बड़ा विभेद उत्पन्न है। साहित्य और विज्ञान उसी के फल हैं। कला और सङ्गीत उसी के परिणाम हैं।

कला किस जिज्ञासा का फल है? चित्रों पर अपने अन्तःकरण की छाया को अङ्कित कर मनुष्य क्या देखना चाहता है? ध्वनियों की गति को निश्चित कर सङ्गीत के द्वारा वह अपनी किस अव्यक्त भावना को व्यक्त करना चाहता है? पत्थर और मिट्टी के मेल से एक विशाल भवन निर्मित कर वह अपने हृदय की किस उच्च अभिलाषा को पूर्ण देखना चाहता है? प्रकृति की स्वच्छन्दता को नष्ट
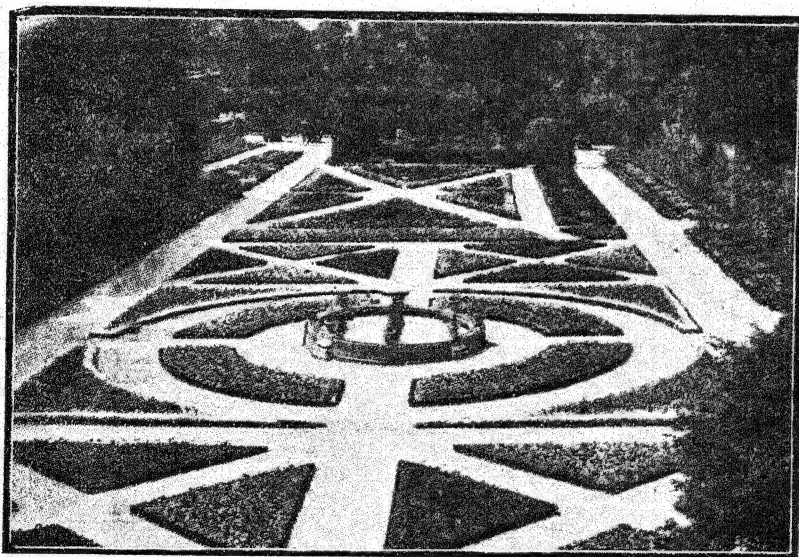
इटली का उद्यान।

कर दिया है। परन्तु इस विभिन्नता में भी एक समानता है। सभी में मनुष्यत्व का गुण वर्तमान है। वह मनुष्यत्व क्या है? मनुष्यों की वह विशेषता क्या है जो उन्हें अन्य पशुओं से पृथक् कर देता है और सब मनुष्यों को एक सूत्र में गूँथ देता है। वह है ज्ञान-लिप्सा। सभी मनुष्यों में यह गुण विद्यमान कर, उसकी लीला को एक क्षुद्र सीमा में परिमित कर, वह उद्यान में अपनी किस शक्ति को प्रत्यक्ष करना चाहता है?

जब मनुष्य ने संसार का पहले पहल दर्शन किया होगा तब उसने प्रकृति की अनन्त शक्ति का अनुभव किया होगा। तब क्या उसने यह नहीं

सोचा होगा कि यह सब किसके लिए है? कहा जाता है कि अनन्त विश्व के सामने मनुष्य अपनी क्षुद्रता का अनुभव करता है। परन्तु क्या क्षुद्र मानव-जाति ही के लिए प्रकृति ने अपना यह अनन्त अञ्चल फैला रक्खा है? क्या क्षुद्र मनुष्यों ही के लिए सूर्य और चन्द्र बनाये गये हैं? यह निःसीम अरण्यमाला, यह गगनस्पर्शी गिरि-समूह, समुद्र का यह अनन्त वक्षस्थल, प्रकृति का यह विराट् रूप क्या क्षुद्र-मनुष्यों के उपभोग के लिए है? नहीं, मनुष्य क्षुद्र नहीं है। क्षुद्र के लिए इतना आयोजन नहीं हो सकता। वह भी अनन्त का प्रतिबिम्ब है। अनन्त प्रकृति को देख कर उसने
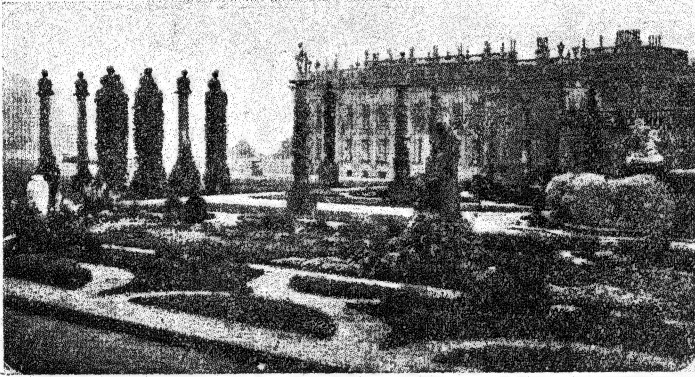
फ़्रांस का उद्यान।

अपने अनन्त अन्तर्जगत् का अनुभव किया और उसी अनन्त की भावना को स्पष्ट करने के लिए कला की सृष्टि हुई। कला मनुष्य की अनन्त-शक्ति का परिचायक है।

यहाँ हम अपने पाठकों को संसार के उद्यानों का परिचय देना चाहते हैं। हम कह आये हैं कि सभ्यता आवश्यकताओं की जननी है। ज्यों ज्यों मनुष्य अपनी अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव करने लगता है त्यों त्यों वह उसके विकास के लिए समधिक चेष्टा करने लगता है। उद्यानों की आवश्यकता तभी होती है जब मनुष्य नगर बना लेता है। जिस उद्यान में मनुष्यों का जितना ही शक्ति-वैचित्र्य प्रकट होगा वह उतना अच्छा समझा जायगा।

प्रकृति ने वनों की सृष्टि की है, मनुष्य ने उपवनों की। आज-कल संसार में जितने उद्यान हैं उनके दो विभाग किये जा सकते हैं। पहले भाग में ऐसे उद्यान हैं जिनमें मनुष्य प्रकृति का सादृश्य प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इन्हें हम उपवन कहेंगे। दूसरे प्रकार के उद्यानों में मनुष्य अपना रुचि-वैचित्र्य प्रकट करता है। उन्हें हम प्रमोद-कानन कह सकते हैं। प्रकृति की सृष्टि में भव्यता और उच्छृङ्खलता रहती है, अतएव उपवनों में भी संयत भव्यता और उच्छृङ्खलता लाने की चेष्टा की जाती है। प्रमोद-काननों में कोमलता रहती है। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य का यथेष्ट विकास नहीं हो सकता। सभी फूल-पत्ते मनुष्यों के नियम से संयत रहते हैं। उन्हें एक पद भी आगे बढ़ने की आज्ञा नहीं है। उन्हें एक क्षुद्र सीमा में ही अपना सौन्दर्य प्रकट करना पड़ता है।

योरप में इटली अपने उद्यानों के लिए ख़ूब प्रसिद्ध है। कितने लोगों का ख़याल है कि ऐसे उद्यान संसार में अन्यत्र कहीं नहीं हैं। उद्यानों के जो दो विभाग हमने ऊपर किये हैं उनमें इटली के उद्यानों की गणना द्वितीय श्रेणी की है। इनमें

प्रकृति की सदृशता लाने की चेष्टा नहीं की जाती। ये मनुष्यों के लिए बनाये गये हैं, अतएव उनमें मनुष्यों की सुविधाओं का खूब खयाल किया जाता है। घर में मनुष्यों को जो आराम है वही आराम उसे इन उद्यानों में मिलता है। इनकी शोभा फूलों से नहीं है। फूलों का स्थान गौण है। वे इनकी शोभा-वृद्धि के सहायक-मात्र हैं। शिल्पी अपने कला-प्रदर्शन के लिए उद्यान को एक विशेष साँचे में ढालता है। वह साँचा ही उसका यथार्थ

हालेंड का उद्यान।

सौन्दर्य है। फूलों को उसमें स्थान अवश्य मिलता है, पर उद्यान की शोभा होती है शिल्प-कला से—उसके काट छाँट से। इटली की यह उद्यान-कला कुछ काल के लिए विलुप्त हो गई थी। जब योरप में पुनरुत्थान-काल हुआ तब अन्य कलाओं के साथ ही साथ इस कला की भी श्री-वृद्धि हुई। पुनरुत्थान-काल के प्रारम्भ में इटली के प्राचीन उद्यान श्री-हीन हो गये थे। वहाँ झाड़-झंखार उग आये थे, फ़ौवारे नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे और सीढ़ियाँ टूट-फूट गई थीं। पर उनका आकार-नक़शा ज्यों का त्यों था। सोलहवीं शताब्दी में लोगों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ और नेपल्स के जगत्प्रसिद्ध उद्यानों का नवीन संस्कार हुआ।

इँग्लेंड के कृत्रिम उद्यानों में रमणीयता नहीं है। एलिज़ावेथ के समय के उद्यानों में यह बात बिलकुल स्पष्ट है। उनमें कई तरह के फूलों के वृक्ष लगा दिये जाते थे और उनके आस-पास ईंट की दीवार या लकड़ी के छोटे छोटे तख़्तों का घेरा लगा देते थे। अब वहाँ अन्य देशों के उद्यानों का अनुकरण किया जाता है। ख़ास इँग्लेंड की उद्यान-कला की यदि कोई विशेषता थी तो वह यह थी कि उसमें प्राकृतिक दृश्यों का नमूना देखने को मिल जाता था। फ़्रांस के एक उद्यान-शिल्पी ने कहा था, "अँगरेज़ी उद्यानों को तैयार करना बड़ा सरल है। माली को खूब शराब पिला कर बग़ीचे में छोड़ दे और उसको यथेष्ट काट छाँट करने दे। बस, अँगरेज़ी उद्यान तैयार हो गया।" उद्यान में प्रकृति की स्वच्छन्दता का अर्थ यही है।

फ़्रांस की उद्यान-कला को उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचानेवाला एक ही शिल्प था। उसका नाम था ले नोट्रे। उद्यान-शिल्प में जितना प्रभाव उसका है उतना अन्य कला में किसी भी कला-कोविद का नहीं है। उसका प्रभाव आज तक विद्यमान है। लोग उसे उद्यान का शेक्सपियर कहते हैं।

लें नाट्रे का जन्म सन् १६१३ में हुआ था। उसके बाप की इच्छा थी कि वह शिल्पकार हो। उसकी सौन्दर्य-भावना बड़ी प्रबल थी। भाग्य से उस समय फ़्रांस के राजसिंहासन पर लुई चौदहवें का आधिपत्य था और कला की उन्नति के लिए सभी लोग मुक्तहस्त थे। लुई ने उसका बड़ा आदर किया। वर्सलीज़ उसकी कला-कुशलता का अच्छा नमूना है।

डच लोगों को फूलों का बेहद शौक़ है। जापान को छोड़ कर ऐसा कोई देश नहीं है जहाँ फूलों की इतनी चाह हो। ग़रीब से ग़रीब डच के घर में भी एक छोटा सा पुष्पोद्यान अवश्य होगा। अँगरेज़ मालियों को डचों के उद्यान ज़रा भी पसन्द नहीं हैं। उनकी दृष्टि में वे उद्यान क्या हैं, बच्चों के खिलौने हैं। 'लान' के बीचोंबीच एक चौकोर ज़मीन चुन ली जाती है। वह तीन चार फ़ीट गहरी खोदी जाती है। फिर उसके चारों ओर ईंट की एक छोटी सी दीवार घेर दी जाती है। दीवार पर गुलाब के झाड़ लगा दिये जाते हैं। भीतर क्यारियों और गमलों में तरह तरह के फूलों के पौधे लगाये जाते हैं। ये पौधे बारहों महीने बने रहते हैं। उत्तर में ऐसे झाड़ लगाये जाते हैं जो छाया में उगते हैं। दक्षिण में धूप चाहनेवाले झाड़ लगाये जाते हैं। पश्चिम की ओर ग्रीष्म और शरद के पौधों का स्थान रहता है। पूर्व में सभी तरह के पौधों की भरमार रहती है। पुष्पोद्यान के बीच में हरी हरी घास छोड़ दी जाती है। वहीं एक छोटा सा जलाशय भी बना दिया जाता है। कभी कभी फ़ौवारा भी बनाया जाता है।

निशात बाग़।

प्राचीन-काल में भारतीय आर्यों को उद्यानों का बड़ा शौक़ था। भारतवर्ष का जल-वायु भी ऐसा उष्ण

है कि उन्हें उद्यानों की ज़रूरत थी। आज-कल प्राचीन उद्यानों का चिह्न तक नहीं पाया जाता। परन्तु संस्कृत-काव्यों में उद्यानों का उल्लेख किया गया है। उनसे विदित होता है कि भारतीयों ने उद्यान-शिल्प में अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। जब भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब उद्यान-शिल्प में

चीन का उद्यान।

यथेष्ट विकास हुआ। सच तो यह है कि इस कला में फ़ारस और तुर्किस्तान की अच्छी प्रतिभा थी। फ़ारस के कवि उद्यानों के सौन्दर्य-वर्णन में ही मुग्ध हो जाते थे। क़ुरान में कहा गया है कि भगवान् ने सबसे पहले उद्यान की सृष्टि की। हाफ़िज़ की कविता उद्यानों के वर्णन से भरी है। फूलों पर मुसलमान जाति का बड़ा अनुराग है। इसका कारण कदाचित् यह है कि क़ुरान में मनुष्य और पशुपक्षियों का चित्र बनाना निषिद्ध है। इसी से मुसलमानों के कला-कौशल में फूलों की प्रधानता है। जब सभी कलाओं में फूलों का आदर है तब पुष्पोद्यान का निर्माण करना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य उद्यानों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानों फूल और पौधे अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए विशेष यत्नशील हैं। परन्तु भारतीय उद्यानों में जलाशय ही उद्यान का प्राण है। इटली के उद्यानों में भी कृत्रिम जलाशय बनाये जाते हैं। परन्तु वे सिर्फ़ शोभा-वृद्धि के लिए हैं। भारतीय उद्यानों में जल ही प्रधान वस्तु है। यदि जल न रहे तो उद्यान को कोई उद्यान न कहे।

मुग़लों के उद्यानों के चारों ओर ऊँची ऊँची दीवारें घिरी रहती हैं। प्रत्येक कोने में एक गुम्मज़ रहता है। उद्यान के सीमान्त में एक बड़ा प्रासाद रहता है और सामने विशाल फाटक। विशालता ही मुग़लों की पद्धति है। उद्यान में बड़े बड़े वृक्ष श्रेणी-बद्ध लगाये जाते हैं। बीच बीच में कहीं गुलाब-कुञ्ज हैं तो कहीं कुञ्ज-गृह। शान्ति का तो वह निवास-स्थान रहता है।

काश्मीर और उत्तर-भारत में मुग़लकालीन कितने ही उद्यान हैं। काश्मीर का सबसे प्रसिद्ध उद्यान है निशातबाग़। "इसमें सात सीढ़ियाँ भीतर और तीन चार बाहर हैं। प्रत्येक सीढ़ी पर फूलों की क्यारियाँ और फलों के पेड़ हैं। प्रत्येक सीढ़ी के बीच में पानी बहने के लिए चौड़ी नाली है। प्रत्येक नाली का पानी, जो पहाड़ से आता है,

प्रपात के द्वारा नीचे की दूसरी नाली में गिराया जाता है। इस प्रकार जितनी सीढ़ियाँ हैं उतने ही प्रपात हैं। प्रत्येक नाली में कई फ़ौवारे हैं सामने झील है और पीछे ऊँची पर्वत-श्रेणी।"

आज-कल भारतीय उद्यानों में पाश्चात्य उद्यान-शिल्प का सम्मिश्रण हो गया है। इससे उसकी

जापान का उद्यान।

भव्यता कम हो गई है। भारतीय उद्यानों की भव्यता का अनुमान दर्शक ही कर सकते हैं।

यदि भारतीय उद्यानों की विशेषता उनकी विशालता है तो जापानी उद्यानों की विशेषता उनकी सूक्ष्मता है। एक ही क्यारी में एक उद्यान का दृश्य प्रदर्शित कर दिया जाता है। कभी कभी तो एक गमले में ही उद्यान आ जाता है। जापानी उद्यानों में कितने ही झाड़ साठ वर्ष के पुराने हैं और उनमें फल, फूल और पत्ते लगे हैं, पर उनकी ऊँचाई सिर्फ़ एक फ़ुट है!

जापान के उद्यान-शिल्प को समझ लेना सरल नहीं है। यदि किसी देश का उद्यान-शिल्प जटिल है तो जापान का है। इँग्लेंड में कई उद्यानों में जापानी शिल्प का अनुकरण किया गया। उनमें जापानी फूल और पौधे तो ज़रूर लगे हैं, पर जापानी शिल्प का सर्वथा अभाव है। जापानी उद्यानों में छोटी से छोटी बात भी नियम-बद्ध है। जापान की कला का अनुकरण जापानी ही कर सकता है। जापानी उद्यानों में पौधों की कौन कहे, पत्थरों तक का स्थान निर्दिष्ट है। उद्यान रहस्यों का भाण्डार होता है, प्राकृतिक दृश्यों के द्वारा आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण किया जाता है। कुछ पहाड़ों से शान्ति का सङ्केत किया जाता है

तो कुछ पौधों से पवित्रता का रूप स्पष्ट किया जाता है। इसी प्रकार सभी फूल-पत्तों का कुछ न कुछ साङ्केतिक अर्थ अवश्य होता है। जापानी कला की एक विशेषता यह भी है कि प्रकृति का दृश्य एक ही गमले में दिखा दिया जाता है। वहाँ भिन्न भिन्न वृक्षों के भिन्न भिन्न नाम होते हैं। पत्थरों के भी पृथक् पृथक् नाम होते हैं। कला-कोविदों की राय है कि उद्यान-शिल्प में सबसे अधिक उन्नति जापान ने की है।

हरिनारायण श्रीवास्तव

स्नेह का मूल्य ।

(१)

पिताजी श्रीवैष्णव थे, दिन में ४ बार स्नान करते थे, कभी कोई किसी अर्थ में 'मांस' या 'खून' कह देता तो दस बार हरि का नाम जपते थे किन्तु दूसरी ओर राय बहादुर भी थे और इस 'बहादुरी' का सार्टीफ़िकेट पाने के लिए उन्हें न मालूम कितनी मुर्ग़ियाँ, कितने अण्डे, विदेशी शराब की कितनी बोतल और कलकत्ते और लखनऊ की बनी कितनी 'केकें' गौराङ्ग प्रभुओं के 'हाज़मा दुरुस्त पेट' की भेंट करनी पड़ी थीं ! सड़े से सड़ा अँगरेज़ आता तो वे मिलने जाते और कभी ख़ाली हाथ न जाते। कहते थे कलियुग के देवता अँगरेज़ हैं। कलक्टर साहब कभी दौरे में निकल आते तो उन्हें बिना भोज दिये न रहते। डिप्टी सिप्टियों के यहाँ भी ऊसा भूसा भेजते रहते थे। मुन्सिफ़ सदराला भी फल-फूल पाते थे। यों जब किसी अँगरेज़ से मिल कर लौटते तो तत्काल स्नान करते—कपड़े बदलते—तब पानी पीते। साधना का फल निकला, राय बहादुर बने, आनरेरी मजिस्ट्रेट बने, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मेम्बर चुने गये। तहसील में तो उनके जोड़ का कोई था नहीं, ज़िले में भी वे किसी से कम न थे।

एक दिन उनके मित्र टीकाराम ठेकेदार कह रहे थे—'सेठजी, मैं तो ४) की मुर्ग़ी देकर इञ्जीनियर से १००) का काम निकालता हूँ, बिना २००) के लाभ के कभी १०) की शराब नहीं देता।'

पिताजी ने कहा—'मित्र, मुझे तो राय बहादुरी के मूल्य में ही यह सब कुछ करना पड़ा है। अब देखता हूँ, राय बहादुरी क्या बड़ी से बड़ी उपाधि का भी जनता की दृष्टि में कुछ मूल्य नहीं है। पहले तो ख़िताब के कारण लोग झुकते थे, अब सुना सुना कर गालियाँ देते हैं। परसों की बात है, कचहरी करके वापिस आ रहा था, कम्बख़्ती की बात एक दूकानदार से लँगड़े आमों का भाव-ताव करने लगा। वहीं देवीप्रसाद चौबे का लड़का खड़ा था, मुझसे बोला—'सेठजी, जंट साहब दौरे में आनेवाले हैं उनके लिए २-४ अच्छी मोटी ताज़ी मुर्ग़ियाँ ख़रीद रखिए, वक़्त पर अच्छी चीज़ नहीं मिलती है—बुढ़ापे में तो इस लम्बे तिलक की लाज करो, यम के डंडे से जंट साहब का हुक्म रक्षा नहीं करेगा।'

भाई, उसकी ये बातें सुन कर मेरे शरीर में आग लग गई। जी में आया अभी थानेदार को बुलाऊँ, इसकी अक़्ल ठीक कराऊँ, फिर ख़याल आया, यह लड़का किसी अँगरेज़ी अख़बार का 'संवाद-दाता' है, ज़रा सी बात मनहूस अख़बारों की बदौलत तूल पकड़ जायगी, ग़ुस्से को पीकर बोला—'बेटा रामदत्त, तुम्हारे पिता मुझे अपना बड़ा भाई समझते थे। तुमने पढ़-लिख कर अपने बड़ों का ऐसा सत्कार करना सीखा है ?'

ठेकेदारजी—यह सुनकर वह क्या बोला। 'सुनिए—उसने कहा—'ताऊजी, यह सच है और उसी सम्बन्ध के कारण मैं आपसे यह कह रहा हूँ। यदि मेरे पिता श्रीवैष्णव होकर अँगरेज़ों की मेहमानदारी में मुर्ग़ियों की गर्दन पर चाक़ू चलवाते तो मैं उनका त्याग कर देता, उनसे वास्ता न रखता। ऐसे पिता 'केवलं जन्म हेतवः' हैं और उनके इस हेतु की साधुता में भी भारी सन्देह का अवकाश है।' इस पर मैंने कहा—'तब पिता का सम्मान कुछ न रहा।' उसने कहा—'कौन कहता है, किन्तु अधर्म्म किसी का बर्दाश्त न करना चाहिए। हिरण्यकशिपु की कथा याद है या अँगरेज़ों की ख़ातिरदारी में सब भूल गये ?'

आख़िर भाई मैंने उस प्रगल्भ लड़के से पीछा छुड़ाने के लिए आम भी छोड़े और घोड़े की रास भी।

ठेकेदारजी ने पूछा—'यह लड़का क्या करता है ?'

पिताजी ने कहा—'बी० ए० में पढ़ता था, 'गाँधी सिद्धान्त' का शिकार होकर पढ़ना छोड़ आया है, कपड़ा बुनता है और किसी अँगरेज़ी अख़बार में कुछ लिखता है। भाई, 'जो कुल डूबन हार कि लड़का कूबरे।''

(२)

पिताजी के पास कई लाख की सम्पत्ति थी, गाँव थे, मकान थे, दो तीन बँगले थे, शहर के क़रीब दो तीन बग़ीचे भी थे, लेन-देन का कारोबार भी था, किन्तु जब कोई उनका ख़ास मिलनेवाला आता तब उसे कुछ न दिखाते—दिखाते घर के बाहर का लम्बा चबूतरा, ऊपर का

बड़ा कमरा और उसकी खिड़कियाँ और इस मिष से उस ऐतिहासिक मुक़द्दमे का हाल सुनाते जिसकी सफलता पर उन्हें बड़ा नाज़ था। बात यह थी हमारे पड़ोस में एक मध्य-वित्त ब्राह्मण पण्डित शिवनाथ रहा करते थे। वृत्ति की दृष्टि से तो ब्राह्मण न थे, सूद पर रुपया चलाते थे, किन्तु सरलता और पवित्रता के लिहाज़ से सच्चे ब्राह्मण थे। बचपन में अपने समवयस्क उनके लड़के के साथ मैं खेला करता था और दिन का बड़ा भाग उनके घर ही मेरा कटता था। लड़के का नाम हरदत्त था। हरदत्त की माता मेरा बहुत दुलार करती थी। हरदत्त के साथ मुझे भी वह मक्खन परांठा देती थी और उसके हिस्से के बराबर देती थी। किन्तु जब पिताजी ने उनके मकान की ओर परकाले उतारे और ऊपर के कमरे में उन्हीं की ओर तीन बड़ी बड़ी खिड़कियाँ लगाई और उनकी ज़मीन में बड़ा चबूतरा बनाने का उपक्रम किया तब मुक़द्दमेबाज़ी शुरू हुई और मेरा जाना बन्द हुआ। पिताजी के मशीर मुन्शी रामबख़्श ने कहा—'लड़के को वहाँ न भेजा कीजिए, कोई कुछ दे दे।' उसके बाद हरदत्त की माँ जब मिलतीं, पूछतीं—'बेटा केशव अच्छे हो।' मैं भी प्रणाम करके कहता—'हाँ चाची, अच्छा हूँ।' बस। हरदत्त मुझसे न बोलता था, शत्रुता रखता था, यदि वह बोलता होता तो मेरा उनके यहाँ आना-जाना बिलकुल न छूटता।

पिताजी के साथ जब मुक़द्दमेबाज़ी शुरू हुई तो क़स्बे में हलचल पड़ गई। शिवनाथजी भी खाते-पीते थे, उधर उन्हें दो-चार लफङ्गे मिल गये थे, इन्होंने एक तूमार बाँध दिया। दीवानी और फ़ौजदारी दोनों अदालतों में मुक़द्दमे दायर हुए। ख़ाली आदमियों को काम मिला, कामवालों का काम छूटा। हाईकोर्ट तक मुक़द्दमेबाज़ी हुई। कोई ४ साल में अन्तिम परिणाम निकला। पिताजी जीत गये। मामला बिल्कुल झूठा था, पण्डितजी का पक्ष सच्चा था। किन्तु जहाँ न्याय बिकता हो वहाँ इसे कौन देखता है। ज़िले का कौन ऐसा बड़ा अफ़सर था जिसके पास हर त्यौहार पर पिताजी की डालीनुमा घूँस न पहुँचती थी। फिर वे इस काम को बहुत दिनों से और नियम-पूर्वक कर रहे थे और बड़ी तर्कीब से कर रहे थे यानी जैसा मुँह देखते वैसा थप्पड़ लगाते थे। हमारे बाग़ के आम अफ़सरों के लिए 'रिज़र्व' रहते थे। घर के लिए बाज़ार से आते थे। भादों के महीने में फजरी आमों के लिए डिप्टी और मुन्सिफ़ तो चिट्ठी तक लिख भेजते थे, बड़े अफ़सरों के यहाँ योंहीं काफ़ी तौर पर भेज दिये जाते थे। आरम्भिक अदालत में हमारा झूठा मुक़द्दमा झूठे पर सुलभ गवाहों के बयान से ऐसा कुछ पुष्ट हो गया कि प्रान्त की न्यायपीठ यानी हाईकोर्ट को भी वैसा ही करना पड़ा।

उस समय मेरी अवस्था १४-१५ साल की थी, फिर भी मुझे यह अच्छा न लगता था। एक दिन पिताजी जब मेरी माँ को अपनी पैरवी का हाल सुना रहे थे तब मैंने भी कहा—लालाजी, चाची के मकान की ओर खिड़कियाँ मत निकालो। सब कहते हैं, सेठजी रुपये के मद में ब्राह्मण को तङ्ग कर रहे हैं—इस लोक की अदालतों से परलोक की अदालत बड़ी है।

उन्होंने मुझे प्यार करके कहा—'बेटा, तुम अभी इन बातों को क्या समझो। जब ऊपर का कमरा बन कर तयार हो जायगा तब मालूम होगा कि मकान में कितना आराम बढ़ गया है। आदमियों की बात पर मत जाओ। तुम्हारी सगाई में दावत खिला कर उन्हें प्रसन्न कर दूँगा। रही परलोक की अदालत की बात, उससे मैं भी डरता हूँ और इसी लिए रोज़ ३-४ घंटे वहाँ हाज़िरी देता हूँ। देखते नहीं हो, मेरा अधिक समय पूजा-पाठ में ही जाता है।

उस समय मैं चुप हो रहा, आज यह बात होती तो कहता और ज़रूर कहता कि पितृदेव, मन्दिर में झाड़ू लगाने से लेकर भगवान् की आर्ती तक के कामों में आपका ३-४ घंटे का जो समय लगता है वह ईश्वर के दरबार की हाज़िरी नहीं है, आपका एक अच्छा अभ्यास है। रहने को तो मन्दिरों में अनेक चिड़ियाँ दिन-रात रहती हैं। भगवान् का सच्चा मन्दिर मनुष्य का मन है, उसका संस्कार हुए बिना उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना असम्भव है और यही भक्ति-योग है। आपसे तो वह बुढ़िया अच्छी है जो सच्चे मन से—और उस मन से जिसमें किसी के लिए हिंसा का भाव नहीं है—भगवान् पर एक फूल चढ़ा जाती है और एक सरल प्रणाम झुका जाती है।

मुझे उनकी दो बातें बहुत खटकती थीं—एक तो इतना समय बीत जाने पर भी उस मुक़द्दमे का हाल सुनाने

का व्यसन और दूसरी—अँगरेज़ों की अतिरिक्त भक्ति। सड़े से सड़ा अँगरेज़ होता, रेलवे का ड्राइवर होता और उनसे कर्ज़ ही लेने आता, किन्तु उसके टोप और सफ़ेद चमड़े को देख वे घबरा कर खड़े हो जाते और बड़े आदर से उसे बिठाते और ऐसे प्रसन्न होते मानो भगवान् मिल गये। जब ये दोनों प्रसङ्ग उपस्थित होते तो मैं टल जाता, मुझसे वहाँ न बैठा जाता।

(३)

पण्डित शिवनाथ को मुक़दमे में भारी कसर बैठी। जो कुछ लगाया वह गया, ऊपर से पिताजी के कई हज़ार रुपये ख़र्चे में पड़े। जो कुछ पूँजी थी वह सब इस मुक़दमे की भेंट होगई और कुछ 'देना' भी हो गया। उनका अन्तिम समय बड़ी चिन्ता में कटा और लोग कहते हैं—जिसे मैं भी असत्य नहीं समझता—यही चिन्ता रोग के रूप में प्रकट होकर उन्हें संसार से उठा ले गई।

पहले तो उन पर उनके किसी रिश्तेदार का क़र्ज़ था, बाद को पिताजी ने दलालों को बीच में डाल कर अपने एक मिलनेवाले के नाम से उन्हें कुछ कम सूद पर रुपया दे दिया था और इस तरह उनके मकान को 'फाँस' लिया था। वह कहा करते थे कि जब यह मकान आ जायगा तब हमारा मकान चौकोन हो जायगा और पीछे की ओर एक छोटे से बाग़ के लिए भी ज़मीन बच रहेगी।

एक दिन शाम को मैं बाहर बैठा हुआ था कि हरदत्त आया। उसने बड़ी कठिनाई से कहा—'तुम्हें मेरी माँ ने बुलाया है। हमारे मकान के ४ हज़ार उठते हैं, तुम चाहो तो लेलो। बैनामा तुम्हारे नाम कर देंगे, तुम्हारे भक्त पिता के नाम नहीं जिसने हमारा सर्वनाश कर दिया और हमें इस हालत को पहुँचा दिया। ठाकुर बख़्तावरसिंह ख़रीदार हैं, उन्होंने ले लिया तो तुम्हारे पिता बहुत परेशान होंगे।'

मैंने कहा—'चाची के पास मैं सुबह ही आऊँगा, आओ भाई हरदत्त आज बरसों बाद बोले हो, तुम्हारा मुँह मीठा करूँ, ज़रा बैठो तो।'

उसने भारी आवाज़ से कहा—'भाई माफ़ करो, पड़ोस में रहने ही की काफ़ी सज़ा मिल चुकी है, अब मिठाई खाने की हिम्मत नहीं है।'

यह कह कर वह चला गया और मानों मेरे दिल में एक तीर चुभो गया।

मुझसे न रहा गया, मैं अपनी माँ के पास गया, वह शाम का दिया जलाने तुलसी के मन्दिर में ऊपर गई थीं; मैंने उन्हें वहीं घेरा और जो कुछ दिल में भर रहा था सब कहा। उन्होंने बड़ी ख़ुशी से मेरी बात मान ली। उस समय उनके चेहरे से हर्ष का कैसा सुहावना भाव टपक रहा था। मेरी तजवीज़ पर वह मानो फूली नहीं समाती थीं। उस दिन मुझे मालूम हुआ कि मेरी माता को सब 'साक्षात् लक्ष्मी' जो कहते हैं वह कितनी 'प्रियमप्यमिथ्या' बात है।

मैंने सुबह को मौक़ा पाते ही पिताजी से कहा—'लालाजी कल हरदत्त आया था। वह कहता था, ठाकुर बख़्तावरसिंह ने उसके मकान के ४ हज़ार लगा दिये हैं। तुम लोग चाहो तो मेरी मा के पास हो आओ। वह तुम्हें दे देगी, तुम्हारे पिता को तो न देगी। आप कहें तो मैं हो आऊँ और कमती बढ़ती सौदा तय कर लूँ'।

'उन्होंने कहा—'हाँ, ज़रूर जाओ और कमती बढ़ती तय कर लो।'

मैं चुपके से चल दिया।

(४)

कोई दस वर्ष बाद उस स्थान पर पहुँचा जहाँ मेरे बचपन का बहुत सा समय खेल-कूद में बीता था। दहलीज़ में पहुँच कर मेरे पाँव काँपने लगे। साध्वी चाची के सामने जाने की हिम्मत न होती थी। मुझे देख कर वह यही समझेंगी कि मकान का नाम सुन कर दौड़ा हुआ आया, वैसे कभी न आया। इसी लिए पाँव काँप रहे थे।

जो मकान सदा साफ़-सुथरा रहता था उसकी दुर्दशा देख कर मेरा जी हिल गया। दीवारों का प्लास्टर उखड़ चुका था, ईंटें जहाँ तहाँ खिसक रही थीं, चौखटें अपने स्थान से हिल गई थीं—हाँ, नीम का पेड़ ज़रूर वैसा ही हरा था और सब नक़्श धुँधला पड़ गया था। मैंने सोचा पण्डितजी के उठ जाने पर चाची के साथ मानो हवेली भी विधवा हो गई! मकान की मरम्मत कौन कराता। दीख रहा था, यह न रहेगा। फिर ग़रीबी की क्षीण पूँजी उस पर कैसे ख़र्च की जाती। हरदत्त के शब्दों का मुझे

बार बार ध्यान आता था—पड़ोस में रहने की ही काफ़ी सज़ा मिल चुकी है! मकान का वह सूना रूप मुझे काटने लगा। मैंने मन में कहा—'ईश्वर, मुझे बल दीजिए'।

सामने के दालान में शान्ति का अवतार मेरी चाची बैठी हुई दाल बीन रही थीं। मैंने चुपके से जाकर उनके चरण पकड़ लिये। मेरी आँखों से आँसू जारी थे। उन्होंने मुझे पास बिठा कर कहा—'बेटा केशव, क्यों रोते हो, कितने दिन बाद मेरे पास आये हो, आज घर में मक्खन होता तो तुझे अपने हाथ से बासी पराँठे का एक टुकड़ा खिलाती। मेरे लिए तो तू वही केशव है।' यह कह मेरी पीठ पर हाथ फेरने लगीं।

मैंने कहा—'चाची, तुम्हारे घर का वैभव जिसने अकारण नष्ट किया है उसका मैं अधम पुत्र हूँ। तुम मुझे मक्खन न खिलाओ, मेरे मुँह में ख़ाक भरो। तुम्हारा कैसा सुख का घर था, सब कुछ था, गाय भैंसें थीं, नौकर-चाकर थे. रोज़ मक्खन नि ता था और मुझे भी हरदत्त की बराबर हिस्सा मिलता था। हाय! उसी घर में हमारी कृपा से आज एक बछिया भी नहीं।' कहते कहते मेरा गला रुँध गया।

चाची ने अपने आँचल से मेरा मुँह पोंछते हुए कहा—'बेटा ऐसा मत कहो, किसी के दोष से नहीं, अपने भाग्य के दोष से यह सब हुआ है। तुम क्यों अपना मन बुरा करते हो? अब हरदत्त की नौकरी लग रही है, ३०) मिल रहे हैं और यह ४०) माँगता है। इधर मकान का सौदा हो रहा है। ले देकर १५००) बच रहेंगे। कोई छोटा सा मकान किराये पर ले लेंगे, फिर अच्छी तरह गुज़र होने लगेगी। अब की बार गाय पालूँगी तो तुझे ज़रूर बुलाऊँगी। तुझे मक्खन पराँठा खिलाने की मेरी बड़ी इच्छा है।'

मैंने कहा—'चाची मकान के ४ हज़ार ही लगे, किसी ने ज़ियादा न लगाये?'

उसने कहा—'बेटा, पहले तो तीन हज़ार ही लगते थे। ठाकुर बख़्तावरसिंह ने ४ हज़ार लगाये हैं। कल से उसका आदमी कई बार आ चुका है, बड़ी जल्दी मचा रहा है। सुना है, सेठजी से उसकी दुश्मनी है। क्या यह सच है?'

मैंने कहा—'हाँ सच है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की मेम्बरी के लिए पारसाल वह भी खड़ा हुआ था। पिताजी अपनी कोशिश और ख़र्च से हो गये, वह रह गया। अक्खड़ आदमी है, मूछों के बल पर ही मेम्बरी चाहता था। उस दिन से मन में गाँठ रखता है।'

उसने कहा—'जब से मैंने यह सुना है तभी से उसे देने का विचार छोड़ दिया है। तेरे पड़ोस में रह कर वह तुझे कष्ट देगा यह मैं कैसे सह सकती हूँ, इसी लिए मैंने हरदत्त को कल तेरे पास भेजा था। तू अपने नाम से लेना चाहे तो ले ले, सेठजी के नाम तो बैनामा न करूँगी। हरदत्त के पिता कहा करते थे कि सेठजी मकान की फ़िक्र में हैं, मैं उन्हें बीस हज़ार में भी न दूँगा। इतनी तो उनकी बात रक्खूँगी ही। उन्होंने ये शब्द न कहे होते तो मैं उनके नाम ही बैनामा कर देती। जब बेचना आया तो कोई ख़रीद ले। तेरी तो वह भी सदा प्रशंसा करते थे। तेरे हाथ बेचने से तो उनकी आत्मा को भी कष्ट न होगा—यों—बात एक ही है। क्या करूँ, तेरी मुझे हरदत्त जैसी ही ममता है। अच्छा तो बता, ४ हज़ार में यह मकान लेगा?''

मैंने कहा—'चाची, चार हज़ार में नहीं, बीस हज़ार में।'

उसने कहा—'हट, सच बता।'

मैंने कहा—'सचमुच, बीस हज़ार में ही और आज ही। सुन, सेठजी ने अभी हाल में मेरे नाम से एक गाँव के छः बिस्वे १५ हज़ार में ख़रीदे हैं। उस गाँव की ज़मीन बड़ी अच्छी है, अन्न ख़ूब पैदा होता है। अब हमें उसके बीस हज़ार मिलते हैं, बेचें तो कुछ और ज़ियादह मिल जायगा। उसमें दो पक्के कुँवे हैं, एक डेरे का पक्का मकान है, ३ बाग़ हैं और महीने में २ दिन बाज़ार लगता है। अब हरदत्त किसी की नौकरी नहीं करेगा, वह नौकर रख कर 'सीर' करायेगा और 'डेरी' खोलेगा, फिर मैं वहाँ आकर तेरे हाथ से मक्खन पराँठा खाया करूँगा और हफ़्तों तेरे चरणों की पवित्र छाया में रहने का पुण्य प्राप्त किया करूँगा। सम्भव है, उस समय उस कुकर्म का प्रायश्चित्त हो जाय जो हमने तुम्हारे ऊपर किया है। चाची, मैं उस गाँव के बदले इस मकान को ख़रीदने आया हूँ।'

उसने कहा—'तू पागल होगया है। केशव, सेठजी

सुनेंगे तो क्या कहेंगे। तुझे भी घर से निकाल देंगे और मुझे भी नाम धरेंगे।'

मैंने कहा—'चाची, तू मकान नहीं देगी तो भी मैं गाँव तेरे नाम करके जाऊँगा। आज का यह शुभ मुहूर्त्त टलेगा नहीं—माताजी की भी यही आज्ञा है।'

उसने कहा—'क्या तूने माताजी से पूछा था और उन्होंने ऐसा करने की आज्ञा दे दी है?'

मैंने कहा—'हाँ, उनकी आज्ञा के बिना तो मैं कुछ भी नहीं करता, चाची तेरी दशा पर मुझसे अधिक वह खिन्न हैं। अच्छा, अब मैं जाता हूँ, मेरे एक मित्र वकील हैं उनसे दोनों काग़ज़ लिखा कर लाता हूँ। तू इतने में रोटी बना रख, आज तेरे हाथ की रोटी खाऊँगा। चलो भाई हरदत्त।'

दोनों काग़ज़ लिख गये, मित्र ने कहा—मामला बड़ा है, सेठजी के 'नोटिस' में ले आओ, बाद रजिस्ट्री करा देना और सम्भव हो तो उनके हस्ताक्षर भी अपने लिखे काग़ज़ पर करा देना। मैंने भी सोचा—ठीक है। फिर मन में निर्बलता आई, कहीं बना बनाया काम बिगड़ न जाय। दिल में कहा—जब माताजी साथ हैं तब पिताजी कहीं बीस हज़ार के लिए हम दोनों के दिल को थोड़े ही तोड़ सकते हैं, उनके दिल में इतनी ताक़त नहीं है। जो पिता सात समुद्र पार के प्रभुओं की मनस्तुष्टि के लिए 'इदं न मम' बिना कहे ही हज़ारों स्वाहा कर देते हैं वह अपने आश्रित और आश्रय हम दो के लिए क्या इतना करने से भी हिचकेंगे—दिल ने कहा—हर्गिज़ नहीं। मैंने मकान पर जाकर देखा तो पिताजी भोजन करने के लिए जा रहे थे, मुझे देख कर रुक गये और बोले—'केशव, कहो तय कर आये, कुछ कम में?'

मैंने कहा—'मुफ़ में ही समझिए।'

यह कह कर मैंने दोनों काग़ज़ उनके हाथ में दे दिये। उन्हें पढ़ कर वह अचम्भे में रह गये। बोले—'यह क्या किया, होश में है या बेहोशी'। मैंने कहा—'आपने ही तो कहा था कि कमती बरती—'

उन्होंने बात काट कर कहा—'क्या बकता है' चार हज़ार के सौदे में बीस हज़ार की 'कमती बरती' होती है? पागल! यह क्या कर लाया?'

मैंने कहा—'तो जाने दीजिए, आप इतने नाराज़ क्यों होते हैं? गाँव रखिए और मेरा मोह छोड़िए। मैं उनके साथ रहूँगा और वकालत करके उनका क़र्ज़ा निबटाऊँगा।'

उन्होंने [illegible]—'तू तो कहा करता है वकालत करना पाप है, अब [illegible]लत करेगा।'

मैंने कहा—'हाँ, अपने लिए पेशे के रूप में अब भी मैं उसे पाप ही समझता हूँ किन्तु उस बड़े पाप को धोने के लिए जो अपने पड़ोसियों पर अत्याचार करके अपनी इच्छा से अपने ऊपर थोप लिया है—यथासम्भव पाप और झूठ से बचते हुए इस वृत्ति का आश्रय लूँगा।'

उन्होंने माताजी से कहा—'देखा तुमने, तुम्हारे शाहज़ादे क्या कौतुक कर आये हैं? ४ हज़ार का मकान २५ हज़ार की जायदाद देकर मोल ले रहे हैं।'

माताजी ने कहा—'मुझे सब मालूम है। मुझसे पूछ कर ही वह गया था।'

पिताजी ने कहा—'तुम ने मना नहीं किया?'

माताजी ने कहा—'२५ नहीं ३० हज़ार देकर भी उस पाप का प्रायश्चित्त हो जाय तो मना करने की बात है या आज्ञा देने की? अब तक सब निन्दा करते हैं शाम से ही सबका विचार बदल जायगा। मेरे दो-चार पुत्र हैं क्या, ले देकर यह एक ही तो है, भगवान् की दी हुई लाखों की सम्पत्ति है, किसी का जी न दुखे, इसे कोई न कोसे, फिर तुम्हें क्या मालूम, चाची को वह मेरे बराबर ही समझता है, डर के मारे उसने और मैंने आज तक तुमसे न कहा, अब हम दोनों ने मिल कर यह हिम्मत की है, अब उसका जी छोटा मत करो, तुम्हारे लिए यह कुछ बड़ी बात है? हाँ, उसे आवाज़ दो वह बाहर को जा रहा है।'

पिताजी ने कहा—'केशव, इधर आ।'

मैंने पास जाकर कहा—'कहिए क्या आज्ञा है?'

बोले—'तू ने वकालत का पहला हाथ मुझ पर ही साफ़ किया, अपनी माँ को पहले ही साँठ लिया था। जब तुम दोनों की यही इच्छा है तो मुझे भी कुछ वक्तव्य नहीं है। रजिस्ट्री करा दो।'

मैंने फाउन्टेन क़लम देते हुए कहा—'अजित बाबू कहते हैं आपके हस्ताक्षर भी होने चाहिए।'

उन्होंने फिर कुछ न कहा—हस्ताक्षर कर दिये।

मुझसे न रहा गया। मैं उनके चरणों पर गिर पड़ा। आज मुझे अपने भक्त पिता के चरणों में वही शान्ति मिली जो भक्तों को ईश्वर के पादपद्मों के चिन्तन में मिलती है। उनके धुले हुए पाँव मेरे आँसुओं से तर हो गये।

× × × × ×

चाची ग्वाले के हाथ हरदत्त की 'डेरी' का इतना मक्खन रोज़ भेज देती है कि हमारे लिए काफ़ी से ज़ियादा होता है। हर फ़सल पर हरदत्त की सीर से हमारे ख़र्च से ज़ियादा अनाज आ जाता है। मैंने इन चीज़ों की क़ीमत देने की हज़ार कोशिशें कीं किन्तु कामयाब न हुआ। मेरे बहुत ज़िद करने पर उसने एक दिन कहा—'केशव, एक दिन तेरा कहना मान लिया, अब बार बार अपना स्नेह थोड़े ही बेचूँगी।'

सच यह है, स्नेह या प्रेम अमोल चीज़ें हैं। इन्हें क्या देकर कोई ख़रीद सकता है।

ज्वालादत्त शर्म्मा

ऋतु-परिवर्तन।

इस सृष्टि में जो अनेक परिवर्तन हुआ करते हैं उनमें ऋतु-परिवर्तन बड़े महत्त्व का है। ऐसे महत्त्व-पूर्ण विषय का काम-चलाऊ ज्ञान भी अनेक लोगों को नहीं रहता। इस कारण इस विषय का विवेचन यहाँ संक्षेप में किया जाता है।

हिन्दुस्तान में लोग बहुधा तीन ऋतु—शीत, उष्ण और वर्षा—मानते हैं। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार छः ऋतु—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त और शिशिर—हैं। 'भूगोल शास्त्र' के अनुसार चार ऋतु—वसन्त, ग्रीष्म, शरद और शीत होते हैं। इन विभिन्न वर्गभेदों में कुछ कुछ विशेषता है। पहला भेद नितान्त स्पष्ट लक्षणों के अनुसार किया गया है। जब ठंड पड़ती है तब शीतकाल होता है। जब गरमी पड़ती है तब उष्णकाल होता है और जब वर्षा होती है तब वह वर्षाकाल कहलाता है। इन लक्षणों के अनुसार यदि ऋतु-भेद किये जायँ तो ऋतुओं की संख्या पृथ्वी पर कई बार बदलेगी। गरमी और ठंड थोड़े बहुत परिमाण से अनेक देशों में क्रम क्रम से पाई जायगी, पर वर्षा के विषय में कोई एक नियम नहीं है। कहीं वर्षा छः महीने होती है, कहीं बारहों महीने होती रहती है और कहीं दो ही महीने होती है। इस प्रकार वर्षा का काल एक देश से दूसरे देश में बहुत कुछ भिन्न है। और वर्षा भी एक ही समय सब जगह नहीं होती, कहीं गरमी में तो कहीं ठंड में होती है। भारत में भी यही बात देख पड़ती है। यहाँ बहुतेरे प्रान्तों में जुलाई से सितम्बर या आक्टोबर तक वर्षा होती है, पर मदरास-प्रान्त में असली वर्षा शीतकाल में होती है। इसलिए सारी पृथ्वी के लिए वर्षा को ऋतु मानना ठीक नहीं है। यह भेद केवल एक देश के लिए ठीक हो सकता है। इस कारण यदि लक्षणों के अनुसार ऋतु-भेद किये जायँ तो पृथ्वी के हर एक देश में ऋतुओं की संख्या भिन्न भिन्न होगी। कहीं ग्रीष्म-ऋतु और वर्षा-ऋतु मानने होंगे तो कहीं ग्रीष्म और वर्षा साथ ही मानने होंगे, तो कहीं साल भर वर्षा होने के कारण केवल ग्रीष्म और ठंड मानने होंगे। एक देश के ऋतुओं की संख्या दूसरे देश के ऋतुओं की संख्या से नहीं मिलेगी और न उनके नाम ही मिलेंगे।

पहले प्रकार के ऋतु-वर्ग-भेद पर जो आक्षेप किये गये हैं वही दूसरे वर्ग-भेद पर भी लागू होते हैं। इस वर्ग-भेद में ऋतुओं के लक्षण अधिक सूक्ष्म रीति से ठहराये गये हैं। इस कारण तीन की जगह छः ऋतु माने गये हैं। परन्तु ये भी बाहरी लक्षणों के कारण कल्पित किये गये हैं। इसलिए यह वर्ग-भेद भी आक्षेपार्ह है।

तीसरा वर्ग-भेद वास्तव में पृथ्वी की वार्षिक गति पर निर्भर है। पृथ्वी चौबीस घंटे में अपने चारों ओर घूमती है। उसी प्रकार वह सूर्य के भी चारों ओर घूमती है। परन्तु प्रत्यक्ष में यह देख पड़ता है कि सूर्य ही पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। यह परिवर्तन सब देशों में नियमानुसार हुआ करता है। इस कारण सूर्य की इस प्रत्यक्ष गति के अनुसार ऋतुओं का वर्ग-भेद करना ठीक है। इस वर्ग-भेद में भी सूर्य के स्थान के कारण कुछ बाहरी लक्षण अवश्य पैदा होते हैं।

इस कारण उनका नामकरण क़रीब क़रीब इन लक्षणों के अनुसार ही है। तथापि पूर्वोक्त दोनों भेदों और इसमें यह अन्तर है कि वे दो भेद स्थान स्थान पर बदलते हैं, पर यह तीसरा सर्वत्र एक सा लागू होता है। इसलिए हम इसी क्रम का विचार करते हैं।

तो ऋतु-परिवर्तन ही न हो। सूर्य सदा एक ही सा उदय-अस्त होता रहेगा। एक अक्षांश से दूसरे अक्षांश पर दिवस और रात्रि का मान अवश्य भिन्न होगा, परन्तु वह एक ही अक्षांश पर सदा बना रहेगा। और इस कारण ऋतु-परिवर्तन न होगा। परन्तु केवल पृथ्वी की इस गति

चित्र-संख्या १
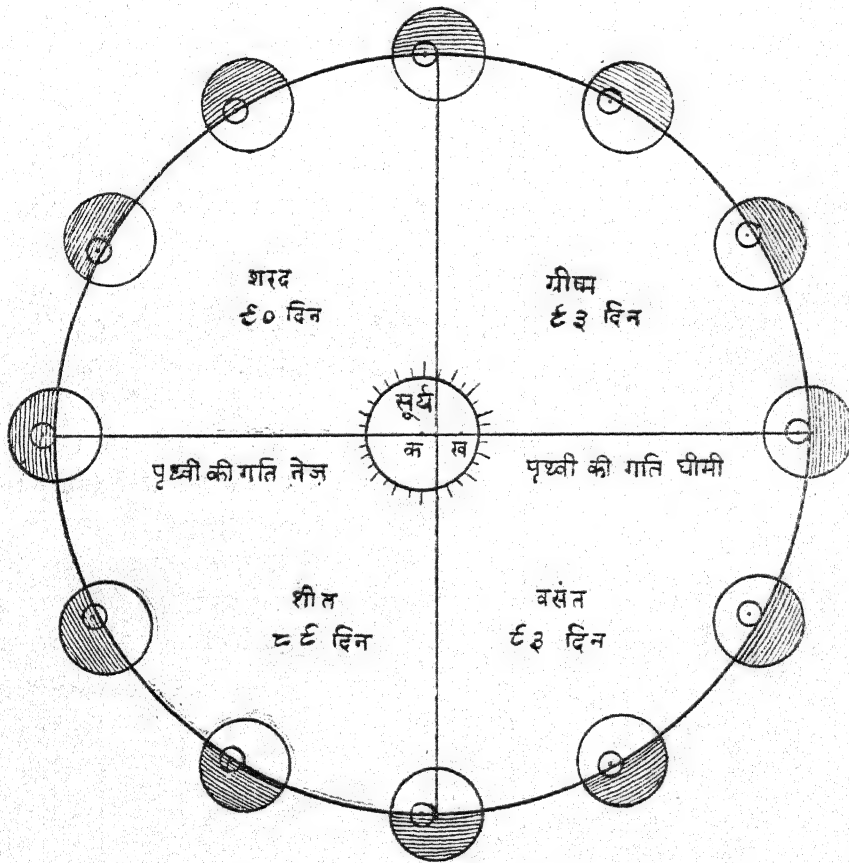
[टिप्पणी—इस चित्र को समझने के लिए यह कल्पना करो कि दर्शक आकाश में सूर्य के मध्य से बड़ी दूरी से सूर्य और पृथ्वी को एक वर्ष तक देखता रहा है। छाया रात्रि और प्रकाश दिन है। पृथ्वी की आकृतियों में जो बिन्दु बीच में है वह उत्तर-ध्रुव है। स्मरण रहे, सूर्य पृथ्वी से बहुत ही बड़ा है। पर यहाँ यह भेद नहीं दिखलाया जा सकता। ऋतु उत्तर गोलार्द्ध के हैं।]

ऋतुओं के अस्तित्व का मुख्य कारण पृथ्वी की वार्षिक गति है। यदि सूर्य के चारों ओर पृथ्वी न घूमे के ही कारण ऋतु-परिवर्तन नहीं होता। उसके और भी कुछ कारण हैं।

पृथ्वी की कील का कोण उसके क्रान्तिवृत्त* पर क़रीब क़रीब ६६°½ का बनता है और वह कील सदा एक ही दिशा में बनी रहती है। यह दिशा क़रीब क़रीब ध्रुव की दिशा है। दूसरे शब्दों में यों कहेंगे कि कील की सब स्थितियाँ एक दूसरे से समानान्तर पर रहती हैं। इन दो बातों को समझने के लिए एक गोले के बीचोंबीच कील डाल कर परीक्षा करलो। वास्तव में सूर्य की प्रत्यक्ष गति से ही ये बातें मालूम हुई हैं।

अब यह देखना है कि इन कारणों से ऋतुओं में परिवर्तन कैसे होता है। ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि पृथ्वी का उत्तर-ध्रुव कभी सूर्य की ओर खूब झुका रहेगा तो कभी सूर्य से दूसरी दिशा में रहेगा। मान लीजिए कि पृथ्वी का उत्तर-ध्रुव सूर्य की ओर जितना झुक सकता है उतना झुका है। चित्र-संख्या २ में पृथ्वी की यह स्थिति दिखलाई गई है। पृथ्वी के आधे भाग में ही एक बार प्रकाश पहुँच

चित्र-संख्या २
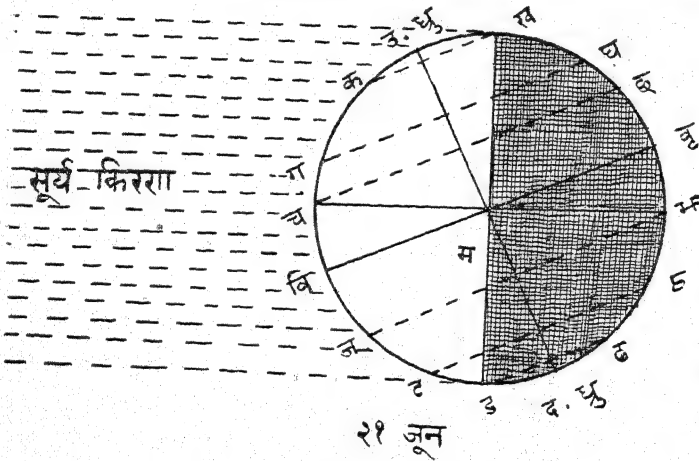
सकता है, यह बात चित्र में खण्ड-प्रकाश रेखा से दिखलाई गई है। पाठक स्मरण रक्खें कि पृथ्वी कील—अर्थात् उत्तर-ध्रुव और दक्षिण-ध्रुव—के चारों ओर घूम रही है। इस कारण उत्तर-ध्रुव के नीचे का कुछ भाग चौबीसों घण्टे प्रकाश में रहता है। यहाँ चौबीस घण्टे दिन बना रहता है। यह स्थिति क ख अक्षांश तक रहती है। इसके नीचे के स्थान कभी प्रकाश में तो कभी अन्धकार में रहते हैं। अर्थात् इन स्थानों में कभी रात तो कभी दिन होता है। पर एक बात स्पष्ट है। दिन रात की अपेक्षा बड़ा होता है। तथापि क ख रेखा से ज्यों ज्यों नीचे आओ, त्यों त्यों दिन छोटा होता और रात बड़ी होती जाती है। परन्तु जब हम विषुववृत्त पर पहुँचते हैं तब हम वहाँ प्रकाश और अन्धकार बराबर बराबर हिस्सों में पाते हैं। अर्थात् इस वृत्त में रात और दिन समान होते हैं। परन्तु जब हम उसे पार कर आगे बढ़ते हैं तब दिन छोटा और रात बड़ी होने लगती है। और ड ढ रेखा तक यही क्रम जारी रहता है। परन्तु जब हम ड ढ वृत्त पर पहुँच जाते हैं तब प्रकाश का अभाव हो जाता है। अर्थात् वहाँ दिनकाल नहीं देख पड़ता, चौबीसों घण्टे रात ही बनी रहती है। इस ड ढ वृत्त का अक्षांश ६६°½ दक्षिण है।

सारांश में, ६६°½ (उत्तर) के ऊपर चौबीस घण्टे का दिन है और ६६°½ (उत्तर) से विषुववृत्त तक दिन बड़ा और रात छोटी होती है। हम ज्यों ज्यों ६६°½ (उत्तर) से विषुववृत्त की ओर आते हैं त्यों त्यों दिनमान छोटा और रात्रि-मान बड़ा होता जाता है। पर विषुववृत्त पर दोनों बराबर होते हैं। विषुववृत्त और ड ढ वृत्त के बीच दिन छोटा और रात बड़ी होती है और विषुववृत्त से ड ढ तक ज्यों ज्यों हम समीप आते जाते हैं त्यों त्यों दिनमान छोटा और रातमान बड़ा होता जाता है। इसके बाद ड ढ से दक्षिण-ध्रुव तक केवल रात ही रात रहती है।

अब पृथ्वी की उस दशा की कल्पना कीजिए जब वह उत्तर-ध्रुव सूर्य से बिलकुल परे है। उत्तर-ध्रुव इस समय नितान्त अन्धकार में चला गया है। क ख अक्षांश तक केवल अन्धकार ही अन्धकार देख पड़ता है। इसके नीचे विषुववृत्त तक दिन छोटा और रात बड़ी है, परन्तु क ख से नीचे प्रत्येक अक्षांश पर दिनमान बढ़ता ही जाता है। विषुववृत्त पर दिन और रात बराबर हो गये हैं। उसके नीचे ड ढ तक दिन बड़ा तथा रात छोटी है और धीरे

*सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का जो मार्ग बनता है वह क्रान्तिवृत्त कहलाता है। वास्तव में वह मामूली वृत्त नहीं है, दीर्घवृत्त है।

धीरे दिन बड़ा ही होता है। ड ढ पर चौबीस घण्टे का दिन है और यही बात दक्षिण-ध्रुव तक है। सारांश, अब की दशा पहली से नितान्त विपरीत है।

चित्र-संख्या ३

२१ दिसम्बर
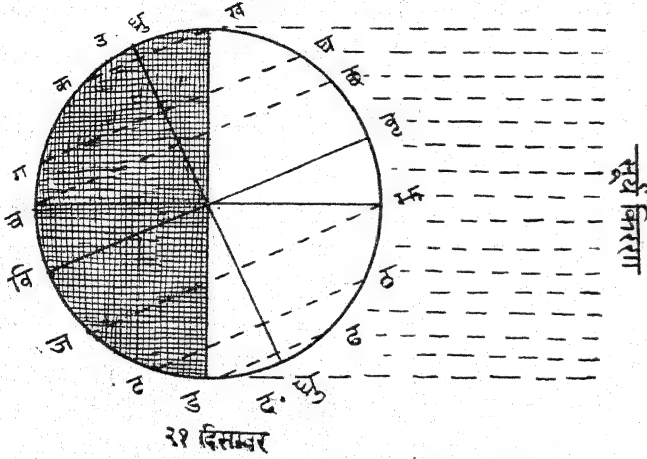
इन दो दशाओं के बीच दो ऐसी दशायें होती हैं कि जब सारी पृथ्वी पर प्रकाश और अन्धकार बराबर बराबर रहता है अर्थात् जब रात-दिन बराबर होते हैं।

चित्र-संख्या ४
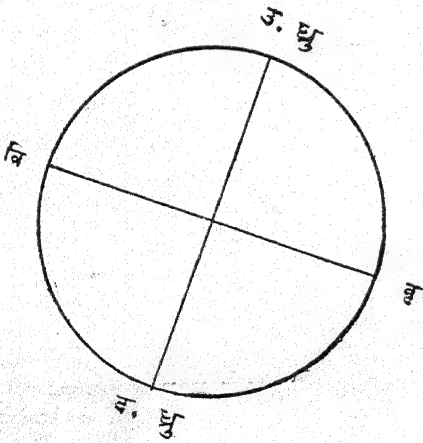
पहली अवस्था में उत्तर-गोलार्द्ध में दिन बड़ा और रात छोटी होती है। इस समय सूर्य की किरणें भी अधिक सीधी पड़ती हैं। इन दो कारणों से उष्णता बहुत बढ़ जाती है। अतएव दिन में उष्णता अधिक मात्रा में एकत्र होती है और रात में वह बहुत कम परिमाण में विलीन होती है। इस कारण ये दिन बहुत गरम होते हैं। यही ग्रीष्म-काल है। सूर्य की किरणें २३° ½ अक्षांश (उत्तर) पर लम्ब रूप से गिरती हैं। इसलिए वहाँ बहुत अधिक उष्णता रहती है। इस अक्षांश से ज्यों ज्यों ऊपर या नीचे जायँ, त्यों त्यों सूर्य की किरणों के पृथ्वी-तल से होनेवाले कोण छोटे होते जाते हैं, अर्थात् त्यों त्यों पृथ्वी पर किरणें अधिकाधिक तिरछी गिरती जाती हैं।

चित्र-संख्या ५
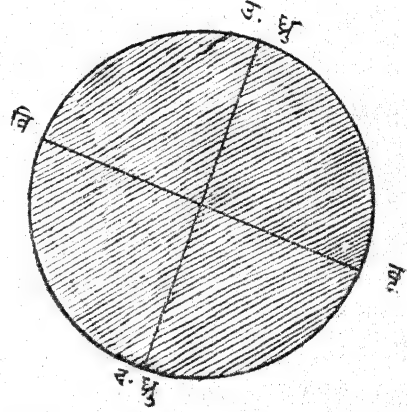
इस कारण उष्णता का मान भी इस अक्षांश से ऊपर या नीचे कम होता जाता है। कोई प्रश्न करे कि इस अक्षांश के नीचे तो यह बात ठीक जँचती है, क्योंकि दिन भी छोटा होता जाता है, पर इस अक्षांश के ऊपर तो दिन बड़ा होता है फिर उष्णता कम क्यों? इसका उत्तर यह है कि केवल दिनमान ही पर उष्णता अवलम्बित नहीं है। वह किरणों के सीधी या तिरछी पड़ने पर भी बहुत कुछ अवलम्बित है। ज्यों ज्यों किरणों का तिरछापन बढ़ता जाता है, त्यों त्यों इस कारण का प्रभाव दिनमान के प्रभाव से अधिक होता जाता है। इसलिए इस अक्षांश के उत्तर में भी उष्णता कम होती जाती है।

जिस समय उत्तर-गोलार्द्ध में ग्रीष्मकाल है, उसी समय दक्षिण-गोलार्द्ध में दिन छोटा और रात बड़ी है और किरणें भी पूर्वोक्त प्रकार से अधिकाधिक तिरछी

पड़ती हैं। इस कारण उष्णता कम होती जाती है अर्थात् ठंड बढ़ती जाती है। इस समय यहाँ शीत-काल है।

दूसरी अवस्था में पहली अवस्था के ठीक विपरीत बातें देख पड़ती हैं। ऊपर बतलाये हुए कारणों से उत्तर-गोलार्द्ध में शीत-काल और दक्षिण-गोलार्द्ध में ग्रीष्म-काल है। इस प्रकार उत्तर तथा दक्षिण-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और शीत-काल नितान्त भिन्न समयों पर हुआ करते हैं। ऊपर पृथ्वी की जो दो अवस्थायें दिखलाई गई हैं वे जून और दिसम्बर की हैं।

सितम्बर के महीने में दिन और रात बराबर बराबर होते हैं। यही अनुक्रम से वसन्त और शरद के काल हैं। इस समय सूर्य की किरणें लम्बरूप से विषुववृत्त पर पड़ती हैं। इस प्रकार ग्रीष्म, शरद, शीत और वसन्त ऋतु हुआ करते हैं।

ऋतुओं का वर्णन इतने ही में नहीं समाप्त होता। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की जो कक्षा बनती है वह वृत्त नहीं है, वह दीर्घवृत्त है। दीर्घवृत्त के दो केन्द्र होते हैं। ये चित्र संख्या १ में दिखलाये गये हैं। इन्हीं में से एक केन्द्र में सूर्य है। इस कारण पृथ्वी अपनी कक्षा में सूर्य से कभी बहुत समीप पहुँच जाती है, कभी बहुत दूर हो जाती है। इन दो केन्द्रों का अन्तर ३० लाख मील के लगभग है। जब पृथ्वी सूर्य के बहुत समीप रहती है उस समय उत्तर-गोलार्द्ध में शीत-काल रहता है। अगर पृथ्वी की कक्षा दीर्घवृत्त न होकर मामूली वृत्त ही होती तो यह दूरी बढ़ जाती और दूरी बढ़ने से शीत-काल अधिकतर ठंड हुआ होता। इसी समय दक्षिण-गोलार्द्ध में ग्रीष्म होता है। केवल वृत्त की कक्षा से होनेवाले ग्रीष्म की अपेक्षा दीर्घवृत्त की कक्षा के कारण दक्षिण-गोलार्द्ध का ग्रीष्म अधिक उष्ण रहता है। जब पृथ्वी दूर जाती है उस समय उत्तर-गोलार्द्ध में ग्रीष्म रहता है। दूरी के कारण यह उतना उष्ण नहीं रहता जितना कि केवल वृत्तवाली कक्षा के कारण हुआ होता। इसी समय दक्षिण-गोलार्द्ध में शीत-काल रहता है। दूरी बढ़ जाने से यहाँ का शीत-काल केवल वृत्तवाली कक्षा से होनेवाले शीत से अधिक ठंड रहता है। सारांश, कक्षा के दीर्घवृत्त होने से उत्तर-गोलार्द्ध सदा लाभ में रहता है।

इस तरह की कक्षा का एक और परिणाम होता है। जब सूर्य से पृथ्वी की दूरी बढ़ जाती है तब आकर्षण-शक्ति घट जाने से पृथ्वी की परिक्रमा की गति का वेग कुछ कम हो जाता है। इस कारण उत्तर-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और वसन्त के दिनों का योग यहाँ के शीत और शरद के दिनों के योग से ७ दिन बढ़ जाता है। ग्रीष्म के ९३ दिन और वसन्त के ९३ दिन मिला कर १८६ दिन होते हैं, पर शरद के ९० दिन और शीत के ८९ दिन मिला कर १७९ ही होते हैं।

इससे कोई शायद यह अनुमान करे कि उत्तर-गोलार्द्ध को वर्ष भर में अधिक उष्णता मिलती है और दक्षिण-गोलार्द्ध को कम। परन्तु यह भूल है। वर्ष भर की उष्णता का विचार करते समय ऊपर बतलाये गये परिणामों को न भूलना चाहिए। अगर उत्तर-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और वसन्त के दिनों का योग बढ़ जाता है और दक्षिण-गोलार्द्ध में यह योग कम हो जाता है तो यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्तर-गोलार्द्ध के ग्रीष्म और वसन्त दक्षिण-गोलार्द्ध के इन्हीं ऋतुओं से कहीं कम उष्ण रहते हैं। इस तरह दिनों की अधिकता की भरपाई हो जाती है और दोनों गोलार्द्धों को वर्ष भर में समान उष्णता मिलती है।

परन्तु दिनमान का निश्चय केवल ऋतुओं से ही नहीं हो सकता। पृथ्वी के चारों ओर जो वायु-मण्डल है उसके कारण भी दिनमान कुछ बढ़ जाता है। यह समझने के लिए पहले एक मामूली प्रयोग कर लो। एक छोटी सी प्याली लो और उसके बीच में एक पैसा रक्खो। फिर ऐसे एक स्थान पर खड़े हो कि पैसे का अगला सिरा

चित्र-संख्या ६
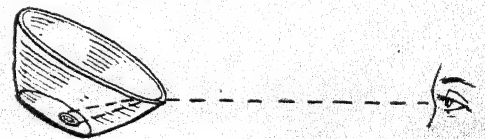
बहुत कम दीख पड़े। तदनन्तर उस प्याली में पानी भर दो और फिर पहले स्थान पर खड़े हो कर देखो। अब शायद पूरा पैसा दिखाई पड़ेगा। यह किरणों की वक्रता का परिणाम है। एक ही पदार्थ में से किरणें सीधी

जाती हैं, परन्तु जब उन्हें दूसरे पदार्थ में से अपना रास्ता तय करना होता है तब उस नये पदार्थ के पास उन्हें अपना रास्ता कुछ टेढ़ा कर लेना पड़ता है। मान लो कि

चित्र-संख्या ७
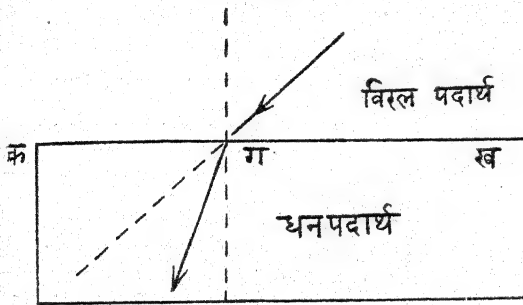
क ख रेखा वायु की अपेक्षा घन पदार्थ की सतह है। अर्थात् वायु उससे विरल पदार्थ है। वायु से उसमें जानेवाली एक किरण उसके ग स्थान पर मिलती है। ग पर एक लम्ब बनाओ। पदार्थ के भीतर जानेवाली किरण लम्ब की ओर झुकेगी। इसके विपरीत यदि घन पदार्थ से विरल पदार्थ में किरण जाय तो वह लम्ब से दूर जायगी। हमें केवल यही स्मरण रखना है कि विरल पदार्थ

चित्र-संख्या ८
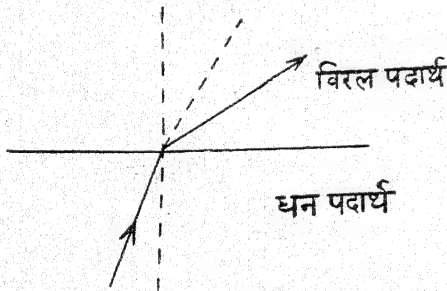
से घन पदार्थ में जानेवाली किरणें लम्ब की ओर झुकती हैं। यही बात वायु-मण्डल में होती है। पृथ्वी से ज्यों ज्यों ऊँचे जाओ, त्यों त्यों वायु विरल होती जाती है। या यों कहो कि ऊँचे से ज्यों ज्यों पृथ्वी की ओर आओ, त्यों त्यों वायु घन होती जाती है। इस कारण वायु-मण्डल में प्रवेश करनेवाली किरणें आकाश के प्रत्येक बिन्दु पर तिरछी पड़ती हैं। यह बात चित्र-संख्या ९ में दिखलाई गई है। उदय के पहले सूर्य क्षितिज के नीचे रहता है, परन्तु वक्रता के कारण वह क़रीब दो मिनट पहले ही क्षितिज पर दिखलाई देता है। और यही बात अस्त के बाद होती है। अस्त होने पर भी सूर्य्य क्षितिज के ऊपर

चित्र-संख्या ९
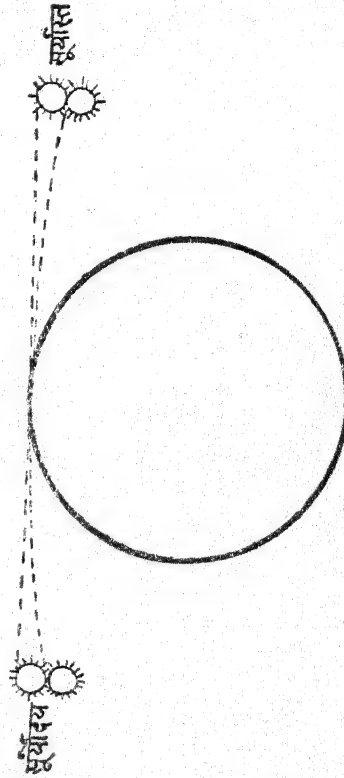
दीखता है। अर्थात् जिस समय वह हमें क्षितिज पर डूबते दीखता है उस समय जैसा कि चित्र में दिखलाया गया है, वह वास्तव में क्षितिज के नीचे रहता है। इस स्थिति को भी वही काल लगता है, अर्थात् प्रत्यक्ष दिनमान ४ मिनट बढ़ जाता है। कई लोग पञ्चाङ्ग से सूर्योदय या सूर्यास्त का काल देख कर घड़ी का समय लगाया करते हैं। इसमें दो भूलें होती हैं। एक तो पञ्चाङ्ग में दिया हुआ सूर्योदय या सूर्यास्त का काल वहीं का होता है जहाँ वह बनाया जाता है, पर देशान्तर रेखा के अनुसार पृथ्वी पर सूर्योदय या सूर्यास्त भिन्न भिन्न समय पर हुआ करते हैं। दूसरे, जब सूर्य्य क्षितिज पर दीखता है उस समय वह वास्तव में क्षितिज के नीचे रहता है।

इस कारण क़रीब दो मिनट का और अन्तर हो जाता है।

इसी से सम्बन्ध रखनेवाला एक और चमत्कार है। सूर्य्य के प्रत्यक्ष दीखने से पहले 'सन्धि-प्रकाश' रहता है। वायु में केवल वक्रीभवन ही का गुण नहीं है परावर्तन का भी गुण है। शीशे का अनुभव सबको है। इसमें यही परावर्तन गुण है। यदि वायु में यह गुण न होता तो हमारी बड़ी बुरी दशा होती। सूर्यास्त होते ही अन्धकार छा जाता। वायु परावर्तन द्वारा प्रकाश को चारों ओर फैला देता है। यदि इस गुण का अभाव होता तो जहाँ सूर्य्य की किरणें पड़तीं वहीं प्रकाश रहता, बाक़ी सब अन्धकार! हमारे घर के भीतर उजियाला कहाँ होता! दिनमान में भी तारे दीख पड़ते, क्योंकि फिर सूर्य-प्रकाश सारे आकाश में व्याप्त न होता! परन्तु परावर्तन के कारण सूर्य्य की उपस्थिति में सब जगह प्रकाश रहता है, उसे जाने के लिए केवल मार्ग चाहिए। इस गुण के कारण सूर्य के अठारह अंश नीचे रहने पर भी उसका प्रकाश हमें पहुँचने लगता है।

चित्र-संख्या १०

चित्र-संख्या ११
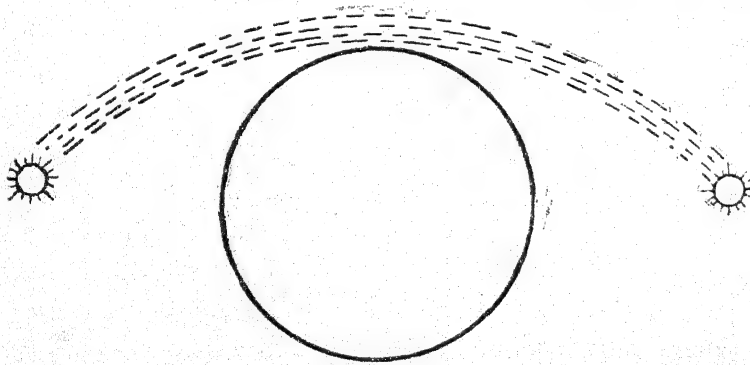
चित्र-संख्या १२ में प्र वृ रेखा तक प्रकाश-वृत्त है। उसके बाद सन्धि-प्रकाश है। वह धीरे धीरे गहरा होता जाता है और लगभग अठारह अंश तक रहता है। उसके बाद बिलकुल अन्धकार है। विषुववृत्त पर यह सन्धि-प्रकाश एक घण्टे बारह मिनट रहता है और ज्यों ज्यों ऊपर या नीचे जाओ त्यों त्यों उसका कालमान बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि ध्रुवों पर वह ढाई महीने तक रहता है। इस कारण ध्रुव-प्रदेशों में इसका परिणाम महत्त्व-कारक होता है। पहले ही बताया गया है कि उन प्रदेशों

चित्र-संख्या १२
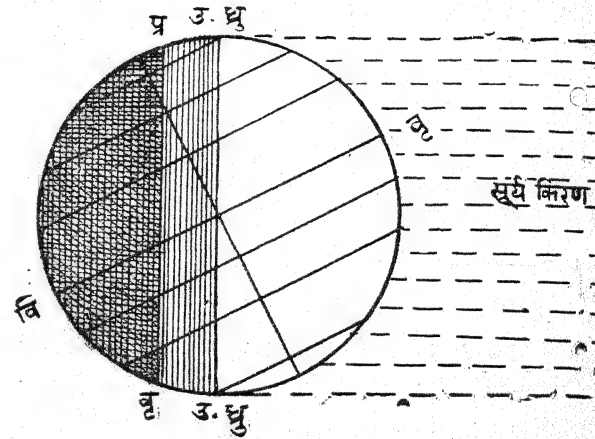
में चौबीस घण्टे का दिन ध्रुव से २३½ अंश तक हो सकता है। परन्तु सन्धि-प्रकाश के कारण चौबीस घण्टे का व्यावहारिक दिन और भी दूर तक हो सकता है। चित्र-संख्या १२ से यह बात स्पष्ट हो सकती है। दक्षिण-ध्रुव में चौबीस घण्टे का दिन दिखलाया गया है। वह २३½ अंश तक है। तदनन्तर सन्धि-प्रकाश है। सिद्धान्त के अनुसार वह २३½ + १८ अर्थात् ४१½ अंश तक होना चाहिए। परन्तु एक बात स्मरण में रखनी चाहिए। ऊपर जो कहा गया है कि १८ अंश नीचे से क्षितिज पर प्रकाश आ जाता है, यह बात गणित की दृष्टि से ठीक है। उतनी दूरी से क्षितिज प्रकाशमान होने लगता है। परन्तु प्रत्यक्ष व्यवहार में यह सन्धि-प्रकाश बहुत देर तक किसी काम का नहीं रहता। इसी प्रकार विषुववृत्त पर एक घण्टा बारह मिनट से ध्रुव पर ढाई महीने तक का सन्धि-प्रकाश का काल सिद्धान्तात्मक है। इसमें का बहुत सा

काल प्रत्यक्ष जीवन के व्यवहार के उपयोगी नहीं होता। इस कारण चौबीस घण्टे का व्यवहारोपयोगी दिन ४१½ अंश तक नहीं रहता, उससे कम दूरी तक रहता है और ऋतुमान के अनुसार यह बदलता रहता है। इसी सन्धि-प्रकाश के कारण ध्रुवों की छः महीने की रात प्रत्यक्षतः छः महीने की नहीं रह जाती। इस तरह इस प्रकाश का ध्रुव-प्रदेशों में बहुत भारी उपयोग है।

अब केवल एक चमत्कार का वर्णन और करना है। सब लोगों ने देखा होगा कि आकाश में सूर्य्य का स्थान ऋतु के अनुसार बदलता रहता है। लोगों को बहुधा थोड़े स्थान का अनुभव होता है। परन्तु पृथ्वी पर सूर्य की यह प्रत्यक्ष गति किस प्रकार बदलती रहती है, यह जानने की बात है।

यह पहले ही दिखला चुके हैं कि २१ जून को सूर्य उत्तर-गोलार्द्ध के २३°½ अंश पर मध्याह्न के समय ठीक सिर के ऊपर रहता है। इसी प्रकार २१ दिसम्बर को दक्षिण-गोलार्द्ध के २३°½ अंश पर मध्याह्न के समय

चित्र-संख्या १३

२१ दिसम्बर

२१ जून
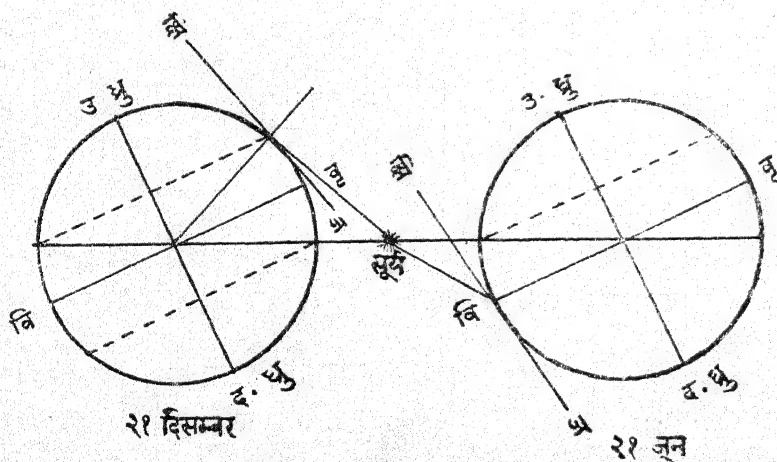
और २३ मार्च और २३ सितम्बर को विषुववृत्त पर मध्याह्न के समय वह ठीक सिर पर आता है। पहले यह जानना चाहिए कि अन्य कालों में इन स्थानों पर सूर्य किधर जाता दीख पड़ेगा।

उत्तर-गोलार्द्ध के २३°½ अंश तक सूर्य सिर पर आ सकता है। अर्थात् इस अंश के उत्तर में सूर्य सिर पर कभी नहीं आ सकता। अर्थात् शेष समय इस अक्षांश पर सूर्य दक्षिण की ओर से जाता दीख पड़ेगा। चित्र-संख्या १३ के देखने से इस बात का पता लग सकता है। २१ दिसम्बर के

चित्र-संख्या १४
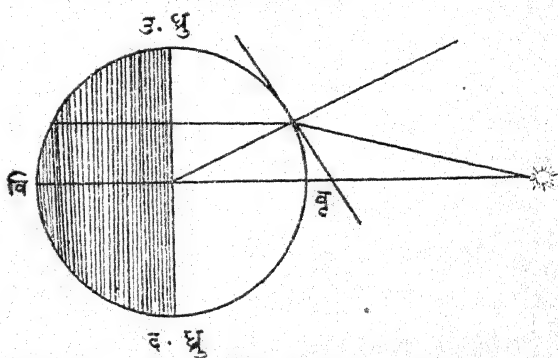
चित्र में २३°½ उत्तर-अक्षांश से सूर्य की ओर देखते हैं तो वह ख स्वस्तिक † से दक्षिण की ओर है। इसी प्रकार मार्च और सितम्बर की आकृतियों में जून का २३°½ उत्तर-अक्षांश से सूर्य दक्षिण ही की ओर दीखता है। अब २३°½ दक्षिण-अक्षांश का विचार कीजिए। २१ दिसम्बर को सूर्य मध्य पर है। फिर वह [समझ में आने के लिए आकृति को हमने सीधा कर दिया है और छाया और प्रकाश का आधा आधा भाग किया है। सितम्बर और मार्च के लिए एक ही आकृति काफी है।] उत्तर की ओर जाने लगता है। अर्थात् इसके नीचे सूर्य कभी मध्य पर नहीं पहुँचता। इस कारण शेष समय में सूर्य यहाँ उत्तर ही की ओर देख पड़ेगा।

एक बार सूर्य २३°½ उत्तर-अक्षांश पर सिर पर आता है और इसी तरह वह एक बार २३°½ दक्षिण-अक्षांश पर सिर

† ख स्वस्तिक सिर के ऊपर आकाश का बिन्दु है।

पर आता है। अर्थात् सूर्य की किरणें लम्बरूप से इन्हीं दो अक्षांशों के बीच पड़ सकती हैं और यह परिवर्तन छः छः मास में होता है। अर्थात् इन दो अक्षांशों के बीच प्रत्येक स्थान पर साल में सूर्य दो बार ठीक मध्य पर आवेगा। शेष समय में वह कभी उत्तर को तो कभी दक्षिण को होगा। ऊपर बतलाया गया है कि विषुववृत्त पर सूर्य २३ मार्च और २३ सितम्बर को मध्य पर आता है।

अब शेष पृथ्वी का हाल सरल है। २३°½ उत्तर-अक्षांश के उत्तर में सूर्य कभी सिर पर आता ही नहीं। अर्थात् यहीं से उत्तर-ध्रुव तक सूर्य सदा दक्षिणायन रहता है। २३°½ दक्षिण-अक्षांश के दक्षिण में सूर्य कभी सिर पर नहीं आता। अर्थात् यहां से दक्षिण-ध्रुव तक वह सदा उत्तरायण बना रहता है।

यह स्पष्ट ही है कि सूर्य के मध्याह्न बिन्दु का अन्तर क्षितिज से अक्षांश के अनुसार कम होता जायगा और यह ऊपर लिखा जा चुका है कि एक ही स्थान में ऋतु के अनुसार भी यह अन्तर कम तथा अधिक होता रहता है—ठण्ड में कम और ग्रीष्म में अधिक। इन बातों को भी ध्यान में रखना चाहिए। सूर्य के अयन के वर्णन का सारांश चित्र-संख्या १९ में दिया गया है।

चित्र-संख्या १९
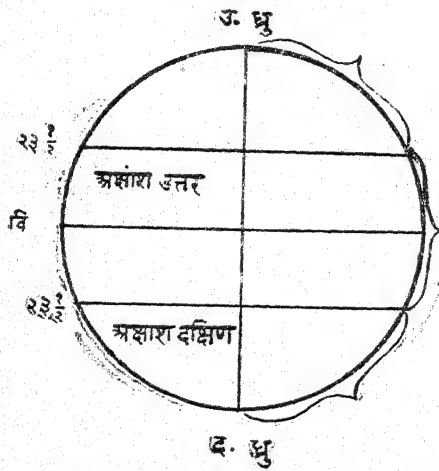
सदा दक्षिण की ओर।

२१ जून को सिर पर, फिर दक्षिण की ओर।

दो बार सिर पर फिर कभी उत्तर की ओर तो कभी दक्षिण की ओर।

२१ दिसम्बर को सिर पर, फिर उत्तर की ओर।

सदा उत्तर की ओर।

इस प्रकार सूर्य आकाश में पृथ्वी पर प्रत्यक्ष घूमता हुआ दीख पड़ता है।

गोपाल दामोदर तामस्कर

अमरीका।

सरस्वती के पाठक अमरीका के विषय में समय समय पर भारतीय यात्रियों के लेख प्रायः पढ़ते रहे हैं। उन लेखों को पढ़ कर अनेक विद्यार्थी और श्रमजीवी या व्यापारी अमरीका आने का सङ्कल्प कर लेते हैं, परन्तु उन्हें जान लेना चाहिए कि अमरीका का द्वार अब उतना विस्तृत नहीं रहा जितना कुछ साल पहले था, विशेष करके भारत, चीन और जापान के लिए तो वह बहुत ही सङ्कुचित होगया है। इन देशों के यात्रियों को यहाँ, अमरीका में, अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। मैं स्वयं भाग्य-दोष से इन आपत्तियों में आ फँसा हूँ! मेरी इच्छा है कि कोई भारतवासी अब अम-

रीका को बिना पूरी तैयारी के कदापि न आवे। जो श्रमजीवी हैं—विद्यार्थी नहीं हैं—उनको तो इस ओर क़दम ही न उठाना चाहिए। यदि विद्यार्थी यहाँ आना चाहें तो भारत से यहाँ आते समय अपने सम्बन्ध में जितने अधिक सर्टिफ़िकेट वे प्राप्त कर सकें उन्हें लेकर आवें। इसके सिवा उनका स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए, किसी प्रकार के संसर्गज रोग से ग्रस्त न हों। यहाँ स्वास्थ्य की जाँच बहुत सावधानी से की जाती है। थोड़ी सी बात के लिए भी चार चार पाँच पाँच महीने तक यात्रियों को अस्पताल में पड़ा रहना पड़ता है। व्यापारी और पर्यटक को अपने पास पूरे प्रमाण-पत्र रखने चाहिए। द्रव्य जितना ही अधिक अपने पास हो उतना ही अच्छा है।

जिन जिन आपत्तियों में से मुझे गुज़रना पड़ा है संक्षेप में पाठकों के ज्ञान एवं लाभ के लिए मैं यहाँ उनका उल्लेख करता हूँ।

इँगलेंड में आठ महीने तक रहने के बाद मार्च की तीस तारीख़ को अमरीका को Passage book कराने के लिए मैं कुक के दफ़्तर में गया। अमरीका के लिए पासपोर्ट मैंने पहले ही प्राप्त कर लिया था। इसलिए इस काम में कुछ भी देर न लगी। रुपये गिन कर मैंने शिपिङ्ग एजन्ट को सुपुर्द किये। उसने मुझे निश्चय करा दिया कि जो जहाज़ ३० तारीख़ को लिवरपुल से चलेगा उसमें तुम्हारा प्रबन्ध हो जायगा। तुम निश्चिन्त रहो।

सत्ताईस तारीख़ को मुझे कुक का एक पत्र मिला। उसमें लिखा था कि मुझे अपने सब प्रमाण-पत्रों पर भी अमरीका के कांसल के हस्ताक्षर कराने चाहिए। उसके हस्ताक्षर उन पर भी उतने ही आवश्यक हैं जितना कि पासपोर्ट पर। जहाँ मैं था वहाँ से मान्चस्टर निकट ही था और वहाँ अमरीका का एक कांसल था। अतएव २८ तारीख़ को मैं मान्चस्टर गया और वहाँ अमरीका के कांसल से मिला और उससे अपने प्रमाण-पत्रों पर हस्ताक्षर कर देने के लिए प्रार्थना की। साथ ही उसे वह पत्र भी दिखाया जो मुझे कुक के दफ़्तर से मिला था। सब वृत्तान्त सुन चुकने और पत्र पढ़ लेने के बाद कांसल ने मुझसे कहा कि इन काग़ज़ों पर हस्ताक्षर की कोई आवश्यकता नहीं है, पासपोर्ट पर जो हस्ताक्षर है वही पर्याप्त है। उसके कथनानुसार विवश होकर मैं उसी दिन सायङ्काल लिवरपूल को चला गया। दूसरे दिन जहाज़ बारह बजे छूटनेवाला था। अतएव सवेरा होते ही मैं 'ह्वाइटस्टार लाइन' के दफ़्तर में पहुँचा। अमरीका के लिए टिकट वहीं मिलता था। पहले तो वहाँ के एक आफ़िसर ने कई प्रश्न किये। तदनन्तर उसने पासपोर्ट और प्रमाण-पत्र माँगे। हस्ताक्षर-शून्य प्रमाण-पत्रों को देखते ही वह कहने लगा कि तुम अमरीका नहीं जा सकते। तुमने प्रमाण-पत्रों पर अमरीका के कांसल के हस्ताक्षर क्यों नहीं कराये?

मैंने बहुतेरा कहा कि मैं कांसल के पास गया था, किन्तु उसने कहा कि इन काग़ज़ों पर मेरे हस्ताक्षरों की कोई आवश्यकता नहीं है, पासपोर्ट के हस्ताक्षर ही से तुम्हारा काम चल जायगा। परन्तु उसने एक न सुनी और अन्त में लाचार होकर मुझे फिर मान्चस्टर को लौटना पड़ा।

मान्चस्टर आते आते शाम हो गई थी। सब दफ़्तर बन्द हो गये थे। इसलिए कांसल के पास न जा सका। दूसरे दिन प्रातःकाल ही फिर कांसल के कार्यालय में पहुँचा और उससे सारा हाल कह

सुनाया। मुझे वापिस आया देख कर वह झुँझला कर बोला, "मैं नहीं जानता कि ये प्रमाण-पत्र तुमको किसने दिये हैं। इन पर किसी मजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर करा कर लाओ।" सौभाग्यवश वहाँ के दो एक मजिस्ट्रेटों से मेरा परिचय हो गया था। उन्होंने बिना फ़ीस लिये ही मेरे काग़ज़ों पर अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस कार्य के हो जाने से मुझे बड़ी ख़ुशी हुई। मैंने समझा कि अब कोई दिक़्क़त न उठानी पड़ेगी। परन्तु हुआ बिलकुल मेरी धारणा के विपरीत। अपने मामले को जितना सुलझाने का यत्न मैंने किया उतना ही वह उलझता गया। जब कांसल ने सारे प्रमाण-पत्रों पर एक मजिस्ट्रेट के ही नहीं, किन्तु दो दो मजिस्ट्रेटों के हस्ताक्षर देखे और उसके साथ ही पार्लियामेन्ट के एक मेम्बर का एक बहुत उत्तम पत्र—जिसमें लिखा था कि मैं Bonafide student हूँ और अमरीका पढ़ने के लिए जाना चाहता हूँ—पढ़ा तब भी उसने साफ़ जवाब दे दिया कि मैं इन पर हस्ताक्षर नहीं करूँगा। यदि ह्वाइटस्टार लाइन तुमको नहीं जाने देती तो तुम किसी दूसरी जहाज़ी कम्पनी से अपनी यात्रा का प्रबन्ध करो। उसके इस अन्तिम उत्तर से मेरा मन बहुत ही खिन्न हो गया। मैंने सोचा कि हम भारतीयों के लिए इस संसार में सद् व्यवहार की आशा व्यर्थ है। हमारी पराधीनता हमारे कार्यों में सर्वत्र आड़े आती है।

कनार्ड लाइन नाम की एक दूसरी जहाज़ी कम्पनी है। यह भी इँग्लेंड से अमरीका को यात्रियों को ले जाती है। इसका बड़ा दफ़्तर लन्दन में है। इसकी एक शाखा मान्चस्टर में है। यहाँ भी भाग्य की परीक्षा की। किन्तु परिणाम वही निकला। पैसेजबुक करने के चार दिन बाद वहाँ से उत्तर मिला—

"We are sorry. We cannot help you in any way, owing to your nationality. we are not allowed to book you."

मेरे लिए अब कोई और उपाय शेष नहीं था, क्योंकि भारतीय होने का दोष अनिवार्य था। अन्त में मैं एक भारतीय सज्जन के पास गया और इनसे अपना सारा कच्चा हाल कह सुनाया। ये महाशय यहाँ कई साल से हैं और व्यापार करते हैं। कई एक जहाज़ी कम्पनियों से इनका परिचय भी है। ये मुझको एक शिपिंग एजेन्ट के पास ले गये। उसने मुझे पूर्ण विश्वास दिला दिया कि २० एप्रिल को जानेवाले एड्रियाटिक नामक जहाज़ में मेरे लिए स्थान का प्रबन्ध अवश्य हो जायगा। मैंने भी तुरन्त दूसरे दर्जे का किराया कोई ३६ पौण्ड उनके सुपुर्द किये। उसने रसीद मेरे हवाले की। इसके बाद उसने १८ तारीख़ की दोपहर को टेलीफ़ोन से मुझे सूचित किया कि यदि तुम दूसरे दर्जे से जाना चाहते हो तो तुमको पूरी केबिन रिज़र्व करानी पड़ेगी और उसका किराया ५५ पौंड देने पड़ेगा। इसका भी कारण वही मेरा भारतीय होना था। मेरी देह भारत की मिट्टी से बनी है जिसको गोरा संसार घृणा की दृष्टि से देखता है। उसने स्पष्ट बता दिया कि तुम्हारे केबिन में कोई गौराङ्ग बैठना न स्वीकार करेगा। अतएव कम्पनी की हानि होगी।

मैंने उससे कहा कि यदि दूसरे दर्जे का किराया ५५ की जगह ६० पौंड होता तो भी मैं प्रसन्नता से देकर उसी दर्जे से यात्रा करता। परन्तु

जब मामला ऐसा है तब मैं तीसरे दर्जे से ही जाने को तैयार हूँ।

१९ एप्रिल की दोपहर को मुझे सूचना मिली कि २० तारीख़ को चलनेवाले एड्रियाटिक नाम के जहाज़ में थर्ड क्लास में मुझे जगह मिल गई है। सौथम्पटन से मैं अमरीका के लिए प्रस्थान कर सकता हूँ। तुरन्त बोरिया बिस्तर उठा कर मैं मान्चस्टर से लंदन को रवाना हुआ। मुझे वहाँ अपने एक मित्र से मिलना था। दस बजे रात को गाड़ी लंदन पहुँची। मेरे मित्र स्टेशन पर ही मिल गये। वे ग्यारह बजे तक मेरे साथ रहे। इसके बाद वे अपने स्थान को चले गये। मुझे दूसरे दिन प्रातः सात बजे की गाड़ी लेनी थी, जो लंदन से सौथम्पटन को जाती थी, इसलिए मैं स्टेशन के पास होटल में ठहर गया।

२० तारीख़ को बारह बजे कई परीक्षाओं में से निकलता हुआ मैं जहाज़ पर चढ़ा। यहाँ एक नया ही दृश्य देखने में आया। जैसे बड़े बड़े शहरों में चिड़िया-घरों में भाँति भाँति के और भिन्न भिन्न रङ्ग के एवं नाना प्रकार की बोली बोलनेवाले पक्षी एकत्र किये जाते हैं, उसी तरह यह जहाज़ भी मनुष्यों का एक चिड़िया-घर था। कोई दस बारह देशों के भिन्न भिन्न जाति के नर-जीव इसमें सङ्ग्रह किये गये थे। न तो उनकी बोली मिलती थी, न पहरावा ही। कोई ग्रीक था, कोई इटेलियन था। कितने ही हंगेरियन थे, एक अच्छी संख्या रोमानियन लोगों की थी। लगभग आधे के यहूदी थे। इसके अतिरिक्त कितने ही ऐसे छोटे छोटे देशों के निवासी थे जिनका नाम तक मैंने कभी नहीं सुना था। भारतीय होने का दावा केवल मैं ही करता था। मेरे सिवा उस जहाज़ पर और कोई भारतीय यात्री नहीं था। इस यात्रा में मुझे जहाँ अनेक कष्ट सहन करने पड़े वहाँ कुछ भिन्न भिन्न देशों के निवासियों का आचार-व्यवहार, रहन-सहन, बोल-चाल आदि जानने का अच्छा अवसर मिल गया। सबसे अधिक आश्चर्य यहूदी जाति की स्त्रियों के पहरावे को देख कर हुआ। उनके पहिरावे में और कलकत्ते की मारवाड़ी स्त्रियों के पहरावे में रत्ती भर का अन्तर नहीं था। वे उसी प्रकार के बड़े घेरदार लहँगे और उसी प्रकार के आभूषण हाथों और कानों में पहने थीं जैसे मारवड़ी स्त्रियाँ पहनती हैं। अन्तर था तो इतना ही कि मुँह पर घूँघट नहीं था। यहूदी लोग अपनी कृपणता के लिए संसार में प्रसिद्ध हैं। उनके साथ रहने का भी अवसर मुझे मिला है। पर इन यहूदी यात्रियों में ऐसे बहुत कम थे जो अँगरेज़ी बोल सकते थे। उनका पहरावा भी अँगरेज़ों से बहुत भिन्न था। उनके कपड़े-लत्ते बहुत ही मैले थे। अपने रंग-ढङ्ग से वे दरिद्रता के पूरे अवतार मालूम पड़ते थे। उनकी लम्बी लम्बी दाढ़ियाँ समुद्र की तीव्र वायु से उड़ उड़ कर पास बैठे हुए यात्रियों के मुख-मण्डल को जब 'साफ़्टब्रश' का काम देने लगती थीं तब यात्रियों के हास्य के लिए ख़ासा अवसर उपस्थित हो जाया करता था। इटली-निवासियों की भी संख्या कुछ कम नहीं थी। इन लोगों का गाना और नाचना बहुत कुछ भारतीय गान और नाच से मिलता-जुलता है।

पहला दिन शान्ति से निकल गया। समुद्र शान्त था। दूसरे दिन प्रातःकाल ही से डेक की दशा भयङ्कर होने लगी। समुद्र की बीमारी का ज़ोर

बढ़ने लगा। जहाँ देखो वहाँ वमन। डेक पर यात्रियों के बैठने के लिए काफ़ी बेंचें नहीं थीं। एक तिहाई यात्रियों के लिए बेंचों पर स्थान नहीं था। सैकड़ों बच्चे और स्त्रियाँ डेक पर ही पड़ जाती थीं। जब चक्कर आता था तब पास ही वमन भी कर देती थीं। बहुत भयङ्कर दृश्य था। यह दशा दो दिन रही। तीसरे दिन समुद्र का प्रकोप भी कम हुआ और यात्री भी उसके अभ्यस्त हो गये थे। धीरे धीरे सब लोग स्वास्थ्य-लाभ करने लगे।

२६ एप्रिल को सायङ्काल कोई आठ बजे हमारा जहाज़ अमरीका की स्वतन्त्र-भूमि के दर्शन करता। अतएव उस दिन प्रातःकाल ही से सब यात्रियों के मुख उत्साह और प्रसन्नता से खिल उठे। प्रातः-काल यह हुक्म मिला कि डाक्टर पहले सब लोगों की जाँच करेगा। उसके बाद यदि समय रहेगा तो तीसरे दर्जे के यात्री उतार दिये जायँगे। जाँच का समय सवेरे सात बजे निश्चय हुआ था, परन्तु डाक्टर साहब साढ़े नौ बजे तशरीफ़ लाये। हम लोगों का निरीक्षण ढाई बजे तक होता रहा। बहुत से यहूदी और इटली-निवासी मैले होने के कारण रोक लिये गये। जहाज़ चार बजे के लगभग बन्दरगाह में पहुँचा। पहले और दूसरे दर्जे के यात्री उतर गये। तीसरे दर्जे के यात्रियों को ये आज्ञायें दी गईं—उनको रात में गरम पानी से स्नान करना पड़ेगा। जो कपड़े वे पहने हैं वे सब मशीन में धोये जायँगे, अतएव जब तक कपड़े न मिलें तब तक कम्बल लपेट कर गुज़र की जाय और सब सामान बाहर डेक पर निकाल कर रख दिया जाय। स्नान के बाद कोई आदमी केबिन में न जा सकेगा।

हम लोगों का स्नान-कार्य रात के तीन बजे तक समाप्त न हो सका। जो कपड़े धुल कर मिले वे ऐसे मसल गये थे कि पहनने के योग्य न रह गये थे। विवश होकर उन्हीं को पहनना पड़ा। ढाई बजे रात को अपना अपना सामान उठा कर हम लोग जहाज़ से नीचे उतरे। कोई आधा मील पैदल चलने के बाद हम लोग एक बड़े कमरे में पहुँचाये गये। यहाँ फूस के गद्दे पड़े थे। उन्हीं पर किसी तरह उलटे सीधे पड़ कर रात काटी, किन्तु इस बात की चिन्ता बढ़ रही थी कि देखें कल क्या होता है। दिन भर कुछ भी खाने को न मिला था और रात में सोना भी न नसीब हुआ। जैसे तैसे सवेरा हुआ। चाय और डबल रोटी के कुछ टुकड़े खाने को मिले। उसके बाद अपना सामान उठा कर चुङ्गीघर पहुँचे। यहाँ सामान की तलाशी हुई। यह प्रक्रिया समाप्त होने के बाद आज्ञा हुई कि सब यात्रियों को 'एलिस आइलेंड' जाना होगा। वहाँ फिर डाक्टरी परीक्षा होगी। एक दूसरे छोटे बोट पर सब यात्री सवार हुए और पौन घण्टे में एलिस आइलेंड जा पहुँचे। न्यूयार्क से कोई डेढ़ दो मील के अन्तर पर समुद्र में छोटे छोटे तीन द्वीप हैं। यही एलिस आइलेंड कहलाते हैं। इन्हीं में से एक द्वीप में एमी-ग्रेशन बोर्ड का दफ़्तर है। इसमें प्रायः तीसरे दर्जे के सब यात्रियों को आना पड़ता है। यहाँ उनकी फिर डाक्टरी होती है। इसके सिवा उन्हें कई एक दफ़्तरों में हाज़िर होना पड़ता है। वहाँ उनसे भिन्न भिन्न प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं। अन्त में Immigration Authorities के दफ़्तर में जाना पड़ता है। यहाँ की परीक्षा में उत्तीर्ण होना ज़रा टेढ़ी खीर है। जो यहाँ से पार हो गया उसको न्यूयार्क में उतरने की आज्ञा मिल जाती है। जो अनुत्तीर्ण

हुआ उसे अपना सा मुँह लेकर वापिस लौटना पड़ता है। जिन यात्रियों का मामला विचाराधीन कर दिया जाता है उनको इसी द्वीप में एक दिन से लेकर एक एक बरस तक पड़ा रहना पड़ता है। ईश्वर न करे किसी आदमी को यहाँ एक दिन भी रहने का अवसर प्राप्त हो। इस स्थान को निरपराधियों का जेल समझना चाहिए। यहाँ के लोग यात्रियों के साथ पशुओं से भी बुरा व्यवहार करते हैं। निस्सन्देह यहाँ हर जगह ऐसे साइनबोर्ड लगे हुए हैं जिन पर बड़े बड़े अक्षरों में लिखा हुआ है कि "Immigrants are treated with civility and kindness." परन्तु वास्तव में यहाँ के लोगों में मनुष्यता का नाम भी नहीं है। यहाँ के मामूली से मामूली मज़दूर भी पहले और दूसरे दर्जे के बड़े बड़े आदमियों तक के साथ ऐसी बुरी तरह से पेश आते हैं कि जिसका कुछ कहना नहीं। कितने ही यात्रियों को मैंने फूट फूट कर रोते देखा है।

प्रायः डेढ़ दो हज़ार यात्री इस द्वीप में सदा बने रहते हैं। उनके रहने के लिए बड़े बड़े मकान बने हुए हैं। वे दिन में एक बड़े हाल में गिन कर भर दिये जाते हैं और बाहर से ताला लगा दिया जाता है। जब जिसको बुलाना हुआ ताला खोल कर बाहर निकाल लिया और फिर ताला लगा दिया। तीसरे दर्जे के यात्रियों के कमरों में बैठने को जगह नहीं मिलती। जिस कमरे में तीन सौ आदमी भरे हुए हों उसमें दस-पाँच बेंचों से कैसे काम चल सकता है? जिसको मौक़ा मिला वही बैठ गया। बाक़ी लोग ज़मीन पर पड़े रहते हैं। दूसरे दर्जे के यात्रियों के कमरे में कुछ अधिक बेंचें रख दी जाती हैं, बस इतना ही अन्तर है। सारे यात्री सवेरे सात बजे कमरों में बन्द कर दिये जाते हैं और नाश्ते के लिए साढ़े सात बजे निकाले जाते हैं। खाने को जो मिलता है उसकी कथा न पूछिए। हम जैसे निरामिष भोजियों को कई दिन चाय ही से रोटी खाकर सन्तोष करना पड़ा। जो मांस-भोजी हैं वे भी खाने की रकाबियाँ न छूते थे। नाश्ते के बाद फिर उसी कोठरी में बन्द कर दिये जाते हैं और साढ़े बारह बजे भोजन करने के लिए फिर निकाले जाते हैं। भोजन के उपरान्त कोई पौन घण्टे तक एक बड़े बरामदे में घूमने के लिए आज्ञा दी जाती है। वह बरामदा भी चारों ओर लोहे के सीख़चों से घिरा होता है। इस वायु-सेवन के बाद फिर वही कमरा हम लोगों का आश्रय-स्थल बनता था। सायङ्काल चार बजे चाय और रोटी खाने को मिलती है, सात बजे सायङ्काल फिर गिनती होती है और सोने के कमरों में भेजे जाते हैं। यहाँ सिर्फ़ दो कम्बल मिलते हैं। एक ऊपर ओढ़ने को दूसरा बिछाने के लिए। तकिया और चादर का दस्तूर नहीं है। यहाँ के पलँगों पर एक आदमी मुश्किल से सिकुड़ कर एक करवट सो सकता है। प्रातः ६ बजे से फिर वही कवायद शुरू होती है; सोनेवाले कमरे से निकाल कर दूसरे कमरे में फिर बन्द कर दिये जाते हैं। यहाँ की दुर्दशा अवर्णनीय है।

दूसरा द्वीप उन यात्रियों के लिए है जो कुछ बीमार पाये जाते हैं। तीसरा द्वीप सङ्क्रामक रोगों के रोगियों के लिए है। ईश्वर की कृपा से इन दोनों द्वीपों का अनुभव प्राप्त करने का अवसर मुझे नहीं प्राप्त हुआ।

अच्छा, जब एलिस टापू में आये तब फिर डाक्टरी परीक्षा हुई। इसमें उत्तीर्ण होने के बाद एमीग्रेशन

बोर्ड के सम्मुख उपस्थित किये गये। यहाँ मुझसे अनेक प्रकार के प्रश्न किये गये। मैंने उनका सन्तोष-जनक उत्तर दिया। अन्त में मुझसे पूछा गया कि तुम्हारा कोई मित्र यहाँ है? तुम किसके पास जाकर ठहरोगे? मैंने कहा कि न्यूयार्क में एक हिन्दुस्तान-असोसिएशन है। प्रायः सब हिन्दुस्तानी वहीं जाकर ठहरते हैं। मैं भी वहीं जाऊँगा। उसके सेक्रेटरी के नाम मेरे पास एक पत्र भी है। इस पर उसने कहा कि अच्छा, हम उनको तार देते हैं। जब वे यहाँ आकर तुम्हें छुड़ाने के लिए उपस्थित होंगे तब तुम उनके साथ जा सकोगे। तब तक तुम्हें यहीं रहना होगा।

हिन्दुस्तान-असोसिएशन के मंत्री का पत्र मुझे तीन मई को मिला था। उसमें उन्होंने लिखा था कि हम बहुत शीघ्र आकर तुमको छुड़ा ले जायँगे, परन्तु अत्यन्त शोक से लिखना पड़ता है कि तीन तारीख़ से लेकर १३ तारीख़ तक मुझे कोई छुड़ाने न आया। अन्त में यंगमैन क्रिश्चियन असोसिएशन (Y. M. C. A.) के आदमियों ने आकर मुझे छुड़ाया। जब इस ईसाई संस्था के आदमी ने मुझको अपना आदमी बताया तब मुझे बड़ी लज्जा मालूम हुई। जिनसे हमारा कुछ सम्बन्ध नहीं उनको हमारी इतनी चिन्ता है और जो हमारे देशी भाई हैं वे इतने लापरवाह हैं। जब एलिस टापू की काल-कोठरी से मेरा छुटकारा हुआ तब मैंने ईश्वर को सहस्रों धन्यवाद दिये। यह किसे ज्ञात था कि अमरीका जैसे स्वतन्त्र देश में इतनी परतन्त्रता भोगनी पड़ती है। अस्तु इस बात का भी पूरा अनुभव हो गया।

अपने देश-बन्धुओं से मेरा यह निवेदन है कि जो व्यक्ति अमरीका आना चाहे उसे आगे लिखी हुई बातों की ओर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

१—तीसरे दर्जे में यात्रा कभी न करे।

२—द्रव्य जितना ला सके उतना ही अच्छा है। कम से कम उसके पास तीन हज़ार रुपये होने ही चाहिए।

३—आने से पहले यहाँवालों से अच्छी तरह पत्र-व्यवहार कर ले। यदि विद्यार्थी है तो विश्वविद्यालयों से पत्र-व्यवहार कर रक्खे और उस पत्र-व्यवहार को अपने साथ लेता आवे। यदि व्यापारी है तो उसको पूरे प्रमाण-पत्र रखने चाहिए कि वह व्यापार के लिए आया है।

४—जिनकी आँखें रोग-ग्रस्त हैं उन्हें यहाँ आने का कष्ट न उठाना चाहिए। इसी प्रकार संक्रामक रोग से पीडित लोगों को भी इस देश में आने का यत्न न करना चाहिए, डाक्टरी परीक्षा बहुत सावधानी से होती है।

५—यदि कोई एलिस टापू में पड़ जाय तो उसे चाहिए कि तुरन्त Y. M. C. A. वालों को सूचित करे। वे लोग तुरन्त आकर सब अवस्था पूछते हैं और छुड़ाने का पूरा यत्न करते हैं।

आशा है अन्य भारतीय जो इस देश में आवेंगे इन कठिनाइयों से दुःख न उठावेंगे जो मुझे उठाने पड़े हैं।

एस० बहादुर

मछलियों की प्रकृति और उनके गुणों के विषय में कुछ बातें।
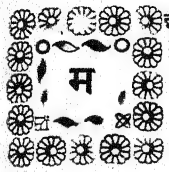
मछलियाँ भी एक विचित्र जीव हैं। इनका निवासस्थान जल ही है। ये जल-चर जीव हैं और बिना जल ये क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकतीं। "माही बे आब" अथवा "जल बिना मछली" की लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसका कारण यह है कि मछलियों की श्वासेन्द्रियाँ (Respiratory organs) और श्वास लेने की रीति अन्य जीवों की अपेक्षा भिन्न होती है। अतएव जल के बाहर श्वास की कठिनाई के कारण ये तत्काल मर जाती हैं।

बहुधा जीवों में श्वास दो प्रकार के होते हैं :—

(१) एक तो ब्रेन्कायल रिसपिरेशन (Branchial respiration) अर्थात् वह श्वास जो गलफड़े (Gills) के द्वारा ली जाती है। यह साधारण मछलियों में होती है।

(२) दूसरी पलमोनरी रिसपिरेशन (Pulmonary respiration) अर्थात् वह श्वास जो फेफड़े के द्वारा ली जाती है। यह कछुआ, घड़ियाल, खरगोश, मनुष्य इत्यादि में पाई जाती है।

मछलियों की श्वासेन्द्रियाँ अर्थात् गलफड़े सिर के दोनों ओर होते हैं। प्रत्येक ओर के गलफड़े गिनती में ४ वा ५ होते हैं। अर्थात् दोनों ओर के मिला कर वे कुल ८ वा १० के लगभग होते हैं। ये एक ढकने से दोनों ओर ढके रहते हैं (चित्र सं० १ क)। गलफड़े रक्त की नाड़ियों और नसों से व्याप्त होते हैं। इस कारण इनका भी रंग लाल होता है। (चित्र सं० १ ग) जब मछली श्वास लेने लगती है तब उसके गलफड़ों के ढकने बार बार खुलते और बन्द होते हैं। इस क्रिया के कारण मछली के कण्ठ में जल पहुँच जाता है और उससे दोनों तरफ़ के गलफड़े खूब तर रहते हैं।

श्वास के विषय में भी कुछ वर्णन करना आवश्यक है। वह क्या वस्तु है, इसका भी उल्लेख कर देना ज़रूरी है आक्सिजन वायु को कारबनद्वियोजन (Carbon dioxide) के बदले में लेना ही श्वास कहलाता है। आक्सिजन वायु और जल में होता है और वह प्राण के लिए अमूल्य पदार्थ है। इसके बिना सांसारिक जीव कभी जीवित नहीं रह सकते और न उनका स्वास्थ्य ही ठीक रह सकता है। कारबनद्वियोजन एक विषैला वायु है। शरीर में इसकी अधिक मात्रा का होना हानिकारक है। यह विषैला वायु रक्त की नाड़ियों तथा नसों में जीवों के खाद्य पदार्थ से उत्पन्न होता है। ऊपर लिखा जा चुका है कि मछली के गलफड़े में रक्त की नाड़ियाँ तथा नसें होती हैं और वे जल से तर रहती हैं। फलतः रक्त में आक्सिजन का शोषण हो जाता है और रक्त का विषैला वायु अर्थात् कारबनद्वियो-

चित्र (१) मछली की श्वासेन्द्रिय।

(क) 'ढकने' अपनी असली अवस्था में। (ख) 'ढकने' काटने के पश्चात्। (ग) रक्त से परिपूर्ण गलफड़ा।

जन जल में सम्मिलित हो जाता है। मछलियाँ इसी रीति से श्वास लेती हैं।

फेफड़ेवाले जीव जिस प्रकार श्वास लेते हैं वह इस तरह है। इन जीवों में प्रायः ऐसे भी हैं जो जल-निवासी हैं। कछुआ, घड़ियाल, ह्वेल इत्यादि इसी श्रेणी के जीव हैं। श्वास लेने के समय ये जीव अपना सिर जल से बाहर निकालते हैं और वायु को नासिका के द्वारा भीतर खींचते हैं। इस तरह वायु उनके फेफड़ों में पहुँच जाता है और उसके आक्सिजन का शोषण फेफड़े की नाड़ियों तथा नसों में हो जाता है। इनकी नासिका में दो छिद्र बाहर और दो भीतर होते हैं। पर इनकी अपेक्षा मछलियों की नासिका में केवल बाहर ही छिद्र होते हैं। मछली की नासिका श्वास के समय कुछ काम नहीं करती। वह केवल सूँघने का काम करती है। फेफड़ेवाले जीवों की अपेक्षा मछली अपनी श्वासेन्द्रियों की बनावट की विचित्रता के कारण जल के बाहर जीवित नहीं रह सकती। वह केवल जल ही के द्वारा आक्सिजन ग्रहण करने में समर्थ होती है।

अन्य मछलियों की श्वासेन्द्रियाँ।

ऐसी जाति की भी मछलियाँ होती हैं जो जल के बाहर बहुत देर तक जीवित रहती हैं। इसका क्या कारण है? इन मछलियों में केवल गलफड़े ही नहीं होते, किन्तु इनके अतिरिक्त और प्रकार की श्वासेन्द्रियाँ होती हैं। इनको "सहायक श्वासेन्द्रियाँ" कहते हैं। मगुरी, सौरी, सींग, कोई, कछिया आदि जाति की मछलियों में सहायक श्वासेन्द्रियाँ होती हैं। ये मछलियाँ बहुधा अपने प्राकृतिक स्थान जल को छोड़ कर भूमि पर भी निवास करती हैं और "सहायक श्वासेन्द्रियों" के द्वारा श्वास लेती हैं। इस कारण ये जल के बाहर भी जीवित रहती हैं। इन मछलियों की प्रत्येक जाति का रूप तथा उनकी बनावट विभिन्न प्रकार की होती है।

यहाँ हम केवल मगुरी और सींग की श्वासेन्द्रियों का वर्णन करते हैं। मगुरी में ये इन्द्रियाँ गलफड़े के ऊपर के स्थान में होती हैं और घने वृक्ष के समान शरीर के दोनों ओर लगी रहती हैं। (चित्र सं० २)। रक्त की नाड़ियों से परिपूर्ण होने के कारण इनका भी रंग लाल होता है। सींग की सहायक श्वासेन्द्रियाँ थैले के समान होती हैं। ये गिनती में दो होती हैं और इनकी लम्बाई मछली की शरीर की लम्बाई की आधी होती हैं। ये शरीर के दोनों ओर मांस-पेशियों में घसी रहती हैं। इनका रंग सफ़ेद होता है। सहायक श्वासेन्द्रियों के कारण कोई मछली मिट्टी के ख़ाली बरतन में भी कई दिन तक जीवित रहती है।

चित्र (२) 'मगरी' मछली के श्वासेन्द्रिय का

ढकना काटने के पश्चात्

लन्दन के एक प्रसिद्ध पशु-विद्याविद् हिकसन साहब का कथन है कि पेरियोपथैलमस (Periopthalmus) जाति की मछली पूँछ के द्वारा श्वास लेती है। यह मछली समुद्र-तट पर बहुधा जल के बाहर बैठी रहती है, पर इसकी पूँछ जल के भीतर ही डूबी रहती है। हेडन साहब ने उस मछली के विषय में परीक्षा द्वारा यह निश्चय किया है कि जल के बाहर उसके गलफड़े श्वास-क्रिया का कुछ कार्य नहीं करते और पूँछ रक्त की नाड़ियों

कोई शाखा हाथ न आई। एक तो योंही अँधेरा था, उस पर डाल-पत्तों ने और भी घना अँधेरा कर रक्खा था। उसी अँधेरे में काली काली शाखाएँ छिपी हुई थीं।

अब हेमन्त किसी तरह प्राचीर पर खड़ा हो गया। हाथ फैलाये, पर कोई डाल हाथ न आई।

अब और एक व्यक्ति के पैरों की आहट मिली। हेमन्त ने सोचा कि जो प्राचीर पर ही खड़ा रहता हूँ तो यहाँ से निकलनेवाला मनुष्य अवश्य ही मुझे देख लेगा; अतएव यहाँ अँधेरे में चुपके से बैठ रहने में ही भलाई है। बैठते समय प्राचीर के सिरे से ज़रा सा चूना नीचे गिर पड़ा।

जो मनुष्य आ रहा था वह इस शब्द को सुनकर ठिठक गया। उसने सोचा, जमरूल गिरा है। वह इसी मुहल्ले में रहता है। उसने पहले भी यहाँ से जमरूल उठा कर चक्खे हैं। नीचे जमरूल ढूँढते ढूँढते उसने जो ऊपर देखा तो "बाप रे चोर है!" कह कर भगदड़ मचा दी।

उसकी यह हिम्मत देख कर हेमन्त को हँसी आई। किन्तु तुरन्त ही भय का भी कारण उपस्थित हुआ। उसने सुना, मोड़ पर कोई कह रहा है—कौन है? क्या है रे?

कम्पित स्वर—एक चोर है जमादार साहब।

"कहाँ है, बताओ।"

"वहाँ। मित्तिर बाबू के बाग़ की दीवार पर एक चोर बैठा है। बैठा बैठा मज़े में जमरूल खा रहा है।"

यह सुनते ही सिपाही ने "जोड़ीदार हो" की भीषण आवाज़ दी।

प्राचीर पर बैठे बैठे हेमन्त ने इस घटना को योंही समझा। किन्तु लहमे भर में ही सुन पड़ी दौड़ते हुए लोगों के देशी जूते की आवाज़। बुलस-आई लालटैन की साफ़ रोशनी भी सड़क पर दीख पड़ी।

तब, निरुपाय होकर, हेमन्त बाग़ में कूद पड़ा। नीचे कुछ टूटी हुई ईंटें पड़ी थीं। उनके कारण हेमन्त की देह में जगह जगह पर चोट लग गई।

पुलिस का सिपाही दौड़ता दौड़ता ठीक वहीं आगया। दीवार और पेड़ को लालटेन की रोशनी में ख़ूब देख-भाल कर वह फिर दौड़ता हुआ लौट गया।

अब हेमन्त धीरे धीरे उठ कर खड़ा हुआ। मकान की ओर नज़र उठा कर देखा, दो मञ्ज़िले के एक जँगले से मामूली उजेला दीख रहा है। और सारे जँगले बिलकुल बन्द हैं—उनमें अँधेरा है।

हेमन्त ने खड़े होकर धोती उतार डाली। वह धोती के नीचे फ़ुटबाल खेलने का पाजामा पहन आया था जो घुटनों तक था। उसने सोचा था कि धोती पहने हुए रस्सी की सीढ़ी पर चढ़ते समय धोती में पैर उलझ सकता है। धोती उतार कर उसने जमरूल के पेड़ पर इस इच्छा से टाँग दी कि जब सवेरे यहाँ से जाने लगूँगा तब पहनता जाऊँगा। कमर में जो अलवान बँधी थी वह ज्यों की त्यों बँधी रहने दी।

इस दशा में हेमन्त जँगले की ओर बढ़ा। कोई फूल का पौदा पैरों तले दब कर कहीं कुचल न जाय, इस आशङ्का से वह, बड़ी सावधानी से, रास्ता ढूँढ़ ढूँढ़ कर आगे बढ़ने लगा।

अभी आधी ही दूर पहुँचा था कि अचानक बाग़ का फाटक खुला। हाथ में लालटैन लिये हुए

तीन-चार आदमियों ने बाग़ में घुस कर कहा—"कहाँ है, जमादार साहब ?" सिपाही बोला—"जमरूल के पेड़ तले था।" अब वे लोग जमरूल के पेड़ की तरफ़ बढ़ चले।

हेमन्त एक पेड़ की ओट में खड़ा होगया। गले का स्वर पहचानने से उसको मालूम हुआ कि घर का जमादार महावीरसिंह दो दरबानों समेत काँस्टेबल के साथ आया है।

कुछ दूर जाकर महावीरसिंह ने कहा—कोई तो नहीं जान पड़ता है।

सिपाही बोला—तो क्या भाग निकला ? हमने तो उसे अपनी आँखों कूदते देखा है। क्षण भर में ही "वह क्या है, वह क्या है" कहते हुए सभी जमरूल के पेड़ की ओर बढ़े। देखा कि पेड़ की शाखा से हेमन्त की जो सफ़ेद धोती लटक रही थी उस पर लालटेन की रोशनी पड़ी। यह देख कर, इस विपत्ति में फँसे रहने पर भी, हेमन्त को मिनिट भर के लिए हँसी आगई।

"लेना है, पकड़ लिया है चोर को"—कह कर हल्ला मचाते हुए वे लोग उस धोती की ओर लपके। पास पहुँच कर उन लोगों ने कहा—धत्तेरे की, यह तो ख़ाली धोती है। धोती को पेड़ से निकाल कर वे लोग भली भाँति जाँचने लगे।

इसी समय दोमञ्ज़िले का एक और जँगला खुल गया, उसमें होकर प्रकाश फैलने लगा। राय बहादुर के गले के आवाज़ थी—महावीरसिंह, क्या है ?

काँस्टेबल आदि ने वहीं से चिल्ला कर कहा—हुज़ूर, बग़ीचे में चोर घुसा है।

राय बहादुर—ढूँढ़ कर गिरफ़्तार कर लो।

तब वे लोग लालटेन लेकर बाग़ में चोर को खोजने लगे।

हेमन्त ने देखा, बड़ी विपत्ति है। वे लोग ढूँढ़ते ढूँढ़ते यहीं आ जायँगे। अब क्या करूँ ? भागना चाहूँ तो दीवार फाँदने के सिवा और रास्ता नहीं। उसने जूते उतार डाले। सिपाही और दरबान आदि बाग़ में भीतर जाने लगे और इधर हेमन्त पेड़ों की ओट ही ओट में बाग़ की दीवार की ओर बढ़ने लगा।

ज़रा ही देर में एक आदमी चिल्ला उठा—"वह साला भागा जाता है !"—वहाँ बाग़ में एक नक़ली पहाड़ी बनी थी। हेमन्त ने एक पत्थर उठा कर उन लोगों की ओर बड़े ज़ोर से फेंका।

"अरे बाप रे बाप—जान गई" कह कर एक आदमी कराहने लगा।

राय बहादुर—क्या हुआ रे ?

इसी समय वहाँ और भी दो-तीन पत्थर गिरे। आदमी इधर-उधर हट गये। राय बहादुर को उत्तर दिया—हुज़ूर, पत्थर से महावीरसिंह की खोपड़ी फोड़ दी है।

"अच्छा, ठहरो; हम बन्दूक़ निकालते हैं"—कह कर राय बहादुर ने फट से जँगला बन्द कर लिया।

हेमन्त ने देखा कि अब प्राचीर के पास पहुँचना सरल काम नहीं; रानी के शयनागार का जँगला, प्राचीर की अपेक्षा समीप है। किसी प्रकार यदि उस जँगले की ओर पहुँच सकूँ तो उसी निसेनी पर चढ़-कर ऊपर पहुँच जाऊँ—फिर ये लोग बाग़ीचे में सिर मारा करें, और पिताजी दनादन बन्दूकों की बाढ़ दाग़ा करें। यह सोच कर वह वृक्षों की आड़ में

छिपता छिपता जँगले के समीप पहुँच गया। फिर निसेनी को पकड़ कर ऊपर चढ़ने लगा।

जब वह आधी ऊँचाई पर चढ़ गया तब खिड़की से दन से बन्दूक़ दाग़ी गई। एक नौकर हाथ में लालटेन लिये था, उसके साथ राय बहादुर ने बाग़ीचे में प्रवेश किया। बहू के जँगले की ओर नज़र पड़ते ही उन्होंने ज़ोर से आवाज़ दी—कौन है रे?

बात की बात में हेमन्त जँगले में पहुँच गया। भीतर पहुँच कर उसने तुरन्त ही निसेनी को खींच कर किवाड़ बन्द कर लिये।

राय बहादुर ने आवाज़ दी—"चोर घर में घुस गया—चोर घर में घुस गया। दौड़ो, सब लोग भीतर चलो—उसको पकड़ लो। भागने न पावे।" यह हुक्म देकर वे नौकरों-चाकरों के साथ घर में गये। आदमी आँगन में सावधानी से डट कर खड़े होगये और वे स्वयं हाथ में बन्दूक़ लिये ऊपर दौड़ते गये। बहू के शयनागार के दरवाज़े पर उन्होंने धक्का दिया।

नौकरनी ने कम्पित करों से दरवाज़ा खोल दिया।

राय बहादुर ने कमरे में जाकर देखा, पुत्र-वधू पृथ्वी पर मूर्च्छित पड़ी है और सिर से पैर तक रज़ाई ओढ़े हुए चोर पलँग पर सो रहा है।

❀ ❀ ❀ ❀

दूसरे दिन राय बहादुर ने "सामाजिक-समस्या-समाधान" पुस्तक में एक जगह 'चतुर्विंशति' वर्ष शब्द काट कर 'द्वाविंशति' कर दिया और 'षोडश' के स्थान में 'चतुर्दश' बना दिया। यदि कभी पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो तो उसमें ये संशोधित शब्द अवश्य ही रहेंगे।

लल्लीप्रसाद पाण्डेय

क्षुद्र का महत्त्व।

क्षुद्र हूँ, मैं मानता हूँ, क्षुद्र हूँ।
पर इसी से, नाथ, तुम तो हो बड़े॥
गिर पड़ा हूँ, आज जो गिरता नहीं।
कौन कहता तब भला तुम हो खड़े॥ १॥
जानता हूँ, तुम बड़े निर्दोष हो।
दुष्ट हैं हम, तब तुम्हारा नाम है॥
यदि कभी जग में ज़रा भी तम न हो।
तो भला इस ज्योति का क्या काम है॥ २॥
गर्व है क्या दान देने का तुम्हें?
दान है वह, नाथ, देते हो जभी॥
फूल जो देता वही तो गन्ध है।
रख लिया तो गन्ध वह होगा कभी?॥ ३॥
विश्वपति हो, विश्व है जब तक यहाँ।
कौन सा उपकार तुमने कर दिया॥
तोड़ कर भव-जाल को भी देख लो।
कौन सा अपकार तुमने कर लिया॥ ४॥

द्विजेन्द्र

विविध विषय।

१—नरों के इजलास में नारियों का दावा।

मनुष्य-समुदाय के आदर्श, देश और काल के अनुसार, बदला करते हैं। भिन्न भिन्न देशों और भिन्न भिन्न समाजों के आदर्श बहुधा भिन्न भिन्न होते हैं। योरप की बहू-बेटियाँ ग़ैरों के साथ, रात के दस बजे तक, मज़े में बाहर सैर-सपाटा कर सकती हैं। अपने देश में ग़ैरों से बात-चीत करना तक मना है। एक बात और भी है। वह है—यथा राजा तथा प्रजा—की बात। राजा के आचार-व्यवहार की नक़ल प्रजा भी करती है। हिन्दुस्तान में राज्य है अँगरेज़ों का। फल यह हुआ है कि हर बात में हम लोग उन्हीं की नक़ल करने दौड़ते हैं। वे सर्द मुल्क के निवासी हैं। उनके देश में बेहद

बर्फ़ गिरती है। इससे वे लोग चार चार पाँच पाँच मोटे मोटे कपड़ों से सदा अपना बदन ढके रहते हैं। ऐसा करने की उन्हें ज़रूरत है; हिन्दुस्तान में रहनेवाले हिन्दुस्तानियों को नहीं, क्योंकि यह देश शीत-प्रधान नहीं। तथापि अँगरेज़ों की नक़ल करने के पीछे हिन्दुस्तानियों का एक बहुत बड़ा समुदाय यहाँ तक दीवाना हो रहा है कि जेठ-वैशाख में भी चार चार कपड़े शरीर पर लाद कर पसीने से सराबोर हुआ करता है। इस नक़्क़ाली की भी कुछ हद है! आराम की परवा नहीं, परवा है सिर्फ़ राजा के देशवासियों के पहनावे की नक़ल की! इस नक़्क़ाली के दौर दौरे ने हिन्दुस्तानी स्त्रियों पर भी छापा मारा है। वे अब, इँगलिस्तान की स्त्रियों की तरह, "वोट" देने का अधिकार माँग रही हैं।

हमारी पुरानी पुस्तकों में स्त्रियों को अबला और असूर्य्यम्पश्या की उपाधियाँ दी गई हैं। जिनमें बल नहीं वे अबला और जिन्हें सूर्य्य-बिम्ब देखने को नसीब नहीं, अर्थात् जो मकान की चहारदीवारी के भीतर बन्द रहती हैं, वे असूर्य्यम्पश्या कहाती हैं। किसी समय कुलाङ्गनाओं का असूर्य्यम्पश्या होना बहुत बड़ा गुण समझा जाता था। पर राज्य परिवर्तन होने और समय बदल जाने से वह अब दोष यदि नहीं गिना जाता तो गुण में भी दाखिल नहीं समझा जाता। अब—"न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"—का ज़माना नहीं। अब स्त्रियों के स्वतन्त्र होने, बाहर निकलने, पुरुषों के सदृश ही काम-काज करने और एक आध बात को छोड़ कर सब बातों में पुरुषों की बराबरी करने का ज़माना है। अँगरेज़ीदाँ लोग—अँगरेज़ों और योरपवालों की नक़ल करनेवाले लोग—अपनी स्त्रियों और लड़कियों को स्कूल-कालेज भेज कर उन्हें सुशिक्षित बनाना समाज की उन्नति के लिए बहुत कल्याणकारी समझते हैं। इस उद्देश की सिद्धि के लिए उन्होंने कहीं कहीं उच्च स्त्री-शिक्षा तक की प्राप्ति सुलभ कर दी है। फल यह हुआ है कि मदरास, बङ्गाल और बम्बई प्रान्तों में सैकड़ों स्त्रियाँ पढ़ लिख कर और ताल ठोंक कर पुरुषों की बराबरी करने को आमादा हो गई हैं। उन्होंने अपने शिक्षादाता नरों के इजलास में बराबरी की प्राप्ति के लिए दावे भी पेश कर दिये हैं। यह देख कर अनेक नर-व्याघ्र घबरा उठे हैं। जो पेड़ उन्होंने लगाये हैं उनके फलों की फ़सल में वे स्त्रियों को हिस्सा नहीं देना चाहते। तरह तरह के बहाने बता कर वे उन्हें उन सुस्वादु फलों के रसास्वादन से वञ्चित रखना चाहते हैं। बङ्गाल की स्त्रियाँ कहती हैं—तुमने हमें शिक्षित बनाया है तो हमें भी "वोट" देने का अधिकार दो। कौंसिलों के मेम्बरों का चुनाव जिस समय होता है उस समय जिस उम्मेदवार को तुम योग्य समझते हो उसी के हक़ में जैसे तुम राय देते हो वैसे ही हमें भी राय देने का अधिकार मिलना चाहिए। सम्भव है, तुम्हारी पसन्द के उम्मेदवार का काम हमारी पसन्द का न हो। इन स्त्रियों के पक्षपाती एक मेम्बर ने उस दिन बङ्गाल के कौंसिल में इस विषय का एक प्रस्ताव उपस्थित कर दिया। उसने कहा, स्त्रियों को भी "वोट" देने का अधिकार मिलना चाहिए। इस पर प्रस्ताव के पक्ष और विपक्ष में घनघोर वाद हुआ; वाद ही नहीं, विवाद तक की भी नौबत आ गई। पर स्त्रियों के दुर्भाग्य से प्रस्ताव-कर्त्ता ने हार खाई; उसका प्रस्ताव बहुमत से रद हो गया। इससे उस प्रान्त के बँगला-पत्रों में तुमुल आन्दोलन हो रहा है। स्त्रियों के पक्षपाती स्त्रियों के दावे को सही और देश के लिए लाभ-जनक सिद्ध कर रहे हैं; और, स्त्रियों के विपक्षी अपनी दलीलों से उस दावे को ग़लत अथवा असामयिक सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं। पहले प्रकार के वक्ताओं और लेखकों की दलीलों के कुछ नमूने लीजिए। स्त्रियाँ कहती हैं—

इस देश के निवासी जैसे पुरुष हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी हैं। पुरुषों के सदृश हमें भी सुख-दुःख का अनुभव होता है। पुरुषों ही के सदृश हम भी समाज का अङ्ग हैं। पुरुष देश का काम करें तो स्त्रियाँ क्यों न करें? पुरुष कहते हैं कि व्यवस्थापक सभा, अर्थात् कौंसिल, के मेम्बर चुनने के लिए पुरुषों में जैसी योग्यता होती है वैसी स्त्रियों में नहीं होती। जब वैसी योग्यता वे प्राप्त कर लेंगी तब उन्हें भी "वोट" देने का अधिकार दे दिया जायगा। इसके उत्तर में स्त्रियों का निवेदन है कि निरक्षर किसान, गाड़ीवान, दुकानदार और फेरीवाले तक "वोट" देने के अधिकारी हो सकते हैं, तो स्त्रियाँ क्यों नहीं? किसे "वोट" देना चाहिए और किसे न देना चाहिए, इसका निश्चय करने की योग्यता जब ऐसे लोगों में भी मान ली गई है तब स्त्रियों में

क्यों नहीं ? स्त्रियों को अयोग्य और अबल ठहरानेवाले पुरुष ही ऐसी निर्बल दलील पेश कर सकते हैं। और देशों की बात जाने दीजिए। हिन्दुस्तान में ही सैकड़ों, हज़ारों स्त्रियाँ ऐसी हो गई हैं और अब भी हैं जो कितनी ही बातों में पुरुषों के भी कान काटती हैं। स्त्रियों ने वैदिक मन्त्रों की रचना की है; बड़े बड़े काव्य लिख डाले हैं; बड़े बड़े देशों का शासन किया है; पुरुष-योद्धाओं के साथ भीषण युद्ध करके उन्हें परास्त किया है। इस समय भी वे डाक्टरी, मास्टरी और ग्रन्थनिर्मात्री बन कर और बड़ी बड़ी ज़मींदारियों का प्रबन्ध करके पुरुषों को लज्जित कर रही हैं। इन्हीं स्त्रियों के विषय में आप कैसे कह सकते हैं कि कौंसिल के लिए योग्यतम मेम्बर चुनने की योग्यता उनमें नहीं ? अच्छा, अपढ़ स्त्रियों में ऐसी योग्यता न हो तो न सही। पढ़ी हुई, शिक्षित, स्त्रियों को ही तब तक यह अधिकार दीजिए। हज़रत, आपही लोगों ने तो अधिकांश स्त्रियों को अशिक्षित बना दिया है। शिक्षा देने का काम तो आपही का था। फिर क्यों नहीं आपने हम सबको स्कूल भेजा ? अब आप कहने चले हैं, स्त्रियाँ अशिक्षित हैं; इस कारण उन्हें "वोट" देने का अधिकार न मिलना चाहिए—उलटा चोर कोतवाल को डाँटे।

स्त्रियाँ गृहिणी हैं। उन्हें घर ही में रहना चाहिए। उन्हें घरही का काम-काज करना और बाल-बच्चे सँभालना चाहिए। वे देश के काम के झंझट में फँस जायँगी तो घर का काम कौन करेगा ? पुरुषों की इस दलील का उत्तर स्त्रियाँ यह देती हैं कि "वोट" देने के दिन "पोलिङ्ग स्टेशन" तक जाने और बकस में काग़ज़ का एक टुकड़ा डाल आने में घंटे दो घंटे से अधिक समय न लगेगा। इतनी देर में न घर उजड़ जायगा और न बाल-बच्चे ही भूखों मर जायँगे। हम महीनों मायके जा रहती हैं तब, अथवा बीमार पड़ी रहती हैं तब, घर क्या आबाद नहीं रहता ?

पर्दानशीन औरतें बाहर निकल कर, हज़ारों आदमियों की भीड़ में, यदि वोट देने जायँगी तो पर्दे की रक्षा न हो सकेगी। इस तरह स्त्रियों को बाहर निकालना पुरुषों के लिए मर जाना है ! उत्तर में बङ्गाली लेडियों (सभ्य महिलाओं) की प्रार्थना है कि जब आपकी सुकुमार कामिनियाँ हज़ारों की भीड़ चीरती हुई गङ्गा-स्नान करने, विश्वनाथ या कालीजी के दर्शन करने, अथवा तीर्थ-यात्राओं में खुले मुँह कोसों प्रदक्षिणा करने जाती हैं तब आप क्यों नहीं मर जाते ? जाने दीजिए, ये शुष्क दलीलें। हम अपने घर ही पर "वोट" देने का प्रबन्ध आप करा लेंगी; बाहर न निकलेंगी। आप घबराइए नहीं। "वोट" देने का अधिकार किसी तरह दिलाइए तो।

स्त्रियों का कहना है कि हम लोगों में से हज़ारों, लाखों स्त्रियाँ ऐसी हैं जो ज़मीन की मालगुज़ारी और तरह तरह के टैक्स देती हैं। हमसे वसूल किया गया यह रुपया समुचित रीति से ख़र्च किया जाता है या नहीं, इसकी देख-भाल हम अपने निज के प्रतिनिधियों द्वारा करावेंगी। तुम लोगों से कुछ होने जाने का नहीं। हमारे अनन्त शिशुओं की मृत्यु होती चली जाती है। घर में और पास-पड़ोस की सड़कों पर गन्दगी के ढेर लगे रहते हैं। उनसे बीमारियाँ फैलती हैं। इन मोटी मोटी त्रुटियों तक को दूर करने की शक्ति तुममें नहीं। स्त्रियों और बच्चों की बीमारियों के इलाज के लिए आज तक तुमने कितने ख़ास ख़ास अस्पताल और दवाख़ाने बनवा दिये अथवा कितने Foundling Hospital (परित्यक्त नवजात शिशुओं के परिपालनालय) खुलवा दिये, जो तुम्हारे ही "वोट" के भरोसे हम बैठी रहें। तुम पर हमारा विश्वास नहीं। रहने दो। हम एक न मानेंगी। "वोट" का अधिकार लेकर छोड़ेंगी। अधिक विघ्न-बाधा उपस्थित करोगे तो याद रक्खो, हम वैसा ही, किम्बहुना उससे भी अधिक, ऊधम मचावेंगी जैसा कि इँगलिस्तान की "सफरेजिस्ट" नामक ("वोट" का हक़ हासिल करने की इच्छा रखनेवाली) स्त्रियों ने मचाया था। सो, सावधान !

२—महँगी के कारण।

राजा का धर्म है कि प्रजा की सुख-समृद्धि की वृद्धि न करे तो उसमें कमी भी न आने दे। इस तत्त्व को इस देश की अँगरेज़ी गवर्नमेंट ख़ूब समझती है। औरों के सम्बन्ध में भूल चूक से चाहे वह कुछ शिथिलता भी कर जाय, पर ग़रीब और निःसहाय प्रजा की भूख-प्यास दूर करने के विषय में वह कभी शिथिलता नहीं करती। क्योंकि उसे वह अपनी सन्तति के सदृश समझती है अथवा कम से

कम यह बात वह कहती ज़रूर है। कई साल से इस देश के निवासियों को महँगी—विशेष करके अन्न की महँगी—मारे डालती है। योरप का महाभारत शुरू होने के कुछ ही समय बाद इस महँगी का अवतरण हुआ था। सुरसा सर्पिणी की तरह वह दिन पर दिन बढ़ती ही गई। अब उसकी विभीषिका का यह हाल है कि कहीं कहीं रुपये के ४ सेर तक गेहूँ बिकने लगे हैं; ६ सेर से अधिक तो शायद कहीं भी नहीं। यह देख कर गवर्नमेंट ने अपने एक जनवत्सल अफसर, मिलनर व्हाइट, को आज्ञा दी कि पता तो लगाओ कि इस मनुष्य-मारक महँगी का कारण क्या है। अफसर महोदय ने सरकार की इस आज्ञा का पालन करके जो रिपोर्ट पेश की है उसका सारांश सरकार ने अपनी भूखी प्रजा की जानकारी के लिए छपा कर प्रकाशित कर दिया है। उस सारांश का निचोड़ नीचे दिया जाता है—

१९२१ ईसवी में गेहूँ की पैदावार बहुत कम हुई; किसी एक ही दो प्रान्तों में नहीं, सभी कहीं गेहूँ कम पैदा हुआ। कुल फसल ६$\frac{1}{2}$ करोड़ मन के लग भग हुई होगी, अर्थात् फ़ी सदी ३४ मन कम। पंजाब में तो बहुत ही कम गेहूँ पैदा हुआ अर्थात् फ़ी सदी ४० मन कम। अथवा दूसरे शब्दों में ४ करोड़ मन कम। अपने प्रान्त का नम्बर, इस कमी में, दूसरा रहा। यहाँ १$\frac{3}{4}$ करोड़ मन गेहूँ कम पैदा हुआ। यह कमी फ़ी सदी २१ के बराबर समझना चाहिए, फल यह हुआ कि जो पंजाब इस प्रान्त को गेहूँ भेजता था वही उलटा यहाँ से मँगाने लगा। १९२१ में पंजाब ने भेजा तो ७६,००० मन गेहूँ; पर संयुक्त-प्रान्त से मँगाया उसने ४$\frac{1}{10}$ लाख मन से भी अधिक। यह हिसाब केवल अप्रेल, मई और जून २१ का है। जुलाई और अगस्त में तो पंजाब ने संयुक्त-प्रान्त से और भी अधिक गेहूँ खींच लिया। इतना चालान यहाँ से पहले कभी नहीं हुआ था। अब सवाल यह है कि अपने प्रान्त में जब गेहूँ की पैदावार २१ फ़ी सदी कम हुई थी तब इतना गेहूँ गवर्नमेंट ने यहाँ से पंजाब को जाने क्यों दिया। जिसके घर में अपने ही खाने के लिए लाले पड़े होते हैं वह क्या दूसरों के हाथ अपनी रोटियाँ बेचने जाता है? कहाँ से किस चीज़ का चालान कितना होता है और कौन चीज़ कहाँ कितनी पैदा हुई है, इसका हिसाब सरकार रखती है। फिर क्यों उसने ऐसा होने दिया? पर इसका कोई उत्तर सरकार के प्रकाशित "सारांश" में नहीं। उसका कहना तो यह है कि संयुक्त-प्रान्त ने पंजाब ही को गेहूँ नहीं भेजा; बम्बई और अहमदनगर आदि नगरों को भी ख़ूब चालान किया, क्योंकि वहाँ भी गेहूँ की फ़सल बहुत कुछ मारी गई थी। पर ये चालान इसी देशवालों के ख़र्च के लिए हुए हैं,—सरकारी मुलाज़िमों और फ़ौजों के ख़र्च के लिए नहीं हुए। कराची को कुछ गेहूँ ज़रूर गया है; पर बहुत थोड़ा—बहुत ही थोड़ा।

अतएव इस प्रान्त में गेहूँ की महँगी के कारण हुए—

(१) पैदावार में २१ फ़ी सदी की कमी।

(२) पंजाब से जो गेहूँ आता था उसका प्रायः बिलकुल ही न आना।

(३) यहाँ से बहुत अधिक गेहूँ का चलान और प्रान्तों को होना।

इसी से इस प्रान्त के खत्ते और बखरियाँ वक़्त के पहले ही ख़ाली होगईं। इस दशा में महँगी न हो तो हो क्या। सट्टे के कारण भी गेहूँ गराँ हो गया। बारिश ज़ियादह हुई; लोग डरे कि कहीं ख़रीफ़ की फ़सल न मारी जाय। महँगी का यह भी एक कारण हुआ। फ़ौज के ख़र्च के लिए आटा और मैदा पीसनेवाली देहली और अम्बाले की आटा-चक्कियों (Flourmills) ने भी बहुत सा गेहूँ ख़रीद डाला। फिर भला गेहूँ क्यों न इतना महँगा होजाय। सरकार के इक़बाल से ख़रीफ़ अच्छी है। ज्वार, बाजरा और धान ख़ूब होगा। इससे सरकार को पूरी उम्मेद है कि बाज़ार में इन चीज़ों के आ जाने पर, भूखों के पेट की आग बुझने लगेगी।

सरकार ने महँगी के जो ये कारण बताये हैं उसके लिए प्रजा को उसका कृतज्ञ होना चाहिए। यदि वह पहले से ही गेहूँ की आमदनी और रफ़्तनी पर नज़र रखती और, जैसा कि अब हुआ है, अमरीका, कनाडा या आस्ट्रेलिया से थोड़ा सा गेहूँ मँगा देती तो इतना हाहाकार क्यों मचता।

३—शकर की पैदावार और उसका ख़र्च।

शकर भारतवर्ष की निज की उपज है। उसका बीज किसी और देश से यहाँ नहीं आया। इस वस्तु के लिए यह देश किसी अन्य देश का ऋणी नहीं। वेदों तक में शकर का

नाम पाया जाता है। हज़ारों वर्ष पूर्व भी यहाँ शकर होती थी। उसके लिए भारत को किसी और का मुँह न ताकना पड़ता था। अभी ५० वर्ष पहले तक भी यहाँ मतलब से अधिक शकर बनाई जाती थी। उससे इस देश का भी काम चलता था और दूसरे देशों को भी उसका चालान होता था।

पर समय ने पलटा खाया। और देशों ने सुषुप्ति छोड़ी; वे जागे। उन्होंने भी गन्ना बोना शुरू किया। बड़े बड़े कारख़ाने खुल गये। कलों की सहायता से शकर बनने लगी। जर्मनी ने तो चुकन्दर से शकर बनाने की तरकीब ढूँढ़ निकाली और करोड़ों मन शकर बना कर, बहुत सस्ते दामों पर, उसका चालान आरम्भ कर दिया। नतीजा यह हुआ कि भारत की शकर के व्यापार को धक्का लगा और उस धक्के का बल बढ़ता ही गया। विक्रमादित्य और शालिवाहन के समय में लकड़ी का जो कोल्हू चलता था वही यहाँ अब तक चलता रहा। शकर बनाने की तरकीब भी वही पुरानी जारी रही। इस दशा में भारत और देशों का मुक़ाबला कैसे कर सकता? विदेशी शकर सस्ती पड़ने लगी; देश की बनी महँगी! गवर्नमेंट यदि लोगों को मार्ग दिखा कर शकर के कारख़ाने खुलवाती और जर्मनी, क्यूबा और जावा आदि में कलों से जैसे शकर बनाई जाती है वैसे ही यहाँ भी बनाने का प्रबन्ध करती तो बात न बिगड़ती। अथवा यदि वह विदेशी शकर पर कड़ा महसूल ही लगा कर उसका आना रोक देती या कम कर देती तो भी शकर का हमारा व्यवसाय इतना न मारा जाता। पर यह कुछ न हुआ। विदेशी शकर से इस देश के बाज़ार पट गये और अपने देश की शकर का कारोबार बहुत कुछ बरबाद हो गया। जो देश अपनी ज़रूरत पूरी करके दूसरे देशों को शकर भेजता था वही उन दूसरों का मुहताज हो गया। दशा कुछ कुछ वैसी ही हुई जैसी कि कपड़े के व्यवसाय की हुई है। अपने कपड़े से किसी समय भारत औरों का तन ढकता था, पर वही अब लँगोटी के लिए मैनूचेस्टर का मुहताज है।

हिसाब लगाने से मालूम हुआ है कि अपने देश में, एक साल में, ९,४०,००,००० मन गुड़ और २,७०,००,००० मन शकर ख़र्च होती है। इस हिसाब का ब्योरा उस दिन बड़े क़ानूनी कौंसिल की एक बैठक में उसके एक मेम्बर महाशय ने पेश किया और कौंसिल को सलाह दी कि गवर्नमेंट से कहिए, वह ईख अधिक बोये जाने के अच्छे सुभीते कर दे। पर आपकी यह सलाह बातों ही बातों में उड़ गई। कुछ हुआ गया नहीं। अब ज़रा देखिए कि खा तो हम पौने तीन करोड़ मन शकर जाते हैं; पर पैदा करते हैं साल में सिर्फ़ ८,१०,००० मन! यह हिसाब भी उन्हीं पूर्वनिर्दिष्ट मेम्बर साहब का बताया हुआ है। पर इसमें कुछ भूल है, ठीक ठीक हिसाब पूसा के सरकारी कृषि-पत्र (Agricultural Journal) में इस प्रकार दिया गया है। यह हिसाब १९२०-२१ में तैयार की गई शकर का है—

सूबा	पेरी गई ईख का वज़न	तैयार की गई शकर का वज़न
बिहार और उड़ीसा	६५,७७,०८३	४,६५,१००
संयुक्त-प्रान्त	२५,४७,८७१	१,५६,७७७
भारत के अन्य प्रान्त	६,०६,४६१	४७,४१४
मन	९७,३१,४१५	६,६९,२९१

सम्भव है, मेम्बर महाशय ने किसी और साल की पैदावार का हिसाब बताया हो। पर यह हिसाब उन कारख़ानों में तैयार की गई शकर का है जिनमें काम कलों से होता है और जिनमें कटी हुई ईख का रस भी निकाला जाता है। ऐसे कारख़ाने कुल १८ हैं। यथा—

बिहार और उड़ीसे में	९
संयुक्त-प्रान्त में	६
आसाम में	१
मदरास में	२

ये कारख़ाने भी ठीक वैज्ञानिक ढंग से नहीं चलते। किसी किसी कारख़ाने का परता १७ मन ईख में १ मन शकर का पड़ता है; पर किसी किसी का ११ ही मन में १ मन का।

इन कारख़ानों के सिवा पुराने ढंग से जो शकर बनाई जाती है उसका परता तो और भी कम पड़ता है। और, अधिकतर शकर इसी ढंग से तैयार होती है। सोचने की बात है कि पहले तो यहाँ ईख की काश्त काफ़ी नहीं होती; फिर जो शकर बनती है वह वेदों के ज़माने से जारी हुई

रीति से बनती है। फिर जो कारख़ाने कलों से चलते हैं उनका भी काम सन्तोष-जनक नहीं। यह दुर्भाग्य-पराभव तो देखिए। ऐसी दुर्गति और दुरवस्था के होते हुए भी उसे दूर करने की यथेष्ट योजना वे लोग नहीं करते जिनको कि करना चाहिए—जिनमें उसे करने की शक्ति है।

१९०४—५ में दुनिया में ३२ करोड़ मन शकर पैदा हुई थी। १९१२-१३ में बढ़ कर वह ४९ करोड़ के लगभग होगई। लड़ाई छिड़ जाने के कारण वह कई साल तक कम तैयार हुई। पर १९२०-२१ में उसकी पैदावार फिर ४६ करोड़ मन के लगभग पहुँच गई। शकर अब नमक, मिर्च, मसाले की तरह से रोज़ाना ख़र्च की चीज़ हो गई है। उसका ख़र्च दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। जिन देशों में जान है वे उसकी पैदावार बढ़ाते जा रहे हैं। जहाँ अब तक ईख की काश्त न होती थी वहाँ भी होने और लाखों मन शकर बनने लगी है। कितने अफ़सोस की बात है कि ज्ञान, साधन और सहायता के बिना हमारा देश इस व्यवसाय में भी, और अनेक व्यवसायों की तरह, पिछड़ रहा है। जो देश किसी समय प्रायः समस्त संसार को शकर चटाता था वही अब अपने लिए भी काफ़ी शकर नहीं पैदा कर सकता। हर सूबे में ज़िरात के सरकारी अफ़सर मौजूद हैं। बड़े लाट के ज़िरायती सचिव, शुद्ध स्वदेशी बी० एन० शर्म्मा महोदय, अलग ही शिमला या देहली में रौनक़ अफ़रोज़ कर रहे हैं। पर हल और बैल, खाद और बीज, खेत और आबपाशी आदि का ज़िक्र इन लोगों के काग़ज़-पत्रों में बार बार पढ़ने को मिलने पर भी, शकर का व्यवसाय और ईख की यथेष्ट उपज बढ़ा देने की ख़ुशख़बरी आज तक पढ़ने को नहीं मिली।

४—डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति।

बात उस समय की है जिस समय सर अंटोनी मेकडानल इस प्रान्त के लफ़्टिनेंट गवर्नर थे। उन्होंने देखा कि डिपटी कलेक्टरी के उहदे गवर्नमेंट अपने अफ़सरों की सिफ़ारिश से ही बांट देती है। तहसीलदार, आबकारी के इन्स्पेक्टर, पुलिस के इन्स्पेक्टर, कलेक्टरों के हेड क्लार्क, सभी सिफ़ारिश के बल पर डिपटी कलेक्टर बन जाते हैं। बाहरवाले भी कभी कभी ले लिये जाते हैं; पर योग्यता की जाँच ठीक ठीक नहीं की जाती। इससे उन्होंने १८९८ ईसवी में नियम कर दिया कि इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के बी० ए० और एम० ए० पास नौजवानों में से ३ आदमी हर साल डिपटी कलेक्टर बनाये जायँगे। नियत विषयों में उनकी परीक्षा ली जाने की योजना भी उन्होंने कर दी। जो लोग इस परीक्षा में पास हो जाते थे उनमें से पहले ३ उम्मेदवार डिपटी कलेक्टर बना दिये जाते थे। इस तरह बहुत से दबङ्ग, स्वतन्त्र-स्वभाव और किसी से न दबनेवाले लोग डिपटी कलेक्टर हो गये। यह बात गवर्नमेंट को शायद खली। इसीसे १९०३ ईसवी में चढ़ा-ऊपरी की परीक्षा द्वारा ३ उम्मेदवारों का भी लिया जाना बन्द कर दिया गया। तब से डिपटी कलेक्टरी की जितनी जगहें ख़ाली होने लगीं उतनी में से २/३ जगहें पुराने मुलाज़िमों—विशेष करके तहसीलदारों—को दी जाने लगीं। बाक़ी १/३ नामज़द और चुने हुए लोगों को। अर्थात् ३/३ डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति के विषय में, पूर्ववत् गवर्नमेंट मनमानी करने लगी। परीक्षा को ढकोसला समझ कर उसने उसे उठा दिया। कुछ दिनों तक यही ढर्रा चला। बाद को फिर साका बदला। तब आधी जगहें गवर्नमेंट अपने कारपरदाज़ मुलाज़िमों को देने लगी और आधी बाहर के चुने हुए लोगों को। बात यह कि जिसे कलेक्टर साहब, या कमिश्नर साहब, या लाट साहब, या रेवेन्यू बोर्ड वग़ैरह ने चुन लिया वह डिपटी कलेक्टर बन गया। दस, बीस, पचास उम्मेदवार एकत्र करके योग्यता की जाँच करना और क्रमशः योग्यतम को ही जगह देना सुभीते की बात नहीं समझी गई।

डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति का यह बढ़िया ढङ्ग नये प्रान्तिक कौंसल को घटिया जँचा। इससे १ अप्रेल १९२१ को एक मेम्बर ने यह प्रस्ताव किया कि गवर्नमेंट कृपा करके डिपटी कलेक्टरों की नियुक्ति के नियमों में परिवर्तन कर दे और कुछ लोगों की परख परीक्षा द्वारा करके उन्हें नियत किया करे, यह प्रस्ताव मंज़ूर होगया।

इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर ६ आक्टोबर १९२१ को इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने एक घोषणा प्रकाशित की है। उसमें उसने लिखा है कि कोई २४ डिपटी कलेक्टर हर साल नये नियत होते हैं। पर इससे कुछ मतलब नहीं,

जितनी जगहें ख़ाली होंगी उतनी को गवर्नर और उनकी कार्यकारिणी सभा के सभासद् इस प्रकार बांट देने का विचार करते हैं—

(१) १/२ जगहें अपने पुराने मुलाज़िमों को (२४ हों तो उनमें में १२)

(२) १/४ जगहें मुसल्मानों से भिन्न अन्य जातिवालों को (अर्थात् २४ के हिसाब से ६)

(३) १/८ जगहें मुसल्मानों को (अर्थात् ३)

(४) १/८ जगहें उन्हें जिनको गवर्नमेंट अपने मन से चुन ले (अर्थात् ३)

नंबर (१) की तो बात ही नहीं। उन्हें तो उनकी गुज़श्ता ख़िदमतों के ख़याल से ही डिपटी कलेक्टरी दी जायगी। परीक्षा का क्या ज़िक्र। नम्बर (४) की भी परीक्षा न होगी। वे तो पसन्दीदह परख से ही पास समझे जायँगे। रहे नम्बर (२) और (३) सो इन लोगों की प्रतिस्पर्धा-वाचक परीक्षा होगी। उसमें जिनका नम्बर ऊँचा रहेगा वही क्रम से डिपटी कलेक्टरी का आसन पावेंगे। एक बात मार्के की है। वह भी बता देना होगा। वह यह कि नम्बर (२) में किरानी और अर्धगौराङ्ग लोग भी शामिल समझे गये हैं। पर उनकी संख्या नियत नहीं की गई। अगर कोई हिन्दू अच्छे नम्बरों से पास न हुआ और ये लोग हुए तो छः की छहो जगहें यही पिछले लोग पा सकेंगे। अब आप मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट उठा लीजिए और यह देखिए कि इस प्रान्त में कितने हिन्दू, कितने मुसल्मान, कितने देशी किरानी और कितने अर्ध-गौर साहब लोग निवास करते हैं। फिर यदि जगहों के दान का अनुपात ठीक जँचे तो गवर्नमेंट की न्यायशीलता की तारीफ़ कीजिए। हाँ, ये नियम अभी पक्के नहीं; कच्चे ही हैं, इन पर जिसे जो कुछ कहना हो वह अपना वक्तव्य १ जनवरी १९२२ तक गवर्नमेंट के चीफ़ सेक्रेटरी को लिख भेजे। उसके वक्तव्य पर सरकार ज़रूर ही विचार करेगी।

जिन लोगों की परीक्षा होगी उनकी परीक्षा के विषय आदि फिर बताये जायँगे। अभी तो इतना ही निश्चय हुआ है कि इस तरह डिपटी कलेक्टरी पाने के उम्मेदवारों को इस प्रान्त का निवासी होना चाहिए; इंटरमीडियट परीक्षा पास होना चाहिए; १९ से कम और २३ वर्ष से ज़ियादह उम्र न होनी चाहिए; तन्दुरुस्ती अच्छी होनी चाहिए; घोड़े की सवारी का अभ्यास होना चाहिए; और चाल-चलन भी अच्छा होना चाहिए। डाक्टर साहब का सर्टीफ़िकट तो देना ही पड़ेगा।

उम्मेदवारों को भाग्यपरीक्षा के लिए अभी से तैयारी कर रखना चाहिए।

५—सीता की उत्पत्ति की एक कथा।

जिस रामायण का प्रचार काश्मीर में है उसमें सीता मन्दोदरी की कन्या बताई गई है। वाल्मीकि ने अपनी रामायण में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। पर अद्भुत रामायण में सीता की उत्पत्ति की जो कथा लिखी है उसके सम्बन्ध में जी० ए० ग्रियर्सन साहब ने एक लेख लिखा है। यह लेख ग्रेटब्रिटेन और आयर्लैंड के रायल एशियाटिक जर्नल के गत जुलाईवाले अङ्क में प्रकाशित हुआ है। इसका मर्म आगे दिया गया है:—

एक बार नारद को लक्ष्मी के पार्षदों ने अपमानित किया था। अतएव उन्होंने लक्ष्मी को शाप दिया कि जा तू पृथ्वी में राक्षसी हो। शाप को स्वीकार करते हुए लक्ष्मी ने नारद से प्रार्थना की कि मेरा जन्म उसी राक्षसी के उदर से हो जिसने वनवासी मुनियों के रक्त से पूर्ण घट को पान कर लिया हो। इस तरह लक्ष्मी ने यह समझा था कि मेरी देह में राक्षस-रक्त न होगा।

जब रावण ने ब्रह्मा से यह वरदान प्राप्त कर लिया कि उसको देव, असुर, राक्षस, पिशाच, नाग, यक्ष, विद्याधर, किन्नर या अप्सरा न मार सकेंगी तब वह भूमण्डल को विजय करने लगा। एक दिन वह दण्डकारण्य में भ्रमण कर रहा था। वहाँ ऋषि-मुनियों को हवन-पूजा करते देख कर उसने अपने मन में विचार किया कि मैंने अभी तक इन्हें नहीं जीता है। उसने इनको मारने का विचार त्याग दिया और विजय का दण्ड-स्वरूप ऋषियों के शरीर से अपने बाण की नोक से एक एक बूँद रक्त ले लेने का निश्चय किया।

इन्हीं ऋषियों में गृत्समद नाम का एक ऋषि था। उसकी पत्नी की यह कामना थी कि मेरे गर्भ से एक कन्या लक्ष्मी का अवतार-स्वरूप उत्पन्न हो। अपनी पत्नी की मनोकामना की पूर्ति के लिए वह एक अनुष्ठान करने

लगा । वह प्रति दिन मंत्र पढ़ कर एक स्थापित घट का, दूध से, अभिषेक करता था । जिस दिन रावण उस ऋषि-आश्रम में पहुँचा था उस दिन वृत्तसमद अपना नैमित्तिक अभिषेक करके आश्रम से बाहर चला गया था । उसकी अनुपस्थिति में उसी मंत्र-पूत घट को ऋषियों का रक्त-संग्रह करने के लिए रावण उठा ले गया । इसके बाद उसमें ऋषियों का रक्त-संग्रह कर वह उसे अपने घर ले गया । उसने उसे मन्दोदरी को देकर कहा, इसमें विष से भी भयङ्कर वस्तु भरी है । इसे खूब सँभाल कर रखना ।

जब रावण ने सारे भू-मण्डल को जीत लिया तब वह अभिमान से दृप्त हो गया । अब वह हिमालय और विन्ध्य की गुहाओं में देवाङ्गनाओं के साथ रह कर आनन्द-विहार करने लगा और अपनी पत्नी को भूल सा गया । अपने पति के इस निर्दय व्यवहार से विशेष दुखी होकर मन्दोदरी ने आत्महत्या करने का निश्चय किया और पूर्वोक्त घट के द्रव्य को प्राण-त्याग कर देने की कामना से वह उसे उठा कर पी गई । परन्तु इसका परिणाम बहुत ही अद्भुत हुआ । मरने के स्थान में वह गर्भवती हो गई । अपनी इस अवस्था को देख कर वह और भी घबड़ा गई । अतएव तीर्थ-यात्रा के बहाने से वह कुरुक्षेत्र को चली गई और सद्य-जात कन्या को वहीं ज़मीन में गाड़ कर अपने देश को लौट गई ।

कुछ समय बाद मिथिलेश जनक कुरुक्षेत्र गया । उसने वहाँ सुवर्ण के हल से भूमि जोती । भूमि को जोतते समय एक कन्या निकल आई । उसे जनक अपने घर ले गया और उसका नाम सीता रक्खा ।

अद्भुत रामायण के इस विवरण से काश्मीर की रामायण का यह मत कि सीता मन्दोदरी की कन्या है पुष्ट हो जाता है ।

६—ब्रिटिश म्यूज़ियम के गुप्त पत्र ।

लन्दन के प्रसिद्ध अजायबघर का नाम ब्रिटिश म्यूज़ियम है । इसका जन्मदाता सर हेन्स स्लोन नामक एक प्रसिद्ध चिकित्सक था । बात यह हुई कि जब वह मरा तब वह अपना पुस्तकालय और अजायबघर इँग्लेंड को दान कर गया । सन् १७५४ में स्लोन की मृत्यु के एक वर्ष बाद, सरकार ने मांटेगहाउस को ख़रीद लिया और उसी में स्लोन का संग्रह रक्खा गया । उसी दिन से ब्रिटिश म्यूज़ियम का आरम्भ हुआ । अब वह खूब उन्नतावस्था में है । वहाँ सैकड़ों अद्भुत अद्भुत चीज़ें रक्खी हैं । पूर्वैतिहासिक काल की भी कितनी ही वस्तुएँ वहाँ हैं । इनके सिवा हस्त-लिखित ग्रन्थों का भी अच्छा संग्रह है । छपी पुस्तकों की संख्या तो अगण्य है ।

इसी ब्रिटिश म्यूज़ियम में गुप्त पत्र भी रक्खे जाते हैं । अभी हाल में लार्ड ईशर ने अपनी डायरी को — जिसमें गत महायुद्ध के सम्बन्ध की कितनी ही बातें लिखी हुई हैं—६० वर्ष के लिए म्यूज़ियम में रखा दिया है । साठ वर्ष के बाद अगर ट्रस्टी की इच्छा होगी तो लोग उसे देख सकेंगे और तब शायद वह प्रकाशित भी हो । इसके पहले उसे खोल कर कोई नहीं पढ़ सकता ।

गुप्त पत्र रखने की यह रीति वहाँ बहुत दिनों से प्रचलित है । वहाँ कई गुप्त पत्र रक्खे हुए हैं । लार्ड हेग ने भी युद्ध-सम्बन्धी कुछ पत्र रक्खे हैं । वे सन् १९४० के पहले नहीं खोले जायँगे । इसी तरह के १८ पत्र वहाँ रक्खे हैं । उनमें क्या है, इसकी ख़बर किसी को नहीं है । ग्रेविल साहब की एक डायरी है । उसका समय पूरा हो जाने पर लिटन स्ट्रेची नामक एक ग्रन्थकार को वह पढ़ने के लिए दी गई । उसने महारानी विक्टोरिया का जीवन-चरित्र लिखा है । उसकी कुछ बातें इसी डायरी से ली गई हैं । अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि लार्ड बायरन का एक मित्र था हाव-हाउस । उसने अपनी डायरी ब्रिटिश म्यूज़ियम में रख दी । उसके खोलने का समय था सन् १९००, परन्तु वह खोली ही नहीं गई, अभी तक ज्यों की त्यों रक्खी है । लोगों का कथन है कि उसमें बायरन के दुश्चरित्र की कथायें हैं । आस्कर वाइल्ड एक नाटककार था । उसके एक नाटक का नाम है—डी प्रोफ़न्डिस । इसी नाटक के कारण उस पर मुक़द्दमा चला था । इस नाटक की एक प्रति वहाँ रक्खी हुई है । आज-कल उसी नाम का जो नाटक प्रचलित है उससे यह कहीं बड़ा है । डिकन्स अँगरेज़ी का प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक है । उसकी लड़की ने सन् १८९९ में कुछ पत्र रक्खे । उनके खोलने का समय १९२५ है । अगर वे पत्र १९२५ में खोले गये तो उनसे डिकन्स के सम्बन्ध की कुछ नई बातें मालूम हों । जीवित-काल में किसी की कीर्ति नष्ट न हो, इसी के लिए यह उपाय किया गया है ।

८—चूहों के कारनामे।

चूहों को हम लोग क्षुद्र समझते हैं और इसी लिए हम उनके कृत्यों की ओर ध्यान नहीं देते। पर चूहे कितना ग़ज़ब ढाते हैं, इसका हमें ज़रा भी ख़याल नहीं होता। इँग्लेंड में एक चूहे के जीवन-निर्वाह के लिए १८ रुपये चाहिए। एक विद्वान् का कथन है कि वहाँ ४,००,००,००० चूहे हैं। इनके लिए ६०,००,००,००० रुपये चाहिए। मतलब यह कि आप इन्हें रुपये देने तो जाते नहीं। इस लिए ये चूहे उतने रुपये का माल खा जाते हैं। अब इँगलेंड में चूहों का विनाश करने के लिए एक क़ानून बन गया है। हमारे देश में भी चूहों की संख्या कम नहीं है। मेजर जे० सी० सी० कुनहर्ड साहब ने लिखा है कि भारतवर्ष में कुल चूहों की संख्या ८०,००,००,००० है। साल भर में एक चूहा ६ पौण्ड अनाज खा जाता है। इसके सिवा वह और भी कई तरह से नुक़सान पहुँचाता है। गत बीस वर्षों में चूहों ने जितना नुक़सान किया उसका हिसाब सुनिए। बीमारियाँ फैला कर उन्होंने ६०३ करोड़ रुपयों का नुक़सान किया। जो अनाज उन्होंने खा लिया उसका मूल्य ६०० करोड़ रुपये कूता गया है। उनका नाश करने में ही ३८½ करोड़ रुपये ख़र्च हो गये।

९—इलाहाबाद के दो प्रसिद्ध विद्वानों का देहावसान।

उर्दू के प्रसिद्ध कवि सैयद अकबर हुसेन के नाम से हिन्दी के साहित्य-प्रेमी पाठक भी अपरिचित न होंगे। खेद है कि अभी हाल में ही उनका देह-पात हो गया। आपकी कविता हृदय-हारिणी, उक्तियाँ अनूठी और भाषा सजीव और प्रासादिक होती थी। छोटी छोटी बातों को विलक्षण रूप देने में आप सिद्ध-हस्त थे। आपकी कविता रसिकों के लिए मनोरञ्जक ही नहीं, किन्तु शिक्षा-प्रद भी थी।

डाक्टर सुरेशचन्द्र बनर्जी भी इलाहाबाद के एक रत्न थे। आपकी मृत्यु से इलाहाबाद का एक श्रेष्ठ डाक्टर उठ गया। आप बड़े ही उदार और परदुःखकातर थे। रोगियों की चिकित्सा और सेवा-शुश्रूषा में आप प्राण-पण से लग जाते थे। दरिद्रों की सेवा भी

डाक्टर सुरेशचन्द्र बनर्जी।

आप वैसे ही प्रेम से करते थे जैसे एक धनी की। इसी से आप सदैव लोक-प्रिय रहे।

पुस्तक-परिचय।

१—हिन्दी-साहित्य के कुछ सामयिक पत्र।

यह सन्तोष की बात है कि अब हिन्दी में नई नई पुस्तकें और नये नये सामयिक पत्र निकल रहे हैं। आज-कल देश में राजनैतिक विषयों की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट है, अतएव हिन्दी में भी ऐसे ग्रन्थों की वृद्धि हो रही है जिनमें राजनैतिक विषयों ही की चर्चा की जाती है। ऐसे ग्रन्थों का महत्त्व स्थायी भले ही न हो। तो भी उनसे कम लाभ नहीं होता। सबसे बड़ा लाभ यह है कि उनसे जनता में नये नये भावों का

प्रचार होता है। देश-सेवा के भाव से देशी भाषाओं को बड़ा लाभ हुआ है। एक लाभ तो यही हुआ कि अब उनकी उपेक्षा नहीं की जाती। कुछ समय पहले जो शिक्षित हिन्दी की अवहेलना करते थे उन्हें अब हिन्दी में अपना सन्देश तो लिखाने की ज़रूरत पड़ती है। हिन्दी के लिए यह छोटी बात नहीं है। जहाँ पहले अँगरेज़ी भाषा का पूरा प्राधान्य था वहाँ अब हिन्दी का प्रवेश हो गया है। आशा है कि अब हिन्दी की उत्तरोत्तर उन्नति होती जायगी।

हिन्दी-साहित्य की उन्नति का पहला चिह्न है सामयिक पत्रों की श्री-वृद्धि। दो ही तीन साल में कई अच्छे अच्छे पत्रों ने जन्म लिया। मासिक पत्रों में श्रीशारदा का नाम उल्लेखनीय है। यह पत्रिका जबलपुर से निकलती है। इसमें एक रङ्गीन चित्र और कई सादे चित्र रहते हैं। प्रायः सभी लेख सुपाठ्य होते हैं। लेखों में मौलिकता रहती है। मारवाड़ी जाति के सुधार के लिए आरा में मारवाड़ी-सुधार नामक लेख-माला का जन्म हुआ है। यह भी मासिक पत्र है। साप्ताहिक पत्रों में तरुणभारत महात्मा गान्धी के यंग इंडिया नामक अँगरेज़ी पत्र का हिन्दी-रूप है। यह पटना से प्रकाशित होता है। महात्मा गान्धी के सम्पादकत्व में हिन्दी नव-जीवन नाम का एक दूसरा साप्ताहिक पत्र भी अभी हाल में अहमदाबाद से निकला है। कलकत्ते से स्वतन्त्र का साप्ताहिक संस्करण भी निकलने लगा है। उन्नाव से स्वराज्य नाम का साप्ताहिक पत्र कुछ समय से निकल रहा है। बनारस में सूर्य नामक एक नये पत्र का जन्म हुआ है। नागपुर से समाज-सेवक का प्रकाशन होता है। इन सभी पत्रों का सम्पादन योग्यता-पूर्वक होता है।

हिन्दी के साप्ताहिक पत्रों में पहले व्यङ्ग्य चित्र निकला करते थे। अब भी हिन्दी बङ्गवासी में ऐसे चित्र निकला करते हैं। साप्ताहिक स्वतन्त्र को छोड़ कर उपर्युक्त अन्य पत्रों में ऐसे चित्रों का अभाव है। हिन्दी के दो चार पत्रों को छोड़ कर प्रायः सभी पत्रों में कवितायें खूब छपती हैं। इनमें उर्दू शब्दों की बहुलता रहती है। भाव, चाहे राज-नैतिक हों अथवा धार्मिक, बड़े उग्र होते हैं। धार्मिक भावों में विरह-व्यथा का प्राधान्य रहता है। हिन्दी के कुछ कवि हृदयेश की खोज में व्याकुल घूमा करते हैं। भावुकता का यह आधिक्य ग्लानि उत्पन्न कर सकता है। यहाँ हमें एक समालोचक का कथन याद आता है—Excess of folly in poetry, like excess of injustice in political matters, lead up to and foretell revolutions. यदि अन्याय के आधिक्य से राजनीति के क्षेत्र में उत्क्रान्ति होती है तो क्या हिन्दी-कवियों की भावुकता का यह आधिक्य हिन्दी-साहित्य में उत्क्रान्ति की सूचना नहीं देता? अस्तु।

हिन्दी में स्त्रियों के उपयुक्त साहित्य की भी उन्नति हो रही है। श्रीमती विद्यावती सेठ बी० ए० के सम्पादकत्व में ज्योति नाम की एक अच्छी मासिक पत्रिका निकल रही है। इसके सभी लेख अच्छे होते हैं। भाषा भी पत्र के अनुकूल है। लेखों में विषय-वैचित्र्य का विचार किया जाता है। स्त्रियों के भी लेख रहते हैं। श्रीयुत सन्तराम जी बी० ए० भारती नामक एक मासिक पत्र का सम्पादन करते हैं। इसमें मनो-रञ्जक और कौतूहलवर्धक बातों का अच्छा समावेश रहता है। इसमें स्त्रियों के जो काल्पनिक या वास्तविक पत्र और उनके उत्तर प्रकाशित होते हैं उनसे पाठक और पाठिकाओं को क्या लाभ होता है, यह हमारी समझ में नहीं आता। महिला-दर्पण नाम का एक मासिक पत्र छपरा से निकलता है। उसकी सम्पादिका हैं श्रीमती शरदकुमारी देवी। एक और नया पत्र है महिला-संसार। हम इन तीनों पत्रों की उन्नति चाहते हैं।

हिन्दी में बालकोपयोगी सामयिक साहित्य का अभाव ही सा है। दो एक पत्र इलाहाबाद से पहले निकला करते थे। इंडियन प्रेस से बाल-सखा का प्रकाशन होता है। गृहलक्ष्मी कार्यालय से शिशु नामक एक पत्र निकलता था। शायद वह अब भी निकलता हो। हिन्दी में अभी प्राप्तवयस्कों में ही विद्याभिरुचि कम है, अल्पवयस्कों का कहना ही क्या। कदाचित् इसी लिए प्रकाशकों का ध्यान इधर आकृष्ट नहीं हुआ है। बालकों में जिज्ञासा का भाव बहुत प्रबल रहता है। यदि उनमें यही भाव सदैव बना रहे तो विद्या-प्राप्ति की ओर उनका उद्योग कभी शिथिल न हो। अतएव उनके लिए मासिक पत्र का प्रकाशन होना ही चाहिए। हमें आशा है कि अब हिन्दी के प्रेमी ऐसे पत्रों की क़द्र करेंगे।

से पूर्ण तथा अधिक रक्त वर्ण की होने के कारण श्वासेन्द्रियों का कार्य करती है। हमने भी यह विचित्र ढंग टेंगड़े जाति की मछली में देखा है। इस मछली की भी पूँछ रक्त की रगों से खूब सुर्ख़ होती है और इसके शरीर का आधा हिस्सा बहुधा जल से बाहर निकला रहता है। निस्सन्देह यह मछली पूँछ के द्वारा जल से आक्सिजन शोषण करती है।

उपर्युक्त प्रकार की जाति की मछलियाँ अद्भुत प्रकार के जीव हैं। इनके रूप, प्रकृति तथा गुणों को देख कर यही प्रतीत होता है कि ईश्वर ने इन्हें भिन्न भिन्न कार्य्यों के लिए उत्पन्न और नियुक्त किया है। इन्हीं बातों को जानने की चेष्टा वैज्ञानिक लोग सदा किया करते हैं। इन मछलियों की प्रकृति और गुण के कारण इनके विचित्र नाम रक्खे गये हैं। जैसेः—

(१) Climbing perch अर्थात् चढ़नेवाली मछली
(२) Poisonous fish " विषैली मछली
(३) Electric fish " विद्युत् मछली
(४) Phosphorescent fish ,, जगमगानेवाली मछलियाँ
(५) Flying fish ,, उड़नेवाली मछली
(६) Cave fish " गुफ़ानिवासी मछली

इन मछलियों का वर्णन हम यहाँ देते हैं।

(१) चढ़नेवाली मछली।

'कोई' एक बहुत प्रसिद्ध 'चढ़नेवाली' मछली है। यह बहुधा अपने जल-मार्ग को छोड़ कर भूमि पर आ जाती है। भारत में यह मछली गङ्गा में साधारणतया मिलती है, पर बङ्गाल की हुगली नदी में अधिकता से होती है। यह कभी कभी यमुना में भी आ पहुँचती है। यह ५ फ़ुट ऊँचे वृक्ष पर चढ़ जाती है। इसके 'आपरक्युलम' (operculum) अर्थात् गलफड़े के 'ढकन' के आगे की ओर काँटे होते हैं। ढकने और डेने (fin) के काँटों के द्वारा यह वृक्षों पर चढ़ती है। लोगों ने इसे वृक्षों पर चढ़े हुए प्रायः देखा और पकड़ा है।

(२) विषैली मछलियाँ।

इस जाति की मछलियाँ सर्प के समान विषधर होती हैं। ट्रेकाईनस वाईपेरा (Trachinus Vipera) और ट्रेकाईनस ड्रेको जाति की मछलियाँ ऐसी ही श्रेणी में परिगणित हैं। योरप के भू-मध्यसागर तथा पश्चिमी अफ़्रीका के समुद्र-तट पर ये पाई जाती हैं और भारत-महासागर में भी आ पहुँचती हैं। इनके ढकने तथा ऊपर के काँटे में विष की थैली होती है। ये भयङ्कर मछलियाँ बहुधा जल के छिछले स्थान की रेतियों में दबी पड़ी रहती हैं और स्नान करनेवालों के पैर के नीचे पड़ जाने पर ये उनकी देह में अपने विषैले काँटे चुभो देती हैं। इनके विष के प्रभाव से मनुष्य तथा अन्य जीव बहुधा मर जाते हैं। जो सींग मछली यहाँ तालाबों और नदियों में होती हैं वह भी अपने काँटे (Dorsal fin Spines) से लोगों को कष्ट देती हैं। लोगों का विश्वास है कि यह मछली भी विषधर होती है। बहुधा इसके काँटे के आघात से टिटेनस (Tetanus) नाम का रोग हो जाता है। इसलिए पकड़े जाने के पश्चात् इसके काँटे बहुधा तोड़ दिये जाते हैं। इसकी विषेन्द्रियों का पूरा पता अभी नहीं लगा है। वे हमें भी अन्वेषण करते समय नहीं मिली हैं। सिनेन्सीया विरुकोसा (Synancea Verrucosa) भी एक विषधर मछली होती है। यह भारतीय महा-समुद्र की निवासिनी है और मनुष्य एवं दूसरे जीवों का शत्रु है।

(३) विद्युत् मछली (Electric fish)।

विद्युत्-शक्ति अभी तक केवल मछलियों में ही देखी गई है। सम्भव है कि और जीवों में भी हो। परन्तु अभी तक उनके देह में किसी विशेष विद्युतेन्द्रिय का पता नहीं लगा। निम्न-लिखित जाति की मछलियों में विद्युतेन्द्रियाँ होती हैं:—

(१) गिमनारकस (Gymnarchus)=आफ़्रीका की नील नदी और उसके पश्चिमी भाग में।
(२) मेलाप्टेरियुरस (Malapterurus)=आफ़्रीका की नदियों में।
(३) गिम्नोटस (Gymnotus electricus)=दक्षिण अमरीका की नदियों में।
(४) टारपिडो (Torpedo)=मदरास और बम्बई के समुद्र-तट के निकट; पैसफिक, अटलान्टिक इत्यादि महासागरों में।

इनमें गिम्नोटस जाति की मछली में सबसे प्रबल

विद्यु त्-शक्ति होती है। मेलाप्टेरियुरस एवं टारपिडो में इसकी अपेक्षा कम और शेष मछलियों में और भी कम विद्यु त् होती है। गिम्नोटस ६ फ़ुट लम्बी और मनुष्य की जाँघ के सदृश मोटी होती है। यह बड़ी भयङ्कर होती है। यह मछली केवल थोड़ी ही दूर से मनुष्य एवं पशुओं को अपनी विद्युत्-शक्ति से आकर्षित करके मूर्छित कर देती है। निर्बल जीव तत्काल मर जाते हैं। इसकी विद्युतेन्द्रिय शरीर के पिछले हिस्से में अर्थात् दुम के दोनों ओर होती हैं। (चित्र सं० ३)। अन्य मछलियों में विद्युतेन्द्रिय का स्थान

चित्र (३) गिम्नोटस मछली का

शरीर के भिन्न भिन्न भागों में होता है। इन इन्द्रियों का सम्बन्ध मस्तिष्क के तन्तुओं से होता है। इस कारण वे स्वेच्छानुसार अपनी विद्यु त्-शक्ति का उपयोग करती हैं।

(४) जगमगानेवाली मछलियाँ।

जुगनू की चमक से सभी लोग परिचित हैं। दीप्तेन्द्रियों के होने से वे चमकती हैं। ऐसी ही दीप्तेन्द्रियाँ मछलियों की देह में भी होती हैं, पर ये मछलियाँ केवल गहरे समुद्र में ही निवास करती हैं। इनकी दीप्तेन्द्रियों की संख्या एवं उज्ज्वलता जुगनू की अपेक्षा अधिक होती है। निम्न-लिखित जाति की मछलियों में दीप्तेन्द्रियाँ पाई जाती हैं:—

(१) स्टोमीया बोआ (Stomia boa)
(२) स्कोपीलस बिनोयटी (Scopelus benoite)
(३) ओपोस्टोमीया मिक्रीपनस (Opostomia-micripnus)
(४) मलेकोस्टीयस ईन्डीकस (Malacosteus-indicus)

जगमगानेवाली मछलियाँ अपना आखेट और जल-विहार बहुधा रात्रि ही में करती हैं। इनकी दीप्तेन्द्रियों का स्थान बहुधा शरीर के दहने और बाँयें नीचे के हिस्से में होता है, पर ऐसी ही दूसरी जाति की मछलियों में ये इन्द्रियाँ सिर, तथा ढकने आदि अङ्गों के निकट होती हैं। यहाँ हम केवल स्टोमीयस मछली का चित्र देकर इसकी दीप्तेन्द्रियों का यत्किञ्चित् वर्णन करते हैं। इस मछली की दीप्तेन्द्रियाँ लगभग २५०-३५० के होती हैं और शरीर के दोनों ओर नीचे के भाग में छोटी छोटी गोल लालटेनों की पङ्क्ति की भाँति पूँछ से लेकर सिर के नीचे के हिस्से तक लगी रहती हैं (चित्र सं० ४)। अपने प्रकाश का

चित्र (४) स्टोमीयस बोआ मछली का
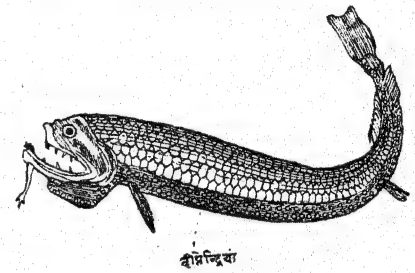
उपयोग यह मछली स्वेच्छापूर्वक करती है; क्योंकि इसकी उन इन्द्रियों का सम्बन्ध मस्तिष्क के तन्तुओं से है। उनसे मछली को बड़ा लाभ तथा सहायता मिलती है। उनके द्वारा यह मछली अपने पीछा करनेवाले शत्रु-जीव को चकाचौंध कर देती हैं और वे घबड़ा कर इसका पीछा करना छोड़ देते हैं। इसके सिवा छोटी छोटी मछलियाँ उन दीप्तेन्द्रियों के प्रकाश से आकर्षित होकर उसके निकट आजाती हैं और उसका आहार होती हैं।

उड़नेवाली मछलियाँ।

पान्टोडन बुशेलाई (Pontodon buchelli), एक्सोसीटस वोलीटन्स (Exocœtus volitans) और डैक्टाईलोप्टीरस (Dactylopterus) आदि उड़नेवाली मछलियों की प्रसिद्ध जातियाँ हैं। इनमें पान्टोडन तो पश्चिमी अफ़्रीका के काँगो देश की झीलों और नदियों में होती है। एक्सोसीटस एवं डैक्टाईलोप्टीरस योरप, एशिया आदि के बड़े बड़े समुद्रों में मिलती हैं। योरप-यात्रा के समय ये जहाज़ों के निकट उड़ती हुई बहुधा मिलती हैं। ये जल के बाहर हवा में बहुत दूर तक उड़ कर जा सकती

हैं। (चित्र सं० ५)। इनकी छाती के पर साधारण मछलियों की अपेक्षा बड़े बड़े और फैले हुए होते हैं। इनकी श्वास लेने की रीति भी विचित्र होती है। ये उड़ते समय अपना मुँह बहुधा खोलती हैं। इस क्रिया से

चित्र (५) उड़नेवाली मछली का, अपनी उड़ती हुई अवस्था में
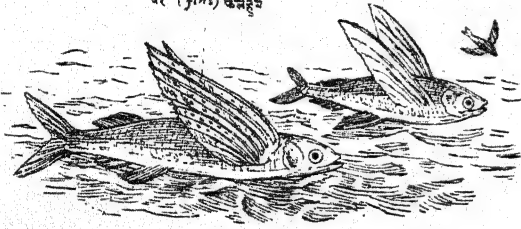
वायु कण्ठ के भीतर (Buccal cavity) जाकर इनके तर गलफड़ों को आक्सिजन से परिपूर्ण करता रहता है।

गुफानिवासी मछलियाँ।

इस जाति की मछलियाँ भूमि के अन्तर्गत चश्मे, दलदल तथा अँधेरी गुफा में रहती हैं। ये छोटी और रङ्गहीन होती हैं। इनके नेत्र भी बहुत छोटे होते हैं। इनमें ऐम्बलियोपसिस (Amblyopsis) और कोलोगस्टर (Chologaster) जाति की मछलियाँ खूब प्रसिद्ध हैं। ऐम्बलियोपसिस उत्तर-अमरीका के मेमथ गुफा (Mammoth Caves) में रहती हैं। सदा अन्धकार में रहने के कारण उनके नेत्र छोटे होते हैं। कोलोगस्टर के नेत्र तथा शरीर का रङ्ग साधारण मछलियों का सा होता है। ये अटलांटिक स्टेट के पाताल की रहनेवाली हैं।

योरप के वैज्ञानिकों ने मछली तथा अन्य जीवों के विषय में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। यही नहीं, वहाँ नित्य इन्हीं विषयों के सम्बन्ध में नये नये अन्वेषण किये जा रहे हैं। जर्मनी ने इस विषय में सबसे अधिक उच्च स्थान प्राप्त किया है। केवल मत्स्य-विज्ञान पर वहाँ अब तक कोई दस हज़ार ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। वास्तव में मछली की आर्थिक उपयोगिता बहुत ही अधिक है। इसके द्वारा योरप और अमरीका में कई उद्योग-धन्धे चल रहे हैं। देखें हमारी राष्ट्र-भाषा हिन्दी में इन विषयों पर कब चर्चा होती है। अभी तक तो लोगों का ध्यान इस ओर बिलकुल आकृष्ट नहीं हुआ है।

नवलकिशोरसिंह

दान्ते।

टेन साहब ने लिखा है कि साहित्य की समीक्षा से गत सौ वर्षों में जर्मनी और फ्रांस में इतिहास का स्वरूप ही बदल गया। बात यह है कि साहित्य केवल कल्पना का क्रीड़ा-स्थल नहीं है और न वह उत्तेजित मस्तिष्क की सृष्टि-मात्र है। वह अपने काल के मानसिक विकास का चित्र है। अतएव साहित्य के प्रकाश से हम अतीतकाल के गह्वर में प्रवेश कर उसका गूढ़ रहस्य जान सकते हैं। मनुष्य के विचार-स्रोत पर ध्यान देने से हमें यह स्पष्ट मालूम होजाता है कि किससे मनुष्यों की कार्य-शक्ति निर्दिष्ट थी। साहित्य की विचार-धारा से इतिहास की घटनाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है। उससे इतिहास स्पष्ट होता है और इतिहास से उसका रूप स्पष्ट होता है। अतएव जिन कवियों की कृति में विश्व की भावना विद्यमान है उनकी आलोचना करना आवश्यक है। विश्व-कवियों की रचना की आलोचना से दूसरा लाभ यह है कि उससे सत्य का चिरन्तन रूप स्पष्ट होता है। दान्ते इटली का नहीं, विश्व का कवि था। ६०० वर्ष पहले उसने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना की थी। उसकी वह रचना देश और काल की सीमा का उल्लङ्घन कर आज तक अक्षय है। इटली ने अभी हाल में उसकी जयन्ती मनाई है और सभी देशों ने उसमें योग दिया। अतएव

यहाँ हम दान्ते और उसके महाकाव्य का संक्षिप्त परिचय देते हैं।

दान्ते का जन्म इटली के फ़्लारेन्स नामक नगर में, सन् १२६५ ईसवी में, हुआ था। दान्ते का पिता, आलघियेरी, एक साधारण स्थिति का गृहस्थ था। दान्ते की माता का नाम बेला था।

जब दान्ते ६ वर्ष का था तब उसने बीट्रिस नाम की एक लड़की को देखा। उस समय वह भी ६ वर्ष की थी। इन दोनों में परस्पर प्रेम होगया। जब दान्ते १८ वर्ष का हुआ तब उसने इसी प्रेम के कारण एक गीति-काव्य की रचना की। यह काव्य इटली में अपूर्व माना जाता है। इसका नाम है वाइटा नूओभा। अपने बाल्यकाल के प्रेम से दान्ते में जिस नवजीवन का सञ्चार हुआ उसी का परिचय हम उसके इस काव्य में पाते हैं। उसने बीट्रिस को साक्षात् प्रेम माना है और इसी लिए उसके आगमन को उसने देवता का आगमन समझा। परन्तु मानव-जाति से पृथक् होकर भी वह दान्ते के हृदय में स्त्री-रूप में ही विराजमान थी।

फ़्लारेंस का प्रसिद्ध गिरिजाघर।

कुछ लोगों का ख़याल था कि बीट्रिस कवि की कल्पना-मात्र है। परन्तु बोकेशिओ नामक एक लेखक का कथन है कि बीट्रिस सचमुच एक स्त्री थी। साइमन डी बार्डी नामक एक युवक से उसका विवाह हुआ था। २६ वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई।

दान्ते ने बाल्य-काल में अच्छी शिक्षा प्राप्त की। लैटिन और ग्रीक भाषा में वह पूर्ण दक्ष न था, इसलिए उसने प्रचलित भाषा में ही कवि होने की चेष्टा की। होमर और वर्जिल के बाद योरप के कवियों में उसी का नाम लिया जाता है। पहले उसकी कविता का विषय प्रेम था। बीट्रिस की मृत्यु के बाद उसने शोक-काव्य लिखा। इसी समय उसके चरित्र में भी अवनति होने लगी। इसे उसने स्वयं स्वीकार किया है। उसने लिखा है, "तुम्हारे अन्तर्हित होते ही पार्थिव सुखों ने मुझे पथ-भ्रष्ट कर दिया।"

हम कह आये हैं कि सबसे पहले दान्ते ने गीति-काव्य की रचना की। उसने देखा कि लैटिन-भाषा निर्जीव होगई है। सर्व-साधारण में उसका प्रचार नहीं है। जो लैटिन जानते थे वे भी शुष्क शब्द-जाल में पड़े थे। इसी समय इटली के कुछ

कवि फ्रान्स के ट्रबेडोर नामक गायकों का अनुकरण कर फ्रेंच भाषा में कविता लिखने लगे। परन्तु दान्ते ने उनका अनुसरण नहीं किया। उसने मातृभाषा को ही काव्य की उपयुक्त भाषा मान कर उसी को उन्नत करने की चेष्टा की। उसकी चेष्टा सफल हुई। वाइटानू योभा के बाद उसने कुछ छोटी छोटी कवितायें और लिखीं। उनका भी विषय प्रेम था। दान्ते का कथन था कि वह कविता किसी काम की नहीं जो हृदय से उद्गत न हो और हृदय से कविता का उद्गार हो ही नहीं सकता यदि उसमें

दान्ते के भ्रमण का स्थान।

प्रेम नहीं है। वह प्रेम अशरीरी नहीं था। उसका रूप था, उसमें अतृप्त वासना थी और वासना को पूर्ण करने के लिए अदम्य आकांक्षा थी। अब इन कविताओं की आध्यात्मिक व्याख्या भी की जाती है। कुछ भी हो, इन कविताओं की रचना कर दान्ते ने भाषा को अपने अनुकूल कर लिया। छन्द भी उसने अलग बनाये। इसके बाद उसके प्रसिद्ध महाकाव्य की रचना हुई।

दान्ते के महाकाव्य का नाम है डिवाइन कामेडी। उसके तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में नरक की कथा है। दूसरे में पापक्षय-भूमि का वर्णन है। तीसरे में स्वर्ग की कथा है। दान्ते ने अपने काव्य को कामेडी कहा है। कामेडी शब्द का मूल अर्थ है ग्राम्य-गीत। दान्ते का महाकाव्य ग्राम्य भाषा में, इटली की साधारण प्रचलित भाषा में, लिखा गया है। यदि हम कामेडी का अर्थ सुखान्त काव्य करें तो भी यह नाम सार्थक होगा, क्योंकि दान्ते का काव्य सुखान्त ही है—पहले अध्याय में नरक, फिर पाप-भोग और पाप-क्षय और अन्त में स्वर्ग। दान्ते का विश्वास था कि कोई मनुष्य कितना भी पापिष्ठ क्यों न हो अन्त में उसका उद्धार होगा ही। विधाता ने मनुष्य के लिए दो साध्य स्थिर रक्खे हैं। एक है इसी जीवन का भोग्य आनन्द। इसी के लिए मनुष्य अपनी क्षमता का प्रयोग करता है और पृथ्वी पर आनन्दधाम की सृष्टि कर सकता है। यह धाम पुरुषार्थ से प्राप्य है। दूसरा है अनन्त जीवन का अनन्त सुख। यह बिना भगवद्दर्शन के लभ्य नहीं है। भगवान् की अशेष कृपा से ही मनुष्य इस दुर्लभ अवस्था को पा सकता है। इसी तत्त्व को समझाने के लिए दान्ते ने अपने महाकाव्य की रचना की। दान्ते ईसाई धर्म का अनुयाई था। वह जन्मान्तर-वाद नहीं मानता था। कर्म के द्वारा कर्म-फल का भोग होता है, यह उसका विश्वास नहीं था। इसी लिए उसने नरक का वर्णन किया।

नरक-वासियों को पाप का ज्ञान नहीं रहता, इसी लिए उनमें पश्चात्ताप का भाव भी उदित नहीं होता। उस समय उत्कट यन्त्रणा-दायक अवस्था में जीवात्मा का अवस्थान रहता है। नरक में जीवात्मा का अहङ्कार दूर नहीं होता। जब उसका अहङ्कार नष्ट हो जाता है तब वह पापक्षय भूमि में प्रविष्ट होता है। उसी का नाम है परगेटरी। यह प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप और अनुशोचना का स्थान है। यहाँ जीवात्मा का कर्म-जन्य मालिन्य दूर होता है और तब वह स्वर्गारोहण करता है। वहाँ भगवान् का सामीप्य प्राप्त कर वह मुक्त हो जाता है। ईसाई-धर्म में सायुज्य और सारूप्य मुक्ति नहीं है। अपने काव्य का नायक स्वयं दान्ते ही है।

महाकाव्य की कथा यह है:—जब दान्ते ३५ वर्ष का हुआ तब वह एक भीषण अरण्य में अपना पथ भूल गया। यह वन था तत्कालीन योरप। उस समय आस्ट्रिया का अधिपति था सम्राट् आलबर्ट। वह विलासी और कर्तव्य-पराङ्मुख था। धर्मकार्य का निरीक्षक था अष्टम बोनीफेस। वह भी लम्पट था। जो मनुष्य को सत्पथ पर ले जा सकते थे वे दोनों ही अयोग्य थे। इसी लिए योरप भीषण अरण्य था। दान्ते भटकता भटकता एक पर्वत के पास पहुँचा। वह पर्वत बड़ा मनोमोहक था। उसका शिखर अरुणोदय से समुज्ज्वल था। वह पर्वत था दान्ते का काल्पनिक पार्थिव स्वर्ग। दान्ते उस पर चढ़ने लगा। इसी समय तीन हिंस्रक जन्तुओं ने उस पर आक्रमण किया। ये थे काम, क्रोध और मोह। इनसे वह लड़ ही रहा था कि लोभ-रूपी वृक ने उस पर पीछे से आकर आक्रमण किया। दान्ते पहाड़ के नीचे गिर पड़ा और छटपटाने लगा। उसी समय वर्जिल ने आकर उसको ज्ञानोपदेश दिया। उससे उसका मोह दूर हुआ और वह अपने उद्धार की चेष्टा करने लगा। तब वह पथ खोजने लगा। सबसे पहले उसने नरक को देखा। इसके बाद वह परगेटरी में पहुँचा। उसके अन्तिम द्वार पर उसने बीट्रिस को देखा। उसके विशुद्ध प्रेम, निस्वार्थ जीवन और पवित्रता के प्रभाव से दान्ते स्वर्ग-राज्य में प्रविष्ट हुआ। इससे दान्ते का यह सिद्धान्त मालूम होता है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से नरक और प्रायश्चित्त की यन्त्रणा को तो दूर कर सकता है, परन्तु बिना निस्वार्थ प्रेम के वह स्वर्ग-लाभ नहीं कर सकता। यहीं दान्ते के महाकाव्य का अन्त हुआ है।

दान्ते का नरक मनुष्यों की उस पापमय अवस्था का द्योतक है जब उसमें अनुताप का थोड़ा भी भाव नहीं रहता। जब तक मनुष्य का हृदय पाप की ज्वाला से सन्तप्त नहीं होता तब तक पाप का प्राबल्य पूर्ण-रूप से रहता है। परन्तु जब वह अपने पापाग्नि का ताप पाने लगता है तब उसका प्रायश्चित्त आरम्भ होता है। प्रायश्चित्त से बुद्धि की स्वतन्त्रता प्रकट होती है। पाप से मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। प्रायश्चित्त से उसका फिर आविर्भाव होता है। सात पाप प्रधान हैं—दर्प, ईर्ष्या, क्रोध, आलस्य, लोभ, अति भोजन और लम्पटता। ये पाप क्रमशः एक एक कर दूर होते हैं। इस तरह प्रायश्चित्त के सात सोपान हैं। जब सातों पापों का क्षय हो जाता है, जब हम प्रायश्चित्त के अन्तिम सोपान पर पहुँच जाते हैं तब हम स्वर्गारोहण करते हैं। पाण्डवों के स्वर्गारोहण के

समान यदि किसी में किसी भी प्रकार का पाप अवशिष्ट रहा तो वह बीच ही में गिर जाता है, स्वर्ग के द्वार तक नहीं पहुँच सकता।

दान्ते के महाकाव्य के स्वर्ग नामक अन्तिम अध्याय में दो विषयों की आलोचना की गई है, अनन्त और कर्म-साफल्य। नित्य विद्यमानता को ही अनन्त कहते हैं। जहाँ गति नहीं, अपचय

फ्लारेन्स का म्यूनीस्पिल पैलेस।

और उपचय नहीं, वही अनन्त है। दान्ते को अनन्त का मर्म समझाने के लिए बीट्रिस उसे एक ऐसे देश में ले गई जहाँ दिन और रात्रि का परिवर्तन नहीं होता था। वहीं बीट्रिस ने उसे दिखा कर कहा "देख ग्रह, नक्षत्र और तारागण वहाँ घूम रहे हैं। वहीं त्रिकाल—भूत, भविष्य और वर्तमान—का सम्यक् विकास है। तुम जहाँ हो वहाँ काल का परिणाम नहीं है। जो काल से अतीत है वही अनन्त है।" दूसरी बात है कर्म-साफल्य। फल-प्राप्ति क्या है। जब मनुष्य की इच्छा भगवान् की इच्छा में पूर्ण रूप से मिल जाती है तब जीवन का फल मिल जाता है। कहा भी गया है, To see God is to see as God sees भगवान् को उसी दृष्टि से देखना होगा जिस दृष्टि से भगवान् संसार को देखते हैं। यही दान्ते के महाकाव्य का विषय है।

दान्ते केवल कवि नहीं था। वह राजनीतिज्ञ भी था। योद्धा के भेष में उसे युद्ध-भूमि में भी उतरना पड़ा। सन् १२८९ में वह कम्पोनडिना के युद्ध में

सम्मिलित हुआ था। इस युद्ध में .फ्लारेन्सवासियों ने विजय प्राप्त किया था। अपने नगर के राजनैतिक-क्षेत्र में दान्ते को काम करना ही पड़ता था। एक बार दान्ते का दल पराजित हुआ। तब उसे निर्वासन-दण्ड मिला। दान्ते के लिए यह निर्वासन-काल बड़ा ही कष्ट-दायक था। परन्तु उसने धैर्य-पूर्वक यह दण्ड सहा। एक बार उसे .फ्लारेन्स लौट आने का अवसर मिला। .फ्लारेन्स की एक प्राचीन प्रणाली यह थी कि सेन्ट जान के दिवस में जो निर्वासित अपराधी हाथ में मशाल लेकर गिरजाघर तक श्रेणी-बद्ध होकर जाते थे वे दण्ड-मुक्त हो जाते थे। पर दान्ते ने इस रीति से क्षमा पाना अस्वीकार किया। सन् १३२१ में उसकी मृत्यु होगई।

दान्ते ने अपने जीवन-काल में भाग्य-चक्र का ख़ूब अनुभव किया। उसने कष्ट भी ख़ूब सहे। परन्तु संसार की ज्वाला ने दान्ते की कीर्ति को उज्ज्वल ही किया।

जीवन-मन्थन से जो निकला विष वह उसने पान किया।
और अमृत जो बाहर आया उसे जगत को दान दिया॥

गङ्गाधरलाल श्रीवास्तव

निषिद्ध फल।

(३)

हेमन्त अब जल्दी जल्दी पैर बढ़ाता हुआ अपने बाग़ के पिछवाड़े के रास्ते की ओर लपका। कुछ पास आजाने पर उसने अपनी चाल ज़रा धीमी कर दी। रास्ता जहाँ से मुड़ कर बाग़ की ओर गया है वहाँ हेमन्त को एक काँस्टेबल मिला जो एक मकान के चबूतरे पर, कम्बल का ओवर कोट पहने, बैठा बैठा सिगरेट पी रहा था। चोर का मन है—हेमन्त कनखियों से उसकी ओर देखता चला गया।

उस मोड़ पर जो लालटेन लगी थी उसका उजेला बाग़ की दीवार पर कुछ दूर तक [illegible] बाद था अन्धकार ही अन्धकार। हेमन्त [illegible] इसी अँधेरे अंश में कहीं सुभीता देख कर [illegible] लाँघना होगा।

कई वर्ष तक उसने जिमनास्टिक [illegible] और अब भी नियम से .फुटबाल खेलता है [illegible] हाथ-पैरों में ख़ासी ताक़त है। दीवार [illegible] योग्य कोई स्थान वह ढूँढ़ने लगा।

इसी समय दूर किसी के पैरों की आहट मिली। अतएव कुछ इन्तज़ारी करनी पड़ी। अब एक ही स्थान पर खड़ा रहे तो काम बिगड़ा जाता है। जिस ओर से किसी के आने की आहट आ रही थी उसी ओर वह भी बढ़ने लगा। आगे बढ़ कर देखा कि कोई दूकानदार या मिस्त्री उसके पास होकर चला गया।

हेमन्त फिर पीछे मुड़ा। जिस स्थान को उसने दीवार फाँदने के उपयुक्त समझा उसके दूसरी ओर बाग़ में जमरूल का पेड़ है। उसने सोचा कि घेरे की दीवार से उछल कर पेड़ की डाल पकड़ लूँगा और फिर मज़े में बाग़ में उतर जाऊँगा।

बड़ी मिहनत से हेमन्त दीवार पर चढ़ा। चढ़ते समय उसके घुटने छिल गये। कुहनी में भी चोट आगई। अहा! कवियों ने बिलकुल ठीक कहा है कि प्रेम का पन्थ चिकना नहीं है।

घेरे की दीवार पर बैठ कर, वृक्ष की शाखा को पकड़ने के लिए हेमन्त ने हाथ फैलाया, किन्तु

२—हिन्दी में जीवन-चरित्र।

हिन्दी में जीवनचरित्रों की अच्छी वृद्धि हो रही है। एक मास दो एक जीवन-चरित्र निकलते ही रहते हैं। इस समय हमारे पास समालोचनार्थ कई जीवन-चरित्र मौजूद हैं। इनमें एक का नाम **मुहम्मद** है। जबलपुर की 'शारदा-पुस्तक-माला' द्वारा यह प्रकाशित हुआ है। हिन्दी में मुहम्मद के चरित का बड़ा भारी अभाव था। इस पुस्तक के प्रकाशित हो जाने से इस अभाव की कुछ कुछ पूर्ति हुई है। मुहम्मद मुसल्मान धर्म के संस्थापक थे। संसार के धर्म-प्रचारकों की बृहत्त्रयी में इनका तीसरा नम्बर है। इस कारण इनका पवित्र चरित्र प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ना चाहिए। संसार के कोई ४० करोड़ निवासी इनका नाम लेकर अपना जन्म कृतार्थ समझते हैं। ऐसे महान् पुरुष के चरित का एक भव्य और प्रामाणिक संस्करण जब तक प्रकाशित नहीं होता तब तक इस पुस्तक से ही बहुत कुछ काम चल सकता है। इसे पण्डित शिवनारायण द्विवेदी ने 'दो एक, अँगरेज़ी और दो एक देशी भाषाओं के ग्रन्थों' के आधार पर लिखा है और अच्छा लिखा है। यह चरित तुलनामूलक दृष्टि से नहीं, किन्तु "सुमति के सञ्चार' की दृष्टि से लिखा गया है और इस बात में लेखक ने सफलता प्राप्त की है। इसे पढ़ते समय हिन्दू के हृदय में भी मुहम्मद के प्रति भक्ति का उद्रेक हुए बिना नहीं रहता। पुस्तक की भाषा सरस और सरल है। मूल्य ॥।=) है।

गान्धी-गौरव—दूसरा जीवन-चरित्र है। इसमें महात्मा गान्धी का जीवन-चरित्र विस्तार-पूर्वक लिखा गया है। पुस्तक-प्रकाशक ने इसको चित्ताकर्षक बनाने में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं की है। कागज़ अच्छा है। छपाई सुन्दर है। जिल्द नेत्र-रञ्जक है। कई चित्र भी दे दिये गये हैं। महात्मा जी का ऐसा दर्शनीय जीवन-चरित्र हिन्दी में दूसरा नहीं है, यद्यपि पठनीय चरित्रों का अभाव नहीं है। महात्मा गान्धी की जन्मभूमि के वर्णन में जब लेखक ने द्वापर-युग का दर्शन कराया है तब हम यह आशा कैसे कर सकते हैं कि लेखक भारत की वर्तमान स्थिति की भी आलोचना करेंगे। इसमें महात्मा जी की जीवन-सम्बन्धिनी सभी मुख्य मुख्य घटनायें अवश्य दे दी गई हैं और इससे हमें शिक्षा भी मिलेगी। पर हमारी समझ में जीवन-चरित्र के लेखक का काम इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता है। जिस प्रकार ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण-मात्र इतिहास नहीं है उसी प्रकार व्यक्ति-गत घटनाओं का वर्णन जीवन-चरित्र नहीं है। जो कुशलता एक इतिहास-लेखक में होनी चाहिए वही एक जीवन-चरित्र लेखक के लिए भी आवश्यक है। लेखक में यदि वह कुशलता है तो उन्होंने गान्धी-गौरव के लिखने में उसका उपयोग नहीं किया। मूल्य ३॥) है। आर० एल० बर्मन एण्ड को, ३७१, अपर चितपुर रोड, कलकत्ता से इसका प्रकाशन हुआ है।

तीन छोटे छोटे जीवन-चरित्र—भारतीय पुस्तक-एजेन्सी (११, नारायणप्रसाद बाबू लेन, कलकत्ता) ने भेजे हैं। इनमें देश-बन्धु चितरञ्जन दास, देशभक्त अलीभाई और महात्मा जी के चरित्र वर्णित हैं। आज-कल राजनैतिक सभाओं में लोग घण्टा आध घण्टा नियत समय के पहले ही पहुँच जाते हैं। उस समय ऐसी पुस्तकों की खपत खूब होती है। इनकी उपयोगिता भी इसी में है।

३—हिन्दी के दो नये उपन्यास।

उपन्यासों की लोक-प्रियता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। कोई अब इन्हें आवश्यक समझे अथवा न समझे, पर सभी देशों के साहित्य में उपन्यासों की वृद्धि हो रही है। हिन्दी में उपन्यासों की संख्या अगण्य है पर उनमें अधिकांश अनुवादित ही हैं। कुछ समय पहले अँगरेज़ी उपन्यासों की ओर हिन्दी के अनुवादकों का ध्यान आकृष्ट हुआ था। आज-कल बँगला उपन्यासों की धूम है। मराठी में भी कुछ अच्छे उपन्यास हैं। हिन्दी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय के 'छत्रसाल' को छोड़ कर अभी तक शायद एक भी नाम लेने योग्य मराठी उपन्यास का अनुवाद नहीं हुआ है। पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्माजी ने अभी हाल में एक मराठी उपन्यास का अनुवाद किया है। उसका नाम है **रत्न-दीप**। सच पूछो तो यह एक बँगला उपन्यास के मराठी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर है। शर्माजी ने ठेठ बँगला से अनुवाद न कर मराठी अनुवाद का आश्रय क्यों लिया, यह हम नहीं समझ सके। शर्माजी बँगला ग्रन्थों के अनुवाद करने में तो सिद्धहस्त हैं। ख़ैर।

रत्न-दीप की विशेषता है उसका घटना-वैचित्र्य। घटना अलौकिक होने से ही चित्ताकर्षक होती है। सभी

उपन्यासों के पात्रों के जीवन में अलौकिक घटनायें होती हैं। जो बात संसार में कम सम्भव है वह कल्पना में स्थान पाती है और जो प्रति दिन होती रहती है वह कल्पना में उपेक्षणीय है। उपन्यास-लेखक की सृष्टि विधाता की सृष्टि को सदैव अतिक्रमण करती है। लोगों को वर्षों परिश्रम करने पर भी भोजनाच्छादन से अधिक द्रव्य की प्राप्ति प्रायः नहीं होती। उपन्यास का पात्र दो ही दिन में, बिना पुरुषार्थ के, विशाल सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है। उपन्यास के पात्रों पर भाग्य-लक्ष्मी सदैव प्रसन्न रहती है। रत्न-दीप के दरिद्र स्टेशन मास्टर पर भी भाग्य-लक्ष्मी की हास्य-रेखा पड़ी। वह एक विशाल सम्पत्ति का अधिकारी बन गया। जिस मनुष्य ने कभी उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की, जो सदैव निम्न-श्रेणी के मनुष्यों के साथ रहा, जिसने अपनी वासना को कभी संयत नहीं रक्खा, वह भी एक सती के सम्मुख आते ही देव-रूप होगया, यह सतीत्व का प्रताप है। परन्तु हम अन्त-र्द्वन्द्व का दृश्य देखना चाहते थे। वासना और विवेक के युद्ध में विवेक इतना शीघ्र वासना पर विजय पा लेगा, इसकी हमें सम्भावना नहीं थी। हम देखना चाहते थे कि दरिद्र स्टेशन मास्टर के हृदय में यह हलचल मची हुई थी, 'न खलु सपदि भोक्तुं नापि शक्नोमि मोक्तुम्'। पर हम यह नहीं देख सके।

उपन्यास की नायिका का चरित्र दिव्य है। हिन्दी में अभी तक जितने बँगला उपन्यासों का अनुवाद हुआ है उनमें ऐसा दिव्य चरित्र शायद 'प्रतिभा' की 'उमासुन्दरी' को छोड़ कर किसी भी स्त्री का नहीं है। वही इस उपन्यास का सर्वस्व है। हमें विश्वास है कि हिन्दी के उपन्यास-प्रेमी पाठक इसका आदर करेंगे।

पुस्तक में कई चित्र भी हैं। पुस्तक के अनुवाद में तो मराठी ग्रन्थ का आश्रय लिया गया है, पर चित्रों के लिए कदाचित् बँगला ग्रन्थ की उपेक्षा नहीं की गई है। हमारी समझ में जितना अच्छा अनुवाद हुआ है उतना ही भद्दा चित्रों का अनुकरण हुआ है।

कलकत्ते के प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक आर० एल० वर्म्मन एण्ड को० ने इस उपन्यास का प्रकाशन किया है। मूल्य १॥) है।

बम्बई (लेडी हार्डिंज रोड, माटूगा) के ग्रन्थ-भाण्डार ने **अपूर्व आत्म-त्याग** नामक एक उपन्यास प्रकाशित किया है। यह भी एक बँगला उपन्यास का अनुवाद है। अनुवादक हैं श्रीयुत कृष्णलाल वर्मा। मूल बँगला उपन्यास के लेखक श्रीसुरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य हैं। पुस्तक का कथा-भाग बुरा नहीं है। हिन्दी के अधिकांश उपन्यासों से वह कहीं अच्छा है, परन्तु भाषा के जाल में वह इतना फँस गया है कि पाठक अधीर हो सकते हैं। यदि इसकी भाषा कुछ अधिक सरल होती तो उपन्यास भी अधिक चित्ताकर्षक होता। मूल्य १॥≈) है।

४—धार्मिक साहित्य।

हिन्दी में धार्मिक साहित्य का अभाव नहीं है। धार्मिक साहित्य की कोटि में जिन पुस्तकों की गणना होती है उनमें अधिकांश की उपयोगिता में सभी संशयालु हो सकते हैं। हम भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की आलोचना करनेवाले ग्रन्थों के विरोधी नहीं हैं। धर्म के जिज्ञासुओं को सभी साम्प्रदायिक पुस्तकों की आवश्यकता है। परन्तु लेखक का हृदय उदार होना चाहिए। यदि उसका हृदय सङ्कीर्ण हुआ तो उसके ग्रन्थों का आदर होने का नहीं।

मुरादपुर, पटना के एक्सप्रेस प्रेस से हमें एक अच्छी किताब मिली है। उसका नाम है **साधन-संग्रह**। 'भक्तप्रवर पण्डित भवानीशङ्करजी की वक्तृता और उपदेश' के आधार पर उसका सङ्कलन किया गया है। इसके कतिपय विषय श्रीमती एनीबेसन्ट की पुस्तकों से भी लिये गये हैं। इसमें धर्म, कर्म, ज्ञान, योग, भक्ति आदि विषयों की चर्चा की गई है। विवेचना स्पष्ट है। मूल्य २) है।

लखनऊ के नवलकिशोर प्रेस से दो पुस्तकें आई हैं। एक तो है **मनुस्मृति** का अनुवाद। और दूसरी है **भगवद्गीता** का अनुवाद। दोनों ग्रन्थों के अनुवादक हैं पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी। इन ग्रन्थों के परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। दोनों हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य के सर्वमान्य ग्रन्थ हैं। अब तो इनका प्रचार योरप और अमरीका तक में होगया है। अनुवादक का नाम भी हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों के लिए अपरिचित नहीं है।

चित्र-परिचय।

सरस्वती के इस अङ्क में दुहिता नाम का रङ्गीन चित्र दिया जाता है।

Printed and published by Apurva Krishna Bose, at the Indian Press, Ltd., Allahabad.